

# चिदानन्दलहरी

*(सौन्दर्यलहरी के अष्टम श्लोक की व्याख्या)*

व्याख्याता

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

**श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज**

आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-६८

# चिदानन्दलहरी

*(सौन्दर्यलहरी के अष्टम श्लोक की व्याख्या)*

व्याख्याता
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
**श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज**
आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक
**श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन**
**वाराणसी**

प्रकाशक
**श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन**
**डी-४९/९, मिश्रपोखरा**
**वाराणसी-२२१०१०**

**प्रथम संस्करण**
संवत् : २०६८
शंकराब्द : १२२३
सन् : २०११



**नचिकेता ओझा, माधव ओझा**
1003, क्वीसेंट हाईट, माईन्ड स्पेस,
मलाड (पश्चिम), मुम्बई – 64
द्वारा
धन–साहाय्यित, मूल्य : 50.00 रुपये मात्र

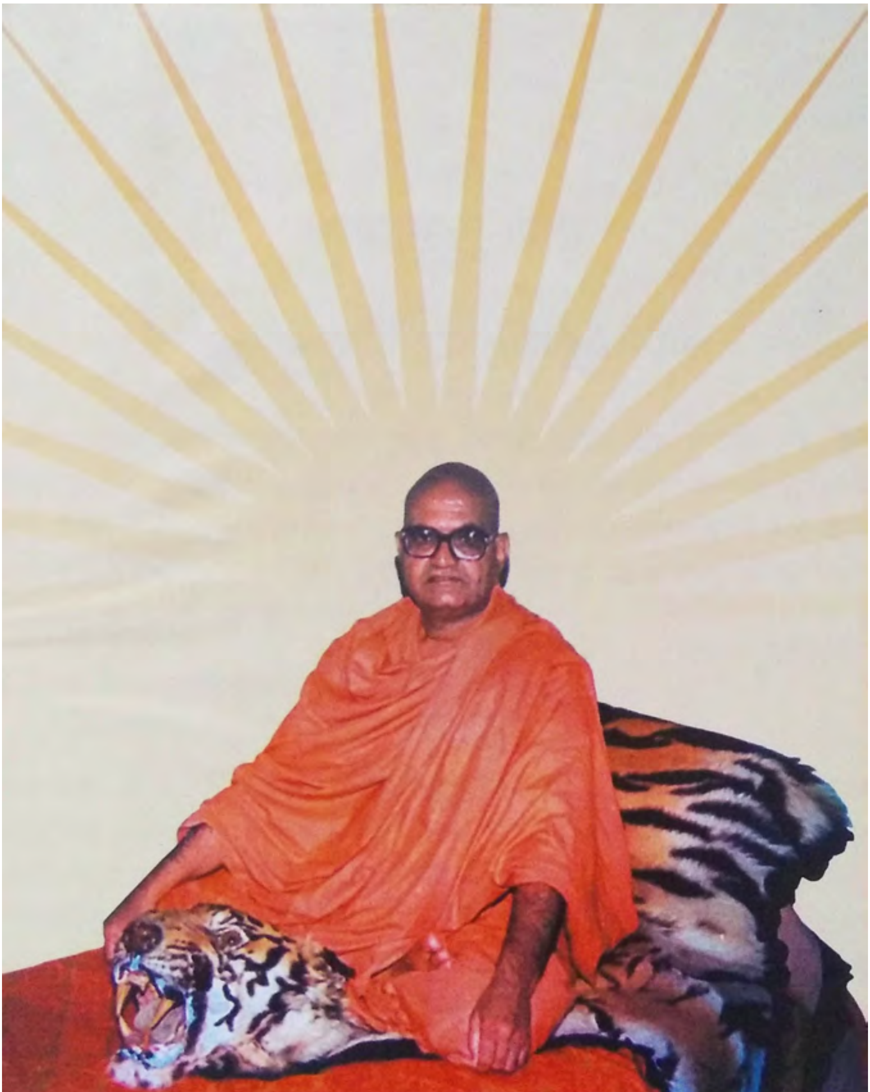
अक्षर संयोजन
श्री जनार्दन शर्मा
दिल्ली-२

मुद्रक
सौरभ प्रिन्टर्स प्रा. लि.
दिल्ली

ॐ

## प्रकाशकीय

सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र **आचार्य श्रीशंकर** की समस्त रचनाएँ असीम गम्भीर विचारों एवं प्रेरणाओं से परिपूर्ण हैं। उनके वचनों में निहित रहस्य देख पाना हर किसी के लिये सम्भव न होने पर भी 'हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः' के रूप में जिन्होंने वेदन स्थापित कर लिया है उन महापुरुषों के लिये शंकरोक्तियों के दिव्य आयाम देखना सहज हो जाता है। आनन्दगिरि स्वामी आदि की टीकाएँ देखने पर यही निश्चय होता है कि भाष्यकार के प्रत्येक अक्षर में प्रचुर विचार निहित हैं। इसी नीति से **आचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज** आजीवन शांकर वचनों पर चिन्तन व्यक्त करते रहे जो विविध ग्रंथों के रूप में उपलब्ध हैं। प्रायः अड़तीस वर्ष पूर्व उन्होंने **श्रीविश्वनाथ संन्यास आश्रम दिल्ली में सौन्दर्यलहरी के आठवें श्लोक** पर अट्ठावन व्याख्यान दिये थे जिनमें भक्त के जीवन के सर्वांगीण विकास का मार्ग निर्धारित किया गया। सौन्दर्यलहरी पर तन्त्र-आगम आदि शास्त्रीय अनेक व्याख्यायें हैं किन्तु जो दैनन्दिन जीवन में साधना के प्रकार पर प्रकाश इन प्रवचनों में उपलब्ध है वह अनतिव्युत्पन्न साधक को उन सबमें सुलभ नहीं। आचार्यवचन की सूत्ररूपता अंगीकार करने से जो उनमें 'विश्वतो मुखता' स्वीकार्य है उसका प्रत्यक्षीकरण इन व्याख्यानों में उपलब्ध है। श्रीमहाराज जी का सदा भाव रहा कि शास्त्र और शास्त्रीय विचार हमारे जीवन के प्रत्येक अंश को व्याप्त करें इस ढंग से उनपर चिन्तन करना चाहिये अतः धर्म-दर्शन की सनातनता बनी रहेगी, अन्यथा वेदादि पुराकल्प-से ही रह जायेंगे। जिज्ञासु साधक एवं विद्वान् प्रवक्ता, सभी इन प्रवचनों से दिशा-निर्देश प्राप्त कर सकें इस उद्देश्य से इनका प्रकाशन किया जा रहा है।



श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

# अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

ॐ

# क्रमसूची

ॐ

# चिदानन्दलहरी

## सौन्दर्य-लहरी के आठवें श्लोक की व्याख्या

### प्रवचन-१

१७—३—७३

काल को प्रवृत्त करने वाले परम शिव का जो संकल्प है, उस संकल्परूपिणी शक्ति के ऊपर विचार करेंगे। सब चीज़ों का संकल्प करने वाला काल है। 'कलनः सर्वभूतानाम्' सारे जड-चेतन जगत् का कलन करने वाला होने से उसका नाम काल है। कलन मायने परिगणन अर्थात् उसकी इयत्ता को समझ लेना, अथवा, वह कितना है उसके परिमाण को माप लेना काल है। काल की इयत्ता, काल के परिमाण को समझने वाला काल-काल हो गया। इसीलिये श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया है 'ज्ञः कालकालः' सब को कलन करने वाले का भी जो कलन कर लेता है, वह काल-काल है। वही संकल्प है। उस संकल्प का वर्णन करते हुए सर्वतंत्रसारस्वरूप भगवान् शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी के आठवें श्लोक का विचार करेंगे। मूल श्लोक है

**सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते**
**मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।**
**शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां**
**भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।**

उस भगवती के स्वरूप को बताते हुए साक्षात् भगवान् शंकर कहते हैं कि वह चिदानंदलहरी है। पिछली बार, सूतसंहिता के आधार पर भगवती का विचार करते हुए उसके संवित् स्वरूप का प्रतिपादन किया था अर्थात् उसके चिद्भाव का विस्तार से वर्णन किया था। अब, उस चिद्भाव संवित् के *विलास* पर विचार करेंगे। उसका स्वरूप बताते हुए यहाँ कहा 'चिदानंद-लहरी'। यहाँ चिदानंद का 'चित् का आनंद' अर्थ नहीं समझना। चेतन का आनंद आता हो, ऐसा नहीं है बल्कि चेतन स्वतः ही आनंदस्वरूप है। चेतन का आनंद आता है इसका अर्थ होगा कि

आनंद कहीं चेतन से अलग उपलब्ध होता है। जैसे यदि प्रकाश से रूप को भिन्न मानेंगे तो कोई ऐसा स्थल मानना पड़ेगा जहाँ रूप तो हो, और प्रकाश न हो। ऐसा स्थल नहीं मिल सकता। रूप और प्रकाश जिस प्रकार से हमेशा एक-साथ रहते हैं, ऐसे ही यदि यह मानें कि चेतन का आनंद आता है या चेतन से आनंद है, तो कहीं ऐसा स्थल मानना पड़ेगा जहाँ आनंद तो है, चेतन नहीं है। चेतन मायने ज्ञान है। इसलिये 'चेतन का आनंद' का अर्थ हुआ कि आनंद है, उसका ज्ञान नहीं है, पर ऐसा कभी नहीं हो सकता।

द्वैतवादी वैष्णव लोग तो हमको यह समझाना चाहते हैं कि ब्रह्म बनने से क्या होगा, हम तो ब्रह्म का आनंद लेना चाहते हैं! कहते हैं कि चीनी बनने से क्या होगा, हम तो मिठास का स्वाद लेना चाहते हैं। बड़ी अच्छी बात है, ब्रह्म का आनंद लेना चाहते हो, लेकिन यह बताओ कि उस ब्रह्म को अपने आनंद का भान है या नहीं है? तुम अपने ब्रह्म को सत्-चित्-आनंद परम ब्रह्म कहते हो, अर्थात् ब्रह्म चित् भी है और आनंद भी है; तो ब्रह्म को अपना आनंद आता है या नहीं? यदि आता है, तो हम ब्रह्म बनेंगे तो हमें भी आनंद आता रहेगा। या यह कहो कि ब्रह्म को अपना आनंद नहीं है, इसलिये हम ब्रह्म बनेंगे तो हमें भी आनंद नहीं आयेगा। वैष्णव लोग द्वैत की स्थापना करने के चक्कर में बेचारे परमात्मा को जड और निरानंद सिद्ध करना चाहते हैं! यदि ब्रह्म को अपना आनंद है तो हम ब्रह्म बनेंगे तो हमें भी आनंद होगा, और यदि हमको ब्रह्म बनने पर आनंद नहीं है, तो अभी तक जो बेचारा गरीब ब्रह्म पड़ा हुआ है, उसको भी आनंद नहीं होना चाहिये। द्वैतवादी चित् और आनंद में भेद करना चाहते हैं, अर्थात् जीव को चित् और ब्रह्म को आनंद कहना चाहते हैं। लेकिन यहाँ तो परम अद्वैतप्रतिष्ठापक भगवान् शंकर कहते हैं कि चिदानंद का मतलब चिद्-रूप आनंद है।

आनंद के भी दो प्रकार हैं। १. आनंदघन और २. आनंदलहरी (लहर)। लहर तरल (liquid) चीज़ें में हुआ करती है। पानी में लहर होगी, बर्फ में नहीं होगी। पिघले घी में लहर होगी, जमे हुए घी में नहीं। इसी प्रकार से एक आनंदघन है, और दूसरी आनंदलहरी है। आनंदघन का भी शास्त्रों में प्रतिपादन है। निर्विकल्प समाधि अवस्था में द्वितीय वस्तु का अभाव होने से आनंदघनता है। सर्वत्र शिवदृष्टि करते काल में वह आनंदघन नहीं, आनंदलहरी हो जाता है। यहाँ भगवान् शंकर भगवत्पादाचार्य कहते हैं 'चिदानंदलहरी'। भगवती पराशक्ति, चिद्रूपी आनंद के अन्दर लहरी होती है अतः वह चिदानंदलहरी है। इस भाव को प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिये सर्वज्ञ भगवान् शंकर कहते हैं 'कतिचन' ऐसे लोग कुछ-एक ही हैं, अर्थात् बहुत थोड़े लोग पहले तो चिद्भाव को प्राप्त करते हैं। अनेक जन्मों के पुण्यपुंजों के परिपाक हो जाने पर सत्संग के द्वारा श्रवण, मनन की सिद्धि होकर, निदिध्यासन का परिपाक को जाने पर जीव चिद्भाव की प्राप्ति करता है, नहीं तो चिद्भाव ही नहीं आता है। महर्षि जैमिनि लिखते हैं कि इस चिद्भाव की प्राप्ति इतनी दुर्लभ है कि इसका विचार भी अनावश्यक है! दुर्लभ चीज़ का

ज़्यादा विचार अनावश्यक होता है। जैसे कोहिनूर हीरे का विज्ञापन नहीं निकलता है कि वह बिकने वाला है। दूर से ही देख लो, इंग्लैण्ड की रानी के मुकुट में लगा हुआ है। बस इतना ही उसका उपयोग है। विज्ञापन लोहे की चीज़ों का होता है। जो चीज़ दुर्लभ होती है, उसके बारे में कुछ अधिक कहना आवश्यक ही नहीं है, क्योंकि उसका कोई ग्राहक नहीं होता है। कोहिनूर हीरे का ग्राहक वह वीर हो सकता है जो हज़ारों-लाखों आदमियों को युद्ध में झोंककर, अपने प्राणों को भी झोंक दे। कोहिनूर को लेने के लिये फारस का बादशाह, नादिरशाह आया था। लाखों लोगों का उसने कत्लेआम करवा दिया। इतना नुक्सान उठाने की और अपने प्राणों की आहुति देने की जिसकी हिम्मत हो, वही कोहिनूर ले सकता है। रिज़र्व बैंक के नोटों से उसे नहीं खरीदा जा सकता। इसी प्रकार चिद्भाव की प्राप्ति वही कर सकता है जो अपने देह, प्राण, मन, अनंत संस्कार, कर्म सबको झोंक देने की क्षमता रखता हो।

'देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः
स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्ता भृशं वादिनः।
मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।'

भगवान् भाष्यकार अन्यत्र लिखते हैं कि स्त्री, बाल, अंध, जडबुद्धि के लोग इन चीज़ों को महत्त्व देते हैं शरीर, प्राण, इन्दियाँ, मन, बुद्धि अथवा इन सबका अभाव अर्थात् इन सब चीज़ों से दूर शून्यरूप की प्राप्ति। अधिकतर लोग तो इन चीज़ों को महत्त्व देते हैं। यदि कभी इन चीज़ों से दुःखी होकर वैराग्य उत्पन्न हुआ तो उस वैराग्य का उल्टा नतीजा होता है कि चाहते हैं कि हमको कुछ भान न रहे! कई लोग उसका चित्र भी देते हैं कि पेड़ के नीचे पड़े हुए हैं, टट्टी-पेशाब का कुछ भान नहीं है, मुँह पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। ऐसे लोग विद्वान् का रूप फालिज का रोग होना समझते हैं, कि कुछ पता नहीं होना चाहिये, चाहे मक्खियाँ भिनभिनाती रहें। इस तरह पहले तो वैराग्य होना ही कठिन है और हो गया तो सब चीज़ों से अलग होकर शून्यभाव को प्राप्त करना चाहते हैं। कोई अत्यंत प्रतिभासम्पन्न ही समझता है कि यह संसार 'मायाशक्तिविलास-कल्पितमहाव्यामोह' है अर्थात् यह तो सब कुछ मेरी अपनी कल्पनाशक्ति का विलास है। मैं कल्पना क्यों करता हूँ? क्योंकि कल्पना करना मेरी शक्ति है। मैंने अपनी माया शक्ति से विलास करना शुरू किया। विलास खेल के लिये किया जाता है। लेकिन मूर्ख लोग खेल में झगड़ पड़ते हैं! कलकत्ते के अन्दर फुटबाल का खेल होता है। 'मोहन बगान' और 'मोहमडन स्पोर्टिंग' वालों में से जो हारता है वह दूसरों पर हाकियाँ चलाने लगता है। आये खेल के लिए थे पर झगड़ा करने लगते हैं। घर में बहुत से लोग ताश खेलते हुए हारने पर झगड़ पड़ते हैं। हम तो कई बार सोचते हैं कि लड़की-लड़के का ब्याह खेल

के लिए किया जाता है लेकिन ब्याह करने के बाद वे आपस में ही झगड़ा करने लगते हैं। सास-बहू का ही झगड़ा नहीं, पति-पत्नी भी आपस में झगड़ते हैं। इसी प्रकार माया शक्ति के विलास की कल्पना के द्वारा मैनें यह जगत्-प्रपंच खेल के लिए किया था, और इसमें मैं ही झगड़ा करने लगा।

बड़ी विचित्र आदत है कि जब तक जीतता है तब तक खेलता है, हारने लगता है तो झगड़ने लगता है। जब तक दृश्य के ऊपर हमारा नियंत्रण है, सुख मिलता है, तब तक तो संसार बिलकुल ठीक है; और जहाँ पासा उल्टा पड़ने लगा, दृश्य हमारे ऊपर हावी होने लगा, वैसे ही रोने लगता है, दुःखी होता है। खेलने का मतलब ही है कि कभी तुम जीतो और कभी हम जीतें। सभी समय एक ही जीतता रहे तो फिर खेल कहाँ हुआ? इस कल्पना को करते-करते मनुष्य में महाव्यामोह हो जाता है। साधारण व्यामोह नहीं होता, खेल शुरू किया था इस बात को भूल जाता है। समझता है कि किसी दूसरे ने मेरे को ज़बरदस्ती खेल में लगा दिया। कई बार हमसे लोग पूछते हैं कि भगवान् ने यह सृष्टि क्यों बनाई? हम प्रायः इसका ठीक जवाब नहीं देते। ठीक जवाब है कि तू ही बता, तूने किस लिये यह सृष्टि बनाई? मनुष्य का स्वभाव है कि उसके ऊपर दोष दो, तो झगड़ा करने लगता है! इसलिये हम गोल-मटोल जवाब देते हैं 'देवस्यैष स्वभावोऽयं ह्याप्तकामस्य का स्पृहा' अरे! यह तो इस देव का स्वभाव है। क्योंकि अगर कहेंगे कि 'तेरा स्वभाव है' तो झगड़ा करेगा। देव का मतलब है 'जानने वाला' अर्थात् चेतन; और जानने वाला चेतन, पूछने वाला खुद ही है। फिर भी पूछ रहा है कि भगवान् ने यह संसार हमें दुःखी करने के लिये क्यों बनाया? बड़े ठाठ-बाट से घुड़चढ़ी करके ब्याह करना चाहा। झगड़ा होने पर घरवाली से कहता है 'न जाने कहाँ मेरे को फँसा दिया!' कोई उसका फोटो रखे कि जब शादी की थी तब चेहरा कितना प्रसन्न था और अब कहता है कि बाप ने फँसा दिया। बाप बेचारा भी जवाब देता है कि 'ऐसा ही होता है, हमेशा से चला आया है'। यह सृष्टि अनादि है। यह सारा का सारा महाव्यामोह है; यह भूल गया कि मैंने किया।

'संहारिणे'; इस महाव्यामोह का भी संहार हो जाया करता है। संहार और नाश में कुछ फ़र्क है। संहार का मतलब किसी चीज़ को अपने अन्दर डाल लेना है। 'हृ' धातु का मतलब 'हरण करना' होता है। जैसे तुम्हारी जेब से रुपये निकाल लें तो हरण है और उसे अपने बटुए में रखें तो संहार है क्योंकि अब वे हमारे हो गये। किंतु रुपयों का नाश नहीं हुआ। इसी प्रकार यहाँ सारे 'माया-शक्ति-विलास-कल्पित-महाव्यामोह' का नाश नहीं है। यदि यह मोह कोई चीज़ होता तो इसका नाश भी करते। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं

'प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतम् अद्वैतं परमार्थतः।।'

यदि यह सृष्टि प्रपंच होता तो हम कुछ-न-कुछ उपाय करके इसका नाश कर देते। हिम्मत हारने वाले हम नहीं हैं। जैसे स्वप्न के अन्दर बहुत बड़ा मकान जल रहा है। यदि मकान जल रहा हो तो हम किसी पानी से उसको बुझा भी दें, लेकिन स्वप्न में जो मकान जल रहा है, वहाँ न मकान है और न जल ही रहा है। अतिधन्य वेद कहता है 'न तत्र रथा न रथयोगा न पंथानः।' न वहाँ मकान है, न वहाँ अग्नि है और न वहाँ जल रहा है। इसलिये वहाँ पानी डालने से कुछ नहीं होना है। प्रपंच होता तो निवृत्त कर लिया जाता, इसमें कोई संशय नहीं है। लेकिन वस्तुतः स्वप्न के मकान को जलने से नहीं बचा सकते, क्योंकि यदि तुमने वहाँ खूब पानी डालकर स्वप्न के मकान को बचा भी लिया तो दस मिनट के बाद आँख खुलने पर फिर ख़त्म है। बड़ा परिश्रम करके बचा तो लिया, थोड़ी देर बाद आँख खुलने पर फिर नष्ट हो गया। ऐसे ही यह प्रपंच है। इसके अन्दर तुमने किसी प्रकार कुछ कर भी लिया तो फिर थोड़ी देर बाद ख़त्म हो जायेगा। कई मातायें चिन्ता करती हैं कि 'लड़का पढ़ता नहीं है, क्या करें?' हम कहते हैं कि बड़ा परिश्रम करके तुमने यदि लड़के को पढ़ा भी लिया तो सौ साल बाद फिर दूसरे गर्भ में बिना पढ़ा हुआ ही हो जायेगा। फिर परिश्रम करके पढ़ेगा और पुनः सौ साल बाद फिर वैसा-का-वैसा हो जायेगा। मातायें चिन्ता करती हैं कि हमारी लड़की लम्बी नहीं हो रही है। उसको लम्बा कर भी लोगे तो सौ साल बाद फिर उसे अंगूठे जैसा गर्भ में रह जाना है! स्वप्न के मकान को पानी डालकर बुझा दिया तो क्या बच जायेगा? इसलिये उसके जलने की चिन्ता न करके उसका उपसंहार कर लो; आँखें खोल लो तो मकान और उसका जलना गया। कठिनाई यह है कि जिस समय वैराग्य नहीं है, उस समय कहते हैं 'स्वामी जी! मकान को बचा दो, जलना बन्द कर दो।' लेकिन वह मकान कभी बचना नहीं है! जो नहीं बच सकता, उसे बचाने का प्रयास करना व्यर्थ है। 'मायामात्रमिदं द्वैतं' जैसे स्वप्न के अन्दर तुमने एक मोह कर लिया, वैसे ही यहाँ भी अपनी माया शक्ति से संसार खड़ा कर लिया। जैसे वहाँ जगना आवश्यक है, ऐसे ही यहाँ माया शक्ति के उपसंहार की आवश्यकता है। तुम्हारी स्वप्न देखने की शक्ति जगने पर कहाँ चली गई? कहीं चली जाती तो करवट बदलते ही दूसरी बड़ी भारी बिल्डिंग कैसे खड़ी कर ली जिसमें अब भयानक पानी बरसने से तरेड़ पड़ गई है? बाईं करवट से सोने पर मकान जल रहा था, दाईं करवट होने पर जल नहीं रहा है, पानी से खराब हो रहा है। यदि तुम्हारी स्वप्न देखने की शक्ति नष्ट हो गई होती तो दूसरा कहाँ से खड़ा कर लिया? इसलिये स्वप्न देखने की शक्ति संहृत हुई, तुमने अपने में लीन की और फिर जब इच्छा हुई, तुमने प्रकट कर ली।

पहले तो चिद्भाव की प्राप्ति ही कठिन है, क्योंकि यहाँ सब कुछ झोंकना चाहिये। श्रुति ने एक नियम कर दिया है कि जो-जो किसी चीज़ को पाने के तरीके हैं, वे कोई यहाँ काम नहीं करेंगे 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागे नैके अमृतत्वमानशुः।' संसार में किसी चीज़ को पाने के जितने तरीके हैं, वे यहाँ काम नहीं करेंगे। यहाँ तो खोने के तरीके से काम चलेगा। जैसे किसी

व्यापार में जमा ही जमा होता है; जुआ एक ऐसा व्यापार है। कोई व्यापार ऐसा होता है जिसमें खर्च-ही-खर्च होता है, जमा की कोई रकम ही नहीं है; जैसे ब्याह के बाद खर्च ही खर्च है। इसी प्रकार संसार के यावत् पदार्थों के अंदर तो प्राप्ति भी है और खोना भी है लेकिन परमात्म-प्राप्ति में केवल खोने की कलम है, आमदनी की कोई कलम नहीं है, क्योंकि आकाश से लेकर जीवभाव पर्यन्त, अहंता पर्यन्त, जो जमा किया है, वह उड़ाओ, फिर जो बच जाये सो बचा रहेगा। अथर्ववेद में इसीलिये उसे उच्छिष्ट (बचा हुआ) ब्रह्म कहा है। संसार की कल्पना के प्रारंभ में जमा ही जमा  आकाश, वायु आदि सब जमा हैं, जोड़ते-ही-जोड़ते गये। इसलिये 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' त्याग के द्वारा ही उसकी प्राप्ति होती है। इसलिये जितना-जितना खोओगे, उतना-उतना पाओगे। नया कुछ पाओगे नहीं, क्योंकि वहाँ पाने की कलम है ही नहीं। सोने पर चढ़े हुए मैल को हटाने से सोने का भार नहीं घटता, चाहे जितनी पालिश करो, सोना उतना ही रहेगा। इसी प्रकार सारे संसार के मैल धोते जाओ, चेतन में कुछ नहीं घटना है। चूँकि आज तक पाने के लिए कुछ करते रहे हो, इसलिये सोचते हो कि 'खोने से कैसे पायेंगे?' इसीलिये खोने से हर आदमी डरता है। अतः चिद्भाव की प्राप्ति ही कठिन है क्योंकि केवल त्याग से उसकी प्राप्ति सम्भव है।

एक लड़का जब बिलकुल छोटा बच्चा था तभी उसको एक भेड़िया उठा ले गया। भेड़ियों में वह बड़ा हुआ, इसी कारण वह भी भेड़ियों की तरह कच्चा मांस खाता था, छोटे-छोटे खरगोश आदि को बड़ी तीव्रता से पकड़कर नोंच डालता था। 'संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः' सारे ही दोष संग से आते हैं। सारे गुण-दोषों का कारण केवल संग ही है, और कुछ नहीं है। चाँदनी चौक में बैठकर व्यापारियों का संग करोगे तो एक दिन तुम भी सोचने लगोगे कि 'अमुक माल के ऊपर बजट में टैक्स आने वाला है तो एक सौदा कर ही लें, कोई हर्जा नहीं है, पाँच मिनट का सौदा है'। दूसरी तरफ, वीतरागी महापुरुषों का संग करोगे तो एक दिन सोचोगे कि 'जाने दो, एक दिन में कितना कमा लेंगे, आज तो बैठकर शिवरात्री का ही आनंद ले।' वह लड़का भी वहाँ बैठे-बैठे संगदोष से भेड़ियों जैसा व्यवहार करने लग गया। कुछ समय बाद एक बार वह किसी गाँव के पास से निकला। गाँव वालों ने सोचा यह कोई जंगली आदमी है, नंग-धड़ंग जा रहा है। लगता है कि इसने भेड़िये पाल रखे हैं और हमारी गाय-भैंसों पर आक्रमण कराता है। उससे गाँव वालों ने पूछा तो पता लगा कि वह खुद ही जंगली है, बोलना ही नहीं जानता। गाँव वाले मनुष्यों ने उसे जाल में पकड़ लिया। वह आदमियों को वैसे ही नोंचने की कोशिश करे जैसे भेड़िया करता है लेकिन अब अकेला पड़ गया। धीरे-धीरे लोगों ने प्रयत्न करके उसे समझाया कि तू आदमी है और उसे आदमियों का खाना सिखाया। वह तो बेचारा भेड़ियों का खाना मांस आदि ही खाता था। अब उसे पता लगा कि दूध, घी, मक्खन आदि आदमियों का खाना है। धीरे-धीरे उसे भाषा भी आ गई, कुछ काम भी करने लगा। एक दिन काम करते हुए कुछ सौदा

खरीदने के लिए शहर में चला गया। जिस दुकान पर जाकर उसने सौदा खरीदा वहाँ पर सेठ और सेठानी दोनों मौजूद थे। माता-पुत्र का कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि अज्ञात भाव से भी यदि पुत्र को देखती है तो माता के स्तन में एक विशेष प्रकार की अनुभूति हो जाती है। माता को ही ऐसी अनुभूति होती है, 'मम्मी' को कुछ नहीं होता, वह तो वीतराग होती है! माता के हृदय में कुछ ऐसा भाव होता है कि उसे पुत्र प्रतीत हो जाता है। उसने ऊपर-नीचे देखा और धीरे से सेठ से कहा 'मन्नू के बाबा, ज़रा इसका चेहरा तो देखो।' सेठ बोला, 'पहले सौदा तोल लूँ।' वह फिर बोली 'ज़रा देखो तो इसका चेहरा मन्नू के चेहरे से मिलता है।' सेठ ने कहा 'तेरा दिमाग खराब हो गया है। तीस साल बाद वह कहाँ से आयेगा? चुप बैठी रह।' वह सौदा लेकर जाने लगा तो सेठानी ने कहा 'पूछो तो सही कि कौन है।' यही माँ का बाप से फ़र्क होता है। इसीलिये भगवती की उपासना साल में दो करवाते हैं क्योंकि पिता तो कैसे हैं? 'श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचराः, चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः।' भगवान् शंकर कहते हैं कि 'अब ये बेटे तो नालायक हो गये। ये ऐसे जगत् के चक्कर में फँसे हैं कि इनकी कौन चिन्ता करे!' इसलिये वे तो श्मशान में जाकर बैठ गये कि 'ये मरकर ही मेरे पास आयेंगे, ज़िन्दा तो मेरे पास आने वाले ही नहीं हैं।' वे बाबा भूतनाथ बनकर बैठ गये, समझ गये कि जीव हाथ से गये। लेकिन माँ का दिल नहीं मानता। वह आज भी कहती है कि 'चल, तेरे को बाप के पास ले चलूँ।' माँ का हृदय नहीं मानता कि लड़का ख़त्म हो गया। इसलिये सेठ ने कहा कि 'तीस साल बाद तेरे को याद आ रहा है, घर में चार बेटे और हैं।' लेकिन उसका दिल नहीं माना। यही माँ का हृदय है। अनादि काल से शुक, वामदेव, सनकादि मुक्त हो गये; शंकर कहते हैं कि 'कई जने मुक्त हो गये, सारी दुनिया की कहाँ तक चिन्ता करती रहोगी।' लेकिन वह परम महिषी कहती है कि मेरे लिये बेटा, मेरा बेटा ही है। सेठ ने बहुत कहा, लेकिन माँ का हृदय नहीं माना, उसके पीछे-पीछे चली गई। थोड़ी दूर जाकर पूछा 'बेटा! सुन, तू किस गाँव का रहने वाला है? तेरे माता-पिता कौन हैं?' यह बात सुनते ही उस लड़के की आँखें कुछ सकुचाई, फिर नाम बता दिया। बस उतने में ही माँ को खटका पड़ गया कि माता-पिता का नाम बताते समय आँख में झपक कैसी, इससे तो आँख में प्रसन्नता खेलनी चाहिये। तुरंत मुँह से अकारण ही शिव का उच्चारण न हो, आँख में शक्ति न खेल जाये, तो उसे क्या पिता बना रखा है! लेकिन बाकी सब बातों को तो आँख ऊपर करके कहोगे कि 'यह मेरा महल है, यह मेरी सास का कमरा है, यह मेरा सोने का और नहाने का कमरा है।' फिर एक छोटी-सी कोठरी में जाकर आँख नीचे करके कहोगे कि 'यह पूजा का कमरा है।' बाकी चीज़ें कहते हुए दिल खिलता है, यहाँ ऐसा नहीं क्योंकि हृदय में जानते हो कि यह पिता नहीं है, इसलिये आँख झपकती है। कोट, पैण्ट, टाई या धोती, टोपी पहनते समय सब चीज़े बिलकुल ठीक होनी चाहिये, कोई असावधानी नहीं होनी चाहिये, ठीक नाप के होने चाहिये, न ढीले, न कसे। दर्जी को चार बार कहोगे कि यह सूट ठीक

नहीं बना। लेकिन ढीलापन जनेऊ बनवाने में है। कहते हैं ‘क्या करें, आजकल बाजार में जनेऊ ठीक नहीं आते।’ बाजार के कुर्ते तो नहीं पहनेंगे क्योंकि नाप ठीक होना चाहिये, लेकिन जनेऊ के लिए लगता है कि बाजार में ऐसा ही बना हुआ मिलता है। लड़के की आँख झपकी तो समझ गई कि कुछ गड़बड़ है।

रात में फिर सेठ के पीछे पड़ी कि एक बार उस गाँव में चलो। सेठ कहने लगा ‘अरे! तेरे लड़के को तीस साल बाद उसी गाँव में रहना था। पुलिस को खबर कर दी थी, कहीं पता नहीं चला, तेरे दिमाग में पत्थर पड़े हैं।’ सवेरे वह फिर पीछे पड़ी। दो-तीन दिन बाद सेठ ने कहा ‘चल, तुझे शान्ति होती है तो ऐसे सही।’ मोटर में बैठकर चले। गाँव वाले कुछ घबराये कि मोटर वाला सेठ आया है। इधर-उधर की बात करने के बाद सेठ शरमा कर बोला कि ‘इसको बहम हो गया है, उसे निकालने आया हूँ। यह जानना चाहती है कि यह लड़का तुमने गोद लिया है या पैदा हुआ है?’ उसने कहा ‘मेरे कोई लड़का नहीं था, गोद लिया ही समझ लो।’ सेठानी को संशय हो गया कि गोद लिया ही *समझ लो* का क्या मतलब? पूछा ‘कहाँ से गोद लिया?’ वह कहने लगा कि ‘आपसे क्या छिपाना है। यह तो हमें जंगली भेड़ियों में मिल गया था। वहाँ एक बार दिखाई पड़ा तो हम ले आये।’ लड़के को देखकर माँ के हृदय में और प्रेम उभरा। धीरे-धीरे सारी बातों का विवरण लेती गई कि किस समय और कहाँ मिला, तब क्या उम्र का था, उसका क्या अंदाज़ था। अंततोगत्वा माँ ने कहा ‘मेरा संदेह पूरी तरह दूर होगा जब तू अपनी धोती खोल दे।’ जवान लड़के को कुछ संकोच हुआ। तब माँ ने पूछा कि ‘तेरी जाँघ में अमुक जगह एक घाव का निशान लगा हुआ है या नहीं?’ लड़के ने कहा ‘ठीक है।’ तब उसने कहा कि ‘बचपन में तेरे फोड़ा हुआ था तो मैंने शल्य करवाया था।’ देखा तो उसी जगह घाव का निशान था। उस आदमी ने कहा ‘आपका बच्चा हो तो भी अब तो हमारे पास है।’ उन्होंने कहा ‘कोई बात नहीं, तुम लोग भी हमारे साथ चलो।’ सेठ तो था ही, उन्हें भी ले आया और सब बड़े आनंद से रहे। जो किसी काल में भेड़िया बना, उसके बाद गरीब मनुष्य बना, वह आज लक्षाधिपति बना हुआ है क्योंकि सबसे बड़ा भाई था, सारी सम्पत्ति उसके पास हो गई।

ठीक इसी प्रकार से इस जीव का हाल है। यह जीव किसी महाव्यामोह के कारण भेड़ियों में फँसा हुआ अपने को भेड़िया बनाये हुए है। भेड़िया शिकार पर झपटता नहीं है, बल्कि पीछे से जाता है। इसी प्रकार यह जीव संसार के पदार्थों पर शुभ कर्मों के द्वारा नहीं झपटता है। वह वहाँ भी चोरी, झूठ, फरेब, न जाने क्या-क्या करता रहता है। कारण संगदोष ही है। देहादि जड पदार्थों का संग करते-करते जड ही हो गया है, अपने को भी जड ही समझता है, हर चीज़ में अपने को परतंत्र समझता है। सरकार, कराधिकारी, घरवाली, बेटे, नगरपालिका, बिजली कम्पनी, न जाने किस-किस के परतंत्र है! इनसे किसी तरह बचे तो काल की, ग्रहों की, देवताओं की, न जाने कहाँ-कहाँ की परतंत्रता बाँधे घूमता फिरता है। मुसलमानों ने एक नई परतंत्रता

चलाई थी कि किस्मत के हम परतंत्र हैं। कभी कोई महापुरुष इसे देखता है तो सोचता है 'अरे! यह चेतन कहाँ फँसा हुआ है!' उससे नहीं रहा जाता, वह जाल डालकर पकड़ता है। हमारा वेद संसारी पुरुष को पकड़ने के लिये एक जाल है। वेद कहता है तुम्हें धन चाहिये तो 'श्रीसूक्तं सततं जपेत्' और रोज़ एक मोहर लो। पत्नी चाहिये तो 'पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीं तारिणीं दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम्' का जप करके लो। ऐसी पत्नी कहीं तुम्हें अपने प्रयत्न से नहीं मिलने वाली है। देखने में सुन्दर पत्नी पति के ऊपर रुबाव डालेगी, लेकिन शास्त्रानुसार मिलने पर वह मन के अनुसार चलने वाली भी होगी। संसार में फँसाने वाली नहीं, उससे मुक्त कराने वाली होगी और अच्छे कुल की भी होगी। और क्या चाहिये? जितने भी सुखों की कल्पना तुम कर सकते हो, उससे ज़्यादा सुख तुम्हें देंगे। यह हमारे वैदिक कर्मकाण्ड का बड़ा भारी जाल है। लगता है कि तुम्हें फँसाने के लिये है, लेकिन फँसाने के लिये नहीं है। काम्य कर्म भी तुम्हें मुक्ति दिलाने के लिये हैं। भेड़ियेपन से तो दूर हो। जब उस जाल में आया तब मनुष्य *बना,* लेकिन अभी गरीब मनुष्य है। इसकी गरीबी यह है कि अभी यह शरीर, मन आदि का मालिक नहीं बना है, इनके अधीन बना हुआ है। शुभ कर्म, वैदिक कर्म कर रहा है, लेकिन अभी कामनाओं के वशीभूत है। अब कभी किसी पुण्य-पुंज के परिपाक का फल यह होता है कि साक्षात् अपने पिता को देख लेता है। जब शुभ कर्म करते हो तो अंतःकरण में ज़रा विचार शक्ति आती है। जो पाप कर्म करने वाला है, उसकी विवेक-शक्ति नष्ट हुई है, उससे विवेक नहीं होता। जैसे जब नशा चढ़ा हो, उस समय विवेक जाग्रत् नहीं होता इसी प्रकार असत् पदार्थों में पड़े हुए को आत्मा-अनात्मा का फ़र्क बतायेंगे तो कुछ नहीं समझ आता है, क्योंकि उनके नशे में धुत है। जब नशा उतरे तब हृदय में विवेक जाग्रत् होने पर उसके सामने भगवान् शंकर का चेतन रूप प्रकट होता है।

जैसे वह सेठ के पास कुछ लेने गया था वैसे ही जीव भी शंकर की उपासना कुछ लेने के लिए ही करता है। कोई काम कर्मकाण्ड से पूरा नहीं होता तो कर्मकाण्डी कहता है कि 'इष्ट-निष्ठा भी चाहिये'। जाता तो फल के चक्कर में है लेकिन भगवान् के सामने आ जाता है। श्रुति भगवती का हृदय कहता है कि 'आया तो तू स्वास्थ्य का सौदा लेने, वह ले ले लेकिन बन्धन से छूट।' भगवान् शंकर से कहती हैं 'ज़रा इसकी तरफ देखो तो' वे कहते हैं कि 'यह महान् कामनाओं से ग्रस्त है, क्या देखूँ!' भगवती कहती हैं 'है तो अपना ही बेटा, देख लो।' भगवान् कहते हैं 'तुम ही देख लो।' इसीलिये इसी सौन्दर्यलहरी में आगे कहेंगे 'स्वतंत्रं ते तंत्रं' भगवान् द्वारा सारे कर्मकाण्ड का निर्माण करने के बाद भगवती ने कहा कि 'आपने सारे शास्त्र बनाये तो एक मेरे लिये भी बना दो।' भगवान् ने कहा 'क्या बनाऊँ, तू ही बना ले।' तब भगवती ने कहा कि 'मैं जिसे चाहूँ, अपनी इच्छा से स्वतंत्र कर दूँ।' जैसे सेठ ने ले जाकर पत्नी को उस लड़के के घर में खड़ा कर दिया वैसे जीव का घर उसका हृदय है। हृदय के अन्दर जाकर

खड़े होकर माता कहती है कि ‘बेटा! देख, तेरे माँ-बाप ये हैं।’ जब पहले-पहल कर्मकाण्डी को कहते हैं कि ‘तू ही ब्रह्म है’ तब वह कहता है कि ऐसा मत कहो, पाप चढ़ जायेगा, मुझे भगवान् कैसे कहते हो? आँख झपकी, क्योंकि कहने में शरम खाता है। कहता है ‘यह शरीर मेरा घर है, मन-बुद्धि मेरे माँ-बाप हैं, इन्हीं से पला हूँ’ अहंकार से भगवान् शंकर पूछते हैं ‘तू जड जाति का है, तेरे घर चेतन कहाँ से आया?’ कहता है ‘भेड़ियों से बचा लाया हूँ, मेरे ऊपर गुस्सा नहीं करना।’ अहंकार को भी भगवान् से डर लगता है। अंत में भगवती कहती हैं कि ‘तेरी जाँघ में चीरा लगवाया था।’ संस्कृत में ऊरू का अर्थ है विस्तृत, (फैला हुआ)। ब्रह्मभाव, व्यापक भाव है। जैसे फोड़ा हो गया था वैसे रोग मौजूद है; बाधितानुवृत्ति वह रोग है। ज्ञान होने पर भी जगत् की प्रतीति होने पर बाध करना पड़ता है। फोड़ा तो ठीक हो गया, लेकिन चीरा बाकी है। बस यही ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ता की पहचान है। दोनों में इतना ही फ़र्क है कि ब्रह्म में चीरा नहीं है, ब्रह्मवेत्ता में है। उसका पता लग गया। अब अहंता इत्यादि सारे कहने लगे कि ‘बहुत दिनों से पाला है।’ भगवती कहती हैं ‘कोई हर्जा नहीं, तुम लोग भी चलो। अब तक तुम बन्धन के अहंता-ममता थे, अब मुक्ति के बनोगे।’ ब्रह्मवेत्ता का अहं ‘ब्रह्मैवाहं’ है। जैसे वह व्यक्ति उस लड़के का संग करने के कारण यद्यपि खुद तो लखपति नहीं बना, सम्पत्ति तो उसे मिली तथापि उसका संग करने के कारण लखपति का सुख वह भी भोगने लगा जिसने पोषण किया था। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता का संग करने के कारण बेचारे गरीब अहंता-ममता, देह, मन इत्यादि भी ‘ब्रह्मैवाहं’ हो जाते हैं। वस्तुतः अहंता वृत्तिरूप है, वह ब्रह्म नहीं होगी, लेकिन उस ब्रह्मवेत्ता के कारण वह अहं भी धन्य हो जाता है जो कहता है मैं ब्रह्म हूँ। देहादि-संघात उसके परम पवित्र हो गये, अपने को धन्य मानते हैं। इसी को भगवान् शंकर कहते हैं ‘कतिचन’, जो भी हैं, वे सारे-के-सारे धन्य हो जाते हैं। यह जो जीवन्मुक्ति का रसास्वाद है, उसे यहाँ चिदानंदलहरी बताया। इसके निवास-स्थल पर आगे विचार करेंगे।

## प्रवचन-२

१८-३-७२

सर्वज्ञ भगवत्पाद शंकर उस परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को बताते हुए उसे चिदानंदलहरी कहते हैं। चिदानंदलहरी का रूप बताते हुए कहा कि चित् का आनंद नहीं बल्कि चित् ही आनंद है। यह भी बताया कि पहले तो उसके चिद्रूप को समझना ही कठिन है। अधिकतर लोग संसार में चिद्रूप को न समझने के कारण इस समग्र जगत् के कारणरूप से जडवाद का प्रसार करते हैं कि सारे जगत् का कारण कोई जड प्रकृति या जड परमाणु हैं। नैयायिक, वैशेषिक मानते हैं कि सारे जगत् का कारण परमाणु हैं और वे परमाणु जड हैं। सांख्यवादी और योगवादी कहते हैं कि इस जगत् का कारण प्रकृति है और वह प्रकृति जड है। कुछ अन्य वादी जगत् का कारण काल को मान लेते हैं, नियति को मान लेते हैं, लेकिन सर्वत्र किसी-न-किसी प्रकार से कारण जड माना जा रहा है।

यदि कारण परतंत्र होगा तो कार्य में स्वतंत्रता कहाँ से आयेगी! वेदांती कहता है कि कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। सीधी-सी बात है, कि रूई का धागा होगा तो उससे उत्पन्न होने वाला कार्य कपड़ा भी रूई का ही होगा। यह तो नहीं हो सकता कि रूई के धागे से कपड़ा बनाओ और वह रेशम का निकल आये! तिल में कहीं भी तेल दिखाई नहीं देता लेकिन तिल को पेरने से उसमें से तेल निकल आता है तो यह सिद्ध करता है कि तिल में पहले से तेल था। धागे में तो रूई दिखाई देती है लेकिन यहाँ बता रहे हैं कि जहाँ कारण न भी दिखाई दे, जैसे तिल में तेल नहीं भी दिखाई देता, फिर भी कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो जाता है कि तेल निकला तो तिल में ज़रूर था, मक्खन निकला तो दही में ज़रूर था। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो बालू में से भी तेल निकल आना चाहिये! पानी से भी घी निकल आना चाहिये! घी के प्रति कारण यदि मथना है अथवा मथने से यदि घी पैदा हुआ हो, तो पानी मथने से भी घी निकल आये, यदि पेरने से तेल निकले तो बालू को पेरने से भी तेल निकल आये। इसलिये न मथना और न पेरना कारण है। ये तो एक तरीके हैं जिनके द्वारा तिलों में छिपा हुआ तेल और दूध में छिपा हुआ घी प्रकट हो जाता है। 'तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिः' श्रुति ने कई दृष्टांत दिये। पहाड़ में कहीं-कहीं पत्थर खोदो तो पानी निकल आता है या यहाँ पर भी ज़मीन में गड्ढा खोदो तो पानी निकल आता है, उसी का नाम कुआँ या बावड़ी है। खोदने से पानी नहीं निकलता। खोदने से यदि पानी निकले तो सब जगह निकल आये। पहले पानी था, उसको मिट्टी ने ढक रखा था, इसलिये जैसे ही आवरण हटा, वैसे ही पहले से मौजूद पानी प्रकट हो गया। कहीं पत्थर फोड़ा और उसके पीछे झरना मौजूद था, तो कहते ऐसा हैं कि पत्थर में छेद करने से पानी निकला, लेकिन ऐसा नहीं है; कारण यह है कि उस पत्थर में पानी पहले से मौजूद था, पत्थर

के अग्रिम भाग ने उसको आवृत कर रखा था। जैसे ही वह आवरण हटा, वैसे ही पानी प्रकट हो गया। खली ने तिल को ढक रखा था, जैसे ही खली रूप हटा, तेल प्रकट हो गया। छाछ ने घी, मक्खन को ढक रखा था, जैसे ही छाछ को दूर किया, वैसे ही घी प्रकट हो गया। इसलिये सर्वत्र जहाँ-कहीं कोई भी कार्य उत्पन्न होता है तो निश्चित समझ लो कि वह कारण में मौजूद था लेकिन आवृत था। जैसे ही आवरण हटा, वैसे ही वह कार्य प्रकट हो गया।

वेदांती का नैयायिक, सांख्यवादी, कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी से प्रश्न है कि एक बात बताओ, कि तुम अपने आपको चिद्रूप या जडरूप अनुभव करते हो? वह कहता है कि 'मैं तो चेतन हूँ, नहीं तो बात ही नहीं कर सकता।' जब तुम चेतन हो, तुम्हारे में चेतनता (ज्ञान) प्रकट हो रही है, तो निश्चित है कि तुम जहाँ कहीं से निकले हो, वह चित् है। यदि वह चित् (ज्ञान) न होता तो जगत् के अन्दर तुम में ज्ञान का प्राकट्य कैसे होता? कारण के गुण ही कार्य में आयेंगे, यदि कारण जड प्रकृति, जड परमाणु होते, तो उनसे उत्पन्न होने वाला जो कुछ भी है, वह भी जडरूप की होता। इसलिये जगत् का कारण चित् है, उसे जड नहीं मान सकते। वेदांती इसीलिये कहता है कि जगत् का कारण एकमात्र ब्रह्म है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति' श्रुति कहती है कि जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न होता है वही ब्रह्म है। यह ब्रह्म चित् ही नहीं, आनन्द भी है। अतः उसका कार्य भी सुख होता है। चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त किसी से पूछो कि तुम यहाँ जितने कार्य कर रहे हो, किसलिये कर रहे हो? तो कहेंगे कि आनंद- प्राप्ति के लिये। जैसे विवाह की सारी तैयारी और उसपर सब खर्च किसलिये है? आजकल तो यह कहते भी नहीं बनता लेकिन पहले जब लड़के की शादी करके बहू को घर लाते थे तो घर के सब लोग उसका घूँघट खोलकर मुँह देखते थे और इस बात के ही लड़की को दस-पाँच रुपये मुँह-दिखाई देते थे। अब तो शादी से पहले ही ससुराल वालों के सामने मुख खोलकर घूमती है तो कोई क्या मुँह-दिखाई दे! इसी प्रकार जगत् के यावत् कार्य इसलिये किये जा रहे हैं कि आनन्द का मुँह देखना है। आनन्द के ऊपर कोई घूँघट पड़ा हुआ है, वह हट जाये तो आनन्द-चिद्रूपिणी भगवती का दर्शन हो जाये। यावत् प्राणी आनन्द का ही दर्शन करना चाहते हैं, कोई दुःखरूपी राक्षसी का दर्शन नहीं करना चाहता! उसका जबरदस्ती दर्शन हो जाये तो दूसरी बात है। विचार करो कि यदि इस जगत् का मूल कारण आनन्द न हो तो फिर यह चींटी से लेकर ब्रह्म तक की सारी ही प्रवृत्ति व्यर्थ हो जायेगी, क्योंकि यदि कारण में आनन्द नहीं होगा तो कार्य में आनन्द कहाँ से आयेगा? वही, तिल में तेल वाली बात है सारे जगत् में हमें अपनी चेतनता का अनुभव होता है। इससे तो यह पता चलता है कि जगत् का कारण चेतन है और सब लोग आनन्द को उघाड़कर देखना चाहते हैं, अतः जगत् का कारण आनन्द है।

तीसरी चीज़ जो सर्वत्र अनुभव में आती है, वह है स्वतंत्रता। किसी भी सांसारिक पदार्थ से आनंद नहीं होता, क्योंकि यदि किसी चीज़ से आनन्द होता हो, तो सब को सब समय उस

चीज़ से आनन्द हो जाये। जैसे रसगुल्ला मीठा होता है। किसी का मुँह मीठा कराना हो तो उसे रसगुल्ला खिला दो। वह चाहे हिन्दुस्तानी हो, पाकिस्तानी हो, चाहे नास्तिक हो, कोई हो, किसी जाति का, कहीं का प्राणी हो, पशु-पक्षी चाहे कोई हो; उसे रसगुल्ला दोगे तो मीठा लगेगा। ऐसे ही यदि किसी पदार्थ में आनंद हो तो जिसको दो, उसको आनंद आना चाहिये। लेकिन कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो सबको सब समय आनंद दे सके। क्या चीज़ आनंद देती है? स्वतंत्रता ही आनंद देती है। जब-जब तुम्हारे में किसी भी पदार्थ के प्रति स्वतंत्रता है तब-तब वह सुख देती है और जब-जब परतंत्रता है तब-तब दुःख देती है। बड़े से बड़ा आदमी भी महीने में ज़्यादा-से-ज़्यादा दस या पंद्रह किलो घी खाता है, इससे ज़्यादा और कितना खाता होगा? नहीं खा सकता, चाहे भरतराम या चरतराम हों। पंद्रह किलो घी खाने वाले व्यक्ति को उससे अधिक धन की अपेक्षा क्यों है? असली कारण क्या है? वह ज़्यादा खा लेगा   यह कारण नहीं है, बल्कि उसको यह बोध है कि 'मैं जब चाहूँ, तब खा लूँगा'। बाजार में चीज़ पैसे से मिलती है। 'जब चाहूँगा, तब खा लूँगा'   बस यही स्वतंत्रता उसके सुख का कारण है, धन कारण नहीं है। यदि धन कारण होता तो नोट निरस्त होने पर भी वह पड़ा हुआ पैसा सुख देता। पर वह दुःख देगा कि 'सौ के नोट दस के बना लिये होते तो अच्छा था'। धन सुख का कारण नहीं है, धन के द्वारा मनुष्य में जो एक स्वतंत्रता का अनुभव होता है, वही सुख का कारण है। लोग सर्दी के दिनों में बड़े मोटे-मोटे बिस्तरे लेकर जाते हैं। वे सारी रजाइयाँ नहीं ओढ़ते हैं, सबकी शिकायत होती है कि हम सोचते थे कि बड़ी ठण्ड होगी लेकिन पाँच कम्बल फालतू लाये। किसी ने कहा नहीं था, स्वतंत्रता का बोध था कि जब ठण्ड पड़ेगी, तब ओढ़ लेंगे। फिर वे चाहे पड़े रहें। यदि कम्बल साथ में नहीं है तो परतंत्रता का बोध होता है कि 'सर्दी हुई तो क्या करेंगे?' यह परतंत्रता ही दुःख का कारण बनी। इसी प्रकार से सर्वत्र जहाँ-जहाँ स्वातंत्र्योन्मेष होता है, स्वतंत्रता का बोध होता है, वहाँ-वहाँ सुख और जहाँ-जहाँ परतंत्रता का बोध होता है वहाँ-वहाँ दुःख है। इस स्वतंत्रता- प्राप्ति के तरीके अलग-अलग हैं। किसी ने यह तरीका बनाया कि मैं अपनी जेब में पाँच लाख रुपये लेकर चलूँगा और जहाँ जाऊँगा, खर्च करके चीज़ खरीद लूँगा। दूसरे ने कहा कि बैंक वालों के पास रुपया जमा करके ट्रेवलर्स चैक (यात्री हुण्डी) ले ली जो जब चाहे तब बैंक में जाकर भुना लेंगे, जहाँ-जहाँ वह बैंक होगा, उसमें हुण्डी भुना ली जायेगी। तीसरे ने सोचा कि क्या पता रुपये न चलें, बैंक भी न चले, अपनी दसों अंगुलियों के अंदर दस नगों की अंगूठियाँ पहने रहें, जब चाहे तब उनके द्वारा चीज़ ले लेंगे। वह भी स्वतंत्रता का बोध कराता है।

एक बार हम किसी यात्रा में थे तो हमारे साथी बड़े उदार दिल के थे। उन्होंने रुपया खर्च करना शुरु किया और ऐसे खर्च किया कि साथ में नौकर-चाकरों के रुपये सभी खर्च दिये! अंततोगत्वा यह हाल हुआ कि घर वापिस पहुँचने के लिये मोटर में पेट्रोल के लिये पैसे नहीं रहे।

अब उधार माँगें तो कोई न दे। एक जगह चुंगी चुकाने की कठिनाई आ गई। साथ के एक सज्जन ने वहाँ के पुलिस अधिकारी से कहा 'तुम चुंगी का झगड़ा कर रहे हो, हमारे पास कुछ नहीं है! यह सोने की अंगूठी है, या ले लो या बिकवा दो।' सोना तो 'हितं च रमणीयं च' होता है। अंगूठी देखकर ही उसने रुपये दे दिये। हमने विचार किया कि इतनी बड़ी मोटर का किसी ने विश्वास नहीं किया और अब अंगूठी भी नहीं ली, केवल देख ली और रुपये दे दिये! इसलिये बहुत-से लोग दसों अंगुलियों में पहने रहते हैं कि दिखाने से ही काम चलता रहे।

इन तीनों में से एक ने स्वातंत्र्य-बोध नोटों के द्वारा, दूसरे ने यात्री-हुण्डी के द्वारा, तीसरे ने सोने के द्वारा किया। चौथा उसी काम को दोस्त के द्वारा करता है। सोचता है जहाँ जाऊँगा वहाँ कोई-न-कोई अपना मित्र है। मित्रों के भरोसे भी मनुष्य को स्वातंत्र्य-बोध होता है कि दोस्त के यहाँ रहूँगा तो सारा काम हो जायेगा। इनमें क्रमशः बोझ कम ले जाना पड़ता है। नोटों की अपेक्षा यात्री-हुण्डी ले जाना सरल, चोर का डर कम और बोझा कम। यात्री-हुण्डी की अपेक्षा सोने में बोझ भी कम और अंगुलियों में पहने हुए खतरा भी कम है। यह नहीं समझना कि कोई अंगुली से न ले जाये। एक सज्जन ने बढ़िया बात सुनाई : कोई उनसे कह रहा था कि 'आप अपनी यात्रा में लाख-पचास हज़ार रुपये लेकर चलते हो, यह अच्छा नहीं है। इसलिये बैंक द्वारा भेज दिया करो।' उन्होंने कहा कि 'रुपये तो बैंक से भेज दूँगा, लेकिन यह कीमती जान कहाँ रखकर जाऊँगा? लाख-पचास हज़ार तो निकल जायेंगे, जब जान ही साथ है और उसी का ज़्यादा खतरा है तो फिर रुपयों की क्या चिन्ता करें?' हमने कहा, यह बात ठीक कही। लोग सोचते हैं कि रुपये कैसे बचेंगे। उनसे यह पूछो कि रुपये जिसके लिये बचाना चाहते हो, वह कैसे बचेगा? अंग्रेजी में दो शब्द हैं 'लिविंग' और 'लिव्लीहुड'; जीने के लिये जीने के साधन चाहिये। आजकल के मनुष्यों की समस्या यह है कि 'जीने के साधनों' के पीछे 'जीने' को बरबाद कर रहे हैं। जीने का सुख इसलिये नहीं ले पाते कि साधन एकत्रित करने में लगे रहते हैं। जिसके लिये सारे साधन हैं, उसकी चिन्ता ही नहीं है। सोने की भी अपेक्षा हल्की और कम खतरे की चीज़ दोस्ती है। जैसे तुम बैंक में रुपया जमा करते हो, वैसे ही कई बुद्धिमान् लोग दोस्तों में जमा करते हैं। तुम्हारे घर जो आया, उसे भोजन कराया, अपने यहाँ चार दिन रखा तो उसके पास तुम्हारा रुपया जमा हो गया। इस प्रकार अब चार दिन की जगह उसके यहाँ आठ दिन रहना और भोजन एडवांस बुक हो गया। हमारे यहाँ अतिथि यज्ञ का बड़ा आदर्श था। घर में कोई अतिथि आया तो सब प्रसन्न होते थे कि हमारे घर अतिथि आया है। इसलिये पुराने लोगों को याद होगा कि जब गाँवों में जाते थे तो कुछ नहीं ले जाते थे। केवल एक लोटा लेकर जाते थे, क्योंकि रास्ते में टट्टी-पेशाब जाना पड़ेगा। बाकी, जिसके घर पहुँचेंगे वह बिस्तरा भी देगा, भोजन भी देगा। कोई झंझट नहीं होता था। बिना परिचय वाला भी तुम्हें अपना दोस्त और अतिथि समझता था।

दोस्ती से भी ज़्यादा हल्का मामला संन्यासी ने अपनाया। उसने सोचा कि दोस्त का मन भी कभी-कभी गड़बड़ हो सकता है, क्योंकि दोस्ती आखिर दोस्ती रही। इसलिये उसने कहा कि मैं तो सारे जगत् की औरतों को माता और सारे जगत् के आदमियों को अपना पिता बना लेता हूँ। यह भी एक स्वतंत्र होने का तरीका है। दोस्त धोखा दे सकता है, माँ धोखा नहीं दे सकती। सारा संसार धोखा दे देगा, पिता कभी बच्चे को धोखा नहीं देगा। इसको लेकर चलना और हल्का है, इसमें धोती, गम्छे की भी ज़रूरत नहीं है। दोस्त के घर भी जाओगे तो वहाँ टूथ ब्रश तो ले ही जाना पड़ेगा, तौलिया और धोती इत्यादि कपड़े तो चाहिये, बाकी सब दोस्त दे देगा। लेकिन पिता के पास जाने में इन चीज़ों की भी ज़रूरत नहीं है। वह अपने आप सब दे देगा। संन्यासी केवल कौपीन पहनकर भी चले तो कोई बात नहीं, अब संसार के जितने घर हैं, सब जगह उसका तौलिया और कपड़ा भी रखा है। लेकिन बेटा भी बनना पड़ता है। उसके लिये भी साधन चाहिये। लखपति का बेटा लखपति होता है और जिसके घर में दो दिन में एक दिन भोजन पकता है, उसका बेटा भी दो दिन में एक दिन ही खाता है। जिसके घर में दो दिन में एक दिन भोजन बनता है, उसके घर जाकर यदि अपने को लखपति का बेटा गिनाओ तो धोखा खाओगे और जहाँ दो दिन में एक दिन भोजन बनता है, उसके लड़के बनकर लखपति के घर जाओगे तो दरबान ही निकाल देगा! पुत्र बनने का मतलब है अपने को माता-पिता के अंगभूत समझना, तभी पुत्र बन सकोगे। लखपति के घर में जाकर बढ़िया डनलपपिल्लो पर भी सो सकोगे क्योंकि उसके पुत्र हो। कहीं पर फटी चटाई के अन्दर बीच में से मिट्टी झाँक रही होगी, उस पर भी सो सकोगे। स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिये भी साधन चाहिये। अब फ़र्क समझना बाकी जितने साधन हैं वे तुम्हारे आनंद को आवृत करने का काम करते जाते हैं। यह साधन तुम्हारे आनन्द को अनावृत करने का काम अधिकाधिक करता है। इसीलिये भगवान् सर्वज्ञात्म महामुनि लिखते हैं

'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि।।'

जिस-जिस चीज़ की आवश्यकता से तुम स्वतंत्र हो गये, बस वही तुम्हारी विमुक्ति हो गयी। आवश्यकता से स्वतन्त्र होने का प्रकार एक हुआ चीज़ों को रखना। यदि पाँच कम्बल रखेंगे तो सर्दी नहीं लगेगी। दूसरा प्रकार है, जहाँ आवश्यकता से स्वतंत्र हुए। गंगोत्री के अन्दर सर्दी में प्रारंभ में बिना कपड़े के रहने का अभ्यास कर लिया तो भी ठण्ड से स्वतंत्र हो गये, फिर बोझ लेने की ज़रूरत नहीं है। कम्बल वाली प्रक्रिया तुम्हें पूरी तरह से स्वतंत्रता नहीं देती। ढोकर लाने के बाद मन में दुःख होता है कि 'कुली के अट्ठाइस रुपये, और लगेज के साढ़े सत्रह रुपये लग गये, लेकिन काम तो एक ही कम्बल आया।' दुःख होता है कि पैसा फलतू बरबाद गया।

लेकिन जब किसी भी जगह तुमको कम्बल की आवश्यकता होनी ही नहीं है तो अब दुःख नहीं होगा। यह स्वतंत्रता पदार्थों के द्वारा नहीं आ सकती। इसीलिये हम लोगों ने इसका नाम 'स्वतंत्रता' रखा। स्व नाम आत्मा का है अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त और किसी पदार्थ की कोई सहायता हमें अपेक्षित ही नहीं है और वह हमें नित्य प्राप्त है। यह चिदानंद है।

जैसे सारी सृष्टि के अन्दर चित् दीख रहा है, इसलिये सृष्टि का कारण चित् है, वैसे सारी सृष्टि आनंद को ढूंढ रही है, इसलिये सृष्टि का कारण आनन्द है। इस आनंद की प्राप्ति का साधन चूंकि स्वतंत्रता है और वह स्व हमको बिना प्रयास के मिला हुआ है इसलिये स्वतंत्रता हमारा स्वभाव है। हमने जबरदस्ती इस स्वतंत्रता को परतंत्रता में बदल दिया है। बस इसीलिये हम दुःख भोग रहे हैं। वह 'पर' दूसरे आदमी हो सकते हैं। हम कब सुखी हों? जब दूसरे आदमी हमारी प्रंशसा करें। यह भीषण परतंत्रता है। कपड़ा पहनने के बाद भी हम कब सुखी हों? जब दूसरे समझें कि हमारा कपड़ा बड़ा अच्छा है। लोग कहते हैं कि 'फैशन के मुताबिक चलना पड़ता है, भले ही हमें अच्छा नहीं लगता।' तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो दूसरे अपनी आँखें बन्द करें यदि उन्हें अच्छा न लगे! लेकिन जब दूसरे तारीफ करें तब पता लगे कि हमारे कपड़े अच्छे हैं, यह परतंत्रता होगी तब दूसरों के अनुसार चलना पड़ेगा। फिर देह की परतंत्रता, मन की परतंत्रता, न जाने किस-किस की परतंत्रता ओढ़ते चले जाते हैं। केवल एक बार, और वह, सुषुप्ति में, परतंत्रता का निरावरण करते हो। गहरी नींद में कोई 'पर' नहीं रहता, इसलिये वहाँ तुम स्वतंत्र हो। गहरी नींद में इसीलिये उस आनंद की प्राप्ति होती है जो आनंद ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, प्रजापति और मनु से लेकर धसुआ गवार तक एक जैसा है। यह नहीं समझना कि सुषुप्ति ब्रह्मा, विष्णु आदि को ज़्यादा सुख देती होगी और तुम्हें कम देती है। बाकी सुखों में तो तारतम्य, कमी-बेशी है, सुषुप्ति-सुख में कोई कमी-बेशी नहीं।

इसीलिये तो आज हमारी सारा राज्य और समाजव्यवस्था इस सुषुप्ति को उड़ाने में लगी हुई है। जो-जो चीज़ें प्रगति की हैं, रेलें, हवाई जहाज, लारियाँ इत्यादि, वे रात भर चलती हैं, क्योंकि उन्नति जो हो रही है! रात भर रेडियो बजते हैं। हमारे एक सज्जन रेडियो विभाग में थे, हमने कहा 'रात में तो लोग सो जाते हैं, रात में दफ्तर क्यों जाते हो?' तो कहने लगे 'रात में भी लोग रेडियो सुनते हैं।' बाद में हमें अनुभव भी हो गया; कहीं रात में हल्ला हो रहा था, हमने पूछा यह हल्ला कैसा है? तो पता लगा कि रेडियो बज रहा है! आश्चर्य हुआ कि सुषुप्ति सुलभ आनंद की स्थिति है, फिर भी लोग नहीं लेते। फिर सरकार ने सोचा कि शायद लोग दरवाज़े बन्द कर दें और कानों में रूई डाल लें तो शायद उन्हें सुषुप्ति का सुख आ जाये, यह न आ जाये इसलिये उन्होंने बड़ा प्रयोग करके देखा कि जो मनुष्य ईर्ष्या-द्वेष में लगा रहता है उसकी नींद उड़ जाती है। अब सब आदमियों के हृदय में द्वेष और ईर्ष्या डाल दी तो चिन्ता के मारे तड़पते रहेंगे। इसलिये उन्नति के नाम पर ईर्ष्या-द्वेष का इंजेक्शन लगा दिया। हर आदमी तुमसे

किसी-न-किसी चीज़ से आगे है। आधुनिक व्यवस्था कहती है कि उन्नति करनी है तो ईर्ष्या करके प्रतियोगिता करो या द्वेष करके उसे बरबाद करने का विचार करो। या तो अपना व्यापार बढ़ाकर दूसरी इम्पाला मोटर खरीदो, यह उपदेश अमरीकी चेलों ने दिया। दूसरे रूस के चेलों ने उपदेश दिया कि उसके पास है, तुम्हारे पास नहीं है, तो रात में उसकी भी जला दो। लेकिन दोनों के चेलों में एक विषय में तो ऐकमत्य है, क्योंकि दोनों ईसाइयत से पैदा हुए हैं, और वह यह है, कि इन लोगों में ईर्ष्या या द्वेष पैदा करके आराम से मत सोने दो। इसमें कोई मतभेद नहीं है। यदि बाहर के कारणों से सोने की सम्भावना पैदा करो तो हृदय में भी यह मामला मौजूद रहे।

एक महात्मा के पास बीकानेर महाराजा सत्संग के लिये आया करते थे। पहले राज्य करने वाले यह मानते थे कि राज्य करने वाला व्यक्ति निष्पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो एक पक्ष हो गया और प्रजा दूसरा पक्ष हो गया। एक शासन करने वाला और दूसरा जिसके ऊपर शासन करे, ये दो पक्ष हुए। ये अपनी-अपनी बात सोच सकते हैं, निष्पक्ष नहीं सोच सकते। किन्तु संन्यासी न शासन करता है न शासित होता है अतः वह निष्पक्ष होता है, राजा और प्रजा दोनों के साथ एक जैसा होता है। इसलिये प्रजा भी उसी से सलाह लेती थी कि क्या किया जाये और राजा भी उसी से सलाह लेता था। उसका निष्पक्ष निर्णय दोनों को मान्य होता था, क्योंकि जानते थे कि वह निष्पक्ष है। आज के राजा का यही निर्णय है कि हम ही एकमात्र पक्ष हैं। विदेशी लोग कम-से-कम न्यायाधीशों को निष्पक्ष मानते थे। लेकिन आज का भारत का राजा कहता है कि 'न संन्यासी और न हाकिम ही निष्पक्ष है। हमारी बात का समर्थन करे तो ठीक, नहीं तो सब पिछड़े हुए हैं। युग की आवाज और माँग तो हम ही समझते हैं। इसलिये हमारा पक्ष निष्पक्ष और बाकी सब पक्षपाती हैं।'

बीकानेर के राजा सत्संग को जाते थे, क्योंकि वहाँ निष्पक्ष बात मिलती थी। महात्मा की पूछने की आदत थी 'राजन्! ठीक से सोये?' हमेशा स्वभाव से पूछते थे और राजा कहता था 'हाँ जी।' एक दिन राजा ने सोचा कि बाबा जी रोज़ एक ही बात पूछते हैं, बात क्या है? एक दिन जाते ही पहले खुद ही प्रश्न कर दिया 'स्वामी जी, ठीक से सोये?' महात्मा ने देखा कि राजा तो एक कदम हमसे आगे है! कहा 'राजन्! कुछ तेरे जैसे और कुछ तेरे से अच्छे सोये।' राजा चौंका कि न इनके पास कोई तकिया है, न कोई पंखा करने वाला, न सुगंधि की चीज़ें फैली हुई हैं, फिर भी कहते हैं कि तेरे जैसा और तेरे से अच्छा? कहा 'महात्मन्! समझाइये कि मेरे जैसा आपका सोना कैसे और मेरे से अच्छा कैसे?' महात्मा ने कहा कि जिस समय तुझको गहरी नींद आई उस समय तुझे पता नहीं था कि मखमल के गद्दे पर हूँ, चारों तरफ सुगंधि हो रही है; यदि इसका पता हो तो नींद कैसी! रातभर यही होश बना रहे कि 'बड़ा सुन्दर मखमल का गद्दा है' तो नींद कहाँ से आयेगी? उस गहरी नींद के काल में न तुझे मखमल के

गद्दे का भान था और न मुझे तख्त पर चटाई का भान था। उस समय तू  मैं दोनों एक जैसे थे। लेकिन नींद आने के पहले तेरे मन में न जाने क्या-क्या इच्छायें और वह भी परतंत्र इच्छायें थीं। पड़ा-पड़ा थोड़ी देर सोचता रहा कि रानी नहीं आई, क्या बात है? नौकर को बुलाया कि पता करो, रानी जी अभी तक नहीं आई। नौकर ने अंतःपुर में खबर दी, बांदी ने आकर बताया कि आज नहीं आयेंगी। बात क्या हुई? चार दिन की छुट्टी ले रखी है, इसलिये आपके कमरे में नहीं आयेंगी। 'प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये रजकी स्मृता।' (आजकल तो तीसों दिन उनका दर्शन होता रहे! पहले वह बात नहीं थी।) इसमें तेरे मन की परतंत्रता प्रकट हो गई। तेरा सुख अपने अधीन नहीं था। जब तू सोकर उठा तो उठने के साथ ही तेरे को फिर परतंत्रता हो गई कि 'बड़े मंत्रीजी अफगानिस्तान से खबर लाने गये हुए हैं, तीन दिन से ऊपर हो गये, अब क्या करूँ, किसको भेजूँ।' फिर तेरी परतंत्रता प्रकट हो गई। मैं जब लेटने गया तो मुझे याद आ रहा था कि जाग्रत्-स्वप्न के अन्दर मैंने जो अपने उन्नीस मुख खोले थे, उन मुखों से जिस-जिस को देखा था, उसको मैं अपनी आत्मा में लीन कर रहा हूँ। इसलिये उस समय में भी मुझे स्वतंत्रता का बोध  हो रहा था। आँख खोलकर रूप को प्रकट किया था, अब आँख बन्द करके रूप को लीन कर रहा हूँ।

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं सृष्टिचक्रप्रभवं निर्मलं शंकरं स्तुमः।।

मैं उस सृष्टि-चक्र को उत्पन्न करने वाले प्रभव आत्म-तत्त्व का विचार कर रहा था। उसी के उन्नीस मुखों का खुल जाना ही सृष्टि का होना है और उनका बन्द हो जाना ही प्रलय हो जाना है। उन्मेष हुआ तो सृष्टि प्रकट हो गयी और निमेष किया तो सबको लीन कर लिया। बस, इतनी ही देर लगती है। सारा सृष्टि-चक्र तब उत्पन्न होगा जब मैं अपने मुख खोलूँगा। मेरी स्वतंत्रता है। मैं आँख बंद कर लूँ तो ब्रह्मा भी रूप की सिद्धि नहीं कर सकता। कान बन्द करूँ तो विष्णु भी शब्द की सिद्धि नहीं कर सकता। 'मदधीना जगत्स्थितिः' सारे जगत् की स्थिति मेरे अधीन है, मैं स्वतंत्र हूँ। लीन करने में भी स्वतंत्रता है। बहुत से लोग वेदान्त-श्रवण करके भी परतन्त्र बने रहते हैं। कहते हैं कि प्रारब्धाधीन स्फुरण होता है। किंतु मेरे अधीन स्फुरण होगा, मैं चाहूँगा तो प्रारब्ध फलोन्मुख होगा, अन्यथा प्रारब्ध क्या करेगा! आँख नहीं देखेगी, मैं देखूँगा। आँख तो साधन है। अब मैं उसे लीन कर रहा हूँ। अब तक मैंने अपना मलिन रूप देखा, जाग्रत्-स्वप्न में मलिन रूप देखता हूँ, अब मैं अपना निर्मल रूप देखूँगा। जाग्रत्-स्वप्न के अन्दर इन्द्रिय और पदार्थों को मैंने प्रकट किया था, इसलिये वे मेरे ऊपर कुछ-न-कुछ मल-आवरण ला रहे थे। शरीर का स्वभाव है कि उसमें से जब कुछ निकलेगा तो मल ही निकलेगा, चाहे वह टट्टी-पेशाब, नाक का जल, कान के मैल का रूप लेकर निकले, निकलेगा

मल ही। इसी प्रकार जब मैं इस सृष्टि को सामने लाया तो यह सृष्टि मल थी, अब नहा लूँगा। वहाँ (सुषुप्ति में) मेरा मलरहित रूप है, उसमें नहाकर साफ हो जाऊँगा। शंकर कल्याणकर हैं, मैं स्वतंत्र हूँ, यह प्रत्यक्ष अनुभव है, इसमें कोई कल्पना की ज़रूरत नहीं है। चाहे जितने थके हो, चाहे दुःखी हो, जहाँ सो कर उठोगे, ताज़े हो जाओगे। सुषुप्ति हमेशा कल्याण ही करती है, कभी किसी का अकल्याण नहीं करती। ऐसा जो मेरा मलरहित कल्याणकारी स्वरूप है, उसमें मग्न होकर, स्वतंत्रतापूर्वक विचार करते हुए आनंद से मैंने अपने उन्नीसों मुख बन्द किये। इसलिये मैं तेरे से अच्छा था, क्योंकि तू उस समय रानी को याद कर रहा था। तेरे 'मुख' परतंत्र होकर बन्द हुए, मेरे मुख स्वतंत्र होकर, अपने आत्मस्वरूप का चिंतन करते हुए बन्द हुए। इसलिये उसके पूर्वभाव में मैं तेरे से अच्छा था। लेकिन बन्द होने के बाद हम दोनों में कोई फ़र्क नहीं था। फिर आँख खोलते ही तुम्हें पुनः परतंत्रता का विचार आया कि 'प्रधानमंत्री का पता लगाने के लिये अफगानिस्तान में किसको भेजूँ?' मैंने उठते ही कहा कि अब मैं अपने उन्नीसों मुख खोल रहा हूँ। अब मैं हंस की तरह गति करूँगा। अब तक आनंदघन था, अब चिदानंद-लहरियों को प्रकट करूँगा, उन्नीसों मुख खोलकर उन्हें बाहर निकालूँगा। अब मन के अन्दर वृत्तियों को उठा रहा हूँ, इनके द्वारा मैं अपनी आनंद-लहरियों को प्रकट करूँगा। इसलिये वह भी मेरे सुख का काल था, तेरा दुःख-काल था। इसलिये मैंने कहा कि कुछ तेरे से अच्छा और कुछ तेरे जैसा सोया।

इस चिदानंद में लहरियाँ स्वातंत्र्य हैं। स्वतंत्रता ही आनंदघन को आनंद-लहरियाँ बना देती हैं। यदि इसके अन्दर स्वतंत्रता न होती तो केवल आनंदघनरूपता ही रहती, केवल विदेहमुक्ति रहती, जीवन्मुक्ति नहीं रहती। चूंकि इसमें स्वातंत्र्य है, इसलिये यहाँ विदेहभाव और जीवनभाव दोनों में अपनी स्वतंत्रता को प्रकट करते हुए कहा 'भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानंदलहरीम्'; यह जीवन्मुक्ति का रूप बताने को कहा।

# प्रवचन-३

१६-३-७२

भगवती के रूप का प्रतिपादन करते हुए सर्वज्ञ भगवान् शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि वह चिदानन्दलहरी है। चिद्रूप आनंद का प्रवाह ही यहाँ भगवती कहा गया। उसमें चित् का रूप बता दिया और आनंद के दो रूप बताये   आनंदघन और आनंदलहरी। आनंद का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए बताया कि स्वातंत्र्य ही आनंद है, पारतंत्र्य ही आनंद का अभाव है। स्व अर्थात् आत्मा; और आत्मा से अतिरिक्त जो कुछ है, वह परतंत्रता लाने वाला होने से दुःख का उत्पादक ही है। अहं से लेकर मन, बुद्धि, इन्द्रिय, देह और देह-सम्बन्धी स्त्री, पुत्र आदि चेतन हों या धन-सम्पत्ति आदि जड हों, ये सब दुःख के ही हेतु हैं। जैसे-जैसे इनके बंधन की निवृत्ति होती है, वैसे-वैसे आनन्द होता है। भ्रम के कारण मनुष्य इन्हीं को आनंद का साधन समझ लेता है।

जैसे कोई व्यक्ति इसलिये कमज़ोर हो रहा है कि उसका यकृत (जिगर) विकृत हो गया है। वह जो कुछ खाता है, यकृत विकृत हो जाने के कारण उसका रसपाक नहीं होता, वह शरीर को पुष्ट नहीं कर पाता। लेकिन उसको इस विकार का पता नहीं है। कई बार ऐसा होता है। वह समझता है कि कमज़ोरी है, इसलिये कुछ घृत का सेवन और कर लूँ। है तो उसका यकृत विकृत लेकिन समझता वह यह है कि खाने की कमी के कारण शरीर में पुष्टि वाले पदार्थ नहीं पहुँचने से मैं कमज़ोर हूँ। इसलिये घी इत्यादि खाकर मैं पुष्ट हो जाऊँगा। उसका नतीजा यह होता है कि जितना-जितना वह घी इत्यादि खाता है, उतना-ही-उतना उसका जिगर और खराब होता है। वह सोचता रहता है कि यह घी अच्छा नहीं, इसलिये गाँव का घी मँगाओ, या घर में भैंस रखकर घी बनाओ। एक दिन किसी चिकित्सक के पास जाता है और वह उसकी परीक्षा करते कहता है कि 'आज से तुम्हारा सब खाना बन्द है। केवल थोड़ी-सी खिचड़ी खाने को मिलेगी, और कुछ नहीं खाना।' चिकित्सक के यहाँ से बाहर निकलकर कहता है कि यह चिकित्सक ज़रूर मेरी जान ख़त्म करने के लिये किसी के द्वारा घूस खा चुका है। पहले ही मैं कमज़ोर हूँ, ऊपर से खाना और बन्द करने को कह रहा है! मुझे जान से मार डालेगा। मैं इस वैद्य की बात बिलकुल नहीं मानूँगा   ऐसा निश्चय करता है।

घर वाले सब समझाते हैं कि 'ऐसा नहीं, यह तो बड़ा प्रसिद्ध चिकित्सक है, तेरे साथ किसी की दुश्मनी नहीं है, कोई क्यों इस चिकित्सक को तुम्हें मारने के लिये धन देगा? रोगी को ठीक करने से चिकित्सक की प्रसिद्धि होती है, यदि इस प्रकार से घूस खाकर तुम्हें मारेगा तो खुद ही पकड़ा जायेगा और यह बात चिकित्सक की नीति के भी खिलाफ है।' जब कई तरह से समझाते हैं कि कुछ दिन दवाई खाकर देखो तो सही, तब बड़ी कठिनाई से मानता है। मानने पर एक

हफ्ते में उसे कुछ फ़र्क नज़र आने लगता है। सोचता है कि चिकित्सक ने बात ठीक कही और धीरे-धीरे ठीक होने लगता है। कालान्तर में जब बिलकुल ठीक होने लगता है तो चिकित्सक कहता है कि परहेज रखना। यदि परहेज रखता है तो शीघ्र ही पूरा ठीक होकर फिर घी खाता है तो हजम होने लगता है और शरीर भी लाल होने लगता है, तब कुछ हर्जा नहीं होता। यदि किसी कारण से आधे से ज़्यादा ठीक होने पर कहीं ससुराल पहुँच गया तो ससुराल वाले फिर मूर्खता भरे प्रेम के कारण उस बेचारे की खिचड़ी में घी ठूँस देते हैं। घी से खिचड़ी स्वादिष्ट हो जाती है। एक बार कहीं दाल-भात खा रहे थे तो हमने पूछा कि 'बड़ा स्वादिष्ट है, आज कुछ नया है क्या? पहले वाले स्वाद से कुछ फ़र्क है।' बनाने वाले धीरे से कहने लगे 'दाल-भात नया नहीं है, आज इसमें घी डाल दिया है।' घृत सब चीज़ें को स्वादिष्ट कर देता है। वह बेचारा भी प्रेमवश खा गया। वैजीटेबल घी नहीं समझना! अपने यहाँ आश्रम में भी शुद्ध घृत का प्रयोग होता है। कहोगे कि हम तो घर में वैजीटेबल घी खाते हैं। लेकिन घर दुःख का आलय है और यह सुख का आलय है। इसलिये यहाँ पर सुख-प्राप्ति के लिए उत्सव आदि में शुद्ध घी खाने को मिलेगा। ससुराल में उसने शुद्ध घी वाली खिचड़ी खा ली और उसका यकृत फिर खराब हो गया। चिकित्सक बेचारा फिर परेशान कि उसे धीरे-धीरे फिर ठीक करना होगा।

जैसे यकृत के खराब होने पर वह समझता है कि घी इत्यादि से पुष्ट होऊँगा और वही घी इत्यादि उसके लिये जहर का काम करता है। जितना खाता है, उतना ही कमज़ोर होता है, मजबूत नहीं होता। ठीक इसी प्रकार से जब मनुष्य बार-बार दुःख का अनुभव करता है तो वह अहं, बुद्धि, चित्त, मन, इन्द्रियाँ, शरीर, शरीर के जड सम्बन्धी, धन-सम्पत्ति इत्यादि और चेतन सम्बन्धी पुत्र, स्त्री आदि के बारे में सोचता है कि इनको बढ़ायेंगे तो सुख होगा। मेरे को दो सौ रुपये महीना मिलता है, यदि पाँच सौ रुपये मिल जायें तो सुख होगा, मेरे एक पत्नी है, उससे दुःख हो रहा है, दो हो जायें तो सुख हो जायेगा। परसों एक सज्जन कहने लगे 'स्वामी जी! बड़ा अन्याय हो रहा है।' पूछा क्या हो रहा है? कहने लगे 'हम एक से ज़्यादा बीबियाँ रखें तो सरकार ने कानून बना रखा है। मुसलमान चाहे चार रखे, उन पर कोई नियम नहीं।' हमने कहा गजब हो गया। तेरे को यदि एक औरत से सुख है तो दूसरी क्यों चाहता है और यदि एक से सुख नहीं है तो दो से दुःख दुगना होगा या आधा होगा? इसी प्रकार कहते हैं कि 'एक ही बेटा है, स्वामी जी! वह काम नहीं करता। कम-से-कम एक बेटा और होता तो अच्छा था।' जब एक ही काम नहीं करता तो दूसरा कहाँ से करेगा? मनुष्य समझता है कि इन पदार्थों को बढ़ाने से सुख होगा। वह किसी भगवद्भक्त के पास पहुँचता है, उसे कहता है कि 'मैं बड़ा दुःखी हूँ, मेरे पुत्र नहीं है, मेरी पत्नी मर गई, मेरे व्यापार का दीवाला निकल गया, नौकरी छूट गई अथवा पति मर गया इत्यादि कारणों से दुःखी हूँ।' वह परमेश्वर-निष्ठा वाला उसे कहता है 'दुकान का दीवाला निकल गया तो अब मकान को बेचकर धर्मशाला बना दे।' तब वह घबराता

है, सोचता है कि मैं तो यहाँ इसलिये आया था कि मेरा दुःख दूर हो। जैसे यकृत विकृत होने पर बीमार समझता है कि मैं तो डाक्टर के पास दवाई लेने इसलिये आया था कि पाव भर घी हजम कर लूँ क्योंकि कमज़ोर हो रहा हूँ, लेकिन यह तो खाना छोड़ने की बात करता है! ऐसे ही वह परमेश्वरभक्त कहता है कि नौकरी छूट गई तो बड़ा अच्छा है, अब घर के गहने बेचकर तीर्थयात्रा कर ले। हम लोग इतना साफ नहीं कहते। वह सोचता है कि गजब हो गया, पहले ही हमारे पास से माल निकला हुआ है इस पर यह और निकालने को कहता है। उसे उसकी बात नहीं जँचती है। सोचता है कि इस परमेश्वरभक्त का ज़रूर कोई अपना स्वार्थ होगा, इसको धर्मशाला बनवानी होगी, इसलिये हम से ऐसा कह रहा है। लेकिन उसका साथी कहता है कि 'इनको क्या आवश्यकता है, यह क्यों तुम्हारे धन, स्त्री, पुत्र आदि की तरफ दृष्टि करेंगे? 'फिर मुझे यह सब छोड़ने को क्यों कह रहे हैं? ज़रूर कोई कारण होगा।' अंत में जब कई प्रकार से समझाने पर उसकी समझ में आता है कि जैसे चिकित्सक की नीति यह नहीं कहती कि रोगी को और रोगी बनाओ, बल्कि यह कि रोगी को ठीक करो, ऐसे ही परमेश्वरभक्त की नीति भी तुम्हें सुखी करने की होगी, दुःखी करने की नहीं। यदि चिकित्सक की दवाई से तुम दुःखी होगे तो फिर उसके पास इलाज के लिये कौन जायेगा? ऐसे ही यदि भक्त का कहा करने से तुम दुःखी होगे तो परमात्मा की तरफ कौन जायेगा? इसलिये वह तो तुम्हें सुखी करने के लिये कह रहा है।

कई प्रकार से युक्ति से जब यह बात उसे जँच जाती है, तब मनुष्य कुछ-कुछ पदार्थों का त्याग करने लगता है। जैसे-जैसे पदार्थों से दूर होता है, वैसे-वैसे उसको सुख का भान होने लगता है, आनन्द आने लगता है। तब उसको कुछ भरोसा होता है कि पदार्थों की निवृत्ति से सुख है, पदार्थों की प्राप्ति से सुख नहीं है। कुछ समय में वह थोड़ा-सा तगड़ा होने लगता है। जैसे चिकित्सक ने औषधि के साथ केवल खिचड़ी खिलाई थी, वैसे ही यहाँ श्रवण, मनन, निदिध्यासन के साथ-साथ पदार्थों का न्यूनतम सेवन बताया जाता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही दवाई है। गीता में भगवान् ने कहा कि शरीर- रक्षा मात्र का जो कर्म है, केवल उतना मात्र करे 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं' यदि किल्बिवष से बचना चाहते हो तो केवल शरीर को रखना क्योंकि श्रवण, मनन, निदिध्यासन में बैठने के लिये जगह चाहिये और शरीर ही वह जगह है। केवल शरीर-निर्वाहमात्र के कार्य में लगे रहना खिचड़ी खाने की जगह है। बिलकुल न खाने से भी यकृत-रोग ठीक नहीं होगा, उसके अतिरिक्त दूसरी चीज़ें खाना छोड़ना भी पड़ेगा। इस बात को न समझकर बहुत से लोग कहते हैं कि कुछ नहीं खायेंगे या कहते हैं कि खायेंगे तो घी का हलुआ ही खायेंगे! लेकिन 'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं' ऐसे कर्म से दोष का भागी नहीं होगा। इसलिये केवल खिचड़ी ही खाओ। श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूपी औषधि का सेवन करने पर थोड़े समय पर अनुभव करने लगता है कि ताकत आ रही है। अब उसको जितना आनंद संसार

के पदार्थों में नहीं आता, उससे ज़्यादा पदार्थों से दूर रहकर आता है, यह उसे अनुभव होने लगता है। उसको यदि कोई कहता है कि 'आज कहीं पर विवाह का भोज है, वहाँ भोज की बड़ी सामग्री है, दस हज़ार रुपये की तो बिजली ही लगाई गई है, और न जाने क्या, चलचित्र में काम करने वाली गणिकायें, कई भोजनालयों में काम करने वाली नर्तकियाँ आने वाली हैं, उनका नृत्य होगा, खूब महफिल जमेगी।' वह कहता है 'छोटे भाई को ले जाओ, मैं क्या करूँगा!' 'नहीं आप ज़रूर चलिये, आपसे शोभा होगी।' वह कहता है 'क्या बताऊँ, आजकल हमारे संन्यास आश्रम में उत्सव हो रहा है, इसलिये महात्माओं का सत्संग सुनना है।' वह कहता है 'सत्संग में क्या रखा है।' वह कहता है 'यह तो मैं जानता हूँ कि वहाँ क्या रखा है।' क्या कारण है कि जिसको संसारी लोग अत्यंत सुख की चीज़ बता रहे हैं, वह उसको छोड़ रहा है? उसमें सुख है तभी तो उसके सामने संसारी विषयों को छोड़ रहा है। बिना सुख के कोई भी व्यक्ति कुछ छोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता। इससे उसे धीरे-धीरे पता लगता है कि शरीर में ताकत बढ़ रही है।

लेकिन मनुष्य के तरह-तरह के संस्कारों का उदय होता है। जैसे वहाँ कुछ ठीक होने पर ससुराल पहुँच गया था, ऐसे ही यहाँ कभी किसी ऐसे के चक्र में आ जाता है जो कहता है कि ज़रा संसारी पदार्थों को डटकर खा कर तो देखो; तब उसको भी भ्रम हो जाता है। सोचता है कि पेट ठीक हो गया है, थोड़ा खा लूँगा तो क्या हर्ज़ा है? ऐसे ही यह सोचता है कि 'अब मुझे तो पता है कि संसार के पदार्थ असत् हैं, जड और दुःखरूप हैं; विवेक है ही। मैं इन सबका साक्षी हूँ, इन सबसे भिन्न हूँ, ये मेरा क्या बिगाड़ सकेंगे? इसलिये बाइस्कोप या टेलीविज़न देख ही लूँ, क्या हर्जा है?' लेकिन अभी इतना हज़्म होने की ताकत नहीं है! जहाँ उसके अन्दर गया, फिर संस्कार गड़बड़ाये और पुनः विकार को प्राप्त होता है। अब डाक्टर (गुरु) कहता है 'मेरी तो छह साल की मेहनत व्यर्थ गई! फिर बदपरहेजी कर आया। अब इसको दुगना श्रवण, मनन, निदिध्यासन कराया जाये, विषयों से चौगुना दूर रखा जाये, तब यह ठीक हो सकेगा, अन्यथा नहीं।' ये गलतियाँ प्रायः मनुष्य के जीवन में हो जाती हैं। विचारशील जानता है कि यदि एक बार बहिर्मुखता को हमने किया तो जब तक चार गुना उसका परित्याग नहीं करेंगे, तब तक दृढता नहीं आयेगी।

पहले टाइफाइड (मोतीझरे) का रोग ११ या २१ दिन रहा करता था, उसका कोई उपाय नहीं था। फिर क्लोरोमाइसिटीन दवाई निकल आई जिसको देने से बुखार तीसरे दिन उतर जाता है। इसलिये रोगी को भ्रम हो जाता है कि ठीक हो गया। इस भ्रम के कारण बदपरहेजी कर लेता है और उसके बाद उसी रोग का पुनरावर्तन (relapse) हो जाता है। कहते हैं कि यह पहली बार रोग होने से भी बुरा है। वह आदमी को बड़े दीर्घ काल के लिये कमज़ोर कर देता है। आप लोगों ने अनुभव किया होगा, कि जुकाम गरम दवाई से दबा लिया तो अन्दर ज़्यादा दुःख देता है। यदि तीन-चार दिन उसे भुगत लो, तो ठीक हो जाता है। गरम चीज़ देने से दब जाने के

कारण और नुक्सान करता है। इसी प्रकार से पदार्थ से दूर रहकर जब श्रवण, मनन, निदिध्यासन की औषधि दी गई तो रोग दूर होने लगा। अब यदि तुमने बदपरहेजी कर ली और पदार्थों की तरफ चले गये, उनके अन्दर सुखानुबोध होने लग गया, तो नतीजा होगा कि अब वह दवाई उतना काम नहीं करती। डाक्टरी विज्ञान में एक शब्द आता है; बताते हैं कि यदि रोग-निवृत्ति से पूर्व औषधि बन्द कर देते हैं तो शरीर में एक ऐसी शक्ति हो जाती कि फिर वह औषधि उस रोग पर भी काम नहीं करती, उसका नाम उन्होंने (immune) 'इम्यून' रखा है। यदि तुमने सावधानी बरतकर दवाई पूरी ले ली और रोग जड़ से चला गया तो ठीक है। लेकिन यदि तुमने दवाई थोड़े दिन ली और रोग जड़ से नहीं गया तो शरीर फिर ऐसी चीज़ें पैदा कर लेता है कि आगे वह दवाई फिर काम नहीं करती।

इसी प्रकार यदि वेदांत का श्रवण, मनन, निदिध्यासन तब तक किया जब तक अज्ञान रूपी रोग जड़ से उखड़ गया, तब तो काम ठीक हो जायेगा पर यदि तुमने थोड़ा श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके बीच में फिर बदपरहेजी कर ली, जड़ से रोग नहीं निकला, पुनरावर्तन हो गया, तो अब वह श्रवण, मनन की दवाई भी काम नहीं करती! पहली बार जब मनुष्य संसार की असत्यता का विचार सुनता है तो पहले साल-छह महीने या दो साल उसकी वृत्ति बिलकुल अलग रहती है, क्योंकि दवाई काम कर रही है। लेकिन जब बीस साल तक सत्संग हो जाता है, फिर वह बिलकुल शुद्ध वार्निश किया हुआ-सा रहता है। जैसे आजकल एक नई लकड़ी 'सनमाइका' निकला है; उसपर कोई दाग पड़ जाये तो झट साफ हो जाता है; ठीक इसी प्रकार बार-बार श्रवण, मनन, निदिध्यासन गुरु ने कराया और बार-बार बदपरहेजी करते रहे तो अब अंतःकरण 'सनमाइका' की तरह बिलकुल शुद्ध रहेगा, अब उसपर कोई दाग नहीं होने वाला है, मन में 'इम्युनिटी' हो जाती है। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि रोगी को उस जगह से दूर करोगे, अस्पताल में भर्ती करोगे, तभी काम बनेगा। रोग होने पर अस्पताल में भरती होने के लिये इसलिये कहते हैं कि वहाँ न बदपरहेजी कर सकोगे, क्योंकि मौका नहीं है, और न समय से पहले तुम्हें वहाँ से छुट्टी ही देंगे। घर में रहने पर जहाँ तुम्हारी तबियत ज़रा ठीक हुई तो तुम ससुराल घूम आये। अस्पताल में कहो कि 'अब ठीक हो गया हूँ, ज़रा ससुराल हो आऊँ?' तो अस्पताल वाले नहीं जाने देंगे। इसी प्रकार कई शास्त्रविचारकों का कहना है कि जब तक साधक को पदार्थों के घेरे में रखोगे, तब तक बदपरहेजी किये बिना नहीं रहेगा, बीच में दवाई छोड़े बिना नहीं रहेगा। इससे तेज़ और कोई दवाई नहीं है। जब सबसे तेज़ दवा दे दी और उसके प्रति 'इम्यून' हो गया तो अब काम अटक जायेगा। इसी प्रकार से पूर्णता का ज्ञान 'सच्चिदानंदरूपोऽहं' अज्ञान को समूल ध्वंस करने के लिये सबसे तगड़ी औषधि है। जब इस दवाई के प्रति 'इम्यून' हो गया अर्थात् इस दवाई के प्रति भी तुम्हारा अंतःकरण ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर पाता तो फिर इससे तेज़ और कोई दवाई नहीं है। यह बड़ा कठिन मामला है।

इसलिये शास्त्रज्ञ कहते हैं कि यह दवाई तभी दो जब रोगी को अस्पताल में भर्ती कर लो, उसे अपनी आँख से ओझल न होने दो, नहीं तो गड़बड़ कर जायेगा। 'अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानिरयजालेषु स तेन विनिपातितः।।' अज्ञानी और अर्द्धप्रबुद्ध को यदि 'सर्व ब्रह्म है,' इस आत्म-तत्त्व का उपदेश दिया जाता है तो वह उसके लिये इतने दुःख का कारण बन जाता है। अतिदीर्घ काल तक उसे उन पदार्थों से दूर किया जाये, तब काम बने। यदि सनमाइका पर रंग चढ़ाना हो तो एक रेगमाल नामक कागज आता है जिसके अन्दर बालू-काँच जैसी चीज़ चिपकी होती है, उसपर पहले उससे अच्छी तरह से रगड़ मारनी पड़ती है तब उसका चिकनापना निकलता है और उसपर रंग चढ़ सकता है। इसी प्रकार से उसे जब कई प्रकार के दुःखों का अनुभव होकर उनकी रगड़ लगती है तो फिर होश आता है कि 'सारे दुःखों की निवृत्ति के लिये ही मैं इधर चला था और ये दुःख तो पहले से ज़्यादा हो गये!' जब ऐसे दुःख की रगड़ बार-बार लगती है, तब फिर उसके अन्दर यह भाव आता है कि 'देह के धर्मों से मेरा कुछ नहीं बिगड़ता'। तब तक जहाँ मच्छर काट रहा है, वहाँ से आवाज़ आती है कि 'दुःखी तो हो रहा हूँ।' मच्छर को तो सम्हाल जाता है लेकिन जब एक के बाद एक घोर दुःखों की परम्परा आती है तब सोचता है कि 'हूँ तो मैं इनसे अलग, यह जान रहा हूँ, लेकिन यह जानना मेरे काम नहीं आ रहा है। सुख-दुःख, मोह, शोक आदि तो मेरे वैसे के वैसे हैं।' जब दुःखों की रगड़ से पुनः उसके अन्दर यह खुरदरापना आया तो फिर यह रंग चढ़ता है कि 'मैं किस प्रकार से इन सबसे भिन्न हूँ।' यह स्थिति का रूप बनता है।

इस आनन्द की प्राप्ति के लिये बाह्य पदार्थों के त्याग का ही नाम चिदानंदलहरी है। समुद्र की लहर किसी दूसरी चीज़ को विषय नहीं करती। समुद्र की लहर समुद्र से ही उत्पन्न है और समुद्र में ही गिरती है। नदी की लहर को तो कह सकते हैं कि समुद्र को जाती है। अथवा तालाब की लहर किनारे को जाती है; लेकिन समुद्र की लहर तो कहीं नहीं जा रही है। अतः समुद्र की लहर समुद्र को ही विषय करती है। समुद्र ही उसका आश्रय है, समुद्र से ही वह उत्पन्न, समुद्र को ही वह परिवर्तित करती है और पुनः समुद्र में ही लीन होती है। 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।' भगवान् सर्वज्ञात्म महामुनि कहते हैं कि वह निर्विभाग चिति ही अविद्या का एकमात्र आश्रय भी है और विषय भी है। समुद्र को ही जैसे विषय करती है, वैसे ही आनन्दलहरी भी आनंद रूपी समुद्र से उत्पन्न होकर आनन्द रूपी आत्मा को ही विषय करती है। जब तक यह आत्म-अतिरिक्त पदार्थों को विषय करती है, तब तक यह दुःख का कारण बनती है और जब यह आत्मा को ही विषय करती है तब जितनी इच्छायें हैं, उन सारी की सारी इच्छाओं का विषय आत्मा बन जाता है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' जब इस आत्मा के ऊपर ही तुम्हारी सारी इच्छायें केन्द्रित हो गईं, आत्मासे अतिरिक्त किसी पदार्थ को तुम्हारी इच्छा विषय नहीं करती, तब बस, काम हो गया। इच्छा करने वाला आत्मा ही इच्छा का विषय

है। ये जो सारे जगत् के पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, ये सारे के सारे आत्मरूप ही हैं। आत्मा से भिन्न नहीं हैं।

वस्तुतः जैसे समुद्र के अन्दर सारे परिवर्तन दीखने पर भी, लहर, बुलबुले इत्यादि होने पर भी वहाँ समुद्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वैसे ही जगत् के यावत् पदार्थ सर्व रूपों से प्रतीत होने पर भी वस्तुतः ब्रह्म के अतिरिक्त उनकी सत्ता नहीं है। इसीलिये समुद्र अविनाशी होते हुए भी विनाशिवत् व्यवहार करता है। 'व्यावृत्तिभिः विलुठताम् अपि सुस्थिराणाम् आकर्ण्यते कलकलो जनमण्डलानाम्' जितने पदार्थ हैं, उनको ध्यान से देखो तो सुस्थिर हैं। केवल स्थिर नहीं, बल्कि जब उनकी वास्तविकता को देखते हैं तो शिवस्वरूप होने के कारण सुस्थिर हैं, उनमें कहीं परिवर्तन नहीं है। सांख्यवादी के लिये तो समस्या यह है कि मैं अचल हूँ और प्रकृति चल है इसलिये वह कहता है कि प्रकृति से हट जाओ तो तुम अचल हो। वेदांती कहता है कि हमारे यहाँ तो ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये जितने पदार्थ हैं वे सब स्वरूप से ब्रह्म होने के कारण अत्यंत सुस्थिर हैं। इतना ही नहीं, 'विलुठतां सुस्थिराणां' अर्थात् लुढ़कते हुए स्थिर हैं। क्या लुढ़कती हुई स्थिरता की कल्पना कर सकते हो? इसके दो दृष्टांत देंगे जिनमें से एक तुम्हारे मन को ज़्यादा भा जायेगा। दस तोले के सोने का एक गेंद ऊपर से लुढ़क गया। जितना-जितना वह नीचे जाता है, क्या उसके प्रति तुम्हारी इच्छा उतनी-उतनी कम होती है? जानते हो कि यद्यपि यह नीचे जा रहा है लेकिन इसकी कीमत सुस्थिर है। ऊपर यदि वह दो सौ बीस रुपये तोले था तो नीचे तक वह दो सौ बीस रुपये तोले है। यदि उसकी जगह, बढ़िया कटग्लास का एक फानूस तुम्हारे पास है, वह यदि लुढ़क गया तो उसके प्रति इच्छा कम होगी या ज़्यादा होगी? कम ही नहीं, इच्छा ख़त्म हो जायेगी, क्योंकि वह तो काँच है, जब तक लगा हुआ था तब तक सवा दो हज़ार रुपये का और गिरकर टूटा तो कौड़ी का नहीं रहा। सोना लुढ़कता हुआ भी सुस्थिर है और काँच की चीज़ ढाई हज़ार की है लेकिन लुढ़कने के साथ ही कीमत कम हो जाती है। जैसे-जैसे चूर होती जायेगी, कीमत समाप्त होती जायेगी। इसी प्रकार से अपने जीवन को देखो तो यह भी एक लुढ़कती हुई स्थिरता है; आज मेरा बासठवाँ जन्म दिन है। इसका मतलब है कि बासठ साल से मैं सुस्थिर हूँ, बाल सफेद हो गये, दाँत गिर गये, मैं बुड्ढा हो गया, लेकिन 'मैं' बैठा हुआ अपने बुढ़ापे में प्रमाण दे रहा हूँ, अपनी सुस्थिरता में लुढ़कने वाली चीज़ों का प्रमाण दे रहा हूँ। यदि मैं बुड्ढ़ा न होता तो दाँत न गिरते, बाल सफेद न होते, झुर्रियाँ न पड़ी होती। ये सब मैं अपनी सुस्थिरता में लुढ़कने वाली चीज़ो का प्रमाण दे रहा हूँ। इसलिये कहा 'व्यावृत्तिभिः विलुठताम् अपि सुस्थिराणाम्।' इसी प्रकार से वह परब्रह्म परमात्म-तत्त्व भी वैसा-का-वैसा ब्रह्मरूप से है, उसमें किंचिद् मात्र भी परिवर्तन आये बिना वह अनंत पदार्थों के रूप में प्रतीत होता चला जाता है।

'आकर्ण्यते कलकलो जनमण्डलानाम्' जितने जन अर्थात् उत्पन्न होने वाले जड और चेतन

पदार्थ हैं, वे अकेले पैदा नहीं होते बल्कि मण्डलों में पैदा होते हैं। कभी विचार किया कि क्या हम लोग अकेले पैदा होते हैं? हमारे पैदा होने के साथ हमारे बाप में बापपना आ गया, अब हमारी माँ बाँझ नहीं रही, न आते तो बाँझ रहती, हमारी बहन हमारे आते ही भाई वाली हो गई। जितना-जितना विचार करो, उतना-उतना देखोगे कि संसार में कोई चीज़ एक पैदा नहीं होती बल्कि इकट्ठा पैदा होता है। सारी गड़बड़ी ही इसलिये है कि हम मण्डल की चिन्ता न करके समझते हैं कि उसका हर घटक अलग-अलग है। शरीर की पुष्टि करते समय हम भूल जाते हैं कि शरीर और मन दोनों हमारे घटक हैं। शरीर कितना भी पुष्ट हो, मन चिन्ता वाला हो तो सुख नहीं। मन कितना ही पुष्ट हो, शरीर नीरोगी न हो तो सुख नहीं। आँख, कान, नाक इत्यादि सब इन्द्रियाँ मण्डल हैं। सारी इन्द्रियाँ खत्म होकर केवल आँख रहे तो कुछ नहीं कर सकते। इसलिये जितनी चीज़ें पैदा होती हैं, वे मण्डलरूप से पैदा होती हैं और चूंकि मण्डलरूप से उत्पन्न होती हैं इसलिये शोर मचाती हैं! बर्तन या औरतों के हाथ की चूड़ी अकेली हो तो चुपचाप रहेगी। यदि बीस चूड़ियाँ पहने हुए हो तो झन-झन करती रहेंगी। एक टोपिये में, पतीले में दूसरा रखा हो तो ठन-ठन करता रहेगा, अकेला आवाज़ नहीं करेगा। सारी सृष्टि के अन्दर यह सारा शोरगुल (कलकल) होते हुए भी वह ब्रह्मरूप वैसा का वैसा सुस्थिर है, उसके अन्दर कोई फ़र्क नहीं आता। इसलिये आगे चलकर कहते हैं, 'यस्मात् सा सकला देवी संवित् शक्तिर्जगन्मयी। अनंता परमाकाशकोषशुद्धशरीरिणी।।' यह इस चिदानंदलहरी भगवती का रूप है। वह देवी सकला है, तरह-तरह के मण्डलों से युक्त है। इस मण्डल भाग (कलाभाव) से युक्त हुई वह संवित् शक्ति भगवती जगन्मयी है, सारे जगत् के रूपों को धारण किये हुए है। 'गच्छति इति जगत्' जो चलता रहे अर्थात् जिसमें परिवर्तन होता रहे वह जगत् है, किंतु यदि वस्तुतः विचार करके देखते हैं तो वह अनंत है, देश, काल, वस्तु परिच्छेद से शून्य है, परमाकाश है। एक आकाश हमको दीखता है, वह भूताकाश है क्योंकि इसमें से भूत पैदा होते हैं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल पृथ्वी और फिर चतुर्दश भुवन पैदा होते हैं। आँख बन्द करके जो सारी दुनिया दिखाई देती है, वह चित्ताकाश में दिखाई देती है। जितनी भी चित्त के संस्कार वाली चीज़ें हैं, वे उसमें से पैदा होती हैं, इसलिये चित्ताकाश है। चित्ताकाश से भूत पैदा नहीं होते। तुम आज से दस बरस तक चाहे गाय का स्वप्न देखते रहो लेकिन घर की देहलीज में एक बछड़ा भी नहीं आने वाला है, क्योंकि चित्ताकाश से भूत पैदा नहीं होंगे, उससे तो वासनायें पैदा होंगी। इससे भी अतीत परमाकाश है जहाँ केवल चित् ही है, तदतिरिक्त कुछ नहीं है। यह परमाकाश ही उसका कोष अर्थात् शरीर है। बस यही उसका शुद्ध स्वरूप है। जिस समय जगन्मयी संवित् शक्ति है, वह उसका लहरी वाला रूप है लेकिन वहाँ भी चिदानंद की लहरी ऐसा अर्थ नहीं, वस्तुतः आनंद ही वहाँ लहरी है। जैसे चित् का आनंद नहीं, वैसे ही चिदानंद की लहरी नहीं, बल्कि वह लहरी भी आनंदस्वरूप ही है। जब तक इसको नहीं समझते, तब तक कहीं-न-कहीं कुछ सांख्य का ज़ोर

रहता है। क्रम से आदमी आगे बढ़ता है। लेकिन जैसे जब वस्तुतः यकृत पुष्ट हो गया तब पाव भर घी भी हज़म हो जाता है, पुष्ट ही करता है अतः तुम्हें ससुराल जाने का डर नहीं है। इसी प्रकार जब तुम्हारा ज्ञान सुस्थिर हो गया तब देखते हो कि आनंद ही लहरी है! उस लहरी को देखने के कारण बाकी सभी तुम्हारे ब्रह्मभाव को पुष्ट करते रहते हैं। अब वे तुम्हें कभी बंधन में डालने वाले नहीं हैं। अब तुम उसे हजम कर सकते हो, उसके लहरी स्वरूप को देख रहे हो। यकृत ठीक हुए बिना घी खाओगे तो परेशान होंगे। ठीक होने पर चिकित्सक कहता है कि 'तुमको छुट्टी देते हैं। जाओ, जो मर्ज़ी सो खाओ।' बहुत से रोगी फिर भी पूछते हैं 'अब क्या परहेज रखें?' लेकिन डाक्टर कहता है 'अब किसी परहेज की ज़रूरत नहीं है।' यह स्वतन्त्र भाव प्राप्त करना ही धन्य होना है। इस भाव को पुष्ट करके जो इस पूर्णता को प्राप्त करे, वही धन्य है। इसी धन्यता को प्राप्त करना है।

## प्रवचन-४

२०-३-७२

सर्वज्ञ भगवत्पाद शंकर भगवती के स्वरूप का वर्णन करते हैं कि वह चिद्रूप ही आनंद है और आनंदरूप ही लहरी है। उसके चिद्रूप को जानना दुर्लभ है। अनेक जन्मों के पुण्यों के उदय होने पर भगवती के चिद्रूप को मनुष्य जान पाता है। चिद्रूप को जानने पर भी आनंदरूप को जानना उससे भी अतिदुर्लभ है। यथाकथंचित् उसके चिद्रूप को जान भी लिया, तो उसके आनंदरूप का ज्ञान और भी कठिन है। चिदानंदरूप को जानने पर भी उस आनंद के प्रवाह को मनुष्य नहीं समझ पाता, आनंद की लहरी समझ में नहीं आती। इसीलिये निरंतर मनुष्य सोचता है कि इस जगत् के अतिरिक्त कुछ परमात्म-भाव है। यह जगत् उस आनंद का ही प्रवाह है यह नहीं समझ पाता। महर्षि वशिष्ठ इसीलिये कहते हैं (यो. वा. ३.६७.१८) कि यह लहरी कैसे पैदा होती है? 'शिवात् प्राक्कारणात् पूर्वं चिच्चेत्यकलनोन्मुखः।' प्राक् सर्वप्रथम जो कारण है, वह शिव है। सर्वप्रथम कारण का मतलब होता है जिसका और कोई कारण नहीं, जो कारणों की परमावधि है, कारण की परम्परा जहाँ समाप्त होती है, जिसको पाश्चात्य दार्शनिक 'अनमूव्ड मूवर (Unmoved Mover)' अस्पन्दित स्पन्दक कहते हैं कि वह स्वयं किसी के द्वारा स्पंदित नहीं होता लेकिन दूसरों का स्पंदन करने वाला है। मोटी भाषा में यों समझो कि तुम मोटर चला रहे हो, चलती हुई तो मोटर दीखती है लेकिन मोटर चल नहीं रही है, मोटर तुम्हारे हाथ और पैर के द्वारा चलाई जा रही है। इसलिये मोटर के चलने का कारण तुम्हारा हाथ-पैर चलना है। मोटर मूव्ड (moved) हुई और तुम मूवर (mover) हुए। मोटर का चलना कार्य हुआ और तुम कारण हुए। तुम्हारे हाथ-पैर क्यों चल रहे हैं? तुम्हारे मन की आज्ञा के अधीन ही चल रहे हैं, मन चल रहा है तो हाथ-पैर चल रहे हैं। थोड़े दिन पहले सड़क पर बड़ी जबरदस्त दुर्घटना हो गयी। पता चला कि चलाने वाला आदमी रक्तचाप का रोगी था, इसलिये अकस्मात् उसके दिमाग के अंदर अंधेरा छा गया। अकस्मात् रक्तचाप बढ़ जाये तो मनुष्य का दिमाग एक दम बन्द हो जाता है जैसे ही उसका मन स्तब्ध हुआ, वैसे ही वह गाड़ी का नियंत्रण खो बैठा और गाड़ी दूसरे ट्रक से जाकर भिड़ गई। मोटर चल रही है, मोटर का चलना कार्य है, तुम्हारे हाथ-पैर का चलना कारण है। हाथ-पैर का चलना आदि कारण नहीं है, क्योंकि हाथ-पैर भी तब चलें जब पहले मन चले। इसलिये हाथ-पैर का चलना कारण तो है लेकिन सर्वप्रथम कारण नहीं है। उस कार्य के प्रति कारण मन का चलना हो गया। आगे मन क्यों चल रहा है? तुमने कहीं जाने की इच्छा की, इसलिये मन तदनुकूल प्रवृत्ति कर रहा है। वहाँ जाने की इच्छा क्यों की? इसका कोई कारण नहीं है क्योंकि इच्छा आत्मा का स्वरूप है। जब तुमने स्वतंत्र होकर इच्छा की तब वह आगे मन को चलाने वाली हुई, मन ने इन्द्रियों को

चलाया। इन्द्रियों ने शरीर को और शरीर ने मोटर को चलाया। जो तुम इच्छा करने वाले हो, वह स्वतंत्र हो, उसका आगे और कारण नहीं है इसलिये वह तुम आदि कारण हो। जिस कारण का फिर आगे कोई कारण न हो, वह आदि कारण है। इस सारे जगत् का आदि कारण केवल वह कल्याणस्वरूप, मंगलमय, अत्यंत शक्तिमान् शिव ही है। इसलिये महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि उससे चित् (जानने वाला) और चेत्य (जिसको जानता है) इस प्रकार की कल्पना उन्मुख हो गई, ये दोनों कल्पित हो गये।

कभी तालाब के किनारे जा कर देखो तो लहर अकस्मात् नहीं उठती। पहले थोड़ी लहर, फिर उससे ऊँचा और फिर उससे भी ऊँचा उठेगी। कभी प्रशांत महासागर (Pacific Ocean) में पहुँच जाओ तो चार-चार फर्लांग तक लहर उठती है! आधे लाख टन के पानी के जहाज भी वहाँ काँपते और हिलते हैं जैसे कागज़ की पुड़िया हिलती है; ऐसी जबरदस्त लहरें वहाँ उठती हैं। लेकिन ऐसा नहीं कि अकस्मात् उठती हों, धीरे-धीरे उठती हैं। 'उदेति सौम्यात् जलधेः पयःस्पन्दो मनागिव' इसी प्रकार यहाँ उदय होता है। लहर उठने से पहले समुद्र अत्यंत सौम्य है। बड़े सुन्दर और भारी जहाज क्वीन एलिज़ाबेथ में जा रहे हो। ऐसा लगता है कि समुद्र में क्या चल रहे हो, हवाई जहाज में चल रहे हो, कहीं थोड़ा भी हिलता नहीं है। बैठकर पत्र लिख रहे हो। चारों तरफ बिलकुल शान्ति है, कहीं खड़-खड़ की आवाज़ भी नहीं है। लिखते-ही-लिखते अकस्मात् देखते हो कि कलम ऊपर-नीचे हो गई और वह भी बहुत थोड़ी-सी, इतनी कि ई की मात्रा लगा रहे थे, वह मात्रा क अक्षर से नीचे आ गई और ऊपर वाले उ को काट दिया। बस इतना ही हुआ, पता ही नहीं लगा कि क्या हुआ। लेकिन समुद्र का अभ्यस्त यात्री जान गया 'उदेति सौम्यात् जलधेः।' वह उसी समय कलम को बन्द करके रख देता है कि अब आगे पत्र नहीं लिखा जायेगा। बन्द करते-करते ही यह स्थिति हो गई कि तुम निब पर खोली चढ़ा रहे हो तो वह एक बार में नहीं चढ़ती, दोनों हाथ हिलते हैं और थोड़ी देर में ऊपर-नीचे वाला मामला होता है। घण्टे दो घण्टे बाद फिर पहले जैसा शांत समुद्र है। लेकिन जब ऊपर-नीचे हुआ तब किसी ने उल्टियाँ की, किसी ने कुछ किया, सब कुछ हुआ और फिर दो घण्टे बाद कुछ नहीं। आराम से चाय पी रहे हो, चाय छलकती तक नहीं क्योंकि समुद्र शांत हो गया। इसी प्रकार महर्षि वशिष्ठ कहते हैं 'पयःस्पन्दो मनागिव' उस सौम्य समुद्र के अन्दर बिलकुल हल्के से झटके से जैसे शुरू होता है, वैसे ही यहाँ 'चिच्चेत्यकलनोन्मुखः' द्रष्टा-दृश्य भाव, ज्ञाता-ज्ञेय भाव ऐसे ही बड़े हल्के से उत्पन्न होते हैं।

'स्फुरणाद् जीवचक्रत्वम् एति चित्तोर्मितां दघत्।' पहला स्पन्द हुआ, जैसे ही इसकी लहर ऊपर-नीचे गई तो बीच में भंवर (आवर्त) पड़ गया। जैसे ही चित् और चेत्य थोड़े से स्पन्दित हुए, उनके बीच में जो भंवर पड़ा उसका नाम ही जीव है। भंवर बीच में होता है और आमने-सामने को मिलाने वाला होता है। इसी प्रकार जीव का काम ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को

मिला देना है। यही जीव करता रहता है। सामने घड़ा पड़ा हुआ है, उधर साक्षी पड़ा हुआ है। जीव ने घट को घटज्ञान में परिवर्तित करके साक्षी-ज्ञान बना दिया। जीव बेचारा और कुछ नहीं करता। दूर पड़ी हुई दीवाल ज्ञात हो गई; दीवाल का ज्ञान के साथ सम्बन्ध हो गया तो ज्ञात दीवाल कहते हो। 'जाना आदमी', अर्थात् ज्ञान-सम्बन्धी आदमी। जाना हुआ अर्थात् जिसका जानने के साथ सम्बन्ध हो गया; जैसे गया हुआ आदमी अर्थात् जिसका गति के साथ सम्बन्ध हो गया, पढ़ा हुआ आदमी अर्थात् जिसका पढ़ने के साथ सम्बन्ध हो गया। देखी हुई दीवाल अर्थात् जिस दीवाल का देखने के साथ सम्बन्ध हो गया। इसी प्रकार जाना हुआ घड़ा अर्थात् जिस घड़े का जानने (ज्ञान) के साथ संबंध हो गया। घड़ा बेचारा जड है, घड़े में ज्ञान नहीं है। ऐसा जो ज्ञानरहित घड़ा है, जीव ने उसको ज्ञान के साथ संबन्धित कर दिया। इसीलिये उसको कहा 'स्फुरणात् जीवचक्रत्वम्'।

जैसे ही भंवर पड़ा, वैसे ही ऊर्मियाँ आने लगीं। अब स्पंदन नहीं, उसमें लहरी उठने लगी। छोटी लहर को ऊर्मि कहते हैं। यही चित्त हो गया। उसने चित्त-रूपी हल्की लहर को धारण कर लिया। चित्त आया तो अनेक संस्कारों को लेकर आया। चित्त के संस्कारों का कोई ठिकाना नहीं है, अनंत संस्कार हैं। इसलिये कहा 'चिद्वारिब्रह्मजलधौ कुरुते सर्गबुद्बुदान्।' यहाँ ब्रह्म जलधि है। साधारण समुद्र होता तो छोटी-मोटी चीज़ें बनाते। इसके अन्दर चिद् वारि भरा हुआ है, चेतन ही इसमें जल है। 'सर्गबुद्बुदान्' इसकी लहरियाँ हैं, इस चिद्रूपी लहरी से उत्पन्न होने वाले बुलबुले तुम्हारे अनंतकोटि ब्रह्माण्ड हैं! एक-एक ब्रह्मांड तुम्हारे अन्दर तुम्हारी ऊर्मि से उठा हुआ छोटा-छोटा बुद्बुदा है। मनुष्य बड़ी चिंता में लगा रहता है, कहता है कि मकान छेड़ रखा है, पूरा होगा या नहीं?' हमें हँसी आती है। अनंतकोटि ब्रह्माण्डों को बुद्बुदों की तरह बनाने वाला, देखो हमारे सामने ही हमें बेवकूफ बनाने का प्रयत्न कर रहा है, पूछता है कि मकान पूरा होगा या नहीं! ब्रह्मलोक से रसातल तक जो एक बुद्बुदे की तरह पैदा करता है, वही एक मकान या शहर नष्ट होने पर कहता है कि अणुबम का ज़माना आ गया, अब क्या होगा, यह सृष्टि रहेगी या नहीं? अरे! अपने संकल्प से तो एक क्षणमात्र में तुम एक ब्रह्माण्ड नहीं, अनेक ब्रह्माण्ड, अनेक सृष्टियाँ बुलबुलों की तरह खड़ी कर लेते हो।

एक आदमी का लड़का बड़ा बीमार था। उसकी तीमारदारी, सेवा करने में वह बेचारा निरंतर लगा रहता था। उसको उस बच्चे के साथ प्रेम भी बहुत था। उसकी बीमारी लम्बी थी। एक दिन वह आदमी बड़ा थका हुआ था। उसने घरवाली से कहा 'तुम देखना, मैं थोड़ी देर आराम कर लेता हूँ।' सोने चला गया। इसी बीच वह लड़का मर गया। कोई किसी की बाट नहीं देखता, सब अपने-अपने रास्ते चलने वाले हैं। कई बार लोग कहते हैं कि 'हाय! मेरे लिये नहीं रुका।' अरे, वह अपनी जान के लिये रुकने में असमर्थ था, तेरे लिये क्या रुकता! फिर भी रोते हुए लोग कहते हैं। लोगों ने उसे जगाया कि तुम्हारा बेटा मर गया। उसने उठकर कहा कि 'अब

जलाने का इन्तजाम करें।' लोगों ने सोचा था कि वह धाड़ मारकर रोयेगा। उसने कुछ दुःख प्रकट नहीं किया तो लोगों ने सोचा कि इसे बड़ा ज़ोर का धक्का लगा है इसलिये नहीं रो रहा है, क्योंकि दुःख की अतिशयता में मनुष्य स्तब्ध हो जाता है। लोगों ने कहा 'भले आदमी, थोड़ा रो ले, जी हल्का हो जायेगा।' उसने कहा 'किसको रोऊँ? अभी जाकर लेटा हुआ था तो स्वप्न आया कि मेरे सात लड़के हुए हैं। जैसे ही तुमने जगाया वैसे ही सातों जगने के साथ ही ख़त्म हो गये। इसकी लाश तो पड़ी हुई है, उनकी तो लाश भी तुम लोगों ने ख़त्म कर दी। अब मैं उन सात को रोऊँ या इस एक को रोऊँ?' उसका विचार जाग्रत् हो गया। विचार कब जाग्रत् हो जाये, कोई नहीं कह सकता। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जैसे कुआँ खोदने वाला व्यक्ति निश्शंक होकर, निश्चिंत होकर खोदे चला जा रहा है, क्योंकि जानता है कि खोदते-खोदते एक दिन अवश्य उसको जल मिल जायेगा इस दृढ भावना से ही तो खोदता रहता है और एक दिन उसे जल मिल जाता है; ठीक इसी प्रकार से निरंतर सच्छास्त्रों के श्रवण में लगे रहना चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि 'इतने दिन तक हमने श्रवण किया, अब तक कुछ नहीं हुआ तो आगे कैसे होगा?' लगे रहने से न जाने किस समय कौन-सी चोट अंतिम चोट सिद्ध हो जाये।

बड़ा सरल काम है। जब अंतिम चोट पड़कर बात लग जाती है तब मनुष्य सोचता है कि यह तो बड़ा सरल था! जैसे कई बार हिसाब के अन्दर बार-बार ज़ोर लगाने पर भी गड़बड़ी हो जाती है। अंत में दूसरा आदमी छोटी-सी बात बताता है कि जिसको तुम पैसा समझ रहे थे, वह नया पैसा था, पुराना नहीं। तुम झट बात समझ गये। मन में आता है कि 'इतनी-सी बात समझ में नहीं आई!' बड़े-बड़े विद्वानों को समझ नहीं आती। न्यूटन विज्ञान का एक बड़ा भारी विद्वान् हुआ है। उसने एक बार सुथार, बढ़ई को बुलाया और उससे कहा 'यह कुत्ता बड़ा तंग करता है। रात को इसे जब टट्टी-पेशाब करना होता है तो मुझे ठण्ड में बाहर जाना पड़ता है। इसलिये तू मेरे कमरे के दरवाज़े में दो छेद कर दे जिससे यह अपने आप निकल जाये और कोई आ भी न सके।' उसने पूछा 'दो छेद क्यों?' न्यूटन ने कहा 'एक कुत्ता और एक उसका बच्चा है। इसलिये तू एक बड़ा और एक छोटा छेद बना दे।' सुथार ने कहा 'एक बड़ा ही बना लो।' 'एक से कैसे निकलेंगे?' सुथार ने कहा 'नहीं निकलेंगे तो दूसरे दिन फिर दूसरा बना दूँगा।' उसने एक बड़ा छेद बना दिया क्योंकि उससे छोटा कुत्ता तो अपने आप निकल जायेगा! लेकिन इतना बड़ा वैज्ञानिक होकर भी न्यूटन की बुद्धि में यह बात नहीं आई, इसलिये सोचा कि बड़ी जगह में से बड़ी और छोटी में से छोटी चीज़ निकलेगी। इसी प्रकार मनुष्य को जब विवेक के हथौड़े लगकर विचार पैदा हो गया और बात समझ में आ गई तो लगता है कि 'बस इतनी-सी ही तो बात थी!' इसलिये लगे रहना चाहिये।

विचार करो कि स्वप्न के अन्दर सात बेटे मर गये, उनको रोयें या जाग्रत् के अन्दर एक

बेटा मर गया है, उसकी लाश फूँकनी है, उसको रोयें? स्वप्न में तुम इतनी बड़ी चीज़ बना लेते हो, कुछ कठिनाई नहीं पड़ती और फिर कहते हो कि 'यह मकान बनेगा या नहीं'! तुम तो बिना ईंटों के भट्टों को आर्डर दिये हुए, बिना सरकार से लोहे का परमिट लिये हुए पचास-मंजिले मकान दो मिनट में बनाकर रख देते हो। यही इसमें प्रमाण है कि तुम क्या कर सकते हो।

'चित्संवित्त्योच्यते जीवः संकल्पात् स मनो भवेत्' चित् ही जानने के लिये गया तो उसी का नाम जीव पड़ गया। वह आवर्त हुआ। उसी ने जब मनन किया तो उसी का नाम मन पड़ गया। चीज़ बदली कुछ नहीं। जैसे लोक में भी होता है कि तुम्हारे घर में जो मोटर चलाने वाला है, उसका नाम शोफर या ड्राइवर है, वह जब अपने घर पहुँचता है तो उसका नाम बाबू जी हो जाता है, वही जब अपने कमरे में पहुँचता है तो उसका नाम लल्लू के पिता जी होता है। वह एक ही है, कोई दूसरा नहीं है। अलग-अलग कार्य करने से उसके अलग-अलग नाम पड़ गये। इसी प्रकार से वह अखण्ड चिन्मात्र ही जब दूसरे को चेतित करने गया तो उसका नाम जीव पड़ गया। जब उसने मनन किया तो उसका नाम मन पड़ गया। 'बुद्धिश्चित्तम् अहंकारो मायेत्याद्यभिधां गतः।' पहले तो सोचता रहा कि 'यह करूँ या वह करूँ,' फिर सोच लिया कि 'यही करूँ।' जब उसने यों निश्चय किया, उसी अखण्ड का नाम तब बुद्धि पड़ गया। करने के बाद अनुभव हुआ कि 'मैंने फाइल बना ली', तब उसका नाम चित्त पड़ गया। चित्त में सारी फाईलें, वासनायें रहती हैं, जब जो चाहो, निकाल लो। कई बार कोई फाइल नीचे दब जाती है तो निकालने में मुश्किल पड़ जाती है, तब मनुष्य नीचे से ऊपर को धक्का देता है तो निकल आती है। कई बार ऐसा होता है कि कोशिश करते रहे, तब भी फाइल नहीं निकलती।

एक सज्जन सुना रहे थे कि वह अपनी फाइल के बारे में किसी के पास गये तो उसने कह दिया कि 'तुम्हारी फाइल तो मिलती नहीं है।' जब उसने सारे कागज उठाकर रखे तो सबसे ऊपर वही फाइल रखी हुई थी, उन्होंने कहा 'यही तो मेरी फाइल है।' उसने कहा कि 'बड़ा ढूँढा लेकिन नहीं मिली।' इसी प्रकार कोई चीज़ याद करते रहे, नहीं याद आती, फिर अकस्मात् बैठे हुए झट याद आ जाती है। इतना तो निश्चित है कि जिसकी दुकान में एक ही सौदा बिकता हो और पच्चीस व्यापारियों के पास माल जाता हो तो उसकी फाइल झट निकल आयेगी। लेकिन जो परचून का सामान बेचता है और हज़ारों ग्राहकों को बेचता है, उसे किसी की फाइल निकालने में मुश्किल पड़ेगी। इसी प्रकार जो व्यक्ति दुनिया-भर के संस्कारों को चित्त में भरता रहेगा, वह परचून का व्यापारी है। उसे तीन महीने बाद याद आयेगा कि 'लल्ला की शादी में मन्नू का बाप आया था तो हाथ में अंगूठी पहने था।' इससे कोई मतलब नहीं है, लेकिन उसे याद है। 'मैं जब अपने ब्याह में गई थी तब यह साड़ी पहनकर गई थी।' इसका कुछ मतलब नहीं है, लेकिन याद है। जितने रिश्तेदारों के रिश्तेदारों के रिश्तेदार हैं, सब याद हैं। वे सारी फाइलें भरी हुई हैं। अब यदि मतलब की बात उससे पूछो तो कहता है 'यह याद नहीं है!'

क्योंकि फाइलें बड़ी लम्बी-चौड़ी हो गई हैं, दुनिया-भर के संस्कार वहाँ भरे हुए हैं। आदमी प्रायः यही करता है।

बुद्धिमान् व्यक्ति क्या करता है? वह जानता है कि चित्त का प्रत्येक संस्कार उसका बाधक बनेगा, इसलिये वह संस्कारों का प्रक्षालन करता रहता है। जितनी अत्यंत आवश्यक बात है, जिसकी आगे उपादेयता है, उतनी का ख्याल रखता है, बाकी की फाइल को जलाता रहता है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने भी इतिहास लिखा है। बहुत से लोग कहते हैं कि भारतीय इतिहास नहीं लिखा करते, किंतु यह ग़लत बात है। लेकिन हमारी इतिहास की दृष्टि आधुनिक लोगों के इतिहास की दृष्टि से अलग है। आधुनिक ऐतिहासिकों का कहना है कि हर बात को लिखते जाओ। इस राजा का यह लड़का अमुक समय में पैदा हुआ, अमुक समय में गद्दी पर बैठा, अमुक समय में चढ़ाई की और अमुक समय में मर गया   इत्यादि सारी बातें याद रखो। हमारे यहाँ राम, कृष्णादिक दो-एक को छोड़ दो, बाकी तो हमारे धर्म-प्रवर्त्तकों के जन्म-दिन का भी पता नहीं! याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ कब पैदा हुए, किसी को पता नहीं। हम यह क्यों भूल गये? क्योंकि इसका फ़ायदा कुछ नहीं है। यह तो निश्चित है कि किसी-न-किसी दिन पैदा हुए थे और किसी-न-किसी दिन मरे थे, पर उसको याद रखने से क्या फ़ायदा? कहो कि 'बड़े आदमियों को याद तो करना चाहिये।' हम इतने निगुरे नहीं हैं कि बड़ों को याद न करें। इसलिये हमने गुरुपूर्णिमा का दिन निश्चित कर दिया कि जितने महर्षि हुए हैं, उस दिन सबको याद कर लेंगे। नहीं तो, गांधी जी के पैदा होने की एक छुट्टी, मरने की दूसरी छुट्टी, नेहरू के पैदा होने की एक छुट्टी और मरने की दूसरी छुट्टी, ऐसे यदि सारे ऋषियों की छुट्टी लो तो साल पूरा हो जायेगा। चौबीस साल में तीन कब्रें बनाकर खड़ी कर रखी हैं, जब कोई काम करने जाओ तो पहले उनपर फूल चढ़ाओ। हम लोग यदि दस हज़ार साल के अन्दर ऐसी कब्रें बनाते तो आदमी को खड़े रहने की जगह न रहती! हम लोग बुतपूजक नहीं हैं। भगवान् ने गीता में इन लोगों को भूत-प्रेत-पूजक कहा है। हम लोग इसकी पूजा नहीं करते, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ ने क्या कहा, इसकी पूजा करते हैं। यदि उनके जीवन की कोई ऐसी घटना है जिसके द्वारा हमारा कोई लाभ हो सकता है, तो उस घटना को हम याद करते हैं। लेकिन बाकी चीज़ों को याद करने से कुछ फ़ायदा नहीं है। हमारे यहाँ उन लोगों का और उन घटनाओं का इतिहास है जो हमेशा के लिये हमें ज्ञान और लाभ देने वाला है। व्यर्थ की चीज़ों का इतिहास हमारे यहाँ नहीं, क्योंकि हमने पहले ही यह निश्चय किया था कि न राष्ट्रीय स्तर पर और न व्यक्तिगत स्तर पर चित्त को कबाड़खाना बनने देंगे। जिस चीज़ से हमें आगे जीवन में कोई लाभ मिले, उसको स्मरण रखो, उसका संस्कार रखो, वह तुम्हें फ़ायदा पहुँचायेगा। बाकी संस्कार हटाते जाओ, उन्हें प्रक्षालित करते जाओ।

जब फाइल बनाई तो चित्त कबाड़खाना हो गया। उस चित्त में से किन संस्कारों को

निकालना है, यह अहंकार का काम है। तुम गद्दी पर व्यापार करने के लिये बैठे हो और चित्त में से निकाल रहे हो कि 'कल्लू की माँ को ब्लडप्रैशर हो गया है, अब उसका क्या हाल होगा।' फिर मन में कहते हो कि '३१ मार्च आ रहा है, इन्कम टैक्स का चिट्ठा तैयार करना है।' फिर थोड़ी देर में दूसरी बात निकली कि 'कोई कह रहा था कि डाक्टर मित्रा बड़ा है।' इसका कारण यह है कि अहंकार पर तुम्हारा नियंत्रण नहीं है। उसकी जो मर्ज़ी वह फाइल निकालता है, वह चाहे मतलब की हो या न हो। अहंकार का काम है कि चित्त से वही बात निकाले जिसकी आवश्यकता है। हम कई बार आनंद लेते हैं : लोग बैठे हुए आपस में बात करते हैं। कहाँ से विषय उठता है और थोड़ी देर में कहाँ चला जाता है उनमें से किसी को पता नहीं चलता। लोग समझते हैं कि हमने घण्टा भर बातचीत की, लेकिन बात चली कहाँ और कहाँ पहुँच गई, उन्हें पता नहीं। थोड़ी देर में पूछो कि यह बात कहाँ से आई? तो कहते हैं कि पता नहीं, बात में से बात निकल आई। कारण यह है कि अहंकार में शुद्धि नहीं है। इसलिये वह चित्त पर नियंत्रण नहीं कर पाता। चित्त-नियंत्रित अहंकार से माया (विक्षेप) पैदा होती है। सारे विक्षेपों का यही बीज है। जितना जीवन का तनाव है, जितनी जीवन की नासमझियाँ हैं, जितने दुःख और क्लेश हैं, उन सारे-के-सारे विक्षेपों का एकमात्र कारण है अहंकार के ऊपर दृढता न होना और उसका इधर-उधर फिसल जाना। इसी से सारे विक्षेप पैदा होते हैं। किसी व्यापारी से बात कर रहे हो लेकिन चित्त ने बिना मतलब की फाइल सरका दी कि 'विनोद के ब्याह में इसे बुलाया था तो यह नहीं आया था।' बताओ, इससे क्या मतलब है! सारे व्यापार को इसने गंदा कर दिया क्योंकि अब हर बात में मन में यह आयेगा कि 'यह नहीं आया था।' लड़के को अध्यापक पढ़ा रहा हैः उसकी बुद्धि देखो कि क्या पढ़ रहा है। लेकिन अध्यापक को चित्त पर नियंत्रण नहीं। अतः उसे याद आता है कि 'इसके बड़े भाई को मैंने ट्यूशन पढ़ाई थी तो इसके बाप ने मुझे एक महीने की तनख्वाह नहीं दी थी।' हमारे जितने व्यवहार हैं, उनमें हमारा अहंकार पर बल नहीं है। जिसे साधारण भाषा में आत्मबल कहते हैं वह नहीं है, इसीलिये सारे विक्षेप होते हैं। इसीलिये कह दिया 'बुद्धिश्चित्तमहंकारो माया इत्यादि-अभिधां गतः'। जब विक्षेप हुआ तो 'इति आदि' कहा अर्थात् विक्षेप के बाद उनकी गिनती करने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि विक्षेप अनंत हैं। कोई देह-प्रयुक्त, कोई मन-प्रयुक्त, कोई पुत्र-प्रयुक्त तो कोई स्त्री, पड़ौसी-प्रयुक्त; इत्यादि विक्षेपों का कोई ठिकाना नहीं है, इसलिये महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि आगे इनका नाम नहीं गिना सकते, 'इत्यादि' से सबको समझ लेना चाहिये।

इसको पकड़ना कहाँ है? शुरू अहंकार से करना है। जब अहंकार के ऊपर नियंत्रण आयेगा, तब चित्त और बुद्धि पर और उसके बाद मन पर नियंत्रण आयेगा, मन के बाद जीव पर नियंत्रण आयेगा और तब काम बनेगा। जब तक इस क्रम से नहीं आयेगा, तब तक काम नहीं बनेगा। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि पहले इस अहं को शुद्ध करो। शुद्ध चीज़ में बल

होता है, अशुद्ध चीज़ में बल नहीं होता। डाक्टर कहता है कि तुम्हारे शरीर में खून बहुत कम है, इसलिये लोहा खाओ। घर आकर क्या तुम कढ़ाई घिसकर खाना शुरू कर दोगे? लोहे को शुद्ध करके लौहभस्म बनाना पड़ेगा, तभी खा सकते हो। जब तक शुद्ध नहीं करोगे, वह नहीं खाया जा सकेगा। सोने से गहना बनाना है तो तभी बना सकोगे जब पहले शुद्ध करो। जितनी भी चीज़ें हैं, उनको यदि बल वाला, कार्यकारी बनाना चाहते हो तो पहले शुद्ध करना पड़ेगा। सारे भारत के राज्य को चलाने वाले तुम व्यापारी लोग ही हो, क्योंकि व्यापारी टैक्स नहीं दे तो मिनिस्टर, अफ़सर आदि सरकार चला नहीं सकते। सारा का सारा चक्र व्यापारी के टैक्स पर ही निर्भर करता है। फिर क्या कारण है कि व्यापारी का हृदय इतना छोटा है कि सरकार से हमेशा डरता रहता है? कारण यह है कि तुम्हारे पास जो दो नम्बर का पैसा है, ब्लैक मार्केट का जो पैसा तुमने इकट्ठा कर रखा है वह अशुद्ध धन तुम्हारे शुद्ध धन को दबाकर रखता है, तुमको बल नहीं देता। इसीलिये हम कहते हैं कि वर्तमान राज्य-व्यवस्था में चोरी ऐसे ही चलेगी क्योंकि वर्तमान राज्य व्यवस्था ज़रूर चाहेगी कि तुम चोरबाज़ारी करो और अफ़सर घूस खायें। इसका कारण यह है कि यदि अफ़सर ने घूस नहीं खाई और उसमें आत्मबल हो गया तो बेपढ़े-लिखे मूर्खों को मंत्री मानकर कौन चलेगा? यदि व्यापारी ने यह छोड़ दिया तो अनपढ़ों को राजा कौन मानेगा? इसलिये चाहते हैं कि चोरबाज़ारी चलती रहे जिससे इनका आत्मबल कमज़ोर रहे और हमारा काम चलता रहे। तुम्हारे आत्मबल को कमज़ोर करना उनका उद्देश्य है। इसीलिये भाषण देंगे कि 'तुम सब चोर हो, बहुत खराब हो। तुम लोगों को अब हम ठीक करेंगे' और उसके बाद प्राइवेट कमरे में कहेंगे 'चुनाव के लिये पचास हज़ार दे दो।' कोई पार्टी नहीं कहती कि व्हाइट का दे दो। तुम्हें व्यर्थ में नीचा दिखाया और फिर तुमसे फ़ायदा लेने के लिये तैयार हैं। व्यापारी को समझना पड़ेगा कि आत्मबल कमज़ोर नहीं करना है और यह तभी होगा जब शुद्धि आयेगी। किसी चीज़ में बल तब तक नहीं होता, जब तक शुद्धि न हो।

यही हाल प्रत्येक अहंकार का है। होना तो यह चाहिये था कि यह सब पर नियंत्रण करता, लेकिन चूंकि यह अशुद्ध है इसलिये यह बलहीन हो गया है। इस बल को प्राप्त करने के लिये साधना बताते हुए यहाँ कहा 'सुधा सिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते'। एक यह चित् समुद्र है; चित् समुद्र के मध्य में आवर्त (भंवर) बना हुआ जीव है। चूंकि इसने सुधा-भाव (शुद्ध भाव) को प्राप्त नहीं किया, इसलिये यह उस चिदानंदलहरी को प्राप्त करके धन्य नहीं हो रहा है। सुधा चूने को कहते हैं। इसीलिये चूने से पोते हुए मकान को सौध कहते हैं। चन्द्रमा को भी सुधा कहते हैं, इसपर आगे विचार करेंगे। जैसे चूने को यदि तुम काँच पर लगा दो और बाद में चूना हटा दो तो काँच चमक जाता है, इसी प्रकार इस अहंकार के ऊपर यदि तुमने चूना लगा दिया तो यह अहंकार बल वाला होकर चमक जायेगा, इसका सारा मैल निकल जायेगा। विचार ही वह चूना है। विचार रूपी सुधा लगाने से जब इसमें चमक आ जायेगी, तभी उस चिदानंदलहरी को पाकर धन्य हो सकोगे।

# प्रवचन-५

२१-३-७२

सर्वज्ञ भगवान् शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि चिदानंदलहरी का जो सेवन करता है वह धन्य है। चिदानंदलहरी का सेवन कब हो? बताया कि वह समुद्र है। सुधा का एक सीधा अर्थ चूना है। कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया 'यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते यत् सुधान्तं' वहाँ सुधा-शब्द का प्रयोग किया। जैसे दर्पण में पड़ने वाला बिम्ब जब स्वच्छ और बढ़िया दिखाई नहीं देता तो उसे साफ देखने के लिये उसके ऊपर चूना-बालू लगा देते हैं। चूना भी मिट्टी का एक विकार है और जो गंदगी होती है, वह भी मिट्टी का विकार, काँच भी मिट्टी का विकार है। उस पर पड़ने वाली गंदगी भी मिट्टी ही और साफ करने वाला चूना बालू भी मिट्टी ही है। यद्यपि एक मिट्टी के ही ये तीनों विकार हैं लेकिन किसी प्रयोजन को लेकर व्यवहार करना और केवल क्रिया सर्वथा अलग-अलग हैं। मिट्टी एक जगह काँच, वही पुनः मैल और वही पुनः सफाई करने का साधन है। यद्यपि सब मिट्टी हैं लेकिन फिर भी प्रत्येक में भेद हैं। इसी प्रकार से जिस तत्त्व की प्राप्ति करनी है, वह भी ब्रह्म ही और उसके ऊपर चढ़ा हुआ मैल (माया, अज्ञान या अविद्या) भी ब्रह्म ही है। समझने में ज़रा हिम्मत चाहिये। समुद्र को समुद्र की लहर ही ढाँकती है। कहते हो 'आज समुद्र साफ दिखाई नहीं देता क्योंकि तूफान आया हुआ है, समुद्र में बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं।' लहर समुद्र ही है! इसलिये वेद-सिद्धान्त के अन्दर प्रकाश के वक्षःस्थल पर प्रकाश ही खेलता है, अंधकार नहीं, 'द्वितीयवस्तुनोऽभावात् सर्वं ब्रह्मेति' अन्यत्र भगवान् भाष्यकार कहते हैं सर्व ब्रह्म है क्योंकि उस एकमात्र परबह्म परमात्मतत्त्व से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इसलिये प्रकाश के वक्षःस्थल पर प्रकाश ही खेल रहा है। पहले बताया था कि किस प्रकार वह सूक्ष्म ऊर्मियाँ बनते हुए, फिर बड़ी-बड़ी लहरें बनते हुए अंत में विक्षेप, माया के स्वरूप को प्राप्त हुआ। अब प्रश्न है कि उसको शांत करने वाला साधन क्या है? साधन भी ब्रह्म ही है जैसे साफ करने वाला चूना भी मिट्टी है। बिम्ब-रूप भी ब्रह्म ही है, उसको ढकने वाला अज्ञान भी ब्रह्म और उस अज्ञान को दूर करने वाला साधन भी ब्रह्म है। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।' भगवान् गीता में सारे साधनों को ब्रह्मरूप ही बताते हैं। जो हवि डालते हो, वह भी ब्रह्म, जो तुम्हारी डालने की क्रिया है, वह भी ब्रह्म ही और जिस अग्नि में उसका प्रक्षेप करते हो वह भी ब्रह्म ही है। यह ब्रह्मकर्म समाधि है। केवल आँख बन्द करके ही समाधि नहीं लगती है। यह कर्म-समाधि है।

यहाँ बता रहे हैं कि तीनों ब्रह्मरूप ही हैं ऐसा जिसने निश्चय कर लिया उसके लिये तो सारे भेद निवृत्त हो गये। चमक देखनी होगी तो चूने रूपी विकार को लगाना होगा। इसमें अपनी बुद्धि काम नहीं करेगी। कोई कहे कि मिट्टी से ही साफ करना है तो महाराष्ट्र की काली मिट्टी

ही पोत दें! यद्यपि वह मिट्टी है, लेकिन दर्पण चूनारूपी मिट्टी से ही साफ होगा। उसी प्रकार गंदगी बढ़ाने वाले जितने भी साधन हैं, वे भी एक प्रकार से ब्रह्मरूप ही हैं। और गंदगी को हटाने वाले जितने साधन हैं, वे विशिष्ट प्रकार का ब्रह्म है। साधनों का भेद है। गंदगी रूपी साधन सारे कर्म और उपासना हैं। चाहे लौकिक चाहे पारलौकिक कर्म हों, चाहे स्वर्ग लोक और चाहे ब्रह्मलोक देने वाली उपासना हो, हैं सारे-के-सारे मलरूप ही। जितने निवृत्ति के साधन हैं, वे सारे चाहे द्रव्यनिवृत्ति के हों, गुणनिवृत्ति के हों, क्रिया-निवृत्ति के हों, चूने की जगह पर चमक लाने वाले हैं। जितने प्रवृत्ति के साधन हैं, वे मैल को बढ़ाते हैं। निवृत्ति के साधन मैल को हटाते हैं। इसीलिये वस्तुतः सारे शास्त्रों का तात्पर्य निवृत्ति में है। प्रवृत्ति में वेद का तात्पर्य नहीं है। लेकिन मैल को जब तक नहीं बतायेंगे, तब तक मैल को नहीं हटाओगे।

कोई आदमी आता है तो उससे कहते हैं कि 'ज़रा अपना मुँह तो देखो कैसा सुन्दर लग रहा है।' वह बेचारा सोचता है कि सचमुच सुन्दर लग रहा होगा। जाकर देखता है तो पता लगता है कि सारे गाल में कुछ काला लग गया है, कहीं कोयले का हाथ लग गया। आकर कहता है 'अच्छा किया तुमने बता दिया।' तुमने उसे 'सुन्दर' कहा था लेकिन तुम्हारे बता देने का फल यह है कि उसको धोकर अलग कर दे। इसी प्रकार से वेद तुमसे कहता है कि स्वर्ग लोक और ब्रह्मलोक में ज़रा देख तो सही कि तेरा मुँह कितना अच्छा लगता है। जैसे वहाँ काँच में मुँह देखता है, वैसे ही यहाँ ज्योतिष्टोम याग आदि करता है। उपासना करके अपना मुख देखता है तो पता लगता है कि यहाँ तो बड़ी गंदगी है। पहले नहीं कहोगे कि 'तू भद्दा लग रहा है।' वेद गोलोक, वैकुण्ठलोक, ब्रह्मलोक आदि के साधनों का वर्णन इसलिये करता है कि इनसे तुम्हें पता लगे कि वहाँ तुम्हारा मुँह कितना गंदा लगेगा। पहली गंदगी क्षयिष्णुता है। ब्रह्मलोक पर्यन्त सब क्षय होने वाले हैं। दूसरे, वहाँ पर ऊँच-नीच है। लोग कहते हैं कि यहाँ सब एक हो जायेंगे तो वेदांती हँसता है कि जब गोलोक आदि में भी एक-जैसे नहीं हैं तो यहाँ कैसे एक-जैसे हो जायेंगे? एक जैसे बनने वाले तो केवल शंकर हैं, इसलिये वे श्मशान में रहते हैं। श्मशान को छोड़कर लोग कहीं भी एक जैसे नहीं हो सकते। उसके पहले जितनी एकता की बातें हैं, वे सब धोखाधड़ी का मामला है। वह एकता की बात ऐसी है जैसे राजस्थानी भाषा में एक कहावत है 'थारी चीज़ तो म्हारी चीज़, म्हारी तो म्हारी है ही' अर्थात् जो तुम्हारा माल, वह हमारा माल, हमारा माल तो हमारा है ही। अभी एक सम्मेलन हुआ था जिसमें एक प्रस्ताव पारित किया कि जो लोग टैक्स की चोरी करने वाले हैं उनके किसी निमंत्रण पर उनके सम्मेलनों में मंत्री लोग न जायें। हमें बड़ी हँसी आई कि मिनिस्टर खुद ही टैक्स नहीं दे रहे हैं तो न देने वालों के समाज का क्या बहिष्कार करेंगे! जो विलायती कपड़े पहनकर घूम रहे होते हैं, वही कहते हैं कि देशी चीज़ों का प्रयोग करो। हाथ में अंग्रेजी में लिखी हुई घड़ी बांधे हुए लोग उसी हाथ से बाहर में लगे हुए बोर्डों पर कालिख पोतते हैं या पुतवाते हैं। वैकुण्ठ, गोलोक आदि में सर्वत्र ऊपर-नीचे

का भेद है। जहाँ भेद होगा, वहाँ राग-द्वेष अवश्यंभावी हैं, चाहे कुछ भी कर लो। वेद सारे कर्मों का, प्रवृत्ति मार्ग का निरूपण इसलिये करता है कि उसमें अपना मुख देखकर समझ लो कि वहाँ पर भी वह जगत् तुम्हारे मुख को कितना सुन्दर दिखाता है, ज़रा देखो तो सही। जब तुमको पता लग गया कि प्रवृत्ति मार्ग, कर्म और उपासनायें तुम्हारे मुख को गंदा ही रखेंगे, साफ नहीं रखेंगे, तब तो उसे चूने से धोओगे।। इसलिये कहा 'यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं' मिट्टी के द्वारा जो लिप्त है, वह मिट्टी से ही साफ होगा। लेकिन कर्म, उपासना करना बड़ा ज़रूरी है, क्योंकि जब तक काँच में अपने मुख की कालिख देखोगे नहीं, तब तक धोओगे क्या!

कठिनाई तब होती है जब हम समझते हैं कि कर्म और उपासना से हममें कुछ सुन्दरता आ जायेगी। ऐसा कुछ नहीं होना है। केवल इतनी ही सुन्दरता आनी है कि इसके द्वारा 'मैं कितना असुन्दर बना हुआ हूँ', यह पता लग जाना है। जब तक यह पता नहीं लगता, तब तक मन में वैराग्य नहीं आता। क्या कारण है कि हम निरंतर संसार के पदार्थों को, कर्म, मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि को प्राप्त करते ही रहना चाहते हैं? क्योंकि वे हमें प्राप्त नहीं हुई हैं। बड़े-बड़े महाराजा लोग अथवा युरोप में राष्ट्रपति, कभी-कभी अपने राज्य को छोड़कर दूसरे राज्य में चले जाते हैं। वहाँ भी बिना किसी को साथ लिये साधारण आदमी की मोटर में जाते हैं। जब उनसे पूछते हैं कि क्या बात है, तो कहते हैं कि 'वहाँ तो चारों तरफ पुलिस वाले होते हैं, न खा सकते हैं और न मन से कुछ भी कर सकते हैं।' तुम लोग सोचते हो कि राष्ट्रपति बड़ा व्यक्ति होता है क्योंकि अभी राष्ट्रपति बने नहीं हो। एक बार राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद काशी गये हुए थे। उन्होंने पहले कह रखा था कि विश्वनाथ का दर्शन करेंगे। भगवान् विश्वनाथ का दर्शन करने के बाद सामने ही भगवती अन्नपूर्णा का दर्शन करते हैं। उधर जाने लगे तो मिलिटरी अटैची ने कहा कि उधर नहीं जा सकते! पण्डितों ने बड़ा कहा 'अन्नपूर्णा का दर्शन न करें, यह कैसे होगा?' उसने कहा 'आपके प्रोग्राम में खाली विश्वनाथ लिखा है, इसलिये वहाँ कोई इन्तजाम नहीं है।' राजेन्द्र प्रसाद जी ने अपने पण्डितों से कहा 'जाने दो, अब मैं राष्ट्रपति हूँ।' यह एक फजीता है। लेकिन जब तक राष्ट्रपति नहीं बनते, तब तक लगता है, न जाने वहाँ क्या सुख होगा। ऐसे ही कर्म और उपासना के द्वारा न जाने कौन-सा सुख होगा, जिसके लिये रात-दिन लगे हुए हैं! इसकी कोई आवश्यकता नहीं  ऐसा नहीं, आवश्यकता तो बहुत बड़ी है, क्योंकि जब तक ब्रह्मलोक पर्यन्त के सुख को नहीं देख लोगे तब तक उसकी असुन्दरता का पता नहीं लगेगा। आज जब कहते हो कि हमको ब्रह्मलोक की इच्छा नहीं है तो हमें हँसी आती है कि क्या तुम्हें ब्रह्मलोक प्राप्त है जो छोड़ रहे हो? ईंट-पत्थर के मकान को तो तुम छोड़ नहीं पा रहे हो जो तुम्हें प्राप्त हैं, लेकिन बात करते हो कि ब्रह्मलोक में स्वर्ण मकानों का वर्णन आता है, उसके लिये हमें इच्छा नहीं है! कहते हो कि दिव्य देहों की हमें कोई कामना नहीं है और टट्टी-पेशाब से भरे हुए शरीर को छोड़ नहीं पा रहे हो।

जब पता लगेगा कि कर्म और उपासना से प्राप्त होने वाली चीज़ों में भी वस्तुतः उपादेयता नहीं है तब शुद्धि की आवश्यकता होगी। चूना धीरे-धीरे सब चीज़ों के अन्दर पोतना है, तब निवृत्ति के साधन शुरू होंगे। 'निःशेषकर्मसंन्यासो वाक्यार्थज्ञानजन्मने।' तत्त्वमस्यादि वाक्यों के अर्थ का ज्ञान करना है। यहाँ 'अर्थ' का मतलब समझ लेना : घट का अर्थ घड़ा नहीं है, कैट (cat) का अर्थ बिल्ली नहीं है, यद्यपि स्कूल में ऐसा पढ़ा देते हैं। कैट का अर्थ तो सामने खड़ा हुआ धारीदार, चार पैर वाला और मूँछ वाला जंतु-विशेष है। स्कूल में यह पढ़ा रहे हैं कि कैट का अर्थ वही है जो बिल्ली का अर्थ है। कैट और बिल्ली का एक ही अर्थ है। एक अर्थ वाले दोनों हैं लेकिन कैट का अर्थ बिल्ली नहीं है। यह ग़लती बहुत बार लोग करते हैं, क्योंकि स्कूलों में ग़लत पढ़ाते हैं। किसी से कहो 'कैट लाना' और एक कागज पर ब में छोटी इ की मात्रा, आधा ल और ल पर बड़ी ई की मात्रा लिखकर ले आये तो कहोगे कि 'यह नहीं मँगाया था, मैंने तो सच्ची बिल्ली मँगाई थी।' इसी प्रकार से तत्-पद का अर्थ समष्टि अभिमानी चेतन और त्वं-पद का अर्थ व्यष्टि-अभिमानी चेतन यह सब कहना-मात्र नहीं है। समष्टि अभिमानी ईश्वर का साक्षात्कार करोगे तब अर्थ जानोगे। जिसने कभी बिल्ली नहीं देखी, फिर उसके सामने चाहे उसके हज़ार नाम बोल दो, तो भी उसे अर्थज्ञान कुछ नहीं होता है। हमारे संस्कृतज्ञों में एक प्रसिद्धि है कि एक पण्डित जी अपने बच्चे को पढ़ा रहे थे। पण्डित जी काशी के रहने वाले थे। उष्ट्र शब्द आया जिसका अर्थ ऊँट होता है। यह अर्थ उन्होंने किताब में पढ़ रखा था। काशी में ऊँट कोई क्यों देखेगा! वह तो रेगिस्तान में 'उड़कर' जाता है और बहुत लम्बी गर्दन वाला होता है ऐसा उसका लक्षण ग्रन्थों में किया हुआ है। लड़के ने पूछ लिया कि उष्ट्र क्या होता है? उसे बताया 'उष्ट्रो नाम पक्षिविशेषः' वह एक तरह का परिन्दा होता है! क्योंकि उड़कर परिन्दा ही जाता है। आजकल भी स्कूलों में पढ़ाते हैं कि ऊँट रेगिस्तान का जहाज है। जिसने देखा नहीं, वह सोचेगा कि लकड़ी का बना हुआ कुछ होगा जो वहाँ चलता होगा।

इसी प्रकार किसी से कहा 'तत्' जिसको ईश्वर का साक्षात्कार है, उसको तो उसके अर्थ का ज्ञान है, लेकिन लोग उसके समानार्थक दूसरे शब्द रटे हुए बोलते रहते हैं, तत् मायने ईश्वर, ईश्वर मायने मायाविशिष्ट चेतन, मायाविशिष्ट-चेतन मायने सगुण ब्रह्म, आदि शब्द बोले चले जाते हैं लेकिन कभी उस ईश्वर को देखा नहीं, उसका अनुभव नहीं किया है। इसी प्रकार त्वं का अर्थ जीव होता है। जीव का भी उन्होंने अनुभव नहीं किया है। कहोगे कि हम लोग जीव ही तो हैं; लेकिन तुम लोग जीव नहीं हो! कभी अपने आपको बिना शरीर के देखा है? मन की तो बात ही जाने दो। कभी भी अपने को देह के बिना अनुभव नहीं किया तो विचार करो, जीव में तो सिवाय अविद्या के और कोई उपाधि नहीं है। इसीलिये न 'तत्' पद के अर्थ और न 'त्वं' पद के अर्थ का पता है। जब इन पदों के अर्थ का ही ज्ञान नहीं तो वाक्य के अर्थ का ज्ञान कहाँ से आयेगा! जब हमको यही नहीं पता कि रोटी क्या है और साग क्या है तो यदि कहें 'रोटी

और साग मिलाकर खा लेंगे' तो इससे क्या पता लगेगा? कर्म और उपासना के द्वारा तत् पद के अर्थ का पता लगा। विवेक योगाभ्यास के द्वारा त्वं-पद के अर्थ का भी पता लगा। तब वाक्य के द्वारा वाक्यार्थ का पता लगेगा। यह चूने का उतरना हुआ। उपासना के द्वारा ईश्वर का और योग के द्वारा जीव का पता लगता है।

जब प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों जान लीं तब 'निःशेषकर्मसंन्यासो वाक्यार्थज्ञानजन्मने' प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों कर्मों को सर्वथा छोड़ना होगा। प्रवृत्ति के द्वारा जहाँ तक पहुँचना है वहाँ तक पहुँच गया। उसमें भी उसे अपना मुख कुछ अच्छा नहीं लगा। योगाभ्यास के द्वारा भी उसने सब कुछ कर लिया, तब पता लगा कि इसमें भी अपना मुख कुछ अच्छा नहीं जँचा। अब चूने को उतार दिया। कर्म-उपासना मल थे और चूना प्रवृत्ति और निवृत्ति था। जब सुधा (चूने) का अंत कर दिया तब 'तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तं' अब वह शुद्ध तेजःस्वरूप से भान होता है। यह वाक्यार्थ है। तब वाक्यार्थ जम जाता है। इसीलिये श्रुतियों ने बार-बार उस परमात्मतत्त्व की चमक को प्राप्त करने के लिये इस बात पर ज़ोर दिया कि पहले चूना लगाओ, मल को साफ करो और फिर उसके अन्दर अपने तेजस्वी रूप को देखो। यजुर्वेद का (श्वे. २.१४) मंत्र आगे कहता है 'तद्वद् आत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः' जब चूना हटकर वह अत्यंत तेजस्वी होकर चमकने लगता है, तब आत्म-तत्त्व का प्रसमीक्षण कर लेता है। ईक्षण, समीक्षण और प्रसमीक्षण तीन अवस्थायें हैं। पहले तो देखना है, यह ईक्षण हुआ। जैसे शादी ब्याह के अन्दर तुम लड़के को सजाकर ले जाते हो, उसके सामने फूलों का सेहरा टाँग देते हो। बारात में जाने वालों को उसका मुख दीखता तो है लेकिन दूसरे दिन बस में जाते हुए देखेंगे तो नहीं पहचानेंगे, क्योंकि वह उसका झिलमिल वाला रूप है। यह ईक्षण (देखना) हुआ। यह नहीं कह सकते कि 'नहीं 'देखा,' पर 'देखा' ऐसा भी दिल नहीं कह सकता। पहले-पहल ज्ञान ऐसा ही होता है। लोग सेहरा इसलिये बाँधते हैं कि कहीं नज़र न लग जाये। ऐसे ही जब पहले-पहल आत्म-तत्त्व का भान होता है तो हुआ और फिर नहीं हुआ-सा ऐसा झिलमिल ज्ञान होता है। यह अवस्था बड़ी विचित्र अवस्था है क्योंकि अन्दर की बुद्धि यह भी कहती है कि हो गया, फिर थोड़ा-सा विवेक जाग्रत् होता है तो कहती है कि नहीं हुआ। फिर थोड़ी देर में सोचता है कि हो तो गया, फिर कहता है नहीं हुआ! फिर थोड़ी देर में सोचता है कि हो तो गया, फिर कहता है नहीं हुआ। जब-जब अनात्मा का भान होता है, तब-तब कहता है कि नहीं हुआ, हुआ तो कैसे अनात्मा दीखता? नहीं हुआ तो बाध कैसे होता है? जब बाध की प्रतीति होती है तब मन में होता है कि हुआ पर पक्का नहीं हुआ, कहीं कुछ कच्चा रह गया होगा। यह ईक्षण हो गया।

ऐसा करते-करते बाध का इतना तीव्र अभ्यास हो जाता है कि प्रतीति समकाल ही उसका बाध कर देता है। प्रतीति होकर उसका बाध नहीं, बल्कि प्रतीति समकाल ही बाध होता है। जैसे छोटे बच्चे को सिखाओ कि बाँझ उस औरत को कहते हैं जिसका लड़का नहीं हो सकता। वंध्या

का यह अर्थ पाँच-छह साल के बच्चे को याद करा दिया। उसे इतना ही याद रहा कि किसी तरह की औरत को बाँझ कहते हैं। दो-चार दिन के बाद कोई औरत बच्चे को लेकर आई हो और अपने छोटे बच्चे से कहो कि 'यह इसका लड़का है, तेरा भाई है।' औरत के बारे में पूछो 'बता यह कौन है?' वह कह देता है 'बाँझ है'! चार मिनट बाद होश आता है कि बाँझ वह होती है जिसका लड़का नहीं होता! जानने पर भी अभी तीव्र अभ्यास नहीं हुआ। चार मिनट बाद होश आया। यदि बड़े को यह कहते हो कि 'इस बाँझ का लड़का है' तो श्रवण समकाल ही उसका बाध हो जाता है कि क्या मज़ाक छेड़ रखा है! कई लोग नहीं समझ पाते : एक आदमी बड़ा भोला था, लोग उससे मज़ाक किया करते थे। एक बार उसकी पत्नी पीहर गई हुई थी। पुराने लोग हँसी-मज़ाक में रस लिया करते थे। आजकल लोग झगड़ा करते हैं। एक मज़ाकिया रोते-रोते उसके घर गया कि 'तुम्हारी पत्नी विधवा हो गई, तेरे को शोक मनाने जाना चाहिये।' वह रोते-रोते ससुराल पहुँचा। ससुराल वाले भी उसे रोता देखकर रोने लगे कि कोई मौत हो गई होगी, तभी रोते हुए आया है। थोड़ी देर बाद किसी ने कहा कि पूछो तो सही कि कौन मर गया। तब उसने कहा 'बड़ा बुरा हुआ, मेरी अपनी ही पत्नी विधवा हो गई, अब भगवान् ने मुझे क्यों रखा है!' सबके कान खड़े हुए! पत्नी जानती थी कि यह भोला- भाला है। कहा 'तुम्हारी पत्नी मैं हूँ।' कहने लगा 'मुझे तो बड़े विश्वासी आदमी ने बताया है, तुम लोग उसे जानते ही हो।' पूछा 'तेरे रहते तेरी पत्नी कैसे विधवा हो गई?' उसने कहा 'मेरी माँ विधवा हो गई, बहन विधवा हो गई तो मैंने क्या कर लिया! यह तो प्रारब्ध का भोग है।' जैसे उसे विधवा शब्द का तुरन्त अर्थ-बोध नहीं हुआ। फिर जब समझाया कि 'धव नाम पति का है जैसे माधव लक्ष्मी-पति, ऐसे ही विधवा जो बिना पति के हो और तू बैठा ही है।' तब उसकी बात समझ में आई। ठीक इसी प्रकार प्रतीति के चक्र में साधक को लगता है कि यह सब है। फिर थोड़ी देर बाद याद करता है कि जो होता है, वह तो स्वतंत्र सत्ता से होता है। यह तो मेरे अधीन होकर है। फिर बाध करता है। लेकिन वह बाध किया हुआ प्रतीति काल में फिर नहीं रहता। यह झिलमिल दर्शन है। यह प्रथम स्थिति है।

जब शादी करके लड़का घर आ गया और उसका सेहरा खोलकर रख दिया, फिर उसे अच्छी तरह से देखा। यह दूसरी स्थिति है। अब उस लड़के को तुम बस में भी पहचान लोगे। इसका नाम समीक्षण है अर्थात् सम्यक् (अच्छी प्रकार से) देखना। लेकिन समीक्षण के अन्दर बाध करने पर बाध होता है। होता तो एक-साथ ही है लेकिन प्रतीति के साथ ही उसका बाध चलता रहता है। इसका मोटा दृष्टांत दे देते हैं : आप लोगों के बच्चे जिनको आप सत्संग में नहीं लाते, सिनेमा नाम के एक रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। रोग तरह-तरह के होते हैं। एक झुनझुनिया नाम का रोग होता है जिसमें आदमी नाचने लगता है। ऐसे ही वह रोगी जेठ की दोपहरी में खड़े हुए हैं, पसीने से लथपथ हैं; पूछते हैं कि क्यों खड़े हो? तो कहते हैं कि 'सिनेमा

का टिकट लेना है।' अन्दर सुख मिले या नहीं, लेकिन बाहर तो दो घण्टे परेशान हो गये, क्या सुख मिलेगा! लेकिन वह तो रोग है, रोग में सुख थोड़े ही मिलता है। जब वह सिनेमा में जाकर बैठा हुआ है, देख भी रहा है, तब भी उसकी बाध की वृत्ति नहीं जाती है। मन में निश्चय जानता है कि यहाँ जो कुछ दीख रहा है, वह नहीं है। इसलिये आग जलती देखकर भागता नहीं, पानी बरसते देख छाता भी नहीं लेता। देखते काल में ही उसका बाध है। ऐसा नहीं कि पहले सोचता हो कि छाता लगाऊँ, फिर कहे कि जाने दो, क्या करूँगा। इस दूसरी स्थिति के अन्दर साधक प्रतीति काल में बाध जानता भी है। फिर भी देखने का शौक नहीं छोड़ पाता। जैसे वहाँ रोगग्रस्त हुआ वैसे ही यहाँ अभी प्रारब्धरूपी रोग से ग्रस्त है, इसलिये देखता है। बाध मानते हुए भी वहाँ पहुँचता है और देखने के बाद कहता भी है कि 'फालतू पैसा बरबाद हुआ, आजकल बाइस्कोप अच्छे आते ही नहीं है।' यह समीक्षण हुआ।

अब प्रसमीक्षण आता है जिसमें उसको सिवाय ब्रह्म के और किसी चीज़ की प्रतीति भी नहीं है। अब बाध नहीं अर्थात् नाम-रूप को हटाकर ब्रह्म देखता हो, ऐसा नहीं, उसको तो नित्य निरंतर ब्रह्म की ही प्रतीति है। जिसको तुम लोग उसकी क्रिया या उसका चलना-फिरना देखते हो वह सब-का-सब उसके लिये ब्रह्म से भिन्न नहीं है। दूसरे उसमें क्रिया देखते हैं, लेकिन उसके अन्दर सारी कलनायें शांत होती हैं।

उसे ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र इत्यादि देव और असुर जो भी हैं, ये सारे-के-सारे एक-दूसरे का रूप बदलते हुए दीखते हैं। इस कल्प में जो ब्रह्मा, वह अगले में विष्णु, जो इस कल्प में विष्णु वही अगले में यम है। लेकिन इन सारे-के-सारे देव और असुरों को वह ऐसा देखता है जैसे हवा चलने से मच्छर इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं। एक बार हम उठकर अपने कमरे में गये और पंखे का बटन दबाया। इससे पहले कमरा बढ़ा शान्त था, हवा चलते ही मच्छर घूं-घूं कर उड़ने लगे, उन्हें हवा पसन्द नहीं आयी। ठीक इस प्रकार से अब वह इनके अन्दर किन चीज़ों का बाध करे! उसकी दृष्टि में तो यह सारा ब्रह्माण्ड एक अखण्ड ब्रह्मशिला की तरह प्रतीत होता है, मानो एक ब्रह्म शिला पर किसी ने सुन्दर शृंगार कर रखा हो। लेकिन शृंगार भी कैसा है? वह देखना हो तो प्रातःकाल उठकर हमारे लक्ष्मी-नारायण का दर्शन करने आना पड़ेगा। एकादशी, पूर्णिमा आदि के दिन उनका वस्त्र परिवर्तन करना होता है। जब उन्हें अनावृत देखोगे तो पता लगेगा कि अन्दर भी एक वस्त्र पहने हुए हैं, लेकिन वह वस्त्र 'दिल्ली क्लाथ मिल' का बना नहीं है बल्कि पत्थर का ही है। उस मूर्ति के अन्दर ही एक प्रकार का रंग और उसके अन्दर ऊँचा-नीचा बनाया हुआ है जो वस्त्र की तरह दीख रहा है। वह वस्त्र मूर्ति से अभिन्न है। ऐसे ही ब्रह्मशिला के ऊपर एक ब्रह्मा का शृंगार है। 'रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि तारोत्करास्तरलमण्डलकान्तिहाराः।।' शास्त्रकार कहते हैं कि सूर्य उस ब्रह्मशिला पर एक रत्न चमक रहा है और निशाकर दूसरा रत्न है। बड़े घर की औरतें मोती की माला में एक हीरा लगा लेती हैं। ऐसे ही ब्रह्म-शिला पर सूर्य रूपी रत्न मोतियों के भीतर हीरे की तरह चमक रहा है।

यह तुम्हारा रूप है। ऊपर से जो जीव-भाव का वस्त्र पहन रखा है, इसमें क्या आनंद है? तुम तो एक ही सूर्य देखते रहते हो लेकिन यदि किसी ज्योतिर्वेत्ता से पूछोगे तो बतायेगा की संसार में अनंत सूर्य हैं। द्वादश सूर्यों को तो हम देव मानकर उनकी पूजा करते हैं। ऐसे ही चन्द्रमा भी अनेक हैं, एक-एक ग्रह के पीछे कई चन्द्रमा हैं। हार में पीछे एक लम्बा धागा होता है, जिससे कसते हैं और ढीला करते हैं, उसके ऊपर भी बड़े आदमी सोने का गोल करके लगा देते हैं। हम लोग और कुछ नहीं तो रुद्राक्ष की माला में खोटी ज़री ही बाँध देते हैं। वैसे ही यहाँ जितने तारे दीख रहे हैं, ये सारे उसके स्थान पर गुँथे हुए हैं, उनकी कान्ति अत्यंत प्रकाशित हो रही है।

'स्वच्छाम्बराणि वलितानि महाम्बराणि' यह जो तुमको बड़ा लम्बा-चौड़ा आकाश दीखता है, यही तो उनका अम्बर है। अम्बर के दो अर्थ होते हैं वस्त्र और आकाश। असली वस्त्र तो आकाश ही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो बताया ही यह है 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' जब तुम इस समग्र आकाश अम्बर को अपने ऊपर लपेट लोगे तभी अपनी व्यापकता का ज्ञान किये बिना दुःख का अंत होगा। साधारण लोग आकाश को सबसे बड़ी चीज़ समझते हैं, वह आकाश तो बेचारा तुम्हारे लिये केवल कपड़े का काम करता है। वह आकाश दो प्रकार का है, कहीं वह उपाधि के कारण छोटा-सा और कहीं बड़ा-सा लगता है। कपड़ा बनाने के लिये उसे ऊपर-नीचे करना पड़ता है, कहीं पटली (चुन्नट) छोटी और कहीं बड़ी करनी पड़ती है। स्वच्छ निर्धूम आकाश ही वस्त्र है और वही कहीं छोटी और कहीं बड़ी पटली बना हुआ है। ऐसा जो मैं हूँ, उस मेरे सामने मशाल की तरह कोई बिजली चमका देता है। यह जो सृष्टि के आदि से लेकर सृष्टि के अन्त तक सारा जगत् प्रपंच है वह सारा एक छोटी-सी अलात-रेखा है। साधारण आदमियों को ज़रा लम्बा लगता है, लेकिन है वह बिजली का एक पलकारा ही। जैसे स्वप्न के अन्दर लड़का पैदा होकर बड़ा होकर बुड्ढा होकर मर जाता है; उठकर घड़ी देखो तो एक मिनट हुआ, उसी में वह सारा स्वप्न देख गये। ऐसे ही जिस समय अपने स्वरूप को देखता है, उस समय यह सब एक अलात-रेखा लगती है। न जाने इसके अन्दर बद्ध हुआ जीव कैसी-कैसी कठिनाइयों को देखकर समझता है कि ये भयानक चीज़ें हैं, कहीं एक अणुबम गिर गया, इससे परेशान हैं। कहीं दस-पच्चीस हज़ार गज जमीन जीत ली तो कहता है न जाने क्या कर लिया! घमण्ड हो जाता है, और भी न जाने क्या-क्या चीज़ें आ जाती हैं। अपने को राम कृष्ण समझने लग जाता है। लेकिन विचारशील देखता है कि इस अनंतकोटि ब्रह्माण्ड में यह केवल बच्चे का तमाशा है। जब ठीक प्रकार से इसका बोध हो जाता है तो फिर मनुष्य के मन से इस सुधा का अंत होकर प्रसमीक्षण होता है। अब उसको बाध नहीं करना पड़ता है, क्योंकि अब उसे ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता। जो अब तक अपने को केवल एक देह में समझ रहा था, अब वह एक (अकेला) ही रह जाता है और अब उसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं रह जाता, वह वीतशोक हो जाता है, शोक से परे हो जाता है। यह सुधारूपी जो निवृत्ति है, उससे जब परे पहुँचता है तब सिन्धुमध्य में चिदानंदलहरी का अनुभव करता है।

## प्रवचन-६

२२-३-७२

भगवती का स्वरूप बताते हुए उसको चिद्रूपी, आनदरूपी लहरी बताया। इस चिदानंदलहरी का अनुभव कहाँ होता है और कैसे होता है  इसको बताने के लिये उसका स्थान बताया 'सुधासिन्धोर्मध्ये।' सुधा का प्रथम अर्थ बताया, जिसके द्वारा बिम्ब के ऊपर आये हुए मैल को हटा दिया जाता है। मल-निवृत्ति का उपाय सुधा से बताया। सुधा का दूसरा अर्थ चन्द्रमा होता है। शरीर (व्यष्टि) में मन और समष्टि में चन्द्रमा दोनों एक ही हैं क्योंकि श्रुति 'चन्द्रमा मनसो जातः' कहती है। समष्टि के मन की चन्द्रमा के साथ एकता बताई। इसीलिये मानसिक शुद्धि के लिये जो कर्म किये जाते हैं उनमें हम लोग चन्द्र की तिथि को प्रधान मानते हैं। आत्मा की शुद्धि के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसमें सूर्य को प्रधान मानते हैं क्योंकि 'सूर्य आत्मा जगतः' सारे जगत् की आत्मा सूर्य है और मन चन्द्रमा है। इस प्रकार के कई व्रत आदि होते हैं जिसमें तिथि प्रधान होती है और कइयों में सूर्य प्रधान होता है। जैसे संक्रान्ति सूर्य को लेकर है। संसार में दूसरे मत-मतांतरों में ईसाई लोग सूर्य-प्रधान हैं, वे सूर्य को ही मानते हैं। उनके जितने भी व्रत, त्यौहार आदि हैं, सभी सूर्य को निमित्त बनाकर हैं। इसीलिये उनके त्यौहारों के साथ हमारे सूर्य-निमित्तक त्यौहार मिलते रहते हैं। कई बार आदमी प्रश्न करता है कि मकर संक्रान्ति (माघी), मेष संक्रान्ति (वैशाख़ी) एक ही तारीख को कैसे आती हैं? उनके यहाँ सूर्य स्वीकृत किया गया इसीलिये सूर्य वाले व्रत और त्यौहार उनके साथ मिल जाते हैं। मुसलमानों में चन्द्र को प्रधान माना इसलिये हमारे जो त्यौहार मन को निमित्त बनाकर हैं, वे मुसलमानों से मिल जाते हैं, ईद और चन्द्रदर्शन एक ही दिन पड़ते हैं। ईद हमेशा दूज को ही पड़ेगी। हमारे यहाँ काल को नापने वाले सूर्य, चन्द, नक्षत्र, बृहस्पति कई माने गये हैं। कई बार लोग कहते हैं कि हमारे त्यौहारों में बड़ी कठिनाई होती है। विचार करो कि जिस डाक्टर के पास केवल सात दवाइयाँ हों, उससे उनकी कैसे तुलना होगी जिनके पास प्रत्येक विकार के लिये पचासों औषधियाँ हैं? यह हम कल्पना से नहीं कह रहे हैं, बायोकैमिक सिस्टम ऑफ मैडिसिन में सात ही दवाइयाँ होती हैं, अब थोड़े दिनों से बढ़ाकर बारह कर दी हैं। जो भी रोग हो, उस चिकित्सक ने उन सात में से ही दवाई देनी है। कल कोई कहे कि 'आपने इतनी लम्बी चौड़ी दवाइयों की विभिन्नता फालतू बना रखी है, यह बड़ा सरल सिस्टम है, सात से ही काम हो जाता है।' चरक कहते हैं कि हमारे पास एक दवाई वाला नुस्खा भी है। 'मृत्युंजय महादेव वृषभध्वज कीर्तनात् नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।' मृत्युंजय, महादेव, वृषभध्वज नाम लेने से सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये एक ही काफी है। लेकिन सात या बारह दवाई वाला प्रयोग वस्तुतः वैज्ञानिक नहीं है। ठीक इसी प्रकार से दूसरे मत-मतांतरों में किसी ने एक सूर्य को माना,

किसी ने एक चन्द्र को माना। हम लोग सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बृहस्पति इत्यादि सबका हिसाब रखते हैं। हमारा कठिन इसलिये है कि हम समग्र प्रकृति से संवत्सर को व्यवस्थित करते हैं तथा किस त्यौहार में सूर्यादि में से कौन प्रधान है इसका निर्धारण करते हैं। सब चीज़ों का विचार नहीं करोगे तो वह व्यवस्था पूर्ण नहीं होगी। सूर्य और चन्द्रमा ही आत्मा और मन हैं।

सुधा चन्द्र की किरणों को कहते हैं। जैसे चूना बिलकुल सफेदी करता है, ऐसे ही किसी भी मकान के ऊपर जब चन्द्र की किरणें पड़ती हैं तो उस मकान को अत्यंत स्वच्छ बना देती हैं। बहुत से लोग शरत् पूर्णिमा के दिन ताजमहल देखने जाते हैं क्योंकि उस दिन के चन्द्रमा की स्वच्छ किरणें उसके अन्दर एक अद्भुत सौन्दर्य का आपादन करती हैं। जैसे चूने से मकान स्वच्छ प्रतीत होने लगता है, ऐसे ही चन्द्र-किरणों के द्वारा स्नात सौध भी सौन्दर्य की अनुपमता को प्राप्त कर लेता है। मन रूपी सिन्धु के बीच में ही चिदानंदलहरी प्राप्त होती है। इसलिये कहा 'सुधासिन्धोर्मध्ये।' मन ही मनुष्य को मोक्ष देता है और मन ही मनुष्य का बन्धन करता है; यह याद रखना कि आत्मा का न बन्धन है और न मोक्ष है। जब कहते हैं कि आत्मा नित्यमुक्त है तो कई बार लोग ढीले पड़ जाते हैं कि आत्मा नित्यमुक्त है तो फिर कुछ नहीं करना है! प्रश्न यह है कि आत्मा तो नित्यमुक्त है लेकिन बन्धन मन का है। जैसे अत्यंत गौर वर्ण वाला आदमी हो, सर्दी के मौसम में ठीक प्रकार से रगड़कर न नहाने पर उसके शरीर में जगह-जगह मैल काला होकर उसमें से खून चूने लग जाता है, गाल फट जाते हैं। उस काल में वह कहे कि 'मैं हूँ तो गोरा ही', तो कहोगे कि 'गोरे तो हो लेकिन वह गोरापन तब काम का होगा, जब यह मैल रगड़कर नहाने से निकल जायेगा और तुम्हारा गोरापन प्रकट हो जायेगा, नहीं तो गोरापन लिये बैठे रहो।' उस हालत में लड़की को देखकर लड़का फेल कर देगा कि लड़की अच्छी नहीं है। भगवान् भाष्यकार ईशावास्य के भाष्य में लिखते हैं कि जैसे चन्दन, अगरु इत्यादि अत्यंत सुगन्धित और शुचिभाव से सम्बन्धित पदार्थ हैं, लेकिन चन्दन की लकड़ी जब किसी गीली जगह में रहकर सड़ जाती है तो उसमें से बदबू निकलती है। तुम कहो कि चन्दन तो बड़ा शुद्ध और सुगन्धित पदार्थ है, इसको दुर्गन्धि वाला कैसे मान लें? तो जब तक घिसकर उसका सड़ा हिस्सा नहीं निकाल दोगे और उसकी स्वाभाविक सुगन्धि प्रकट नहीं हो जायेगी, तब तक 'चन्दन स्वभाव से सुगन्धित पदार्थ है', यह कहना काम की चीज़ नहीं है। इसी प्रकार से आत्मा नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभाव है, इसमें कोई संदेह नहीं है, लेकिन मन रूपी गन्दगी के अन्दर जब तक वह विद्यमान है, तब तक उसकी वह शुद्धि मुक्ति और बोध आवृत है।

महर्षि वशिष्ठ लिखते हैं

'चेत्योन्मुखत्वमेवाहुःचेतनस्यास्य चेतनम्।
एष एव तु संसारो बन्धः क्लेशाय भूयसे।'

मन और कोई चीज़ नहीं है, आत्मा के अन्दर चेत्य (दृश्य) की तरफ जो उन्मुखता है, दृश्य की तरफ जो इसकी वृत्ति का जाना है, उसी का नाम मन है। बाहर देखने के लिये इसकी देखना, सूंघना, चखना, उठाना इत्यादि सब प्रवृत्ति हो जाती है। यही वस्तुतः उसका मन रूपी आवरण के द्वारा आवृत हो जाना है, यही संसार है। लोग समझते हैं संसार के बाहर कुछ चीज़ होती होगी जो हमारी गर्दन पर आकर बैठ जाती होगी लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। कहोगे कि क्यों बड़ी सृष्टि-प्रक्रिया बताई जाती है कि क्या-क्या चीज़ उत्पन्न हुई? यह सब केवल तब तक है जब तक तुम उत्पत्ति मानते हो। सामने वाला जब उत्पन्न मानता है तब उसे बताना पड़ता है। जैसे तुमने मान लिया कि 'मैं भारतीय हूँ', तब आगे तुम पूछते हो 'भारत में मैं किन नियमों को मानकर रहूँ?' इसके लिये तुम्हें भारत का संविधान दिखा देते हैं कि ये-ये नियम हैं। यदि तुम यह मानते नहीं कि मैं भारतीय हूँ तो फिर संविधान से तुम्हारा कोई लेन-देन नहीं है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा कि तुम्हारे में किसी मान्यता का आरोप करना शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। जो-जो तुमने मान रखा है, उस-उस को दूर करना शास्त्र का तात्पर्य है। 'मान रखना' ही बन्धन है। जितने तुम्हारे रिश्ते हैं, वे चाहे देश के, घर के, नगर के, मित्रता के रिश्ते हों, जिनके लिये लोग बार-बार कहते हैं कि 'यह कर्त्तव्य कर्म तो करना ही पड़ता है,' बस इसी मान्यता का नाम बन्धन है, और कुछ नहीं है। कुछ बन्धन तुमने दस साल पहले, कुछ बीस साल पहले और कुछ सत्तर साल पहले बनाये। सत्तर साल पहले तुमने बंधन बनाया कि यह मेरी माँ, उसके साल-दो साल के बाद 'यह मेरा बाप' यह बन्धन बनाया। छोटे बच्चे को माँ का बोध पहले होता है, बाप का नहीं, फिर १०,१५,२० साल बाद 'यह मेरी पत्नी', फिर उससे दो-चार साल बाद 'यह मेरा बेटा'। जब तुम यह मानते हो कि यह मेरी माता है, तब शास्त्र कहता है कि ऐसा-ऐसा आचरण करो। आगे महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि एक बार तुमने बन्धन खड़ा कर लिया तो फिर तुम्हारा क्लेश खूब डटकर होगा। जितनी-जितनी तुम्हारी मान्यता बढ़ती जायेगी, उतना-ही-उतना बन्धन विस्तृत होकर क्लेश बढ़ता जायेगा 'बन्धः क्लेशाय भूयसे'। मन के अन्दर संसार की तरफ अधिकाधिक प्रवृत्ति है।

मन कोई दूसरी चीज़ नहीं है। चेत्य (दृश्य) की तरफ जाना तुम्हारी शक्ति ही है

'स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते।
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम्।।'

महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि यह जो तुम्हारी मनोमयी शक्ति है, यह स्पन्द-शक्ति है। स्पन्द मायने हिलना अर्थात् चेत्य की तरफ हिलना। स्पन्द का मतलब होता है अपने स्थान को बिना छोड़े हुए दूसरे स्थान को चले जाना। गति दो तरह की होती है : एक तो अपने स्थान से उठ कर दरवाज़े पर चले गये, और दूसरे, बैठे-ही-बैठे कभी सिर नीचे और कभी ऊपर कर लिया। सर्वथा

उठकर वहाँ चले गये तो यह एक गति हुई और वहीं बैठे-बैठे हिलते रहे, यह स्पन्द हुआ। यह आत्मा कहीं भी हिलकर नहीं जाता। वहीं बैठा-बैठा, एक ही स्थल पर स्थिर हुआ अनंतकोटि ब्रह्माण्डों तक पहुँच जाता है। पर जाता कहीं भी नहीं है। आजकल के लोग व्यायाम नहीं करते, इसलिये लोगों ने ऐसी जगहें बनवाई हैं जहाँ पाँच-पाँच रुपये घण्टा लेकर व्यायाम करवाते हैं। वहाँ उन्होंने एक साइकिल बना रखी है और उसे एक डण्डे पर खड़ा कर रखा है। उस साइकिल पर बैठकर पैडल मारो और पन्द्रह मिनट तक पैर चलाते जाओ तो व्यायाम हो गया। वह साइकिल कहीं जाती नहीं है। इसमें भी होगा कुछ विज्ञान, जो हमारी समझ में तो नहीं आया। यदि पंद्रह मिनट साइकिल ही चलानी है तो घर से ऑफिस तक साइकिल से चले जाया करो, पैट्रोल का पैसा बच जायेगा और व्यायाम भी हो जायेगा। लेकिन वहाँ कुछ विशेषता होगी, हमें पता नहीं। वह साइकिल चलाना स्पन्द शक्ति हो गया, क्योंकि पंद्रह मिनट तक चले, पर कहीं पहुँचे नहीं। इसी प्रकार अपने स्थान का परित्याग किये बिना ही आत्मा चेत्य का विचार करते हुए अनंतकोटि ब्रह्माण्डों में पहुँच जाता है, इसीलिये उसे स्पन्द कहा। यदि अपने घर से दुकान तक तुम साइकिल चलाकर पहुँच गये और तुरंत कोई घर का काम आ पड़ा, याद आ गया कि ताला बन्द करना भूल गये, कहीं चोर माल न ले जायें, इसलिये वापिस जाना पड़ेगा। वापिस जाने में फिर पंद्रह मिनट लगेंगे, बहुत तेज़ चलाओगे तो पंद्रह की जगह बारह मिनट में पहुँच जाओगे। लेकिन यदि खड़े हुए ही साइकिल चला रहे हो और याद आया कि 'नीचे चाबी का गुच्छा पड़ा है इसे उठा लें'। दस मिनट से साइकिल चला रहे हो तो उसे उठाने में दस मिनट नहीं लगेंगे, क्योंकि कहीं नहीं गये हो। इसी प्रकार यदि गति होकर, अपने स्थान को छोड़कर हमने कुछ चेत्य-प्राप्ति की होती, किसी दृश्य में पहुँचे होते, तो फिर कुछ समय लगाकर धीरे-धीरे वापिस आते। यहाँ तो वहीं पर बैठे-बैठे स्पन्द कर रहे हो। इसलिये जैसे ही मन में विचार किया कि 'अरे! अब चेत्य की तरफ जाना छोड़ो', उसी क्षण छूट जाओगे। लोग इसमें भी समय चाहते हैं, कहते हैं  धीरे-धीरे होगा। इसमें धीरे-धीरे कुछ नहीं होना है। यदि कहीं गये होते तो धीरे-धीरे होता। यहाँ से यदि हरद्वार में जाकर ब्रह्मकुण्ड में गोता लगा रहे हो तो वापिस दिल्ली आने में तुम्हें घण्टा-दो घण्टा लगेंगे। लेकिन यदि बिस्तर में लेटे हुए ही स्वप्न में हरद्वार का ब्रह्मकुण्ड बनाकर गोता लगा रहे हो तो जैसे ही जागोगे, क्या यह कहोगे कि 'अभी हरद्वार में हूँ, आधे घण्टे बाद आऊँगा'? ऐसा कुछ नहीं, क्योंकि उसी समय यहीं हो। इसी प्रकार यदि मन आत्मा को छोड़कर किसी अन्य स्वरूप से कहीं जाकर बन्धन का कारण बना होता तो देरी लगती। यहाँ देरी कुछ नहीं है। इसीलिये कहा कि चिदाकाश ही शिव है।

इसी को भैरव कहते हैं, रव शोर को कहते हैं और भयंकर शोर को भैरव कहते हैं। मन हल्ला-गुल्ला बहुत मचाता है, न जाने कैसे-कैसे नामों की कल्पना यह मन कर लेता है! लेकिन वहाँ कुछ है नहीं, केवल हल्ला ही हल्ला है। इसने अपने आप ही हल्ला मचाकर न जाने कितना

बड़ा संसार बना लिया, उस संसार को निवृत्त करने के लिये न जाने कितने साधनों के जाल बना लिये। संसार के सारे पदार्थ बनाकर उनकी प्राप्ति के साधन भी बना लिये, फिर उन पदार्थों को नष्ट करने के साधन भी बना लिये। लेकिन जब विचार-दृष्टि से देखते हो तब यह सारा व्यर्थ का हल्ला है, शेखचिल्ली के हल्ले जैसा है। यह सारा जगत् गन्धर्व-नगर की तरह है। कभी बैठकर बादलों को देखों तो उसमें मकान, फैक्ट्री आदमी नज़र आते हैं। आजकल तो मनोवैज्ञानिकों ने किसी भी मनुष्य के मन के विश्लेषण का एक तरीका निकाला है : एक कागज़ पर स्याही के कुछ ऊटपटांग दाग डाल देते हैं। फिर उन दागों को दिखाकर प्रत्येक व्यक्ति से कहते हैं कि इसको देखकर बताओ कि क्या दीख रहा है? किसी को वहाँ पर एक लड़का और लड़की नाचते हुए दीखे, किसी को उसके अन्दर फैक्ट्री की चिमनी दीखी। किसी को उसके अन्दर दो मुर्गे दिखाई देते हैं। अंग्रेजी में इसे 'रोशार्स टेस्ट' कहते हैं। जब बाँचते हो तो बड़ा आश्चर्य होता है कि इसमें यह सब इनको कहाँ से दीखा! आश्चर्य इसलिये होता है कि अपने को सबसे भिन्न कुछ और ही दीखता है। उन्होंने जो-जो कहा, वह सब झूठा लगता है और अपने को कुछ और ही दीखता है। विचार की दृष्टि से वहाँ कुछ नहीं है। स्याही को ऊटपटांग मार दिया, उसके सिवाय वहाँ कुछ नहीं। इसी का नाम गंधर्वनगराकार होना है। इस जगत् के अन्दर जितने व्यक्ति हैं, उनसे पूछो तो सबको यह जगत् भिन्न-भिन्न प्रकार का दीखता है और हरेक यह सोचता है कि 'मुझे जो दीख रहा है, यह ठीक है और बाकी के सारे ग़लत हैं।' वहाँ है कुछ नहीं। सब हल्ला मचाते हैं कि मेरा दर्शन ठीक है।

भगवान् गौडपाद कहते हैं कि उन सबके हल्ले को सुनकर मौज लेनी चाहिये 'तेषाम् उभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते' उनमें से कोई एक पक्ष ठीक हो तो उसके लिये आग्रह किया जाये। सारे के सारे पक्ष एक जैसे कल्पित हैं। दूसरे दार्शनिक तो झगड़ा करते हैं कि अमुक काम कैसे हुआ। कोई कहता है आकाश से वायु उत्पन्न हुआ, कोई कहता है आकाश और वायु दोनों नित्य हैं; अब दोनों आपस में झगड़ा कर रहे हैं। वेदांती की दृष्टि यह है कि आकाश में वायु उत्पन्न होने की तुम्हारी मान्यता भी झूठी और आकाश और वायु उत्पन्न नहीं हुए, वह मानना भी झूठा है। यदि वहाँ कोई चित्र बनाया गया होता तब तो दूसरे से चित्रकार कहता 'मैंने तो यह बनाया है, तुझे कुछ और कैसे दीखा?' लेकिन उसने तो कुछ बनाया ही नहीं, केवल स्याही को लेकर छिड़क दिया। बहुत से लोग पूछते हैं कि हमको तो यह दीखा, लेकिन सचमुच यहाँ क्या है? परीक्षा करने वाला हँसता है कि यहाँ कुछ नहीं है! कहते हैं कि कुछ तो बनाया होगा। ऐसे ही लोग बार-बार ईश्वर और वेद का अध्ययन करते हैं, तो पूछते हैं 'सचमुच ईश्वर ने यह दुनिया किस प्रयोजन से बनाई होगी? सच्ची बात बताओ कि क्यों बनाया? कुछ प्रयोजन अवश्य होगा।' वेद ने कहा उसने कुछ नहीं बनाया उसने तो स्याही के दाग छिड़क दिये; बनाया तुमने है। सारे आपस के झगड़े 'भैरव', निनादमात्र, शब्दमात्र हैं, और कुछ नहीं है।

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं' सामवेद का छांदोग्य ब्राह्मण बताता है कि ये सब केवल शब्द ही हैं और कुछ नहीं है। न वहाँ दो मुर्गे, न लड़का-लड़की और न फैक्ट्री की चिमनी है, वे केवल शब्द ही हैं। सत्य तो केवल सन्मात्र, चिन्मात्र ही है, और कुछ नहीं है।

इसीलिये परमार्थ को शिव कहते हैं, उसमें कल्याण ही है। यदि उसने कुछ भी किया होता तो एक के प्रति कल्याण और दूसरे के प्रति अकल्याण अवश्यंभावी होता। यदि हम कहते हैं कि 'गरीब को दो' तो बड़े आदमी अपना हृदय टटोल कर कहते हैं कि हमारा अकल्याण बता रहे हो। यदि गरीब को कहते हैं कि 'तू ही संतोष कर ले' तो वह कहता है कि हमारा अकल्याण कर रहे हैं। यदि पाकिस्तान से कहें कि 'तू ही कश्मीर को जाने दे', तो वह कहता है कि हमारा अकल्याण करने वाले हैं। अगर हिन्दुस्तान से कहो कि 'तू ही संतोष कर ले', तो कहेगा कि हमारा अकल्याण कर रहे हैं। यदि ब्राह्मण से कहें कि 'जाने दो, आजकल हरिजनों को मन की कर लेने दो', तो कहते हैं कि हमारा अकल्याण करते हैं। हरिजनों से कहें कि 'काहे को राक्षसबुद्धि बनाकर ब्राह्मण को परेशान करते हो?' तो कहते हैं कि हमारा अकल्याण करते हैं। यदि ईश्वर ने सृष्टि बनाई होती तो वह शिव नहीं रह जाता, क्योंकि उसमें किसी को कल्याण और किसी को अकल्याण नज़र आता। इसलिये उसने कुछ नहीं बनाया, उसने तो केवल चेत्य की तरफ प्रवृत्तिमात्र की। चेत्य (दृश्य) की तरफ गये तो वहाँ मन से न जाने क्या-क्या बनाने लग गये।

'अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम्।' उसने कुछ नहीं बनाया, केवल दृश्य की तरफ जाना मात्र शक्ति रूप में प्रकट कर दिया। जैसे वहाँ कागज़ पर स्याही नहीं छोड़ी होती तो कुछ नहीं दीखता इसी प्रकार से यदि चेत्य की तरफ जाने की तुम्हारी शक्ति न होती तो कुछ नहीं दीखता। उसने तो इतना ही किया। यह शक्ति भी उससे अनन्य है। उसकी स्पन्द शक्ति उससे अन्य कुछ नहीं है। चूंकि अनन्य है, इसलिये उस शक्ति का लोप तो होना नहीं है। लोप नहीं होगा तो चेत्योन्मुखता आयेगी और गड़बड़ी कर जाओगे। इस गड़बड़ी को किस तरह बचाया जाये? भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक वार्तिक में लिखते हैं कि उधर जाना तो नहीं रुकेगा लेकिन कई काम ऐसे होते हैं जो युक्ति से करो तो काम भी हो जाये और झंझट भी न हो। बस, इसी चीज़ को समझना है। 'यस्मिन्नेव परासक्तिः तस्मिन्नेव निरादरः' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यही एक छोटी-सी युक्ति है, इसे काम में लो तो तुम्हारा काम बन जायेगा। सुधा-सिन्धु तो इतना ही है, लेकिन मन के अन्दर जिस विषय में तुम्हारी परम आसक्ति है, जिन विषयों में तुम्हें आसक्ति की प्रतीति होती है, उन्हीं चीज़ों के प्रति आदर-रहित हो जाओ। मोटी भाषा में, यदि रसगुल्ला खाने की इच्छा है क्योंकि बहुत अच्छा लगता है, तो चने ही चबाओ पर रसगुल्ले को हमेशा पास रखकर दूसरे को देते रहो। यदि धन की बड़ी इच्छा

है, धन में आसक्ति है तो धन दूसरों को देते रहो, अपने काम में मत लो। जो साड़ी अपने को सबसे बढ़िया बाज़ार में लगे, वह खरीदकर पण्डितानी को दो जो रोज़ घर में आती हो। हर बार उसे देखकर मन में हो कि यह मेरी पसन्द की बढ़िया साड़ी है। क्या यह कर सकते हो? यह उसकी चेत्योन्मुखता को रोकने का सबसे बढ़िया तरीका है। एक बार एक आदमी हमसे आकर कहने लगा 'मेरी पत्नी की आदत ऐसी है कि जो बात कहूँगा, उसका उल्टा ज़रूर कहेगी। मैं कहूँ कि इस पार्टी में जाना है तो कहेगी कि क्या करना है जाकर। अब मैं क्या करूँ, क्या उपाय है?' हमने कहा एक ही उपाय है कि जो बोलना है, पहले ही उससे उल्टा बोला करो। अगर कहीं जाना है तो पहले ही कहो कि वहाँ नहीं जाना है। वह उल्टा बोलेगी कि जाना है तो चले जाना। तुमको पता है कि तुम्हारा मन स्पन्द करके किस चेत्य की तरफ जाता है। मन से कहो कि 'मुझे तो पता है कि तू कहाँ जाना चाहता है, बहुत अच्छा है।' इसलिये उससे उल्टा काम करना है कि वहाँ न ले जाओ। थोड़े दिन बाद मनीराम सुल्टे हो जायेंगे। जैसे जब पत्नी को पता लग जायेगा कि यह तो पहले ही उल्टा बोलते हैं तो समझ लेगी कि मेरी विद्या इसके ऊपर काम करने वाली नहीं है, क्योंकि यह दुःखी नहीं होगा, यह तो अपने मन का ही काम कर लेता है। फिर वह उल्टा बोलना छोड़ देगी। इसी प्रकार जब चित्त को पता लग जायेगा कि यह मेरे अनुसार करने वाला नहीं है तो वह अपनी उलटबाजी छोड़ देगा। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने एक बड़ा सरल नुस्खा बताया, इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

अब इसका मोटा रूप बताते हैं 'कर्म कृत्वा परं यत्नाद् अन्यस्यार्थयते फलम्' किसी काम को खूब यत्न से करो, उसमें कोई ढील न हो; पूरा परिश्रम करो और जिस समय फल उत्पन्न हो, उसी समय फल दूसरे को दे दो। हम कई बार कहते हैं कि सरकार यही तो अच्छी बात तुम्हें सिखा रही है। खूब डटकर व्यापार करो, पाँच लाख का फ़ायदा करो और फिर तीन हज़ार रुपया उधार लेकर पाँच लाख तीन हज़ार सरकार को भेंट कर दो! सरकार कितनी सुन्दर निष्काम-कर्म की शिक्षा तुम्हें दे रही है। तुम नहीं मानते हो, कहते हो कि ईमानदारी से कुछ बचता नहीं है। भगवान् भी यही कहते हैं। फ़र्क यह है कि भगवान् को 'देकर' भी तुम्हारे नाम का चैक चलता है, इसलिये कह देते हो 'कृष्णार्पणमस्तु।' कई बार लोग कहते हैं 'यह आपका ही लड़का है, आपके अर्पण है'। हम सोचते हैं कि अर्पण की परीक्षा करके तो देखें। एक-आध बार हमने कहा कि अर्पण है तो यहीं छोड़ जाओ; तो दूसरी बार लड़के का मुँह नहीं देखा! हम समझ गये कि अर्पण इसीलिये है कि हम लेते नहीं हैं। सरकार को दे दो तो आगे तुम्हारा चैक नहीं चलता, क्योंकि ईमानदारी से देना पड़ेगा जिससे वह उनका हो जाता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि कर्म पूरे यत्न के साथ करो। आजकल बहुत से लोग कहते हैं कि टैक्स ही देना है तो काम करके क्या करेंगे? यह यत्न नहीं हुआ। इसी प्रकार जब किसी कर्म को ईश्वरार्पण-बुद्धि से करना

हो तो यत्न नहीं करते। मनुष्य कहता है, निष्काम कर्म के नाम पर जैसा हो वैसा चल जाये। यदि व्यापार में मन्दी होती है तो सकाम कर्म करने के लिये क्या करें? हम कहते हैं श्रीसूक्त का जप शुरू करो। बार-बार पूछेंगे 'और कोई सामग्री, किस दिन शुरू करें, कितने बजे शुरू करें? पण्डित अच्छा होना चाहिये। हम खुद बैठें या नहीं?' जब कहते हैं कि नवरात्री का समय है, भगवद्-अर्पण बुद्धि से करो, तब कहते हैं कि 'अगर सामान कम होगा तो क्या कोई हर्जा है? कोई ज़रूरी है कि सारे जौ बीने जायें? महाराज! विद्यार्थियों को ले लीजिये, पण्डित बहुत रुपये माँगते है।' फ़र्क यह है कि एक में फल ईश्वर को अर्पण करना है और दूसरे में नहीं करना है। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा कि परम यत्न के साथ कर्म करना चाहिये।

दक्षिण भारत में रमण महर्षि एक बड़े अच्छे महापुरुष थे। एक बार किसी ने उनसे प्रश्न किया कि निष्काम कर्म का मतलब क्या होता है? उनकी आदत थी कि उनकी मर्जी हो तो जवाब दें, नहीं तो नहीं दें। उन्होंने इस प्रश्न का जवाब नहीं दिया। शाम के समय सब लोग घूमने गये। रास्ते में एक जगह पर वज्रदन्ती की झाड़ी दिखाई पड़ी। जिसमें छोटे-छोटे काँटे सारी लकड़ी में होते हैं। वह बहुत बढ़िया लकड़ी होती है, उसकी दातुन भी अच्छी बनती है। रमण महर्षि ने उसे देखा तो चाकू माँगकर उसे काटा और उसके काँटे छीलने लगे। सब कहने लगे 'गुरुजी! हम छील दें।' उन्होंने किसी की नहीं सुनी, अपने हाथ से ही छीलते रहे। उसे साफ करने में उन्हें घण्टा-डेढ़ घण्टा लगा और हाथ में लेकर चल दिये। थोड़ी दूर गये तो उधर से एक गड़रिया आ रहा था और उसका लड़का रो रहा था। पूछा तो उसने कहा 'क्या करूँ गाय हाँकने की लकड़ी पहाड़ के नीचे गिर गई, घर जाऊँगा तो माँ मारेगी।' रमण महर्षि ने वह लकड़ी उसे दे दी और वह लड़का हँसता हुआ चला गया। भक्त सोचते थे कि गुरुजी के हाथ की लकड़ी हम लोगों को मिलेगी। जब वह लड़का चला गया तब प्रश्न पूछने वाले व्यक्ति की तरफ मुँह करके कहा 'इसका नाम निष्काम कर्म है।' यह नहीं कि किसी को देना है तो चाहे जैसे काट-कूटकर काम पूरा करो।

इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि कर्म पूरे प्रयत्न के साथ करो और फल दूसरे को दे दो क्योंकि परमात्मा को अर्पण करना है। परमात्मा मायने क्या? क्या यहाँ से हवाई जहाज में उड़कर वैकुण्ठ लोक में विष्णु भगवान् के पास जाओगे? परमात्मा का अर्थ है : इस सृष्टि में व्यष्टि से भिन्न जहाँ-जहाँ चित् शक्ति का स्फुरण होता है उसमें परमात्म दृष्टि करनी है। बस यही युक्ति है। ईख का रस निकालना है तो युक्ति निकालनी पड़ेगी। उसे पेरना पड़ेगा। वह युक्ति नहीं जानते हो और नारंगी के रस की तरह निकालना चाहो तो नहीं निकाल पाओगे। इसी प्रकार यदि चाहो कि हम जिस प्रकार संसार के पदार्थों की प्राप्ति साधनों से करते हैं, वैसे परमात्मा की प्राप्ति हो, तो कभी नहीं हो सकती। इसी प्रकार से यहाँ जिस-जिस चीज़ के अन्दर आसक्ति है, उस-उस को खूब परिश्रम करके प्राप्त करो और प्राप्त करने पर उसका सर्वथा

निरादर कर दो। जहाँ यह सीधा उपाय तुमने अपनाया, वहाँ चेत्योन्मुखता दूर हो जायेगी, जिसके द्वारा संसार-बंध का बार-बार क्लेश होता है। चेत्योन्मुख न होने पर पूर्व में आसक्ति वाली चीज़ के प्रति अब निरादर वाला मन ही सुधा हो गया। उसी के अन्दर परमार्थ- प्राप्ति और स्थिति हो जाती है। यह किस प्रकार होती है, इसपर आगे विचार करेंगे।

## प्रवचन-७

२३-३-७२

सर्वज्ञ शंकर भगवत्पाद बताते हैं कि भगवती का स्वरूप क्या है। जो चित् वही आनंद और जो आनंद वही लहरी है। चिदानंद स्वरूप के अन्दर घनीभवन और तरलीभवन दोनों एक-साथ ही कल्पित होते हैं। उसके घनीभाव में और उसके तरलीभवन में किसी भी प्रकार का वास्तविक भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति है। यह घनीभाव जब तरल होता है तभी यह सुधा अर्थात् मन की शुद्धि का कारण बनता है, जिसमें तुम्हारी आसक्ति है वहाँ से हटने का हेतु बनता है। घनीभाव जब तक तरल नहीं होता तब तक मन अर्थात् सुधा का सिन्धुरूप में प्रवेश नहीं होता। जो चीज़ जितनी तरल होती है, वह उतनी ही किसी भी जगह सरलता से प्रवेश कर जाती है। जैसे सुराही में यदि पानी भर दो उसमें से पानी रिस कर हल्के-हल्के निकलता है। सुराही में से पानी का रिसना सम्भव है, लेकिन यदि सुराही में बालू भर दो तो उसमें से बालू कभी रिस नहीं सकती। क्योंकि पानी तरल है इसलिये सुराही में भरा तो धीरे-धीरे बाहर आयेगा। थोड़े दिन पहले कोई सज्जन घी का टिन लाकर रख गये। वह टिन रखा रहा। चार-पाँच दिन पहले अकस्मात् देखा कि उसके नीचे घी आ गया है। जब आया था तब ठण्ड दी, घी जमा हुआ था इसलिये बाहर नहीं निकल रहा था। चार-पाँच दिन पहले गर्मी पड़ी तो उस घी के अन्दर तरलता आई, तरलता आने के साथ ही घी प्रवाहित होने लगा, क्योंकि टिन में कहीं छोटा-सा छेद था। जल या घी की अपेक्षा भी वायु अधिक तरल है। इसलिये जहाँ से पानी भी प्रवेश न कर सके, वहाँ से हवा प्रवेश कर जाती है। खिड़कियाँ बन्द कर दो, बरसात बरस रही हो तो पानी अन्दर नहीं आयेगा लेकिन जो हल्की-सी सेंध है उसमें से हवा फिर भी आती रहेगी, क्योंकि हवा पानी की अपेक्षा अधिक तरल है। आधुनिक विज्ञान में प्रत्येक पदार्थ की तरलता नापते हैं, उसके द्वारा भी पदार्थ की परीक्षा करते हैं। उन्होंने पाया है कि हर पदार्थ की तरलता का भी एक नाप है। इसलिये यह कौन-सा पदार्थ है इसका पता लगाना हो तो उसकी तरलता के अंक का पता लगा लेते हैं। वायु की अपेक्षा भी आकाश अधिक तरल है। आकाश इतना अधिक तरल है कि उसको तुम कहीं घुसने से रोक ही नहीं सकते। अन्दर-से-अन्दर अत्यंत छिपी हुई गुफा में जाते हो तो वहाँ भी आकाश मौजूद है, क्योंकि यदि वहाँ अवकाशस्वरूप आकाश नहीं होता तो अन्दर कैसे जाते? अन्दर जाना ही इस बात में प्रमाण है कि वहाँ आकाश है।

जहाँ भी जाओगे वहाँ आकाश को रोकना सम्भव नहीं है और हवा को रोकना भी बड़ा कठिन है। थोड़े दिन पहले कहीं इस बात पर विचार कर रहे थे कि कमरे में नमी की हवा न आये। नमी (Humidity) न आये इसकी तैयारी करना बड़ा कठिन होता है क्योंकि हवा के साथ ही नमी आ जाती है। कितना भी प्रयत्न करो, फिर भी कुछ-न-कुछ अवश्य आ जाती है।

इंजीनियर ने बताया कि चारों तरफ से वायु का प्रवेश रोकने के लिए पाँच लाख रुपये लग जायेंगे क्योंकि वायु को रोकना बड़ा कठिन है। आप लोगों में से किसी-किसी के मकान में वातानुकूलक यंत्र लगा होगा। उसमें भी कमरे में चारों तरफ वायु का प्रवेश बन्द करते हैं। यद्यपि वह पक्का बंद नहीं होता है, फिर भी उसमें काफी खर्चा लग जाता है। पानी को रोकने के लिये इतना खर्चा नहीं होता। पानी के बहाव को रोकना सरल है लेकिन नमी को रोकना सरल नहीं है क्योंकि नमी हवा के साथ आ जाती है। कमरे में पापड़ खीचिये रखे हों तो नमी से खराब हो जाते हैं। पहाड़ पर हवा के साथ नमी आती है। वहाँ हमने किसी से कहा 'एक बार तुम अचार लाई थी, वह बड़ा अच्छा था।' कहने लगी 'अब चातुर्मास के बाद निकालेंगे।' हमने कहा 'ऐसी क्या बात है?' तो उसने बताया कि बर्नी को बन्द करके एक बक्से में रखा है और बक्से को कमरे में बन्द कर दिया है। अब उस कमरे का ताला चातुर्मास तक नहीं खोलेंगे। नमी से चाहे तुरन्त खराबी आये या न आये, लेकिन नमी के कारण चिन्ता बनी रहती है कि कहीं खराबी न आ जाये, इस लिये चारों तरफ से बन्द करते हैं। जल को बंद करने की अपेक्षा वायु को बन्द करना कठिन और वायु की अपेक्षा आकाश को बन्द करना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि आकाश अति तरल (अति सूक्ष्म) है।

आकाश को भी बन्द किया जा सकता है लेकिन कहाँ पर? स्वप्न में भूताकाश बन्द है। स्वप्न में केवल चित्ताकाश है, बाहर का आकाश (भूताकाश) वहाँ नहीं है क्योंकि स्वप्न में भूताकाश के घुसने की सामर्थ्य नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि भूताकाश की अपेक्षा चित्ताकाश और अधिक तरल है। इसे दूसरी तरह देखो कि भूताकाश में चित्ताकाश तो घुसा हुआ है लेकिन स्वप्न के चित्ताकाश में भूताकाश नहीं है। यहाँ 'चित्त' से मन समझना। इसलिये चित्ताकाश भूताकाश की अपेक्षा सूक्ष्म है। अब एक कदम और आगे चलो : सुषुप्ति के अन्दर चित्ताकाश भी नहीं है लेकिन वहाँ चित् है अर्थात् चिदाकाश है। चेतना वहाँ भी है। इसलिये चित्ताकाश में चिदाकाश का प्रवेश है, चिदाकाश में चित्ताकाश का प्रवेश नहीं है। यह समझना पड़ता है कि कहाँ किसका प्रवेश सम्भव है और कहाँ किस का प्रवेश सम्भव नहीं है। चिदाकाश चित्ताकाश की अपेक्षा तरल है। स्वप्न के अन्दर भी चेतन है और सुषुप्ति में भी चेतन है लेकिन सुषुप्ति में चित्त नहीं है, स्वप्न में चित् है। ठीक उस प्रकार से जैसे जाग्रत् में चित्त है, लेकिन स्वप्न में भूताकाश नहीं है। जाग्रत् के भी क्रम को समझ लेना। जहाँ वायु नहीं है, वहाँ भी आकाश है लेकिन जहाँ वायु है वहाँ आकाश अवश्य है। पहले बताया था कि इस सुधा अर्थात् मन के अन्दर हम अत्यंत आसक्ति के पदार्थों में निरादर तब ला सकते हैं जब मन में परमात्मा प्रविष्ट हो जाये। जो परमात्मा विज्ञानघन आनंदघन है वह तो प्रवेश कर नहीं सकेगा। इसलिये तरल भाव प्रवेश करेगा। 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना'। उस ब्रह्म के तरलभाव को करने वाला स्वयं ब्रह्म ही है। परमात्मा के इस तरलीभवन का नाम ही 'अवतार' है। इसीलिये वह

तरलभाव को प्राप्त करता है, ताकि चित्त में जा सके। चित्त में जाने के लिये वह कई प्रयोग करता है : 'धर्ममार्गं चरित्रेण कर्ममार्गं च नामतः।' पहली चीज़ है कि वह जो अपना चरित्र दिखाता है अर्थात् देहादि-संघातों से क्रिया करता है, उसके द्वारा धर्म-मार्ग की प्रतिष्ठा होती है। यह पहली चीज़ इसके अन्दर प्रवेश होने की है। जब वह तरलभाव को प्राप्त होता है तब उसकी लहरी उठती है। जैसी उसकी लहरी उठी, वैसी ही यदि हमारी लहर उठी तो वह धर्म है। यह धर्म का स्वरूप बता दिया। यहाँ धर्म का मतलब शुद्ध धर्म है। शास्त्र में तीन प्रकार का धर्म बताया है १ अशुद्ध धर्म, २ शुद्ध धर्म और ३ मिश्र धर्म। धर्म के विवेचन में धर्म के ये तीन स्वरूप बताये हैं। योगसूत्रों में उसी को शुक्ल कर्म, कृष्ण कर्म और मिश्र कर्म आदि नाम से कहा। कर्म या धर्म एक ही बात है। उसके चरित्र से हमको शुद्ध धर्म का पता लगता है। अशुद्ध धर्म कैसा है? आसक्तिपूर्वक श्रेष्ठ भी की हुई क्रिया वस्तुतः अशुद्ध धर्म है। है तो वह भी धर्म ही, लेकिन अशुद्ध है। अशुद्ध इसलिये है कि अंतःकरण के अन्दर शुद्धि का आपादन करने में असमर्थ है। यही उसकी अशुद्धि है। प्रायः मनुष्य अशुद्ध धर्म तक ही अपने आपको सीमित रखता है। बच्चों के प्रति कर्त्तव्य, माता-पिता के प्रति कर्त्तव्य, घरवाली के प्रति, देश के प्रति कर्त्तव्य आदि सारे-के-सारे अशुद्ध धर्म हैं, क्योंकि आसक्तिपूर्वक होते हैं।

बिना आसक्ति के, बिना मान्यता के इन धर्मों को पकड़ नहीं सकते। भगवान् भाष्यकार जगह-जगह यह प्रश्न उठाते हैं कि जब तक 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसा आग्रह नहीं कर लेगा तब तक यह निर्णय ही नहीं हो सकता कि मैं कौनसा धर्म करूँ। ब्राह्मण ही ब्राह्मण का धर्म करेगा। क्षत्रिय ही क्षत्रिय का और वैश्य ही वैश्य का धर्म करेगा। जितने भी धर्म हैं, वे सब पहले यह मानकर हैं कि मैं क्या हूँ इसका निर्णय कर लो, मान लो। 'मैं कौन हूँ' की जो तुम्हारी पक्की मान्यता है, उसके अनुसार ही कर्म करके तुमको संतोष मिलेगा। तुम ब्राह्मण हो या नहीं, इस विषय को युक्ति से कोई सिद्ध नहीं कर सकता! यह बात दृढ मान्यता से सिद्ध होगी। जहाँ तुम्हारा अंतःकरण गवाही देता है कि 'यह मैं हूँ', एक बार तुमने यदि निर्णय कर लिया कि 'यह मैं हूँ', फिर तो उसके बाद शास्त्र धर्म बता देगा। लेकिन 'यह मैं हूँ' ऐसा जब तक निश्चय नहीं कर लोगे, तब तक कैसे प्रवृत्ति की जाये? जैसे तुम कह दो कि 'यह मेरा बेटा है' तब तो आगे बता सकते हैं कि इस बेटे के प्रति तुम्हारा यह कर्त्तव्य है। यदि यही तुम्हें निश्चय नहीं है कि तुम्हारा बेटा है तो फिर कैसे तुमको कोई कर्म बताया जाये?

यदि किसी के हृदय में यह जिज्ञासा हो जाये कि मैं कौन हूँ, तो समझ लो कि वह सारे धर्मों से रहित हो गया। भगवान् ने इसीलिये गीता में कहा कि यदि तूने यह निश्चय कर लिया कि मुझे एक परमात्मा को पकड़ना है तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'; परमात्मा के साथ तुमने अपना सम्बन्ध जोड़ लिया तो सारे धर्म छूट गये। दूसरी दृष्टि से देखो, तो जब तक सारे धर्मों को छोड़ोगे नहीं, तब तक परमात्मा के साथ सम्बन्ध कर नहीं पाओगे। क्यों नहीं कर

पाओगे? क्योंकि धर्म बीच में एक दीवाल बन जायेगी। नेहरू जी की समस्या बड़ी भारी थीः एक तरफ मानते थे कि मुझे मानवता का ख़्याल रखना है, मानव समाज की उन्नति होनी है। भारत के दुर्भाग्य से, और उनके अपने दुर्भाग्य से, वे भारत के प्रधानमंत्री बन गये। अब एक तरफ तो उनका धर्म खींचता था कि सम्पूर्ण मानवता का कल्याण करूँ, दूसरी तरफ याद आता था कि जिस देश का प्रधानमंत्री हूँ, उसका भी तो कल्याण करना चाहिये! दो धर्मों वाले हो गये, दोनों तरफ खिंचते थे। हालत वैसी हुई जैसे कोई कहे कि मैं ब्राह्मण भी हूँ और क्षत्रिय भी हूँ। ब्राह्मण का धर्म है चींटी को भी नहीं मारना और क्षत्रिय के लिये बाप-दादा यदि अन्याय करें तो उनको भी मार डालना धर्म है। इसी प्रकार यदि उनको हृदय की आवाज़ सुननी थी तब तो उन्हें भारत का प्रधानमंत्री नहीं बनना था और जब भारत के प्रधानमंत्री बन गये तो मानवता नाम के रोग को छोड़ना था। यह कठिनाई मनुष्य के जीवन में कई बार आती है। मनुष्य को पहले अपने बारे में निर्णय कर लेना पड़ता है। यदि यह निर्णय कर लिया कि हमें धर्मातीत परमात्मा की प्राप्ति करनी है तो 'अन्यत्र धर्माद् अन्यत्राधर्मात्' कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता के प्रति कहते हैं कि धर्म और अधर्म दोनों को छोड़ने पर ही आत्म-तत्त्व की दृष्टि बनती है। इसलिये यदि परमात्मा की अनन्य शरण लेनी है तो सारे धर्मों को छोड़ना पड़ेगा। यह अशुद्ध धर्म हो गया क्योंकि आत्मा का अशुद्ध रूप जीव है, उसको मानकर इन धर्मों का विधान किया है। अशुद्ध जीवरूपता के प्रति जो उपदेश दिया गया, वह धर्म भी अशुद्ध माना जायेगा। साधारण लोग धर्म को इसी में सीमित समझते हैं।

दूसरा शुद्ध धर्म है। जब कहा गया 'मामेकं शरणं व्रज' तो यह शुद्ध धर्म हुआ। 'जातिनीतिकुलगोत्रदूरगम्।' जाति, नीति, कुल, गोत्र इत्यादि सब चीज़ों को छोड़कर एकमात्र परमात्मा को लेकर जो धर्म चलेगा, वह शुद्ध धर्म है। चूंकि हमारा शुद्ध रूप है ही परमात्मा, इसलिये जो हमारा वास्तविक स्वरूप है उसको लेकर जो धर्म प्रवृत्त हुआ, वह शुद्ध धर्म हो गया। जो स्वरूप हमारा कभी नहीं बदल सकता, जिसके साथ हमारा ऐसा सम्बन्ध है कि हम सांस बाद में लेते हैं उसका हमारे अन्दर प्रवेश पहले होता है, वह हमारा शुद्ध रूप हो गया। बाकी सब चीज़ें तो मन के आने के बाद हैं लेकिन जो मन का भी मन है, वह हमारा शुद्ध स्वरूप है, क्योंकि उसके बिना हमारा एक क्षण बीत ही नहीं सकता। सामवेद कहता है कि वस्तुतः आत्मा 'मनसो मनः' मनको 'मन' बनाने वाला है। हम बाद में हैं, हमसे भी पहले वह हमारे अन्दर विद्यमान है। अभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह हमसे बहुत दूर है, अतः लोग उसे ढूँढते हैं। बहुत-से लोगों ने एक गीत भी बना रखा है 'हरि बीते बहु बारा', बहुत समय बीत गया, हरि! 'अब तो दरस दिखा जा।' सोचते हैं कि वह बहुत दूर है। इतना ही नहीं, लगता है कि हम तो उसके लिये तरस रहे हैं। हमको तो इच्छा है कि वह हमारे अन्दर आ जाये, लेकिन क्या वह भी आना चाहता है? यहाँ तक शंका हो जाती है। वस्तुतः वह तो प्रतिक्षण तुम्हारे अन्दर आना चाहता है और इतनी

तेज़ी से आना चाहता है कि वहाँ से कभी हटता ही नहीं है! तुमको लगता है कि वह अन्दर नहीं है, लेकिन है वह अंदर ही बैठा हुआ। सारे जगत् रूप में बाहर दीखता है लेकिन यह सारा जगत् रूप बाहर दीखने पर भी है चित्त में ही। तुम्हारे अन्दर ही है। जब वह बाहर लगता है, उस समय भी है अन्दर।

यह भान हो जाना कि वह हमारे अन्दर है, यही अवतार है। है तो वह पहले से अन्दर, लेकिन उसके अन्दर होने का भान नहीं है। जब हम लोग कहते हैं कि अवतार नित्य हैं तो कई बार शंका होती है कि कृष्ण के शरीर को जला दिया, राम सरयू-प्रवेश कर गये, फिर नित्य कैसे हैं। सप्तशती में इसका जवाब दिया है। 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिः ... देवानां कार्यसिद्ध्यर्थम् आविर्भवति सा यदा' (१.६४-५) नित्य होने पर भी वह देवी गुण वाली है। जैसे-जैसे हम अपने अन्दर देवी गुण लाते चले जायेंगे, वैसे-वैसे हमारे अन्दर है, इसका भान होता चला जायेगा। वह पहले से तुम्हारे अन्दर है लेकिन जब तक तुम उसे पहले अपने अन्दर दैवी गुणों को बढ़ाकर ग्रहण नहीं करोगे, तब तक उसका भान नहीं होगा, और बिना भान हुए वहाँ विद्यमान हुई भी अपना कार्य करने में असमर्थ है। कैसे? विचार करो, घर के अन्दर दवाई पड़ी है लेकिन तुमको पता नहीं है कि हमारे रोग की यह दवा है। जिस घर में रोज़ कद्दू आता है, घर का आदमी उसे नहीं खाता, कहता है कि 'मुझे चटनी दे दो', क्योंकि उसे कद्दू अच्छा नहीं लगता। डाक्टर के यहाँ गया तो पता चला कि मधुमेह हो गया है। डाक्टर ने कहा कि रोज कद्दू खाना। पूछता है कि 'वही पीला-पीला जिसे सीताफल या काशीफल कहते हैं? अच्छा, वह फ़ायदे की चीज़ है! मेरे घर में तो मेरी पत्नी रोज़ बनाती है लेकिन मैं कभी नहीं खाता।' डाक्टर को आश्चर्य होता है, कहता है 'यदि तू रोज़ खाता रहा होता, तो आज तुझे यह इलाज क्यों करना पड़ता!' घर में रोज़ बनता है लेकिन पता नहीं अर्थात् भान नहीं इसलिये उसका फल नहीं होता है। इसी प्रकार परमात्मा प्रतिक्षण हमारे अन्दर विद्यमान है लेकिन हमको भान नहीं है। जैसे-जैसे दैवी गुण आते हैं, वैसे-वैसे उसका भान बढ़ता है। बस, इसी का नाम अवतार है। चूंकि तुम्हारे दैवीगुण धीरे-धीरे बढ़ते हैं, एक-साथ नहीं बढ़ेंगे, इसलिये अवतरण में भी एक क्रम, परम्परा दिखाते हैं। उस क्रम, परम्परा का कारण यही है कि जितना-जितना तुम्हारा मानसिक विकास अधिक होता चला जायेगा, दैवी गुण अधिक होते चले जायेंगे, उतना ही उतना तुम्हारे अन्दर अधिक-अधिकतर अवतरण होता चला जायेगा। यदि तुम अपने अन्दर थोड़े-से दैवी गुणों का विकास कर पाओगे तो भी थोड़ा तो परमात्मा अंदर है, लेकिन पूरा नहीं अर्थात् पूर्ण भान नहीं। 'पूरा नहीं' का मतलब यह नहीं समझना कि है नहीं। इन दैवी गुणों का या शुद्ध धर्म का विकास कैसे हो, यह अवतार अपने जीवन में करके दिखाता है। इसलिये कहा 'धर्ममार्ग चरित्रेण'।

रामचन्द्र जी वशिष्ठ जी से कहते हैं 'महाराज! क्या बताऊँ, संसार तो मुझे क्षणभंगुर दीख रहा है, मेरा मन शांत नहीं है, उसमें बड़ी अशांति है। संसार का स्वरूप समझ नहीं आता। संसार

से अतिरिक्त कोई तत्त्व पकड़ में नहीं आता।' वशिष्ठ जी कहते हैं कि 'हे राम! पूर्व जन्म में तूने एक बार यही प्रश्न पहले भी किया था तब भी मैंने यह बताया था लेकिन तेरे मन में बात पूरी बैठी नहीं थी।' वशिष्ठ समझाने वाले और रामावतार के पूर्व साक्षात् विष्णु समझने वाले, लेकिन बात नहीं बैठी! 'आज फिर तेरे अन्दर वैराग्य उत्पन्न हुआ है तो फिर उपदेश देता हूँ।' इसके द्वारा शिक्षा दी कि परमात्म- तत्त्व बार-बार सुनने पर भी पूरी तरह दृढ हो नहीं पाता। है यह छोटी-सी बात लेकिन चरित्र के द्वारा उपदेश दिया कि मन में कभी यह नहीं समझो कि 'मैंने परमात्म-तत्त्व समझ लिया और अब इसके आगे हमें कुछ नहीं समझना है'। यह मनुष्य की बुद्धि पर पर्दा डाल देता है, आगे बढ़ने में रुकावट डाल देता है। यदि राम यह कह सकते हैं कि 'मेरी समझ में नहीं आया' और वह भी योगवाशिष्ठ के चौबीस हज़ार श्लोक सुनने के बाद, तो हम शरम क्यों खाते रहते हैं कि हम नहीं समझे! पहली बार सुनते ही मान लेना कि 'हमने तो समझ लिया', बस, यही समझने में धोखा देता है। जो नहीं समझता, वह तो एक दिन समझ जाता है और जो समझ लेता है, वह अटक जाता है। केनोपनिषद् में बताया है यदि तूने यह मान लिया कि 'मैंने ब्रह्म तत्त्व को अच्छी तरह समझ लिया', तो तूने कुछ नहीं समझा। वशिष्ठ ने उपदेश दिया, राम ने उपदेश सुना। यह सब चरित्र से धर्ममार्ग सिखाना है।

उसका फल क्या हुआ? योगवाशिष्ठ सुनने के बाद राम ने क्या किया? विश्वामित्र के साथ राक्षसों का वध करने के लिये साथ चल दिये। इसके द्वारा उपदेश दिया कि ज्ञान का फल क्या है। फौज लेकर नहीं गये। तप करते हुए, राज्य-सुखों का परित्याग करते हुए राक्षसों का हनन ही ज्ञान का फल है। न तो ज्ञान का फल वहाँ बैठकर मौज करना था और न सो जाना था! लोग ज्ञान का फल दो तरह का समझ लेते हैं : एक समझ लेते हैं कि 'ज्ञान तो हो ही गया, अब दुकान जैसे चलाते थे, चलाते रहेंगे।' यह भी राम ने नहीं किया। दूसरा, सोचते हैं कि 'ज्ञान से समझ लिया तो अब कुछ नहीं करना, आँख मीच कर आराम से बैठे रहेंगे।' राम ने यह भी नहीं किया। ज्ञान का फल होता है कि राक्षसों का संहार जिसे केवल अपनी शक्ति से करना है। नहीं तो दशरथ से कह सकते थे कि 'थोड़ी फौज ले लूँ।' ऐसा कुछ नहीं कहा, अकेले ही गये क्योंकि राक्षसों का संहार करना था।

राक्षस शब्द का अर्थ निरुक्त में आता है 'रक्ष एव राक्षसः' जो तुमसे कहे कि 'हम तुम्हारी रक्षा करेंगे' और अन्दर-ही-अन्दर तुम्हारा हनन करे, वह राक्षस है जिसको विश्वासघाती कहते हैं। आज के युग का तो विश्वासघात परम धर्म बना हुआ है! हर एक आदमी दूसरे के साथ विश्वासघात करना चाहता है, कहेगा कुछ, करेगा कुछ। जो जितना विश्वासघाती होता है, वह उतना ही बड़ा आदमी माना जाता है। वैश्यों में बड़ा वह जो राज्य के साथ विश्वासघात करे। कहते हैं कि 'बड़े बुद्धिमान् हैं, लाखों रुपये कमाये, लेकिन टैक्स का एक पैसा नहीं दिया।' उसी प्रकार से सबसे उत्तम राजा वह है जो प्रजा से विश्वासघात करे। मैं सब कुछ तुम्हारे अर्पण

करूँगा यह प्रतिज्ञा करके सारे का सारा लूट ले। यह जो प्रवाह बन पड़ा है, इसी का नाम राक्षसी संस्कृति है। राक्षसी संस्कृति की अपेक्षा आसुरी संस्कृति श्रेष्ठ होती है। असुर वह है जो भोग-परायण हो कि 'मैं भी भोग करूँ और तुम भी भोग करो।' 'मैं विश्वासघात करके तुमको लूट लूँ' यह राक्षसी वृत्ति है। नौकर कहेगा कि 'तन्ख्वाह बढ़ाओ अन्यथा काम नहीं करेंगे।' मालिक बढ़ा देगा लेकिन सवाई महँगाई कर देगा। मजदूर के पास धन उतना का उतना ही रह गया बल्कि और नुक्सान हो गया। यह मजदूर के साथ विश्वासघात हैं; दोनों विश्वासघाती है; एक काम नहीं करेगा, दूसरा पैसा नहीं देगा। इस राक्षसी संस्कृति को नष्ट करने के लिये आत्मबल की ज़रूरत है और वह आत्मबल उसमें आयेगा जिसने योगवाशिष्ठ का श्रवण किया है। जो ऐसा नहीं, वह शरीर मन को सुखी करना चाहता है। उसका प्रश्न होता है कि सच बोलने से नुक्सान होता है, सरकार सारा टैक्स ले लेती है! ऐसा व्यक्ति धर्म का सहारा नहीं ले सकता है। राक्षसों को नहीं मार सकता। आत्मबल वाला, वेदांत दृष्टि वाला ऋषियों की तरह कहता है कि शरीर का खून निकालोगे तो *हमारा* क्या करोगे? सरकार तो अभी टैक्स ही ले रही है, खून भी ले जाये तो हमारा क्या जायेगा? यह आत्मबल है। इस आत्मबल को लेकर राम विश्वामित्र के साथ राक्षसी संस्कृति का नाश करने गये। यदि हमारा ज्ञान हमारे अन्दर इस बल का संचार नहीं करता है तो वह ज्ञान सफल नहीं है।

जिस ज्ञान में यह शक्ति न हो, वह ज्ञान कैसा है यह भी भगवान् ने अपने चरित्र से बताया : योगवाशिष्ठ दशरथ ने भी सुना और बड़ी प्रशंसा की कि 'आप की कृपा से सब समझ लिया, मेरा संदेह दूर हो गया, आपकी बड़ी कृपा हुई' और फिर बाद में कैकई के मोहवश उसकी बात मान ली। फिर बात मान लेने पर रोता रहा कि 'हाय! लड़का चला गया!' राम के जीवन में ज्ञान प्रस्फुटित हो गया, दशरथ के जीवन में मुर्झा गया। इसका कारण यह है कि दशरथ पहले से तीन विवाह करके बैठे थे और वृद्धावस्था में पहुँचे हुए थे। राम ने अभी विवाह नहीं किया था। ब्रह्मचर्य आश्रम में ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करे और तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। जैसे पनस (कटहल, जैक फ्रूट) में से जो रस निकलता है, वह हाथ में चिपट जाता है। यदि हाथ में पहले तेल लगा दो तो फिर नहीं चिपकता। एक बार चिपट गया तो फिर तेल भी लगाओ तो साफ नहीं होता। छुरी से रगड़ो तो हाथ छिलने लगता है, साफ नहीं होता। ठीक इसी प्रकार से यदि गृहस्थाश्रम का कटहल तुम्हें छीलना है तो पहले ब्रह्मज्ञानरूपी तेल हाथ में लगा लो। नहीं तो एक बार आसक्ति चिपट गई तो थोड़ी समझ में भले ही आयेगी, ज़्यादा खुरचोगे तो खून निकलने लगेगा लेकिन उसमें स्थिरता नहीं आ पायेगी। यह दिखाने के लिये राम और दशरथ का फ़र्क बताया।

राक्षसी संस्कृति को नष्ट कर दिया, सुबाहु इत्यादि को मार दिया। उसके बाद उन्होंने विवाह किया। जब तक अपने पर पूरा नियंत्रण नहीं, तब तक क्या विवाह करना है! विवाह तो

आनंद का कार्य होना चाहिये, क्योंकि कोई भी कार्य आनंद के लिये होता है। शास्त्र ने नियम किया है कि विवाह करे तो दुःख देने के लिये नहीं किया। लेकिन उसके लिये नियम किया है 'अविप्लुतब्रह्मचर्यः' जिसको ब्रह्म के ऊपर इतनी निष्ठा हो गई है कि अब हिल नहीं सकता। जब अपने पर पूरा नियंत्रण होगा। तब तो विवाह सुखद होगा और जिसको अपने पर नियंत्रण नहीं होगा, उसका विवाह दुःखदायी होगा। इसीलिये आजकल आदमी आते हैं कि हम गृहस्थी हैं, बड़े दुःख में पड़े हुए हैं। गृहस्थाश्रम दुःख की जगह नहीं थी, दुःख की जगह इसीलिये बनी कि तेल जो नहीं लगा हुआ है। क्योंकि आत्मनिष्ठा रूपी तेल हाथ में नहीं लगा हुआ है, इसलिये गृहस्थाश्रम में आसक्ति का परिवर्द्धन होता है। जो आनंद का स्थल होना चाहिये था, वह बिना तेल के दुःख का स्थल हो गया। राम विवाह करके आये तो क्या किया? भोग में नहीं लग गये। पुत्र उत्पन्न होने के पहले दक्षिण में रावण को मारने गये। दक्षिण यम की दिशा है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य ही यम हैं। जब तक यम की तरफ जाने वाली तुम्हारी सारी प्रवृत्ति नियंत्रित नहीं हो जाये तब तक पुत्रोत्पत्ति मत करो। विवाह करने के पहले क्या करना है, यह सिखाया और विवाह करने के बाद यह नहीं कि जनवरी ७१ में ब्याह और दिसम्बर ७१ में संतति! विवाह के बाद पुत्र उत्पन्न करने का भी तो कोई कारण है। पुत्र क्यों उत्पन्न किया जाता है? उसके बाद लंका विजय हो गई, यमों का सर्वथा नियंत्रण हो गया, दशमुख रावण को मार डाला अर्थात् दसों इन्द्रियाँ सर्वथा अपने वश में हो गईं। कोई एक इन्द्रिय ऐसी नहीं रही जो वश में न हो। हमेशा अपनी पत्नी के साथ थे। चौदह वर्ष तक अपनी इन्द्रियों का सर्वतोभावेन नियंत्रण हो गया। तेरह साल तो एक साथ रहकर नियंत्रण देखा और एक साल तक विरह का मज़ा भी देखा कि पत्नी के बिना मेरी क्या हालत होती है। प्रायः पत्नी के बिना हाथ-पैर ढीले पड़ जाते हैं। पत्नी के विरह में इतनी ज़्यादा शक्ति उत्पन्न हुई कि दशकंध रावण को मार डाला। विप्रलंभ और संयोग दोनों को पूरी तरह से देख लिया। तब सोचा कि अब पुत्र उत्पन्न करना चाहिये। तभी पुत्र सर्वगुणोपेत होगा। जो अनियंत्रित व्यक्ति है, वह 'पुत्र' उत्पन्न नहीं करेगा, बेटे पैदा करेगा। यह धर्म-मार्ग का चरित्र है।

आसक्ति के प्रति सर्वथा निरादर होना शुद्ध धर्म है। परमात्मा जब अवतार लेते हैं तो हमारे सामने शुद्ध धर्म का आचरण करते हैं। जीव-भाव वाला वह शुद्ध धर्म नहीं समझ सकता, क्योंकि खुद अशुद्ध है। इसलिये अशुद्ध धर्म वाले लोग हमेशा अवतार में दोष निकालेंगे, चाहे राम हों, चाहे कृष्ण हों। अशुद्ध धर्म वाला शुद्ध धर्म का अधिकारी नहीं। परमात्मा का अवतार अशुद्ध धर्म का प्रतिपादन करने के लिये नहीं है। अशुद्ध धर्म है कि तुम अपने को जीव जानते हो और उसके लिये कर्म-विधान भी किया है। यदि तुम अपने को ब्रह्म जानते हो तो शास्त्र में कहीं नहीं कहा है कि ब्रह्म के कर्म का स्वरूप क्या है। इसलिये वह स्वयं आकर दिखाते हैं कि साधारण व्यक्ति क्या करे क्योंकि साधारण व्यक्ति का शुद्धाशुद्ध धर्म है। विचारकाल में अपने

को ब्रह्मस्वरूप समझ लेता है लेकिन उसके अनुकूल धर्म का आचरण नहीं करेगा। धर्म के आचरण के समय पुनः 'मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय, मैं पुत्र, मैं पति' आदि सारी अशुद्ध बातें आ जाती हैं। यह शुद्धाशुद्ध धर्म है। विचार काल में अपने को शुद्ध धर्म वाला समझ लेता है लेकिन थोड़ी ही देर में पुनः अशुद्ध धर्म आ जाता है। धीरे-धीरे अशुद्ध धर्म कम करते हुए शुद्ध धर्म का विकास करना है। इसलिये अवतार हमारे जीवन में आते हैं कि इस प्रकार का आचरण करें। यह अवतार का स्वरूप बताया।

# प्रवचन-८

२४-३-७२

भगवती के स्वरूप का निरूपण करते हुए उन्हें चित् से अभिन्न आनंद (चिदानंद) की लहरी रूप से बताया। उसकी प्राप्ति कहाँ होती है, उस स्थल का निर्देश करते हुए कहा कि 'सुधा-सिन्धोर्मध्ये'। सुधा का एक तात्पर्य बताया शुद्धि करने वाला चूना। जिस प्रकार से चूना दर्पण को शुद्ध कर देता है, उसी प्रकार से जो अंतःकरण पहले शुद्ध हो गया, वहीं पर वह प्रकाशित होती है। 'यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं भ्राजते तत् सुधान्तं' मिट्टी से उपलिप्त अर्थात् मैल को प्राप्त शीशे पर चूना लगाकर जब चूना हटा दिया जाता है तब वह शीशा चमकने लगता है। दूसरे अर्थ में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को भी सुधा कहते हैं। चन्द्रमा का मन के साथ सम्बन्ध है। मन के अन्दर ही उसकी प्राप्ति सम्भव है। लेकिन किस मन के अन्दर? जिस मन का अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध निवृत्त हो गया है। जब तक अन्य विषय मन में रहते हैं, तब तक मन के अन्दर विद्यमान रहने पर भी परमात्मा हमारे काम का नहीं है। दूसरी तरफ, जब मन उनके साथ सम्बन्धित हो जाता है तब इसके विपरीत', सभी कुछ शुद्ध हो जाता है। कई प्रकार की सुधाओं का वर्णन करते हुए शास्त्रकार (स्तुतिकु. ८.२१) कहते हैं

'युक्तं सुधाकरसुधाकरकद्युसिन्धुतोयादि यन्मनसि तापमपाकरोति।
यस्यांगसंगि शवभस्म कपालमाला हालाहलाहिदहनाद्यपि हृद्यमेव।।'

पहली सुधा सुधाकर चन्द्रमा है। चन्द्रमा ज्योत्स्ना उत्पन्न करने वाला होता है, इसलिये यह कहना ठीक है कि चन्द्र-दर्शन से मनुष्य के हृदय का ताप दूर हो जाता है। गर्मी के दिनों में भी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में मनुष्य को शीतलता का अनुभव होता है। अत्यंत दुःख में पड़ा व्यक्ति भी यदि पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरफ ध्यान करता है तो हृदय शांति और प्रसन्नता से भर जाता है। इसीलिये हमारे यहाँ पूर्णिमा के दिन चन्द्र-दर्शन करके, उसको अर्घ्य देने के बाद भोजन करने का सामान्य विधान है। दिल्ली में चन्द्रमा कहाँ से दीखेगा? चारों तरफ डीजल और कोयले का धुआँ, इतने पर भी कुछ थोड़ा-सा दीख सकता है तो चारों तरफ बिजली की चकाचौंध में, गर्म प्रकाश के अन्दर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का दर्शन कैसे कर सकोगे! इसलिये यदि चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का आनंद लेना चाहते हो तो नगरों से दूर किसी ऐसे स्थल में जाना पड़ेगा जहाँ प्रकाश, धुआँ, धूल इत्यादि दुःख न दें। किसी पर्वत के शिखर पर जाओ तो चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का सुख उपलब्ध हो जाता है। शारीरिक ताप को भी चन्द्रमा हर लेता है। और मानसिक ताप को भी हर लेता है। पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा का दर्शन लोग करते तो हैं लेकिन हृदय से नहीं करते। सोचते रहते हैं कि कब चन्द्रोदय हो, कब अर्घ्य दें, लेकिन हृदय में पूड़ी-साग का ध्यान बना

रहता है! हृदय से भोजन का दर्शन करते हैं। चन्द्रमा के दर्शन का अर्थ केवल वह नहीं जैसा चोर-चोर का खेल होता है जिसमें इसी पर ध्यान रहता है कि कब छुएँ और बचें। इसमें खेल का रस नहीं है। इसी प्रकार, कब चन्द्रमा का दर्शन हो और कब भोजन करें  सोचते रहे तो वस्तुतः भोजन का ही दर्शन है, चन्द्र-दर्शन नहीं। चन्द्र-दर्शन का तात्पर्य है उसका दर्शन करके उसके आह्लाद को लेना।

इसलिये चन्द्र-दर्शन के बाद तर्पण होता है। लेकिन जब तुम्हारा हृदय उन्हें देखकर तृप्त नहीं हुआ तो तुम उनका क्या तर्पण करोगे! जल तो एक प्रतीक है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'श्रद्धा नदी विमलचित्तजलाभिषेकैः' श्रद्धारूपी नदी से निर्मल चित्त रूपी जल के द्वारा ही तो भगवान् के साक्षात् चन्द्र, सूर्य आदि रूप का तर्पण करोगे। चन्द्र-दर्शन के बाद दिन भर का शरीर का ताप हट गया, मन शांत हो गया। मन में प्रसन्नता की हिलोरें आने लग गयीं। उस प्रसन्नता के साथ उसमें श्रद्धा से तुमको शिवदृष्टि होती है। जिसमें श्रद्धा नहीं होगी, वह वहाँ खड़ा-खड़ा देखेगा कि रूस वालों ने कोई टैक्सी वहाँ छोड़ दी है, वह दीख जाये तो अच्छा हो! उसमें वह परमात्म-दर्शन नहीं कर सकेगा। दृष्टि-भेद से पदार्थ-भेद हो जाता है, यह ख़्याल रखना। सामने स्त्री खड़ी है, उस स्त्री के अन्दर पति-दृष्टि से पत्नीत्व है और पुत्र-दृष्टि से मातृत्व है। दोनों एक साथ हैं। यदि कोई पूछे कि यह सचमुच क्या है, पत्नी है या माँ है? एक बात बताओ, उल्टी बातें कैसे कह रहे हो? तो यही कहोगे कि दृष्टि-भेद से यह भेद है। इसी प्रकार से जिनकी जड दृष्टि है उन्हें चन्द्रमा जड और जिनकी चेतन दृष्टि है उन्हें चन्द्रमा चेतन (देवता) दीखेगा। जिनकी शिव दृष्टि है उनको वहाँ साक्षात् भगवान् शंकर दीखेंगे 'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः।' इसी  दृष्टि से तर्पण होगा। इसलिये देह और मन को शांत करने वाला चन्द्रमा स्वभाव से ही यदि हमारे हृदय के ताप का हरण करता है तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं है।

'युक्तं सुधाकर-सुधाकरक-' सुधाकरक  सुधा जिसके 'करक' (कमण्डलु) में है। अर्थात् अमृत भी मनुष्य के हृदय के ताप का हरण करता है। मनुष्य को सबसे अधिक ताप किससे होता है? तीन चीज़ें मनुष्य को सबसे ज़्यादा दुःख देती हैं  जरा, रोग और मृत्यु। इन तीन से ही मनुष्य सबसे ज़्यादा डरता है और दुःखी होता है। जरा (बुढ़ापा) का मतलब कोई उम्र-विशेष नहीं समझ लेना। जरा मायने जीर्ण होना, अर्थात् शक्ति, सामर्थ्य के अन्दर जितनी-जितनी न्यूनता आती है, उतना ही जीर्ण होता जाता है। सबसे पहले यह जीर्णता हमारी बुद्धि में आती है। जिसकी बुद्धि जीर्ण नहीं है, वह किसी भी उम्र को प्राप्त करके भी वृद्ध नहीं है। बुद्धि की युवावस्था क्या है? जैसे जवानी में मनुष्य आगे बढ़ने की सोचता है, तात्कालिक लाभ को नहीं देखता, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि युवा होगी, वह तात्कालिक लाभ की तरफ नहीं जायेगा, क्षणिक सुख की तरफ न जाकर परम सुख की तरफ जायेगा। जितनी-जितनी बुद्धि बुड्ढी होती

जायेगी उतना-उतना मनुष्य तात्कालिक लाभ को देखेगा, हमें फ़ायदा हो जाये   यही सोचेगा। इसका कारण यह है कि उसको अपना भविष्य अंधकारमय लगता है, सोचता है, क्या पता आगे रहूँ या न रहूँ। जवानी में मनुष्य को अपना भविष्य स्पष्ट दीखता है। इसलिये वह भविष्य की दृष्टि से सोचता है। नास्तिक इसीलिये बुड्ढा हुआ करता है, चाहे शरीर से जवान दीखे, क्योंकि वह सोच रहा है कि इस जीवन में जो भोग भोगने हैं भोग लूँ, इसके आगे कुछ नहीं है। केवल इस शरीर के अन्दर ही भोगों की दृष्टि वाला होने से वह बुड्ढा है, जीर्ण है, जरा वाला है, इसीलिये दुःखी होता है। आस्तिक कभी भी दुःखी नहीं होता। संसार के लोग जिसको कठिनाइयाँ समझते हैं, वह उसके अन्दर और रस लेता है। वह तो यहाँ तक कह सकता है 'विपदः संतु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो' हमारे ऊपर बार-बार विपत्तियों की बाढ़ आती रहे क्योंकि विपत्ति आने पर आपका स्मरण और बढ़िया होता है! नास्तिक विपत्ति से बड़ा घबराता है। जो परम आस्तिक है, केवल एकमात्र परब्रह्म परमात्म-तत्त्व की दृष्टि वाला है, उसको तो सर्वत्र एकधा परमात्म-दर्शन है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं 'वस्तुवृत्तं यतोऽद्वैतं नानात्वं मोहहेतुजम्। एकधैवात आत्मायं द्रष्टव्यःश्रुतिवर्त्मगैः' वास्तविक दृष्टि से जब देखते हैं तब द्वैत नाम की चीज़ कहीं है ही नहीं, यह वास्तविक सुधा है। 'धा' का अर्थ प्रकार है। जैसे 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पंचधा भवति' वह एक प्रकार का, तीन प्रकार का, पाँच प्रकार का है। श्रुति कहती है 'एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन' वह एक प्रकार का ही विद्यमान है। सुधा   सुष्ठु धा सुधा, सु प्रकार अर्थात् अच्छी प्रकार से जो अमृत की दृष्टि है, वह अद्वैत दृष्टि है। एकधा ही सुधा है। जहाँ एक से अनेकधा बना, वहाँ सुधा नहीं रह गया। अनेकता अविवेक के कारण है। जिसको तुम विपत्ति कहते हो, वह तुमसे अभिन्न है और जो तुम से अभिन्न होगा, वह वास्तविक होगा, सुधा एकधा होगा। जब तक किसी भी विपत्ति को अपने से भिन्न समझोगे, उसके कारण मोह (अविवेक) होगा। नास्तिक विपत्ति से इसलिये घबराता है कि वह केवल नानात्व ही देखता है। वृद्ध होने के कारण उसकी बुद्धि कहीं एकत्व-दर्शन नहीं कर सकती, भविष्य को देख ही नहीं सकती, इसलिये विपत्ति आने पर सबसे ज़्यादा घबराता है। साधक उस एक परमात्मा के शासन को सर्वत्र देखने के कारण विपत्ति से घबराता नहीं, उल्टा विपत्ति उसके लिये उसके स्मरण का साधन बन जाती है। जो परम आस्तिक है, वास्तविक अद्वैत वाला है, वह तो कहता है कि विपत्ति और सम्पत्ति दोनों में कोई फ़र्क है ही नहीं, मैं ही कभी विपत्ति रूप से और कभी सम्पत्तिरूप से प्रतीत होता हूँ। वह कहता है यह आत्मा एक ही प्रकार का है। इसमें सम्पत्ति और विपत्ति का भाव कल्पना के योग्य ही नहीं है। जो वेद के मार्ग में चलने वाला है, वेदांत-निष्ठा वाला है, वह तो सर्वथा इस नानात्व का हनन करके हमेशा ही युवा बना रहेगा। अमृत मनुष्य को युवा बनाता है, स्वर्ग की प्राप्ति कराता है। स्वर्ग में तभी पहुँचोगे जब अमर हो जाओगे।

कोषकार कहते हैं 'अमरा निर्जरा देवाः' देवताओं में बुढ़ापा और मृत्यु नहीं होती हैं। मनुष्य को दुःख देने वाली बहुत बड़ी चीज़ जरा है क्योंकि वह बुद्धि के निश्चय को हिला देती है, बुद्धि को जीर्ण कर देती है। बुद्धि अनंत भाव को न सोचकर शान्त भाव को सोचने लगती है। आस्तिक पुरुष भी शान्त देखता है क्योंकि दिव्य लोक भी भोग के बाद समाप्त हो जायेंगे। यहाँ तक ही सही, लेकिन कम-से-कम शरीर के आगे तो सोच रहा है। लेकिन नास्तिक तो नास्तिक बनने के क्षण से ही बुड्ढा बना हुआ है, क्योंकि वह इस शरीर को ही अंत समझता है, उसके आगे उसकी दृष्टि है ही नहीं।

जरा शरीर का धर्म नहीं, बुद्धि का धर्म है। सबसे पहले बुद्धि में जरावस्था आई, बुद्धि के बाद छनकर यह मन में आती है। जब मन वृद्ध होने लगता है तो मन में कामनायें बढ़ने लगती हैं। कामनाओं को पूर्ण करने के लिये जो क्रिया है वह कम होने लगती है, यह मन की वृद्धावस्था है। मन जब पूर्ण युवा होगा, उस काल में वह कर्म करते हुए हर बार इच्छा के द्वारा दबा नहीं रहेगा। इसीलिये जवान आदमी रास्ते में जा रहा है, किसी को देखा कि यह भूखा है तो उसे झट कह देता है कि 'ले, चार फुल्के खा ले।' जिसका मन बुड्ढा होगा, वह सोचेगा कि यह आलसी हो जायेगा, राष्ट्र बरबाद हो जायेगा, देश खत्म हो जायेगा इसलिये चार फुल्के बचा लो। बुद्धि का बुड्ढापन जब छनकर मन में आता है तब मन इच्छायें तो करता रहता है लेकिन इच्छाओं के प्रति कर्म नहीं करता क्योंकि क्रिया कम होती जाती है। दूसरी तरफ जब जवानी पूर्ण होती है तब क्रिया करता है, उसको इच्छा की चिन्ता नहीं रहती। आज लोग बहुत वृद्ध हो रहे हैं। लोगों से कहते हैं कि नित्य कर्म का फल कुछ नहीं है, नहीं करोगे तो दोष लगेगा, इसलिये नित्य नैमित्तिक कर्म करो। यदि उनसे कहो कि मंगलवार को हनुमान जी को लड्डू का भोग लगाओ तो भोग लगाने पहुँच जायेंगे। लेकिन नित्य कर्म नहीं करते हैं। ऐसा नहीं कि बिना फल की इच्छा के क्रिया करें। यह कमी इसलिये आती है कि मन में जीर्णता आ गई है। हमको क्या फल मिला यह सोचना बुढ़ापे का लक्षण है। हमने क्रिया कर दी, फल की चिन्ता नहीं यह जवानी का लक्षण है। मध्यकाल के अन्दर, जो थोड़े अधेड़ हैं, वे इच्छा के अनुरूप क्रिया करते हैं। जितनी इच्छा है, तदनुरूप क्रिया भी है। यह चीज़ विदेशों में देखने में आती है। सांसारिक भोगों की इच्छा से रात-दिन परिश्रम करते रहते हैं।

मन के बाद यह जरा, बुढ़ापा छनकर इन्द्रियों में आती है। बुद्धि से उतरकर जरा मन में आई। मन युवा है तो निष्काम कर्म, और बुड्ढा हुआ तो सकाम कर्म में भी सोचता है कि कौन-सा सरल उपाय है। बहुत से लोग कहते तो यह हैं कि हम परमात्मा को चाहते हैं; लेकिन वहाँ भी हिसाब लगाते हैं, सोचते हैं कि इसमें कितनी लागत (investment) और कितना नफा (return) है। जहाँ लागत-नफे का हिसाब होता है वहाँ आदमी सटोरिया होकर अपने घर का दीवाला निकलवाता है! जो सोचता है कि कम-से-कम लागत में ज़्यादा-से-ज़्यादा नफा हो उसे

कोई उपाय बतायेगा कि सट्टा खेलो। जिसने सट्टा खिलाया, वह भी मार ले जायेगा और तुम वैसे-के-वैसे ही रह जाओगे, यह तुम्हारे घर का भी दीवाला करवा देगा। इसी प्रकार आजकल मन की वृद्धावस्था के कारण हर व्यक्ति कहता है कि परमात्म- प्राप्ति के लिये कैसे कम-से-कम लागत लगे, समय भी न लगाना पड़े, तपस्या भी न करनी पड़े, यज्ञ में न बैठना पड़े, पूजा भी न करनी पड़े और जल्दी परमात्मा मिल जाये। आजकल तरह-तरह के इतने पंथ क्यों चल रहे हैं? उनका मतलब यही है कि वे सब तुम्हें सट्टे में फँसाते हैं। कहते हैं कि तुम्हें न समय लगाना पड़ेगा, न यज्ञ, दान, तप आदि करना पड़ेगा। अब हमने तुम्हारा ठेका ले लिया, इसलिये जो मर्जी सो करो, मर्जी सो खाओ। वैदिक सिद्धान्त सटोरिये का सिद्धान्त नहीं है। यहाँ तो एक पैसे का सौदा भी सौदा है, लेन-देन का मामला है, उसमें सट्टा नहीं चलेगा। जब मन के द्वारा वह वृद्धावस्था आगे चलती है तब इन्द्रियों में आती है। जब इन्द्रियाँ वृद्ध होती हैं तब मनुष्य में चिड़चिड़ापन आता है। क्योंकि तब उसे पता लगने लगता है कि जैसी सामर्थ्य मैं अपने में सोचता था वैसी मुझमें है नहीं। मैं देखना चाहता हूँ लेकिन देख नहीं पाता, सुनना चाहता हूँ, सुन नहीं पाता, दौड़ना चाहता हूँ नहीं दौड़ पाता। जो-जो करना चाहता हूँ, नहीं कर पाता। शिथिल बना रहता है तो स्वभाव में चिड़चिड़ापन आता है क्योंकि अब वह चीज़ प्रकट हो गई। इन सारी जराओं से शिथिल हो गया।

अमृत केवल जरा को ही नहीं, मृत्यु को भी हटा देता है। नानात्व-दर्शन ही मृत्यु है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'समस्तव्यस्ततादृष्टिः एकधैवेति वाक्यतः। मिथ्येति गम्यते श्रौताद् मृत्योरिति च निन्दनात्'। सुधा एकधा है। श्रुति ने 'एकधैवेति द्रष्टव्यं' के बाद कह दिया 'नेह नानास्ति किंचन'। नानात्व की निंदा की। दूसरी जगह कहा 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'; नानात्व-दर्शन ही मृत्यु क्यों है? मृत्यु में क्या होता है? अपना पूर्व रूप भूलकर दूसरे रूप की प्राप्ति हो जाना ही तो मृत्यु है, अर्थात् पूर्व की स्मृति का न होना। मृत्यु का लक्षण क्या करोगे? शरीर तो जन्म-काल से लेकर आज तक न जाने कितने-कितने प्रकार से बदलता चला गया। इसलिये यदि शरीर का परिवर्तन मृत्यु मानोगे तो जन्म से लेकर अब तक पच्चीसों बार मृत्यु माननी पड़ेगी। यदि कहो कि जो निरंतर चला आया शरीर है, उस शरीर के निरंतर तादात्म्य की धारा रहे, शरीर के साथ जब तक मेरा आत्मभाव रहे तब तक जीवन और जब उस धारा से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाये तब मृत्यु; तो रोज़ मृत्यु माननी पड़ेगी, क्योंकि उस धारा के साथ सम्बन्ध न स्वप्न में और न सुषुप्ति में रहता है। जवान होता है तो स्वप्न में अपने को बुड्ढा, और काला होता है तो अपने को गोरा देखता है। हमारे एक महात्मा बहुत वृद्ध थे। एक दिन कहने लगे कि आज बड़ा विचित्र स्वप्न आया : मैं अपनी बी०ए० की परीक्षा के लिये बैठा हूँ और परीक्षा में पर्चा कड़ा आया है तो शरीर से पसीना छूट रहा है। उन्होंने परीक्षा ४०-४५ साल पहले दी होगी। उस समय का इस शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है। इसलिये निरंतर बहने वाली धारा के साथ तादात्म्य का भाव जब

न हो तब मृत्यु मानो तो रोज़ मृत्यु माननी पड़ेगी। यदि कहो कि शरीर-ध्वंस, शरीर का जल जाना मृत्यु तो ईजिप्ट में मम्मियों को मसाले भरकर रखा गया है और इदानीं काल में भी लेनिन के शरीर को मसाला भरकर रखा गया है, उनका शरीर अभी तक ध्वंस नहीं हुआ। इसलिये यही ठीक है कि जब पूर्व स्मृतियों का अभाव हो गया, तभी मृत्यु है। स्मृतियों के अभाव से उन स्मृतियों के जितने आश्रय होंगे, उनसे अलग हो जाने से मृत्यु माननी पड़ेगी।

हम कैसे हैं? 'सदेव सौम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' हम तो अखण्ड एक हैं। हमारे अन्दर किसी भी प्रकार के भेद की गंध नहीं है। हम एक रहते हुए भी जो हमसे भिन्न यह जगत् दीख रहा है, यह अलग दीखना ही मृत्यु है। अभिन्न दर्शन ही हमारा वास्तविक पूर्व रूप है; उस रूप को छोड़कर उसकी स्मृति चली गई और उसकी जगह स्मृति होने लग गई कि हम उससे दूर हैं तो यह मृत्यु है। यह दूसरी बात है कि जब कहते हो कि दूर हो, हो तब भी उसी में, उससे भिन्न नहीं हो, लेकिन प्रतीत होता है कि भिन्न हो। यह भिन्नत्व-प्रतीति ही मृत्यु है। 'समस्तव्यस्ततादृष्टिः एकधैवेति वाक्यतः' जहाँ वेद का यह वाक्य सुना 'एकधैवानुद्रष्टव्यं', जहाँ इसका अनुदर्शन किया, वहाँ मृत्यु की समाप्ति है, फिर मृत्यु कुछ नहीं कर सकती। 'मिथ्येति गम्यते', ऐसा नहीं है कि हमारी अनेकत्व-दृष्टि बन गई थी और नष्ट हो गई। यदि एकत्व की निवृत्तिपूर्वक द्वैत की प्राप्ति होती तो द्वैत को भी नष्ट करना पड़ता। मान लो यहाँ तीन सौ आदमी बैठे हैं। क्या ये तीन सौ बन जाने से एक-एक आदमी ख़त्म हो गया? हर आदमी एक-एक बना ही रहा और फिर भी तीन सौ की प्रतीति हो गई। एक नष्ट होकर तीन सौ नहीं बने। इसी प्रकार वह एक बना ही रहा और उसमें नानात्व (अनेकता) की प्रतीति हो गई। ऐसा नहीं समझना कि वे दोनों पिघलकर जैसे सोना-तांबा मिल जाता है, ऐसे मिल जाते होंगे! बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं, लेकिन यहाँ ऐसी एकता नहीं है। ये तो जिस समय अलग-अलग प्रतीत हैं उस समय में भी एक ही है। 'श्रौतात् मृत्योरिति च निन्दनात्।' श्रुति-वाक्य को सुनने के साथ ही पता लगता है कि यह अनेकत्व मिथ्या है, प्रतीति काल में भी नहीं है। वस्तुतः हम एक-भाव को छोड़कर कभी दो हुए नहीं थे।

तीसरा भय रोग का लगा रहता है। लोग रोग से डरते रहते हैं। वस्तुतः रोग शरीर में होता है। विचार करो कि क्या शरीर स्वयं ही एक रोग नहीं है? शरीर में क्या रोग होगा! जिस-जिस को तुम रोग कहते हो, वे सब शरीर में नित्य रहते हैं। किसी जगह ज़रा ज़्यादा हो जाते हैं तो लोग हल्ला मचाते हैं। शरीर से रात-दिन पसीना निकलता रहता है। कहीं-कहीं पीला पसीना निकला तो कहते हैं कि घाव पक गया या पस पड़ गया। शरीर में हमेशा गर्मी बनी रहती है। गर्मी थोड़ी बढ़ गई तो कहते हैं बुखार हो गया। गर्मी तो शरीर में हमेशा रहती है। शरीर के अन्दर पुराने खून को नये खून में हमेशा परिवर्तित किया जाता है। पुराने खून को निकाल बाहर करते हैं, गुर्दे का काम ही यह है; और किसी रास्ते से खून निकला तो कहते हैं कि घाव हो गया।

इसलिये शरीर में कोई रोग नहीं है, शरीर ही एक रोग है। जब शरीर से दृष्टि हटी तो फिर रोग क्या कष्ट देगा? लोग शरीर के रोगों को हटाने में लगे हुए हैं, जैसे कोयले को धो-धो कर सफेद करने में लगे हों। कोयला कभी धुलकर सफेद नहीं होना है। अथवा गधे को पालिश करके घोड़े बनाने जैसा है। शरीर के अन्दर से रोग क्या हटाना है! शरीर तो है ही रोग। शरीर की दृष्टि हटी तो रोग की सम्भावना नहीं है। यह वास्तविक अमृतत्व हुआ। स्वर्ग आदि में जाने से कुछ-कुछ अमृतत्व की प्राप्ति होती है; शरीर हमेशा सोलह वर्ष का बना रहता है, इसलिये वृद्धावस्था नहीं। मृत्यु का भय नहीं क्योंकि निश्चित पता है कि छत्तीस हज़ार साल की उम्र है। देवलोक में अकाल मृत्यु नहीं होती, वहाँ उम्र निश्चित है। रोग भी वहाँ नहीं होते। इसीलिये उसको प्राप्त कराने का जो पान है उसको भी अमृत कहते हैं।

चौथा अर्थ सुधा का है द्युलोक की नदी भगवती गंगा। गंगा का जल भी मनुष्य के देहज-मानस दोनों तापों को हर लेता है। गर्मी के मौसम में उत्तर काशी या हरद्वार में स्नान करो तो शरीर शीतल हो जाता है। यदि नदी में थोड़ी देर ज़्यादा गोता लगाने की कोशिश करो तो शरीर शिथिल हो जाता है, ज़्यादा नहीं लगा सकते। इतने ठण्डे पानी में ऐसा लगता है मानो जन्म-जन्मान्तर की गर्मी उसमें गोता लगाने से शांत हो गई। साथ में मन के ताप भी शान्त होने लगते हैं। गंगा के जल में यह विशेषता है कि मन को बड़ी शान्ति देता है। घर में भी लोग फव्वारे के नीचे बर्फ के गोले बाँधकर उसमें से निकले पानी से स्नान करते हैं। ठंडा वह भी गंगा जैसा ही होता है, लेकिन उससे मन में शान्ति नहीं आती। गंगाजल यद्यपि दूसरे जलों के जैसा ही दीखता है, बाहर से पता नहीं लगता कि यह साक्षात् देवनदी है और बाकी सब नदी पानी हैं, तथापि जो देवनदी का आनंद है, वह और कहीं भी गोता लगाने से आने वाला नहीं है, क्योंकि बाकी सब जगह स्नान करने के बाद मन शांत नहीं होता, उल्टा अशांत होता है। संसार के लोगों को देखो, वे भी स्नान करते ही रहते हैं। किन्तु जिस नदी के अन्दर स्नान करके मन शांत हो जाता है, फिर और कहीं कुछ भी करने की इच्छा नहीं रहती, ऐसी शीतल गंगा देवनदी के सिवाय और कोई नहीं है। हरद्वार या उत्तरकाशी इसलिये कहते हैं कि गंगाजल में जितना दूसरी नदियों का जल मिलेगा उतनी-उतनी उसमें थोड़ी-सी शिथिलता तो लायेगा ही और जितने-जितने ऊपर जाओगे, उतना- उतना उसका आनंद है। भगवान् भाष्यकर तो यहाँ तक कहते हैं 'गंगाजल लवकणिका पीता'। गंगाजल बड़ा दुर्लभ है। जहाँ संसार के सार पदार्थों को बताया है वहाँ गिनाया ही गंगाम्बु (गंगा-जल) है। मनुष्य को पाँच दिन में पता लगने लगता है। गंगा-किनारे मन ऐसा शांत होने लगता है कि शरीर और मन दोनों के ताप को शांत कर देता है। जल शांत करे यह स्वाभाविक ही है।

ये चीज़ें मन के ताप को हटाती हैं, यहाँ तक तो ठीक है क्योंकि बहुत शुद्ध और दिव्य चीज़ें हैं, हृदय को प्रसन्न कर देती हैं। लेकिन वह वास्तविक सुधा स्वरूप परमात्मा कैसा है?

'यस्यांगसंगि शवभस्म कपालमाला हालाहला- हि-दहनाद्यपि हृद्यमेव।' उनकी विशेषता यह है कि उनके अंग का संग करने के कारण, उनके अंग के साथ एक हो जाने के कारण, उनके अंग के साथ लिपट जाने के कारण, जिसको संसार में महान् दुःख की चीज़ माना जाता है, वह शव-भस्म (मुर्दे की भस्म) जिसके नाम से ही लोग घबरा जाते हैं, वह हृद्य हो जाती है। एक बार कोई सज्जन आये, उनसे किसी ने कहा होगा कि अमुक कार्य करना है तो भस्मी लगाकर किया करो। उन्होंने आकर कहा कि भस्मी दे दीजिये। हमारे एक महात्मा बड़ा मज़ाक करने वाले हैं। उन्होंने कहा कि 'हम लोग महात्मा हैं, हमारे पास मुर्दे की भस्म है, लोगे?' उसने कहा 'और कहीं से ले लूँगा।' चिताभस्म के नाम से लोग घबरा जाते हैं। यहाँ तक कि यदि चिता का धुआँ लग जाये तो स्नान करना पड़ता है। लेकिन वही चिताभस्म भगवान् शंकर के शरीर में लिपटी हुई अत्यंत सुन्दर लगती है। एक खोपड़ी कहीं देखने को मिल जाये तो लोग घबरा जाते हैं। जहाँ बिजली के तार लगे होते हैं वहाँ भी खोपड़े का फोटो बना देते हैं कि इसे छूना नहीं, लोग उसके चित्र से इतने घबराते हैं कि छूते नहीं हैं। यदि किसी के कमरे में कपाल रख दो तो रात भर सोयेगा नहीं, भूत ही देखता रहेगा। परमेश्वर एक कपाल न रखकर कपालों की माला ही पहने रहते हैं और वे सारे-के-सारे कपाल उनके ऊपर सुन्दर दीखते हैं। उनके अंग से संग हो जाने पर शवभस्म और कपालमाला भी शोभित हो जाती है।

इसी प्रकार से हालाहल जहर को देखकर मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवता भी घबराकर भागने लगते हैं। ब्रह्मा, विष्णु भी कहने लगे कि अब तो मामला भयानक हो गया। बढ़िया-बढ़िया माल सबको अच्छा लगा; लक्ष्मी, कौस्तुभमणि निकली तो विष्णु ले गये। सात सूंड वाला हाथी (ऐरावत) निकला तो इन्द्र ने कहा 'लाओ इधर।' बाबाजी (भगवान् शंकर) चुपचाप बैठे हुए थे, उन्हें क्या, सोचा बच्चे हैं खेलने दो। जैसे ही हालाहल निकला तो बढ़िया-बढ़िया माल लेने वाले सब गायब। अंत में हिम्मत करके कहा कि बाबा जी ने अभी कुछ नहीं लिया है, उन्हें बुलाओ। वहाँ पहुँचे तो उन्होंने कहा 'बिलकुल ठीक है।' पी गये। कण्ठ में धारण कर लिया तो उनकी शोभा बढ़ गई कि आज तक उन्हें नीलकण्ठ नाम से स्मरण करते हैं। जिनका मुख बहुत सुन्दर होता है वे ठोड़ी आदि पर एक काला तिल बनाकर लगाते हैं। विषपान करने से परमेश्वर के भी वैसा एक काला दाग लग गया। अत्यंत सुन्दर कपूर गौर वर्ण में एक काला दाग, नीकण्ठ अत्यंत शोभा वाली चीज़ हो गई। ऐसे ही वे इतने सर्प लिये बैठे हैं। यदि एक सर्प यहाँ निकल आये तो सारे लोग इधर-उधर हो जायेंगे। लेकिन वहाँ एक सर्प नहीं, कानों में, सिर पर, कमर में, हाथ में, भुजाओं में सर्प ही सर्प हैं। लेकिन यह सर्प उनका शृंगार करते हैं। संसार में सबसे ज़्यादा जलाने वाली चीज़ अग्नि है और भगवान् शंकर के माथे पर अग्नि रहती है। उनका तीसरा नेत्र ही अग्नि का है।

लेकिन वे क्या करते हैं? तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर की कामनाओं का दहन करके तुमको

परम शान्ति देते हैं। उनके तृतीय नेत्र ने काम को ही जलाया था। कामना जलते ही चित्त प्रसन्न हो जाता है, बुद्धि स्थिर हो जाती है। 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'। इसलिए कहते हैं 'यस्यांगसंगि शवभस्म कपालमाला हालाहलाऽहि दहनाद्यपि हृद्यमेव'। यह असली सुधा हुई। बाकी चीज़ों जैसे गंगा, अमृत, चन्द्रमा ने पाप-ताप को शान्त किया लेकिन यह तो स्वयं भी तापरहित है। परमात्मतत्त्व की विशेषता यह है कि जो ताप देने वाली चीज़ें हैं, वे भी उनके अंग का स्पर्श करके स्वयं तापरहित ही नहीं हो जातीं वरन् दूसरों को भी तापरहित होने की सामर्थ्य वाला बना देती हैं। लोग समझते हैं ये चीज़ें ताप हरण करती हैं, उनको पता नहीं कि किसका संग प्राप्त हो जाने से दूसरे के ताप-हरण की सामर्थ्य उनमें आई है। वही परमात्म-तत्त्व और वही चिदानंद लहरी है।

यही जीवन्मुक्ति है। बाकी जितनी चीज़ें हैं उनमें तो तुम्हें कहीं एक जगह उसका दर्शन होता है लेकिन यहाँ उस परमात्म-तत्त्व के साथ तुम्हारे अंग का संग हो जाता है। 'यस्य' अंगी हो गया, इसलिये अंगी के अंग का संग हो जाता है। अंगी का अंग क्या है? अंगी-परमात्मा के अंग सद्, चित्, आनंद, अनंत रूप हैं। भगवान् पद्मपादाचार्य लिखते हैं कि वस्तुतः उसके अन्दर भेद नहीं होने पर भी इस भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णनों से उसमें भेद-प्रतीति कराकर अखण्ड बोध कराना श्रुति का तात्पर्य है। 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म', 'विज्ञानम् आनंदं ब्रह्म' जो ज्ञान वही आनंद, जो आनंद वही ब्रह्म अनंत है, अलग-अलग नहीं हैं। लेकिन भिन्न-भिन्न प्रकार की भ्रान्तियों के निवारण के लिये श्रुति ने भिन्न-भिन्न वचनों का प्रयोग कर दिया। अंगी परब्रह्म परमात्मा है और उसके अंग सत्, चित् आनंद आदि हुए। उनके साथ जिसका संग हो गया अर्थात् उनके साथ जो एक हो गया। असली संग तो वही है जो कभी न छूटे। यह वह संग नहीं कि आज हुआ, कल छूट गया! जब उसके अंग का संग मिल जाता है अर्थात् उस परमात्मा के सत्, चित्, आनंद रूप के साथ 'सदहं चिदहं आनन्दोऽहम्' इस प्रकार का अनुभव हो जाता है कि उससे मैं अभिन्न हूँ, तब यह स्थिति है। शरीर, जिसे तुम ज़िन्दा कहते हो, यह भी मुर्दा शव ही है! उसके अंग के संग से यह भी पवित्र हो जाता है। क्यों ज्ञानी के शरीर का पूजन करते हो? शरीर तो शव हुआ। लेकिन जहाँ ज्ञान का स्पर्श हुआ, वह शव भी पवित्र हो गया। सारे सांसारिक ज्ञान इसी में रहते हैं। सारी चिन्तायें कपाल में ही रहती हैं। आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि माथे का सामने का हिस्सा चिन्तन का केन्द्र है। उसके बाद वह नित्य-निरंतर चिंतन करता है, अतः वह भी धन्य हो जाता है। जो कपाल आत्मा का चिंतन करवाता है, वह उसके अंग-संग से हृद्य हो जाता है। वह जिसके विषय में चिंतन करता है, वह व्यक्ति भी ताप से शांत हो जाता है। यह माया रूपी भयंकर हाला (जहर) है, जिससे ब्रह्मा, विष्णु आदि भी भय खाते हैं, 'दुर्ज्ञेया शाम्भवी माया' परमेश्वर की माया समझ में नहीं आती। विचार करो, तुम ब्रह्मरूप होकर क्या कर रहे हो? बंगला भाषा में कहावत है 'मायार फाँदे ब्रह्म पौड़े कांधे' माया

के फंदे में पड़ा हुआ ब्रह्म भी क्रन्दन कर रहा है! प्रत्यक्ष ही है, ग्यारह बजे तक सत्संग का कार्यक्रम है तो दस बजे से ही क्रन्दन होने लगेगा कि चाँदनी चौक जाना है। ऐसी माया है। ज्ञानी भी संसार को माया- युक्त होकर देखता है। अविद्यालेश, माया एक ही बात है। लेकिन उसमें वह अत्यंत करुणा का प्रवाह करके शोभा वाला हो जाता है। उस माया के द्वारा द्वैत दर्शन करता प्रतीत इसलिये होता है कि उसका मन भी हृद्य हो जाये, क्योंकि करुणा करनी है। अपनी ज्ञानाग्नि के द्वारा तुम्हें जलाता है। ज्ञानी वैराग्य का उपदेश देता है तो तुम्हारी मान्यताओं को जलाता है। तुमने मान रखा है कि धन बड़ी अच्छी चीज़ है और वह कहता है 'अर्थमनर्थम्।' तुम कहते हो। 'गजब हो गया, हम तो इसे सुख का साधन समझे हुए थे और यह कहता है कि यही तो दुःख का साधन है!' जिन-जिन को तुमने सुख का साधन समझा है उन सबको वह वैराग्य की अग्नि में जलाता है तो वह जलाना वस्तुतः तुम्हारे तापों का हरण करता है। तुम सोचते हो कि 'बात तो ठीक है कि मैं पुत्र-मोह में पड़ा हुआ इतना कष्ट पा रहा हूँ, अब पता लगा कि यह मोह व्यर्थ ही था।' यह जो ज्ञानरूपी सुधा है, इसके सिन्धु के मध्य अर्थात ज्ञानी के हृदय में ही वह चिदानंदलहरी प्रकट हो जाती है।

## प्रवचन-६

२५-३-७

भगवती के स्वरूप का प्रतिपादन किया कि वह चिदानंद-स्वरूपिणी है। उसकी प्राप्ति का स्थान बताते हुए बता रहे थे 'सुधासिन्धोर्मध्ये' वह सुधा-सिन्धु के मध्य में मिलेगी। प्राचीन दृष्टि से पता लिखने का तरीका और अर्वाचीन दृष्टि से पता लिखने का तरीका कुछ भिन्न है। प्राचीन दृष्टि से पता बुद्धिमत्तापूर्वक होता है आज हम पता भी बेवकूफी के तरीके से लिखते हैं। आज लिखते हैं 'बाबू राम दास, ५६ गांधीगली, चाँदनी चौक, दिल्ली-१' पहले नाम, फिर गली, फिर मुहल्ला और फिर शहर, उसके आगे फिर भी यदि लिखना है तो दिल्ली, उत्तर प्रदेश आदि। देश के बाहर पत्र लिखेंगे तो अमेरिका इत्यादि लिखेंगे। कभी सोचा कि यह कितना गलत तरीका है? सबसे पहले पत्र को देखने वाले की जिज्ञासा होगी कि किस देश को यह चिट्ठी जा रही है। अमेरिका में डाक छाँटने वाले को पहला ज्ञान होना चाहिये दक्षिणपूर्व एशिया का, एशिया में भारतवर्ष का और फिर भारत में दिल्ली शहर का। हम लोग प्राचीन ढंग से ठिकाने में सबसे पहले लिखते हैं 'जम्बूद्वीपे, भरतखण्डे, आर्यावर्तान्तर्गत-ब्रह्मावर्तैकदेशे।' सबसे पहले हमने अपना द्वीप बताया कि हम जम्बूद्वीप में रहने वाले हैं। आगे विचार आया कि जम्बूद्वीप में कहाँ हैं? भरत ने जिस देश को एक शासनसूत्र में बाँधा, उस भारत देश में, हिमालय-विन्ध्य के मध्य में, उसमें भी गंगा-यमुना के बीच में, उसमें भी यमुना के पश्चिम भाग में और इन्द्रप्रस्थ क्षेत्र में। ये सारे ठिकाने चलते हुए तब हम कहते हैं कि अमुक गोत्रोत्पन्नोऽहम् अपने को बताते हैं कि इस स्थान पर मैं हूँ। यह इसलिये कह रहे हैं कि हमारे अन्दर अपने देश और राष्ट्रीय भावना के प्रति इतनी अश्रद्धा है कि ठिकाना भी हम विलायती ढंग से लिखना चाहते हैं, यद्यपि भारतीय ढंग स्पष्ट, बुद्धिसंगत और व्यावहारिक है।

ठीक इसी प्रकार से यहाँ उस भगवती का ठिकाना बता रहे हैं। पहले बताया सुधा-सिन्धु के मध्य में भगवती मिलेगी। फिर क्रम से बतायेंगे कि वहाँ का चारों तरफ का वातावरण कैसा है, फिर उसके अन्दर कैसा घर है, 'चिंतामणिगृहे।' फिर कैसा उसका आसन है, 'शिवाकारे मंचे' जिस मंच में बैठी हुई हैं। फिर उसके ऊपर कौन-सी गद्दी लगी है 'परमशिवपर्यंकनिलयाम्'। यह हमारा ठिकाना बताने का तरीका है। सर्वप्रथम बताया कि भगवती सुधा-सिन्धु के मध्य में मिलेगी। सुधा का तात्पर्य बताया एकधा की तरफ जाना ही सुधा है। जब तक हम जीव-शिव की एकता की दृष्टि नहीं करेंगे तब तक कभी चिदानंद लहरी नहीं मिलनी है। इसका कारण यह है कि हम अपने को चित् मानते हैं और समझते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन हम चूंकि अपने आपको आनंदस्वरूप नहीं समझते, इसलिये आनंद को हमने अपने से भिन्न कर रखा है। जब तक इस आनंद को अपने चित् से अभिन्न नहीं करोगे, तब तक वह कैसे मिलेगी? कभी

सोचा है कि जीवन में हमने किन चीज़ों को सुख या आनंद मान रखा है? जिन चीज़ों को हम सुख और आनंद मानते हैं, थोड़े समय बाद उनमें सुख या आनंद की प्रतीति नहीं रहती। हमारा वही हाल है जो छोटे बच्चों का होता है। पहले लैमन-चूस, फिर चॉकलेट माँगा, वह थोड़ा चूसा फिर दूसरे के हाथ में लॉली पाप देखकर उसे फैंक कर रोने लगा। फिर आइसक्रीम देखी तो वह चाहिये। थोड़ी देर बाद दूसरे लड़के के हाथ में रेल का खिलौना देखकर रोने लगा ऐसे ही हम किसी चीज़ की कामना करते हैं, वह चीज़ मिली, उसके अंदर भी हम अपनी पूरी संवेदन शक्ति के साथ चित्त को एकाग्र नहीं कर पाते। तुरंत किसी अन्य के पास अन्य पदार्थ को देखकर हमारी वैसी कामना हो जाती है। एक दिन हम किसी के साथ एम्बेसडर मोटर में बैठे हुए जा रहे थे। उधर के एक इम्पाला गाड़ी आई, हमारे साथ एक लड़का बैठा हुआ था, वह अकस्मात् 'ऊंफ' बोला, जैसे हम लोग 'राम!' कहते हैं। हमने सोचा किसी चींटी ने काट लिया होगा। पूछा, क्या हुआ? कहने लगा 'आपने देखा नहीं, वह इम्पाला गई थी।' हमने कहा 'ध्यान नहीं दिया, क्या कुछ चोट लगी है?' कहने लगा 'महाराज! न जाने पिता जी कब एक इम्पाला खरीदेंगे।' हमें बड़ा आश्चर्य हुआ कि बढ़िया मोटर खरीद रखी है, चल भी तेज़ रही है लेकिन दूसरे की इम्पाला को देखकर उस बेचारे को चोट लग रही है। प्रतिक्षण हमारा यही अनुभव है। ठीक जैसे बच्चे के हाथ में लॉली पाप आया तो आइसक्रीम के लिये रोने लगा, वह आई तो और किसी चीज़ के लिये रोने लगा ऐसे चीज़ मिली और कुछ क्षण में ही हम फिर रोना शुरू कर देते हैं।

हमने कभी विचार नहीं किया कि इसका मूल कारण क्या है? सुख क्या पदार्थ है, आनंद क्या चीज़ है जिसके पीछे हम रात-दिन दौड़ रहे हैं; वह आखिर क्या चीज़ है? लोगों ने कहा अरे सुख हो रहा है तो 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' हम भी उसे लेने दौड़ रहे हैं! उनसे कहो 'ज़रा रुको, जिस सुख के पीछे दौड़ रहे हो, वह समझ लो, समझा दो कि वह सुख है क्या चीज़?' कहते हैं 'स्वामीजी, फुर्सत नहीं है, सुख हाथ से निकल जायेगा।' बिना पहचाने दौड़ रहे हैं, परिश्रम कर रहे हैं, ढूँढ रहे हैं, लेकिन जानते नहीं हैं! हमारे वेदादि सच्छास्त्र कहते हैं कि जिस आदमी को ढूँढना हो, उसका हुलिया पहले समझ लो। पहले पता लगा लो कि सुख क्या चीज़ है। पता लगाओगे तो एक विचित्र बात मिलेगी; यह एक रहस्य की बात बताते हैं : आनंद एक ऐसी चीज़ है जिसको ढूँढोगे तो कभी मिलने वाला नहीं। ढूँढने पर ही तो आनंद हाथ से निकल जाता है। बड़ा सोचते हैं कि सुख ढूँढने से मिलेगा। ठीक जैसे नींद तब आती है जब नींद लेने का प्रयत्न करना बन्द कर दो। बहुत-से लोगों को अनिद्रा (insomnia) का रोग हो जाता है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों से पता चलता है कि अनिद्रा नाम का कोई रोग नहीं है। जिस मनुष्य को बड़ी चिन्ता लगी है कि 'हाय! नींद नहीं आई, कब नींद आयेगी, ग्यारह बज गये, अभी तक नींद नहीं आई', बस यही चिन्ता उसे नींद नहीं आने देती। सच्ची बात तो यह है कि नींद लाने के लिये जो दवाई दी जाती है। वह सिवाय अफीम के काम के और कुछ नहीं

करती है। अफीम लेने के बाद वह चिन्ता हट जाती है कि नींद कब आयेगी। प्रायः देखा होगा कि जो लोग कहते हैं कि हमें नींद नहीं आती, वे बैठे-बैठे जप करते हुए ऊँघते रहेंगे या बस में बैठे-बैठे ऊँघते रहेंगे। लेटकर उन्हें नींद नहीं आती। कारण यह है कि लेटने के साथ वह नींद को लाना चाहते हैं और जब तक नींद को लाना चाहोगे तब तक नींद नहीं आयेगी। लाना चाहना मन का व्यायाम है। मन जब क्रियाशील होगा, तब किसी चीज़ को लायेगा। मन की क्रिया का नाम ही है सुषुप्ति का न होना। जैसे निद्रा, ऐसे ही सुख भी है।

सुख का मतलब है किसी भी आयास से रहित हो जाना। सुख को लाने के लिये निरंतर परिश्रम करते रहोगे तो सुख नहीं आयेगा। जब दौड़ने वाले को कहते हैं कि 'सुख हाथ से निकल जायेगा, इसकी चिन्ता कर रहे हो, ज़रा शान्ति से बैठो,' तो वह कहता है कि सुख हाथ से निकल जायेगा। अपने जीवन में देखा होगा कि सुख कब-कब मिला है। बाहर से काम करके थक कर आये और चुपचाप आराम कुर्सी के ऊपर लेटे हो, सुख हो रहा है, लेकिन कर कुछ नहीं रहे हो। बढ़िया सुन्दर भोजन करने को मिल गया, नवरात्री व्रत के बाद बालूशाही खाने को मिल गई। बिस्तरे पर लेटे हुए कुछ नहीं कर रहे हो और ऐसा सुख मिल रहा है जो खाते समय नहीं मिल रहा था, खाकर लेट गये तब मिल रहा है। बच्चा जब माँ का स्तन पी लेता है तो अपने हिण्डोले में पड़ा हुआ आनंद की किलकारियाँ मारता है। पीते समय उसे उतना सुख नहीं है, कभी इधर तो कभी उधर मुँह मारेगा, कभी दाँत लगायेगा, कभी माँ से थप्पड़ खायेगा। जब पी चुका, तब सुख पूरा हुआ। जब-जब आयासरहित होते हो, तब सुख मिलता है। राजा को भी तब सुख मिलता है जब वह अपने सारे चक्र को विजय करके चक्रवर्ती हो गया। न तो स्वचक्र में उसके कोई विरोधी हैं और न किसी परचक्र को उसपर आक्रमण करने का साहस है। कहोगे कि आजकल चक्रवर्ती राजा नहीं रहते, आज की भाषा में कैसे समझें? आजकल कहेंगे कि नेता का न अपनी पार्टी में विरोध है और न ही दूसरी पार्टी से हानि का डर है। केवल शब्द बदल गये हैं। जिसे न स्व-चक्र में विप्लव की आशंका है और न परचक्र की चिन्ता है, वह चक्रवर्ती राजा आयासरहित हुआ तो सुख हुआ। जहाँ-जहाँ सुख मिलता है वहाँ-वहाँ वह तभी मिलता है जब तुम उसके लिये दौड़ना छोड़ते हो। वेदांत की दृष्टि से एक बात बताते हैं : अंतःकरण की वृत्ति एक काल में एक ही बनेगी, यह जानते ही हो; युगपत् वृत्तियाँ अंतःकरण की नहीं बनेंगी। जिस समय अंतःकरण की सुखाकार वृत्ति है, उस समय सुख के ज्ञान की वृत्ति नहीं बनेगी। यदि उस सुख के ज्ञान की वृत्ति बनाने का आयास करोगे तो सुख नहीं सुख की स्मृति हो जायेगी। यदि पूर्व क्षण में जिस सुख का अनुभव किया है, उस सुख को देखने का प्रयत्न करोगे तो हाथ से निकल जायेगा। भगवान् गौडपादाचार्य ने इसलिये समाधि के सुख को लेने का तरीका बताया 'समं प्राप्तं न चालयेत्' तब तक तो आयास करो जब तक उस समभाव को प्राप्त न हो जाओ, समभाव को प्राप्त होने के बाद 'यह क्या है' इसे जानने का प्रयत्न न करो। बहुत-से लोग

इसलिये समाधिस्थ नहीं हो पाते क्योंकि सोचते रहते हैं कि समाधि हुई या नहीं। समाधि हुई, इस बात को जानने के लिये हमें इस बात की स्मृति करनी पड़ेगी और समाधि हाथ से निकल जायेगी। चाहे निद्रा का सुख हो, चाहे समाधि का सुख हो, चाहे जाग्रत् काल में आयासरहितता का सुख हो, सुख जिस समय होगा उस समय अंतःकरण केवल सुखाकार है। उस समय यदि उसे जानने का भी आयास करोगे तो सुख भी हाथ से निकल जायेगा।

सुख आयासरहितता में है, सुख को प्राप्त करने के परिश्रम में सुख नहीं है। इसलिये कहा कि चित् और आनंद जब एकाकार होंगे तभी आनंद मिलेगा। जब तक आनंद को भिन्न समझकर उसे पकड़ने का आयास करोगे तो क्योंकि दूसरी चीज़ को पकड़ने जा रहे हो, इसलिये वह हाथ से निकलता रहेगा। इसलिये अनादिकाल से आज तक प्रत्येक प्राणी सुख के पीछे दौड़ते हुए भी सुख को नहीं पा रहा है। बगीचे में कभी मोरे को देखो। आचार्यपाद लिखते हैं

'स्वामिन् रजःपरिचितं चपलस्वभावं जात्या मलीमसमिदं हृदयं मदीयम्।
त्वत्पादपद्मविषये कृतपक्षपातं धत्ते प्रमोदभरनिर्भरभृंगलक्ष्मीम्।'

कहते हैं, मेरा यह हृदय एक भौंरा है। भौंरे के छह पैर होते हैं। इसलिये उसे षट्पद कहते हैं। हमारे भी छह पैर ही हैं : पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन इन छह के द्वारा ही तो हमें सब चीज़ों का परिचय होता है। भौंरे के ऊपर तरह-तरह की धूल लगी होती है, स्वाभाविक ही है, क्योंकि जगह-जगह बैठने से हर जगह की धूल लग जाती है। इतना ही नहीं, भौंरा एक क्षण भी चुप नहीं बैठता, इधर-उधर दौड़ता रहता है, गोल-गोल घूमता रहता है। भौंरा मक्खी की तरह चपल है, मक्खी को नाक से उड़ाओ तो मुँह पर और मुँह से उड़ाओ तो आँख पर जा बैठती है। भौंरा भी अत्यंत चपल है। मारने की चेष्टा करो तो शायद शेर को मारना सरल है लेकिन उसे मारना मुश्किल है! सोचेंगे आया मुट्ठी में, लेकिन मुट्ठी खोली तो हाथ में कुछ नहीं था। भौंरा गंदा भी है। इसलिये कहते हैं कि मेरा हृदय भी ऐसा ही है। रजः संसार के पदार्थों से राग कर-कर के इसको उनसे इतना परिचय हो गया है कि यह राग की भाषा ही समझता है। अथवा 'चितं (परिचितं)' का मतलब वृद्धि को प्राप्त किया हुआ या फूला हुआ होता है; मेरा हृदय राग के कारण फूलता रहता है। न जाने कितने जन्म-जन्मांतरों में न जाने कितने अनंत पदार्थों के राग हमने इसमें कूट-कूटकर भर लिये हैं। पता ही नहीं लगता कि किस समय कौन-सा राग अभिव्यक्त हो जाता है। पदार्थ सामने आने के साथ ही पता लग जाता है कि राग है या नहीं। राग हुआ तो तुरन्त प्रवृत्ति हुई। औरतें तो टूटी सुई को भी रख लेती हैं, उसमें भी राग होता है। कहने को कहेंगे कि किसी दिन काम आयेगी। राग के भार से यह अंतःकरण ग्रस्त है अथवा फूल गया है।

और यह अत्यंत चपल स्वभाव वाला है। इस हृदय को किसी एक जगह पर टिकाओ तो

झट वहाँ से उड़कर दूसरी जगह चला जाता है। क्या कभी विचार किया है कि हम अपने जीवन में कितनी ज़्यादा और कितने प्रकार की अव्यवस्थायें भर कर रखते हैं? किसी चीज़ में हमारी व्यवस्था नहीं है, वस्त्र पहनने में भी हमारे में किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं है, कपड़ा पहनने का ध्यान ही नहीं है, भोजन की भी कोई व्यवस्था नहीं है। दूसरों के साथ व्यवहार करने में भी कोई व्यवस्था नहीं है, भाषा में व्यवस्था नहीं है, रास्ते चलने में व्यवस्था नहीं है, घर में चीज़ें रखने में कोई व्यवस्था नहीं है। हमारी किसी चीज़ में व्यवस्था नहीं है। जो लोग आजकल बाहर से व्यवस्था वाले दीखते भी हैं, उनमें वास्तविक व्यवस्था नहीं है। वह केवल क्रमानुसरण (orderliness) है, वास्तविक व्यवस्था नहीं है। क्रमानुसर्त्ता निरंतर इस बात के लिये प्रयत्नशील हैं कि हम व्यवस्थित रहें। वे स्वयं अपने ऊपर भी बोझ हो जाते हैं और जिनके पास रहते हैं, उनके लिये वे एक तरह से भूत से नज़र आते हैं; जैसे ही घर में पहुँचे, सब डर जाते हैं। कपड़ा बहुत अच्छे तरीके से पहनेंगे, लेकिन चूँकि वह व्यवस्था हृदयगत नहीं है इसलिये हमेशा मानसिक तनाव बना रहता है। भाषा में बोलेंगे लेकिन उनके सामने निरंतर शब्दांतर आते हैं, उनमें से किस शब्द को चुनूँ   इसे सोचते रहते हैं। इसे हम व्यवस्था नहीं कहते हैं, क्योंकि यह तो फिर एक व्यवस्था का रोग है। जैसे अव्यवस्थित होना रोग है, ऐसे ही जबरदस्ती व्यवस्थित होना भी एक रोग है। जिसके अंतःकरण और हृदय व्यवस्थित नहीं हैं वह हमेशा अपने आंतरिक और बाह्य जीवन में संघर्षरत है। व्यवस्थित अंतःकरण में चिन्ता नहीं होती। कभी हो नहीं सकता कि ग़लत शब्द उसके हृदय में आये।

जीवन में सबसे ज़्यादा सुख लाने का पदार्थ यह व्यवस्था है। व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन दोनों में यह व्यवस्था लानी है। हमारी समाज- व्यवस्था में कभी मनुष्य के मन में यह संदेह ही नहीं होता था कि मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे जूता नहीं गाँठना चाहिये। यदि कहो भी कि 'हज़ार रुपया दूँगा', तो कहता था 'मैं ब्राह्मण हूँ, जूता नहीं गाँठूँगा।' कोई तनाव नहीं होता था कि मुझे सवेरे-सवेरे उठना पड़ता है। ऐसे ही चमार को कोई तनाव नहीं था कि 'हाय! मैं पढ़ा-लिखा नहीं कि पुजारी बन जाऊँ।' जैसे सामाजिक जीवन में व्यवस्था, ऐसे ही व्यक्तिगत जीवन में व्यवस्था थी। खान-पान सब ऐसा स्वाभाविक बना हुआ था कि न तो निरंतर अव्यवस्था थी और न चीज़ों में से चुनाव करने का आंतरिक संघर्ष था। आजकल की अव्यवस्था के दोनों रोग नहीं थे   मूड (mood) बिगड़ना और (boredom) बोर होना   ये दोनों रोग अव्यवस्था के कारण हैं। कई चीज़ों में से जब चुनाव करना पड़ता है तो उस समय चुनाव करते-करते मनुष्य समाज से बोर हो जाता है, अपने आप से बोर हो जाता है, सोचता है कि 'यह क्या जीवन है, मैं कहाँ फँस गया!' यदि चुनाव नहीं कर पाता तो बिगड़े मूड वाला हो जाता है। जितना-जितना जीवन में व्यवस्था का प्रवाह होने लगता है, उतना ही न तनाव रह जाता है और न ढीलापना आता है। शिथिलता भी एक बहुत बड़ा तनाव है। कई बार आदमी सोचता

है कि शिथिल हो जाने से काम हो जायेगा। जो कार्य तुमने समय पर नहीं किया वह तुम्हारे हृदय को कुरेदता रहेगा। हर बार मन में यह आयेगा कि यह काम बाकी रह गया। आलसी व्यक्ति कभी सुखी नहीं होगा। जैस नित्य-निरंतर श्रम करने वाला कभी सुखी नहीं हो सकता। जिसने अपनी क्रियाओं को नियमित कर रखा है, कितना करना है, यह जिसे ज्ञात है और उसे समय पर कर लेता है, उसके पास बिना ढूँढे हुए सुख आ जाता है। यह अंतःकरण की चपलता अव्यवस्था के रूप में प्रकट होती है। हम लोगों का अंतःकरण निरंतर चपल है।

इसने जन्म कहाँ से लिया है? 'जात्यामलीमसमिदं'। पंचमहाभूतों से अंतःकरण बना है, इसलिये इसकी जाति बड़ी गंदी है। जैसे भौंरा काला होता है , अंतःकरण भी ऐसा ही है। यह अंतःकरण तुम्हारे सुख के सामने काली दीवाल बनाकर खड़ा रहता है। जैसे ही अंतःकरण की दीवाल हटी, चाहे सुषुप्ति में हटे चाहे जब यह क्रिया करके थक चुका हो इसलिये हटे, चाहे समाधि से हटे, वैसे ही सुख भासता है। जब तक यह है तब तक चित् और आनंद के बीच दीवाल है। जैसे ही यह बीच का पर्दा हटा, चित् और आनंद एक हुआ, वैसे ही आनंद का अन्वेषण नहीं रह जायेगा। भौंरा इस प्रकार घूमता हुआ अंत में तभी शांत होता है जब उसे कमल मिल जाता है और उसपर जाकर बैठता है। उसके पहले दूसरे फूलों पर आता है, टक्कर मारता है लेकिन वहाँ से फिर दूसरी तरफ जाता है। कमल मिलने पर उसका दुनिया-भर में चक्कर काटना बन्द हो जाता है। और तब न वह गूँजता है और न उसके अन्दर चपलता रह जाती है। 'हृदयं मदीयं' वैसे ही मेरा हृदय 'त्वत्पादपद्मविषये कृतपक्षपातम्'। हम परमात्मा के चरण-कमल के प्रति अपना पक्षपात कर लेते हैं, अपने पक्ष को उनकी तरफ कर देते हैं जैसे वकील को अपने मुवक्विल के प्रति पक्षपात है। यद्यपि वकील जानता है कि इसने कर की चोरी की है, इसलिये इसे खूब जुर्माना होना चाहिये, फिर भी अदालत में कहेगा कि 'मेरे मुवक्किल ने जन्मभर चोरी नहीं की।' उसके हृदय में केवल मुवक्किल का पक्ष है। इसी प्रकार हे प्रभु! आज से मेरे हृदय में अन्य कुछ नहीं, केवल तुम्हारा पक्ष ही मेरा पक्ष है। यह अहम् का त्याग है। जब तक यह नहीं होता तब तक एकधापना नहीं आया। हम कहते हैं कि हम परमेश्वर से एक हैं 'मगर;' यह मगर अपने जीव-भाव का पक्षपात है। 'सारा संसार मिथ्या है, 'मगर' महाराज! व्यवहार तो करना ही है।' उसको प्रारब्ध आदि के नाम से छिपाते हैं। अब तक पक्षपात जीव के प्रति है। जैसे वह षट्पद भ्रमर अपने पक्ष को केवल कमल के अधीन कर लेता है, ऐसे ही हमें अपने पक्ष को परमेश्वर के ही अधीन करना है।

पक्ष पंख को भी कहते हैं। भौंरे के पंख कमल के पराग में लिपट जाते हैं। इसी प्रकार हमने आज से जीवभाव का पक्ष छोड़कर तुम्हारे ही चरण कमलों के विषय में अपना पक्षपात कर रखा है। अब आयास ख़त्म हो गया। न हमको कभी किसी भी चीज़ के बारे में संदेह होने की ज़रूरत रह गई और न हमको कभी और किसी भी चीज़ के बारे में संकोच रह गया। जैसे

वकील को यह नहीं सोचना पड़ता कि दोनों में ठीक कौन है। अभी हमारा पक्षपात ठीक न होने के कारण हम सोचते रहते हैं कि लड़के को नौकरी में उन्नति दिलाना ठीक है या जप करना ठीक है, प्रातःकाल उठकर किसी की सिफारिश के लिये घूमने जाना ठीक है या बैठकर भगवान् शंकर का रुद्राभिषेक करना आवश्यक है। हम ईश्वर की तरफ जाते हैं लेकिन जीव का पक्षपात लेकर जाते हैं। हम जीवभाव के वकील हैं, पुष्टि जीवभाव की चाहते हैं। फिर हम जीवभाव के पक्ष को गिराकर ईश्वरभाव को पुष्ट करेंगे। जीव तो अपना पक्ष बीच-बीच में दोहरायेगा। दो दिन से भोजन नहीं मिला तो पेट भी जीवका पक्ष करके दर्द करेगा, स्नायुमण्डल भी भूख से चक्कर लगायेगा, जीवका चक्कर लगाने वाले बहुत हैं लेकिन मैं तो ईश्वर का पक्ष लिये बैठा हूँ, जीवभाव के सुख-दुःख के साथ मेरा कोई मतलब नहीं है। जीव जो मर्जी वह भोगे। तब 'प्रमोदभर निर्भरता' आयेगी। इसमें आनंद भर जायेगा। जब तक परमेश्वर के चरणकमलों को वह इस प्रकार के पक्षपातपूर्वक धारण नहीं करता, तब तक कभी प्रमोद भरने वाला नहीं है। लोग सुख की तरफ दौड़ते हैं, क्योंकि चिदानंद को अनेक समझते हैं। जब चित्त के अन्दर उनकी एकता समझ ली जायेगी तभी प्रमोद की पूर्णता होगी।

लेकिन समझने और जानने में बड़ा फ़र्क है। कभी सोचा कि जीवन में हम लोग इतने क्यों पिछड़े रहते हैं? कारण यह है कि हम लोग अपनी बुद्धि पर जितना ज़ोर देते हैं उतना हृदय पर नहीं देते। अथर्ववेद का मंत्र कहता है कि मूर्धा को हृदय से एकदम सी देना है। अभी हम बुद्धि से बहुत बातें सोचते हैं और समझ में भी आती हैं, लेकिन उनके साथ तीव्र संवेदना नहीं होती। क्या कभी देश की गरीबी को देखकर तुम्हारे चित्त में तड़प उठती है कि तीन दिन तक नींद न आई हो, कभी खाना-पीना बन्द किया हो? क्या कभी किसी दुर्घटना को देखकर तुम्हारा चित्त महीने-भर तक आँसू बहा सका? जीवन में किसी चीज़ में तीव्र संवेदना नहीं है। भारतेतर देशों में भी ऐसा है। हम लोग सब चीज़ों को बुद्धिग्राह्य ही समझते हैं। यह 'समझ' नहीं है। समझ वह तब होती है कि जिस चीज़ को जब बुद्धि पकड़े, उसके अन्दर तीव्र संवेदना भी हो जाये। क्या कभी 'आखिर, उस एक अखण्ड चिन्मात्र के अन्दर द्वैतभाव से इतना बड़ा जगत् प्रतीत हो रहा है!' इस प्रतीति के कारण स्तब्ध होकर हमारी साँस भी रुकती है? भगवान् सुरेश्वराचार्य लिख सकते हैं 'अयमेव हि नोऽनर्थो यत् संसार्यात्मदर्शनं' हमारे लिये यही अनर्थ है कि हमको संसारी आत्मा की प्रतीति हो रही है। क्या कारण है कि हम लोग बार-बार वेदांत सुनकर भी इस तड़प को प्राप्त नहीं होते? हम उसे ढाँक लेते हैं, और ढाँकने वाले बहुत जवाब याद करते हैं कि अविद्या के लेश की अनुवृत्ति से प्रतीत हो रहा है। सोपाधिक और निरुपाधिक दो प्रकार के अध्यास होते हैं। सोपाधिक में अनुवृत्ति होती है, निरुपाधिक में नहीं होती। इत्यादि जवाब पहले याद करने का तात्पर्य हुआ कि मन में तीव्र संवेदना नहीं है। एक लड़का फेल होता है और जाकर गंगा में कूद जाता है। यह उसने अच्छा काम नहीं किया, आत्महत्या बुरी है, लेकिन

उसकी संवेदना को देखो! वह सोचता है कि मैंने अपना कर्त्तव्य नहीं किया इसलिये आत्महत्या करता है। दूसरा लड़का दिन भर रोकर शाम को घर आता है। तीसरा नतीजा देखकर हाथ हिलाता हुआ कहता है 'पापा अच्छा हुआ, मेरा कसूर नहीं, अध्यापक से पहले ही मुझे बड़ी शिकायत थी।' पढ़ते काल में ही मन में यह था कि फेल हो जाऊँगा तो क्या होगा! उसे फेल होने की संवेदना नहीं है। इसी प्रकार विचारक जब संसार की प्रतीति करता है तब उसका हृदय तड़पता है।

स्वामी तोतापुरी पंजाब के थे। रामकृष्ण परमहंस के गुरु और विवेकानन्द के दादा गुरु थे। सरगोधा में उनकी समाधि है। चालीस वर्ष तक वे निरंतर वेदांत के अध्ययन-चिन्तन में लगे रहे। फिर तीर्थयात्रा का संकल्प मन में आया तो निकले। जगन्नाथपुरी से कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उन्होंने गदाधर भट्टाचार्य (रामकृष्ण का पूर्व आश्रम का नाम) को देखा। उन्हें योग्य देखकर उनके मन में आया कि यह वेदांतनिष्ठा का साधक बन सकता है। उन्होंने उन्हें संन्यास दिया और वेदान्त-चिन्तन में लगाया। बंगाल में वैसे ही महात्माओं का आना-जाना कम रहता है। वे वहाँ ग्यारह महीने टिके। उनका शरीर पंजाब का था। आजकल के पंजाबी नहीं समझना! पहले पंजाब जाते थे तो हम लोगों को भी मक्खन का गोला मिलता था। आजकल दूध भी मलाई निकालकर पीते हैं। धनी लोग भी ऐसा करते हैं क्योंकि मलाई अच्छी नहीं लगती। बढ़िया मक्की की रोटी और सरसों का साग मिलता था उसमें भी मक्खन डालकर। उनका शरीर बढ़िया था। बंगाल में भात और पतली दाल खाने को मिले। साग भी बनायेंगे तो पाव भर में डेढ़ किलो पानी डालेंगे, उसमें भी मसाला खूब और घी की जगह कड़वा तेल डालते हैं। वैजीटेबल तब तक नहीं आया था। स्वामी जी का शरीर यह नहीं संभाल पाया और बीमार हो गये। पेट खराब हो गया, आँव हो गई। यह सारी घटना सवा सौ साल पहले की है। तब इतनी औषधियाँ नहीं थीं। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति हो गई कि समाधि लगाने बैठें तो वृत्ति एकाग्र न हो। शरीर में संवेदना इतनी तेज़ होने लगी कि एक दिन सोचने लगे कि 'यह मेरा क्या शरीर है जिसके कारण ब्रह्माकार वृत्ति बनाने में विघ्न आ रहा है। इस शरीर का कोई प्रयोजन नहीं है। जब तक उस ब्रह्मानंद को ले, जीवन्मुक्ति का आनंद ले, वहाँ तक तो शरीर ठीक है, नहीं तो फालतू का ढाई मन का वजन, टट्टी-पेशाब का थैला उठाकर घूमना काम नहीं है। यह तो जीवन्मुक्ति का आनंद लेने के लिये है।' उन्होंने विचार किया कि 'गंगा जी में इस शरीर को छोड़ दूँगा।' यह तीव्र संवेदना है। गंगा में शरीर छोड़ने गये और कलकत्ते की गंगा में इस पार से उस पार तक निकल गये, लेकिन घुटनों से अधिक पानी नहीं आया! बड़ा आश्चर्य हुआ कि गंगा जी भी मेरा शरीर लेने को तैयार नहीं हैं! निष्ठा वाले विद्वान् थे। फिर विचार आया 'प्रारब्ध का यहीं भोग कर लूँ।' रामकृष्ण पर उनकी बड़ी कृपा थी। कहा 'तेरे से प्रेम तो है लेकिन तेरा देश मेरे लायक नहीं है।' रामकृष्ण ने कहा 'पंजाब तो मैं नहीं जा सकता।' हर हालत में, उन्हें वहाँ

छोड़कर वापिस आ गये। इसका नाम तीव्र संवेदना है। कितनी तीव्र अनुभूति थी कि जिसके कारण समाधि का आनंद नहीं मिलता वह शरीर निष्प्रयोजन है, छोड़ने योग्य है, नहीं छूटा तो निश्चय किया कि अब प्रारब्ध को भोग लिया जाये।

दृढ प्रयत्न करने के बाद यह होता है। हम वेदांत-श्रवण काल में ही घड़ी देखते हैं कि आठ बज गये; फिर कहते हैं 'यह सब प्रारब्ध के कारण ही है। क्या करें, चाँदनी चौक में जाना है!' हम ऐसे जवाब जो सोचते रहते हैं, इसका कारण ही यह है कि हमारे हृदय में तीव्र संवेदना नहीं है। हृदय में जब किसी चीज़ के प्रति तीव्र संवेदना होती है, तीव्र प्रेम होता है, तब सब तरह से प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती तो सोचते हैं कि कोई बात नहीं। हमारे जीवन में इस तीव्र संवेदना का अभाव है। परमात्मा में तो क्या, संसार के किसी कार्य में भी संवेदना का अभाव है। हम तो बस किसी तरह से जीना सहन करते हैं। कभी नहीं सोचा कि इतने साल जिये तो कहाँ पहुँचे, क्या मिला? लक्ष्यबोध ही नहीं है। पढ़ते हैं नौकरी के लिये, नौकरी करते हैं पैसे के लिये, पैसे से खायेंगे, खा-पीकर एक दिन शरीर छोड़कर चले जायेंगे। बस, हमारे जीवन का एक उद्देश्य है तो यही है कि मृत्यु कब आये। इसीलिये हम आगे नहीं बढ़ पाते। जब इस एकता के प्रति, चित्रूप आनंद की एकता के प्रति तीव्र संवेदना होती है, तब एकधा होता है। जीवात्मा का अपने जीवभाव को छोड़कर केवल ईश्वरभाव के ऊपर निर्भर हो जाना ही परमात्म-प्राप्ति का साधन है। इसके साथ ही आयास समाप्त होता है। आनंद को ढूँढना नहीं है। जब तक उसे ढूँढोगे, तब तक नहीं मिलेगा। जब अपने आपको छोड़ोगे तभी आनंद का प्रवाह आयेगा। अपने आपको व्यवस्थित करने से ही आनंद आ सकता है। शिथिलता से आनंद नहीं और न सर्वथा अव्यवस्था से आनंद है बल्कि सामाजिक जीवन में और व्यक्तिगत जीवन में अंतःकरण की जो स्वाभाविक स्थिति है वही आनंद का कारण है और वह तभी सम्भव है जब हम परमात्मा के चरण-कमल में अपने आपको पक्षपातपूर्ण समर्पित कर दें।

# प्रवचन-१०

२६-३-७१

भगवान् शंकर भगवत्पाद भगवती के स्वरूप का निरूपण करने के बाद उसके उपलब्धि-स्थल का निर्देश करते हैं, कि वह कहाँ मिलती है 'सुधासिन्धोर्मध्ये।' सुधा के तीन अर्थ बताए। सुधा का चौथा अर्थ है 'सुष्ठ दधाति इति सुधा' अच्छी तरह से जो चीज़ धारण की जाये उसे सुधा कहते हैं। सु-अच्छी तरह से और धारण करने वाला। भगवान् मनु ने जहाँ मनुष्य के धर्मों का विचार किया वहाँ सर्वप्रथम धर्म धृति (धैर्य) बताया 'धृतिःक्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।' भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में किसी-न-किसी धर्म पर सबसे अधिक बल दिया गया। उपनिषदों में सबसे अधिक बल सत्य पर दिया गया 'सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा' सर्वप्रथम सत्य को गिनाया। कृष्ण यजुर्वेद में 'धर्मं चर' के अतिरिक्त 'सत्यं वद' कहा। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'धर्मं चर' कहने से तो सत्य का ग्रहण हो ही गया, क्योंकि सत्य एक धर्म है। जैसे लोक में यदि कहो कि 'केवलराम जी और इस मकान में रहने वाले सारे ब्राह्मण भोजन करने आयें।' केवलराम भी एक ब्राह्मण हैं। 'सारे ब्राह्मण आयें', ऐसा कहने से केवलराम भी उनके अन्दर आ ही गये, फिर भी उनका नाम जो यहाँ अलग से कहा गया, वह उनकी विशेषता बताने के लिये कि वे तो अवश्य आयें। जहाँ अतिशय दर्शन होता है अर्थात् किसी चीज़ की अतिशयता को बताना होता है वहाँ सामान्य के द्वारा संग्रह होने पर भी विशेष का निर्देश अलग कर देते हैं। इसी प्रकार 'धर्मं चर' के द्वारा सत्य का संग्रह हो जाने पर भी 'सत्यं वद' इसलिये ग्रहण किया कि सत्य को उपनिषद्, वेद अतिशय धर्म मानते हैं, सब धर्मों से उसमें कोई अधिक वैशिष्ट्य मानते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद ने कहा कि पहला साधन है 'सत्यं वद' इसलिये पहले सत्य को बताया। यजुर्वेद ने सत्य को अतिशय उपयोगी बताया। ऐसे ही सामवेद के अन्दर भी सब धर्मों का वर्णन करने के बाद केनोपनिषद् में कहा है 'सत्यमायतनं' सत्य तो वह मकान ही है जहाँ ब्रह्म रहता है। वेद में सबसे अधिक प्रधानता सत्य की ही है।

मनु महाराज ने देखा कि मनुष्य उस काल में सत्य को छोड़कर असत्य की तरफ जाने लगा है। इसलिये उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से सत्य का कुछ संकोच किया। उन्होंने कहा कि सत्य बोलो, लेकिन ज़रा मीठा बनाकर बोलो। झूठ बोलने को नहीं कहा, 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः।' इस प्रकार उन्होंने सत्य में कुछ संकोच किया, लेकिन श्रुति ने सत्य में कोई संकोच नहीं किया। मनु ने कहा कि बोलो तो सत्य ही लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से उसे ज़रा मीठा करके बोलो। ब्राह्मण अधिकतर वेदों पर डटे रहते हैं इसलिये उनका सत्य ज़रा कटु होता है। लोग कहते हैं कि ब्राह्मण मुँहफट होते हैं। दूसरे

समझते हैं कि यह ब्राह्मण का दूषण है, ब्राह्मण उसे अपना भूषण समझता है। सत्य को कहाँ तक मीठा बनाया जाये! लेकिन जिस ब्राह्मण को व्यवहार में रहना है, उसे मनुस्मृति माननी पड़ेगी। व्यवहार की चिन्ता से रहित ब्राह्मण के लिये साक्षात् वैदिक (श्रौत) मार्ग 'सत्यं वद' 'सत्यमायतनम्' आदि है। लेकिन जिसको व्यवहार करना पड़े, उसके लिये कहा कि उसे थोड़ा-सा मीठा बनाओ, उसकी तेज़ी को ज़रा कम करो, इसलिये कहा 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्।' यदि कोई ऐसी बात सामने आये जिसको प्रिय न बना सको तो दबा जाओ, मत कहो। यह भगवान् मनु ने कहा, श्रुति ने नहीं कहा। श्रुति ने तो कहा कि सच्ची बात जैसी हो बोल दो, चाहे प्रिय हो चाहे अप्रिय हो। मनु ने कुछ संकोच किया कि यदि किसी सत्य को प्रिय न बना सको तो पी जाओ। झट मनुष्य के मन में संदेह आया कि थोड़ी झूठी बात हो और दूसरे को प्रिय हो तो वह भी बोलें? लेकिन मनु ने यह नहीं कहा, मनु ने तो कहा है 'प्रियं च नानृतं ब्रूयात्' चाहे जितनी मीठी बात लगे, झूठ हो तो नहीं बोलना। त्रेता बीता, द्वापर की समाप्ति आई। भगवान् वेदव्यास ने देखा कि लोग इतना भी पालन नहीं कर सकते। इसलिये उन्होंने और संकोच कर लिया। उन्होंने लोगों को देखा कि अब कलियुग का मुख खुल रहा है तो सर्वथा झूठ बोलेंगे। तब उन्होंने कहा 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणं' कि सत्य वह है जिसके द्वारा दूसरे प्राणियों का कल्याण हो। लेकिन यह सब सत्य का संकोच क्यों?

मनु ने अपने काल में ही विचार किया कि श्रुति कहती है 'सत्यं वद' तो मुझे संकोच क्यों करना पड़ रहा है? क्या कारण है कि मनुष्य के अन्दर झूठ की प्रवृत्ति है? मनु महाराज मनुष्य के मन को जानने में परम प्रमाण हैं, इसलिये स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में बताया है कि मनु ने जो कहा है वह हमारे लिये औषधि है। महाराजा मनु ने विचार किया कि इनके झूठ बोलने का क्या कारण है जब कि इतना पढ़ाया-लिखाया है? उन्होंने पाया कि लोगों के अन्दर धैर्य नहीं है। झूठ वही बोलेगा जिसमें धैर्य नहीं होगा। आज मैंने रुपया कमाया आज ही मेरे पास रह जाये। लेकिन यह तभी हो सकता है जब कर वालों से झूठ बोला जाये। धैर्य वाला सोचेगा कि आज दस बचे हैं, कल फिर दस बचेंगे। जो फ़ायदा झूठ बोलकर दस साल में करते, वह हम पंद्रह साल में करेंगे, यह धैर्य है। सत्य बोलने में मनुष्य क्यों सोचता है कि इसे बुरा लग जायेगा? क्योंकि धैर्य नहीं है। धैर्य वाला जानता है कि आज मैंने सत्य बोला है, इसे बुरा लगा है, चाहे यह मेरे से अलग हो जायेगा लेकिन जब मेरी बात की सत्यता को जानेगा तो हो नहीं सकता कि फिर मेरा मित्र न बन जाये। खुशामद के द्वारा जो मित्रता प्राप्त की जाती है वह क्षणिक होती है, स्थिर नहीं होती है। एक महात्मा के पास एक वेश्या आई, उसने कहा 'महात्मन्! हमने सुना है कि आप सबकी इच्छा पूर्ण करते हैं। आप महात्मा हैं, मैं भी आपसे आशीर्वाद चाहती हूँ, मेरी भी एक इच्छा आप पूरी कर दो।' महात्मा बड़े ब्रह्मनिष्ठ थे। उन्होंने उसे नहीं पहचाना, स्वभाव से बोले कि तेरी क्या इच्छा है? उन्होंने सोचा कि इसे पुत्र आदि की कोई कामना होगी। उसने कहा

कि 'मैं चाहती हूँ कि आप और मैं एक साथ रहें। अब आपने कह दिया है कि आप इच्छापूर्ति करेंगे।' महात्मा ने कहा कि ज़रूर पूरी करूँगा, लेकिन मैंने यह तो नहीं कहा कि आज ही पूरी करूँगा, समय आने पर तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा। दो-चार साल बीते तो फिर वह वेश्या आई और कहा कि 'आपने साथ रहने को कहा था।' महात्मा बोले मैं नट नहीं रहा हूँ, समय पर पूरी करूँगा। दस-पंद्रह साल में वह बुड्ढी हो गई और उसके सारे शरीर में कुष्ठ हो गया। महात्मा को पता लगा कि सब लोगों ने उसका त्याग कर दिया है। जब उसके पास जाने लगे तो लोगों ने कहा कि 'कहाँ जा रहे हो, महान् दुर्गन्ध भरी पड़ी है।' महात्मा ने कहा 'मैं प्रतिज्ञा पूरी करने जा रहा हूँ। मैंने उससे कहा था कि एक-साथ रहेंगे।' कुष्ठ से उसके सारे अंग गल गये थे, कुहनियों तक हाथ, घुटनों तक पैर गल गये थे। महात्मा वहाँ पहुँचे जब कि और कोई उसके पास नहीं जाता था। उसने कराहते हुए पूछा 'कौन आया है?' महात्मा ने कहा मैं आया हूँ, तेरे साथ रहने की मेरी प्रतिज्ञा है, इसलिये आ गया हूँ। वह रोने लगी कि 'अब तो मैं बुड्ढी हो गई हूँ, जब समय था तब नहीं आये।' महात्मा हँसकर कहने लगे कि समय तो अब आया है! अब तक तुझे मेरी ज़रूरत नहीं थी, अब है। उन्होंने अच्छी तरह से उसके घाव धोये। वह कहने लगी 'इस गंदगी से दूर भागो', तो महात्मा ने कहा 'अब मैं नहीं जाने वाला हूँ, क्योंकि मैंने प्रतिज्ञा की है कि तेरे साथ रहूँगा।' उस वेश्या के मन में परिवर्तन आने लगा कि मैं क्या समझती थी और वास्तविकता क्या है! यह धैर्य को बताता है।

धीरता वाला व्यक्ति बाहर की खुशामद नहीं करता, क्योंकि वह इस बात को जानता है कि मैंने सत्य बात कही है, जब कालांतर में इसे पता लगेगा तो यह मेरा मित्र होगा। यही महात्मा और संसार के लोगों की दृष्टि में फ़र्क है। संसार के लोग सद्यः फल चाहते हैं। आज मैंने सत्य बात कही और दो घण्टे बाद तुम हमारे मित्र नहीं रहे। लोग आकर कहते हैं कि आजकल सत्य बोलो तो लोग बुरा मानकर चले जाते हैं। हम कहते है कि उन्हें जाने दो। जिस दिन उन्हें पता लगेगा कि इसने सत्य कहा था, उस दिन लौटकर तुम्हारा मित्र अपने आप बनेगा और सबको कहेगा कि 'बाकी सबने मेरे साथ धोखा किया, इन्होंने सच्ची बात कही।' भगवान् मनु ने विचार करके देखा कि मनुष्य सत्य से असत्य की तरफ क्यों जाता है? पता लगा कि उसमें धैर्य नहीं है, इसलिये जाता है। सभी धर्मों के अन्दर धैर्य अपेक्षित है। क्या कारण है कि आज भारत के अन्दर इतना अधर्म बढ़ रहा है? कहोगे कि संसार में सब जगह बढ़ रहा है। एक बात बताते हैं। अगर कोई चमार सवेरे नहीं नहाता तो लोग नहीं कहते कि क्यों नहीं नहाता, अगर बिना नहाये सवेरे-सवेरे रोटी खाये तो कोई कुछ नहीं कहेगा। लेकिन कोई ब्राह्मण सवेरे बिना नहाये रोटी खाने लग जाये तो निन्दा का विषय होता है। इसी प्रकार से संसार के अन्दर दूसरे देश आर्य धर्म से बहिष्कृत हैं। उनके अन्दर यदि कोई अधर्म देखने में आता है तो वह कोई निंदा का विषय नहीं है। लेकिन जब भारत में रहने वाले लोग अधर्म का आश्रयण करने

लगते हैं तब अवश्य आश्चर्य का विषय होता है। कारण यह है कि धैर्य नहीं है। हम सद्यः (आज का आज ही) फल चाहते हैं। धैर्य कब होता है? धैर्य का भी कारण है। कोई कार्य करने में आत्म-संतोष पैदा होता है और किसी कार्य को करने से आत्म-संतोष पैदा नहीं होता।

मनु महाराज ने इसलिये धृति का बीज ढूँढ कर निकाला 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः'। कहा, क्या कारण है कि लोग धैर्य खो देते हैं? कारण यह है कि उनको धर्म करके प्रसन्नता नहीं है। आत्मा की प्रियता की धर्म में प्रतीति नहीं हो रही है। सत्य बोलने में एक सुख है। शुभ कर्म करने में एक सुख है। वह सुख यदि हृदय को प्रफुल्ल कर देता है तब वह धीरता से बैठा रहता है। मोटी भाषा में समझ लो कि रुपया दो जगह जमा किया जाता है। कोई एक परिचित मित्र हो, वह दुकान खोल रहा हो तो उसे पैसा दे दो, उससे भी ब्याज मिलता है इसलिये उसके पास जमा कर दिया। दूसरा, तुमने रुपया जमा करके नैशनल सिक्युरिटी बाण्ड खरीद लिये, वे भी ब्याज देते हैं। लेकिन दोनों में एक फ़र्क है। जब तुमने सरकार से बाण्ड खरीद लिये तो तुम्हारे पास सरकारी कागज़ पड़ा हुआ है और तुम धैर्य से बैठे हुए हो कि सन् १९८२ में इसका रुपया वापिस मिलेगा। निश्चित है कि सन् ८२ में मिलेगा, हमें नहीं तो हमारे बेटे या पोते को मिल जायेगा। लेकिन दोस्त ने जो दुकान खोल रखी है, उसमें यदि रुपया दिया तो हर दो दिन बाद वहाँ जाते हो कि काम कैसा चल रहा है। अगर कहीं से थोड़ी-सी उन्नीस-बीस बात सुन ली तो झट कहते हो कि 'आपको सुभीता हो तो दो-एक दिन में रुपया दे देना, भांजे की लड़की का ब्याह है उसमें देना है।' कारण यह है कि वहाँ विश्वास नहीं है, सोचते हो अगर इसका व्यापार कहीं नष्ट हो गया तो रुपया नहीं मिलेगा। इसी प्रकार से जब हमने सत्य बोला और हमने उस सत्य बोलने के द्वारा परमात्मा की प्रियता का कार्य किया है तो परमात्मा के हृदय में संकल्प बन गया है। यह सरकारी सिक्योरिटी है। सरकार भी नष्ट हो सकती है लेकिन परमात्मा का संकल्प कभी नष्ट नहीं होता है। मैंने सत्य बोला है, धर्म का पालन किया है, उससे परमात्मा में एक वृत्ति बनती है 'अनेनास्य कल्याणं भूयात्' बस यही परमात्मा की वृत्ति है कि इसके द्वारा इस प्राणी का कल्याण हो। वह संकल्प ऐसा दृढ है कि अनंत कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लय हो जायें लेकिन हो नहीं सकता कि उसका संकल्प अन्यथा हो। इसलिये चाहे आज और चाहे दस-बीस साल बाद फल मिले, कहीं जाने वाला नहीं है। जब हमको धर्म करके सुख मिलता है तब तो धैर्य होता है और जहाँ हम सोचते हैं कि दूसरे ने हमारे धर्म को धर्म समझा या नहीं, समाज हमको मान्यता देता है या नहीं, दूसरे लोग हमको अच्छा समझते हैं या नहीं, वहाँ हम परमात्मा से फल नहीं चाह रहे हैं, दूसरों से चाह रहे हैं, जैसे, हमारे घर वाले हमको अच्छा बताते हैं या नहीं। लोग कहते हैं कि 'घूस नहीं खाते' पर घरवाली कहती है कि 'बाकी सब अपनी बीवियों के लिये बढ़िया साड़ी लाते हैं और तुमने आज भी वही घटिया साड़ी लाकर पटक दी।' विचार करो कि धर्म से क्या बीवी को खुश कर रहे हो? अरे, धर्म से परमात्मा प्रसन्न

होगा। संसार का और कोई व्यक्ति धर्म से प्रसन्न होने वाला नहीं है। संसार के लोग प्रसन्न होकर देंगे भी क्या! वह तो तुम्हारे दोस्त की दुकान में लगाये गये रुपये वाला मामला है। दिखायेगा बहुत अच्छा चल रहा है, कहेगा 'पंद्रह-बीस प्रतिशत ब्याज दूँगा।' जब देने का समय आयेगा तो मूल भी गायब! इसी प्रकार संसार के लोग खुश होकर क्या देंगे? दस साल तक उनकी खुशी का काम करोगे तो खुश हैं और एक दिन उनकी नाखुशी का काम किया तो सब करा-कराया गया। उनकी खुशी से कुछ नहीं मिलना है, जिनका संकल्प है कि एक क्षण पूर्व तुम बहुत अच्छे और अग्रिम ही क्षण तुम गये बीते। थोड़े दिन पहले मोरारजी भाई उप-प्रधानमंत्री थे और अब उनको कोई टके को नहीं पूछता! संसार की यही स्थिति है। कोई एक बहुत बड़ा नेता था। उनके बारे में बात हुई कि उनको किसी जगह बुलाया जाये। सब कहने लगे कि उनको मत बुलाओ, वे हार गये हैं। हारने के साथ क्या आदमी मर गया? आदमी तो वही का वही है। संसार के लोगों के खुश होने पर उनका संकल्प स्थिर नहीं कि एक बार बन गया तो बन गया। इसलिये, धैर्य वाला परमात्मा के संकल्प के लिये कार्य करता है, संसारी लोगों के लिये नहीं। इसीलिये उसमें धैर्य रहता है। वह सद्यः फल नहीं चाहता। 'प्रियमात्मनः' धर्म कार्य को करके उसे प्रसन्नता होती है, उसका हृदय खिल जाता है। वह उसके आगे दूसरा फल नहीं देखता कि क्या मिलेगा। सत्य प्रधान धर्म है। 'सुष्ठु दधाति' इसे अच्छी प्रकार से कौन धारण करता है? इसे वही धारण करेगा जो धैर्य वाला होगा। किसी भी बीज को धारण धैर्य वाला ही कर सकता है, अधैर्य वाला नहीं। जितनी-जितनी मनुष्य की अधीरता बढ़ेगी, वह उतना-उतना अधर्म की तरफ जायेगा। इसीलिये सत्य वेदों के अनुकूल होने पर भी मनु महाराज ने सत्य की अपेक्षा धैर्य पर ज़ोर दिया कि धीरता होगी तो मनुष्य सत्यवादी भी बन सकेगा।

यह धैर्य 'सुष्ठु धारण' करना कैसा होना चाहिये? 'सुधासिन्धोर्मध्ये' समुद्र की तरह होना चाहिये। समुद्र के अन्दर सारे संसार की नदियाँ जाकर पड़ती हैं। गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी, ब्रह्मपुत्र; न जाने कितनी नदियाँ जा-जाकर समुद्र में पड़ती हैं। प्रत्येक नदी का नाम अलग है, प्रत्येक नदी के जल का स्वाद अलग है, प्रत्येक नदी के जल का रंग अलग है। कभी जाकर देखो जहाँ गंगा-यमुना मिलती हैं, दोनों का रंग अलग-अलग दीखता है, एक सफेद है, दूसरी काली है। ऐसा लगता है मानो सफेद और काले फूलों को मिलाकर वेणी गूँथी हो। किसी का जल मीठा, किसी का खट्टा तो किसी का नमकीन, स्वाद भी अलग-अलग हैं। लेकिन समुद्र में जाकर सब एक हो जाती हैं। चातुर्मास्य के प्रवाह में नदी का वेग बड़े-बड़े नगरों को धराशायी कर देता है, लेकिन समुद्र की सतह को एक अंगुल भी ऊँचा-नीचा नहीं करता। भगवान् कहते हैं 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्' समुद्र के अन्दर कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। इतनी सारी नदियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की चीज़ों को लाकर उसमें डाल देती हैं लेकिन वह धैर्यपूर्वक रहता है। इतने स्वाद वाले जल उसमें जाकर पड़ते हैं, लेकिन उसका स्वाद

भी नहीं, बदलता, ऐसा का ऐसा बना रहता है। यह उसका धैर्य है। इतना ही नहीं, गर्मी के मौसम में जब प्रचण्ड भास्कर उद्दीप्त होकर समुद्र के वक्षःस्थल का शोषण करके मानो उसकी छाती को उखाड़ता चला जाता है, उसपर भी समुद्र अचल है, उसके बाद भी वह वैसा ही बना रहता है। हमारे शरीर की चमड़ी की एक परत यदि कोई उतार ले  जिसमें खून नहीं निकलता, क्योंकि पहली परत सफेद निकलती है  तो देखो क्या हालत होती है! खून नहीं निकला, उसपर भी लोग पुलिस में रिपोर्ट करते हैं कि घाव कर दिया। लेकिन सूर्य न जाने समुद्र की कितनी पर्तें (layers) हटाता चला जाता है, फिर भी समुद्र कुछ नहीं करता। इतनी भयानक गर्मी के अन्दर उसका पानी एक अंगुल भी नहीं घटता। यह धैर्य है। इस धैर्य का कारण यह है कि वह जानता है कि सूर्य चाहे जितना पानी खींचकर ले जाये, आखिर पानी कहाँ जायेगा! उसको पता है कि वेद कह रहा है कि सारे जलों का आयतन तो एक समुद्र ही है। यह जल चाहे मेरे वक्षःस्थल से जितना ऊँचा उठ जाये, ऊपर पहुँचकर अपने को अतिधन्य समझ ले। नीचे से ऊपर उठकर सोचता होगा 'यह समुद्र गया बीता है, हम उन्नति कर गये।' लेकिन समुद्र हँसता है, क्योंकि धैर्य वाला है। कहता है, 'करो उन्नति, कोई हर्जा नहीं।'

हम लोग भी यही करते हैं। उस अखण्ड परब्रह्म परमात्मा से अपने आपको जीव-भाव से अलग करके कहता है कि भगवान् ने मिट्टी बनाई थी, हमने मकान खड़े कर दिये हैं। परमात्मा ने क्या घास बनाई थी, देखो हमने तृणभू, लॉन बना दिये। भगवान् ने जंगली आम पैदा किये, हमने लंगड़े आम पैदा किये। जैसे वह जल उन्नत अवस्था को गया हुआ समझे कि 'मैं समुद्र से बड़ा ऊँचा हो गया', ऐसे ही जीव समझता है कि 'मैं न जाने कितनी उन्नति कर गया।' पर परमेश्वर हँसता है। समुद्र जानता है कि जल की उन्नति टिकने वाली नहीं है। यह जहाँ अपनी गर्वोन्नति में जायेगा, वहाँ आगे जाकर पर्वत-शृंखलाओं से टक्करें खायेगा और चूर-चूर होकर नीचे गिर जायेगा। ऐसे ही मनुष्य जिन चीज़ों को अपनी उन्नति समझता है, वह जब दुःख रूपी पहाड़ के साथ जाकर टक्कर खाता है तब वे चूर-चूर होकर गिर जाती हैं। सच्ची बात बता देते हैं, बुरा नहीं मानना। हमने भगवान् की बनाई हुई घास और बाँस के बीच में मिट्टी डालकर झोपड़ी बनाई। यह बड़ी सुन्दर चीज़ है, गर्मी में ठण्डी और ठण्ड में गरम रहती है। थोड़े दिन पहले हम कहीं गये हुए थे। उनके यहाँ जिस चीज़ का काम होता था, उसके लिये विचार चल रहा था कि उनके हॉल में बड़ी गर्मी हो जाती है इसलिये चीज़ बढ़िया नहीं बनती, उसका तापमान घटाया जाये। इंजीनियर ने राय दी कि टीन के ऊपर कुछ घास डलवा दी जाये तो ठण्डक रहेगी। हमने कहा कि यही हम जन्मभर कहते रहे लेकिन नहीं समझा पाये। जिसे तुम सीमेण्ट की अट्टालिकायें कहते हो, वही तो गरम होती हैं। घास गरम नहीं होती। मान लो किसी कारण से झोपड़ी जल गई तो आदमी दो दिन बाद कहीं से बाँस वगैरह काट लाये और दूसरी झोपड़ी खड़ी कर सकता है। झोपड़ी जलने के कारण तुमने किसी को गंगा में कूद कर

आत्महत्या करते सुना है? लेकिन दिल्ली जैसे शहर में अपना सारा धन लगाकर लाख-रुपये के फ्लैट बनाकर खड़े कर दिये। कनाट प्लेस के एक भवन में एक लाख में एक फ्लैट बनाया, आग लगकर वह भस्मसात् हो जाये तो क्या करोगे? ऐसा होने पर लोग या तो रेल के नीचे गर्दन दे देते हैं या कुतुबमीनार पर जाकर कूदते हैं, क्योंकि इस प्रकार अधर्म करने वालों को गंगा में कूदकर आत्महत्या करने का तो संकल्प भी नहीं आयेगा। मरने के लिये भी वहाँ जाकर मरने का संकल्प नहीं आने वाला है, कुतुबमीनार पर ही जायेंगे! जिस प्रकार बादल अपने को उन्नत मानकर गया तो उत्तुंग गिरि-शिखरों से चोट खाकर चूर-चूर हो गया, क्या समुद्र के जल को ऐसे चूर-चूर होना पड़ता है? जिसको तुम उन्नत मानते हो, समुद्र जानता है कि उसका यही हाल होना है। जितना संसार के ऐश्वर्य के अभिवर्द्धन को ठीक समझोगे, जितनी उन्नति करोगे, उतना चूर-चूर होना पड़ेगा। भ्रान्ति से लोग समझते हैं कि यही उन्नति है। जैसा मकान में, ऐसे ही सब जगह समझ लेना।

जितना हम परमात्मा के नज़दीक रहेंगे, परमात्मा की सृष्टि से तादात्म्य कायम करेंगे, उतना-ही-उतना दुःख कम होता जायेगा। इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत यह है कि मनुष्य की उन्नति डीजल के धुएँ को पैदा करती है। बस से निकलता हुआ डीजल का काला धुआँ उन्नति का सुन्दर प्रतीक है। कभी चीड़ की लकड़ी को जलाकर देखो, वहाँ उन्नति नहीं देखोगे लेकिन वह धुआँ सुखद होगा, दुःखद नहीं होगा। भगवान् की बनाई हुई चीज़ों को जलाते हैं तो जलने पर भी दुःख नहीं, सुख देती हैं। सर्वत्र इसे देखते चले जाना। जिन-जिन चीज़ों को तुम अपना उन्नत भाव मानते हो, वे उतना बड़ा दुःख देती हैं जिससे मनुष्य के लिये अशान्ति का कारण बन जाती हैं। जब हमने सर्वप्रथम दिल्ली को देखा तो यहाँ इतनी उन्नति नहीं थी जिसको आजकल उन्नति मानते हैं। उस समय श्वास-प्रश्वास लेने में कठिनाई नहीं होती थी। चारों तरफ हरियाली थी, बगीचे थे। धीरे-धीरे उन्नति हुई, ऊँचे-ऊँचे मकान बन गये। अपने आश्रम के सामने रिंग रोड नहीं थी। धीरे-धीरे उन्नति हुई और अब रात भर ट्रक अपना शोर मचायेंगे और धुआँ छोड़ेंगे। बाहर कहीं से यहाँ पहुँचने पर पता लगने लगता है कि यहाँ की हवा कितनी भारी है। साँस खींचने में ज़ोर लगाना पड़ता है। इसको तुम उन्नति समझते हो। जब दुःख से टकरा कर जीवभाव स्खलित होगा, तब पुनः समुद्र की तरफ बढ़ेगा, ऊपर उठे जल का घमण्ड नष्ट हो जायेगा।

जीव ने अपने आपको ईश्वर से अलग करके एक बड़ा भारी घमण्ड कर लिया और वह घमण्ड यहाँ तक बढ़ गया कि भगवान् के शब्दों में कहते हैं 'ईश्वरोऽहम् अहं भोगी सिद्धोहं बलवान्सुखी। इदमद्य मया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम्।।' कहता है मैं ही ईश्वर हूँ, सब कुछ करने में समर्थ हूँ, मैं ही भोग करने में समर्थ हूँ। इसीलिये जब किसी से कहते हैं कि अण्डे मत खाओ, बेचारा प्राणी मरता है, तो कहता है 'अण्डे खाकर ताकत आती है। माँस खाकर, शराब

पीकर ताकत वाला बनूँगा, शराब के नशे में नाचूँगा। मैं ही सिद्ध हूँ।' लोग कहते हैं कि 'क्या भगवान् की पूजा करते हो! हम ही तो भगवान् हैं, हमारी ही पूजा करो। देखो मनुष्य कहाँ से कहाँ पहुँच गया और तुम लोग क्या चन्द्रमा को अर्घ्य देते हो! यह उन्नति है कि हम वहाँ खड़े हुए हैं। असली सिद्ध तो हम लोग हैं। क्या कल्पित ईश्वर को मानते हो!' इसी भारतवर्ष के अन्दर दक्षिण में नगर-नगर के अन्दर एक मूर्ति की स्थापना करके जगह-जगह लिखा जाता है कि 'ईश्वर को मानने वाले लोग गधे और बेवकूफ होते हैं', और उन मूर्तियों का उद्घाटन करने वालों को हम अपना नेता मानते हैं। उन्हें वोट डालकर जिताते हैं और कहते हैं कि अपने परिचित व्यक्ति थे। तुमने उसे वोट डाला जिसका नारा है कि ईश्वर को मानने वाले बेवकूफ होते हैं। किसी के हृदय में संवेदना नहीं है। एक-ढेड़ वर्ष पूर्व राम, कृष्ण की मूर्ति को जूते मारते हुए एक बड़ा भारी जलूस निकाला गया। फिर कहा गया कि इसमें क्या हो गया, कोई मन्दिर की मूर्तियाँ थोड़े ही थीं। उन्हीं लोगों को हम नेता मानते हैं। हमसे पूछा जाता है कि उनको जनता मानती है, आप क्यों नहीं मानते? हम जवाब देते हैं सारे प्रमाणों से सिद्ध है कि जगत् है लेकिन हम केवल श्रुति के प्रमाण के सामने किसी प्रमाण का विश्वास नहीं करते। हम अपनी ही आँख का विश्वास नहीं करते, आँख कहती है द्वैत है, श्रुति कहती है अद्वैत है, हम कहते हैं कि आँख झूठी है, फिर हम तुम्हारी आँख और मन का कहाँ से विश्वास कर लेंगे? इसलिये हम कभी भी 'जनता की बात' को ठीक नहीं मानते।

लोग कहते हैं 'बलवान् सुखी' देखो, हम लोग कैसे बल वाले हैं। कुछ दिन पहले हमारे यहाँ रूस देश की एक महिला आई थी। रूस छोड़े हुए उसे बहुत वर्ष हो गये। उसके पति की मृत्यु हो गई थी, इसलिये मिलने आई थी। बातचीत में उसने हमको बताया 'आप विश्वास नहीं करेंगे कि मनुष्य ऐसा हो सकता है। मुझे भय है कि भारतीय भी ऐसे न हो जायें! मैंने एक बार वहाँ के लोगों से पूछा कि तुम लोग कभी भगवान् को याद नहीं करते? वहाँ साम्यवाद का प्रचार हुए बहुत साल हो गये। एक किसान से पूछा कि तुम भगवान् को याद नहीं करते? कहने लगा, बहुत साल भगवान् की प्रार्थना की, पानी नहीं बरसा। इसलिये हम इरिगेशन-देवता (नहर) की प्रार्थना करते हैं, उससे खेती होती है, भगवान् क्या करेंगे!' यह भाव है कि हम बल वाले हैं, हम क्या नहीं कर सकते। हम ही सुखी हैं। हमारे अतिरिक्त और कोई सुखी नहीं है। हमारे जैसा कोई नहीं है। चाहे हमारा हमारे माता-पिता के साथ बरसों का सम्बन्ध है लेकिन सब मूर्ख हैं, बुद्धिमान् केवल मैं हूँ। मेरे जैसा दूसरा है कौन! ऐसे लोग मन्दिरों में भी जाते हैं, चरणामृत लेते हुए फोटो खिंचवाते हैं, लेकिन दूसरे लोगों की प्रतारणा के लिये। ऐसे लोग दान भी देते हैं, ईश्वर की महिमा के अभिवर्द्धन के लिये नहीं, केवल अपनी अहंता को फुलाने के लिये, अपने जीव-भाव को बढ़ाने के लिये। आज इसे मार डाला, इसे हरा दिया, कल उसको मार डालूँगा, उसको हरा दूँगा। ये सारी वृत्तियाँ हैं जब जीव-भाव फूलता रहता है। प्रतिदिन घरों में यही होता है। कुछ

दिन पहले हमारे यहाँ एक बहुत समझदार सज्जन आये हुए थे, बड़े पढ़े-लिखे थे। कहने लगे 'आदमी को माँ की बात नहीं माननी चाहिये, क्योंकि पुरानी खूसट बातें करती है, पत्नी की बात माननी चाहिये क्योंकि पढ़ी-लिखी होती है, ठीक राय देती है।' उन्होंने एक और बात बताई जिसपर आज तक विश्वास तो नहीं हुआ कि भारतीय ऐसा कह सकता है। उन्होंने कहा कि 'माँ ने पेट में रखा है तो नौ महीने का भाड़ा ले ले।' हमने सोचा कोई भारतीय ऐसा कैसे कह सकता है! भगवान् भाष्यकार लिखते हैं, मनुष्य कितना ही गया-बीता हो जाये, लेकिन माँ को देखकर हृदय शान्त हो जाता है। हो सकता है मनुष्य यहाँ तक पहुँच गया हो 'अघटितघटनापटीयसी माया', हो सकता है किसी भारतीय में ऐसी बात आ जाये, माया में सब सम्भव है, कुछ असम्भव नहीं है।

जब दुःख की चट्टान से टक्कर खाता है तब बिलकुल रंग बदलता है। टुकड़े-टुकड़े होकर जब रंग बदलता है तब कहता है 'अब मेरी मदद करो।' लेकिन यह निश्चित समझो कि पहाड़ की चट्टान पर गिरने के बाद अब तो उसे प्रत्येक पत्थर से सिर धुनना पड़ेगा। चलता तो समुद्र की तरफ है। ऐसे ही जीव भी दुःख की चट्टान से टकरा कर परमेश्वर की तरफ चलता है। जैसे समुद्र आयतन है, ऐसे यहाँ भी शान्ति तभी मिलेगी जब पुनः वहाँ पहुँचेगा, लेकिन अब सिर धुन-धुन कर पहुँचेगा। हर बार उछल-उछल कर नीचे गिरता है। कभी उत्तरकाशी के जलप्रवाह को देखो, वहाँ जल पत्थर से टकराया, फिर नीचे; केवल एक बार नहीं टकराता, अनंत बार टकराता है। दुःखों की भीषण परंपरा जो गंगोत्री से शुरू हुई, ऋषीकेश तक चलती रही। ऋषीकेश में पहुँचा तो समतल भूमि आई। घमण्ड चूर-चूर हो गया। अब बहता है और बहकर अपने रजकणों को कुछ स्थिर करने लगता है। उस जल में कुछ थोड़ी-सी सफाई आती है। धीरे-धीरे आगे बढ़ता जाता है। मार्ग में आने वाले नगरों को जल और शीतलता देता जाता है। खेती बढ़ाता जाता है। इस प्रकार निरंतर कल्याण करते हुए अंत में उसे समुद्र की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार यहाँ जब दुःखों की परम्परा एक के बाद एक आती है तब धीरे-धीरे उसका वह सारा ही अभिमान चूर्ण होने लगता है। एक दुःख के बाद सोचता है कि अब शायद शांत हो जाऊँ, लेकिन जितना बोया है, उतना ही काटना है! दुःख उठाते-उठाते ऋषीकेश में पहुँचता है। ऋषीका इन्द्रियों का नाम है। भगवान् को भी ऋषीकेश नाम से सम्बोधन किया है। बार-बार दुःखों को सहने के बाद मनुष्य का इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है। अब आँख कहती है कि 'उधर जाऊँगी' तो कहता है कि 'जन्म-जन्मांतर से इतना दुःख भुगवा लिया, अभी तेरी भूख नहीं मिटी?' जब इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण आया तब जाकर उसमें स्थिरता आई।

जिसकी इन्द्रियाँ वश में होंगी उससे कभी ग़लत कर्म नहीं होगा। यह लक्षण है; जब इन्द्रियाँ वश में आती हैं तो अधर्म छूट जाता है। अंतःकरण शुद्ध हो गया तो उसकी पुरानी वासनायें, राग, रजकण धीरे-धीरे दूर होते गये। मल दूर होने के बाद रज (विक्षेप) दूर होने लगा।

जैसे-जैसे विक्षेप कम होगा उसमें उतनी ही निर्मलता आयेगी। जितनी-जितनी निर्मलता आयेगी, उतनी-उतनी वह नदी अब जिधर बहेगी, शीतलता, शान्ति और अन्न देगी। यही अंतःकरण की शुद्धि का लक्षण है। अब उससे धर्म-विरुद्ध कार्य नहीं होगा। भगवान् ने कहा कि उससे किसी दूसरे प्राणी को उद्वेग नहीं होगा, वह किसी के तनाव का कारण नहीं होगा। नहाने के लिये लोग आ गये तो नदी को कोई उद्वेग नहीं है। इसी प्रकार अपने समीपस्थ सभी लोगों को शांति और सुख देते हुए उसके सारे व्यवहार होंगे। यही उपासना है। उपासना में (ध्यान-काल में) जो अंतःकरण में शान्ति आती है वही शान्ति तो व्यवहार काल में वह बाँटता है। क्या कारण है कि शादी-ब्याह के काम में दो दिन में ही मनुष्य में तुनुकमिजाजी, चित्त में विक्षेप आने लगता है, थोड़ी-सी बात में गर्मी आ जाती है? कारण यही है कि ध्यान छूट गया है। जितना-जितना ध्यान करता है, उसके हृदय में शान्ति और सुख का प्रवाह होता है और जो भी उसके समीप आता है उसे प्रसन्न करता है। बहते-बहते वह जल पुनः समुद्र में चला जाता है। ऐसे ही जीव उस ईश्वरभाव में पहुँच जाता है, अब उसका जीवभाव सर्वथा समाप्त हो जाता है। जो इस प्रकार धैर्यपूर्वक चलता है, वही वहाँ पहुँचता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं 'सुधासिन्धोर्मध्ये' सुधा-सिन्धु को अच्छी प्रकार से धारण करने की जिसमें सामर्थ्य है और जिसका धैर्य भी समुद्र की तरह है, उसके मध्य में ही उस भगवती चिदानंदलहरी का निवास होता है, अस्थिर के हृदय में उसका निवास नहीं होता।

## प्रवचन-११

२७-३-७२

भगवती के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसकी उपलब्धि के स्थान का निर्देश किया। भगवती 'सुधासिन्धु के मध्य' में मिलती है। अंतःकारण के शुद्ध होने पर उसकी प्राप्ति है। अंतःकारण की शुद्धि मल आदि दोषों से रहित होने पर है। मल आदि दोषों की निवृत्ति धर्म के द्वारा है। धर्म-पालन में कारण धैर्य है। इस धैर्य की प्राप्ति कैसे हो? धृति हम में क्यों नहीं आती? सम्भवतः संसार में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो हृदय से धैर्य की इच्छा न करता हो, इतने पर भी धृति की प्राप्ति नहीं होती, मनुष्य में धीरता नहीं आती। तरह-तरह से शास्त्रीय विचार कर लेने पर भी मनुष्य के अन्दर धीरता नहीं आती। बुद्धि तो चीज़ को ठीक समझ लेती है लेकिन धीरता नहीं होने से उसपर टिक नहीं पाते। इसीलिये कई बार हम कहते हैं कि संसार में सबसे सरल चीज़ ब्रह्मज्ञान है, अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति सबसे सरल है। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं  हे राम! कमल के पत्ते में सुई जाने में देरी है, ब्रह्मज्ञान में देरी नहीं है। इसीलिये सबसे सरल चीज़ ब्रह्मज्ञान है। बाकी सब चीज़ों के लिये तुम्हें कुछ करना पड़ता है, इसके लिये कुछ नहीं करना है। रूप देखने के लिये आँख खोलनी पड़ती है, दिया जलाना पड़ता है, यहाँ वह भी नहीं है। सोचने के लिये मन में वृत्ति बनानी पड़ती है, यहाँ वह भी नहीं है, क्योंकि वह नित्य प्राप्त है। सारे का सारा परिश्रम ब्रह्म को भुलाने के लिये है! बड़ा परिश्रम करो तब मनुष्य को ब्रह्म का अज्ञान रहता है।

ब्रह्म को न जानना बड़ा मुश्किल है, इसके लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। प्रयत्न करने पर भी उसको सर्वथा नहीं भूल पाते। जैसे सूर्य की रोशनी को रोकने के लिये खिड़की बन्द करते हो, उसके सामने पर्दे लगाते हो ताकि सूर्य की रोशनी न आये, फिर भी रात जैसा अँधेरा नहीं कर पाते। आजकल के लोगों का धर्म हरेक काम उल्टा करने का है। हम लोग समझते हैं कि भोजन सारा उपस्थित हो तब खाया जाये। लेकिन चिड़िया क्या करती है? एक-एक दाना खाती जाती है। हम लोगों से उल्टा हुआ। जिन्होंने चिड़ियों के अनुसार अपना आदर्श बनाया, उनका दर्शन हमने ब्रह्मभोज में किया : जिसकी पत्तल में बूंदी आई उसने बूंदी और जिसकी पत्तल में पूड़ी आई उसने पूड़ी चुगनी शुरू कर दी। परोसने वाले अलग-अलग थे। जिसके सामने से साग वाला निकला उसका अनुभव रहा कि साग ठीक परोसा गया, पूड़ी देर से आई। जिसके सामने पूड़ी आई, उसका अनुभव था कि साग देर से आया। हमसे एक-दो ने कहा 'महाराज। साग देर से आया।' हमने कहा  साग परोसने के बाद खाना शुरू करना था। वे झेंप गये। एक ही बर्तन से पाँच चीज़ें नहीं परोसी जा सकती। जैसे एक का सीधा कार्य दूसरे का उल्टा कार्य हो जाता है, यह नियम है। ठीक इसी प्रकार से सबसे सरल चीज़ ब्रह्म का ज्ञान है। ब्रह्म का अज्ञान बड़ा

कठिन है। सूर्य की रोशनी को रोकने की इसलिये ज़रूरत पड़ी कि रात में दो बजे तक बत्ती जलाकर जो करते हैं, उसका नाम रात्रि-जीवन (नाइट लाइफ) रख छोड़ा है। जब रात्रि में दो बजे सोये तो दिन में ६ बजे तक सोना है। हमने कई बार यह बात सोची है कि किसी गृहमंत्री से कहें कि सूर्य उदय का समय भी दस बजे कर दो! इन लोगों का नियम है कि दो से दस तक सोना है। सूर्यास्त के चार घण्टे बाद दो बजा दो तो देश की कितनी बिजली बच जायेगी। तुमने मीटर और नये पैसे बना लिये, उनसे कोई लाभ हुआ या नहीं पता नहीं, लेकिन इससे तो प्रत्यक्ष लाभ है कि बिजली बच जायेगी। जब उठना हुआ सवेरे नौ बजे तो नींद कैसे ली जाये? इसलिये खिड़कियाँ बन्द की, पर्दे खींचे। इतने पर भी उसमें जहाँ-जहाँ कोई छेद दीखता है उसमें से सूर्य की किरण झाँक ही लेती है। जितना भी अपने को चारों तरफ से घेरने का प्रयत्न करो, सूर्य की आँख से बच नहीं पाते हो। एक औरत ने दूसरी औरत से पूछा 'तू कितने बजे उठती है?' उसने कहा 'घड़ी तो नहीं देखती' लेकिन सूर्य की किरण जब दीख जाती है, तब उठ जाती हूँ।' पहले वाली ने कहा 'बड़ी जल्दी उठ जाती होगी।' उसने कहा 'मेरी खिड़की पश्चिम दिशा में है, पूर्व दिशा में नहीं है।' सूर्य की किरण से अत्यंत प्रयत्न करके अपने को छिपाये रखे तो भी पश्चिम में जाकर भी कमरे में घुस जाती है। इसी प्रकार से ब्रह्म को तुम जितना भूलना चाहो, पूरा नहीं भूल सकते। जैसे लम्बे-लम्बे पर्दे और खिड़कियाँ खींचते हैं वैसे पहले तुमने एक अहंकार का दरवाज़ा बन्द किया कि ब्रह्म को अन्दर नहीं आने देंगे, फिर उसके ऊपर मन और बुद्धि के पर्दे डाले, फिर बीच की जगह को तुमने इन्द्रियों के द्वारा बन्द किया कि अब देखें ब्रह्म कहाँ से आता है ब्रह्म फिर भी घुस आया : विषयज्ञान के रूप में वह ब्रह्म फिर उपस्थित हो गया, उसकी किरण से नहीं बच पाये। इसलिये संसार में सबसे सरल चीज़ ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्म को न जानना बड़ा मुश्किल है, इसके लिये कोशिश करनी पड़ती है।

आगे की बात से घबराना नहीं। संसार में सबसे कठिन चीज़ ब्रह्मज्ञान को पकड़कर रखना है। ब्रह्मनिष्ठा सबसे कठिन चीज़ है। जितना सरल उसको पकड़ना है उतना ही उसको पकड़कर *रखना* कठिन है, क्योंकि इसका स्वभाव अत्यंत तेजस्वी है। अत्यंत तेजस्वी होने के कारण यह बिजली की तरह पलकारा मार तो देती है लेकिन आगे टिकती नहीं। समझ में तो आया अर्थात् बुद्धि के अन्दर तो आया लेकिन टिका नहीं। ब्रह्मज्ञान को पकड़कर रखना सबसे कठिन इसलिये है कि ब्रह्म की शक्ति प्रतिक्षण नवीन बनती चली जाती है। चूंकि उसके हर क्षण में नवीनता है, इसलिये उसकी सुन्दरता है। सुन्दरता का मतलब ही यह होता है 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' रमणीय चीज़ ही उसको कहते हैं जो क्षण-क्षण में नवीन बनती चली जाये। परब्रह्म परमात्मा प्रतिक्षण नवीन है। मनुष्य प्रायः भूत को पकड़ने का प्रयत्न करता है, इसीलिये ब्रह्म के ज्ञान को पकड़ नहीं पाता। मनुष्य उसको स्मृति बनाना चाहता है। कभी सोचा कि भूत क्या है? वर्तमान की लाश का नाम भूत है। मरे हुए वर्तमान को ही तो भूत कहते हो।

संसार में अधिकतर लोग लाश की चिन्ता में जीवित व्यक्तियों का अनादर करते रहते हैं। जीवन में भी यही बात है। मृत व्यक्ति हमको जितना कष्ट देता है, उतना कष्ट जीवित व्यक्ति नहीं देते। बड़ी विचित्र परिस्थिति है कि जब तक आदमी जीवित रहता है, तब तक शायद उससे हमें बात करने की फुर्सत नहीं है। जब वह मर जाता है तो उसके निमित्त से इतना रोना होता है कि उसके मारे जीवित व्यक्तियों से बात करने की फुर्सत नहीं है! जीवन में देखा ही होगा। इन जीवितों में से जब कोई मर जायेगा तब फिर उसको रोना शुरू कर देंगे। इसलिये हमेशा वर्तमान की लाश हमारे सामने भूत के रूप में रहती है। इसी प्रकार से हमारे जितने भी धर्म, संस्कृति हैं, सबमें हम किससे परेशान रहते हैं, जो हो चुका था वही हमको परेशान करता रहता है। 'हम क्या थे' इसकी परेशानी 'हम क्या हैं' इसके ऊपर पर्दा डालती रहती है। किसी से भारतीय संस्कृति के विषय में पूछो तो कहते हैं कि 'भारतीय संस्कृति यह थी।' हम तो 'भारतीय संस्कृति क्या है' पूछ रहे हैं। किसी से पूछो कि हिन्दू धर्म क्या है, तो सामने लाश रख देता है कि यह था। किसी से पूछें किस जाति के हो? तो कहता है कि मेरे बाप-दादा इस जाति के थे। हमारा प्रश्न तो है कि तुम किस जाति के हो, अर्थात् वर्तमान से मतलब है। ठीक जैसे हम घर में मृत व्यक्ति के विचार में जीवित व्यक्तियों का अनादर करते हैं, धर्म, संस्कृति, राष्ट्र सभी परंपराओं में हम जीवित के सामने मृत को रखकर जीवित को भूल जाते हैं। अथर्ववेद में एक बड़ा सुन्दर मंत्र है। पति के मरने के बाद पत्नी को वह मंत्र बोला जाता है। आजकल तो अंत्येष्टि क्रिया ही लुप्त हो गई है। उस मंत्र में कहा ही यह जाता है कि अब इस व्यक्ति की अंत्येष्टि क्रिया हो गयी, अब आगे तुम वर्तमान और भविष्य की तरफ दृष्टि करना। इस जीवन के प्रति तुम्हारी अस्तिता की भावना हो, तू जीवित लोक में रहने वाली है और वह मृत्यु लोक में रहने वाला है इसलिये अब उसके बोझ से वर्तमान भी नहीं बिगाड़ना।

हम ब्रह्मज्ञान को नहीं रख पाते, इसमें कारण यह है कि ब्रह्म नित्य वर्तमान है। न जाने क्या उस ब्रह्म में है कि वह कभी मरता नहीं है। अगर वह मर गया होता तो हम उसकी स्मृति पकड़कर बड़े प्रसन्न होते, पकड़ लेते; लेकिन वह नित्य नवीन है, मरता नहीं। हम उससे कहते हैं कि 'तू स्मृति बन जा। एक दिन था जब मुझे ब्रह्मज्ञान हुआ था, मैंने ब्रह्म को ऐसा समझा था', ऐसा हमको बोल लेने दो। यह हमारी आदत है कि आज तक हमने जिस-जिस चीज़ को पकड़ा उसको मरने के बाद पकड़ा। हमको अवतार ज़्यादा अच्छे लगते हैं, क्योंकि वे मृत हैं। ब्रह्म से कहते हैं कि तू भी अगर मृत हो जा तो हमारे व्यवहार में अच्छा हो जायेगा। हम भी कहा करेंगे कि वह ज़माना था जब मैं ब्रह्म के बारे में ऐसा कहता था। लेकिन ब्रह्म कहता है कि 'तुम कुछ भी कहते रहो, मैं तो कभी मरने वाला नहीं हूँ, नित्य नवीन बना रहूँगा।' अब क्या करोगे? इसीलिये हम उसको पकड़ नहीं पाते। ब्रह्मज्ञान हमारी पकड़ में कब आयेगा? जब हम वर्तमान के प्रति हर क्षण सावधान रहेंगे। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं

'अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम्' भूत का तो कभी अनुसंधान न करो अर्थात् जो बीत गया, उसको कभी अंतःकरण में न आने दो।

एक और चीज़ है जो ब्रह्म नहीं करता : भविष्य मायने क्या? जैसे भूत वर्तमान की लाश है, वैसे ही भविष्य नित्य गर्भ में है। भविष्य वह है जो कभी पैदा नहीं होता है। हमने एक पान वाले की दुकान पर एक पर्चा लिखा हुआ देखा जो हमको हमेशा याद रहता 'आज नक़द कल उधार' कल कभी भी आज नहीं बनता, कल ही रहेगा। भविष्य वह है जो हमेशा ही पैदा होने वाला है, नित्य गर्भ में है। ब्रह्म नित्य प्रकट है, इसलिये वह कभी गर्भ में भी रहता नहीं। ब्रह्मज्ञान होगा, ब्रह्मज्ञान हो गया  बस इन दो को जो कहता है, वह ब्रह्म को समझता ही नहीं है, क्योंकि न वह कभी होगा और न कभी हुआ था, वह तो नित्य ही है। इसलिये जीवन के अन्दर प्रतिक्षण एक अप्रमाद या सावधानता हो, प्रत्येक चीज़ के अन्दर सब प्रकार जागरूकता हो। इसलिये ब्रह्मज्ञान होना सरल है, उसे पकड़ना मुश्किल है क्योंकि पकड़ने के बाद आदमी समझता है कि अब पैर फैलाकर सोयेंगे। यह गलती प्रायः लोग करते हैं। लोग समझते हैं कि विवाह 'हो गया', और वही लोग धोखा खाते हैं। क्योंकि विवाह ऐसी चीज़ है जो प्रतिक्षण नवीनीकरण चाहती है। यदि पति-पत्नी अपने भावों के प्रति, कर्त्तव्यों के प्रति, सहज स्नेह के प्रति जागरूक हैं तब तो वह विवाह है। जहाँ जागरूकता नहीं रही, यह रहा कि अब तो विवाह हो गया, तो फिर खींचातानी, लड़ाई-झगड़ा और ताने चलते हैं! यह भी कोई विवाह है। विवाह इसलिये तो नहीं किया था। वह कहता है 'तू मेरी नहीं सुनती', वह कहती है 'तू मेरी नहीं सुनता', वह कहता है 'तू ससुर की सेवा नहीं करती', वह कहती है 'तू पैसा नहीं लाता, सेवा कहाँ से करूँ।' संस्कृत के अन्दर किसी ने कहा है : एक समय वह था जब तुम-हम अभिन्न थे, एक समय वह हुआ जब तुम्हारी मैं सुनती थी और तुम मेरी सुनते थे, एक समय वह हुआ जब मैं तेरी बात टाल देती थी और तू मेरी बात टाल देता था, अब वह समय आया है कि तू मुझसे कहता है 'निकल जा' और मैं तुझसे कहती हूँ 'कब पिण्डा छूटे!' इसका नाम विवाह नहीं है।

ठीक इसी प्रकार हमारा ब्रह्मज्ञान है। शुरू-शुरू में जब हम आत्मविद्या के विषय को सुनते हैं तब 'ब्रह्म तो मेरा स्वरूप है' इस भावना मात्र से हृदय प्रसन्न हो जाता है कि कितनी बड़ी बात है, जिस ब्रह्म को सारा संसार ढूँढ रहा है, वह मैं हूँ  यह पहला अनुभव था। लेकिन उसको स्थिर नहीं रख पाते, इसलिये अगला कदम हुआ कि सत्संग काल में तो ब्रह्म हूँ, बाकी समय में मैं तो जीव ही हूँ। फिर, उसको व्यवहार, प्रारब्ध आदि किसी नाम से कहो, अब वह एकता नहीं रही कि मैं तेरी और तू मेरी बात सुने। ध्यान काल (सत्संग काल) में मुझे ब्रह्म बन जाने दे, बाकी समय में मुझे कर्त्ता-भोक्ता बन जाने दे। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर इसे नास्तिक का लक्षण बताते हैं 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने वाला अपने को कर्त्ता-भोक्ता भी माने तो 'ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाःस्युर्न संशयः।' व्यवहार काल में ब्रह्म बने रहने से घबराता है क्योंकि नित्य नवीनीकरण

नहीं चाहता। जैसे विवाह हो गया, बात ख़त्म हो गई; ऐसे मैं ब्रह्म हो गया; बात ख़त्म हुई। अब, हर क्षण ब्रह्म बना रहूँ   यह क्या बात हुई? यह नास्तिकता आगे बढ़ी तो तीसरी अवस्था हुई कि मैं तुझे टाल जाऊँ, तू मुझे टाल जा। दूसरी अवस्था में कम-से-कम प्रारब्ध-भोग काल (व्यवहार काल) में कुछ भान तो है लेकिन तीसरी अवस्था में वह भी नहीं रहता। अब तो कहता है कि अब मेरी अवस्था हो गई, मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो गई, अब मैं चाहे कुछ कर भी लूँगा, ध्यान, समाधि, विचार आदि कुछ भी नहीं करूँगा तो मोक्ष भी निश्चित है, क्योंकि ज्ञान ने अज्ञान को तो नष्ट कर ही दिया है। इसलिये वे लोग फिर सोचते हैं कि बार-बार वेदान्त का श्रवण भी अच्छा नहीं, क्योंकि बीच-बीच में खोंच मार देता है। जब अज्ञान नष्ट हो ही गया, तब बार-बार क्या सुनना है! अस्पताल में डाक्टर कहता है 'इतने रोगी हैं और इतने ठीक हो गये।' उनसे पूछो कि तुम्हें कैसे पता कि वे ठीक हो गये? कहता है   'आना छोड़ दिया है इसलिये ठीक हो ही गये होंगे।' ऐसे ही हम लोग भी यदि रजिस्टर रखें कि कितनों को ब्रह्मज्ञान हो गया, श्रवण सफल हो गया, तो काफी बड़ी संख्या निकल आती है! किसी का ज्ञान दृढ हो गया तो घी का व्यापार करने लगा या कोई राजनीति करने लगा। वे सब ठीक हो गये, क्योंकि सबका अज्ञान नष्ट हो गया, इसलिये सारे अपने-अपने कार्य में लगे रहते हैं, अब उनको सत्संग श्रवण की ज़रूरत नहीं रही। जैसे डाक्टर मान लेता है, वैसे ही हमको भी मान ही लेना चाहिये।

गड़बड़ केवल यह होती है कि जैसे कोई डाक्टर अख़बार में छपने वाली मृत्यु-सूचना को भी बाँचता रहता है जिसमें छपता रहता है कि कौन-कौन मर गया है। देखता है कि अमुक रोगी दो हफ्ते पहले मेरे पास आ रहा था, अब छप गया कि वह मर गया, तो डाक्टर के दिल में आता है कि मैं तो समझता था कि ठीक हो गया, इसलिये आना छोड़ दिया, लेकिन इस अख़बार से सिद्ध होता है कि वह ठीक नहीं हुआ, बल्कि ऐसा ठीक हो गया कि अब आगे किसी दवाई की ज़रूरत ही नहीं रह गई। इसी प्रकार से हम लोगों को भी वह मृत्यु सूचना कहीं-न-कहीं से मिल जाती है कि अमुक व्यक्ति का लड़का मर गया, वह बड़े दुःखी हैं। हमारा माथा ठनकता है कि हम तो समझते थे कि जीवन्मुक्त हो गया और जीवन्मुक्ति का आनन्द ले रहा होगा, लेकिन यह तो लड़के के मरने से दुःखी हो रहा है। शादी की अंतिम अवस्था यह है कि मैं तुमसे और तुम मुझसे कब छूटो। ऐसी भी अवस्था आती है। वह अवस्था ज्ञान में भी आती है। एक सज्जन हमसे एक दिन कहने लगे 'अगर आपका सत्संग रोज़ सुनेंगे तो या यहाँ आना छूटेगा या दुकान छूटेगी।' हम चुप हो गये कि दुकान तो छूटेगी नहीं, यहाँ आना ज़रूर छूटेगा। वे सोचते हैं कि ब्रह्मज्ञान की बात सुनने से बड़ा झंझट होता है, किसी तरह यह टंटा छूटे तो अच्छा हो।

इसकी अपेक्षा, जो सच्चा विवाह होता है वहाँ ठीक इसके विपरीत क्रम चलता है, कोई बुरा नहीं मानना। सच्चे विवाह में विवाह काल के पहले पत्नी पति को, पति पत्नी को देखे हुए नहीं होते। पहले तो अत्यंत प्रेम और फिर धीरे-धीरे कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की तरह होते जाना, अर्थात्

शुरू पूर्णिमा से होना और अंत में अमा तक पहुँचना, यह सच्चा और भारतीय विवाह नहीं है। हम भारतीय तो शुक्ल पक्ष के तरीके से विवाह करते हैं, अमा से शुरू करके पूर्णिमा में समाप्ति करते हैं। जैसे अमा को चन्द्रमा दीखता भी नहीं, ऐसे ही पति पत्नी को नहीं देखता और पत्नी पति को नहीं देखती, एक-दूसरे का फोटो भी नहीं देखते। विवाह करने पहुँचते हैं तो उसका भी छाती तक घूँघट और उसका भी सेहरा, तब वे एक-दूसरे को नहीं देखते। विवाह होने के बाद एक-दूसरे को देखते हैं लेकिन साथ नहीं रहते। द्विरागमन (गौने) का नियम है कि पहले कुछ काल देखना-ही-देखना है, फिर अपने-अपने घर जाओ। देखने के बाद एक-दूसरे का रूप उनके हृदय में टिक तो जाये। शास्त्र में बताया कि पत्नी के अंतःकरण में जिसका मूर्तरूप ज़्यादा मूर्तिमान् होगा, उसके अनुसार संतति होगी। यदि आज विवाह करके दस महीने बाद बेटा होना हुआ तो तुम्हारा चेहरा उसके हृदय में क्या उतरेगा! प्रायः देखा होगा कि आजकल के बच्चों में पीहर वालों का चेहरा ज़्यादा आता है, क्योंकि पहले तो एक-दूसरे को देख लिया और विवाह के बाद दूर-दूर रहे। उसके गुण और  रूप का अपने हृदय में बार-बार विचार करके जम तो जायें, तब द्विरागमन होता है।

इसके बाद भी क्या होता है? रात-दिन साथ नहीं रहना होता। इतने बेशरम हमारे सच्चे विवाह वाले नहीं होते। पति यदि बहुत दिनों के बाद आया है तो झूठे विवाह वाला सबसे पहले पत्नी के झप्पी डालकर मिलता है, भाई से नहीं मिलता। सच्चे विवाह वाला ऐसा नहीं करता। पत्नी एक कोने में खड़ी है, सबसे ज़्यादा विरहाग्नि उसने सही है लेकिन चुपचाप आँख के एक कोने से देखती है, सामने आँख भी डालकर नहीं देखती। पति सबको बताता रहता है कि अमुक जगह गया, अमुक काम किया; और वह चौके में भोजन तैयार कर रही है, झाड़ू लगा रही है। हृदय में उद्वेलना है। वह बाकी सबसे मिल-जुल लिया, शाम का समय हो गया। कई जगह संस्कृत साहित्य में आता है कि इतने पर भी घर वाले उसको नहीं छोड़ रहे हैं। ननद ज़्यादा-से-ज़्यादा बातें पूछती है। वह किसी बहाने से ज़ोर से पल्ला ले जाती है कि बत्ती बुझे तो ये सोने की सोचें। दोनों के हृदय में विरह की तीव्र अग्नि दहक रही है।

द्विरागमन के बाद घर आये तो सास, ससुर, जेठ सबका लिहाज है। थोड़ा-बहुत आपस में मिलने का समय होता है तो ननद को बुखार आ गया। अब भाभी ननद के साथ सोयेगी, क्योंकि काम आ गया। धीरे-धीरे उनका मिलन काल बढ़ता जाता है, ज़्यादा-ज़्यादा साथ रहने लगते हैं। अब बच्चे हो गये, कुछ शरम खुली। एक काल ऐसा आता है जब वे दोनों माता-पिता की हैसियत से प्रतिक्षण साथ रहते हैं। अब बच्चे कमाने जाते हैं; वह कहीं नहीं जाता। अब उनमें इतना अभेद हो गया है कि दोनों में भावों की, विचारों की ऐसी एकता हो गई है कि दोनों एक-दूसरे के प्रतिबिम्ब बन गये हैं। भावुक कवियों ने तो यहाँ तक कहा है कि एक बार सीता जी के मन में संदेह हो गया कि यदि मैं नित्य-निरंतर साल भर तक अशोक वाटिका में बैठकर

राम का चिंतना करती रही और कहीं राम बन गई तो मेरी गृहस्थी का क्या हाल होगा? यह भावना है, कल्पित नहीं समझ लेना। किसी ने सांत्वना दी कि 'हे जानकी! चिन्ता नहीं कर, जितना तेरा राम पर प्रेम है, राम का भी तेरे ऊपर कम प्रेम नहीं है। इसी प्रकार यदि साल भर नित्य-निरंतर चिंतन करने से वह सीता बन गये तो फिर तुम्हारी गृहस्थी वैसी-की-वैसी रह जायेगी?' यह दोनों की अभिन्नता (एकता) है, जीवन का एक क्षण ऐसा नहीं जब उसकी विस्मृति हो। यहाँ तक कि पत्नी मर चुकी। पति कहता है 'मेरी बुद्धि में बैठता ही नहीं है कि वह मर गई। मुझे ऐसा लगता है कि वह जीवित ही मेरे साथ है।' ऐसा हो जाता है। आखिर अंतःकरण ही तो पदार्थ को देखता है। यदि स्मृति अत्यंत तीव्र होती है तो वह अनुभूति की तरह प्रतीत हो जाता है। यह आदर्श विवाह है।

जो साधना के द्वारा ब्रह्म के साथ सम्बन्ध करता है, उसका विवाह इस क्रम से होता है। पहले ही पहल उसे ब्रह्म देखने को नहीं मिला क्योंकि दोनों एक-दूसरे को देख नहीं सकते। जीव अविद्या में है और ब्रह्म अविद्यातीत है। ब्रह्म की दृष्टि में जीव अनिर्वचनीय है। माया का भी कोई निर्वचन नहीं है अर्थात् माया क्या है यह नहीं कह सकते और ब्रह्म भी वाणी से अतीत है। दो शब्द रख लिये हैं। अनिर्वचनीय शब्द का पारिभाषिक अर्थ मिथ्या होता है। अनिर्वचनीय का दूसरा अर्थ है जिसे वाणी से प्रकट न कर सकें, और वागतीत का भी यही अर्थ है कि जिसे वाणी से प्रकट न कर सकें। न ब्रह्म की दृष्टि में माया और न माया की दृष्टि में ब्रह्म है। दोनों एक-दूसरे को नहीं देख सकते। आजकल तो माया में रहते ही ब्रह्म दीख जाता है! माया अपनी दृष्टि से जगत् तत्कार्य में रत थी और ब्रह्म प्रपंचोपशम शांत था। अब विवाह हुआ अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति बनी, बुद्धि इसपर मुग्ध हो जाती है कि आज तक मैंने जितने रस लिये थे, उनमें यह रस बड़ा श्रेष्ठ है। यह माया की ही वृत्ति है, क्योंकि अंतःकरण माया का ही कार्य है। वृत्ति इस चीज़ से मुग्ध हो जाती है कि आज तक जितने स्वाद हमने लिये थे, वे उस स्वाद के सामने कुछ नहीं हैं। यही ब्रह्म की वरणीयता है। रोज़ प्रत्येक हिन्दू प्रार्थना करता है 'तत्सवितुर्वरेण्यं' 'वरेण्यं वरणीयं' लेकिन वह वरणीय कैसा है यह पता नहीं है। जानता है कि इसके साथ विवाह होगा लेकिन अभी पता नहीं है।

जब ब्रह्माकार वृत्ति बनी तो जैसे ही वृत्ति ने उस ब्रह्म को देखा, देखते ही मुग्ध हो गई कि यही श्रेष्ठ है। बाकी सब स्वाद देख लिये, लेकिन यह स्वाद कहीं नहीं आया। ब्रह्म ने भी ब्रह्माकार वृत्ति में कुछ श्रेष्ठता देखी कि 'आज तक किसी ने मेरा मुख नहीं देखा था, इसकी हिम्मत तो पड़ी कि इसने मेरा मुख देखा।' संसार में अनादि काल से घटाकार, मठाकार, पटाकार न जाने क्या-क्या वृत्ति लोग बनाते रहे, लेकिन सब वृत्ति बनने पर भी किसी वृत्ति की यह हिम्मत नहीं पड़ी कि ब्रह्म से नज़र मिलाये। विवाह लड़की के लिये बड़ा खतरनाक है। लड़की लड़के के घर जायेगी और अपनापना खो देगी। दुबे जी की लड़की मिश्र के घर पहुँची तो बेचारी का

दुबेपना गया, अब दुबे नहीं रह जायेगी। जितना पुराना है, वह सारे का सारा जल जायेगा तभी विवाह होगा। यह आधुनिक ब्याह नहीं है। यह पहले बता आये हैं। आज वाले में तो दोनों तरफ पैर रहता है। जब लड़की कहती है 'मैं अपने पीहर चली जाऊँगी' तो हम समझ लेते हैं कि यह ब्याह अभी पक्का नहीं है। 'लड़ना-मारना जो भी हो, घर तो यह मेरा है, मुझे नहीं जाना है', यह प्राचीन विवाह है। इसीलिये कोई वृत्ति ब्रह्म के साथ नज़र मिलाने की हिम्मत नहीं करती, क्योंकि घट, पट आदि यावत् पदार्थों के साथ नज़र मिलाते रहे। घटाकार वृत्ति बनी, सोचा, यह सच्चा वर नहीं है। इसलिये अंतःकरण में दूसरी वृत्ति मठाकार बनी, फिर तीसरी पटाकार की वृत्ति बन गई। अब पहली बार 'तत्सवितुर्वरेण्यं' देखा कि उसपर मन टिक जाता है। जहाँ ससुराल गई, वहाँ वृत्ति की मायारूपता ख़त्म हो जानी है। अब ब्रह्म के साथ मिलकर एक हो जाना है।

ब्रह्म भी मुग्ध हो जाता है कि 'इसने हिम्मत तो की कि अपने को मिटाकर मुझे वर बनाया। अपना सब कुछ खोने को तैयार तो हुई, आज तक खोने को तैयार नहीं थी।' अब जब विवाह हुआ, ब्रह्माकार वृत्ति बनी, तब दोनों ने एक-दूसरे को देखा, देखने के साथ ही अत्यधिक मुग्धता है। किंतु वह तो 'सकृद् विभातं' बस एक पलकारा-सा लगा। सामवेद की तलवकार उपनिषद् कहती है कि 'यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा' कि बिजली की तरह चमक जाता है। आँख की पलक गिर गई, बस ऐसा ही होता है। ज्ञान तो हो गया, दोनों ने एक-दूसरे को पहचान लिया, दोनों को एक-दूसरे के प्रति प्रेम हो गया लेकिन द्विरागमन तक टिकना पड़ेगा। मनन और निदिध्यासन करेंगे तब द्विरागमन होगा। ज्ञान तो श्रवण से ही है, इसमें संदेह नहीं है। लेकिन द्विरागमन विवाह नहीं है। लेकिन मज़ा मनन, निदिध्यासन सहकृत श्रवण से है। 'एते दर्शनहेतवः।' मनन, निदिध्यासन के बाद द्विरागमन हुआ, अब स्थिरता आई, जब स्थिरता आई, दोनों साथ तो रहने लगे, लेकिन अभी कुछ संस्कारों के अवशेष बचे हुए हैं, सास-ससुर अभी घर में हैं। उसके बाद धीरे-धीरे साथ रहना बढ़ने लगा। द्विरागमन के बाद साथ तो रहने लगे लेकिन बीच-बीच में अन्य कार्य करने लग गये। उन कार्यों को करते-करते बाहर देखते हैं तो लगता है कि अलग-अलग हैं लेकिन हृदय निरंतर उधर खिंचता रहता है।

आधुनिक लोग रहते साथ-साथ हैं लेकिन दिल दूसरी तरफ खिंचता रहता है। आज-कल के पति-पत्नी को हम बाबू जी और बीबी जी कहते हैं, क्योंकि वे रहते तो साथ-साथ हैं, आफिस भी एक साथ घूमने भी साथ-साथ जायेंगे, सड़क पर भी चलेंगे तो पंजों में पंजा डालकर चलेंगे, लेकिन दिल से मामला हरिःओऽम् तत्सत् है। बाहर से यह सब है लेकिन दिल इधर-उधर खिंचता रहता है। वह कहता है 'अरे क्या बताऊँ, 'मेरी तो अमुक लड़की से बात चल रही थी, तेरे से वही अच्छी थी, हम तो दहेज के चक्कर में तेरे पास आ गये।' वह भी कहती है कि 'अमुक लड़का इंजीनियर था, बड़ा अच्छा था, हमको तेरे बाप ने बताया ही नहीं कि तू बी०ए० में फेल

हो चुका है।' प्राचीन विवाह पद्धति में नज़र-से-नज़र तक नहीं मिलती। आँख की कोनियों से एक-दूसरे को देखना पड़ता है, लेकिन सब कार्य करते हुए दिल निरंतर उधर खिंचता रहता है, निरंतर एक-दूसरे के दिल साथ हैं। इसी प्रकार यहाँ मनन, निदिध्यासन के द्वारा द्विरागमन भी हो गया। आजकल का विवाह है कि मेरा स्वरूप तो समझो कि मैं ब्रह्म हूँ। लेकिन मन-ही-मन में कहता है कि 'दस गाँठों की चोरी हो गई, बहुत बुरा हुआ।' दिल उसके साथ मिला हुआ है। बाहर से पंजे में पंजा मिला है कि 'मैं तो ब्रह्म हूँ, मेरा स्वरूप तो समझो।' सच्चे विवाह में बाहर से क्या कहता है? राम से जब लोगों ने जाकर कहा कि 'आप तो भगवान् हैं', बड़े-बड़े देवताओं ने कहा। राम ने नहीं कहा कि 'हाँ-हाँ, हूँ तो भगवान् ही, तुमने अच्छा पहचाना।' कहते हैं 'आत्मानं मानुषं मन्ये जातं दशरथात्मजं।' 'मैं तो अपने को मनुष्य मानता हूँ। दशरथ के घर पैदा हुआ हूँ। कहाँ आप लोग और कहाँ मैं, आप यह क्या कहते है!' महर्षि याज्ञवल्क्य से कहा 'क्या तू सबसे बड़ा ब्रह्मनिष्ठ है?' याज्ञवल्क्य ने कहा 'ब्रह्मनिष्ठों को हमारा नमस्कार है, हमको तो गौएँ चाहिये।' यह सच्चा विवाह है, हृदय में ब्रह्म के सिवाय और किसी से प्रेम नहीं लेकिन बाहर से गौओं की कामना वाले हैं। इससे विपरीत वे हैं जिनमें अंदर कामना है और बाहर से पूछें कि कामना किसमें है? तो कहेंगे, 'वह तो अंतःकरण का धर्म है, उससे मेरा कोई मतलब नहीं है। मैं शरीर थोड़े ही हूँ।' अन्दर से सोचते हैं कि यदि घुटने की दवाई मिल जाती तो बड़ा अच्छा था। घुटने के दर्द से बड़ी तकलीफ रहती है। हम पूछते हैं 'स्वास्थ्य ठीक है?' जवाब मिलता है 'शरीर गड़बड़ है, मैं तो ठीक हूँ।' आत्मा ठीक है, यह तो हमने सुन रखा है। पूछते हैं 'क्या नाम है?' जवाब देते हैं 'जी इस शरीर को लोग देवदत्त कहते हैं।' शरीर का नाम है यह तो हम भी जानते हैं। उस शरीर को भी ग्यारह दिन के बाद से ही देवदत्त कहना शुरू किया।

वेदान्तज्ञान सदाचार का किंचित् भी विरोधी नहीं है। आचार्य कहते हैं 'यावदायुः सदा वन्द्या वेदान्ता गुरुरीश्वरः। मनसा कर्मणा वाचा' मन, कर्म और वाणी से बाहर से जितने आचरण हैं उनके द्वारा वेदांती को शास्त्र, आचार्य और परमेश्वर की वंदना करनी ही चाहिये। हृदय से निश्चय है कि ईश्वर, गुरु से भिन्न मेरा रूप नहीं है लेकिन प्रेम कोई दुनिया-भर को दिखाने की चीज़ नहीं हुआ करती है, प्रेम तो हृदय से हुआ करता है। सबसे ज़्यादा गहने वही दिखाते हैं जिनके माँगे हुए होते हैं। घर के गहने दिखाने का आग्रह नहीं रहा करता। आन्तरिक प्रेम ब्रह्म के साथ हमेशा बढ़ता चला जाता है। हर क्षण उसका चिंतन होता रहता है। मन उधर खिंचता रहता है लेकिन बाह्य व्यवहार यह है कि किसी को उस प्रेम का पता नहीं चल जाये। पता न चल जाये, इसके लिये किस प्रकार का व्यवहार करता है? भगवान् ने गीता में बताया है 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।' (३-२५) वैसा कर्म ज्ञानी भी करेगा जैसा अत्यंत अज्ञानी लोग, कर्मों में पूर्ण आसक्ति वाले करते हैं। बाहर से नहीं लगता कि ब्याह हो गया। वह तो अन्दर से पता लगता है। भारतीय अपने

'ब्याह' को प्रकट नहीं करते। जब तक ब्रह्म को नहीं जाना था, उस समय जैसा आचरण करता था, अन्दर से सर्वथा आसक्ति से रहित हुआ भी आचरण वैसा ही करता है, बाहर से कुछ अन्तर पता नहीं लगता। उल्टा लोग समझते हैं कि इन चीज़ों में आसक्ति होगी, तभी करता होगा। समझदार ऐसा क्यों करे? भगवान् ने जवाब दिया 'चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' यदि हम यह प्रकट करते हैं कि सारे संसार के पदार्थों में हमें कोई कीमत नहीं दीखती, इसलिये छोड़ रखा है तो कहोगे कि 'बाबा जी को नहीं दीखता होगा तो छोड़ रखा है। हम काहे छोड़ें? हमें कीमत दीखती है।' लेकिन जब राम, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि को क्रिया करते देखते हैं तब दृष्टि बनती है कि इनके अन्दर धन आदि पदार्थों में आसक्ति न होने पर भी राम सीता के पीछे कैसे रोये और फिर उनका परित्याग किया। तब हृदय में आता है कि इतने आसक्त होने पर भी राम ने धर्म के लिये पत्नी का परित्याग कर दिया। मैं तो आसक्ति में हूँ फिर भी छोड़ना श्रेष्ठ है। मन में आता है कि इनको इस चीज़ से लगाव नहीं था, छोड़ दिया तो क्या बड़ी बात है, लेकिन बाहर से लगाव देखते हुए उसके लोभ से धर्म को नहीं छोड़ा,' तो साहस होता है कि मुझे भी आसक्ति है, लेकिन आसक्ति रहते हुए भी धर्म का पालन करना चाहिये।

यही चीज़ बौद्ध और जैनों ने सबसे ज़्यादा गड़बड़ाई। इन्होंने गृहस्थ का आदर्श गड़बड़ा दिया। आज भी यही कहते हैं कि 'हम बड़े पापी हैं, आप लोग महात्मा हैं, आप लोग धन्य हैं।' हम कहते हैं कि हमारे आचार्यों की परम्परा को देखो 'नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र-पराशरं च। व्यासं शुकं गौडपदं महान्तम्' पहले कितने गृहस्थ हुए। नारायण लक्ष्मी के साथ, ब्रह्मा गायत्री के साथ, फिर उनके पुत्र शक्ति और अरुन्धती, उनके पुत्र पराशर, पराशर के पुत्र व्यास और व्यास जी के पुत्र शुकदेव हुए। यहाँ तक गृहस्थ परंपरा चली और याज्ञवल्क्य आदि सब गृहस्थ हुए। कभी-कभी हम कहते हैं कि भगवान् भाष्यकार ने इस गृहस्थी की विचारधारा को लेकर ही अद्वैत की विचारधारा प्रतिपादित की, लेकिन बौद्ध और जैन विचारधारा ने लोगों के हृदय में बैठा दिया कि हम तो गृहस्थ हैं, पापी हैं। उसका नतीजा हुआ कि इनके यहाँ ब्रह्मज्ञानी भी दो तरह के हैं। एक ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ धर्म में होने पर पाप का लाइसेन्स पा गया। ब्रह्मज्ञान हो गया लेकिन गृहस्थ हैं, इसलिये पाप करने का लाइसेन्स मिल गया कि हम तो गृहस्थ हैं, हम ब्लैक मार्किटिंग नहीं करेंगे तो कौन करेगा? इसलिये एक लाइसेंस पाया हुआ पापी और दूसरा बिना लाइसेन्स वाला पापी। कहते हैं कि घूस देनी ही पड़ेगी, इसके बिना तो चलता ही नहीं है। एक जिन्हें ब्रह्मज्ञान का लाइसेन्स मिल गया और दूसरे जिन्हें यह नहीं मिला है। ऐसे ही शराब बेचने वाले भी दो तरह के होते हैं, एक बिना लाइसेन्स बेचने वाले और दूसरे लाइसेन्स से बेचने वाले। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भी दो तरह के हो गये एक ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ जो पापी होगा और दूसरा ब्रह्मज्ञानी साधु जो पापी नहीं। लेकिन यह तो आश्रम है, इसमें प्रवेश अधर्म के लिये नहीं किया जाता। जब मनुष्य देखता है कि आसक्तिपूर्वक क्रिया

करने वाले व्यक्ति भी धर्म पर दृढ निष्ठा वाले हैं तब उसकी समझ में आता है।

क्या कारण है कि ब्रह्मज्ञानी कभी अधर्म नहीं करेगा? क्योंकि सारे अधर्मों का बीज तो संसार में सत्यत्व बुद्धि है। भगवान् भाष्यकार गीताभाष्य में लिखते हैं कि जब तक संसार में सत्यत्व-बुद्धि नहीं करोगे, तब तक अधर्म में प्रवृत्ति कैसे होगी? सच बोलने में सोचना नहीं पड़ता। झूठ बोलने में योजना बनानी पड़ती है, सच बोलने में कुछ नहीं करना पड़ता है। ऐसा नहीं है कि झूठ अपने आप बोल लेते हैं, प्रारब्ध बुलवा लेता है। सारे पाप-कर्म अविद्यामूलक हैं। इसलिये वेदांत तो यह कहता है कि जब तक ब्रह्मनिष्ठा नहीं होगी, तब तक कितना ही प्रयत्न करो, बीच-बीच में अधर्म हो जायेगा। लेकिन यह नहीं कहता है कि ब्रह्मज्ञान होने के बाद कूकर-सूकर बन जाओगे! पंचदशी में बताया है कि ब्रह्मज्ञान का यदि यही फल हो जाये कि यथेष्टाचार किया जाये, तो फिर सूअर योनि और वेदांत-ज्ञान में क्या फ़र्क रहा? इसलिये अन्दर से सर्वथा आसक्तिरहित है, सर्वत्र मिथ्यात्वदर्शी है, लेकिन जानता है कि 'मेरे व्यवहार से यदि कुछ गड़बड़ी हो गई तो ये लोग गड़बड़ा जायेंगे', इसलिये निरन्तर सावधान रहता है, कि सारे लोग मेरे प्रतिबिम्ब हैं, सारे अंतःकरणों में मैं ही प्रतिबिम्बित हो रहा हूँ, और कोई भी व्यक्ति अपना फोटो खराब नहीं करना चाहता! उल्टा नहीं समझना कि उसे शायद यश की इच्छा हो या बदनाम न हो यह इच्छा हो; यह सब कुछ नहीं! वह तो संसार को असत्य समझता है, संसार की प्रतिष्ठा, गौरव को वह महत्त्व नहीं देता। 'प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा 'गौरवं घोररौरवम्। मानं चैव सुरापानम्' उसकी दृष्टि में प्रतिष्ठा सूअर की टट्टी है। जब लोग गौरव करते हैं तो उसे लगता है कि ये रौरवाग्नि में तपा रहे हैं। सम्मान करें तो समझता है कि मुझे शराब पिला रहे हैं, ताकि यह कहीं चूक जाये तो लोग ताली बजाकर हँसें! इसलिये वह इन सबकी परवाह नहीं करता। वह तो समझता है कि वे सारे जीव मेरा प्रतिबिम्ब हैं। एक साधारण आदमी पुत्र की भी उन्नति ही चाहता है, विनाश नहीं चाहता तो ज्ञानी कब चाहेगा कि उसका प्रतिबिम्ब ग़लत काम करे! उसे अपने लिये कुछ नहीं करना है। ब्रह्मज्ञान तो उसके अन्दर रहता है, बाह्य आचरण उसका शिष्ट है। व्यवहार लोक-संग्रह के लिये करते हैं। लेकिन हृदय से अन्दर-ही-अन्दर सिवाय ब्रह्म के और किसी की कामना नहीं है। ज़रा बड़ा हो गया। धीरे-धीरे जैसे-जैसे चीज़ खुलने लगती है, उसका व्यवहार स्वाभाविक होने लगता है, अब उसे उस बाह्य चीज़ की आवश्यकता कम होने लगती है। दोनों में इतनी एकता हो जाती है कि उसके हृदय में जब कोई भाव उठता है तो उसे पता नहीं लगता कि यह ब्रह्म की वृत्ति है या अंतःकरण की वृत्ति है। जब वृत्ति उठती है, ब्रह्माकार ही उठती है, अब बाहर की एकता ज़रा प्रकट भी हो जाती है। भागवत में लिखा है कि मदिरामदांध व्यक्ति जब शराब के नशे में बहुत मत्त हो जाता है तो उत्तरीय को सम्हालता रहता है, लेकिन नशा इतना तेज़ है कि कपड़ा उतर जाता है। इसलिये वह चाहता है कि लोक-संग्रह चलता रहे लेकिन जब उसका नशा अतितीव्र होता है तो अवश हुआ उसके हृदय

का प्रेम कुछ छलक कर बाहर आ जाता है। वह चाहता नहीं लेकिन अपने को नियंत्रित नहीं कर पाता, इसलिये बाहर छलक जाता है। पत्नी को पता है कि पति का प्रेम तीव्र है। अपरा प्रकृति का उसके साथ परप्रेम है। जीव भी उसकी प्रकृति है। तब ब्रह्म उसको अपने में लीन कर लेता है। उसी को कहते हैं कि सप्तम भूमिका में जाने के बाद मनुष्य का शरीर अधिक समय तक नहीं रहता। उसका कारण यह है कि यह विवाह वास्तविक विवाह है। धैर्यपूर्वक प्रवृत्ति करने से ऐसा विवाह होता है। यह सुधा है अर्थात् 'सुष्ठु दधाति वररूपेण इति सुधा'। पतिरूप से अच्छी प्रकार से ब्रह्म को धारण करना ही ब्रह्माकार वृत्ति की सुधा है। इस सुधा का ही रूप आगे बतायेंगे।

# प्रवचन-१२

३१-३-७२

भगवती की उपलब्धि के स्थान का निर्देश किया कि शुद्धान्तःकरण में वह मिलेगी। दूर भटकने से उसकी प्राप्ति नहीं होती है। सारे भटकने को छोड़ने से आत्मा मिलता है, क्योंकि आत्मा से भिन्न सब अनात्मा है। अपने से भिन्न स्थल में ढूँढोगे तो अनात्मा ही मिलेगा। अन्यत्र ढूँढने जाओ तो अनात्मा की तरफ गये। ढूँढना ही उसको ढाँकना है। जिस समय ढूँढते नहीं उस समय वह आत्मा स्वाभाविक रूप से रहा। प्रायः कहा जाता है कि अनात्म पदार्थों से अपने को हटाओ। वेदांती कहता है कि यदि अनात्मा (अनात्म पदार्थ) होता तो उससे दूर हो जाते। आत्मा का बहिर्मुखीभवन ही अनात्मा बन जाना है, अनात्मा कुछ है नहीं। आत्मा से बहिर्मुख होना ही उसका अनात्मस्वरूप की तरह प्रतीत होना है। यह थोड़ी-सी सूक्ष्म बात है। सामने दर्पण रखा है। उस दर्पण में प्रतिबिम्ब कब पड़ेगा? मोटी दृष्टि वाला कहेगा कि जब मुँह सामने आयेगा। लेकिन विचार करो, मुँह सामने आने से प्रतिबिम्ब पड़ने वाला है! प्रतिबिम्ब तो तब पड़ेगा जब आँख से उसे देखने की कोशिश करो। जैसे काँच एक पदार्थ सामने है वैसे प्रतिबिम्ब कोई *पदार्थ* सामने नहीं है। प्रतिबिम्ब  तभी तक है जब तक तुमको आँख से दीखता है। जैसे रस्सी में साँप तब तक है जब तक आँख खोलकर देखते हो। जब बैटरी लेने को अपने कमरे में जाते हो तब क्या वहाँ साँप पड़ा रहता है? इसी प्रकार, प्रतिबिम्ब तभी तक है जब तक आँख से देख रहे हो। प्रतिबिम्ब कोई चीज़ नहीं है। वस्तुतः आँख की ज्योति को जब तुम दर्पण के ऊपर फैंकते हो तो दर्पण में यह शक्ति है कि तुम्हारी आँख की ज्योति को वापिस फैंक देता है। बस इतनी ही दर्पण की विशेषता है। तुम्हारी आँख की ज्योति जब दर्पण पर से लौटकर तुम्हारे मुँह को विषय करती है तब चूंकि उलटकर विषय करती है इसलिये तुमको लगता है कि प्रतिबिम्ब है। दीख वहाँ मुख रहा है लेकिन चूंकि नेत्र की ज्योति उलटकर देख रहे हो इसलिये भ्रम होता है कि तुम कोई दूसरी चीज़ वहाँ देख रहे हो।

जो विज्ञान जानते हैं वे तो समझ गये होंगे, जो नहीं जानते उनको एक प्रयोग समझाते हैं। तुम काँच से जितनी दूर होते हो ठीक उतनी ही दूर काँच के अंदर की तरफ प्रतिबिम्ब दीखता है। उतनी ही दूर क्यों? क्योंकि आँख से ज्योति जितनी दूर काँच पर पड़ी, वापिस उतनी ही दूर लौटेगी। स्वाभाविक- सी बात है कि प्रतिबिम्ब तब पड़ता है जब तुम्हारी आँख दर्पण की तरफ जाती है। आँख का दर्पण की तरफ जाना ही प्रतिबिम्ब हो जाना है। विज्ञान दो प्रकार के प्रतिबिम्ब मानता है। १   सच्चा प्रतिबिम्ब (real image) और २   झूठा प्रतिबिम्ब (imaginary image)। इन्हीं दो को लेकर हमारे वेदांत में भी एक आभासवाद और दूसरा प्रतिबिम्बवाद है। यहाँ केवल प्रतिबिम्ब की बात कर रहे हैं। नेत्र से चली हुई ज्योति का दर्पण पर जाकर,

वापिस आकर मुख को विषय करना ही तो मुख के अन्दर प्रतिबिम्बता की प्रतीति कराता है और प्रतिबिम्ब कुछ नहीं है। इसी प्रकार से आत्मा का मन और इन्द्रियों के द्वारा बाहर देखने का प्रयत्न ही बाहर की तरह संसार को दिखाता है। जैसे वहाँ प्रतिबिम्ब नहीं है वैसे ही यहाँ बाहर कुछ नहीं है। जो तुम्हारा बाहर देखने का प्रयत्न है, वही बाहर जगत् को खड़ा कर देता है। यदि तुमने प्रयत्न नहीं किया, आँख नहीं खोली, तो प्रतिबिम्ब हटाने के लिये कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता है। कोई कहे कि 'प्रतिबिम्ब को हटाने के लिये तलवार या चाकू लाओ', तो कुछ नहीं होगा! उसे हटाने के लिये आँख को बाहर की तरफ मत ले जाओ।

इसलिये परमात्मा की प्राप्ति में सबसे बड़ा प्रतिबन्धक परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न है। जितनी कोशिश करोगे, उतना ही क्या कर रहे हो? आँख फाड़-फाड़कर देख रहे हो कि स्वामी जी ने कहा है कि वहाँ प्रतिबिम्ब नहीं है। नहीं है तो देखना क्या है? आँख फाड़ते हो तो कहते हो 'बहुत देखा, लेकिन वहाँ तो प्रतिबिम्ब दीखता ही है।' इसी प्रकार से कहते हो 'बड़ी साधना करते हैं, लेकिन फिर भी द्वैत दीखता ही है। परमात्मा नहीं दीखता जगत् ही दीखता है।' देखने का प्रयास करना छोड़ो तो वहाँ सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है जैसे आँख बन्द करने पर सिवाय मुख के, प्रतिबिम्ब नाम की कोई चीज़ नहीं है। इसीलिये श्रुति ने नियम किया कि मन को आत्मा की तरफ न ले जाओ 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम् उपासते।' मन के द्वारा कभी उसका विचार नहीं कर सकते। चाहे वह विचार ध्यानरूप हो, चाहे शास्त्र-श्रवणरूप हो, चाहे वह युक्ति विचाररूप हो, किसी भी तरह से मन की वृत्ति बनाओ, लेकिन मन के द्वारा न उसको बुद्धि में ला सकते हो, न विचार कर सकते हो, और न ध्यान कर सकते हो। बल्कि जिसके कारण मन के अन्दर मनन हो रहा है वह परमात्मा है। बिम्ब या मुख समझ में कब आयेगा? जिसको तुमने बाहर दर्पण में देखा था, आँख बन्द करो तो वह प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है। तुम जानते हो कि मेरे मुख के कारण ही प्रतिबिम्ब दीख रहा था। दर्पण में प्रतिबिम्ब का कारण मुख था। लेकिन अगर सोचो कि 'जो इस प्रतिबिम्ब का कारण मुख था उसको देखूँ तो सही', तो जहाँ देखने की कोशिश करोगे, वहाँ फिर बाहर दौड़कर वह प्रतिबिम्ब हो जायेगा। आँख बन्द कर ली तो पता लगा कि प्रतिबिम्ब बिम्ब था। देखना चाहो तो जब दीखेगा, प्रतिबिम्ब ही दीखेगा, बिम्ब कभी भी दीखने वाला नहीं है। जो प्रतिबिम्ब का कारण है, वही बिम्ब है। बस इतना मात्र ही बिम्ब को जानना है। जिसके कारण मन विचार कर रहा था, यदि मन से उसका विचार करने लग जाओगे तो वह फिर बाहर जगदाकार ले लेगा। सारा जगत् उसी का तो प्रतिबिम्ब है। अतिधन्य वेद कहता है कि जिसके कारण यह सारा जगत् प्रतिबिम्बरूप में प्रतीत होता है बस वही ब्रह्म है। 'त्वं विद्धि' उसी को हृदय में उतार लो।

उसको उपास्य बनाने के लिये अपने से बाहर इदंता-रूप से जब तक धक्का मारते रहोगे, तब तक वह नहीं मिलेगा। हम समझते हैं कि हम उसको उपास्य या पूज्य बनाते हैं, लेकिन हम

उसको उपास्य और पूज्य बनाते हैं तो वस्तुतः क्या करते हैं? अपने हृदय से धक्का मारकर उसको बाहर निकालते हैं। हम समझते हैं कि हमने उसको पूज्य बनाया, लेकिन पूज्य बनाने के चक्कर में घर से अर्थात् हृदय से निकाल दिया। लोक में भी यही बात है। प्रेम और ऊँच-नीच का भाव साथ-साथ नहीं रहता। प्रेम हमेशा एकता लाता है, भेद को निवृत्त करता है। जितना तुम्हारा भाव ऊँच-नीच का आता जायेगा उतनी-उतनी तुम्हारे अन्दर मर्यादा बढ़ेगी और उतना ही उतना प्रेम सूखता जायेगा, यह नियम है। हर व्यवहार में देख लो। इसीलिये श्रुति कहती है कि तुम जो इदंता-बुद्धि से उसको उपास्य बनाने के लिये धक्का मारकर बाहर निकालते हो, यह उसको प्रतिबिम्ब बना रहे हो। क्या कारण है कि हम उसको अपने से बाहर पूज्य बनाते हैं तो उसका अपमान होता है? यह सोचने की बात है। जैसे किसी के घर में जाओ और उसके एक लड़के की तो इतनी तारीफ करो कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। कहो कि 'आपका यह लड़का पढ़ने-लिखने, खेलने, पहनने, बोलने, देखने आदि सब बातों में बड़ा अच्छा है।' दूसरे लड़के के लिये कुछ नहीं कहो, हो सका तो थोड़ा बुरा भी कह दो; तो क्या यह सब कहकर तुमने उसके पिता की प्रशंसा की? कह तो बार-बार यही रहे हो कि 'तुम्हारा यह लड़का बड़ा सुन्दर, बड़ा अच्छा, बड़ा पढ़ने वाला है, कपड़े भी अच्छे पहनता है', लेकिन जितनी-जितनी एक लड़के की प्रशंसा करते हो, उतनी ही दूसरे की निंदा भी हो रही है, क्योंकि दूसरा लड़का गया-बीता है, किसी काम का नहीं है। प्रशंसा और निन्दा साथ-साथ हुई। इसी प्रकार से एक ही माया शक्ति के द्वारा एक ही परब्रह्म परमात्मा में जीव और ईश्वर दोनों भाव साथ-साथ हुए। उसी माया के कारण वह ईश्वर और उसी के कारण जीव है। माया रूपी माता के दोनों पुत्र हुए। अब जितना कहते हो कि ईश्वर नित्य, शुद्ध बुद्ध, मुक्त है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और जीव को कभी-कभी थोड़ा-सा बुरा कह दिया जैसे यह पापी है, गया-बीता है, प्रतिबद्ध है, किसी काम का नहीं है, तो माया रूपी माता को इससे प्रसन्नता नहीं होगी। जितना तुम एक के अन्दर पूज्य भाव बढ़ाते हो उतना ही तुम दूसरे की निंदा कर लेते हो।

बुद्धिमान् व्यक्ति दोनों पुत्रों को एक जैसा बताता है। कुछ इसके गुण हैं और कुछ उसके गुण हैं, लेकिन गुण दोनों में हैं। वेदांत यही करता है। वेदांत कहता है कि परमात्मा के अन्दर तो सबसे बड़े गुण हैं : एक तो वह परम स्वतंत्र है और दूसरा गुण यह है कि वह कभी भी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ता, व्यापक है, नित्य अपरोक्ष है। यह वेदांत की प्रक्रिया है। अपरोक्ष है अर्थात् तुमको और किसी भी पदार्थ को क्षणभर के लिये भी छोड़ता नहीं है। परमात्मा की यह प्रेम शक्ति है। प्रेम की यही तो विलक्षणता है कि जिससे प्रेम है उसको क्षणभर भी आँख से ओझल न होने दे। इतनी ज़ोर से उसका हाथ पकड़े रखे कि वह क्षणभर को भी छूटे नहीं। परमात्मा में स्वतंत्रता है। वह सब कुछ कर सकता है, सर्वशक्तिमान् है। ये दो गुण परमात्मा के हुए। विचार करो कि परमात्मा की जो अपरोक्षता है, तुमको कभी न छोड़ने वाली जो शक्ति है,

उस शक्ति की अभिव्यक्ति किस रूप में होती है? जीवरूप में ही हमको उसकी अभिव्यक्ति होती है। तुम्हारा 'मैं' तुमको कभी नहीं छोड़ता। चाहे कहीं घोर जंगल में चले जाओ, 'मैं' साथ नहीं छोड़ता, नित्य अपरोक्ष है। परमात्मा की अपरोक्ष रहने की शक्ति है, उसके प्रेम की शक्ति है, कभी साथ न छोड़ने की जो शक्ति है वह 'मैं' रूप में प्रकट है। ईश्वर कहाँ प्रकट है? ईश्वर तो नित्य अपरोक्ष नहीं है, यदि होता तो फिर इतनी साधना क्यों करते! परमात्मा का अतिघनिष्ठ प्रेम जीवरूप में प्रकट होता है। यह परमात्मा की प्रशंसा है। उसकी दूसरी शक्ति स्वतंत्रता है। वह कभी किसी के अधीन नहीं होता। यह उसकी स्वतंत्रता की शक्ति जीव में प्रकट नहीं है। लेकिन यह ईश्वर में प्रकट है। वेदांत कहता है कि दोनों शक्तियाँ प्रशंसा के योग्य हैं। अब अगली बात से घबराना नहीं! ईश्वर में भी इसीलिये अपूर्णता है। ईश्वर में अपूर्णता सुनते ही लोग चमक जाते हैं। लेकिन यह तो वेदांत की प्रक्रिया है, यहाँ घबराने से काम नहीं चलेगा। ईश्वर की अपूर्णता यही है कि वह अपरोक्ष नहीं है। ईश्वर का प्रतिक्षण नित्य भान नहीं है। यदि ईश्वर नित्य होता तो नित्य अपरोक्ष होता। यह ईश्वर की अपूर्णता है। जीव भी अपूर्ण है क्योंकि जीव यदि पूर्ण होता तो स्वतंत्र होता और अनंत होता। इसलिये दोनों अपूर्ण हैं।

ईश्वर कब पूर्ण बने? जब जीव के साथ एक हो जाये। इसलिये ईश्वर अपरोक्ष बनने के लिये उतना ही लालायित है, ईश्वर को अपरोक्ष बनना उतना ही इष्ट है जितनी जीव की इच्छा स्वतंत्र बनने की है। यह एकतरफा मामला नहीं है। अविचारशील सोचता है कि एकतरफा मामला है, हमें ही करना है, ईश्वर को नहीं करना है। कहोगे कि ईश्वर अपरोक्ष बनने के लिये लालायित है तो उसके लिये वह क्या कर रहा है? विचार करो, तुम आँख खोलकर देखते हो तो ईश्वर आँख से दीखने वाला तेज रूप लेकर तुम्हारे सामने आता है और कहता है कि 'मुझे देखो'। तुमने निर्णय किया कि 'बिना आँख से नहीं देखूँगा', इसलिये बेचारा आँख से देखने वाला होकर आता है कि इससे अपरोक्ष हो जाऊँ; लेकिन तुम हो कि आँख से दीखने वाले रूप को तो देखते हो लेकिन ईश्वर जो रूप लेकर आया उसे नहीं देखते। तुमने सोचा कि 'अब हम कान से शब्द सुनेंगे' तो ईश्वर सोचता है कि शायद इसी में मुझे पहचान ले, दोस्ती गाँठ ले। इसलिये शब्दरूप धारण करके आता है। तुम फिर शब्दमात्र को ग्रहण कर लेते हो। उस शब्द को *जिसने* धारण किया उसे नहीं समझते। यही मानते हो कि शब्द सुनाई देता है, ईश्वर तो परम पूज्य है, अन्यत्र कहीं है। वह कहता है 'मैं तुझसे मिलना चाहता हूँ', तुम कहते हो 'वह बहुत बड़ा है, हम कहाँ मिल सकते हैं।' वह कहता है 'चाहे जितना बड़ा हूँ, बिलकुल सामान्य बनकर तुम्हारे सामने आया हूँ। तुम नाक से सूंघना चाहते हो, मैं गंध बनकर आ गया।' तुम कहते हो 'ऐसा नहीं हो सकता, तुम बड़े पूज्य हो, तुम गंध नहीं बन सकते।' रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श जो-जो तुम ग्रहण करना चाहते हो, ईश्वर इतना लालायित है कि वह वही-वही रूप लेकर आता है और कहता है 'जैसा चाहते हो, वैसा मुझे लो। लेकिन ज़रा दोस्ती करो तो सही, आँख

मिलाओ तो सही।' समग्र संसार में अपने को प्रतीत कराता हुआ ईश्वर तो अपनी लालायितता दिखाता है, अपरोक्ष बनना चाहता है; तुम्हारे सामने आकर कहता है कि 'मुझे अपरोक्ष बना लो।' लेकिन तुम 'पूज्य-पूज्य' कहकर उसे धक्का मारते रहते हो! ईश्वर कभी भी तुमसे अपने को दूर नहीं करना चाहता। ईश्वर की लालायितता ज़्यादा है क्योंकि माया के पदार्थों में जीव को मोह है, ईश्वर को नहीं है। ईश्वर ने इतने बड़े जगत् का रूप केवल जीव के साथ एक होने के लिये ही लिया है, किसी मोह से नहीं लिया है। यह जो जीव और ईश्वर की एकता है यह हृदय देश के अंदर प्रकट होती है।

इसीलिये आचार्यपाद कहते हैं 'भावा भावतया सन्तु भवद्भावेन मे भव।' जितने भी मेरे भाव हैं, जितने भी पदार्थ हैं, उन रूपों में आप ही सामने आते हैं। साधक उनका निराकरण नहीं करता है, कहता है कि 'इस रूप में भी वही आया है।' इसलिये, जितने भाव हैं, हे भगवान्! वे सारे आपके रूप से ही भाव बने हुए रहें। जिस-जिस चीज़ को ग्रहण करूँ, रूप, रस, गंध, शब्द स्पर्श आदि जो-जो ग्रहण करूँ वे सारे भाव आपके भाव को लेकर ग्रहण हों। हृदय के भाव से केवल भव (शिव) को ही ग्रहण करना है। आपसे अन्यथा (भिन्न) बनकर कोई चीज़ मेरे साथ सम्बन्ध वाली कभी न बने। किसी-किसी क्षण में तो परमात्मा का ग्रहण सभी कर लेते हैं, सुषुप्ति में, या दो वृत्तियों के मध्य में ग्रहण कर लेते हैं। क्योंकि परमात्मा बड़ा लालायित है, इसलिये कभी-कभी धक्का मारने पर भी कहता है कि 'अब पहचान लो।' गहरी नींद में कोई पदार्थ नहीं है, लेकिन उठकर कहते हो कि 'मैं बड़े आनंद के साथ था या आनंद में था'; और आनंद ईश्वर का ही नाम है। 'आनंदं ब्रह्मेति व्यजानात्' आनंद ब्रह्म (ईश्वर) का नाम है। अर्थात् तब मैं परमात्मा के साथ था। परमात्मा का नाम भी ले लिया, वह जबरदस्ती तुम्हारे घर में घुस भी आया; नाम लेते हुए भी कहते हो कि आनंद के साथ तो था लेकिन अभी तक परमात्मा मिला नहीं! जैसे, किसी का नाम है श्रीमती कौशल्या सचदेवा। हम कहें कि 'कौशल्या से मिले थे, अब सचदेवा से मिला दो। यह श्रीमती कौशल्या है, मैं श्रीमती सचदेवा को ढूँढ रहा हूँ।' तो कोई कभी नहीं मिला सकता। बार-बार यही कहेंगे कि 'यही तो है, इसी का नाम कौशल्या सचदेवा है।' ऐसे, वेद कहता है 'विज्ञानम् आनंदं ब्रह्म' और तुम कहते हो 'परमात्मा के साथ कैसे मिल जाऊँ?' कहते हैं 'सुषुप्ति में मिले तो थे!' कहते हो कि 'वहाँ आनंद के साथ था।' कहते हैं 'वही तो ब्रह्म है।' कहते हो 'वह तो आनंद है, ब्रह्म को दिखाओ।' तो कहाँ दिखायें! इसलिये किसी-किसी काल में वह तुम्हारे घर में जबरदस्ती घुस कर अपने को दिखा देता है। भक्त कहता है कि 'कभी-कभी ईश्वर सबको दीखता है लेकिन दीखते-दीखते फिर चला जाता है। 'दर्शनपथ उपयातो व्यपसरसि कुतो ममेश भृत्यस्य' देखने के रास्ते में, देखने की सीध में आ गया, आमने-सामने देख भी लिया, लेकिन फिर दूर क्यों हो जाते हो, किधर चले जाते हो? सुषुप्ति काल में, वृत्तियों के मध्य काल में उसको देख तो लिया, फिर स्वप्न, जाग्रत् के अन्दर

खोये हुए से क्यों हो जाते हो?

कई बार देखा होगा कि ध्यान करने बैठते हैं तो जैसे-जैसे ध्यान की गम्भीरता आती जाती है, लगता है उससे नज़दीक और कुछ नहीं है, लेकिन जहाँ थोड़ी देर में ध्यान ख़त्म हुआ तो कुछ समय ध्यान की मस्ती रही, तब तक लगता है कि मुझसे अभी भी चिपटा हुआ है, लेकिन जहाँ जाग्रत् के व्यवहार करने लगे, चाँदनी चौक के सौदे बेचने-खरीदने लगे, वैसे ही लगता है कि वह इतना दूर है जिसका कोई ठिकाना नहीं है! क्षणमात्र आपको देखूँ, यह मेरी इच्छा नहीं है, ऐसा देखूँ कि जिसके अन्दर एक क्षण भी आपके बिना और किसी को न देखूँ। हे विभो! सर्वव्यापक परमात्मा! वह समय कब होगा जब ऐसी एकता की प्रतीति है जिस समय मुझे यह पता नहीं कि मैं' कहाँ ख़त्म और परमेश्वर कहाँ शुरू, मैं कहाँ शुरू और वह कहाँ ख़त्म होता है। उस आनंद के अन्दर अटपटा जाता हूँ, बता नहीं सकता कि मैं ब्रह्म हो गया या ब्रह्म मैं हो गया! यह बड़ी हिम्मत करके बोलना पड़ता है, नहीं तो लोग घबरा जाते हैं। एक-दूसरे की सीमा ख़त्म होती है। नदी ही बहकर समुद्र बन गई या समुद्र बादल बनकर नदी बन गया? कहाँ मैं की सीमा ख़त्म और कहाँ ईश की सीमा प्रारंभ है   यह कोई नहीं कह सकता। यह जो एकता की प्रतीति है, यही अमृत है, इस एकता की प्रतीति के अन्दर अमृत बरसता है। कोई सहस्रार से, कोई सोमयाग करके अमृत पाता है, वेदांती कहता है कि हम तो प्रतिक्षण अमृत पीने वाले हैं, पीकर छोड़ने वाले भी नहीं हैं। जब प्रतिक्षण उसके साथ एक हैं तो फिर बुढ़ापा नहीं है। उसके साथ एक हैं तो मृत्यु नहीं है। हम मर जायेंगे तो ईश्वर मर जायेगा! इसलिये हमें मारने के लिये कौन आये?

यही अमृत धारा है जिसका निरंतर प्रस्राव चलता ही रहता है। हर क्षण उससे लिपटते हो, हर क्षण उससे एक होते हो, एक होने के बाद फिर देखते हो कि किससे एक हुआ। यही उसका नित्य-निरंतर प्रस्राव है। यह जो उसका प्लावन (बाढ़) है, उसके साथ सर्वथा एक हो जाना है, दोनों तरफ से इस एकता के जल का प्रस्राव है। जीव की तरफ से अपरोक्षता का प्रस्राव और ईश्वर की तरफ से स्वतंत्रता का प्रस्राव, दोनों तरफ के जल का प्लावन होता है। अब परम अभेद की प्राप्ति हुई। स्वतंत्रता और अपरोक्षता की एकता हुई अतः यह नहीं कह सकते कि यह जल स्वतंत्रता का या यह अपरोक्षता का था, क्योंकि वह मिलकर एक अखण्ड है। वेदांत की दृष्टि से विचार करके देखो तो विलक्षण परिस्थिति है। परोक्षता भी एक परतंत्रता है, किसी चीज़ का सामने न रहना या दूर हो जाना परतंत्रता का विषय है। अपरोक्षता भी एक स्वतंत्रता है। दूसरी तरफ जो नित्य अपरोक्ष है उसका आपरोक्ष्य ही तो स्वातंत्र्य है। स्वतंत्रता कहीं ईंट-पत्थर में नहीं रहती! स्वतंत्रता अपरोक्ष आत्म-तत्त्व में रहेगी। स्वातंत्र्य और अपरोक्षता दोनों मिलकर उसी में ऐसे हो जाते हैं कि उनमें भेद नहीं कर सकते कि यह स्वतंत्रता का जल है, यह अपरोक्षता का जल है। इसलिये मानो बाढ़ आ गई। गीता में भगवान् ने कहा है कि जिस समय

बाढ़ आ जाती है उस समय कुएँ इत्यादि का जल व्यर्थ हो जाता है। यह ऐसी बाढ़ है। उस समय परम अभेद की प्रप्ति होने पर तुम्हारे और हमारे दोनों रूप एक ही रह जाते हैं और प्रसन्नता ही रह जाती है। यद्यपि प्रारंभ में लगता है कि जीव साधक और ईश्वर पूज्य है, लेकिन उसे पूज्य बनाकर उसका अपमान और अपने को साधक बनाकर अपना अपमान है।

मार्कण्डेय पुराण में एक कथा आती है : प्राचीनकाल में एक राजा ध्रुवसंधि था। उनकी दो पत्नियाँ थीं  मनोरमा और लीलावती। मनोरमा का पुत्र सुदर्शन और लीलावती का पुत्र शत्रुजित् था। राजा बहुत अच्छा था लेकिन उन्हें आखेट का शौक था, कुछ ज़्यादा ही शौक था। शिकार के शौक में वह एक दिन घोर जंगल में चला गया और साथियों से दूर पड़ गया। नतीजा यह हुआ कि एक शेर ने उन्हें मार डाला। थोड़े दिन के बाद लोगों ने ढूँढा तो उनका शव मिल गया। शेर खा गया था लेकिन हड्डियों और मुकुट इत्यादि से पहचान लिया। ध्रुवसंधि का अंत्येष्टि संस्कार हो गया। प्रश्न हुआ कि राजा किसको बनाया जाये। सुदर्शन बड़ा था। विचार हुआ कि इसी को राजा बनाया जाये। लेकिन शत्रुजित् के मामा को इस बात का पता लग गया कि बिना युवराज बनाये हुए राजा मर गया है, इसलिये सोचने लगा 'चलकर अपने भांजे को राजा बनायें तो अपना पक्ष प्रबल हो जायेगा।' मामा युधाजित् अपनी फौज लेकर आया। मनोरमा ने अपने भाई वीरसेन को खबर भेजी। वह भी फौज लेकर आया। दोनों में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें सुदर्शन का मामा मारा गया। शत्रुजित् का मामा जीत गया और अपने भांजे को राजा बना दिया। उसने सूचना दी कि 'जो सुदर्शन को जीता या मरा पकड़कर लायेगा उसे इनाम दूँगा', सुदर्शन की माँ विदल्य नाम के मंत्री को साथ लेकर छिप गई। वे महर्षि भारद्वाज के आश्रम में पहुँचे। शत्रुजित् को पता तो लग गया, लेकिन आश्रमों के अन्दर जाकर किसी प्रकार का अत्याचार करने की उसकी हिम्मत नहीं पड़ी। यह नहीं समझना कि यह केवल आजकल की ही विचारधारा है कि विश्वविद्यालयों के अन्दर पुलिस का प्रवेश न हो। यह अति प्राचीनकाल से नियम था कि शिक्षा के स्थानों, मठ आदि स्थलों में राजा कोई भी हस्तक्षेप नहीं करता था। आजकल मानते हैं कि ये कानून अंग्रेजों के बनाये हैं। लेकिन यह अतिप्राचीन काल की मर्यादा है, अंग्रेजों की दी हुई नहीं।

धीरे-धीरे सुदर्शन बड़ा हुआ। वहाँ उसे शस्त्र-विद्या सिखाई गई। मंत्री विदल्य हीजड़ा था। लोग उसे क्लीब कहा करते थे। सुदर्शन यह नहीं समझता था, वह उसे नाम ही समझता था। बच्चों को क्या पता! बहुत से दादा बच्चों को बाप की तरफ अंगुली करते हुए कहते हैं कि 'यह उल्लू है।' बच्चा सोचता है कि यही इनका नाम है। कोई पूछता है पिता जी कहाँ है? तो वह कहता है 'उल्लू ऊपर है।' घरवाले डाँटते हैं, लेकिन उसे क्या पता। इसी प्रकार सुदर्शन भी विदल्य को 'क्लीब' कहता था क्योंकि उसका पूरा नाम तो उसे आता नहीं था। 'क्लीब-क्लीब' करे तो भगवती ने विचार किया, 'यह मेरा भक्त हो गया!' भगवती तो कोई निमित्त चाहती हैं

कि मेरे पुत्र का कल्याण हो। यह नहीं कि साधना के अधीन प्राप्ति हो, परमात्मा स्वयं हमें प्राप्त करना चाहता है। इसीलिये साधनों का विचार करते-करते अंत में भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार से पता नहीं लगता कि कहाँ से हवा चल कर आ गई; बैठे हुए हैं, बड़ी गर्मी लग रही है, किसी से कहा कि पंखा चला दो वह गया, उतनी ही देर में हवा चल पड़ी।

‘वायोरिव प्रवृत्तिः स्यात् तथा चैवोपसंहृतिः।
निर्निमित्तात्तथैवेशाज्जगज्जन्मस्थितिक्षयाः।।’ (बृ. वा. १. ४. ३६८)

अकस्मात् सोचते हो ‘बड़ी हवा चल रही है, रजाई ओढ़ें’, लेकिन उससे पहले ही हवा बन्द हो जाती है। सुदर्शन तो ‘क्लीब-क्लीब’ कर रहा था। भगवती ने माना ‘मेरे ‘क्लीं’ मंत्र का विचार करता है।’ विचार की दृष्टि से निमित्त नहीं बनता लेकिन बहाना बना लिया। शिवरात्रि के दिन भील के कर्म भी निमित्त ही थे, वह कोई जल नहीं चढ़ा रहा था। वह तो शिकार के लिये बाण चढ़ा रहा था। भगवान् आनंद देने के लिये तैयार बैठे हैं। लेकिन जीव भी बड़ा मज़बूत है! वह कोई बहाना नहीं देना चाहता, सोचता है कि यह मुझे कहीं मुक्त न कर दे। भगवती ने प्रसन्न होकर उसे एक धनुष और तलवार दी और कहा ‘तू सर्वत्र जीत जायेगा।’ इधर, काशी-नरेश की लड़की शशिकला के विवाह की तैयारी हुई। स्वप्न में उससे भगवान् ने कहा कि ‘तू सुदर्शन को वरना।’ उसने पिता से कहा। पिता ने कहा ‘तेरी बुद्धि मारी गई है! उसका तो राज्य ही नहीं है। उसी का भाई है, वह असली राजा है, मैं उससे तेरा ब्याह कर दूँगा।’ उन्होंने शत्रुजित् को निमंत्रण दिया तो वह फौज लेकर वहाँ आया। सुदर्शन भी वहाँ पहुँचा और शशिकला से कहा ‘मेरे साथ चलना चाहे तो चली चल।’ जब पिता ने देखा कि अब और कोई उपाय नहीं है तो उसने लड़की को विवाह की स्वतंत्रता दे दी। युद्ध में सुदर्शन जीत गया। उसने फिर चढ़ाई की और अपना खोया हुआ राज्य वापिस पाया, अयोध्या का राजा हो गया।

यह एक कहानी है। इसमें क्या बताया है? अयोध्या क्या है? ‘सुरविटपिवाटी-परिवृते’। अथर्ववेद में बताया है ‘अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या’ आठ चक्र और नव द्वारों वाला यह मनुष्य शरीर ही देवताओं के रहने का स्थल है, यही अयोध्या है क्योंकि इसको कोई जीत नहीं सकता। युद्ध के लिये जो अयोध्य हो उसे अयोध्या कहते हैं। यह मानव देह ब्रह्मप्राप्ति करने में समर्थ है, इसीलिये यह अयोध्या है। लोग इस शरीर के साथ युद्ध करते रहते हैं। यह शरीर तो वह रथ है जिसके द्वारा तुम ब्रह्मलोक को विजय करोगे लेकिन तुम घर में ही झगड़ा करते हो, इस शरीर से ही लड़ाई करते रहते हो! इस शरीर से नहीं लड़ना है बल्कि इसे साधन बनाकर लड़ना है। दूसरे मत-मतांतर वाले कहते हैं कि शरीर को कमज़ोर करो तो काम चलेगा। वेद कहता है ‘नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः’ यह बलहीन का काम नहीं है, यह देवताओं का पुर है। इसका असली मालिक ‘ध्रुवसंधि’ है जो अपने निश्चय से न गिरे। ध्रुव का अर्थ ब्रह्म है और

ध्रुवसंधि अर्थात् ब्रह्म के साथ मिला हुआ परमात्मा। इसका वास्तविक राजा परमेश्वर ही है। उसकी दो पत्नियाँ मनोरमा और लीलावती हैं; मनोरमा विद्याशक्ति और लीलावती खेल करने वाली अविद्या शक्ति है। विद्या शक्ति (भगवती श्रुति) से सुदर्शन उत्पन्न होता है। सुदर्शन अर्थात् अच्छी चीज़ों का दर्शन, आत्मा का दर्शन। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' श्रुति कहती है। लीलावती के द्वारा शत्रुजित् उत्पन्न होता है। दूसरों को शत्रु मानोगे, अनात्मा मानोगे तो जीवात्मा बनकर उसे जीतोगे। घट को देखने पर उसको जीत लेते हो। परमात्मा की अविद्या शक्ति के स्कूल जगह-जगह खुले हैं और उसकी अच्छी चीज़ों का दर्शन कराने वाली अकेली श्रुति है। हैं दोनों परमेश्वर की पत्नियाँ। परमेश्वर को शिकार खेलने का शौक है, इसलिये परमेश्वर अपने आपको छिपा लेता है। उसका मरना अपने आपको छिपा लेना है। शिकार तभी कर सकते हो जब अपने आपको छिपाओ। परमात्मा बैठा हुआ तो है, लेकिन अपने आपको उसने छिपा लिया है क्योंकि उसे शिकार का शौक है। जैसे शिकारी बाण द्वारा बींधता है इसी प्रकार परमात्मा जीव को प्रेम रूपी बाण के द्वारा बींधता है। लेकिन वह छिपा हुआ बाण है, नहीं तो वह शिकार न रहे। पहले तो लीलावती का बेटा शत्रुजित् जीतता है। इसी प्रकार पहले तो संसार के पदार्थ जीतते हैं। वेदादि शास्त्रों का कितना भी उपदेश दिया जाये लेकिन पहले-पहल मनुष्य को अविद्या का संसार जँचता है। किसी काल में काशिराज की पुत्री शशिकला के साथ सुदर्शन का सम्बन्ध होता है। काशी प्रकाश (ज्ञान) का नाम है। किसी काल में प्रकाश की अर्थात् साक्षिभाव की प्राप्ति होती है। उससे सम्बन्ध होता है तो उसकी पुत्री साक्षी की भावना वरण करती है। शशिकला के साथ सम्बन्ध होने पर सुदर्शन अयोध्या का राजा बनता है। तब आत्मज्ञान के लिये ही इस शरीर-संघात की प्रवृत्ति होती है। अनात्म पदार्थ के लिये शरीर-संघात की प्रवृत्ति अनिष्ट है, और आत्म-पदार्थ के लिये शरीर-संघात की प्रवृत्ति इष्ट है। जब इस प्रकार की भावना को लेकर आगे जाता है तब इस मणिद्वीप की, इस विद्या की प्राप्ति होती है। यह तुम्हारी और हमारी एकता का जो मुद है, मोद अथवा प्रसन्नता है, बस यही मणि है, इसी के अन्दर उसकी प्राप्ति सम्भव है। इसे नीप के द्वारा बताया, इसपर आगे विचार करेंगे।

## प्रवचन-१३

१-४-७२

भगवती की उपलब्धि का स्थान बताते हुए उस चिन्मात्ररूपिणी, आनंद-स्वरूपिणी संवित् शक्ति की प्राप्ति शुद्धान्तःकरण में होती है यह बताया। इस पंचकोषात्मक अयोध्या के अन्दर होती है यह दूसरी बात और तीसरे बताया, कि विद्यारत्न को ही जिसने अपना द्वीप बना लिया उसे होती है। वह विद्या कैसी है? 'मणिद्वीप' एक द्वीप है। द्वीप का अर्थ होता है जिसके दोनों तरफ जल हो अर्थात् जल के बीच का जो भूमि-भाग है, उसे द्वीप कहते हैं। जैसे लंका एक द्वीप है। 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपम्' द्वीप और अंतरीप दो शब्द हैं। आजकल हिन्दी वालों ने द्वीप और आगे महाद्वीप लगा रखा है, क्योंकि संस्कृत के अन्तरीप शब्द का उन्हें ज्ञान ही नहीं था। जिसको आजकल महाद्वीप कहते हैं, यह संस्कृत भाषा में अंतरीप शब्द से कहा जाता है। दोनों तरफ जल होने के कारण जो मध्य में स्थित होता है वह द्वीप है जैसे लंका द्वीप या आजकल के ज़माने में काला पानी, लक्षद्वीप। विद्या भी द्वीप है, क्योंकि विद्या के दोनों तरफ अप अर्थात् कर्म रहता है। ज्ञान के पूर्व में भी क्रिया और ज्ञान के बाद भी क्रिया है। मानों चारों तरफ की क्रिया-शक्ति के मध्य में विद्या का काल निष्क्रिय काल है। चारों तरफ तो क्रिया (कर्म) का समुद्र है, और उस कर्म-समुद्र के मध्य में ज्ञान का छोटा-सा टापू है। वह ज्ञान का द्वीप इसलिये है कि दोनों तरफ के जलों के द्वारा उसकी चट्टानों पर बार-बार मार होने पर भी उन चट्टानों को वह जल हिला नहीं पाता। इसी प्रकार चारों तरफ से कर्म का प्रवाह आने पर भी विद्या की चट्टान को वह हिला नहीं पाता। इतना बड़ा समुद्र है, फिर भी छोटे से टापू को भी नहीं डुबा पाता। इसी प्रकार ज्ञान को क्रिया का समुद्र कभी डुबा नहीं सकता। न क्रियाओं की चोट या थपेड़ों से ज्ञान में कोई फ़र्क आता है और न कभी भी क्रिया के समुद्र में वह डूब ही पाता है, वरन् वैसे ही निश्चल भाव से स्थित रहता है।

'दोनों तरफ कर्म' इसलिये कहा कि कुछ भेद है : ज्ञान के पूर्व कर्म अंतःकरण की शुद्धि के लिये है और ज्ञानोत्तर कर्म अंतःकरण की शुद्धि के लिये नहीं, केवल लोकसंग्रह के लिये है। दोनों तरफ के कर्मों में यह फ़र्क है कि ज्ञान के पूर्व जितने कर्म हैं, वे सब अपने लिये हैं; अंतःकरण की शुद्धि भी तो अपने ही लिये है। इसलिये ज्ञान के पूर्व सारे कर्म साक्षात् या परम्परा से अपने लिये ही हैं। सांसारिक कामनायें हैं तो उनके लिये, और अंतःकरण की शुद्धि चाहिये तो अंतःकरण की शुद्धि के लिये, ये दो क्रियाओं की अलग-अलग अवस्थायें हैं। जब तक हृदय में कामनायें हैं तब तक अंतःकरण की शुद्धि के कर्म नहीं बनते हैं। यहीं पर साधक प्रायः ग़लती करते हैं। चाहते हैं कि कामनायें भी पूरी होती रहें और साथ-साथ अंतःकरण भी शुद्ध होता रहे, पर यह नहीं हो सकता, दोनों अलग-अलग हैं। जैसा कि भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर

भगवत्पाद ब्रह्मसूत्र-भाष्य में कहते हैं कि पटनावासी एक-साथ गंगोत्री व गंगासागर के रास्ते चलना चाहे तो कभी नहीं पहुँच सकता क्योंकि रास्ते अलग-अलग हैं, एक पूर्व का रास्ता है और दूसरा पश्चिम का। इसी प्रकार कामनाओं की पूर्ति का मार्ग और अंतःकरण की शुद्धि का मार्ग एक-दूसरे से बिलकुल उल्टे हैं। अंतःकरण की शुद्धि के बाद मनुष्य की निष्कर्म अवस्था आती है, क्योंकि अब न तो उसकी कामनायें रह गईं और न अंतःकरण शुद्ध करना ही बाकी रह गया। इसलिये वह नैष्कर्म्य सिद्धि की अवस्था है। गीता में भगवान् ने बताया 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति'। पहले थोड़ी-थोड़ी कामनाओं के लिये कर्म किया गया। शास्त्रीय कर्मों के अन्दर छोटी-छोटी कामनाओं को पूर्ण करने के लिये प्रवृत्ति की जैसे पुत्र हो जाये, धन हो जाये, इत्यादि के लिये कर्म प्रारंभ किया। अब पता लगा कि उन छोटी कामनाओं की पूर्ति से अन्दर का आनंद नहीं आता। छोटी-छोटी कामनायें तो पूरी हो गईं, लेकिन अंदर की गहराई में चित्त के अन्दर इन *पदार्थों की* कामना नहीं हुआ करती, *आनंद की* कामना हुआ करती है। पहले-पहल आदमी सोचता है कि ऊपर-ऊपर के पदार्थों की प्राप्ति से सुख और शान्ति हो जायेगी। इसलिये इच्छा करता है कि मुझे धन की, पत्नी की, पुत्र की प्राप्ति हो। बस इतनी ही तो कामनायें हैं। जब इनकी प्राप्ति होती है तब पता लगता है कि चीज़ों की प्राप्ति मात्र से अंदर की गहराई का आनंद प्रकट नहीं हो रहा है! अंदर की गहराई में जो आनंद की कामना है वह कैसे पूर्ण हो? शास्त्र कहता है कि जब अपने अन्दर गोता लगाओगे तभी वह आनंद मिलेगा। अब बाहर की कामनाओं को छोड़ दिया और सीधे अन्दर की तरफ गये, और सारी कामनाओं को केवल अंतःकरण की शुद्धि के लिये किया।

अंतःकरण की शुद्धि का लक्षण क्या है? मन के अन्दर परमात्मा के प्रति तीव्र स्नेह का उत्पन्न हो जाना ही अंतःकरण की शुद्धि का लक्षण है। शंका होती है कि अंतःकरण की शुद्धि हुई या नहीं इसका कैसे पता लगे। संस्कृत में चिकनाई को स्नेह कहते हैं। जैसे जहाँ चिकनी चीज़ होती है वहाँ फिसलना आसान होता है। इसीलिये आजकल मेज़ों पर सनमाइका नाम का चिकना पदार्थ लगा देते हैं। उसपर स्याही गिरे तो बह जायेगी। जैसे चिकनाई होने से चीज़ झट फिसल जाती है, उसी प्रकार परमात्मा में जब स्नेह होता है तब परमात्मा की तरफ चित्त फिसलता रहता है। अभी कोशिश करके पैर जमाते हो भगवान् में और जमाते-जमाते ही फिसलता है व्यापार में, झट चाँदनी चौक की कपड़े की गाँठों में पहुँच जाता है। अभी परमात्मा की तरफ चित्त में शुष्कता है और संसार की तरफ चित्त में स्नेह है, यह फ़र्क है। और परमात्मा के प्रति स्नेह होने पर स्वभाव से चित्त फिसलकर परमात्मा में जायेगा, संसार में जमाना चाहोगे तो भी नहीं जमेगा। वह अंतःकरण की शुद्धि का लक्षण है। कई बार व्यवहार में साधक जमाना चाहता है लेकिन जमता नहीं है। अंतःकरण अशुद्ध होने पर परमात्मा को याद करने में जितनी कठिनाई होती है उतनी ही कठिनाई अंतःकरण शुद्ध हो जाने पर परमात्मा को भुलाने में होती

है। संसारी आदमी की समस्या है कि संसार को कैसे भूलें और शुद्धान्तःकरण वाले की समस्या है कि परमात्मा को कैसे भूलें। बस यही चिकनाई (फिसलन) का लक्षण है। जब मनुष्य अन्दर का आनंद लेने को प्रवृत होता है उस समय यह परमात्म-स्नेह होता है। जब स्वभाव से परमात्म-चिंतन चलने लगे तब समझ लेना चाहिये कि अब आगे कोई कर्म करने की ज़रूरत नहीं है। उसके बाद निष्कर्म स्थिति है। ज्ञान के बाद जो कर्म करते हैं वे कर्म दूसरे हो गये। अब न उसे अंतःकरण की शुद्धि की ज़रूरत है और न कोई दूसरी कामनायें हैं। अब जहाँ-जहाँ वह देखता है वहाँ-वहाँ परमात्म-दर्शन करता है।

जब यह दृष्टि बनती है तब मणिद्वीप के अन्दर नीप के उपवन में प्रवेश होता है। 'मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिंतामणिगृहे' नीप के उपवन में पहुँच गये। अशोक वृक्ष को नीप कहते हैं। हलायुध कोश में बताया है 'नीपःकदम्बबन्धूकनीलाशोकद्रुमेषु च।' अशोक द्रुम को नीप कहते हैं। वन जंगल है और घर के चारों तरफ चार-दीवारी में जो बगीचा लगाया जाये उसे उपवन कहते हैं। मानव-निर्मित बगीचे को आराम, उपवन कहते हैं। जब मणि रूपी द्वीप अर्थात् ज्ञान में दृढ हो गये तो नीप के उपवन में पहुँचे। जहाँ कोई शोक न हो उसी को अशोक कहते हैं। वैसे नीञ्, प्रापणे धातु से नीप शब्द बनता है, 'पा-नी-विषिभ्यः पः' (उणा. ३०३)। 'पा' के आगे प-प्रत्यय लगा तो 'पाप' शब्द, और 'नी' के आगे पः-प्रत्यय होने पर नीप शब्द हुआ। अर्थात् इस अशोक अवस्था को जो प्राप्त कराता है वह नीप हो गया अर्थात् जो शोक को हटा दे। उपवन के द्वारा बताया कि शोकरहित अवस्था जंगली जीवन में भी होती है। अशोक का वन भी हो सकता है। जैसे जंगल में भी अशोक का पेड़ होता है लेकिन कहाँ कब हो जाये, इसका कोई ठिकाना नहीं है। जंगल में जहाँ चाहे वहाँ पेड़ पैदा हो जाता है लेकिन बगीचे में जिसे तुमने लगाकर रखा है वही होता है। यही दोनों में फ़र्क है। शोकरहित अवस्था हम सबकी होती है। पापी से पापी की भी शोकरहित अवस्था होती है। सुषुप्ति में किसी को शोक नहीं, बीच-बीच में पुण्य कर्म का उदय हो जाये तो भी शोक नहीं। यदि थका हुआ है तो उस समय शोक नहीं। कोई प्रिय पदार्थ सामने है तो शोक नहीं। ऐसा नहीं कि संसार के लोग चौबीस घण्टे शोक-ही-शोक करते रहें। अशोक सबको होता है, लेकिन वह अशोक 'वन' है कि जब चाहे तब अशोक हो गये। अशोक के 'बगीचे' का मतलब है कि हमको पता है कि शोकरहित कैसे हुआ जाये, जैसे हाथ से लगाया हुआ वृक्ष है। शोकरहित अवस्था है 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' एकता के ज्ञान का यही फल है।

अर्जुन ने कहा 'हमको इन लोगों पर बड़ी दया आ रही है, संसार तो मिथ्या है, इसमें क्या रखा है! ऐसे-ऐसे पूज्य लोगों को मारकर संसार के पदार्थों को प्राप्त करके फ़ायदा नहीं है।' व्यास जी लिखते हैं कि यह बात सुनकर भगवान् को हँसी आई 'प्रहसन्निव भारत'। हँसे नहीं, क्योंकि अर्जुन बुरा मान जायेगा। कोई आदमी ठीक बात बोले और हँस दो तो सामने वाला बुरा

मानता है। भगवान् 'प्रहसन्निव' प्रकर्षेण, ठट्ठा मारकर हँसे लेकिन 'इव' हँसी को रोक लिया। अंदर-ही-अंदर हँसे, क्योंकि भगवान् ने सोचा कि बात वैराग्य की करता है कि संसार मिथ्या है, फिर कह रहा है कि घर वाले मर जायेंगे, पूज्य मर जायेंगे! जैसे कोई कहता है कि 'संसार में कुछ भी तत्त्व नहीं है, सब झूठा है, कोई किसी का नहीं है', फिर थोड़ी देर बाद उठकर कहता है कि 'दुकान जाना है।' हम कहते हैं जब वहाँ कोई तत्त्व ही नहीं है तो क्यों माथा मारते हो? कहता है 'दुकान नहीं खुलेगी, क्योंकि चाबी मेरे पास है।' हम कहते हैं, नहीं खुलेगी तो क्या हो जायेगा? सब निस्तत्त्व है! जैसे ऐसे लोगों की बात को सुनकर हँसी आती है, इसी प्रकार भगवान् को भी बड़े ज़ोर की हँसी आई कि एक तरफ तो कहता है कि 'संसार में कुछ नहीं रखा है, भिक्षा माँगकर समय निकाल लेना चाहिये।' और फिर, घर वालों को क्यों मारें!' एक तरफ वैराग्य और दूसरी तरफ मोह है। भगवान् ने कहा 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः' अरे अर्जुन! गजब हो गया। शोक तो किये जा रहा है, कहता है कि शोक नहीं करना चाहिये। बात तो प्राज्ञ पुरुषों की, ज्ञानियों की कर रहा है और तेरा आचरण कुछ और ही है। ऐसा क्यों? अर्जुन ने कहा 'मैंने तो अच्छी ही बात कही है, वैराग्य की बात कही है।' भगवान् ने कहा, लेकिन साथ में कह रहा है कि 'ये तो मर जायेंगे।' प्राज्ञ कौन होते हैं? पण्डितों का लक्षण है कि जो मर गये न उनको रोते हैं और न ज़िन्दों को रोते हैं। यह सब जगह समझ लेना। किसी भी भूत की घटना को लेकर उनके मन में दुःख नहीं है। केवल आदमियों के मरने पर ही नहीं समझ लेना, संस्कृति, राष्ट्र, समाज, न जाने क्या-क्या चीज़ें हैं जिनमें आत्मबुद्धि होती है, उन सब चीज़ों के बारे में कभी भी, किसी भी परिस्थिति में शोक करता ही नहीं, क्योंकि जानता है कि कल्पना का ही संसार है। यह नीपोपवन, अशोक का बगीचा है। यह अशोक अवस्था कैसे होती है?

एक सच्ची घटना है। कृष्ण नगर (सौराष्ट्र) के पास एक गाँव में जनार्दन पण्डित रहते थे, वहाँ के राजा के पुरोहित थे। वह अलाउद्दीन खिलजी का काल था, जो दिल्ली में राज्य कर रहा था। उसके पास ही भगवान् शंकर का बड़ा मन्दिर था जिसे नागेश्वर कहते हैं। कुछ लोग तो उसे ज्योतिर्लिंग भी मान लेते हैं। यद्यपि ज्योतिर्लिंग अलमोड़ा के पास है, क्योंकि 'दारुकावने नागेश्वरम्' कहा है और देवदारू के वृक्षों का वन वहीं मिलता है। कुछ लोग दारू का अर्थ द्वारिका लेने से उसे भी ज्योतिर्लिंग मान लेते हैं। जो भी हो, वह अतिप्राचीन मन्दिर है। कृष्ण नगर के राजा के वही इष्टदेव थे। कृष्ण नगर एक छोटा-सा राज्य था। अलाउद्दीन खिलजी ने उस राज्य पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। हमारी इतिहास की पुस्तकों में से हमारे इतिहास को नष्ट करने का बड़ा प्रयत्न किया जा रहा है। एक झूठी एकता लाने के चक्कर में कहते हैं कि सच्ची बात को भूल जाओ। अकबर के चित्तौड़ विजय करने के बाद भी चित्तौड़ वालों ने इतने दिन तक विरोध किया कि इसका बदला लेने के लिये उसने अठारह घण्टे तक

कत्लेआम करवाया था जिसमें सैंतालीस हज़ार लोगों को तलवारों से मरवा डाला था। यह खुद अकबरनामे में लिखा गया जो उसके मंत्री ने लिखी है। आइने अकबरी में लिखा है कि वहाँ गोकुशी करवाई। आज कहा जाता है कि ये सब चीज़ें भूल जाओ और अकबर द ग्रेट याद रखो, क्योंकि अकबर सब धर्मों को मान्यता देता था; यह चरित्र है सब धर्मों को मान्यता देने वाले का! क्या कारण है, क्यों हम इन चीज़ों को भूलना चाहते हैं? सच्चाई को दबाने से क्या कभी कोई सत्फल पैदा हो सकता है? इसी प्रकार अलाउद्दीन खिलजी के बारे में भी कई लोग कहा करते हैं कि उसने अपने काल में बड़े अच्छे काम किये। एक अच्छा काम यहाँ बता रहे हैं। कृष्ण नगर को उसने पूरी तरह से समाप्त किया और वहाँ नागेश्वर लिंग को सेनाध्यक्ष ने उठाकर बाहर फैंक दिया। वहाँ पर एक यवन था, उसने उस लिंग को उठाकर अपने घर की सीढ़ी में दबा दिया। थोड़े समय बाद अलाउद्दीन वापिस चला गया।

जनार्दन पण्डित राजपुरोहित था। धीरे-धीरे वहाँ का वातावरण कुछ परिवर्तित हुआ तो जनार्दन ने पता लगाना शुरू किया कि वह शिवलिंग कहाँ गया। ढूँढते-ढूँढते, लोगों से बात करते-करते उसे पता लगा कि अमुक ने पैरों की ज़मीन में लिंग को दबा रखा है। उन्होंने जाकर उसके बहुत हाथ-पैर जोड़े कि दे दो। उसने कहा 'नहीं दूँगा।' बहुत बातें करते-करते अंत में उससे कहा कि 'ऐसे नहीं देता तो तू पैसा लेकर दे दे।' तब उसने कहा 'तीन सौ कलदार (चाँदी के रुपये) दो तब दूँगा।' यह सुनकर ब्राह्मण घर आया तो बड़ा उदास था। पत्नी ने कहा 'पतिदेव! आज आप उदास दीखते हैं, क्या बात है?' उन्होंने कहा 'क्या बताऊँ मैंने जीवन में आज तक कोई कामना नहीं की लेकिन आज चित्त में कामना आई है तो पूर्ण करने का साधन नहीं है। आज तीन सौ रुपयों की ज़रूरत है। राजा रहे नहीं, मैं कहाँ से ला सकता हूँ!' पत्नी ने कहा 'इसमें चिन्ता की क्या ज़रूरत है। मेरे ये गहने आपके बनाये हुए हैं, ये ले जाइये और उससे तीन सौ रुपये हो जायेंगे, उन्हें काम में ले लो।' प्रसन्न होकर उसने अपने सारे गहने दे दिये। वह भी प्रसन्न हो गया और तीन सौ रुपये ले जाकर उस मुसलमान को दिये, उसने लिंग खोदकर दे दिया। वे शिवलिंग लेकर नदी के तट पर गये। कृष्ण-नगर के पास ही प्राची सरस्वती नदी बहती है। उसमें जाकर शिवलिंग को धोया। इधर जनार्दन के घर पर एक कन्या आई और उसने आकर ब्राह्मणी से कहा 'आज तुम्हारे घर में राजराजेश्वर आ रहे हैं, इसलिये तैयारी करो।' पुराने ज़माने में मिट्टी के घर होते थे। उसने लीपकर ठीक कर लिया। जनार्दन वापिस आये तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज मंगल की इतनी तैयारी है, केले के खम्बे बाँधे गये हैं, घर लीप-पोतकर ठीक किया गया है। पूछा 'क्या बात है!' ब्राह्मणी ने कहा 'एक लड़की आकर कह गई थी।' यही अपने प्राचीन काल का स्वागत और मंगल होता था। आजकल की तरह मुसलमानों की दुकानों से खरीदकर पटाखे नहीं छोड़े जाते थे! मुसलमानों को बुलाकर बैण्डबाजे नहीं बजवाते थे और न बाइस्कोप की नर्तकियाँ बुलाकर नचवाते थे। यह आधुनिक स्वागत के

तरीके हैं! प्राचीन काल में स्वागत और मंगल की परम्परा यही थी कि मंगल तोरण आदि बाँध दिये जाते थे। ब्राह्मण प्रसन्न हुआ और शिवलिंग पूजा के स्थल में रख दिया, और रोज़ नियम से पूजन करने लगा।

लेकिन भगवान् तो ज़रा प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति को देखते हैं। कुछ दिनों बाद रात्रि में ब्राह्मण को स्वप्न हुआ कि 'मैं दिव्य लिंग हूँ, किसी के घर में नहीं रहता।' उसने कहा कि 'मैं मन्दिर कहाँ से लाऊँ?' भगवान् ने कहा 'लाओ न लाओ, मुझे प्राची सरस्वती नदी में फैंक दो, घर में रखोगे तो अकल्याण होगा।' उसने कहा 'अकल्याण हो या जो हो, नदी में तो मैं फैंकने से रहा।' दो-तीन दिन बाद फिर स्वप्न हुआ, तीसरी बार फिर स्वप्न हुआ। अब एक महीने के अंत में उसका इकलौता पुत्र मर गया। थोड़े दिन बाद फिर स्वप्न हुआ कि 'अभी भी मुझे नदी में फैंक दो, मैं दिव्य लिंग हूँ, इसलिये मुझे तुम्हारे घर में बन्धन प्रतीत हो रहा है।' उसने कहा कि 'सीढी के अन्दर दबा रखा था, उसका क्या हुआ?' भगवान् ने कहा, 'वह अज्ञानी था, इसलिये वह मेरा अपमान नहीं करता था। अज्ञानी क्या अपमान करेगा! अपमान तो ज्ञानी किया करता है। अगर ग्वाला हीरे को गधे के गले में बाँध दे तो हीरे को दुःख नहीं होता। यदि जौहरी मखमल का डिब्बा बनाकर उसमें न रखे तो उसका कलेजा फटता है। तू जानता है कि मैं राजराजेश्वर हूँ, फिर भी तू अपने घर रखता है, इसलिये मुझे अच्छा नहीं लगता।' पण्डित ने कहा 'जो हो, नदी में तो मैं नहीं डालने वाला हूँ।' उसकी एक पुत्री थी, वह भी एक महीने के बाद मर गई। फिर स्वप्न हुआ अब तो कुछ कर। उसने कहा 'अच्छा हो गया कि घर के सब मर गये। अब तो आपको घर में नहीं रखूँगा, अब सिर पर बाँधकर जहाँ चाहे भ्रमण करता रहूँगा।' उसने भगवान् को सिर पर बाँध दिया। अब घर का बन्धन भी नहीं रखा। लोगों ने समझा कि राजपुरोहित पागल हो गये हैं, क्योंकि घर के सब लोग मर गये हैं। लेकिन वह अपनी मस्ती में था। फिर एक रात्रि स्वप्न हुआ कि 'तेरे सिर पर बिजली गिरेगी, तू मर जायेगा क्योंकि दिव्य लिंग को ऐसे लेकर घूमता है।' उसने कहा 'अब कुछ भी हो, मैं नहीं छोड़ने वाला हूँ!' बिजली गिरने आयी, लेकिन सिर पर तो वह खुद बैठे हैं, बिजली के गिरने की कहाँ हिम्मत है? यह भगवान् की प्रतिज्ञा है कि जो पत्नी, पुत्र, घर, धन और प्राणों तक के लिये भगवान् को नहीं छोड़ता उसे मृत्यु नहीं पकड़ती। एक दिन प्राची सरस्वती नदी के किनारे पर पूजन कर रहा था तो एक गोरा लड़का और काली लड़की जल क्रीडा के लिये आये और स्नान करते हुए एक-दूसरे के ऊपर खेल-खेल में पानी उछालने लगे। उस पानी के छींटे उसपर और शिवलिंग पर पड़े तो उसकी आँखों में पानी आ गया। कहने लगा 'तुम बड़े सुन्दर लगते हो लेकिन तुम्हारा यह आचरण कैसा है?' वे कहने लगे 'पंडित जी! गुस्सा नहीं किया करते, छींटे गिर गये तो हुआ क्या!' कहने लगे 'मेरे ऊपर गिरा, इसका मुझे दुःख नहीं लेकिन कम-से-कम इतना ख़्याल तो करते कि यह दिव्य लिंग है, इसपर छींटे न गिरते।' दोनों ने अपनी गलती मान ली। झट से नदी

से बाहर निकले और एक फूल देकर कहा 'यह इस लिंग पर चढ़ाओ। यह फूल कभी नहीं मुरझायेगा और इस फूल के रहते तुम जो इच्छा करोगे वे सब पूरी हो जायेंगी। अगर तुम मरे हुये का भी स्मरण करोगे तो ज़िन्दा हो जायेंगे। यह इस फूल की विशेषता है।' उन्होंने फूल भगवान् शंकर पर चढ़ाकर नमस्कार किया। वापिस देखते हैं, तब तक दोनों चले गये! दो-चार दिन बाद मन में आया कि 'वे कहते थे कि कोई कामना करूँगा तो पूरी हो जायेगी, तो मुझे क्या कामना करनी है! लेकिन भगवान् की इच्छा अवश्य थी कि मन्दिर में प्रतिष्ठित हों। इसलिये यह फूल राजा के काम का है।'

ढूँढते हुए राजा के पास पहुँचा। कहा 'राजन्! यह राज्य फिर से जीतना है।' राजा हँस पड़ा, क्योंकि उसने सुना था कि पुरोहित का दिमाग फिर गया है, घर के सब मर गये हैं। कहने लगा 'राज्य जाने से मेरे को भी बड़ा दुःख हुआ, आपके घर वाले भी सब ख़त्म हो गये। अब तो वे सब गये, कुछ नहीं होगा।' पुरोहित ने कहा 'ऐसा नहीं राजन्! यह फूल मिला है, इसके रहते जो इच्छा करोगे, सब पूरी होगी।' राजा ने कहा 'फूल से क्या होना है! मुझे पता है कि आपका दिमाग खराब हो गया है।' कहा 'ऐसी बात नहीं है।' रात में वहीं रहे। प्रातःकाल उस राजा के २०-२५ सैनिक और सेनापति वहाँ आये और कहने लगे 'आपको ही ढूँढ रहे थे। अब समय बदल गया है, इसलिये फिर कुछ तैयारी करें।' राजा का माथा ठनका कि अब तैयारी कैसे होगी? तैयारी के लिये सेना चाहिये और सेना तभी इकट्ठी होगी जब धन होगा। रात भर विचार करते रहे। प्रातः काल उठकर राजा देखता है कि जहाँ वह शौचादि करने जाता था, उस वृक्ष के नीचे जड़ उखड़ी हुई है और उसके नीचे हीरे के दो मटके गड़े हैं। आश्चर्य हुआ कि यहाँ किसने गाड़ दिये होंगे। फिर ख़्याल आया कि पुरोहित ने ठीक कहा था। जैसे ही वहाँ से वे कलसे निकालने लगा तो देखा कि वहाँ एक भयंकर सर्प बैठा है। पुरोहित को बुलाया। उसने कहा कि 'इस धन में राजा और हम कोई भी एक फुलका खाने वाले नहीं हैं। यह पुनः इस राज्य और मन्दिर की स्थापना में लगायेंगे।' यह सुनकर सर्प वहाँ से चला गया। धीरे-धीरे सेना इकट्ठी हुई। अलाउद्दीन दिल्ली वापिस आ चुका था। तैयारी पूरी हो गई तो राजा ने युद्ध किया और अलाउद्दीन की सेना को वहाँ से हटाकर पुनः राज्य जीता। मन्दिर की पूरी तरह शुद्धि करके शिवलिंग को स्थापित करने का समय आया तो जनार्दन पण्डित ने सिर से उसे खोलकर वहाँ स्थापित किया और स्थापित करने के साथ ही वह मूर्च्छित होकर गिर गया। अकस्मात् उसे शरीर का कोई होश नहीं रहा। जब चेतन अवस्था में अपने को पाया तो देखता है कि भगवान् शंकर-पार्वती सामने बैठे हैं और वह कैलाश में दिव्य शरीर से उपस्थित है। उसने भगवान् शंकर की स्तुति की। भगवान् शंकर ने कहा कि मेरे लिये तुम इतना छोड़ने के लिये तैयार हुए थे, इसलिये यह दिव्य दर्शन दिया। अब तुम वापिस जाकर राजपुरोहित का कार्य करो। उसने कहा 'अब आपका दर्शन करने के बाद वहाँ कौन जायेगा! अब मेरी कोई कामना नहीं हैं, 'नास्य

स्पृहास्ति सरसाय रसायनाय' (स्तु. कु. ९.६) मेरे मन में सरस पदार्थों के रसायन का भोग करने की कोई स्पृहा नहीं है। आपके दर्शन के बाद ये रस मेरे को क्या काम देंगे? इसलिये सरस से सरस रसायन की प्राप्ति की कोई इच्छा नहीं है।' परमात्मा की प्राप्ति होने के बाद फिर किसी दूसरे रस की कामना हो सकती है, यह कल्पना ही ग़लत है, ऐसा कभी नहीं हो सकता। न किसी भी प्रकार की किसी अन्य पुरुष की ही कामना है। दो कामनायें होती हैं १ जड पदार्थों को भोगने की और २ चेतन पदार्थों के भोग की। 'चेतन पदार्थों के भोग की भी कोई कामना नहीं है, वे भी सारी निवृत्त हैं। अब तो केवल आपके चरण कमलों में ही यह हृदय बिलकुल बँध गया है, कभी वहाँ से हटने वाला नहीं है, न जड पदार्थों के लिये और न चेतन पदार्थों के लिये। हे अंधकरिपु! अंधकासुर को मारने वाले; अर्थात् अज्ञानांधकार को नष्ट करने वाले! अब मेरे सारे बन्धन छूट गये हैं। अब तो मेरा मन केवल आपके ही अंदर लिपटा रहेगा।' यह सुनकर भगवान् शंकर हँस पड़े, कहा 'ठीक है।' इधर राजा ने देखा कि पुरोहित मूर्च्छित थे और अब श्वास-प्रश्वास की गति भी बन्द हो गई है। राजा को बड़ा दुःख हुआ। जीवन का लक्ष्य पूरा हो गया था, जीवित रहकर अब क्या करते ।

यह केवल जनार्दन पण्डित की कथा ही नहीं है, विचार दृष्टि से साधक की यही स्थिति है जिसे यहाँ 'मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिंतामणिगृहे' से कह रहे हैं। जो अशोक वृक्ष की वाटिका में रहने वाला है, वह साधक ऐसा ही होता है। वह राजपुरोहित होता है, अर्थात् राजराजेश्वर भगवान् शंकर का पुरोहित होता है। जैसे पुरोहित यज्ञ इत्यादि सब कुछ यजमान के लिये करता है इसी प्रकार जिसके अंतःकरण में शोक-रहित एकता की प्राप्ति हो गई है वह सब काम राजराजेश्वर देवाधिदेव महादेव के लिये करता है, उसके सिवाय उसकी क्रिया और किसी के लिये नहीं है, वही उसका यजमान है। प्रारब्ध रूपी यवन म्लेच्छ अलाउद्दीन कभी-कभी आक्रमण करता है, उसके फलस्वरूप जिसे संसार के लोग अत्यंत इष्ट पदार्थ मानते हैं, वे भी नष्ट हो जाते हैं। लेकिन वह पुरोहित कहता है कि 'चाहे मेरे प्राण भी चले जायें लेकिन मैं उस महादेव को छोड़ने वाला नहीं हूँ।' जब तक दारा, आगार, पुत्र इत्यादि है, तब तक ईश्वर को घर में रखता है। जब वे सब भी साथ नहीं देते तब स्वयं अपने शरीर पर ही धारण कर लेता है। अंत में पुनः जब भगवान् शंकर को उसी स्थान पर स्थापित कर दिया, तभी चैन लिया। अपने प्राणों पर आपत्ति आने पर भी नहीं टला। इस प्रकार के साधक को इन सबके मरने पर भी कोई शोक नहीं है। यह शोकरहित अवस्था है। एकता जानने वाले को शोक की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि पता है कि भगवान् शंकर की प्रतिज्ञा है कि जो इन सबको छोड़कर हमारी शरण में आ गया उसे हम किसी भी काल में छोड़ने वाले नहीं हैं।

इस अशोक-वाटिका (बगीचे) में जो जनार्दन की तरह रहता है, उसी को भगवान् चन्द्रमौलीश्वर और भगवती चंद्रमौलीश्वरी की प्राप्ति होती है जिसे यहाँ चिदानंद लहरी कहा है।

# प्रवचन-१४

०२-४-७२

परब्रह्ममहिषी संवित्-स्वरूपिणी भगवती का स्थल निर्देश करते हुए आचार्य भगवत्पाद ने पहली बात बताई है कि उसके मिलने का स्थल कहीं दूर देश में नहीं है। अंतःकरण में है लेकिन शुद्धान्तःकरण में है। शुद्धान्तःकरण में भी पंचकोषों की डालियों के द्वारा फैले हुए रूप के बीच में है। पंचकोषों के द्वारा हमारा अंतःकरण चारों तरफ से घिरा हुआ है। इसलिये दूसरी चीज़ बताई कि उन पंचकोषों में से आत्मा को जब हम ग्रहण करते हैं तब मिलती है। 'सुरविटपिवाटीपरिवृते।' आत्मज्ञान का वह द्वीप है जिसके अंदर उसकी उपलब्धि होती है 'मणिद्वीपे'। 'नीपोपवनवति चिंतामणिगृहे' शोकरहित अवस्था ही उसका उपवन बना हुआ है। शोकरहित होने के साथ-साथ जब तक उसको स्वच्छ और सुन्दर नहीं बनाया जायेगा, तब तक वहाँ संवित् भगवती कैसे बैठेंगी! राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री को अपने घर बुलाना चाहो तो पहले उनके मिलिटरी अटैची और दूसरे-दूसरे अफसर घर देखने के लिये आते हैं कि आपकी जगह उनके आने लायक है या नहीं। ठीक इसी प्रकार से जब उस संवित् भगवती को बुलाना चाहोगे तो वह स्थल देखेगी। पहले दो के द्वारा शुद्धि बताई और अब वहाँ की सुन्दरता बताते हैं। पहली सुन्दरता बताई कि वहाँ अशोक वृक्ष है। लोक में भी अशोक वृक्ष सुन्दर माना जाता है। जिस अंतःकरण (मन) में शोक बैठा हुआ है, उस अंतःकरण के अन्दर कोई भी व्यक्ति आकर शोकग्रस्त ही तो होगा। इसीलिये यदि किसी के घर विवाह हो रहा हो और किसी के घर मृत्यु हुई है तो विवाह समाप्ति तक उसके घर शोक मनाने नहीं जाते। इसका क्या कारण है? शोक मनाने जाने से अंतःकरण की वृत्ति शोक वाली हो जायेगी तो फिर विवाह में जो उत्साह और उल्लास चाहिये वह नहीं रहेगा। वृत्ति के उल्लास पर कुण्ठितपना आ जायेगा, उसके अन्दर तेज़ी नहीं रहेगी। अविचारशील लोग क्या करते हैं? एक स्त्री कहीं किसी के घर गई और कहा 'बहन! मैं इधर से आ रही थी तो सोचा कि तेरा लड़का मर गया है उसका शोक भी मना आऊँ और तेरी लड़की की सगाई हुई है, उसकी बधाई भी दे जाऊँ, इकट्ठे ही दोनों काम करने आ गई ।' यह एक विचित्र परिस्थिति है। वह बेचारी मरे हुए को रोये या बधाई लेकर खुश हो? इसका मतलब है कि न उसको अफसोस है और न खुशी है, जैसे ईंट पत्थर को न अफसोस होता है और न खुशी होती है। शोकग्रस्त के अन्दर यदि तुम आनंद की लहरी को बैठाना चाहोगे तो कैसे बैठेगा? जिसके अंतःकरण में शोक की सम्भावना है वहाँ आनंद की लहरी आकर कैसे बैठे, क्योंकि दोनों विरुद्ध हैं।

हम लोग क्या करते हैं? जब जीवन में विपत्ति या कठिनाई आती है उस समय सोचते हैं कि अब परमात्मा का स्मरण करो। याद रखना कि विपत्ति में कभी परमात्मा का स्मरण नहीं हो

सकता। विपत्ति में देवता का स्मरण होगा, क्योंकि विपत्ति में तुम चाहते हो कि तुम्हारी विपत्ति दूर हो। विपत्ति दूर करना देवता का काम है, चिदानंदलहरी का नहीं। ऐसा क्यों? क्योंकि विपत्ति तुम्हारी दृष्टि में है, उसकी दृष्टि में नहीं है। उसकी दृष्टि है कि साधारण आदमी पदार्थों के आने-जाने को सम्पत्ति और विपत्ति समझता है। इसीलिये किसी ने कहा है 'विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः। स्वस्वरूपं भवेत् सम्पद् तदन्यत् सुधियां विपत्।' संसार के लोग जिसको विपत्ति कहते हैं जैसे पुत्र का चला जाना, धन सम्पत्ति का चला जाना, इसे बुद्धिमान् लोग विपत्ति नहीं कहते। क्यों? सीधी-सी बात है कि यहाँ जितनी चीज़ें हैं, वे सारी आई हैं, जो आया है वह जायेगा। मेरी जेब में अगर धन आया है तो तेरी जेब में से निकलकर आया है। एक जेब को छोड़कर दूसरी जेब में जाना   यह धन का स्वभाव हुआ। मेरे पास आकर उसका स्वभाव बदल थोड़े ही जायेगा! तुम्हारे घर पुत्र आया है तो कहीं से, किसी को छोड़कर आया है, इसलिये उसका स्वभाव है जाना, तुम्हारे घर आकर उसका स्वभाव क्या बदल जायेगा? मकान तुम्हारे पास आया है तो किसी के पास से आया है। उसका स्वभाव है जाने का, तुम्हारे पास आकर उसका स्वभाव नहीं बदल जायेगा। जिस चीज़ का जाने का स्वभाव है, उस चीज़ के विषय में 'न जाने' का विचार ही ग़लत है। इसलिये जैसे पदार्थों का जाना विपत्ति नहीं, वैसे ही पदार्थों का आना सम्पत्ति नहीं। उसमें भी यही कारण है कि वह आया है और तुम उसको सम्पत्ति मान लोगे तो जब चला जायेगा फिर अटक जाओगे। तब विपत्ति और सम्पत्ति किसको कहते हैं? सम्पत्ति वह है जो हमारा अपना स्वरूप है, क्योंकि वह कभी हमको छोड़कर नहीं जायेगा। अपना स्वरूप कभी छोड़ने वाला नहीं है, इसलिये वही सम्पत्ति है। अभी भी छोड़कर गया हुआ नहीं है। वेद का उद्घोष है कि 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ब्रह्म रहते हुए ही ब्रह्म को प्राप्त होता है। चूंकि वह तुम्हारा स्वरूप है इसलिये इस क्षण भी तुम्हारी सम्पत्ति तुम्हारे पास ही है।

एक सज्जन यहाँ से विदेश को गये तो उनके लड़के ने उनको कहा  'आपके सूटकेस में मैंने दस हज़ार डालर रख दिये हैं। वहाँ जाकर भुनाकर खर्च कर लेना।' बेचारे कम पढ़े-लिखे थे और लड़का ज़्यादा पढ़ा-लिखा था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने सारे सूटकेस को ऊपर-नीचे कर लिया लेकिन उसमें से एक भी डालर नहीं निकला! वाशिंगटन के पास सियाटल में उतर गये, अब क्या खायेंगे, कहाँ रहेंगे? होटल में पहले से आरक्षण था, वहाँ पहुँच गये। होटल में मैनेजर से कहा कि 'मुझे दूरभाष से वार्ता करनी है।' लेकिन वह तो अमरीका था, मैनेजर ने कहा 'आपके कमरे में ही टेलीफोन लगा हुआ है, कर लो।' उन्होंने कहा 'उसका पैसा जमा कराना होगा?' मैनेजर ने कहा   'नहीं, जब आपका बिल आयेगा, जब आप यहाँ से जायेंगे, तभी हिसाब हो जायेगा।' मन में शान्ति आई। फोन पर लड़के से बात-चीत की, उससे पूछा, 'रुपये कहाँ हैं?' उसने बताया कि पेटी के अन्दर रख दिये थे। इन्होंने कहा   'नहीं मिले।' तब उसने कहा कि उसपर लिखा था 'अमेरिकन एक्सप्रैस इण्टरनेशनल।' उन्होंने कहा 'वह तो मैंने लिखा

देखा है लेकिन डालर नहीं है?' उसने कहा 'वही यात्री हुण्डी है जिसे यात्रा में पास में रख लो और जहाँ चाहो रुपया निकाल लो। बिना बैंक खाता खोले ही जहाँ रुपये की ज़रूरत हो, उस पर दस्तखत कर देना, रुपया मिल जायेगा।' टेलीफोन बन्द हुआ। सबसे पहले आकर दस्तखत मारे और होटल वाले के पास पहुँचा, रुपया मिल गया। तब चित्त में धैर्य आया। जैसे यात्री हुण्डी सामने पड़ी थी, उस हुण्डी को देख रहे थे, हुण्डी का भुगतान होता है यह भी मानते थे, केवल यह नहीं पता था कि बिना किसी कोठी में हिसाब रखे हुए भी हुण्डी भुन जाती है। हुण्डी थी तो उनके पास में ही, अपनी ही थी, जब चाहें तब भुना भी सकते थे। लेकिन इस बात का पता नहीं होने से वह हुण्डी उनके लिये कारगर नहीं थी। इसी प्रकार से हमारे अंतःकरण के अन्दर अभी जो अपना आत्मस्वरूप (चेतनस्वरूप) है, वह बन्द किये हुए हैं। हमको दीखता भी है जब हम कहते हैं कि 'मैं चेतन हूँ।' अपना चेतन-भाव अनुभव में भी आ रहा है लेकिन यह पता नहीं है कि जिसको मैं चेतन कहता हूँ, यह हुण्डी ऐसी है कि इसकी तरफ नज़र करते ही आनंद रूपी डालर झट मिल जायेगा। इसलिये माने बैठा है कि 'मैं आनंद को ढूँढ रहा हूँ।' चेतन को तो जानता है, क्योंकि चेतन अंतःकरण में बन्द है, मुझे पता है कि चेतन हूँ लेकिन समझता है कि किसी विषयरूपी कोठी में जायेगा तभी चेतन का भुगतान होगा, लम्बे समय तक इस चेतन का ध्यान करोगे, योगाभ्यास करोगे तब यह आनंदरूपी डालर में बद लेगा।

वेदान्त कहता है, ऐसा नहीं। यह तो यात्री हुण्डी है इसलिये जहाँ जाओ वहीं यह आनंदरूप है। 'जन्यादयो विकारा ये सम्बन्धाश्चापि ये मताः। अविद्योपप्लुतस्यैव ते सर्वे स्युर्न तु स्वतः।' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि अविद्यावान् के ही जन्मादि हैं और वही सबसे सम्बद्ध होता है। अतः अविद्या मिटते ही ये सब हाथ से निकल जाते हैं। जो हमारा अपना स्वरूप है वही सम्पत्ति है, क्योंकि वह हमारे हाथ से नहीं जायेगी और हमेशा हमारे पास रहेगी। 'तदन्यत्', अपने स्वरूप से भिन्न जो कुछ भी है, वह सब बुद्धिमान् लोगों को विपत्ति लगती है। इसलिये उत्पन्न होना आदि छह भाव विकार हैं। कोई चीज़ पैदा होती है, फिर उसकी सत्ता होती है, फिर वह बढ़ती है, उसमें परिणाम आता है, फिर वह कम (कमज़ोर) होती जाती है और अंत में मर जाती है। शरीर में देख लोः पहले शरीर शुक्र-शोणितसंयोग से उत्पन्न हुआ, गर्भ में स्थिति हुई, नौ महीने तक बढ़ता रहा, पैदा होकर परिणत हो गया और जवानी में आकर फिर अपक्षीण (कमज़ोर) होने लगा और अंत में एक दिन मर गया। इसी प्रकार सारे पदार्थ हैं। तंतु-संयोग से पट उत्पन्न हुआ, दुकान में रहा, पुराना हुआ, रंग इत्यादि चढ़ा (परिणाम) या कोट पैण्ट काटकर बनाया गया (परिणाम हुआ); धीरे-धीरे घिसने लगा और एक दिन जैसे ही बैठने गये वैसे ही चर्र करके हरिःओऽम् तत्सत् (नष्ट हो गया)। ये सारे भाव-विकार हैं। इन भाव पदार्थों के साथ जितने भी सम्बन्ध हैं, ये सब अविद्या (अज्ञान) के अन्दर डुबकी मारे हुये (उपप्लुतों) के लिये हैं। लेकिन अपना जो स्वरूप है, जो अपनी सम्पत्ति है, उससे कभी भी इन विकारों का सम्बन्ध नहीं

है। यह जो अपना स्वरूप है, वह इसीलिये सम्पत्ति है कि यह कभी हाथ छोड़ती नहीं है और यह कभी दुःखरूप नहीं होती है।

दुःख का लक्षण क्या है? जिससे हटना चाहो वह दुःख है। शास्त्रीय भाषा में सुनना चाहो तो अशोभनाध्यास का विषय दुःख है। 'यह ठीक नहीं' इस प्रकार के अध्यास का जो विषय है, वह दुःख है। मोटी भाषा में, जिससे छूटना चाहो, वह दुःख और जिसे पाना चाहो वह सुख है। क्या कभी अपने आपसे हटना चाहते हो? शरीर में भीषण रोग हो जाता है तो शरीर से भी हटना चाहते हो, कहते हो 'अब भगवान् मुझे मृत्यु दे दे।' मृत्यु मायने शरीर से हट जाऊँ। मन से हटना चाहते हो। कहते हो 'क्या बताऊँ, ऐसी चिन्ता में पड़ा रहता हूँ, कुछ नशे या नींद की दवाई दे दो तो चिंता भूलकर सो जाऊँ।' यहाँ मन से दूर हटना चाह रहे हो। शरीर और मन दुःख का कारण है, बुद्धि भी दुःख का कारण होती है। जब मुनष्य में अत्यधिक शुद्धि का विकास होता है तो जीवन का रस कुछ सूखने लगता है। हर बात का अधिक विश्लेषण करने से जीवन के अन्दर रस का प्रवाह रुक जाता है। आधुनिक विज्ञान ने जीवन में जो सबसे बड़ी कठिनाई उत्पन्न की है, वह यही है। यों कई कठिनाईयाँ उत्पन्न की हैं लेकिन विचित्र परिस्थिति यह है कि हम हर चीज़ का विश्लेषण करते चले जाते हैं। रस संश्लेषण में है, विश्लेषण में नहीं है। विचार करो, सामने बढ़िया सुन्दर चित्र देख रहे हैं। यदि तुमने विश्लेषण किया कि यह कागज़ और यह रंग है, रंग कितने पैसे का है; तो उसमें कुछ सुख नहीं रहा। सुन्दर व्यक्ति सामने खड़ा है, तुमने विश्लेषण करना शुरू किया कि उसके अन्दर कितना फैट है जिससे कितनी साबुन की बट्टी बन सकेगी; इसके शरीर को चीरने से कितना लोहा और नमक निकलेगा; तो उसके मुखड़े को देखकर सुख नहीं मिलेगा। विश्लेषण ज़रूरी है लेकिन अत्यधिक विश्लेषण करने पर जीवन में रस सूख जाता है। उस समय मनुष्य चाहता है कि मेरी बुद्धि इस विश्लेषण से कब हटे, क्योंकि वह महान् दुःख देती है।

सब चीज़ों से हटना चाहते हो लेकिन अपने आपसे थोड़े ही हटना चाहते हो। 'अहमस्मि सदा भामि नाहमस्मि कदाऽप्रियः। ब्रह्मैवाहमतः सिद्धं' आचार्य कहते हैं कि कोई काल ऐसा नहीं होता है जब मैं अपने आपको प्रिय न लगूँ। बाकी सब चीज़ों से छूटना चाहते हैं, अपने आपसे नहीं छूटना चाहते। यह असंभव है, क्योंकि जो छूटना चाहता है वह तुम हो, जिससे तुम छूटना चाहते हो वह तुम नहीं। इसलिये जो छूटना चाहता है वह 'जिससे' कैसे बनेगा? यह असंभव है। क्योंकि उससे छूटना नहीं चाहते इसलिये वह सब समय सुखरूप है, क्योंकि यही सुख का कारण है। दुःख का लक्षण यह है कि जिससे छूटना चाहो। चूंकि आत्मा से कोई छूटना नहीं चाहता, इसलिये वह आनंदस्वरूप है। इसीलिये विपत्ति और सम्पत्ति का यही स्वरूप बताया। आगे भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'यत एवमतो नैष भूयान् स्यात् साधु-कर्मणा' सब चीज़ों का आश्रयरूपी आनंद मैं हुआ, इसलिये शुभ कर्मों से मेरी कभी भी वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि

पुण्य का फल सुख देना है और सुख मैं ही हूँ। इसलिये जितने पुण्य कर्म हैं वे सब मुझे आत्मा के सामने लाने में गतार्थ हैं। सब पुण्य कर्मों का फल आत्मज्ञान है। इसीलिये महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' वेद का अध्ययन, यज्ञ, दान, तप इन चीज़ों का अंतिम नतीजा आत्मा की तरफ प्रवृत्ति का हो जाना है। इसलिये साधु कर्मों के द्वारा उसमें कोई विशेषता नहीं है। 'कनीयान्नापि पापेन तदकर्तृत्वहेतुतः।' जैसे शुद्ध कर्मों से मेरे अन्दर कभी वृद्धि नहीं, वैसे ही अशुभ कर्म से मेरी कोई हानि नहीं है। पाप हमारे सुख को दूर करता है। किंतु जब हम खुद ही सुख और आनंदरूप हैं तो पाप हमको अपने आप से कैसे दूर करेगा? यदि हम आनंद को प्राप्त करते तो शायद पाप उसको दूर भी कर देता। जैसे पुण्य हमको आत्मा की तरफ करता है, वैसे ही पाप हमारी पीठ आत्मा की तरफ करता है, और कुछ नहीं करता। हम तो वैसे के वैसे आनंदरूप बने रहते हैं। जैसे सूर्य की तरफ मुख करो तो प्रकाश दीखता है और सूर्य की तरफ पीठ करो तो छाया दीखती है लेकिन ये दोनों कहाँ है? तुम हो तो सूर्य में ही। पीठ करने पर क्या तुम्हारी पीठ पर सूर्य की रोशनी कम हो जाती है? उतनी ही रहती है। फ़र्क केवल यह है कि पहले सूर्य की रोशनी सिर, नाक और छाती के आग्रभाग में पड़ रही थी और अब सूर्य की रोशनी सिर के पीछे, गर्दन, कमर और पीछे से नितम्ब भाग के ऊपर पड़ रही है। जब मुँह पर है तब पीठ पर नहीं और पीठ पर है तो मुँह पर नहीं है। इसी प्रकार पाप कर्म का उदय होने पर उस आनंद की तरफ हमारी पीठ हो गई, आनंद तो उतना का उतना ही है। पुण्य कर्म के उदय होने पर उस आनंद की तरफ मुख हो गया, लेकिन कुछ बढ़ा नहीं। वह तो मेरा स्वरूप वैसा-का-वैसा है। यह जो स्थिति है, इसी को चिंतामणि कहते हैं।

चिंतामणि एक मंत्र है। भगवान् शंकर भगवत्पादाचार्य ने चिंतामणि मंत्र बताया है 'माया श्री विलसत् चिदम्बरपुरं', मायाबीज ह्रीं श्रीं, और 'नमः शिवाय' चिदम्बरमंत्र है। 'ह्रीं श्रीं नमः शिवाय' चिंतामणि मंत्र है। यह मंत्र मनुष्य की सारी कामनाओं को पूर्ण करता है। यह इस मंत्र की विशेषता है कि जो भी चिंतन करो, वह पूर्ण हो जाता है। मणि का अर्थ शब्द समझना। 'मणि शब्दे' एक धातु है। भणि और मणि दोनों का अर्थ शब्द होता है। इसलिये अभिप्राय है कि जो भी चिंता आई, उसे शब्दरूप में प्रकट किया और झट पूरी हो गई। यह इस मंत्र की विशेषता है। जो भी विचार करोगे उसमें ह्रीं और श्रीं दो ही हैं। अभी बताया था कि सूर्य की तरफ मुख या सूर्य की तरफ पीठ होगी लेकिन सूर्य की रोशनी में कोई फ़र्क नहीं है। 'नमः शिवाय' मंत्र चिदम्बर है। अम्बर नाम आकाश का है। आकाश तीन प्रकार के हैं, १ भूताकाश २ चित्ताकाश और ३ चिदाकाश। भूताकाश जिसमें महाभूत घूमते हैं, चित्ताकाश में चित्त घूमते हैं। स्वप्न देखते हो, खाली लेटकर ही नहीं, बैठे-बैठे भी स्वप्न देखते रहते हैं। एक सज्जन बड़े दुःखी बैठे हुए थे। पूछा क्या बात है? कहा 'इस साल पाँच लाख का नुक्सान हो गया।' सोचा

काम-काज में कुछ गड़बड़ी से नुक्सान हो गया होगा। फिर ज्यादा खोला तो पता लगा कि यदि वे अपना माल एक महीना पहले बेच दिये होते तो पाँच लाख का फ़ायदा *ज़्यादा* हो गया होता, अब केवल डेढ़ लाख का ही फ़ायदा हुआ! उतना लाभ न होने को ही वे हानि समझ रहे थे। यह सब चित्ताकाश है, भूताकाश नहीं। चिदाकाश चिदम्बरयुक्त चित् के आकाश में पहुँचते हैं तो यह विलास ह्री-श्री को प्राप्त कर जाता है। अभी तक मनुष्य माया और श्री दोनों के बन्धन में अपने को समझता है। इसलिये इस मंत्र से सब इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं।

वेदांत के बड़े प्रकाण्ड विद्वान् श्रीहर्ष (खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ के लेखक) जैसी तीक्ष्ण तर्कशास्त्र की रचना वेदांत में करते हैं, उतना ही सुन्दर श्रृंगार भी लिखते हैं। बड़े अच्छे विद्वान् थे, उनकी बचपन की कथा है। उनके पिता भी वेदांत के बड़े प्रकाण्ड विद्वान् थे और कन्नौज राज्य के मुख्य पण्डित थे। उस काल में उदयनाचार्य न्याय के एक प्रकाण्ड पण्डित हुए। उदयनाचार्य ने श्रीहर्ष के पिता से कहा कि 'हम तुमसे शास्त्रार्थ करेंगे।' उदयनाचार्य बड़े विद्वान् भी थे और बड़े भक्त भी थे लेकिन नैयायिक होने के कारण कट्टर द्वैतवादी थे। बड़े अच्छे भक्त थे लेकिन द्वैतवादी थे। सभा बैठी हुई थी, शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में श्रीहर्ष के पिता यद्यपि वेदांत पक्ष को लिये हुए थे लेकिन उदयनाचार्य से हार गये, क्योंकि शास्त्रार्थ बुद्धि का खेल है और विद्वान् उदयनाचार्य प्रकाण्ड थे। उस काल में राजा ही धर्म का निर्णायक होता था। आजकल की तरह नहीं कि जो जहाँ जाये, जो मर्ज़ी कह दे। आगे प्रमाण पूछो, विचार पूछो, तो कहते हैं कि यह तो अपनी-अपनी श्रद्धा है। आजकल यह भी एक रोग चला है। बाकी सब चीज़ों में मनुष्य जितना अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है, धर्म के विषय में उतनी ही ज़्यादा उसके अन्दर अंधता अधिक होती है। अंग्रेजी में एक शब्द है, लॉ ऑफ कम्पेन्सेशन, अर्थात् एक जगह बुद्धि का प्रयोग करते हैं तो दूसरी जगह बुद्धि में सूखापना रहता है। सब जगह बुद्धि का प्रयोग करते हैं लेकिन धर्म के विषय में कहते हैं कि यहाँ बुद्धि का बिलकुल प्रयोग मत करो। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, यूनान, रोम, मिश्र के पुराने इतिहासों को देखते हैं तो पता लगता है कि जब-जब वहाँ पर सभ्यता, विज्ञान इत्यादि शास्त्रों का विकास हुआ, उसके साथ-ही-साथ धर्म के विषय में अविश्वास बढ़ता चला गया। रोम के इतिहास में जब अत्यधिक विकास हो रहा था तभी सड़क-सड़क पर कहीं ज्योतिषी तो कहीं कोई चिड़िया लेकर बैठा हुआ था और लोग उनसे अपना भाग्य पूछते थे। कहीं भूत उतारे जाते थे। इसीलिये वहाँ ईसाइयत की विजय हो गई। यह नियम हुआ करता है कि एक तरफ मनुष्य बुद्धि का विकास करता है तो दूसरी तरफ मनुष्य निर्बुद्धि हो जाता है। कई बार लोग कहते हैं कि इतने पढ़े-लिखे लोग भी अंधविश्वास कैसे कर लेते हैं? हम जवाब देते हैं कि उनका वह बहुत पढ़ना-लिखना ही उनकी आध्यात्मिक प्रगति में रुकावट बना हुआ है! बाकी जगह प्रयोग करेंगे और यहाँ आकर अंधविश्वास करेंगे, विचार नहीं करेंगे। श्रद्धा और अंधविश्वास अलग-अलग चीज़ें हैं, 'श्रदि या

धार्यते श्रद्धा' जो हृदय का स्पर्श करती है अथवा हृदय में जो धारण होता है वह श्रद्धा है। श्रद्धा वह चट्टान है जिसपर सारे संसार की लहरों के थपेड़े आ जायें, वह कभी नहीं हिलेगी और अंधविश्वास आज क में, कल ख में, परसों ग में है, अर्थात् कभी स्थिर नहीं होता है। यही दोनों का खास फ़र्क है।

श्रीहर्ष के पिता जी बड़े दुःखी होकर घर आये। उस समय कान्यकुब्ज बहुत बड़ा राज्य था। भारत में उसका स्थान प्रायः सम्राट् जैसा था। उनके मन में बड़ा दुःख हुआ कि 'मैं ऐसा नालायक निकला कि मैंने वेदांत पक्ष को हारने दिया। अब राजा सर्वत्र द्वैतवाद का प्रचार करेगा।' नियम था कि शास्त्रार्थ में जो विजयी हो जाये, चूँकि विचार के द्वारा निर्णय होता था, इसलिये वही ठीक है ऐसा निश्चय किया जाता था। जैसे कोई बहुत बड़ा सेनाध्यक्ष हो और उसकी किसी सैन्य व्यूहरचना में कोई खराबी आ जाने से वह बड़ा भारी युद्ध हार जाये तो उसके हृदय में बड़ी चोट लगती है कि 'मैंने अपने देश को अपनी ग़लती से खराब कर दिया', इसी प्रकार धर्म के आचार्य का शास्त्र और बुद्धि ही सैन्यव्यूह है, उसमें कोई विरोधी जीत जाये तो उसके मन में होता है कि 'मैंने अपने धर्म को अपनी बेवकूफी से नष्ट कर दिया है।' उसे हृदय में कसक होती है। लेकिन जिसके हृदय में यह कसक नहीं होती, देश-प्रेम नहीं होता है, वह व्याख्या दिया करता है कि मैं अमुक- अमुक कारणों से हार गया। इसी प्रकार जहाँ धर्म के प्रति कसक नहीं होती, वह बैठकर बातें करता है कि हिन्दुस्तान के हिन्दू धर्म के पतन का क्या कारण है। कोई कहेगा छुआछूत कारण है, कोई कहेगा कि गरीबों की मदद नहीं करते यह कारण है। ये सब बातें तो करेंगे लेकिन स्वयं कोई कदम नहीं उठायेंगे। यदि मानते हो कि छुआछूत कारण है तो तुमने उसे हटाने के लिये क्या किया है? यदि तुम मानते हो कि गरीबों के प्रति हमारी दृष्टि नहीं थी तो उनके लिये क्या तुमने अपनी आमदनी का आधा रुपया निकालकर मदद करने के लिये दे दिया? जैसे देशद्रोही सेनाध्यक्ष ऐसे ही धर्म-द्रोही विद्वान् भी हुआ करते हैं। लेकिन श्रीहर्ष के पिता ऐसे नहीं थे। उन्हें इस बात का बड़ा दुख हुआ कि वेदांत धर्म, अद्वैतवाद की जगह अब द्वैती जीतेंगे। उदयनाचार्य वहाँ सभापण्डित बन गया। घर वापिस आकर श्रीहर्ष के पिता के मन में इतना दुःख हुआ कि हफ्ते भर में उनका शरीर छूट गया। उनका दो साल का पुत्र था। मरने से पहले अपनी पत्नी से कहा कि 'मैं तो वह दिन नहीं देखूँगा, क्योंकि मेरे से अब सहन नहीं होगा, लेकिन मेरे पुत्र को तुम अच्छी तरह तैयार करना। मैं तेरे को वह मंत्र बता जाता हूँ, पाँच वर्ष की उम्र में इसका उपनयन करा देना और उसी दिन इस मंत्र को इसे देकर इसे किसी शव पर बैठाना। शव पर बैठकर रात भर यह इस मंत्र का जप करता रहे तो इसे वाक्सिद्धि हो जायेगी और यह फिर से वेदांत-ध्वज को ऊँचा करेगा।' वे तो उसी दिन मर गये।

तीन साल बाद श्रीहर्ष पाँच साल का हो गया। माँ सोचने लगी कि 'मैं इसे शव पर कैसे बैठाऊँ? यदि बैठा भी दिया तो इसे डर लगेगा।' लेकिन पति की आज्ञा थी कि जिस दिन

उपनयन हो, उसी दिन यह भी कार्य करना। वह भी धर्मनिष्ठा वाली थी क्योंकि ऐसे पति की पत्नी थी। उसने जहर खा लिया और श्रीहर्ष को अपनी छाती पर बैठाकर कहा कि 'रात भर इस मंत्र का जप करते रहना।' बेटे को इस बात का क्या पता था, वह तो माँ की छाती पर बैठा था, थोड़ी देर में वह मर गई और वह रात्रि भर जप करता रहा। प्रातःकाल चार बजे भगवती वाणी ने दर्शन दिया और बड़े प्रेम से स्पर्श करके कहा 'बेटा क्या चाहिये?' श्रीहर्ष ने कहा 'मुझे पता नहीं माँ से पूछो।' भगवती की आँख से पानी आ गया, कहा 'अब तेरी माँ नहीं रही। आज से श्रुति ही तेरी माता है। श्रुति का कोई मंत्र ऐसा नहीं होगा जो तुमको उपस्थित नहीं होगा।' भगवती ने यह वर दिया, कहा कि 'अब तुम सीधे कान्यकुब्जेश्वर के यहाँ जाकर उदयनाचार्य के साथ शास्त्रार्थ करना। मैं ही तेरी वाणी पर बैठकर शास्त्रार्थ करूँगी।' भगवती के स्पर्श से उसके हृदय में विद्या का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ से गया और जाकर राजा के द्वारपाल से कहा कि 'मैं सभापंडित उदयन से शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ, राजा को खबर कर दो।' द्वारपाल हँस पड़ा और बच्चे को प्यार करने लगा जैसे छोटे बच्चों को करते हैं। श्रीहर्ष ने कहा 'मैं ऐसे ही बात नहीं कर रहा हूँ।' उसे लेकर राजा के पास पहुँचे और राजा ने देखा कि सुन्दर लड़का है, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, भस्म लगा हुआ है। द्वारपाल ने राजा से कहा कि यह कहता है कि 'मैं सभापंडित से ...', श्रीहर्ष झट से बोला 'सभापंडित नहीं, उदयन से शास्त्रार्थ करूँगा! मैं उसे सभापंडित नहीं मानता। वह तो मैं उसे शास्त्रार्थ के बाद मानूँगा।' राजा ने कहा 'तेरे को किसने बताया है?' कहा 'इन सब बातों में कुछ नहीं रखा, राजन! इन्हें मेरे सामने बैठाओ, मैं शास्त्रार्थ करूँगा।' राजा ने कहा 'यह सभापंडित हैं, तुम चाहो तो मैं तुम्हें उनके पास पढ़ने को भेज दूँगा।' श्रीहर्ष ने संस्कृत में जवाब दिया तो उदयनाचार्य भी कुछ घबराये कि यह छोटा-सा बच्चा कैसे बोलता है! अगले दिन शास्त्रार्थ का समय तय हुआ। सब समझें कि यह कोई तमाशा होगा। लेकिन २८ दिनों तक शास्त्रार्थ हुआ। सब आश्चर्यचकित हो गये कि यह कैसा लड़का है! श्रीहर्ष ने उदयनाचार्य को शास्त्रार्थ में हरा दिया और वेदांत की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। तब उसने बताया 'मेरे पिता अमुक थे। तूने उनका अपमान किया, इसलिये मैंने यह किया। मुझे तुझसे कोई द्वेष नहीं है।' फिर उन्होंने वेदांत-ग्रंथों और अन्य ग्रन्थों की रचना की। साहित्य का ग्रंथ जब उन्होंने पहले-पहल लिखना शुरू किया तो अपने मामा, जो साहित्य के बड़े विद्वान् थे, उन्हें अपना ग्रंथ दिखाया। मामा जी ग्रंथ को देखकर पहले तो बड़े प्रसन्न हुए और फिर रोने लग गये! श्रीहर्ष ने पूछा तो कहा 'मेरे काल में मेरा भांजा इतनी तीक्ष्ण प्रतिभा वाला उत्पन्न हुआ इससे मेरे को बड़ी प्रसन्नता हुई और रोया मैं इसलिये कि तेरी किताब बाँचेगा कौन? मेरे जैसा साहित्य-मीमांसक एक-एक श्लोक को सात-आठ बार पढ़ता है तो समझ में आता है। बाकी कौन ऐसा है जो तेरी किताब बाँचेगा? इसलिये मुझे दुःख हुआ।' फिर उन्होंने उपाय बताया कि 'इस उपाय को कर तो तेरी बुद्धि मोटी हो जायेगी, तब लोगों की समझ में

तेरी बात आयेगी।' प्रसिद्धि यह है कि उन्होंने उसे भैंस का दूध और उड़द की दाल खिलाई, जिससे उसकी बुद्धि मोटी हो गई। तब मामा ने कहा कि 'अब तुम्हारा लिखा समझ आयेगा।' लेकिन आज भी वह बड़ा कठिन विषय है। उनके खण्डनखण्डखाद्य ग्रंथ को समझना महान् कठिन है। वे बाद में सभापंडित हुए।

चिन्तामणि मंत्र की यह विशेषता है। लेकिन उसकी प्राप्ति तब हो, जब शव के ऊपर बैठकर इसे जपा जाये। उन्होंने माता के शव पर बैठकर जप किया था। माता (प्रमाता) का अर्थ 'जानने वाला' होता है। जब तक प्रमाता के देह को (प्रमाता-भाव को) समाप्त नहीं करते हो, तब तक चिदंबर मंत्र की प्राप्ति नहीं होती है। 'अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः।' 'कृतं चिकीर्षितं सर्वं बुद्धं यच्च बुभुत्सितम्। सम्यक् ज्ञानोदयात् सर्वं वर्जितं यज्जिहासितम्।।' जब इस प्रमाता को ख़त्म कर देता है तब अन्वेषण करके पता लगता है कि यह प्रमाता नहीं है। तब न कुछ क्रिया रह जाती है और न कुछ जानने को रह जाता है। भगवान् वार्तिककार कहते हैं कि जो कुछ भी करने की इच्छा थी वह सब मैंने कर लिया। यह अनुभूति है। यह नहीं कि 'करके क्या होगा।' जिसे आजकल हम 'बीमारों का वेदांत कहते हैं,' जो कहते हैं 'अपने आप हो जायेगा'। उनसे कहो कि हलुआ बनाओ, तो कहते हैं 'क्या फ़ायदा, ऐसे ही घी खा लो।' और कोई हलुआ बनाकर ले आये तो तबियत प्रसन्न हो जाती है! लेकिन भगवान् वार्तिककार कहते हैं कि जो कुछ भी कभी भी करने की इच्छा थी वह सब मैंने कर लिया, जो कुछ भी मेरी जानने की इच्छा थी वह सब जान लिया। यह नहीं कि 'जानना तो चाहता हूँ, लेकिन क्या करूँ, अपने आप ही कोई बता दे तो ठीक है।' जब सम्यक् ज्ञान का उदय हो गया तो जो छोड़ने की चीज़ें थीं वे सब मैंने छोड़ दीं। यह नहीं कि 'चाहता तो हूँ कि प्रारब्ध ख़त्म हो जाये, लेकिन यह भी पकड़े हुए हैं, छूट नहीं रहा है।' भगवान् वार्तिककार कहते हैं ऐसा नहीं, सम्यक् ज्ञान का उदय होने से जो जिहासित था वह भी मैंने छोड़ दिया और जो भी इष्ट था, ईप्सित था, वह सब मैंने प्राप्त कर लिया। यह वेदांती की कृतकृत्यता है। कई बार लोग पूछते हैं कि कैसे पता लगे? चार लक्षणों से पता लगता है : हृदय में न किसी चीज़ को प्राप्त करने की और न छोड़ने की इच्छा आती है। छोड़ने की इच्छा हुई तो छूटा, पाने का इच्छा हुई तो पाया। जो कुछ भी मुझे करना है, उसकी इच्छा हुई तो किया और जानने की इच्छा हुई तो जाना। इच्छा के अन्दर और क्रिया में कोई भेद नहीं होता है। इसका नाम कृतकृत्यता है। यह जो चिंतामणि (चिदम्बर) है, इसकी विशिष्ट शक्ति है। जब इन दोनों की इस प्रकार प्राप्ति हो जाती है तब चिदम्बर में अवस्थान होकर चिदानंद लहरी की प्राप्ति होती है। इसीलिये उनका नाम हर्ष (प्रसन्न) हुआ। इस मंत्र से वे हर्ष हो गये, श्रीहर्ष हो गये। इसकी प्राप्ति करनी है। केवल सामान्य माता पर नहीं, प्रमाता के ऊपर इसका जप करना है। लेकिन यह तभी कर सकोगे जब इतनी दृढ भावना अपने सिद्धान्त के प्रति होगी। जब तक यह है कि 'ठीक है, चलने

दो जैसा चलता है', तब तक इसकी प्राप्ति नहीं। श्रीहर्ष की माता की निष्ठा थी। निष्ठा वाला व्यक्ति कभी भी चुप नहीं बैठ सकता, यह निष्ठा का लक्षण है। इसलिये और कुछ नहीं कर सकी तो माँ ने भी अपना प्राण दान ही दे दिया। तब माँ ने यह नहीं सोचा कि मर जाऊँगी, तो बेटे का क्या होगा? परमनिष्ठ धर्म को, सिद्धान्त को देखता है, बाकी सब चीज़ें उसके लिये गौण हैं। तभी मनुष्य प्रमाता-भाव का ध्वंस करके चिंतामणिगृह में प्रवेश करता है।

# प्रवचन-१५

३-४-७२

चिदानंदलहरी परब्रह्ममहिषी संवित् शक्ति की उपलब्धि का स्थल बताते हुए कहा कि उसकी उपलब्धि शुद्धान्तःकरण में सम्भव है। अंतःकरण की शुद्धि के साथ-साथ पंचकोशों से और पंचकोशों के विकारों से विवेक करके उसको अलग समझना ज़रूरी है। पंचकोशों और उसके विचारों का अंतर्हृदय के साथ सम्बन्ध नहीं है, इसी का नाम विवेक है। इस विवेक से ही आगे मणिद्वीप अर्थात् विद्या की प्राप्ति होती है। जब तक नित्य-अनित्य, शुचि-अशुचि, शुद्धि-अशुद्धि का विवेक नहीं होता है तब तक विद्या की प्राप्ति असम्भव है। संसार में सब कुछ एक-दूसरे से मिला हुआ होता है। विवेकी उसमें से अलग-अलग तत्त्वों को समझ लेता है। अविवेकी कभी भी समझता नहीं है। सारे-के-सारे रसायन शास्त्र की उन्नति तब सम्भव हुई जब तत्त्व (ऐलीमेण्ट) और मिश्रण (कम्पाउण्ड) दोनों को अलग-अलग विवेक के द्वारा करना प्रारंभ किया। तब तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति हुई और फिर उन तत्त्वों के आपस में मिलने से क्या होता है  इसका पता लगा। सारे शारीरिक विज्ञान की उन्नति का प्रारम्भ कब हुआ? यह नहीं समझ लेना कि औषधियाँ बहुत-सी नई बन गई। औषधियाँ तो वही हैं, लेकिन किस रोग के लिये कौन-सी औषधि है  इसका अलग-अलग करके विवेक करना प्रारभ किया। जब तक यह विवेक नहीं था, तब तक औषधियों की संख्या बढ़ती जाती थी। किसी एक ने कहा कि इसमें बहेड़ा डाल दो तो और अच्छा हो; अगली पीढ़ी में किसी ने उसमें शंखभस्म डालने को कहा तो वह भी डाल दी। नतीजा यह हुआ कि दवाई काम तो करती थी लेकिन यह चिकित्सक को भी पता नहीं था कि इन दस चीज़ों में से कौन-सी दवाई किस रोग पर काम करती है! जब औषधियों को अलग करके प्रयोग प्रारंभ किया तब पता लगने लगा कि इस रोग की कौन-सी दवाई है। ज्योतिष्शास्त्र में भी यह विवेक ज़रूरी है। बहुत से ज्योतिषी जानते हैं कि इस योग का यह फल होता है। योग का मतलब हुआ दो या दो से अधिक ग्रह; असर तो उनमें से हरएक का अलग-अलग होगा। जिसको योगों का पता है लेकिन उस योग के भिन्न ग्रहों के तत्त्वों का पता नहीं, वह योगों का फल बता देगा लेकिन यदि उस योग का अभाव है तो उसका फल गड़बड़ा जायेगा। सर्वत्र मनुष्य में तत्त्व-ज्ञान पहले आवश्यक और फिर मिश्र का ज्ञान आवश्यक है। चाहे भौतिकविज्ञान हो, चिकित्साशास्त्र हो, रसायनशास्त्र हो, सब जगह मनुष्य को तत्त्व का भी ज्ञान होना चाहिए और तत्त्वों के मिलने से क्या होता है, इसका भी ज्ञान होना चाहिये।

विवेक-ज्ञान ही ज्ञान है। आध्यात्मिक शास्त्र के अन्दर आत्मा का क्या स्वरूप, अनात्मा का क्या स्वरूप और आत्मा-अनात्मा के योग का क्या स्वरूप है, यह तब पता लगे जब पहले आत्मा और अनात्मा का विवेक करके इन तत्त्वों के रूप को समझा जाये। विवेक का अर्थ केवल

आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं है। विवेक तो एक औजार है। जैसे तर्क एक औजार है। उसका प्रयोग चाहे व्यापार में करो, चाहे वकालत में करो, चाहे डाक्टरी में करो, चाहे किसी को फ़ायदा पहुँचाने में करो और चाहे किसी को ठगने में करो। युक्ति एक औजार है, न बुरी है और न अच्छी है। इसी प्रकार से विवेक एक औजार है। यदि तुम्हारे अन्दर विवेक का औजार है, विवेकरूपी साधन तुम्हारे अन्दर है, तो तुम्हारे खाने में भी विवेक होगा। बहुत से लोग भोजन करते हुए पूछते हैं कि साग किस चीज़ का बना है? समझ लो कि यह अविवेकी है। उसे पता नहीं कि मसाला किस स्वाद को और साग किस स्वाद को दे रहा है। यह खाने का अविवेक है। पीने का जिसको विवेक होगा, उसको पता लगेगा कि यह दूध किस चीज़ का है, नहीं तो दूध पिये जा रहे हैं, कैसा दूध है  कुछ पता नहीं। काली गाय और पीली गाय के दूध के स्वाद में उन्हें कोई फ़र्क ही नहीं मालूम होता है। घास खाने वाली और चने खाने वाली गाय के दूध की गंध अलग होती है। यह बहुतों को पता ही नहीं है, लेकिन दूध पीते हैं। यह सब अविवेक का लक्षण है। जो इन चीज़ों का विवेक करने में भी असमर्थ है, वह अतिसूक्ष्म आत्मा-अनात्मा का विवेक कहाँ से करेगा!

विवेक करना और चीज़ है और किसी सूत्र को रट लेना और चीज़ है। एक वकील हमको सुना रहे थे : मेरठ में एक आदमी ने अपने छोटे से बच्चे को सूत्र याद कराया कि शरीर और आत्मा के क्या-क्या धर्म हैं, और आत्मा ब्रह्म है। जब कोई उसके घर आये तो वह उसके सामने प्रश्न करे  'बेटा! रोग किसको होता है?' वह कहे  'शरीर को।' 'तू कौन है?' 'मैं ब्रह्म हूँ।' इस प्रकार की कई तरह की बातें पूछे तो वह कहे कि यह मन का, यह प्राण का और यह बुद्धि का धर्म है। 'तू कौन?' 'मैं ब्रह्म।' 'सब कौन हैं?' 'सब ब्रह्म।' वकील साहब ने कहा कि मैंने उस बच्चे से पूछा  'तू ब्रह्म है?' कहा  'हाँ जी।' 'बिलकुल पक्की बात है? तेरे पिता कौन हैं?' कहा  'वह भी ब्रह्म है।' 'तेरी माँ?' 'वह भी ब्रह्म है।' वकील साहब बोले  'फिर तीन ब्रह्म हुए?' कहा  'हाँ तीन हुए।' पता लग गया कि यह सूत्र याद किये हुए हैं! जैसे तोता बोलता रहता है  सीताराम! सीताराम! लेकिन तभी तक बोलता है जब तक बिल्ली न आये। जहाँ बिल्ली आई वहाँ फिर टैं-टैं बोलने लगता है। एक ब्रह्मचारी था। उसका आपरेशन होना था। उसने डाक्टरों से कहा कि 'मैं बिना सुँघनी (क्लोरोफार्म) सूँघे ही आपरेशन कराऊँगा।' उसने पुराने महात्माओं की कथा सुन रखी थी जिनको कभी डाक्टरों ने कहा था कि हृदय की कमज़ोरी के कारण क्लोरोफार्म देने से तुम्हारे लिये खतरे की बात है। इसलिये उन महात्माओं ने कहा था कि बिना क्लोरोफार्म दिये हुए आपरेशन कर देना, कोई बात नहीं। नहीं मानते तो डाक्टर दो आदमियों को छाती पर बैठाकर आपरेशन कर देते। वह ब्रह्मचारी भी कहने लगा कि 'मैं भी नहीं सूँघूगा।' काशी में महात्माओं का ही एक अस्पताल है। डॉक्टरों ने मान लिया। जब उसे गाड़ी पर आपरेशन कक्ष में ले जाने लगे तब वह याद करता रहा। 'अच्छेद्योऽयम् अदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्य

एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।' अर्थात् न मेरे को कुछ छेद सकता है, न मेरे को कोई चीज़ क्लेश दे सकती है, न मेरे को कोई जला सकता है। मैं तो नित्य स्थाणु आत्मस्वभाव वाला हूँ। अंदर पहुँचने पर डॉक्टरों ने बड़े-बड़े चोंगे और हाथों में भी मौजे पहन लिये, तब वे देखने में बड़े भयंकर लगते हैं। जहाँ उन्होंने हाथों में बड़े-बड़े चाकू लिये, वह ब्रह्मचारी कहने लगा कि 'सब ज्ञान किताबों में रह गया, मेरे को सुँघनी दे दो!' फिर वे लोग दौड़-धूप करके लाये और सुँघाई। जैसे बच्चे के लिये तीन ब्रह्म, तोते का सीताराम और ब्रह्मचारी का अच्छेद्योयम् अदाह्योयम्, वैसे ही किताब से पढ़कर जो विवेकी होता है अथवा सुना हुआ होता है, चूँकि वह जीवन को लेकर नहीं है इसलिये जब तक दुःख, भय इत्यादि मुँह फाड़कर नहीं आते तभी तक वह सारी विवेक की बातें कहता है, क्योंकि खुद तो विवेक किया नहीं है, केवल सुन रखा है कि आत्मा-अनात्मा से अलग है जबकि अनुभव हमेशा आत्मा-अनात्मा के योग का कर रखा है अर्थात् उसे आत्मा-अनात्मा की मिली हुई स्थिति का ही अनुभव है। अलग करके अनुभव तो किया नहीं है, इसलिये जब दुःख, शोक, भय इत्यादि मुँह फाड़ कर आते हैं तो असली बात तोते की तरह निकलती है कि 'हूँ तो मैं दुःखी, घुटने में दर्द हो रहा है, ध्यान कैसे करूँ, पुत्र के पास यदि मैं नहीं पहुँचा तो बेचारा अपना काम कैसे करेगा?' सारी बातें और सारे सम्बन्धों का भान इसलिये है कि आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं किया है, केवल सुना है कि इसका नाम आत्मा और इसका नाम अनात्मा है। इस ज्ञान की प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम इस परिस्थिति से अलग करके, विवेक करके समझते हैं, नहीं तो वह विवेक निराधार रहता है।

विवेक तो एक औजार है। जिसके अन्दर विवेक का उदय होगा, उसका खाना, पहनना, बोलना, चलना, हिलना-डुलना, सब में वह निरंतर विवेक करके (अलग-अलग करके) समझेगा। जैसे आप लोगों में से कईयों के पास मोटरें हैं। कई बार देखते हैं कि बैठे हुए हैं, अकस्मात् कहते हैं 'अच्छा महाराज! अब हम चलते हैं।' हम पूछते हैं, अकस्मात् क्या बात हो गई है? कहते हैं 'गाड़ी आ गई।' हमने सोचा कि ध्यान के द्वारा दूरदर्शन की सिद्धि कर ली होगी जैसे संजय को दीख जाता था! होगी कोई ऐसी दिव्य दृष्टि। एक-दो बार हमने पूछा किस चीज़ का अभ्यास किया, पता तो लगे। बोले 'हार्न बजा था। वह हमारी गाड़ी का हार्न था।' हमने कहा 'ये विवेकी हैं। इतनी गाड़ियों में से इन्हें पता लग जाता है कि यह मेरी गाड़ी का हार्न है। यही विवेक है। जैसे गाड़ी के हार्न का पता लगता है, वैसे ही समग्र संसार का व्यवहार कर रहे हैं। 'पुंखानुपुंखविषयेक्षणतत्परोऽपि' एक के बाद दूसरे ज्ञानों का प्रवाह चला आ रहा है, जैसे युद्ध के मैदान में बाण के पीछे बाण आते हैं। रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंध सब चारों तरफ से आक्रमण कर रहे हैं, लेकिन उन सबकी आवाज़ में ब्रह्मरूप से उस वास्तविक ब्रह्म की आवाज़ को पहचानते रहते हैं। जैसे सब गाड़ियों से मेरी गाड़ी का हार्न अलग है, इसी प्रकार सारे व्यवहारों

के होने पर भी मैं चिदानंद स्वरूप हूँ, यह जो पहचानता रहता है उसी की विद्या दृढ होकर वह अशोक वन में पहुँचता है। जिसको पहचान है उसको तो यह पता लगाने में कठिनाई नहीं होती कि यह मेरी गाड़ी है। कठिनाई उसे होती है जो उस हार्न को नहीं पहचानता। एक लड़के से हमने पूछा कि तुम हार्न कैसे पहचान लेते हो? उस बेचारे ने बड़ी कोशिश की हमें समझाने की लेकिन कितनी भी कोशिश करो, हमें दूसरे हार्न भी वैसे ही लगते हैं। जिसने पहचान लिया उसको लगता है कि 'ये झट से क्यों नहीं पहचान लेते, इसमें क्या मुश्किल है।' जिसने नहीं पहचाना उसको लगता है कि 'यह बड़ा कठिन है। कैसे पहचानें, सबकी एक जैसी तो आवाज़ है।' इसी प्रकार से ज्ञानी को लगता है कि रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श सबके अन्दर ज्ञान एक जैसा ही है, इसमें मुश्किल क्या है! सामने वाला कहता है कि रूप, रस आदि सब तो समझ में आते हैं, लेकिन 'ज्ञान' क्या है   यह समझ में नहीं आता।

जब यह पहचान हो गई तब मनुष्य अशोक वन में पहुँच गया क्योंकि जब मैं अपने आपको चिदानंद रूप समझता हूँ तो शोक बेचारा किधर से घुसे? ऐसा समझने पर चिंतामणि गृह की प्राप्ति होती है। जब वह चिदाकाश में पहुँचा तब कहा 'शिवाकारे मंचे परमशिवपर्यंकनिलयाम्'; तब शिवरूपी मंच की प्राप्ति होती है। मंच मौचे (खटिया) को कहते हैं। संस्कृत शब्द मंच और राजस्थान में उसे मौचा कहते हैं। शिव ही वह मंच है जहाँ वह चिदानंद लहरी मिलेगी। यहाँ उस परमात्म तत्त्व के शिव और परमशिव दो भेद किये। शिव किसको कहते हैं? 'शिवेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते। भस्मी भवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः।।' महाभारत में बताया है कि 'शिव' ऐसा मंगलवाचक नाम है जिसे वाणी से कहना भी शोधक है। 'वाचि' कहकर बताया कि मन में न भी हो, बिना मन के भी यदि मंगलवाचक नाम 'शिव' मुँह से निकल गया, शिव-शब्द वाणी के द्वारा प्रवृत्त किया जाये तो करोड़ों महापाप भस्म हो जाते हैं। यह शिव का लक्षण है कि वाणी के द्वारा भी प्रकट हो गया तो पापों को, महापापों को नष्ट करता है। महापाप शरीर से ही प्रकट होते हैं। कई बार लोग पूछते हैं कि मन नहीं हो तो पाप नष्ट कैसे हो जाते हैं? विचार करो, पाप तो प्रकट ही शरीर में होंगे। यदि पाप प्रकट शरीर में होते हैं तो पापों का नाश भी शरीर की क्रिया से हो सकता है। जो चीज़ शरीर की क्रिया से नष्ट नहीं होती, वह संस्कार है, क्योंकि संस्कार मन में रहते हैं। संस्कारों को नष्ट करने के लिये मन लगाना ज़रूरी है। पापों को नष्ट करने के लिये यदि शरीर से ठीक क्रिया कर लो तो उसी से पाप नष्ट हो जायेंगे।

क्या कारण है कि शिव महापातक-कोटियों को नष्ट कर देते हैं? वस्तुतः इच्छा-शक्ति के आश्रय ब्रह्म के रूप को शिव कहते हैं 'इच्छाशक्त्याश्रयत्वाद् ईश्वरस्य शिवत्वम्'। शिव का दूसरा लक्षण है 'स्वस्मिन् प्रकाशयति इति शिवः।' अदादिगण में एक वशि धातु है जिसका अर्थ 'प्रकाश करना' होता है। जो सारे विश्व को अपने अन्दर प्रकाशित करता है, उसी को शिव

कहते हैं। सारे विश्व को अपने अन्दर साक्षी प्रकट करता है। प्रमाता तो केवल उन चीज़ों को प्रकाशित करता है जो सामने आती हैं और जो सामने नहीं आती, उनको भी साक्षी प्रकाशित करता है। हवाई जहाज़ के द्वारा मास्को हमारे सामने आ गया तो मास्को को प्रमाता ने देखा। लेकिन यहाँ बैठे हुए भी कहते हो कि 'मैंने मास्को को नहीं देखा'; इस बात को किसने देखा? आँख ने नहीं देखा, क्योंकि मास्को सामने होता तो आँख देखती। इसलिये 'मास्को नहीं देखा' इसे प्रकाशित करने वाला साक्षी है। मास्को नहीं देखा इसका मतलब है कि मास्को को मैंने न देखने के रूप में जान लिया। कोई कहता है कि 'यहाँ केवलराम जी नहीं हैं, नहीं दीख रहे हैं', अर्थात् केवलराम यहाँ दृष्टि के विषय नहीं हैं इस बात को हम देख रहे हैं। केवलराम के अभाव रूप में ज्ञान हुआ। संसार में सब ज्ञान दो रूप से हैं, एक ज्ञात सम्बन्ध से और दूसरे, अज्ञात सम्बन्ध से। केवल सम्बन्ध का फ़र्क है। घड़ा सामने है तो घड़ा ज्ञात है, इस बात को हम जानते हैं कि घड़ा जान लिया। घड़ा सामने नहीं है तो घड़ा अज्ञात है इस रूप से हमने घड़े को ही जान लिया। दोनों की ज्ञानरूपता में कोई फ़र्क नहीं हुआ। इसलिये वेदांती कहता है कि ईश्वर को न मानने वाला कोई है ही नहीं, क्योंकि आस्तिक ईश्वर को है-रूप से जानता है और नास्तिक ईश्वर को 'नहीं है' रूप से जानता है! वह कहता है कि ईश्वर नहीं है, क्योंकि इस बात को जानता है इसलिये ईश्वर को नहीं है-रूप से जानता है। फिर नास्तिक कहाँ रहा? 'यहाँ केवलराम है' जैसे यह निश्चित ज्ञान है, संशय ज्ञान नहीं है, वैसे ही निश्चित ज्ञान होता है कि 'केवलराम यहाँ नहीं है।' केवलराम नहीं है यह निश्चित रूप से वही कहेगा जिसने केवलराम को जान रखा है। जो केवलराम को नहीं जानेगा, वह नहीं कहेगा कि यहाँ केवलराम नहीं है। उसी तरह से हम उस नास्तिक को धन्य कहते हैं जिसने ईश्वर को पहचान लिया और कहता है कि ईश्वर नहीं है। यह तो कहता नहीं कि 'मैं ईश्वर को जानता नहीं हूँ।' वह कहता है कि ईश्वर नहीं है। उसने साक्षात्कार किया, तभी कहता है कि नहीं है। इसी तरह संसार के यावत् पदार्थों को ज्ञात और अज्ञात सम्बन्ध के द्वारा हर आदमी जानता है। किस भाव से जानता है? बस, यही साक्षिभाव है। साक्षि-भाव से निश्चित जानता है कि 'मैं सब चीज़ों को ज्ञात या अज्ञात भाव से जानता हूँ। किस रूप से जानता हूँ 'स्वस्मिन् प्रकाशयति' और 'इच्छाशक्त्या- श्रयत्वात्।' अर्थात् संसार के यावत् पदार्थ मेरी इच्छा शक्ति के आश्रित हैं। मैं मास्को को नहीं जानता तो मास्को को जानने की इच्छा मेरे में है। न केवल मैं मास्को को जानता हूँ, बल्कि मास्को आनन्दरूप है इस बात को भी जानता हूँ, नहीं जानता तो इच्छा कैसे करूँ? दुनिया-भर के अप्राप्त पदार्थों की इच्छा करते हो। जिस लड़की से कोई परिचय नहीं, उससे ब्याह भी कर लेता है। घर वाले कहते हैं तो कर लेता है। क्योंकि उसे सुख का आश्रय जानता है, तभी करता है, अनुभव नहीं है कि वह सुख का आश्रय है। इच्छा की आश्रयता भी हमेशा इस रूप में रहती है। यही शिवाकार मंच है।

दूसरे, यह महापातकों को नष्ट करने वाला है। पहली चीज़, सारे प्रपंचों को अपने अन्दर प्रकाशित करता है तो इसे पाप कैसे हो! नहीं हो सकता। शराब पीने वाला शराब को जीभ से जानता है, प्रमाता बनकर जानता है। लेकिन शराब को हम भी जानते हैं। अज्ञान सम्बन्ध से, साक्षि-भाव से जानते हैं। शराब का स्वाद नहीं जानते  इस बात को जानते हैं। भगवान् शंकराचार्य के जीवन में आता है कि जिस समय वे मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ करने गये तो कई कथोपकथनों में मण्डन मिश्र ने यह भी कहा कि 'क्या ऊटपटांग बोलते हो 'अहो पीता किमु सुरा!' क्या बक-बक करते हो, क्या शराब पी रखी है?' पीता-शब्द के दो अर्थ होते हैं  पीला और पिये हुए। सर्वज्ञ शंकर ने 'पीता' का अर्थ पीला ले लिया, कहा 'नैव, श्वेता यतः स्मृता' अरे, शराब पीली नहीं सफेद होती है! मण्डन मिश्र ने जवाब दिया कि 'आपको रंग का भी पता है!' भगवान् भाष्यकार ने कहा है 'मेरे को तो वर्ण का ही पता है, आपको तो उसके असर का भी पता है। 'अहं वर्णं भवान् रसम्।' शराब पीकर आदमी अण्ड-बण्ड बोलता है, यह जानते हैं।  साक्षि-भाव में स्थिति होने पर चूँकि चीज़ों से सम्बन्ध सब काल में है, क्योंकि सब मेरे में ही है, तो अब पातक किससे सम्बन्ध करे! करेंगे तो सब के साथ करेंगे। इस स्वरूप को समझते हैं तो मनुष्य की वृत्ति परिवर्तित हो जाती है और तब वह इस साक्षि-भाव को समझता है।

'अनाथानां नाथो गतिरगतिकानां व्यसनिनाम्। विनेता भीतानां शरणम् अधृतीनां भरवशः' स्तुतिकुसुमाञ्जलिकार (३५.१) आचार्यपाद कहते हैं कि उसकी शिव के प्रति यह विलक्षण दृष्टि बनती है कि यह शिव सारे अनाथों का नाथ है। इसका मतलब यह नहीं कि वह कहीं दूर बैठा हुआ है। संसार में जो अनाथ से अनाथ है, जिसका कोई नहीं है, उसको भी अपनी भुजाओं से आलिंगन-पाश में बाँधकर बैठा हुआ साक्षी ही है, कभी नहीं छोड़ता। बाकी सब साथ छोड़ देते हैं। जब शरीर में कोढ़ फूट कर निकलता है तब भी साक्षी चिपका कर रखता है। वह उतने ही प्रेम से सहलाकर प्रकाशित करता है जितने प्रेम से तब रखता था जब तुम्हारा सुन्दर शरीर था। जिस समय पेट भूख की वेदना से व्याकुल करता है, आँख, कान सब साथ छोड़ देते हैं, चक्कर आने लगते हैं, शब्द ठीक से सुनाई नहीं देते, जीभ सूखकर लकड़ी की तरह हो जाती है, उस घोर परिस्थिति में भी साक्षी चिपका कर रखता है। मुझे किसी चीज़ का होश नहीं, इस बात  को उतने ही स्पष्ट रूप से साक्षी जानता है जितना तब जानता था जब पेट भरा हुआ था, या जब बली था।

जिसकी कोई गति नहीं, ऐसों की यदि कोई गति है तो केवल वह साक्षी है, उस शिव को छोड़कर उसकी कोई गति नहीं। और कौन गति देगा! 'अगति' मायने जाने के लिये कोई जगह नहीं, जिनको कोई व्यक्ति अपने यहाँ बुलाने को तैयार नहीं, कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ वह जा सके। लेकिन उस साक्षी की तरफ वह जाता है तो वह साक्षी वैसा का वैसा है। ज्ञान का ज्ञान

भी साक्षी ही तो करता है। विनेता   बड़े-से-बड़े से व्यसनों को ख़त्म करने वाला कौन है? जुआ, शराब आदि न जाने आजकल कैसे-कैसे व्यसन हैं, स्त्री, पुत्र आदि अनेक तरह के व्यसन हैं। इन सारे व्यसनों को साक्षी ही नियंत्रण में करेगा। साक्षी कैसे व्यसन करने वाले को नियंत्रण में लाता है? साक्षी ही दुःख आने पर तुम्हें स्मृति दिलाता है चित्त की वासनाओं के द्वारा कि आज पाप का फल दुःख हो रहा है; नहीं तो कौन बतायेगा कि यह पाप का फल दुःख है? जैसे-जैसे साक्षी धीरे-धीरे यह बताता है, वैसे-वैसे मनुष्य का व्यसन हटता जाता है। इसलिये वह साक्षी को दबाना चाहता है, उसे प्रकट नहीं होने देता। मनुष्य का स्वभाव है और उसकी समझ यह है कि मैं अपने आपको भूल जाऊँ। हरेक आदमी अपने आपको भूलना चाहता है। साक्षी कहता है तेरी सब बात मानूँगा लेकिन भूलने नहीं दूँगा! चूँकि भूलता नहीं है, इसलिये उनको नियंत्रण में लाता है। लोग समझते हैं कि कहीं बाहर बैठा हुआ ईश्वर हमको डण्डे मारता है। बाहर बैठा हुआ डण्डे मारता तो सहना सरल था। वह तो साक्षि-भाव से डण्डे मारता है। उसका स्वरूप है कि 'हाय! मैंने क्यों किया, हाय! मैंने क्यों किया!' फिर बेचारा दौड़ता है कि भाग्य ने करवा दिया। अन्दर से आवाज़ आती है कि 'दौड़ता तो तू था, भाग्य नहीं।' फिर कहता है ईश्वर ने करा दिया होगा। ईश्वर कराता तो दूसरों से भी कराता। कहता है इस कलियुग में काल कराता है। 'पड़ौसी तो सत्य बोलता है। काल कराता तो इससे भी करता।' कहता है कि मेरी प्रकृति ही ऐसी है, स्वभाव ही ऐसा है। फिर साक्षी डण्डा मारता है कि 'उस दिन तो तूने ऐसा नहीं किया। स्वभाव होता तो उस दिन भी करता। कोई आदमी सब समय बुरे कर्म नहीं करता। फिर उस दिन सच कैसे बोल दिया! उस दिन तू होटल में ऊटपटांग खाने के लिये क्यों नहीं गया था? क्योंकि यह तेरा स्वभाव नहीं है।' अंत में साक्षी बार-बार डण्डे मारकर कहता है कि 'बेटा! तूने ही किया है।' तब कहता है कि 'मैं मान गया कि मैंने ही किया।' जहाँ यह माना, तो अगली बार करने में मन संकुचित होगा।

'भीतानां शरणम्' जब मनुष्य सब तरह से डर जाता है, मृत्यु का भी भय है, उस समय सब साथ छोड़ जाते हैं। साक्षी तब भी साथ नहीं छोड़ता। सामने शेर कूदकर जा रहा है, देख लिया कि कूदेगा और खाने वाला है, तो सबसे पहले साथ कौन छोड़ता है? शेर के सामने नहीं पड़े तो समझ लो कि टाटा मर्सिडीज़ का ट्रक ६० मील की रफ्तार से आ रहा है; मानो शेर उछला और दूसरी तरफ मोटर आ रही है तो सबसे पहले शरीर और इन्द्रियाँ ही साथ छोड़ती हैं, जिनका भरोसा करते हो! ऐसी भीषण परिस्थिति आने पर सबसे पहले आदमी आँखें बन्द करता है। गज़ब हो गया, यही समय तो था आँख के साथ देने का कि बचने का कोई मौका निकले, लेकिन ठीक उसी समय यह आँख धोखा देती है और बन्द हो जाती है। फिर पैर धोखा देते हैं, घुटने मुड़कर आदमी पहले ही गिर जाता है। अभी मोटर नहीं आई, शेर नहीं कूदा; अरे यही तो बचाने का समय था; लेकिन फिर भी इस शरीर की इन्द्रियों का भरोसा करता है। ये

सब मतलब के साथी हैं। घर वालों की तो बात ही नहीं करते हैं। एक बुड्ढी अस्सी साल की थी, उसके दस साल के पोते को बड़ा लम्बा टाइफाइड हुआ। उस ज़माने तक अभी क्लोरोमाईसिन आदि दवाई नहीं निकली थी। वह हिल-डुल भी नहीं सकता था। गाँव का मामला था। अकस्मात् एक काला साँप निकल आया। दादी ने बच्चे को वहीं छोड़ा और चिल्लाकर वहाँ से भागी। साँप चला गया। बाद में प्रश्न किया कि 'मेरी इच्छा रहती है कि मेरे पोते जीवित रहें, लेकिन मैं भाग कैसे गई? मेरे को पता था कि यह नहीं भाग सकता, क्योंकि बच्चा था, लेकिन मैं पहले ही क्यों भाग गई?' घर वालों को तो जाने दो, वे तो क्या साथ देंगे, ये शरीर और इन्द्रियाँ साथ छोड़ देती हैं। इनके साथ ही मन और बुद्धि भी साथ छोड़ देते हैं। बाद में ट्रक ने ज़ोर से ब्रेक लगाई, शेर ने दहाड़ा, तो आदमी को होश आता है। फिर पूछते हैं क्या हो गया? कहता है 'मेरे होश गुम हो गये थे। मेरे को पता नहीं क्या हुआ।' अर्थात् मन बुद्धि फेल हो गये थे। मन और बुद्धि से कहो कि 'ऐसे ही समय में तो प्लानिंग करने की ज़रूरत होती है कि इस परिस्थिति से कैसे बच निकलें; निकल पाओ, नहीं निकल पाओ, लेकिन हाथ-पैर छोड़कर धोखा तो न दो।' लेकिन उसी समय धोखा दे जायेंगे। शेर सामने कूदने को तैयार खड़ा है, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ने साथ छोड़ दिया, लेकिन आदमी नीची नज़र किये बैठकर आशा करता है कि अब शेर कूदेगा, यह साक्षी का ज्ञान है जो तब भी नहीं छोड़ता : ट्रक ऊपर चढ़ेगा तो बड़ा दर्द होगा। अभी हो नहीं रहा है, इसलिये प्रमाता का ज्ञान नहीं है। साक्षी उस समय भी हाथ नहीं छोड़ता। ट्रक के ब्रेक की आवाज़ सुनने पर, शेर के दो मिनट न आने पर साक्षी प्रमाता से कहता है कि 'अब भाग बेटा'। प्रमाता मन से कहता है कि अब बच ही गया लगता है। तब आँख से कहता है कि ज़रा खुलकर देख तो ले। पता लगता है कि शेर तो चला गया।

'अधृतीनां भरवशः' जब सारे धैर्य छूट जाते हैं उस समय में साक्षी ही धैर्य देता है। कहता है 'न वे दिन रहे, न ये रह जायेंगे। जब दुःख के दिन नहीं रहे तो सुख के दिन कहाँ रहेंगे। 'चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च'। ये तो चक्के की तरह घूम रहे हैं।' यह दिलासा देने वाले शिव ही हैं। 'सुहृद् बन्धुः स्वामी शरणमुपकारी वरगुरुः पिता माता भ्राता त्रिजगति जयत्यन्तकरिपुः।' आगे आचार्यपाद कहते हैं कि शिव सुहृद् हैं, हमेशा हमारा कल्याण ही चाहते हैं। साक्षी कभी अकल्याण नहीं करता, इसीलिये तो शिव है और वही हमको हमेशा चिपटाने वाला हमारा बन्धु है। बहुत से लोग बन्धु होते हैं तो खुशामद करने लगते हैं। स्वामी समय पर कहेगा कि तू गलती कर रहा है। वह उपकारी है। हम चाहे इसकी आवाज़ हज़ारों साल तक न सुनें, लेकिन यह अपना उपकार नहीं छोड़ता। हम उसका अपमान करते हैं, उसके विरोध में जाते हैं, यहाँ तक चाहते हैं कि वह मर जाये! लोग कहते हैं कि 'शराब पीकर जी हल्का होता है क्योंकि उस समय साक्षी का पता नहीं लगता।' हम चाहें कि साक्षी बिलकुल मर जाये, इतने पर भी वह अपना उपकार नहीं छोड़ता। सब गुरुओं में श्रेष्ठ गुरु वही है, वरगुरु है। गुरु भी

अपनी गुरुता इसलिये प्राप्त करता है कि हमारे अन्दर साक्षि-रूप से स्थित होता है। कथा श्रवण करने कई तरह के लोग आते हैं : एक सोचते हैं कि महाराज हैं, इसलिये जाना है। दूसरे समझते हैं कि महाराज हमारे हृदय में साक्षि-रूप से देख रहे हैं कि कथा सुन रहे हैं या नहीं, इसलिये सुननी है। जिन्होंने गुरु को वरगुरु साक्षि-रूप से अन्दर बैठा लिया, उनका श्रवण और होता है, और जो बाहर से सुनते हैं, उनका श्रवण और होता है। वही पिता, माता और भ्राता है। यमराज, मृत्यु, जो बड़े शासन करने वाले हैं, उस मृत्यु का भी वह साक्षी है। यह जो मृत्यु को नष्ट करने वाला साक्षिभाव है, यही शिव है, इसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। मैं कब मरूँगा? जब मैं जानूँगा कि मैं मरा हूँ। मैं मरा हूँ इस बात को भी साक्षी जानेगा। यदि साक्षी नहीं होगा तो मैं कैसे मरूँगा? मैं कब पैदा होऊँगा? जब साक्षी कहेगा कि मैं पैदा हुआ। इसलिये भगवान् शंकर को अंतकासुर को मारने वाला कहते हैं। इस शिव को जो जान नहीं लेता है कि यही साक्षी का शिवाकार मंच है, जिस पर भगवती मिलेंगी, जब तक इस साक्षिभाव में स्थिति नहीं है, तब तक उस चिदानंदलहरी के दर्शन नहीं हो सकते।

## प्रवचन-१६

४-४-७२

संवित् शक्ति की उपलब्धि के स्थान का निर्देश किया। सर्वव्यापक होने पर भी, किसी भी देश और काल में उसकी प्राप्ति होना सम्भव होने पर भी, किसी जगह उसका स्पष्ट भान होता है, यह बताना इस श्लोक का उद्देश्य है। संसार में बहुत-सी चीज़ें ऐसी होती हैं जो सर्वत्र होने पर भी किसी एक स्थल में ही उनकी उपलब्धि स्पष्ट रूप में सम्भव है। जिस प्रकार गंगा नदी यद्यपि गंगोत्री से गंगा-सागर तक एक-जैसी है, गंगा के जल में कोई भेद नहीं है, फिर भी हरद्वार, प्रयाग, काशी के स्थलों में गंगा की जैसी विशेष महत्ता है वैसी कानपुर इत्यादि स्थलों में नहीं। गंगोत्री से गंगा-सागर तक एक-जैसा प्रवाह होने पर भी हरद्वार इत्यादि स्थलों में उसकी विशेष महत्ता इसलिये है कि वहाँ उसके तेज में कुछ विशेष है। या अपने शरीर में देख लो : शरीर के सब अवयव-संस्थानों में चेतना एक-जैसी है, फिर भी आँख में चेतना की जो तीव्रता है, वह दूसरी जगह नहीं है, एक बाल भी यदि आँख में थोड़ा-थोड़ा-सा लगता है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि शूल चुभ रहा है। जितना कष्ट चिकित्सक के सूचीवेध (इंजेक्शन) करने पर नितम्ब देश में नहीं होता, उससे कहीं ज़्यादा कष्ट एक बाल आँख में चुभने से होता है। चेतना तो सारे शरीर में एक जैसी है। ठीक इसी प्रकार से सर्वत्र संवित् एक-जैसी होने पर भी शुद्धान्तःकरण में, उसके प्रकाश की विशेषता है। इसलिये शुद्धान्तःकरण में, अपने शरीर आदि संस्थान के बीच में उसकी उपलब्धि का स्थान-निर्देश किया। उस उपलब्धि के लिये स्थान विद्या (ज्ञान) ही है। जब तक जीवन की प्रत्येक क्रिया में विवेक (ज्ञान) का संचार नहीं होता तब तक उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

विवेक का जीवन में सर्वत्र संचार करना है। एक बात याद रखनी चाहिये कि मनुष्य अखण्ड है। समझने के लिये उसमें खण्डों की कल्पना कर लो, लेकिन खण्ड-कल्पना वास्तविक नहीं है। ज्ञेय और ज्ञाता का भेद वास्तविक नहीं है क्योंकि जो हमको अनुभव उपलब्ध होता है उसमें तो ज्ञेय और ज्ञाता दोनों मौजूद रहते हैं। क्या कोई ऐसा अनुभव है जहाँ ज्ञाता हो और ज्ञेय न हो, या कोई ऐसा अनुभव है कि जहाँ ज्ञेय हो और ज्ञाता न हो? गहरी नींद में और कुछ नहीं तो अज्ञान स्वयं ही ज्ञेय हो जाता है। ज्ञेय और ज्ञाता भाव समझने के लिये बड़ा अच्छा है, इसमें कोई हर्जा नहीं है, लेकिन भूल तब होती है जब हम ज्ञेय और ज्ञाता को अलग-अलग पदार्थ समझने लग जाते हैं। इसी प्रकार से राज्य और प्रजा कभी अलग-अलग नहीं मिल सकते। जब मिलेंगे तब राज्य और प्रजा युगपत् ही मिलेंगे। देश का अनुभव है; देश में हमने राज्य और प्रजा की *कल्पना* कर ली और व्यवहार के लिये समझना ज़रूरी भी है, लेकिन ग़लती तब होती है जब हम इन दोनों को वास्तविक मान लेते हैं कि मानो सचमुच अलग हों। आज सारे देश

की खराबी में हेतु यही है कि राज्य का निरंतर कहना है कि प्रजाजन सारे ठीक नहीं हैं, इसलिये देश खराब हो रहा है। प्रजा कहती है कि राज्य करने वाले ठीक नहीं, इसलिये देश खराब हो रहा है। मानो राज्य और प्रजा अलग-अलग हों! जबकि दोनों एक-दूसरे से संग्रथित हैं। राज्य में ही नहीं, धर्म में भी यही बात है : धर्म के अन्दर भी हमने दीवार खड़ी कर रखी है मानो धर्म और चीज़ हो तथा जीवन और चीज़ हो। लोग यह समझते हैं कि यह धर्म का काम है और यह जीवन-निर्वाह का काम है। वास्तविक स्थिति है कि जीवन-निर्वाह भी एक धर्म है, और धर्म भी एक जीवन-निर्वाह ही है। धर्म यही तो सिखाता है कि कैसे जिया जाये। 'कैसे जिया जाये' को बताने वाला होने से धर्म भी जीवन के निर्वाह का एक साधन है। जिसके पास धर्म नहीं उसको यही नहीं पता कि हम जीवन को कैसे निबाहें। इसलिये धर्महीन व्यक्ति अपने जीवन से 'बोर' (bore) हो जाता है, उकता जाता है। कोई किसी से, तो कोई किसी से बोर होता है। ऐसा व्यक्ति केवल यह चाहता है कि यह जीवन कब ख़त्म हो जाये। कारण यह है कि उसको जीवन बिताना नहीं आता। धर्म भी जीवन-निर्वाह का एक उपयोगी साधन है और जीवन-निर्वाह भी एक धर्म है।

भोजन बनाना भी एक धर्म है। भोजन खाने के लिये बनाना कोई उद्देश्य नहीं होता, क्योंकि खाने के लिये यदि भोजन बनाना उद्देश्य हो जायेगा तो वह उद्देश्य भोजन करने के साथ ही समाप्त हो जायेगा लेकिन समाप्त नहीं होता है क्योंकि खाया हुआ अन्न हमारे शरीर को शक्ति देता है। यदि कहोगे कि भोजन बनाने का उद्देश्य केवल खाना है तो आगे शरीर की शक्ति का विचार नहीं करोगे। नतीजा यह होगा कि तुम अन्न को नहीं, अन्न तुमको खा जायेगा। संस्कृत में अन्न शब्द के दो अर्थ हैं 'अद्यते' जिसको खाया जाये, और 'अत्ति' जो खाता है। धार्मिक व्यक्ति अन्न को खाता है और अधार्मिक व्यक्ति को अन्न खा जाता है। जब तुम यह विचार नहीं करोगे कि खाये हुए अन्न का क्या परिणाम होना है तो वह अन्न बजाय इसके कि तुम्हें पुष्ट करे, और ज़्यादा कमज़ोर कर देता है। केवल शरीर के साथ ही अन्न का यह सम्बन्ध नहीं है। 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' शरीर को बनाने के बाद वह अन्न तुम्हारे मन को बनाता है। यदि तुमने अन्न ग़लत खाया तो तुम्हारा मन भी ग़लत बन गया। जो व्यक्ति मन का विचार नहीं करेगा, वह अन्न के द्वारा मन को बिगाड़ता रहेगा। यदि तुमने भोजन खाने के लिये बनाया तो तुम्हारा मन और शरीर बिगड़ गये। भोजन बनाने का उद्देश्य खाना नहीं है, बल्कि शरीर और मन को पुष्ट करना है। अभी और आगे चलो। तुमने मन और शरीर को पुष्ट भी कर लिया लेकिन आत्मा की दृष्टि नहीं बनी तो वह शरीर और मन तुम्हारा अकल्याण करेगा। रावण का शरीर हृष्ट-पुष्ट था, मन भी बड़ा पुष्ट था, बहुत विद्वान् था, सब समझता था, कोई चीज़ ऐसी नहीं थी जो वह न समझता हो, जीवन के लक्ष्य तक को समझता था।

'दृषद्-विचित्रतल्पयोर्भुजंगमौक्तिकस्रजोः
गरिष्ठरत्नलोष्ठयोः सुहृद्विपक्षपक्षयोः।
तृणारविन्दचक्षुषोः प्रजामहीमहेन्द्रयोः
समं प्रवर्त्तयन् मनः कदा सदा शिवं भजे।।'

कहता है कि वह दिन कब आयेगा जब मित्र और दुश्मन दोनों मेरे लिये ब्रह्मरूप होंगे। घास का एक तिनका और कमलनयन स्त्री दोनों मेरे लिये एक जैसे ब्रह्मवत् प्रतीत होंगे। पत्थर की चट्टान और बढ़िया सुन्दर मखमल का गद्दा, दोनों मेरे लिये एक जैसे होंगे। साधारण प्रजा का एक व्यक्ति और सारी पृथ्वी का महान् राजा  इन दोनों के अन्दर मेरा मन कब निर्द्वन्द्व (सम) दृष्टि रखते हुए निरंतर उस सदाशिव के चिंतन-भजन में रहेगा  यह सब जानता था। मन और शरीर दोनों पुष्ट थे। लेकिन आत्मा कमज़ोर थी, इसलिये कहता था कि कब वह दिन *आयेगा*। जैसे लोग अपनी ब्रह्मरूपता को सुनकर किस दिन की आशा करते हैं? मृत्यु की! कहते हैं, जब तक प्रारब्ध है तब तक संसार की प्रतीति है और जब प्रारब्ध ख़त्म हो जायेगा तब मैं ब्रह्म में लीन हो जाऊँगा। यह भी 'कदा' वाली बात है। लेकिन वेदांत 'कदावादी' नहीं होता। यदि  चेतन से अतिरिक्त अविद्या की सत्ता होती तो प्रारब्ध की स्थिति होती। जब हम कारण को नष्ट करने की ताकत वाला अपने को मानते हैं, तब क्या कार्य से दब जायेंगे? कोई व्यक्ति कहे कि 'मैं अठारह अक्षौहिणी को मार सकता हूँ लेकिन क्या करूँ, इस घोड़े को नहीं मार सकता!' तो क्या कोई मानेगा? कहीं-कहीं हिन्दी भाषा में एक मज़ाक की कहानी आती है, 'हाथी को मैं पछाड़ूँ, शेर को मैं मार डालूँ; पर चूहा-बिल्ली और छछूंदर इनसे डरने वाला हूँ।' क्योंकि न हाथी घर में आना है और न शेर, घर में तो चूहा-बिल्ली और छछूंदर ही आने हुए, कहता है, इनसे डरता हूँ। इसी प्रकार की बात है कि 'अनादि अविद्या का नाश करने वाला मैं, घट-पट आदि से डरने वाला हूँ। सारे संसार, अनंतकोटि ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाला, माया को नष्ट कर देने वाला मैं, दुकान के घाटे से डरने वाला हूँ।'

यह कदावाद क्यों? रावण क्यों ऐसा कहता है। कारण यही है कि आत्मा के अन्दर शक्ति नहीं है। इसलिये वेदांती भोजन भी बनाता है तो न खाने के लिये, न शरीर को पुष्ट करने के लिये, न मन को पुष्ट करने के लिये बल्कि शिव के लिये बनाता है। भोजन बनाते समय निरंतर सोचता है कि इसका भोग उस परम शिव को लगाना है। 'मुझे खाना है', यह नहीं सोचता है। शरीर और मन को पुष्ट करना है, यह भी नहीं सोचता, बल्कि जानता है कि 'मैं तो शिव के लिये भोजन बना रहा हूँ।' कहने को तो सब कहते हैं  'महाराज! घर में ठाकुर जी हैं, हम सब भोग लगाकर खाते हैं, तो फिर आत्मा पुष्ट क्यों नहीं होती?' ज़रा दिल नाम की चीज़ से पूछोः भोजन बनाते समय क्या-क्या विचार चल रहा है, 'मुन्ने के पिता जी को पतली दाल पसन्द है, मुन्नू को करेले का साग और उसकी बहन को भात पसन्द है'; क्या कभी भोजन बनाते समय

मन में आता है कि शिव को क्या पसन्द है? बिना मसाले का भोजन तो घर में किसी के लिये चलता नहीं; शिव के लिये चलता है या नहीं? कभी मन में प्रश्न ही नहीं उठता। जैसे हम लोग कर्म के अंत में कहते हैं 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' और फिर देखते हैं कि उसका फल हुआ या नहीं, इसी प्रकार कहते हैं कि ठाकुर जी को भोग लगाने के लिये भोजन बन रहा है, लेकिन बना रहे हैं खुद खाने के लिये।

फिर रोज़ नैवेद्य चढ़ाने का फ़ायदा क्या है? फ़ायदा यह है कि कवायद करते-करते कभी-न-कभी तुमको दुश्मन पर गोली चलानी आ जायेगी। आजकल बहुत से आधुनिक लोग यह कहते हैं और सन् ६२ से पहले हमारे राजा (नेहरु जी) भी कहते थे कि 'ये सब फौज वाले बैठे-बैठे फालतू का खाते हैं, इसलिये इन्हें खेती में लगा दो।' तब हमारी सारी फौज खेती करने में, पुल आदि अन्य सामान, बनाने में लगा दी गई। फौज को इन सब कार्यों में लगा दिया गया था और फौज के सामान की फैक्ट्रियों में तोपों की जगह कहीं कॉफी पर्कोलेटर तो कहीं रेडियो बनने लगे! नतीजा यह हुआ कि जब लड़ने का समय आया तब पर्कोलेटर से तोप कहाँ बननी थी! तब आँखें खुलीं कि हमने क्या किया? उसके बाद सब बन्द हुआ और फैक्ट्रियों में तोपें और अन्य सामान बनने लगा, मिलिट्री कवायद करने लगी, क्योंकि फौज का काम ही यह है। कभी कैण्टोनमैण्ट में जाकर देखो कि धूप पड़ रही है, बिना मतलब ऊपर बोझा लादकर, झाड़ी-झंखार बनाकर झुके हुए और पसीना-पसीन हुए उसमें भाग रहे हैं। जो कवायद नहीं जानता, वह सोचता है कि यह सब फालतू कर रहे हैं। सोचता है अरे जंगल में लड़ाई होगी तो तब समझ लेंगे, एक बार समझना ही तो है, सीख लेंगे। वह 'समझ लिया और सीख लिया' वाला काम सन् ६२ का था। छावनी में निरंतर कवायद होती रहती है, तब फिर सन् ६५ में और ७१ में भी जो कर सकते थे, वह कर दिखाया। इसी प्रकार रोज़ बैठकर भगवान् के सामने जो कम-से-कम धारणा रखता है, यह कवायद है, असली लड़ाई नहीं है। असली लड़ाई के दिन जब तुम भोजन बनाओगे तो उससे पहले दृष्टि होगी कि मन-बुद्धि को शुद्ध करते हुए आत्म- बल को कैसे बढ़ायें। भोजन से आत्मबल भी बढ़ता है। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' रोज़ पाठ करते हो लेकिन 'प्राणापानसमायुक्तः' पर कभी ध्यान दिया? प्राणों के द्वारा तुम समष्टि को व्यष्टि में लीन करते हो और अपान के द्वारा व्यष्टि को समष्टि में लीन करते हो। यही प्राण और अपान का कार्य है। अन्न-स्थल में भी यही बात है : चावल के द्वारा समष्टि को व्यष्टि में लीन कर रहे हो और आठ घण्टे के बाद खाद बनाकर फिर व्यष्टि को समष्टि में डालते हो। मल खाद ही तो है। प्राण और अपान जब समायुक्त होते हैं, व्यष्टि और समष्टि जब दोनों 'सम' पद को प्राप्त किये हुए होते हैं, जब उनमें किसी प्रकार का तनाव नहीं होता, यही आत्मा की पुष्टि है। आत्मा की कमज़ोरी तब है जब उसके ये दोनों अंग समायुक्त नहीं हैं। पहले बताया कि माया ही व्यष्टि रूप से जीव और

समष्टि रूप से ईश्वर दोनों को उत्पन्न करती है। इसलिये जब तक यह जीव और ईश्वर का भाव सम नहीं होता, तब तक वह अन्न आत्मा को पुष्ट नहीं करता।

हमारा वह भोजन आत्मा की पुष्टि करने वाला होगा जो व्यष्टि और समष्टि के अन्दर एकरसता लायेगा, अर्थात् जितनी हम समष्टि के लिये सेवा कर सकते हैं उतना ही अन्न इष्ट है, उससे अधिक अन्न अनिष्ट है, और उससे कम अन्न भी अनिष्ट है। जितना हम समष्टि के लिये करते हैं उससे यदि हमने कम अन्न का प्रयोग किया तो शक्ति क्षीण होगी। नतीजा यह होगा कि आगे समष्टि का कल्याण हमसे उतना ही कम होगा और वह कम होना स्वतः एक पाप है जो आदमी को कमज़ोर करेगा। जैसे अधिक अन्न कमज़ोर करेगा, वैसे ही कम खाना भी कमज़ोर करेगा। जो इस रहस्य को नहीं समझता, वह मानता है कि अपने को कमज़ोर किये जाओ। परमात्मा कोई हमारा दुश्मन है जो हमको तड़पा कर खुश होता हो? बहुत से लोग परमात्मा को ऐसा समझते हैं। कभी घर के अन्दर माँ-बाप सोचते हैं कि तड़पाकर बच्चों को हम अपने वश में कर लेंगे? माँ का हृदय बड़ा कोमल होता है। लड़का कहता है कि 'मेरे लिये टट्टी-पेशाब के नाले जैसा एक कपड़ा बनवा दो।' 'ड्रेनपाइप' नामक पैण्ट; यह नाम अंग्रेज़ी वालों का ही रखा हुआ है। माँ कहती है कि भले आदमियों का कपड़ा पहन। उसने सोचा कि ऐसे माँ नहीं मानेगी। यह हम इसलिये बताते हैं कि कई माता-पिता यह नहीं जानते कि इसका मतलब क्या होता है, लड़कों से पूछो तो पता चलेगा। माँ ने मना कर दिया कि ऐसी गंदी चीज़ नहीं बनवा दूँगी। लड़के ने सोचा कि क्या साधन करूँ। थोड़ी देर बाद माँ कहती है 'बेटा, भोजन तैयार हो गया, खा ले।' कहता है 'नहीं खाऊँगा।' पूछती है 'क्या पेट खराब है? कहीं खाकर आया है? क्यों नहीं खायेगा?' लेकिन उसने तो बात मनवाने का साधन निकाला है। ऊपरी मन से कह देती है 'अच्छा मत खा, देखती हूँ कब तक नहीं खाता।' लेकिन उसे चोट लगती है, अन्दर से तड़पती है कि बेटा बेचारा भूखा रह जायेगा। चार बजे फिर कहती है 'अच्छा बेटा! अब तो कुछ खा ले।' वह सोचता है कि माँ दाँव हार गई। वह और मज़बूत हो जाता है! शाम को माँ कह दती है 'अच्छा बनवा दूँगी, तेरे को टट्टी-पेशाब के नाले में ही पैर डालना है तो डाल।'

जैसे बच्चे की भूख के मोह में पड़कर माता नहीं समझ सकती और उसको बुरे काम में लगा देती है, यही आदत हम परमात्मा के ऊपर ले जाते हैं : वहाँ भी हम यही करते हैं कि मैं अपने ऊपर बड़े-बड़े कष्ट लाऊँगा। खाऊँगा नहीं, पियूँगा नहीं, यह नहीं करूँगा, वह नहीं करूँगा, तो भगवान् मेरी इच्छा पूरी करेंगे। अब तो कम हो गया है, लेकिन आज से तीस-चालीस साल पहले, लोग काँटों की सेज पर सोते थे और आने-जाने वाले लोग उन्हें पैसा डालते जाते थे कि बड़े तपस्वी हैं। कोई नहीं सोचता था कि किस निमित्त से तपस्या की जा रही है। कोई

कहता था कि 'हम खड़े ही रहते हैं, कभी बैठते ही नहीं हैं।' तुम सोचोगे कि शायद घुटने खराब होंगे, इसलिये नहीं बैठा जाता होगा। पर वे अपनी इच्छा से नहीं बैठते। कुछ लोग रात-भर जागते हैं। भगवान् ने रात सोने के लिये बनाई है। इसी प्रकार लोग नानाविध तप करते हैं। वेदांती कहता है कि रात-भर जगो, कोई हर्जा नहीं, लेकिन पहले उद्देश्य बताओ कि किस लिये जग रहे हो? ध्यान-पूजा करनी है या कोई बीमार पड़ा है तो उसकी तीमारदारी करनी है, तो बेशक जगो। लेकिन किसी निमित्त से जगो। केवल जगने के लिये जगना तो निरुद्देश्य हो गया। भगवान् तुमको दुःखी देखकर सुखी होने वाले नहीं हैं। हाँ! यदि तुम किसी महान् उद्देश्य के लिये कार्य करते हुए अपने ऊपर कष्ट उठाते हो तो भगवान् ज़रूर प्रसन्न होंगे कि इतने बड़े उद्देश्य को पूरा करने के लिये तुम लगे हुए हो। घर में ही देख लोः यदि परीक्षा की तैयारी में बेटा रात-भर जगता है तो माँ पूछती है कि 'चाय बना दूँ।' यदि गंदे उपन्यास के लिये जग रहा है तो डाँटेगी कि 'क्यों आँख खराब कर रहा है!'

अन्न पकाते समय जब इस प्रकार की कवायद करोगे तब एक दिन उस स्थिति में पहुँचोगे जब न तुम कम खाकर कमज़ोर बनोगे और न ज़्यादा खाकर कमज़ोर बनोगे, जितना परमेश्वर का कार्य करना है, उसके लिये जितना आवश्यक है, जितना उपादेय है, वही तुम्हारा अन्न होगा और आत्मा को पुष्ट करने वाला होगा। रावण के अन्दर यह पुष्टि नहीं थी, यही समझने की बात है। रावण के अन्दर मन और शरीर दोनों बलवान् थे लेकिन उद्देश्य था कि 'मैं अधिक-से-अधिक भोग करूँ।' बस यही उसका उद्देश्य था जिसका नाम आजकल के लोगों ने तफरी (अंग्रेजी वालों ने एण्टरटेनमेन्ट) रखा है। ये सब चीज़ें रावणीय पक्ष हैं, यही रावण का उद्देश्य था। आज आदमी पैसा तफरी करने के लिये कमाता है। क्या किसी के मन में यह उद्देश्य है कि धन कमा रहा हूँ एक धर्मशाला बनानी है, या एक मन्दिर बनाना है? कोई उद्देश्य सामने नहीं है। यह दूसरी बात है कि दस-बीस लाख कमा लिये तो किसी धर्मशाला में दस हज़ार लगा दो। उद्देश्य तो तफरी ही है। हमारा राज्य भी इसी का प्रचार करता है। कैसे हमारा भोग बढ़े सिवाय इसके दूसरी बात ही नहीं है। यह भोगवाद ही आत्मा की पुष्टि में सबसे बड़ा प्रतिबन्धक हो जाता है। भोगवादी के आत्मा में बल नहीं होता है। इसीलिये आज लोगों में आत्मबल इतना कमज़ोर है।

पहले बताया कि भोगत्याग किसी उद्देश्य से होता है तो ठीक है। किस उद्देश्य के लिये भोग-त्याग होता है, यह समझना ज़रूरी है। आज भी बहुत से लोग भोग नहीं करते हैं लेकिन उनका उद्देश्य लोभ है। भोग करने वाले दो तरह के लोग होते हैं, लोभी और त्यागी। बहुत से लोग लोभी और त्यागी के फ़र्क को नहीं समझ पाते। ये दोनों एक-दूसरे से विपरीत हैं। लोभी धन को उपादेय समझता है, इसलिये भोग नहीं करता। यदि लोभी को धन मिल जाये तो संतुष्ट

हो जाता है। एक प्रत्यक्ष अनुभव करके देखना कि किसी आदमी को पचास-साठ पैसे पकड़ा दो और कहो कि 'गर्मी है, जाते हुए कोका कोला पीते जाना।' लोभी होगा तो सोचेगा कि 'पीकर क्या करना है, इतनी प्यास तो नहीं लगी है?' वे साठ पैसे उसकी जेब में रह जायेंगे! त्यागी देखेगा 'ये मज़दूर बड़ी प्यास में पड़े हुए हैं, तीन-तीन पैसे में ठण्डे पानी का गिलास मिलता है', तो वह १२ मज़दूरों को ठण्डा पानी पिला देगा। लोभी और त्यागी दोनों ने कोका कोला नहीं पिया। फ़र्क इतना है कि लोभी साठ पैसे लेकर घर पहुँचा और त्यागी ने साठ की जगह त्रेसठ पैसे खर्च किये। दोनों एक-जैसे नहीं हुए यद्यपि बाहर से एक-जैसे दीखते हैं। जब समाज के अन्दर त्याग की दृष्टि नहीं रहती है, तब या भोगी होते हैं या लोभी होते हैं। रावण भोगी था, लोभी तो उससे भी गया बीता होता है। रावण चूंकि भोगी था इसलिये वह हमेशा सब चीज़ों से शरीर और मन सब तरह से पुष्ट करने की कोशिश करता था। हृदय से यह जानते हुए भी कि यह सब अनिष्ट है, उधर ही प्रवृत्ति करता था। कहता ज़रूर था 'समं प्रवर्त्तयन् मनः।' लेकिन वह समान प्रवर्त्तन तब हो जब प्राण और अपान के अन्दर समानता लाई जाये, तब वह अन्न आत्मा की पुष्टि करेगा।

जो अन्न के बारे में कहा, वह सब जगह समझ लेना, उसका अतिदेश कर लेना। अन्न का मतलब केवल दाल-चावल ही नहीं है। आँख का अन्न रूप है क्योंकि वह रूप को ग्रहण करती है, आँख रूप को खाती है। कान शब्द को और नाक गंध को खाती है। इसमें भी प्राण और अपान की समानता लानी है। जब तुम रूप देखते हो तब मानो कि ईश्वर तुम्हारी आँखों में समाता है। समष्टि ही तो ईश्वर है। जब तुम किसी रूप को देखते हो उस समय ईश्वर तुम्हारे अन्दर आया यह प्राण हुआ। उसके साथ, हमने भी तो कोई रूप बाहर फैंकना है; वह रूप हुआ कि उसके ऊपर हम कौन-सी दृष्टि करते हैं। प्रेम की दृष्टि, भय की दृष्टि, काम की दृष्टि, मोह की दृष्टि, क्रोध की दृष्टि, मात्सर्य की दृष्टि, इस प्रकार कोई भी दृष्टि हो सकती है। रूप देखने के साथ हम जो फैंकते हैं, यह हमारा अपान हुआ। अगर इन दोनों के अन्दर समानता है तब तो आँख की वास्तविक पुष्टि आत्मा के लिये है। हमने तो सामने शिव को ही देखा। यदि शिव को देखा तो तुम्हारी आँख से प्रेम जायेगा। यदि तुमने वहाँ शिव को नहीं देखकर किसी और को देखा तो या मोह या क्रोध होगा या कुछ भी दूसरी वृत्ति बन सकती है। यह प्राण और अपान की समानता है। इसी प्रकार कान से शब्द सुना। अब उस शब्द के ऊपर तुम्हारी क्या प्रतिक्रिया हो यह तुम्हारे हाथ में है। बात एक ही होती है, अर्थ भिन्न हो जाता है। जैसे 'तुम दिल्ली जाओगे' यह वाक्य प्रश्न हो सकता है, प्रार्थना हो सकती है, हुक्म हो सकता है। नौकर को कहते हैं कि 'अब तीन बज गये हैं, तुम दिल्ली जाओगे', हुक्म हो गया। दोस्त से कहा तो यही प्रश्न हो गया। अपने से बड़े को भी कह सकते हो, वहाँ यह प्रार्थना हो सकती है। इसमें हमने

क्या 'अपान' किया, यह हमारे हाथ की चीज़ है। यह प्राण और अपान की जितनी-जितनी समानता सब चीज़ों में होती जायेगी उतना-उतना आत्मबल बढ़ेगा।

और आत्मा को कमज़ोर करने का तरीका भी बता दें? सब जने जानते ही हो! हमारे सामने केशवचन्द्र आया है, हमने कुछ देना नहीं है। इसने साल भर पहले हमारी दुकान से चोरी की थी। यहाँ केशव हमको 'दे' रहा है, क्योंकि उसका चेहरा देखकर याद आ रहा है। अब हम उसके प्रति क्रोध की वृत्ति बनाते हैं। यहाँ तुम क्या चूक गये? उसके अन्दर रहने वाले, नित्य-निरंतर उसके वास्तविक स्वरूप शिव को तो भूल ही गये और कभी किसी काल में क्षणिक चोर का रूप तुम्हारे सामने आ गया था, उसकी तुमने गाँठ बाँध रखी है। परसों बताया 'स्वस्वरूपं भवेत् सम्पद्' हमको तो तुम्हारा वह स्वरूप देखना है, यह नहीं जो आज तुम गम्छा, कल तौलिया और परसों चद्दर डालकर आये। हमने तो *तुम्हें* पहचानना है। आजकल यह भी एक चक्र चलता है; एक लड़की दो-चार दिन पहले शिकायत कर रही थी कि 'ब्याह के पहले पति मिलते थे तो बढ़िया ढंग के कपड़े पहनते थे और बड़े खुश रहते थे। अब आदत खराब होती जा रही है, कपड़ा कभी प्रेस हुआ, कभी नहीं हुआ, कालर गंदा होता जा रहा है कोई ख्याल नहीं।' हमने कहा 'क्या तुमने पैंट-कुर्ते से ब्याह किया था?' अब ब्याह लोग पैण्ट-कोट से कर लेते हैं! विचार करने की बात है कि तुमने पहचानना वह है जो उसके अन्दर सब समय रहने वाला पति या पत्नी रूप है। इसी प्रकार मेरे सामने शिव आया है। साल भर पहले उसने चोरी की मनोवृत्ति का अंगोछा डाल दिया था, लेकिन अब मुझे उसी को पहचानना है जो सामने आया है। लोग गड़बड़ में पड़ जाते हैं, अंगोछे के चक्कर में आदमी छूट जाता है। पचास साल पहले उत्तर प्रदेश की बात है। एक लड़की की शादी होने वाली थी। छोटा-सा गाँव था। लड़का विलायत से पढ़कर आया था। उस समय तक लोगों में यह बात नहीं थी कि लड़की को देखा जाये और यह तो कल्पना भी नहीं की जाती थी कि लड़का लड़की को देखे। उस युग में विदेश से पढ़कर आये हुए लड़के ने इच्छा प्रकट की कि लड़की का फोटो देखना है। पहले तो बड़ा डाँटा-डपटा कि ऐसे नहीं करते। लेकिन वह नहीं माना। उन्होंने लोगों के द्वारा खबर भेजी कि 'लड़का नालायक है, आप बुरा नहीं मानना, लड़की का एक फोटो भेज दो।' वह छोटा-सा गाँव, जैसी भी फोटो हुई, भेज दी। फोटो देखकर लड़के ने कहा 'मुझे लड़की पसंद नहीं।' पूछा 'क्या पसन्द नहीं है, बड़ी सुन्दर लड़की है।' अंत में घर वालों ने दबाव डाला कि 'हमने तो बात कर ली, किस मुँह से ना करेंगे।' आज़ादी से पहले का युग था जिस समय आदमी बात की कीमत समझता था। तब तक प्रजातंत्र का युग नहीं आया था कि जो कहा जाता है वह किया नहीं जाता और अगर कोई पूछे कि 'मैनिफैस्टो में यह कहा था?' तो कहते हैं कि मैनिफैस्टो का अर्थ ही मिथ्या होता है! अर्थात् हम झूठ बोलने वाले हैं, इस बात को मत कहो। पार्लियामेण्ट के

अध्यक्ष ने निर्णय दिया कि कोई बात झूठी हो तो बीच में मत डालो। वह युग जनतंत्र का युग नहीं आया था। घर वालों ने ज़ोर दिया कि हमारी नाक कट जायेगी। लड़की वालों से बात चला दी। बहुत दबाव डाला तो लड़के को मानना पड़ा और ब्याह हो गया। ब्याह के बाद उसने देखा कि लड़की बड़ी सुन्दर थी! दो-एक दिन बाद उसने किस्सा सुनाया कि 'तेरी फोटो देखकर तो मैंने ना कर दी थी!' विचार करो, फोटो क्या है? फोटो मनुष्य के किसी एक क्षण का ही हो सकता है। सुन्दर से सुन्दर व्यक्ति हो पर उस समय उसे चिन्ता हो सकती है, वह थका हुआ हो सकता है। फोटो खराब आने के कई कारण हो सकते हैं। हो सकता है जिस समय फोटो लिया जा रहा है उस समय उसे डकार आ जाये और उसका मुँह फूल जाये। फोटो का क्या ठिकाना! हमें उस व्यक्ति को पहचानना है या क्षणिक विकारों को देखना है?

जैसे यहाँ क्षणिक विकार का फोटो वैसे ही केशवचन्द्र ने एक साल पहले किसी एक क्षण में मेरी सौ रुपये की चोरी कर ली थी, तुमने वह फोटो खींचकर रख लिया और अब तुम केशव की उसी फोटो को देखते हो। नतीजा, तुम क्रोध की वृत्ति फैंकते हो और उसके नित्य शिव-स्वरूप को नहीं पहचान पाते। इसमें प्राण और अपान की समानता नहीं हुई। इसी समानता को जब करते हैं तब संसार के यावत् पदार्थ हमारे लिये नित्य-निरंतर शिवाकार रूप लेते हैं, यही यहाँ शिवाकार मंच है। तुम उसी मंच पर बैठे हो। यह सारा संसार शिवस्वरूप है। तुम ही किसी काल में कोई और किसी काल में कोई आकार लेते हो। लोक में जब खटिया पर सोते हो तो खटिया की शक्ल तुम्हारी शक्ल के अनुसार बनती चली जाती है। उसी प्रकार यह सारा संसार माया है। यदि तुम्हारे अन्दर शिवाकारता है तो सारी सृष्टि तुम्हारे लिये शिवाकार है और यदि तुम अशिवरूप हो तो सारी सृष्टि भी तुम्हारे लिये अशिवरूप है। वही साधक इसमें सफल होता है जो इस मंच पर बैठता है।

## प्रवचन-१७

५-४-७२

भगवती के स्वरूप का निर्देश और उस स्थल का निर्देश किया जहाँ उसकी स्वाभाविक उपलब्धि होती है। सर्वव्यापक तत्त्व होने पर भी कहीं उसकी उपलब्धि स्वाभाविक होती है। जिस स्थल पर उसकी उपलब्धि स्वाभाविक है, उस स्थल का निर्देश किया। क्रम से बताया कि 'सुधा-सिन्धु के मध्य, कल्पद्रुम के बगीचे में, मणिद्वीप में, अशोक-वाटिका के अन्दर, चिंतामणि के घर में, शिवरूपी मंच पर' उसकी उपलब्धि होती है। उस शिवरूपी मंच का स्वरूप बताया। भगवान् गौडपादाचार्य ने इस शिवस्वरूप मंच का वर्णन करते हुए बताया'देहेन्द्रियमनोबुद्धेरहंकारभ्रमस्य यः। अधिष्ठानं स हि शिवः मंचोऽत्र परिकल्प्यते।' वह मंच क्या है? जो इतने प्रकार के भ्रमों का अधिष्ठान है; इतनी चीज़ों के अधिष्ठान को मंच शब्द से कहा गया : देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार; इनका जो अधिष्ठान है, वही मंच है। विचार करो, घड़े के अन्दर एक आकाश है, घड़े के बाहर एक आकाश है लेकिन साथ में जहाँ घड़ा है, वह भी तो आकाश है। आकाश व्यापक तत्त्व होने से केवल घड़े के बाहर-भीतर ही आकाश हो, ऐसा नहीं, बल्कि जहाँ घड़ा है वहाँ भी आकाश है। यदि, जहाँ घड़ा है वहाँ आकाश न हो, तो घड़े में रखा हुआ पानी रिस कर बाहर कैसे आये? यदि दीवाल में आकाश न हो तो कील ठोकने पर उसमें कैसे जाये? इसलिये जहाँ आकाश घड़े के अन्दर है और बाहर है, वहाँ जिस स्थल में घड़ा है, उस स्थल में भी आकाश है। घड़े के अन्दर का आकाश, जहाँ घड़ा है वहाँ आकाश और घड़े के बाहर वाला आकाश, यों आकाश तीन हो गये। उसी तरह आत्मा सर्वव्यापक है। देह के अन्दर आत्मा, देह के बाहर आत्मा लेकिन जहाँ देह है, उस स्थल में भी तो आत्मा है। आत्मा सर्वव्यापक होने के कारण जहाँ देह है वहाँ आत्मा अधिष्ठान-रूप से है। देह के अन्दर वाला देहावच्छिन्न चेतन, यह एक चैतन्य हुआ। देह के बाहर वाला दूसरा चैतन्य हुआ, लेकिन जहाँ देह है वहाँ वाला चैतन्य अधिष्ठान चैतन्य है। देह वाले अधिष्ठान चैतन्य का पता देह में अस्तिता के भान से चलता है। 'देह है', अस्ति की अनुवृत्ति से पता चलता है कि यह सत् की अनुवृत्ति अधिष्ठान से आई। देह के अन्दर के चेतन का भान चिद्रूप से है। देह के बाहर वाले चैतन्य की प्रतीति ज्ञेय रूप से है कि 'यह मुझ ज्ञानरूप चैतन्य का विषय है।' अतः देह में उसकी प्रतीति सद्रूप से, देह के भीतर चिद्रूप से, देह के बाहर उसकी प्रतीति ज्ञेयरूप से है।

जैसे देह में, वैसे ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार में भी है। इन्द्रियाँ जहाँ हैं वहाँ भी चैतन्य है, इन्द्रियों के बाहर चैतन्य और इन्द्रियों के भीतर चैतन्य है। आँख के भीतर चैतन्य का प्रकार द्रष्टा, आँख के बाहर चैतन्य का प्रकार दृश्य हुआ। आँख के अधिष्ठान रूप से भी वही है। जैसे इन्द्रिय, वैसे ही मन में भी है : मन के अन्दर और मन के बाहर एवं जहाँ मन है, वहाँ

भी अधिष्ठान चैतन्य है ही। मन पंचमहाभूतों से बना, पंचमहाभूतों का कारण तो आत्मा ही है। जैसे जहाँ घड़ा है वहाँ मिट्‌टी निश्चित है, इसमें कोई संदेह नहीं, उसी प्रकार जहाँ मन है वहाँ आत्मा है, इसमें कोई संदेह नहीं क्योंकि पंचमहाभूतों से मन बना है और पंचमहाभूत आत्मा से बने हैं। जैसे कपड़ा धागे से बना, धागा रूई से बना, जहाँ कपड़ा है वहाँ रूई है ही, इसमें कहना क्या है!

बहुत-सी जगह लोग यह करते हैं कि रूई की गाँठ बाँधकर बेचते हैं, गाँठ को कपड़े में बाँधते हैं। ऊपर से रूई की ही रस्सी लगाते हैं। अब विचार करो, जैसे वहाँ तीन प्रकार से रूई की प्रतीति है : रस्सी के अन्दर धागे-रूप से प्रतीति, जो ऊपर से बाँधा गया उसमें कपड़े-रूप से प्रतीति और भीतर में रूई-रूप से प्रतीति है। लेकिन तीन प्रकार की प्रतीति होने पर भी तीनों में रुई ही है। कई बार मुकद्दमा चल जाता है। रूई की गाँठ पाँच मन की भेजी। वहाँ से लिखकर भेजते हैं कि 'इसमें तुमने दस किलो माल कम भेजा।' दोनों का झगड़ा किस बात का है? पहले वाला कहता है कि 'हमने पाँच मन रेलवे में तुलवाकर भेजी, कम नहीं भेजी।' दूसरा कहता है कि दस किलो कम मिली। यहाँ मुकद्दमे का क्या आधार है? खरीददार कहता है कि अन्दर माल पाँच मन नहीं था। तुमने तोल में कपड़ा और डोरी सबका तोल गिन दिया! खरीददार कहता है कि मेरा घाटा हो गया। बिकवाल कहता है कि वह कपड़ा और डोरी भी तो रूई ही थी। खरीददार कहता है कि यह रूई नहीं थी। अब दोनों का झगड़ा हो रहा है, क्योंकि उसने वेदांत नहीं बाँच रखा है! एक जाट ने लकड़ी वाले से लकड़ी खरीदी। जाट की बुद्धि बड़ी विलक्षण होती है। लकड़ी वाला जब लकड़ी सिर के ऊपर लेकर आता है तो सहारे के लिये एक टेका लगाने की लकड़ी साथ में रखता है। चलते-चलते थक जाता है तो उसको सामने रखकर भार को उसपर रख देता है, क्योंकि उसमें कम वजन पड़ता है। जब चलता है तो उसे पीछे से लगा लेता है, तो भी बोझ कम हो जाता है। कभी लकड़ी खरीदी होगी तो पता होगा। लकड़ी बेचने वाले ने लकड़ी दे दी, डेढ़ रुपये में सौदा हो गया। जब वह चलने लगा तो जाट कहता है कि 'यह लकड़ी कहाँ लिये जा रहा है?' लकड़ी वाले ने कहा 'यह तो मेरी लकड़ी है। भारी की लकड़ी का सौदा हुआ था।' जाट कहता है 'मैंने कहा था सारी लकड़ी। सारी ही तो तेरी थी।' बात तो ठीक ही है, वह भी लकड़ी ही है। इसी प्रकार से बेचने वाला कहता है कि कपड़ा और बोरी भी है तो रूई ही, लेकिन दूसरा नहीं मानता। विचार दृष्टि से तीनों नहीं हैं।

जैसे वहाँ तीन, वैसे ही यहाँ मन, मन के अन्दर वाला और मन के बाहर वाला चैतन्य है, सारे का सारा एक अखण्ड ब्रह्म ही है। जैसे मोटी दृष्टि वाले को उसमें तीन भिन्न-भिन्न चीज़ों की प्रतीति है वैसे ही यहाँ भी द्रष्टा, दृश्य, दर्शन और दृष्टि का साधन सारी प्रतीतियाँ हो जाती हैं। जैसे मन, वैसे ही बुद्धि और वैसे ही अहंकार में समझ लेना। अहं के अन्दर भी एक ब्रह्म है। जब 'मैं' इस शब्द का प्रयोग करते हो, 'मैं' इस प्रतीति को करते हो तो 'यह प्रतीति हो रही

है' यह भी तो जानते हो। अहं कहने के साथ, मैं की प्रतीति करने वाला भी है। मैं के द्वारा जिसे देख रहे हो वह भी है और 'मैं' खुद भी है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार सारे-के-सारे भ्रम हैं। क्यों भ्रम हैं? क्योंकि ये सारे हैं तो चिदानंद-स्वरूप, लेकिन प्रतीत चिदानंद-स्वरूप से अलग हो रहे हैं। यही भ्रम का लक्षण है कि जिसका रूप कुछ हो और प्रतीति कुछ और हो। देह की भ्रमरूपता तो पहले प्रत्यक्षसिद्ध है। इसके अन्दर टट्टी-पेशाब, कफ आदि सारी गंदी चीज़ें भरी हुई हैं, एक भी सुन्दर चीज़ इसमें नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं, इस देह के ऊपर जो एक सेन्टीमीटर का भी दसवाँ हिस्सा (एक मि. मीटर) त्वक् की पपड़ी चढ़ी हुई है, यदि कहीं इसके ऊपर यह न चढ़ी हुई होती और इसके अन्दर का माल यदि कहीं बाहर दीख जाये, तो लोग घृणा से नाक-मुँह बन्द करके घूमेंगे और ऊपर से चीलों के झपट्टों से बचने के लिये सारे दण्डी होकर चलेंगे। कभी किसी गाय को घाव हो जाता है तो कौए वहीं चोंच मारते हैं। बस इतनी-सी चीज़ से इसके अंदर के माल का छिपा रहना एक भ्रम हुआ; है कुछ, प्रतीत कुछ और होता है। इसके पीछे न जाने लोग क्या-क्या कल्पनायें करते हैं! आँख को देखकर कहते हैं 'यह कमलनयना है।' सवेरे आँख से निकलते हुए गीड़ को देखो तो मामला हरिःओऽम् तत्सत्। इसी प्रकार अंग प्रत्यंगों का वर्णन करते हुए न जाने कैसी-कैसी कल्पना कर लेता है, लेकिन वहाँ है कुछ नहीं। यह भ्रम हो गया।

इसी प्रकार से मन के भ्रम भी समझ लेना। मन के अन्दर न जाने कैसी-कैसी वासनायें भरी हुई हैं। यदि वह वासना खुलकर सामने आ जाती है तो तुम्हारे पैर काँपने लगते हैं। कई बार आदमी आश्चर्य करता है कि मेरे मन में इतनी गंदगी कहाँ से भर गई! क्योंकि अनादिकाल से वही गंदा माल भरा है। जितनी बुरी-से-बुरी वासनाओं की सम्भावना है, सब वहाँ भरी हुई हैं। तुम्हारे कुछ शुभ प्रारब्ध के कारण थोड़ी-बहुत दबी हुई हैं। आज से पच्चीस वर्ष पहले जब भारत में संविधान बन रहा था तब कुछ लोगों का कहना था कि विदेशों के अन्दर की अव्यवस्था देखते हुए हमारे यहाँ कुछ-न-कुछ नैतिक प्रशिक्षण होना चाहिये। हमारे कुछ अच्छे-अच्छे राजनैतिक नेता थे, उन्होंने बार-बार यह बात कही कि भारत के व्यक्ति इतने उच्च दृष्टि वाले होते हैं कि ये कभी बिगड़ नहीं सकते। कुछ धार्मिक नेता भी थे। 'हम लोग औद्योगीकरण के द्वारा ऐसे नहीं हो सकते, क्योंकि भारत का एक व्यक्तित्व है' ऐसा नेताओं को लगा। हम वेदांती लोग तब भी कहते रहे कि आदमी का विश्वास कभी न करो! यह तो हम हज़ारों सालों से जुटे हुए हैं, इसलिये इन वासनाओं को दबाकर रखा हुआ है। भारत में उत्पन्न होने मात्र से किसी में कोई विशेषता नहीं है। लेकिन सैकडों-हज़ारों साल से हम लोग बार-बार समाज में, व्यक्ति में सब जगह उन विचारधाराओं को कहते थे, जिससे कुसंस्कार कार्यकारी नहीं हो पाते। लोगों के मन में तो दूसरी भावनायें दबी ही पड़ी हैं, इसलिये इन्हें *स्वभाव* से अच्छा मत समझो। लेकिन वे लोग नहीं माने। पच्चीस सालों में नतीजा देख लो। हज़ारों सालों का परिश्रम कितना शीघ्र ख़त्म होता है। जैसे

रसगुल्ले के लिये पहले अच्छा दूध चाहिये, वह भी गाय का दूध हो, भैंस के दूध के रसगुल्ले में जाली नहीं पड़ती। वह दूध भी ताज़ा हो, खूब गरम करके फाड़ा जाये, जहाँ अधिक गर्मी न हो और अधिक सूखा भी न हो, कुछ जलीय अंश हो, वहाँ उसे दबाकर रखा जाये, फिर उसको खूब फैंटा जाये, तब उसकी गोली बनाकर रसगुल्ला तैयार होता है। फिर चाशनी भी ठीक बनी हो। रसगुल्ला बनाने में बहुत परिश्रम करना पड़ता है, नहीं तो ठोस माल बन जायेगा, सिर में मारो तो गुमड़ी निकल आये! इतना परिश्रम करके जो रसगुल्ला बनाया गया, कुछ मत करो, उसको थोड़ी देर तक, बारह बजे बने रसगुल्ले को पाँच बजे तक रख दो, तो मुँह में लेते ही कहोगे 'खट्टा हो गया है।' कोई कहे कि हमने बढ़िया बनाने में इतना परिश्रम किया, बिगाड़ने के लिये क्या परिश्रम किया? बिगाड़ने के लिये कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता। केवल उसे सुरक्षित जगह में, रेफ्रिजरेटर में नहीं रखा, इतना ही बहुत है।

इसी प्रकार, न जाने कितने परिश्रम से हमने मानवीय वासनाओं को दबाये रखा। जैसे वहाँ गाय का दूध चाहिये, वैसे ही यहाँ उस व्यक्ति को पहले वेद आदि शास्त्रों का ठीक प्रकार का ज्ञान दिया जाये। क्या कारण था कि आज से तीस साल पहले और आज भी हमारे यहाँ साधारण-से-साधारण किसान के पास चले जाओ तो वह स्वभाव से कहता है कि आत्मा परमात्मा एक हैं। उसने कोई युक्ति नहीं सुन रखी है। आप में से अधिकतर बड़ी उम्र के हैं, जानते होंगे कि गाँव के अन्दर जमींदार पकड़ बुलवाता था कि 'तुझे मेरी झूठी गवाही देनी पड़ेगी।' वह कहता था 'मुझसे झूठ बुलवाओगे तो मेरे बाल-बच्चों का, मेरे परलोक का क्या बनेगा?' वह कोई बड़ा भारी विद्वान् नहीं था, उसने कोई नीतिशास्त्र (ऐथिक्स) के अन्दर एम०ए० नहीं कर रखी थी। क्या कारण था? गाँव में साधु-संन्यासी जो बैठा था, वही उसे बचपन से शिक्षा देता था, समाज भी वही शिक्षा देता था, बड़े-बूढ़े भी वही शिक्षा देते थे। जो उसका विरोध करता था, उसे दण्ड दिया जाता था और समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था। कभी किसी के मन में भावना ही नहीं आती थी कि इसमें भैंस का दूध मिलाकर देखूँ। एक ही गाँव में हिन्दू मुसलमान रहते थे, हिन्दू कभी नहीं सोचता था कि मुसलमान गाय खा लेता है, पाप होता तो इसे भी होता। उन्हें समझाया जाता था कि 'वे करते हैं तो उनके धर्म की बात उनके मौलवी जानें, तुम उनकी चिंता छोड़ो।' तुम अपने दूध के अन्दर भैंस का दूध मत मिलाओ। मिलावटी दूध का पनीर भी ठीक नहीं बनता। आजकल सबका दूध मिला देते हैं : कहते हैं कि इसमें मुसलमानों का, ईसाइयों का और कुछ और लोगों का भी दूध मिला लो। 'सर्वधर्मसमन्वय' नाम बड़ा मीठा लगता है, कहते हैं सबको मिला लो, लेकिन यदि उसमें भैंस का और बकरी का दूध मिला दोगे तो उससे रसगुल्ला बढ़िया बनने वाला नहीं है। कहोगे फिर भैंस का दूध क्या बेकार है? ऐसा नहीं कहते, उसका घी बनाओ। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि बाकी कहीं अच्छाई नहीं है, लेकिन यह ज़रूर कहते हैं कि गाय का दूध भैंस के दूध में मिलाकर

घी भी न खराब करो और भैंस का दूध गाय के दूध में मिलाकर छैना भी खराब मत करो। अलग-अलग उद्देश्य हैं, अलग-अलग दृष्टि से अलग-अलग लोगों ने उपदेश किया है, उस दृष्टि को समझना विलक्षण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति का काम है। साधारण व्यक्ति के लिये यह मिश्र धर्म काम नहीं करता।

इसलिये पहले तो शुद्ध गाय का दूध हो। गाय को पुराणों में वेद बताया है। जहाँ वेद कहता है कि 'हमारा नाश हो रहा है।' वहाँ उसे गो-रूप में बताया। गो-शब्द का अर्थ ज्ञान भी होता है। इसलिये एक-दूसरे की प्रतीकात्मकता बन जाती है। श्रुति को, वेद को, दूध को गरम करना पड़ता है अर्थात् वेद का ज्ञान लेकर तपस्या करनी पड़ती है। जो तपस्वी नहीं है या जब तक तपस्या नहीं करेगा तब तक ज्ञान में गर्मी नहीं आयेगी। इसलिये हर व्यक्ति को हम लोग बार-बार चिन्तन, मनन करवाते थे। गाँव के न पढ़े-लिखे अंगूठा छाप से भी बात करके देखो तो युक्ति से तुम्हें समझाता था। केवल यही नहीं कि 'आत्मा-परमात्मा एक है', बल्कि स्पष्ट रूप से तुमको समझाता था कि 'यदि आत्मा परमात्मा एक न होते तो जैसे घी खाकर मुझे सुख होता है वैसे ही दूसरे को कैसे होता?' यह एक युक्ति है। कभी किसी विदेशी से बात करके देखना तो पता लगेगा कि यह युक्ति मामूली नहीं है जो तुम्हें बच्चों का खेल लगती है। जैसे तुम्हारे बच्चे टेप रिकॉर्डर, टेलीविजन आदि को चलाने आदि के संस्कार पाते हैं तो उनके लिये वह सहज-सा हो जाता है, ऐसे ही अतिदीर्घ काल के समझाने का यह नतीजा हुआ था कि हमारे साधारण-से-साधारण आदमी को सत्य बोलने में कोई मुश्किल नहीं लगती थी, सरल लगता था। जिन विदेशियों ने यह युक्ति नहीं सुन रखी है, उनसे यदि यह बात कहो तो बड़ी मुश्किल लगती है कि इन्होंने कैसी युक्ति निकाल ली। अब, जब उसकी शिक्षा नहीं रही, तो नतीजा हुआ कि 'हर व्यक्ति में आत्मा एक है' यह जहाँ बच्चा-बच्चा जानता था वहाँ आज लोग यह कहने में एक मिनट की देरी नहीं करते कि 'बसों में जाने वाले मर जायें मरने दो, बसें जला दो!' शिक्षा नहीं मिली, इसीलिये। एक मिनट को मन में नहीं आ रहा है कि ग़लत कर रहे हैं। जो लोग कहते थे कि झूठ बोलने से नुक्सान होगा, आज वे कहते हैं कि सत्य बोलकर कभी गुजारा चलता है? तीस साल में यह हाल हुआ। इसलिये हम लोग कहते थे कि बगीचा तभी तक है जब तक छँटाई करते रहो। दस साल तक बगीचे की देखभाल करने के बाद साल भर तक छोड़ दो तो फिर जंगल-का-जंगल है। पहले गौ का दूध अर्थात् वेदज्ञान हो और फिर उसे गरम किया जाये। तपस्या और मनन के द्वारा उसे उबाला जाये, अच्छी तरह से हृदय में बैठाया जाये। इसीलिये बताया है

'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मतं च सततं ध्यायेद् एते दर्शनहेतवः।।'

महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पहले वेद-वाक्यों का श्रवण करे और बाद में उपपत्तियों के द्वारा उसका मनन करके हृदय में बैठाये। दूध गरम करके नीबू निचोड़कर फाड़ते हो। जब श्रवण, मनन कर लिया तो अब विवेक (फाड़ने) की दशा आई। ठोस और पोला माल अलग करो। आत्मा ठोस माल है, अनात्मा पोला माल है। केवल गरम करके चुपचाप बैठने से काम नहीं होने वाला, विवेक के द्वारा आत्मा-अनात्मा को अलग करना ज़रूरी है। अलग करने के बाद उस स्थल पर रखो जहाँ कुछ नमी हो। बिलकुल सूखी हवा के अन्दर यदि रखोगे तो पनीर कड़ा हो जायेगा। उससे रसगुल्ला नहीं बनेगा। उससे तो पनीर के भुजिये चाहे बना लो! इसलिये जहाँ नमी हो, वहाँ उसको अच्छी तरह से दबाकर रखना पड़ेगा। वैसे ही परमात्मा के प्रति जो तीव्र प्रेम की नमी है, उस नमी के साथ अपनी सारी क्रियाओं को नियंत्रित करके रहना पड़ेगा। गीता में भगवान् ने इसीलिये कहा 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।' पहले ब्रह्मीभवन का रूप बताया, उसके बाद कहा 'भक्तिं मयि परां लब्ध्वा' फिर उसे प्रेम होता है। जब तक परमात्मा को जानोगे नहीं, तब तक प्रेम अपरा भक्ति है, असली प्रेम (परा भक्ति) नहीं है। असली प्रेम तभी होता है। जब उसे जानो। अपरा भक्ति के अन्दर आकांक्षा तो है लेकिन सच्चा प्रेम नहीं है। जो चीज़ मिली नहीं, उसके प्रति आकांक्षा होती है कि कब मिले, वह भी एक तरह का प्रेम होता है। लेकिन सच्चा प्रेम वह है जिसमें आकांक्षा नहीं है, 'कब मिले' की बात नहीं है। मिला हुआ है, लेकिन वह ऐसा मिला हुआ है कि और किसी के मिलने की इच्छा ही नहीं रही। यह सच्चा प्रेम है। यह पराभक्ति का रूप है। अपरा भक्ति में 'परमात्मा कब मिले, कब उसका दर्शन हो' यह रहता है। पराभक्ति में परमात्मा नित्य मिला हुआ है। पराभक्ति यह है कि उसको छोड़कर और कोई नज़र आये ही नहीं। इसी का नाम निदिध्यासन है। श्रवण और मनन से जो तात्पर्य समझ आया है, उसका सतत (निरंतर) ध्यान करना है। जब तक सतत ध्यान के द्वारा मन के अन्दर, मन के कोने-कोने में वह रूप नहीं बैठ जायेगा, तब तक वह पूर्ण आनंद प्रकट नहीं हो सकता है। जब तुमने उसे पा लिया तब आकांक्षा समाप्त हो गई, उसके बाद पराभक्ति का प्रारंभ होता है। अब पाना बाकी नहीं है, उसे रिझाना है।

यह पराभक्ति की तीसरी अवस्था हुई। अब उसे रात भर नमी में रखा जाता है। ठण्डक में उसे दबाकर रखा तो उसका सारा पानी निकल गया। रात्रि में जैसे सारे संसार के पदार्थ अंधकार में डूब जाते हैं, वैसे ही परमात्मा के निदिध्यासन काल में ब्रह्मलोक से लेकर पाताल तक सारे-के-सारे लुप्त हो जाते हैं, नहीं की तरह हो जाते हैं। रात्रि में पदार्थ कहीं भाग नहीं जाते, लेकिन होने पर भी नहीं की तरह हैं। इसी प्रकार यहाँ पदार्थ कहीं भाग नहीं जायेंगे लेकिन होने पर भी नहीं की तरह हैं। न उनके प्रति कोई निवृत्ति है और नहीं प्रवृत्ति है। 'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते' भगवान् ने कहा कि जिस मध्य बिन्दु के अन्दर जो व्यक्ति बैठता है, वह दोनों पक्षों के प्रति उदासीन है, वादी-प्रतिवादी दोनों उपस्थित हैं लेकिन निर्णायक को न वादी

के जीतने की और न प्रतिवादी के जीतने की इच्छा है। ऐसे ही वह निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनों में से किसी को नहीं देखता। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'न प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कटाक्षेणापि वीक्षते।' प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की तरफ वह आँख के कोने से भी नहीं देखता, कटाक्षपात तक नहीं करता। यह मध्य बिन्दु की प्राप्ति', सर्वथा उदासीनभाव की प्राप्ति हुई; मानो रात में सब कुछ ढक गया, होते हुए भी न कुछ-सा है। रोज़ भी पदार्थों के प्रति उदासीन होते हो : यहाँ से जाते हुए दो सौ मोटरें आगे से निकल जाती हैं, लेकिन कोई याद नहीं रहती। पूछें कितनी निकलीं थी? कहोगे, याद नहीं। वे मोटरें निकली हुई भी तुम्हारे लिये तो न निकली हुई की तरह हैं। इसी प्रकार ब्रह्मलोक से लेकर पाताल लोक पर्यन्त जगत् के सारे पदार्थ होते हुए भी नहीं की तरह हैं। फिर क्या वे तुम्हें सुख और दुःख देने में समर्थ हैं! कुछ नहीं करेंगे।

रात्रि-भर वह नमी में रह गया तो सवेरे उसे फैंटा जाता है। स्थिरता के बाद रगड़ना पड़ता है। अब तक तो रात्रि में शान्ति से व्यवहार किया था। गीता में भगवान् ने बड़े विलक्षण शब्द का प्रयोग किया है। कहते हैं 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' 'निवात' के दो अर्थ होते हैं तेज़ हवा (tempest) और तेज़ हवा का अभाव! अर्जुन का सबसे ज़्यादा और भयंकर युद्ध 'निवात कवचों' से हुआ था। शुरू के साधक के लिये सीधा निवात हो गया, अर्थात् सब चीज़ों से बिलकुल दूर रहे। लेकिन विचार करो कि भगवान् का यदि यही तात्पर्य होता तो असम्भव दोष आ जाता। किसी भी प्रकार मन का सर्वथा अभाव ही बना रहे, यह कभी नहीं हो सकता। वस्तुतः निवातस्थ का मतलब है कि जिस समय तीव्र अंधड़ चल रहा हो, तब भी वे लोग नहीं हिलते हैं। रेल वाले एक लैम्प रखते हैं, उसमें दीपक जलता है, जितनी भी हवा चले, वह नहीं हिलता। वह उपमा याद रखनी चाहिये। यह है उस पनीर का ज़बरदस्ती ज़ोर-ज़ोर से फैंटा जाना। चारों तरफ से चाहे जितना जगत् के पदार्थों का अंधड़ चले लेकिन वह अपने स्वरूप से नहीं हिलता। जब खूब फैंटो तो छैने में जाली हो जाती है। ज्ञानी बाहर से तो ठोस दीखता है, सारे व्यवहार करके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकार सारे भ्रमों वाला दीख रहा है, सारे के सारे भ्रम उसमें दीख रहे हैं; लेकिन जहाँ उसको थोड़ा-सा निचोड़ कर देखो तो सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है। चारों तरफ के रेशे में रस टिका हुआ मात्र है, उसे गिरने में देरी नहीं है। इसी प्रकार संसार के यावत् पदार्थों के टिका होने पर भी उसे गिराने में देर नहीं है। विदेश में सेंट इग्नेशियस लाइला की स्थिति का माहात्म्य प्रसिद्ध है पर हम लोगों का आदर्श है कि एक क्षण का आधा भाग, सैकेण्ड के हज़ारवें हिस्से का भी आधा काल, उतनी देर भी ब्रह्म को अपने हृदय से चिपटाये बगैर नहीं रह सकें। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि को, सनकादिक को देखो, शुक, वामदेवादिक को देखो। उसी प्रकार से बड़ी से बड़ी ब्रह्मा विष्णु की तरह क्रिया करो, सत्य आँखों से ओझल नहीं हो सकता। सारे संसार को तैयार करना ब्रह्मा का कार्य है, विष्णु का काम सारे संसार की रक्षा करना है; इतनी क्रिया दीखने पर भी ज़रा दबाओ तो उनके अन्दर ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

जैसे व्यक्ति में, वैसे ही समाज में भी इसी प्रकार धीरे-धीरे शुद्धि लाते-लाते आती है। वेद आदि का शिक्षण समाज के स्तर पर भी इसी प्रकार से होता है। उसका मनन किया, फिर धीरे-धीरे उपनिषद् युक्ति के साथ उसे ध्यान आदि का अभ्यास करवाओ, जिसमें वह संसार को लुप्त करने की प्रक्रिया समझ पाये। लोग कहते हैं 'संसार मिथ्या तो है लेकिन मन नहीं मानता।' माने कैसे? पहले सवेरे तीन बजे उठकर चार घण्टे समाधि लगाने का अभ्यास करो, फिर कोई दुःख आये तो भी तुम्हें चार घण्टे के लिये तो 'स्विच ऑफ' करना आ गया। अब तक वह ही नहीं आता! प्रत्येक को ध्यान आदि के द्वारा यह अभ्यास कराओ। इसीलिये कम-से-कम तीन बार संध्या करवा लेते हैं। 'सम्यक् ध्यानं संध्या', इतनी देर तक तो मन को रोक लो। उसमें प्राणायाम का अभ्यास भी हो जाता है। गाय का दूध वेदादि बता दिये गये, निदिध्यासन, ध्यान की प्रक्रिया बता दी गई। अब उसके बाद जितनी घुटाई जो सहन करे उतना अच्छा है। सारी की सारी वर्णाश्रम व्यवस्था यह घुटाई है। तुम्हारे अन्दर भेद-भावना है तो भक्ति कहाँ रहे? ब्राह्मण कहता है कि 'मेरी इतनी शक्ति है कि मैं यह सारा व्यापार चला सकता हूँ।' शास्त्र ने कहा 'नहीं, तू भीख माँग कर रह।' वह यदि कहता है कि 'मेरी योग्यता है, मुझसे क्यों नहीं करवाते?' तो इतने में ही परीक्षा हो गई। वर्णाश्रम की व्यवस्था में बँधने से ही चमक आती है। किसी भी काल में वर्णाश्रम व्यवस्था सबको नहीं जँचती थी, लेकिन ऊपर से रगड़ रहती थी क्योंकि इसी से 'पॉलिश' आयेगी। अब कहते हैं कि 'ये सब नियम नहीं रखो, जिसकी जो मर्ज़ी आये सो करो।' जब इतनी तैयारी करते थे तब रसगुल्ले तैयार होते थे; और अब पच्चीस साल में कभी रैफ्रिजरेटर में नहीं रखा, तैयार नहीं किया अतः सड़ा माल निकला तो आश्चर्य करके कहते हो कि यह कैसे सड़ गया! इसीलिये कहा 'देहेन्द्रियमनोबुद्धेरहंकारभ्रमस्य यः' ये सब भ्रम हैं। लेकिन ये भ्रमरूप में तभी होंगे जब इस प्रकार की शिक्षा के द्वारा इनकी भ्रमरूपता को समझोगे।

## प्रवचन-१८

६-४-७२

भगवती के उपलब्धि-स्थल को बताते हुए उसके मंच और पर्यंक स्थल का निर्देश किया 'शिवाकारे मंचे परमशिवपर्यंकनिलयाम्।' शिवाकार ही उसका मंच है। मंच का स्वरूप बताया कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार सारे भ्रम हैं। क्यों भ्रम हैं? कल बताना प्रारंभ किया था, कि घड़े के अन्दर का आकाश, घड़े के बाहर का आकाश और जहाँ घट है वहाँ का भी आकाश है। घड़े के अन्दर का आकाश घटावच्छिन्न आकाश, घड़े के बाहर का आकाश घट-अनवच्छिन्न आकाश, लेकिन घट स्थल का आकाश केवल घट का अधिष्ठानमात्र है। जहाँ घट है, उस स्थल में भी आकाश है लेकिन अधिष्ठान-रूप से है। ये तीन चीज़ें बताई। जैसे वहाँ घट, वैसे ही यहाँ देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार हैं। ये सारे एकमात्र शिव में ही अधिष्ठित हैं। इस अधिष्ठान दृष्टि के बन जाने पर भयंकर से भयंकर झंझावात आने पर भी स्वरूप से च्युत नहीं होता। इसलिये इसे मंच कहा गया। जैसे खटिया (मौचे) के ऊपर बैठा हुआ पुरुष च्युत नहीं होता या नहीं गिरता, बाकी जगह बैठे हुए को तो लुढ़कने का डर रहता है, छोटी-सी चीज़ पर बैठा हुआ हो तो डर रहता है, लेकिन खटिया पर सोया हुआ व्यक्ति लुढ़कता नहीं है। ऐसे ही जिसका ज्ञान दृढ नहीं हुआ है, उसको हमेशा लुढ़कने का डर है। ज्ञान की दृढता हो जाने पर चूंकि उसकी दृढता इतनी विस्तृत और विशाल है, चूंकि उसने ज्ञान के सारे स्थलों को अच्छी तरह से समझ रखा है, इसलिये वह अपने स्वरूप से कभी भी च्युत नहीं होता।

दूसरी बात, जैसे रसगुल्ला दीखता बड़ा है लेकिन भ्रम के कारण ही बड़ा दीखता है, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार का विश्लेषण करते हो तो पाते हो कि इसमें कुछ नहीं है। इतनी सुन्दर और कांचन-सी दीखने वाली देह के अन्दर देखने पर कुछ और ही मामला निकलता है! इसी प्रकार इन्द्रिय, मन आदि का विश्लेषण करते हो तो मन के अन्दर न जाने कहाँ-कहाँ की वासनाओं की गंदगी निकलती है। मन बड़ा सुन्दर और प्रिय-सा दीखता है, लेकिन विश्लेषण करने पर इसकी गंदगी को देखकर खुद ही घृणा होने लगती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पिशुनता इत्यादि कोई चीज़ ऐसी नहीं जो इसमें न हो। दीर्घकाल की शिक्षा से इन वासनाओं को नीचे दबाकर रख सकते हो। यदि तुमने इसकी शिक्षा और नियंत्रण थोड़ा-सा कम किया, तो वैसी-की-वैसी वासनाओं का चक्कर पुनः प्रारंभ हो जाता है।

रामकृष्ण परमहंस बंगाल के बड़े अच्छे महात्मा हुए हैं। वे प्रातःकाल नियम से साढ़े तीन-चार बजे उठकर भजन करते थे। एक बार उनकी तबियत बहुत खराब हो गई, फिर भी उठ जाते थे। किसी ने उनसे जिक्र किया कि 'आप ज़रा आराम कर लिया करें,' तो कहने लगे कि ब्राह्ममुहूर्त में आराम करना ठीक नहीं, यह भजन का समय होता है। किसी ने कहा कि 'आप

तो सिद्ध महापुरुष हैं, आपको इसकी क्या आवश्यकता है।' कहने लगे 'अरे! इस शरीर, मन का कोई विश्वास नहीं है। तुम्हें सुनाता हूँ, एक बार मुझे बुखार आ गया, बुखार ज़्यादा होने से सवेरे नहाने की सम्भावना नहीं थी। सबने आराम करने को कहा तो मैंने भी आराम कर लिया। पंद्रह-बीस दिन तक मोतीझरा का बुखार रहा। जब बुखार उतर गया तो मैंने सोचा कि आज उठूँगा। लेकिन सवेरे साढ़े पाँच बजे तक आँख नहीं खुली। सोचा अभी कमज़ोरी है, कल उठूँगा। फिर दूसरे दिन भी यही हुआ कि अभी कमज़ोरी दूर नहीं हुई, ज़रा आराम कर लूँ, तब उठूँगा।' पुराने महात्मा लोग गालियाँ ज़रा ज़्यादा देते हैं। कहने लगे कि 'जब दो-तीन दिन ऐसे ही हुआ तब मैंने समझ लिया कि इस साले शरीर को मुझे हमेशा ही दुर्व्यवहार में ले जाना है। मैं झट उठकर ठण्डे पानी से नहाया और बैठ गया। यदि तुमने इस शरीर को दो दिन की छुट्टी दे दी तो इसका कोई विश्वास नहीं है।' विचार करो, ऐसी जिसकी निष्ठा थी, उसका भी यह शरीर थोड़ी-सी ढील देने से इतना धोखा देता है तो दूसरे साधक यदि इस शरीर, मन को छुट्टी देंगे तो यह क्या हाल करेगा! धोखा देने में शरीर देरी नहीं करता। कारण यह है कि अनंत जन्मों की वासनायें तो यहीं सब भरी पड़ी हैं और इन वासनाओं के बाहर आने में देरी नहीं लगती। अतिदीर्घ काल की शिक्षा, साधना और नियंत्रण के द्वारा ही इसको ठीक से रखा जा सकता है। यही मन की भ्रमरूपता है कि बाहर से अच्छा दीखने पर भी इसके अन्दर सारे विकार भरे हुए हैं।

जैसे मन में वासनाओं की भ्रमरूपता, उसी प्रकार से अहंकार में भ्रम है। अहंकार में चेतन का भ्रम है। आदमी समझता है 'मैं' चेतन है। मैं तो वृत्ति है, चेतन नहीं है। मैं के अन्दर जो शिव है, वह चेतन है, मैं चेतन नहीं। यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। बाकी भ्रमों को निकालने पर भी सांख्यवादी इस भ्रम में दृढ रूप से फँसा हुआ है। इसलिये वह पुरुष को ही चेतन मान लेता है, ब्रह्मतत्त्व तक नहीं जाता। मैं चेतन नहीं, मैं के अन्दर शिव-तत्त्व चेतन है। यदि मैं चेतन होता तो गहरी नींद में 'मैं' नहीं रहता, फिर भी चेतन कैसे रहता? गहरी नींद में 'मैं' नहीं रहता तो कोई मरता नहीं है। इसलिये मैं के अन्दर रहने वाला शिव चेतन है, मैं चेतन नहीं है। मैं तो अंतःकरण की एक वृत्ति है, इसलिये यह भी एक भ्रम है। इसी भ्रम के कारण मैं से हम लोग इतने ज़्यादा चिपटते हैं कि बाकी सब बन्धनों को काटने पर भी अहं के बन्धन को नहीं काट पाते। सारी की सारी गीता का उपदेश देने के बाद भगवान् ने अंत में कहा कि इस अहं को छोड़। जब तक मैं की दृष्टि रहेगी, तब तक शिव की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

मैं को छोड़ने में मुश्किल क्या है? 'मैं को छोड़ूँ' यह संकल्प करने वाला 'मैं' ही है। जैसे भारतवर्ष के अन्दर घूसखोरी बन्द नहीं हो सकती क्योंकि घूस बन्द करने वाला राजा (आजकल के राजा एम०पी०, एम०एल०ए०) भी बेचारा घूस खाकर ही राजा बनता है, और घूस खाकर बना रहता भी है। बड़े से बड़ा प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति भी घूस खाकर बनता है। लेकिन उन्होंने

एक जायज़ घूस मान रखी है कि अगर हम समुदाय बनाकर पार्टी के लिये घूस लें तो वह घूस नहीं मानी जायेगी! यह उन्होंने अपना एक नियम बना लिया है। लेकिन उनके नियम बनाने से क्या होगा! है तो वह घूस ही। घूस से उत्पन्न और घूस में ही स्थित और अंत में कोई तगड़ा घूस खाने वाला और मिल जाये तभी निकलते हैं! जैसे किसी काल में तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का लक्षण किया था 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म' जिससे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे स्थित रहते हैं और जिसमें लीन होते हैं, वह ब्रह्म है। इसलिये किसी भी काल में ब्रह्म से छूट नहीं सकते क्योंकि वह उनका स्वरूप है; ऐसे ही आजकल हमारे राजागण घूस के द्वारा पैदा होते हैं, उसी के द्वारा स्थित हैं और उसी के द्वारा अंत में नष्ट भी होते हैं। जब उनकी सारी सृष्टि स्थिति ही घूस को लेकर है तो वे घूस से अलग कैसे रह सकते हैं? एक बार संसद के अन्दर आचार्य कृपलानी (जो एक पुराने कांग्रेसी हैं) ने बहुत बढ़िया बात कही : किसी ने कहा कि अमुक मिनिस्टर ने चोरी की, तो उन्होंने कहा कि 'क्यों संसद का समय बर्बाद करते हो? यह तो अपने सब जानते हैं कि चोर तो अपने सारे हैं, इसलिये इस बात को करने से क्या फ़ायदा!' जैसे घूसखोरी बन्द नहीं हो सकती, क्योंकि घूसखोरी बन्द करने वाला राजा ही खुद घूसखोर है, इसी प्रकार अहं कभी छूट नहीं सकता क्योंकि अहं को छोड़ने का संकल्प करने वाला खुद ही अहंकार है।

इसलिये शास्त्रकारों ने कहा कि यदि अहंकार को छोड़ना चाहते हो तो अहंकार से भिन्न शिव के अधीन अहंकार को कर दो। तुम अपने संकल्प से अहंकार को नष्ट करना चाहोगे तो कभी नहीं होने वाला है। भगवान् ने कहा  अर्जुन! तू इस बात को समझ ले कि तेरे अहंकार से कुछ नहीं होना है।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।'

'मैं शांति प्राप्त करूँगा' जब तक तू ऐसा भाव रखेगा, तब तक कभी शान्ति नहीं मिलने वाली है, क्योंकि 'मैं शान्ति को प्राप्त करूँगा', यह स्वतः ही एक अशान्ति है। चूंकि अहं को पकड़े हुए हो इसलिये मैं शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि इस मैं को भी तो शान्त करना है। सारी अशान्ति का बीज यह मैं ही है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद (विवेक चू. २९९) कहते हैं 'सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः। तेषामेकंमूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः' संसार के कारणरूप से अनेक प्रतिबन्ध हैं लेकिन याद रखो कि जितने भी तुम्हारे प्रतिबंधक हैं, दुःख-विक्षेप हैं, वे सब एक जड़ से पैदा हुए हैं और वह मूल मैंपना है। मैंपना है तो बाकी सारे

विक्षेप आते जायेंगे और यह नहीं, तो कोई विक्षेप नहीं आ सकता। सारे विक्षेप मैं को लेकर हैं। भगवान् ने कहा   इसलिये अर्जुन! मैं शान्ति को प्राप्त करूँगा   ऐसा समझने वाला कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि चोर को ही राजा बना रखा है। इसलिये 'तत्प्रसादात् परां शान्तिं' उस शिव की कृपा से ही पराशान्ति की प्राप्ति होगी ऐसा जानकर, 'मैं शान्ति की प्राप्ति करूँगा', यह हठ छोड़ दे। उसी से शान्ति होगी और उसी से शाश्वत (नित्य) स्थान की प्राप्ति होगी।

उसका प्रसाद कैसे होगा? उसका उपाय बता दिया, उस शिव की ही शरण में जा। एवकार के द्वारा बताया कि उसके अतिरिक्त किसी की शरण चाहेगा तो काम नहीं बनेगा। जहाँ शिव से अतिरिक्त किसी की शरण में गया, उस शिव की शरण नहीं रही। जैसा कहते हैं कि संसार के अन्दर किसी बात में किसी की और किसी में किसी की शरण ले ली जाती है। भोजन करना होता है तो माँ को कहा जाता है, पैसा खर्च करना होता है तो बाप को कहा जाता है, घूमने या तफरीह करने जाना होता है तो भाई को कहा जाता है। भगवान् कहते हैं ऐसा नहीं, 'सर्वभावेन' चाहे तुझे माता, पिता, भाई, बहन पत्नी, पति किसी की इच्छा हो, जो भी भाव तेरे हृदय में आये, शरण के लिये केवल उसको पकड़। वह सारे रूप लेकर आ जाता है। तुम्हारे सामने जब पिता आता है तो पिता के नाम-रूप लेकर शिव आया है इसलिये तू उसकी शिवरूपता, सच्चिदानंदरूपता को ग्रहण कर, उसके नाम-रूप में मत फँस। माता के नाम-रूप को ग्रहण करके वह शिव ही आया है, इसलिये तू उसी सच्चिदानंद शिव को ग्रहण कर। माता-पिता के नाम-रूप को ग्रहण मत कर। बस यही तो शरण है। जिस किसी रूप में वह आता चला जाये तू उसके सच्चिदानंद शिवरूप को गहण कर। नतीजा होगा 'तत्प्रसादात्' उसका प्रसाद हो जायेगा। जैसे तालाब में सारी मिट्टी बैठ जाये तो उसे संस्कृत में कहते हैं 'सरः प्रसीदति'। सारी मिटट्ी को उठाने वाला तो तुम्हारा अहंकार था। अब तुमने अहंकार का परित्याग कर दिया तो सारी मिट्टी बैठ गई, और अब तुम्हारा अंतःकरण रूपी तालाब बिलकुल मिट्टी से रहित हुआ तो उसमें सूर्य, चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ेगा।

वही सामने आ रहा है तो क्या देख रहो हो? देख रहे हो, चाहे उसे शिवरूप से नहीं देख रहे लेकिन देख तो रहे हो। 'यंत्रारूढानि मायया' तुम्हारे हृदय के अन्दर बैठा हुआ शिव यंत्र के ऊपर चढ़ाये हुए तुमको माया का खेल दिखा रहा है। जैसे बाजीगर खेल दिखाता है ऐसे ही वह शिव भी जगत् रूप में खेल दिखा रहा है। और कुछ नहीं है, खेल ही है। इसीलिये पंचदशीकार कहते हैं 'माया-मेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा' माया रूपी बादल जगत् रूपी नीर (जल) की चाहे जैसे वृष्टि करता चला जाये। लोग माया के अच्छे- अच्छे खेलों को देखकर मुग्ध हो जाते हैं। बाजीगर का खेल देखने को सब पहुँच जाते हैं लेकिन बाजीगर को कोई नहीं देखना चाहता, उसके खेल को देखना चाहते हैं। वैसे ही शिव भी माया रूपी मेघ से सारी सृष्टि रूप जल को बरसा रहा है। कैसे-कैसे खेल दिखा रहा है! जिन चीज़ों की कल्पना नहीं कर सकते वे भी होती

हैं। एक छोटा-सा बीज डाला, उसमें से पेड़ निकल आया, उसमें से फल खा लिये, उसके अन्दर के बीज को फिर बोया, फिर पेड़ निकल आया। यह जादू नहीं तो क्या है? जितना चाहे वृष्टि कर ले 'चिदाकाशस्य नो हानिः न वा लाभ इति स्थितिः' चाहे जितनी जगत् की सृष्टि माया कर ले लेकिन चिदाकाश की कोई हानि या उपलब्धि नहीं होती। दीर्घकाल तक पानी बरसने से आकाश गीला नहीं होता। ड्रायर नहीं लगाने पड़ते जिससे आकाश सूख जाये! इसी प्रकार चिदाकाश को न उससे कोई लाभ है और न कोई हानि है।

तुम्हारी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार सब झूठे हैं। इस अहंकार को भी वही चला रहा है। तुमने जबरदस्ती अपने को अलग मान लिया है। जैसे रेल में बैठा हुआ व्यक्ति पेटी को अपने सिर पर रखे हुए कहता है कि 'मैं इसका लगेज-चार्ज नहीं दूँगा', लेकिन गार्ड नहीं छोड़ता। इसी प्रकार शरीर, मन इत्यादि सब का भार ईश्वर पर है लेकिन इस छोटे से शरीर, मन, बुद्धि को अहंकार कहता है कि 'मेरे सिर पर है!' अपने सिर पर रखोगे तो भी चल तो ईश्वर से ही रहा है। बस यही अहंकार का भ्रम है कि 'मैंने सिर पर बोझा रख लिया तो अब रेल पर बोझा नहीं रहा।' इसी प्रकार मैं कहता है कि मैंने तो अपने ऊपर कुछ कर्त्तव्यों का बोझा रख लिया है, वह तो मेरे ही करने से होगा। 'सारे विश्व ब्रह्माण्ड को चलाने वाला परमात्मा लेकिन इस दुकान को चलाने वाला मैं। चिड़ियों, चूहों चींटी तक को खिलाने वाला परमात्मा लेकिन अपने बीबी-बच्चों को खिलाने वाला? मैं।' यह कितनी विचित्र परिस्थिति है। यह व्यर्थ का बोझ लादे घूम रहा है, यही माया शक्ति है। वह अकेला ही सबको चला रहा है, क्योंकि 'ईश्वरः' में एकवचन है, कई ईश्वर नहीं हैं, एक ही ईश्वर चला रहा है। जैसे-जैसे इस भाव के बजाय शिव-भाव की दृढता होती जायेगी, वैसे-वैसे अहंकार नष्ट होता चला जायेगा।

यह जो अहंकार का भ्रम है कि यह मेरे चलाने से चलता है, इसका एक प्रत्यक्ष दृष्टांत बताते हैं : बाकी समय तो अपने शरीर की रक्षा तुम करते हो, हमने मान लिया। कहते हैं, 'हम न हों तो इस शरीर को कौन देखेगा, हम ध्यान न दें तो कौन ध्यान देगा?' यह बताओ कि गहरी नींद में मैं तो रहता नहीं और यह शरीर बचा रहता है। यह प्रत्यक्ष है केवल बचा ही नहीं रहता, पहले से अच्छा हो जाता है। बीमारी की या सिर दर्द की अवस्था में नींद में जाता है और वहाँ मैं नहीं रहा तो उठकर कहता है कि 'जी हल्का हो गया।' किसने जी हल्का किया? 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' क्योंकि सत् ब्रह्म से एक हो गया था। अपने सिर की पेटी उठाकर जब रेल के लगेज में रख दोगे तो रेल के बोझ में कोई फ़र्क नहीं पड़ना है, तुम्हारा भार हल्का हो जायेगा। ऐसे ही जाग्रत् में अपने शरीर का बोझ अपने सिर पर रखे थे तो भार मालूम हो रहा था, सुषुप्ति में वह बोझ शिव पर चला गया; लेकिन शिव का बोझ नहीं बढ़ा, तुम हल्के हो गये, क्योंकि तुमने सिर का बोझ हटा दिया। इस अहं को नष्ट करने का तरीका भगवान् ने गीता में बताया और यही तरीका है। मैं के अन्दर स्थित शिव ही मैं को प्रवृत्त कर रहा है। जब यह चीज़

बैठ जाती है तो फिर सारा बोझ हल्का हो जाता है। फिर कोई बोझ नहीं है, मैं शान्ति प्राप्त करेगा, यही शान्ति को रोकने वाली चीज़ है, शिव ही अहं को शान्ति प्राप्त करायेगा।

अब इसी का दूसरा दृष्टिकोण लो : अब तक बताया कि अहं स्वयं अशांति की जाति का होने के कारण, पंचमहाभूतों का विकार होने के कारण भले ही मैं शान्ति को प्राप्त करूँगा ऐसा संकल्प कर ले, लेकिन मैं कभी शान्त नहीं हो सकता। इसलिये मैं से भिन्न जाति का शिव ही उसको शान्त करेगा। इसी प्रकार से घूस और वोट के द्वारा राजा बनने वाले से यदि आशा करो कि वह घूस और अन्य बुरी चीज़ों को ख़त्म कर सकेगा, तो नहीं कर सकता। बल्कि इस जाति से भिन्न जाति का जो तत्त्व होगा, जो इनमें विश्वास करने वाला नहीं है, वही इस राज्य व्यवस्था को नष्ट करेगा। घूस और वोट से यह राज्य-व्यवस्था नष्ट नहीं होनी है। जो उससे भिन्न जाति का शिव है, जो न घूस को मानता है, न वोट को मानता है, जो यह जानता है कि अधिकतर लोगों को मार्गदर्शन कराना पड़ता है, उनसे मार्गदर्शन लेना नहीं पड़ता, वही नियंत्रण कर सकता है। रास्ता दिखाना और है, देखना और है। यदि मूर्खों को इकट्ठा करके उनसे हम पूछें कि तुम बताओ कि लोगों को अंग्रेजी कैसे पढ़ायें? तो जब उन्हें ही नहीं आती तो कैसे बतायेंगे? जो विद्वान् है, वह मूर्खों को इकट्ठा करके कहे कि अंग्रेज़ी ऐसे बोली जाती है। यदि लड़कों के वोट से मास्टरों को बनाओगे तो अविद्या बढ़ती चली जायेगी। जितने लड़के क्लास में हैं, सब गलत बोलने वाले हैं, तभी क्लास में बैठे हैं। अब यदि मास्टर कहे कि 'जैसे कहो, वैसे इस वाक्य को बना दूँ' तो उसे स्कूल नहीं कहेंगे। ऐसे ही जो कहता है कि जनता की आवाज़ के अनुसार मैं चलूँ, जनता की बात को मैं मानूँ, वह नेता नहीं हो सकता। जो कहेगा कि मैं जनता के हितों को अच्छी तरह समझता हूँ, जनता शुरू-शुरू में उसे ग़लत समझेगी तो भी अंत में ठीक समझेगी। जैसे अहं-नाश के लिये अहं काम नहीं देगा बल्कि अहं से भिन्न जाति का शिव ही अहं को नष्ट करेगा, वैसे ही इस व्यवस्था से चलने वाला इस व्यवस्था को नहीं सुधार सकता। इससे भिन्न जाति की दृष्टि वाला ही इसमें परिवर्तन ला सकता है।

शिव तुम्हारे अहंकार को क्यों नष्ट करता है? क्योंकि वह शिव है, कल्याणकारी है, शिव को तुमसे कुछ नहीं लेना है। अहं, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि उसे कुछ नहीं दे सकते। हम लोग बड़े प्रसन्न होते हैं कि हमने परमेश्वर का पूजन किया और ऊपर से हम सोचते हैं कि हमने परमेश्वर के ऊपर कुछ उपकार कर दिया! कहते हैं कि 'हमने इतना जप किया लेकिन भगवान् ने कुछ नहीं सुना।' तुमने जप किया, भगवान् का क्या उपकार हुआ? जप करने से तुम्हारा अंतःकरण शुद्ध हो सकता है, उससे भगवान् को कुछ नहीं मिला। भगवान् को तुमसे कभी कुछ मिलने वाला नहीं है। वह केवल देने वाला है और तुम केवल लेने वाले हो। जो तुमसे कुछ लेने की इच्छा करेगा, वह कभी तुम्हारा उपकार नहीं कर सकता। वह तो उपकारी-उपकारक भाव हो जायेगा। इसी प्रकार राज्य व्यवस्था को वही सुधार सकता है जिसको इस समग्र राज्य से कुछ

नहीं लेना हो। जो स्वयं इस राज्य से आशा करेगा, वह कैसे इसको कल्याणकारी बनायेगा? वह तो अपना स्वार्थ देखेगा। शिव ही तुम्हारे अहंकार को नष्ट करेगा, बाकी सारे साधन तो अहं को पुष्ट करेंगे, नष्ट नहीं कर सकते। इस दृष्टि से हमें सर्वथा अपने आपको उस शिव के हाथ में छोड़ना है जो अहं से भिन्न जाति का है। अहं उपकार्य है (जिस पर उपकार किया जाता है) और शिव उपकारी हो गया। यह नहीं कि कभी हमने और कभी उसने हमारे ऊपर उपकार कर दिया। हम शिव पर कभी उपकार नहीं कर सकते।

अहंकार के भ्रम का एक दृष्टांत बताते हैं : एक आदमी रोज़ सत्संग में जाता था, उसकी काफी उम्र हो गई थी। महात्मा उससे कहें कि संसार के चक्कर को कुछ कम करो। वह कहे 'महाराज! क्या बताऊँ, संसार मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता लेकिन ये बाल-बच्चे हैं, इन्हें छोड़ दूँगा तो इनका क्या बनेगा?' महात्मा बार-बार समझायें कि ऐसी बात नहीं है, हर व्यक्ति स्वयं अपने ही कर्त्तव्य के द्वारा आगे और पीछे जाता है। किसी दूसरे के करने से कुछ नहीं होता 'सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।' श्रीमद्भागवत का वचन है कि सुख और दुःख देने वाला कोई 'पर' नहीं है। उस पर को चाहे किसी भी नाम से कहो, लेकिन 'पर' कुछ नहीं देने वाला है। खुद ही तुम अपने को सुख और दुःख देने वाले हो। यह कुबुद्धि है कि कोई समझता है राज्य सुख देगा, कोई समझता है पैसे वाला सुख देगा, कोई समझता है महात्मा सुख दे देंगे, कोई समझता है इस जन्म में मरकर अगले जन्म में सुख मिल जायेगा। श्रीमद्भागवतकार स्पष्ट कहते हैं कि कोई 'पर' सुख-दुःख देने वाला नहीं है। यहाँ 'पर' का नाम नहीं लिया है। जो कुछ सुख-दुःख की प्राप्ति है वह तुम्हारे अपने हाथ में है। इसलिये विचारशील अपना विश्लेषण करके सुख और दुःख को प्राप्त करने के साधन को देखता है। अविचारशील इस भरोसे बैठा रहता है कि और कोई दे देगा, और कुछ नहीं तो समय आने पर हो जायेगा, 'क्या बतायें! आज का तो युग ऐसा आ गया है। चलो, आगे जाकर समय भी बदल जायेगा।' अरे, काल जड है, वह कभी नहीं बदलता। यह कहो कि 'दस साल बाद इस काल को नष्ट कर दूँगा', लेकिन जब परिवर्तन *लाओगे,* चेतन (तुम खुद) लाने वाले हो। जो इससे भी ज़्यादा आलसी होता है वह समझता है कि भगवान् का कोई अवतार हो जायेगा, वे अपने आप सब कुछ कर लेंगे। भगवान् तो कण-कण और क्षण-क्षण में अवतार लिये हुए हैं, कौन-सा कण और क्षण ऐसा है जो परमेश्वर नहीं है? जब सर्वत्र विद्यमान है तो दूर कौन करेगा? कण-कण और क्षण-क्षण में रहने वाला वही तो दूर करने वाला है।

ऐसे ही यह कहता था कि 'बाल-बच्चे मेरे बिना क्या करेंगे?' महात्मा समझायें कि ये अपने कर्म से कर रहे हैं, तेरे से इनको मिलता है यह तेरा भ्रम है। तू अपना विचार कर। मनुष्य मोही होता है। लोग मोह को हमेशा कर्त्तव्य के नाम से रखते हैं, उसे कर्त्तव्य कहते हैं। हमारे एक बड़े अच्छे सज्जन सनातन धर्म को मानने वाले, वेदांत में श्रद्धा रखने वाले हैं। उन्होंने

धर्म के विरोधियों को मत दिया। पूछा तो उन्होंने बड़ा सुन्दर जवाब दिया कि 'क्या करें, हमारे दोस्त आ गये थे।' यह है तो दोस्ती का मोह लेकिन दिखाना चाहते हैं कि हमने दोस्ती के कर्त्तव्य को निभाया। कर्त्तव्य तो तुम्हारा धर्मनिष्ठा वाले के प्रति था, धर्म में अनिष्ठा वाले के प्रति तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं था। हमने उनसे आगे कहा कि एक बात जानते हो कि जो चोरी करने वाले को दण्ड मिलता है, चोरी करने वाले की मदद करने वाला भी उसी दण्ड का भागी होता है? उसी प्रकार से आगे वह व्यक्ति जितने अधर्म के नियम बनायेगा, उसके पाप का फल तुमको भी मिलने वाला है, यह निश्चित समझना, तुम इससे नहीं बच सकते। लेकिन तुम्हारा मोह जो उनके साथ ताश के पत्ते खेलने का है, उसके लिये तुम कहते हो कि दोस्ती का कर्त्तव्य निभाया। मोह को कर्त्तव्य का नाम देते हो। महात्मा ने उसे तरह-तरह से समझाया लेकिन उसको बात नहीं जँची।

अंत में महात्मा ने कहा कि तू एक काम कर, साल भर के लिये चला जा और देख कि ये तेरे बिना कैसे करते हैं। वह मान गया और चला गया। उसने घर में कहा तो घरवाली ने पहले तो मना किया। जिस गाय का रोज़ दूध दुहो, यदि एक दिन गाय का बछड़ा दूध पी ले तो सब के सब नाराज होते हैं, सहन नहीं होता। ऐसे ही चाहे घरवालों को बीस साल तक रोज़ दो समय रोटी बनाकर खिलाते रहो और एक दिन कहो कि 'आज तुझे बहन के यहाँ जाना है, तुम अपने हाथ से बनाकर खा लेना', देखो कैसे गुस्सा होता है! एक दिन भी दुहना छोड़ने वाले नहीं हैं। उसी दिन सारे कर्त्तव्यों की गड्डी रख देते हैं कि पत्नी का, माँ का क्या-क्या कर्त्तव्य है, सारे कर्त्तव्य उस दिन सुनायेंगे। पहले तो घर वालों को विरोध करना ही हुआ कि 'नहीं जाने देंगे, हमको छोड़कर कैसे जाओगे?' उसने कहा कि अब तो मैंने निश्चय कर लिया है, इसलिये जाने दो, साल भर बाद फिर तुम्हारा पशु बनकर आ जाऊँगा। वह तीर्थयात्रा में चला गया।

एक दिन महात्मा बड़े दुःखी होकर आँखों में पानी भरकर उसके घर आये और घर वालों से कहा 'गजब हो गया, मेरा चेला प्रयाग में ज़ोर की बाढ़ के प्रवाह में डूब गया। लेकिन क्या किया जाये! मृत्यु पर तो किसी का ज़ोर नहीं है।' घर वालों ने तेरहवाँ आदि जो कुछ करना था, कर-करा दिया। सोलहवें दिन पाग बाँधते हैं, उस दिन महात्मा ने सत्संग में आने वाले सब प्रतिष्ठित लोगों से कहा कि 'वह मेरी आज्ञा मानकर गया था इसलिये इसके बच्चों को कोई कष्ट न हो, यह आप ही लोगों के ऊपर है, इनकी कुछ व्यवस्था होनी चाहिये।' उनके बड़े अच्छे-अच्छे सत्संगी थे। किसी ने दो मन अनाज, किसी ने दो मन दाल दे दी, किसी ने कहा 'मेरी सब्जी की दुकान है, सवेरे रोज ले जाया करें।' घी वाले ने घी का इंतजाम कर दिया। सब लोगों ने थोड़ा-थोड़ा इंतजाम किया तो हो गया। महात्मा प्रसन्न होकर चले गये, भक्तों से कहा कि 'तुम लोगों ने मेरी बात रख ली, नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होता।'

चार-पाँच महीने और बीत गये। फिर कुछ दिन बाद महात्मा उसके घर आये और उसकी

घरवाली से कहा कि 'तेरे पति का दिल तेरे में बड़ा अटका हुआ है।' वह फिर रोने लगी, फिर याद आ गया। महात्मा ने कहा 'तेरा उससे बड़ा प्रेम था, उस प्रेम के कारण इतना सत्संग करने के बाद भी उसकी सद्गति नहीं हो पाई। सद्गति न होने से उसकी प्रेत योनि हो गई।' घरवाली बड़ी दुःखी हुई। कहा 'कोई उपाय कराइये।' महात्मा ने कहा 'वह तो मैं कर ही रहा हूँ लेकिन वह प्रेत हो गया है, हो सकता है किसी काल में तुम्हारे घर में आ जाये। जब तुम्हारे घर में आयेगा तो मोह के कारण तुम्हारे घर का नुक्सान भी कर सकता है, बच्चे भी डर सकते हैं।' घरवाली के कहा कि 'वह सावधानी मैं रखूँगी।' उसे तीर्थयात्रा को गये हुए साढ़े ग्यारह महीने हो चुके थे। एक दिन महात्मा ने आकर कहा कि 'मैंने बड़ा प्रयोग किया लेकिन उसकी प्रेत अवस्था बहुत तीव्र हो गई है, मुक्त तो मैं उसे कर दूँगा, लेकिन फिर भी तीव्र अवस्था में आकर यहाँ आ ही जाये तो बड़ी सावधान रहना, किसी भी हालत में घर में नहीं घुसने देना।' बच्चे भी वहाँ बैठे थे, कहने लगे 'कोई बात नहीं हम नहीं आने देंगे।' महात्मा ने एक मंत्र बता दिया कि इसका जप करोगे तो नहीं भी आयेगा।

वह बेचारा तीर्थयात्रा करके पहले सीधा गुरुजी के यहाँ पहुँचा। गुरुजी बड़े प्रेम से मिले और कहा कि 'अभी घर नहीं जाना, इस समय प्रवेश करना हानिकर है। रात्रि के साढ़े ग्यारह बजे जाना।' वह मान गया। ग्यारह बजे तो पूछा 'अब जाऊँ?' एक बार तो महात्मा ने कहा कि सवेरे चले जाना। उसने सोचा 'बाबा जी हैं, इन्हें क्या पता घर जाकर बच्चों से मीठी बातें करूँगा!' कहने लगा 'अब तो जाऊँगा।' साढ़े ग्यारह बजे घर पहुँचा और नीचे से आवाज़ दी, 'भली मानस! दरवाज़ा खोल, मैं आ गया।' बच्चों को भी बुलाया। सब कहने लगे 'महात्मा की बात सच्ची निकली।' पत्नी कहने लगी 'सीधे-सीधे यहाँ से चले जाओ, हमें गुरु जी ने सब बता रखा है, अब हम तुम्हें इस घर में नहीं घुसने देंगे।' कहता है 'मेरी पत्नी होकर क्या अण्ड-बण्ड बोल रही है।' पत्नी कहती है 'मैं ठीक ही कहती हूँ, ज़्यादा कहोगे तो ये लड़के रोड़े लिये बैठे हैं। इसलिये खुद ही चले जाओ।' कहने लगा 'मैं अपने घर में ही नहीं आ सकता?' कहा 'तू तो मर गया है, नहीं मरा होता तो दिन में आता। रात में कोई भला आदमी अंधकार में घर आता है?' उसने तरह-तरह से समझाया लेकिन वह तो पक्के गुरु की चेली थी। लड़कों ने पत्थर मारने शुरू किये। सोचा क्या किया जाये। कहने लगा 'कुछ करके मानेगी?' उसने कहा कि 'पहले तो मुझे निश्चित पता है कि तू मरा है। लेकिन सच्ची बात है कि अब यदि तू ज़िन्दा हो, तो भी मैं तेरे को अन्दर लाने वाली नहीं हूँ। जब तू था, किसी दिन चावल था तो दाल नहीं थी, रोटी थी तो साग नहीं और साग था तो रोटी न थी। होली, दीवाली पर भी कहता था कि तेल में ही पूरी निकालो।' कहने लगा 'अब तो भूखे मर रहे होगे!' कहा 'नहीं, अब तो सब बढ़िया हो रहा है। अब तो साल भर का चावल गेहूँ और दाल इकट्ठी आ जाती है। सारे जन्म का बढ़िया इंतजाम हो गया है। पहली बात तो यह है कि तू मरा है, यदि ज़िन्दा भी हो तो यहाँ से

चला जा, तेरे जाने के बाद हमारा सब काम बढ़िया हो गया।' कहा 'यह कैसे हो गया?' उसने कहा 'सीधी-सी बात है कि पहले तो व्यष्टि तू तेरा बोझ ढोता था और अब समष्टि (सारे गाँव वाले) हमारा बोझ ढोते हैं।' बेचारा दो बजे रात गुरुजी के पास वापिस आया। गुरुजी ने कहा 'मैंने तो पहले ही कहा था कि रुक कर जाना। बता, बात क्या हुई?' कहने लगा 'मेरा यह भ्रम नष्ट हो गया कि मैं चलाने वाला हूँ।' गुरु जी ने पूछा, अब क्या करेगा? कहा 'अब तो मैं भगवान् के भजन के लिये जंगल में रहूँगा।' यह अहंकार का भ्रम केवल भ्रम ही है कि मेरे कारण चलता है, सिवाय भ्रम के और कुछ नहीं है। इन सबका जो अधिष्ठान है, वही शिव है, वही यहाँ मंच माना गया है।

## प्रवचन-१६

७–४–७२

भगवती के स्वरूप का और उसकी उपलब्धि के स्थान का निर्देश किया। यद्यपि वह सर्वव्यापक है, फिर भी उसके अन्दर शिवरूपता कैसे बनती है  यह दृष्टांत से बताया कि घड़े के अन्दर का आकाश, घड़े के बाहर का आकाश और घट स्वयं; इसमें जहाँ घट है वहाँ शिवरूपता कल बतायी। बाकी के दो को बताने के लिये उसको पर्यंक कहा। परमशिव ही पर्यंक है। शिव का स्वरूप बताया कि घट का जैसे अधिष्ठानरूप आकाश, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार का जो अधिष्ठान है, वह शिव है। परमशिव का स्वरूप बताते हुए कहा कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार का अधिष्ठान शिव है और आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सारे जगत् का अधिष्ठान परमशिव है। यह घट के बाहर का आकाश महाकाश हुआ अर्थात् जैसे घड़े के बाहर का महाकाश सर्वव्यापक है, वैसे ही शरीर आदि की उपाधि से बाहर वाला जितना है, वह सारा का सारा परमशिव है। वही उसका अधिष्ठान है। यहाँ आकाश से पृथ्वी तक कहने मात्र से ही काम चल जाता, फिर 'सारे जगत् को' क्यों कहा? आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तो सारा जगत् बताया लेकिन चेतन जगत् का अधिष्ठान भी तो अपेक्षित है। आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जड जगत् का संग्रह हुआ, लेकिन चेतन जगत् का संग्रह नहीं हुआ। वेदांत सिद्धान्त कहता है कि जहाँ-जहाँ उपाधि रूप से जड है, वहाँ-वहाँ उपाधि वाला उपहित रूप से चेतन अवश्य है। यह सिद्धान्त रट कर रखना क्योंकि हमारी सारी धार्मिक परम्परा का मूल आधार यह है। इसको यदि याद नहीं रखोगे तो अपनी सारी धार्मिक परम्पराओं का स्वरूप समझ में नहीं आयेगा। दूसरी बात, यह सनातन धर्म की एक विलक्षण अनुभूति है। तीन चीज़ें ऐसी हैं जो सिवाय सनातन धर्म के और कहीं मिलने वाली नहीं हैं। पहली चीज़ है कि जो सर्वव्यापक तत्त्व है, वही ईश्वर है। समिष्ट ही ईश्वर है। संसार का कोई भी मत-मतांतर यह मानने वाला नहीं है। सभी या तो ईश्वर को मानते नहीं हैं या एकदेशीय मानते हैं। कोई उसे दाढ़ी वाला और कोई उसे नूर मानता है लेकिन मानते एकदेशीय हैं। हर कण और क्षण के अन्दर व्यापक ईश्वर को मानना सनातन धर्म की विशेषता है। दूसरी चीज़, जगत् और परमेश्वर में अत्यंत भेद को न मानना है। यह भी संसार के कोई मत-मतांतर वाले नहीं मानते। अज्ञान (अविद्या) की दृष्टि से जहाँ संसार दीखता है, ज्ञान (विद्या) की दृष्टि से वहीं ईश्वर है। यह संसार का कोई और वादी नहीं मानता। तीसरी चीज़, जहाँ-जहाँ जड है, उसके पीछे वहीं-वहीं उपहित रूप से चेतन है। ये सभी सूत्र याद रखने के लिये हैं। कई बार लोग पूछते हैं और कह भी देते हैं कि सभी धर्मों में एक ही बात कही है; लेकिन एक ही बात नहीं कही है, मूलगत सिद्धान्तभेद है। जहाँ जड है, वहाँ चेतन उपहित रूप से अवश्य है। यदि वहाँ जड हो और चेतन न हो तो उस जड को सिद्ध

कौन करेगा? उल्टा, उस जड का कल्पक चेतन पहले है, तभी तो वह जड की कल्पना कर रहा है। जो आदमी छाती ठोक कर कहता है कि 'मैं बड़ा मूर्ख, बड़ा अज्ञानी, बड़ा गया-बीता हूँ', उसको सनातनधर्मी हाथ जोड़कर कहता है कि तू तो बड़ा ज्ञानी है! मैं अज्ञानी हूँ इस बात का तेरे को ज्ञान है, तभी कह रहा है या बिना ज्ञान के कह रहा है? वह कहेगा कि 'मैं अज्ञानी हूँ, इस बात का मुझे ज्ञान है।' जिस व्यक्ति ने यह जान लिया कि 'मैं अज्ञानी हूँ' उसके तो पैर छूने चाहिये क्योंकि संसार में रोग ही यह है कि सारे के सारे ज्ञानी हैं। अपने अज्ञान का जिसको ज्ञान है, उससे बड़ा और कोई ज्ञानी नहीं हो सकता है। इसलिये वह तो महाज्ञानी है। इस प्रकार से 'मैं अज्ञानी हूँ' इसको सिद्ध करने के लिये ज्ञानी बनना पड़ेगा।

लोग कहते हैं कि हम बड़े पापी हैं। विचार करो, यदि वह पुण्यात्मा न होता तो उसे भी बोध न होता कि 'मैं पापी हूँ।' पापी तो मूछों पर ताव देकर कहता है कि 'मैंने ग़लती ही कौन-सी की है!' पुण्यात्मा कहता है 'क्या बताऊँ, स्वामी जी, आजकल मन मानता नहीं, इसलिये अपना काम बनाने के लिये घूस देते हैं, क्या करें! इस लोभ के कारण कर की चोरी कर लेते हैं।' पापात्मा कहेगा कि 'घूस देने में बुराई क्या है, उसका भी बेचारे का फ़ायदा होता है। हम तो लोगों को विश्व-कल्याण के लिये घूस देते हैं।' चोर बाज़ारी करने वाला कहेगा कि 'हमने कर की चोरी की, इसमें क्या है! यह तो व्यवहार का चक्र है, ऐसे ही चलता है, स्वामी जी! इसमें क्या बुराई है?' पाप करके उसको पापरूप से समझना भी पुण्य की एक दृष्टि है। जिसमें पुण्य के संस्कार नहीं होते उसको जब कहा जाता है कि तुमने ग़लती की तो वह मानता ही नहीं है। लड़के को यदि कहते हो कि बेटा तूने यह ग़लती कर दी तो जानने वाला कहता है 'हाँ पिता जी ग़लती हो गई।' जिसको पता ही नहीं चलता, वह कहता है इसमें कौन-सी ग़लती है?' तब कहो तुम्हारा वर्ण विन्यास (स्पैलिंग) ग़लत है। फिर भी कहेगा कि 'वर्ण-विन्यास में कौन-सी गलती है?' फिर कहो इसमें 'ए' की मात्रा की जगह 'ऐ' की मात्रा लगा दी। तब कहेगा कि जल्दी में लग गई। वह तो कभी मानेगा ही नहीं कि मेरे से ग़लती हुई। 'मैं रास्ते को न देखकर मकान को देख रहा था' यह कोई नहीं कहता। कहता है कि 'केले का छिलका पड़ा था, पैर फिसल गया।' मैं ऊपर देखने की ग़लती कर रहा था यह नहीं कहेगा।

जब मनुष्य कहता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ' तो वह ज्ञान को बताता है। जब कहता है कि 'मैं पापी हूँ' तो पुण्य को बताता है। उसी प्रकार से जहाँ से तुमको संदेश मिलता है कि यह जड है, वह जड ही यह संदेश देता है कि वहाँ चेतन है। वेदांत कहता है कि जहाँ जड है, वहीं उपहितरूप से चेतन है और सच्ची बात तो यह है कि जड की कल्पना करने वाला चेतन पहले है, तब जड है। हमारी सारी धर्म-पद्धति का मूल यह है। नहीं तो लोग शंका करते हैं कि हिन्दू तो सब चीज़ों की पूजा करते हैं! मकान की पूजा करेंगे; हर संकल्प में बोलेंगे 'गृहदेवतायै नमः' 'ग्रामदेवतायै नमः' 'स्थानदेवतायै नमः'। कोई शुभ कर्म करते हैं तो कहते हैं कि इस गाँव के अधिष्ठाता देवता

को, स्थान के, मकान के, इस क्षेत्र के देवता को नमस्कार है। इसलिये लोग कहते हैं कि हिन्दू का क्या ठिकाना, यह तो सब जगह नमस्कार करता है। आधारभूत दृष्टि यह है कि चेतन को नमस्कार करता है, जड को नहीं। लेकिन जहाँ जड (उपाधि) की प्रतीति होती है, वहीं तो उपहित चेतन समाने आता है। जो इस तत्त्व को जानता है, वह तो हिन्दू की सारी पूजा-पद्धति को समझता है और नहीं तो लोग मुसलमान और ईसाइयों की नकल करके कहते हैं कि उनके यहाँ एक अल्लाह या गॉड है और हमारे यहाँ बहुत-से देवता है! हम कहते हैं कि उनके यहाँ एक अल्लाह है, इसलिये उस अल्लाह से भिन्न बाकी सब चीज़ें हैं और हमारे यहाँ एक शिव से अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो हम एक देववादी हुए या वे हुए? उनका अल्लाह बाकी सब देवताओं से बड़ा है। इसलिये बाकी सबको मानो, संसार को मानो, जीव को मानो। लेकिन वह अल्लाह कण-कण, क्षण-क्षण में नहीं है। लेकिन ब्रह्म कण-कण और क्षण-क्षण में है। यह दृष्टि का आधारभूत भेद है। आकाश से लेकर धरित्री पर्यन्त कहने से कहीं चेतन अंश को न भूल जायें, इसलिये कहा सारे जगत् का भी कथन किया। गम् धातु से जगत् शब्द की व्युत्पति है 'गच्छति इति जगत्'। चलने वाला चेतन हुआ करता है। जड कभी नहीं चलता, जड चलाया जाता है। यह जड और चेतन में फ़र्क है। यहाँ कोई बैठा हुआ है और एक घंटे बाद वह यहाँ से दूसरे कोने में बैठा हुआ दीखता है तो प्रश्न उठता है कि उधर क्यों गया? यह नहीं कहते कि उधर क्यों उठाकर ले गये? और यदि यह ध्वनि-प्रसारक यंत्र लगा हुआ है और घंटे भर में उस कोने में चला जाये तो पूछोगे कि इसे वहाँ कौन ले गया? चाहे बड़े ज़ोर से हवाई जहाज चले, लेकिन हवाई जहाज नहीं चलता है, चलाया जाता है। और चाहे चींटी धीरे-धीरे चले लेकिन चलती है, चलानी नहीं पड़ती। जो निरंतर चल रहा है वह जगत् है।

इस सारे जगत् का जो अधिष्ठान है, उसको वेदांत में परमशिव कहा जाता है। देह, इन्द्रिय आदि का जो अधिष्ठान है वह शिव और बाकी सारे जगत् का अधिष्ठान परमशिव है। 'परमशिवपर्यंकनिलयाम्' शिव उसका मंच और परमशिव पर्यंक हो गया। पर्यंक परितः अंके इति पर्यंकम्' किसी को गोद में बिठा लो और चारों तरफ से हाथ के द्वारा भी उसको आलिंगित कर लो तो उसे पर्यंक कहेंगे। इसीलिये गद्दी, तकिया आदि को भी पर्यंक कहते हैं क्योंकि तुम उस गद्दे की गोद में भी हो और जब लेट गये तो वह दोनों तरफ से तुम्हारे साथ लिपट जाता है। गर्मी को नहीं, सर्दी को याद करो। बढ़िया गद्दे पर सोते हैं तो गद्दा क्या करता है, कभी ध्यान दिया? गद्दा दोनों तरफ से तुम्हारे साथ लिपट जाता है। जैसे ही बिछौने में सोये कि गद्दा दोनों तरफ से उठकर तुम्हारी तरफ हो जाता है। लेकिन मंच अर्थात् खटिया पर, ऐसे ही यदि नीचे कड़ा मामला हो, तो नहीं। जब खटिया पर बढ़िया सुन्दर तल्प पर सोते हो तो वह तुम्हें लिपटाने के लिये दोनों तरफ से उठ जाता है। इसीलिये उसे पर्यंक कहा। 'परमशिवपर्यंक' अर्थात् आकाश से धरित्री पर्यन्त जो सारे जगत् का अधिष्ठान है, उस अधिष्ठान के ऊपर ही वह

चिदानंदरूपिणी है और वह दोनों तरफ से उसको घेर लेता है। यह थोड़ा-सा कठिन विषय है, ध्यान से समझ में आयेगा। चेतन और जड के अन्दर दो प्रकार से अध्यास है। चेतन के ऊपर जड अधिष्ठित है और उस जड के ऊपर फिर चेतन अधिष्ठित है। आत्मा के ऊपर तो अहंकार का अध्यास क्योंकि बिना चेतन के अहंकार कहाँ रहता है, लेकिन उस अहंकार में फिर चेतन का अध्यास है। 'मैं' के अधिष्ठान रूप से एक चेतन लेकिन 'मैं' के ऊपर अध्यस्त भी एक चेतन है। 'मैं मनुष्य हूँ, मैं चेतन मनुष्य हूँ', यह जो मनुष्य भाव के अन्दर चेतनता का अध्यास है, यहाँ चेतन भी अध्यस्त है। परमशिव अधिष्ठान हुआ, उसके ऊपर जडरूपता का अध्यास हो जाता है और उसमें फिर चेतन का अध्यास हो जाता है। परमशिव के अन्दर अध्यास हुआ 'अहं'। मैं में फिर चेतन का अध्यास, और अहंकार विशिष्ट चेतन में फिर मन का अध्यास। कहते हैं कि 'आज मेरा मन नहीं लग रहा है।' उस मन में फिर दूसरे चेतन का अध्यास कि 'मैं दुर्मना हूँ।' चेतन में अहंकार का अध्यास, अहंकार में चिदाभास का अध्यास, चिदाभास में पुनः अंतःकरण का अध्यास, अंतःकरण-विशिष्ट चेतन में फिर प्राण का अध्यास कि 'मैं भूखा हूँ।' उसके अन्दर फिर चेतन का अध्यास, शरीर का अध्यास; यह क्रम कहाँ तक जाता है, इसकी कोई सीमा नहीं है। शरीर के आगे बहुत से लोग धन में अध्यास कर लेते हैं। किसी की दो लाख की चोरी हो जाती है तो आते ही कहता है कि 'मैं तो आज मारा गया।' हम उसे ऊपर-नीचे देखते हैं कि गजब हो गया, यह बोल रहा है; मर गया, तो कोई भूत-प्रेत होकर आया होगा! ॐ नमः शिवाय का जप करो, कहीं सिर पर न चढ़ जाये। मर गया अर्थात् उसका अध्यास अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश को पार करके तिज़ोरी में रखे धन तक पहुँच गया, उसको भी अपने में अध्यस्त कर रखा है। पुत्र में अध्यास होता है। लड़का मर जाता है तो कहता है 'मैं मर गया।' पति मर जाता है तो कहती है 'मैं मर गई।' अध्यास की कोई सीमा नहीं है, लेकिन बढ़ता जाता है। बढ़ते-बढ़ते यह अध्यास रि श्तेदारों में, गाँव में, देश में चला गया। अपने अनुभव की बात बताते हैं : अमरीका में कैनेडी नाम का कोई राष्ट्रपति था। उसको किसी ने गोली मार दी। वह सब जातियों को एक करने का प्रयत्न कर रहा था। वह कहता था कि 'मैं सब जातिवालों को एक कर दूँगा' पर वहाँ के लोग उसे मानने को तैयार नहीं थे तो किसी ने उसे गोली मार दी। हिन्दुस्तान में एक ब्राह्मण की लड़की यहाँ जप करने लगी कि वह बच जाये! न उसने कभी कैनेडी को देखा, न उसके सिद्धान्तों का उसे पता है लेकिन उसने जप शुरू कर दिया। जब कैनेडी मरा तो सोचती है कि 'हाय! आज मानवता मर गई।' अध्यासों की कोई सीमा नहीं है। एक को दूसरे में, दूसरे को तीसरे में बढ़ाते चले जाओ, यह एक-दूसरे के अन्दर अध्यासों का परिवर्धन हो गया। चेतन का जो अध्यास हुआ, वह चेतन फिर जड में, जड फिर चेतन में अध्यस्त हो जाता है। इसलिये उसे पर्यंक कहा। वह भगवती परमशिव (अधिष्ठान) की गोद में और उस अधिष्ठान में जो अध्यस्त है, उसका भी हाथ उसके चारों तरफ

अर्थात् चित् से अध्यस्त की गोद में भी आ गया और अधिष्ठान की गोद में तो है ही।

किसी को शंका होगी कि फिर तो परमशिव मायने चित् (अधिष्ठान) और चैतन्य इन दोनों में क्या कोई भेद है? क्योंकि एक वह हुआ जो पर्यंक के ऊपर और दूसरा पर्यंक हुआ। किंतु यहाँ अभेद में भेदवत् प्रयोग है। वस्तुतः परमशिव (अधिष्ठान) में और चिदानन्द में कोई फ़र्क नहीं है लेकिन जब तक तुम्हारे दिमाग में अध्यास है, तब तक उसका नाम अधिष्ठान और जब तुम्हारे दिमाग में अध्यास नहीं, तब उसका नाम चिदानन्द है। यह कैसा होता है? मान लो तुम यहाँ पहुँचे। तुम्हारी पत्नी को हृदय की बीमारी है, वह चल नहीं सकती। इसलिये तुमने कहा कि 'तुम आश्रम में बैठो, मैं टैक्सी ले आता हूँ। तुम्हें बिठाकर ले जाऊँगा।' तुम टैक्सी स्टैण्ड पर पहुँचे और टैक्सी वाले से कहा कि आश्रम चलो। उसे पता नहीं कि आश्रम किधर है। उसने पूछा तो तुमने कहा कि श्री राम रोड पर है। जब वह टैक्सी लाया तो तुमने सामने ही टैक्सी खड़ी कर दी। वह कहता है 'यह रिंग रोड या बेलारोड है, श्रीराम रोड नहीं है।' तुमने कहा 'आश्रम एक ही है, इधर से रिंग रोड और उधर से श्री राम रोड है।' तुमने श्री राम रोड क्यों बताया? इसलिये कि उसे झट ज्ञान हो जायेगा कि कहाँ चलना है, 'रिंग रोड पर' कहते तो सारी दिल्ली के चक्कर में उसे पता ही नहीं चलता कि कहाँ जाना है। इसी प्रकार चिदानंद और परमशिव दोनों एक ही हैं। अध्यस्त के अधिष्ठानरूप से बतायेंगे तो तुम्हें झट उसका बोध होगा। यदि अध्यस्त के अधिष्ठान रूप से नहीं बतायेंगे, केवल चिदानंद कहेंगे तो तुम समझोगे नहीं। जब कहते हैं कि 'यह जो जगत् दीख रहा है, इसका जो अधिष्ठान है,' तब समझते हो क्योंकि जहाँ दीख रहा है वहाँ अधिष्ठान का बोध हो गया। परमशिव और चिदानंद के अन्दर भी भेद है। एक अधिष्ठान रूप से है और दूसरा जहाँ अध्यस्त भी नहीं और अधिष्ठान भी नहीं है। इनमें जो भेद का आभास या प्रतीति होती है, वह भी एक तरह की भ्रान्ति है। उस भ्रान्ति के कारण हमारा काम बन जाता है क्योंकि जब हम उपदेश करेंगे, चाहे ध्यान के लिये, चाहे ज्ञान के लिये, तब हमें अधिष्ठानरूपता बतानी पड़ेगी, किसी-न-किसी अध्यस्त को सामने रखेंगे तभी अधिष्ठानरूपता बतायेंगे। जब हम कहते हैं कि तुम ब्रह्म हो तो यहाँ 'तुम' एक अध्यास है। जब कहते हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', उस समय जगत् अध्यास है। किसी-न-किसी अध्यास को लेकर ही उसे अधिष्ठानरूप बतायेंगे।

सारे ध्यान और ज्ञान के लिये यह फ़र्क समझ लेना। ध्यान के लिये जो अध्यास बतायेंगे, वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है और ज्ञान के लिये जो अध्यास बतायेंगे, वह 'अहं ब्रह्मास्मि' है। ध्येय ब्रह्म अहं से भिन्न होगा, ज्ञेय ब्रह्म अहं से अभिन्न होगा। ज्ञान के लिये मैं-रूपी उपाधि को और ध्यान के लिये बाकी किसी भी चीज़ को पकड़ सकते हो। इसीलिये 'अहं ब्रह्म' यह मुख्य समानाधिकरण है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में बाध समानाधिकरण है। दो भेद माने गये कि एक ध्येय ब्रह्म और दूसरा ज्ञेय ब्रह्म है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ध्यान या जप का विषय नहीं है और न यह

ध्यान ही बनता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह तो ज्ञेय है अर्थात् प्रमाण, श्रुति-वाक्य से यह ज्ञान उत्पन्न होता है।

अहं तो साक्षात् अपरोक्ष है, उसका ध्यान क्या करोगे! ध्यान उसका किया जाता है जो सामने न हो। लोक में भी तो ऐसा ही है। पुत्र का ध्यान तब आता है जब सामने न बैठा हो, सामने हो तो ध्यान नहीं आयेगा। ऐसे ही क्या कोई काल ऐसा है जब मैं के अन्दर चेतन का स्पष्ट भान न हो या 'मैं चेतन हूँ' इसका पता न हो? जब चेतन का स्पष्ट भान है तो ध्यान क्या करें? वहाँ तो साक्षात् चेतन दीख रहा है। मैं से बाहर जितना जगत् है वहाँ साक्षात् अपरोक्ष नहीं, इन्द्रिय मन के द्वारा दीख रहा है। इसलिये वहाँ ब्रह्म की भावना अर्थात् ब्रह्म का ध्यान करना पड़ेगा। सामने विष्णु भगवान् खड़े हों तो ध्यान नहीं करोगे। सामने मूर्ति होगी तो ध्यान करोगे, बार-बार यह भावना करोगे कि 'ये विष्णु भगवान् हैं।' इसीलिये ज्ञानी और ध्यानी के व्यवहार में बड़ा फ़र्क होता है। ध्यानी को तो हर समय मन के ऊपर नियंत्रण रखना पड़ता है कि कहीं ब्रह्म हाथ से छूट न जाये। ज्ञानी को यह नहीं करना पड़ता क्योंकि उसको साक्षात् अपरोक्ष दीख रहा है। ध्येय ब्रह्म वह जिसका बाध किया जाये। ज्ञेय ब्रह्म वह जहाँ मुख्य समानाधिकरणता है।

ध्येय और ज्ञेय ब्रह्म, दोनों का अनुभव होता है तो उसका क्या स्वरूप बनता है? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः। मया यस्मात् प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो ह्यहम्'।। चिन्मात्र ज्योति के द्वारा सारे शरीरों में रहने वाली सारी बुद्धियों को जो ज्योति प्रकाशित करती है, वह चिन्मात्र ज्योति मैं हूँ। चूँकि सारी बुद्धियों के अन्दर चिन्मात्र ज्योति रूप से मैं उनका प्रकाश करता हूँ, इसलिये मैं ही सबक आत्मा हूँ।

तुम्हें स्वप्न दीखता है। स्वप्न में जो तुम्हारी इन्द्रिय है वह भी तुम ही हो। ऐसा नहीं कि उठकर कहो कि स्वप्न तो देखा लेकिन चश्मा पहनना भूल गया था, इसलिये धुंधला दीखा! यह आँख तो वहाँ नहीं गई, यह निश्चित है क्योंकि बिना चश्मे के सब दीखता रहा। उसी प्रकार वहाँ, जो कर्म किया और स्वप्न की क्रियाओं का फल, सारे के सारे मुझ से अभिन्न थे। ठीक इसी प्रकार से जाग्रत् के अन्दर दीखने वाला यह सारा-का-सारा प्रपंच मेरे से सर्वथा अभिन्न है। जैसे स्वप्न के अन्दर दीखने वाला स्वप्न प्रपंच मेरे मन से भिन्न नहीं, वैसे ही जाग्रत् में दीखने वाला प्रपंच मेरी आत्मा से भिन्न नहीं है। इसमें बड़ी हिम्मत करने की ज़रूरत है। आदमी घबरा जाता है। सबका आत्मा परमात्मा है, यहाँ तक तो हिम्मत की ज़रूरत नहीं है क्योंकि लगता है कि परमात्मा कोई होता होगा जो सबमें रहता होगा। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि सबके अन्दर रहने वाला आत्मा मैं हूँ। प्राणिमात्र के दुःख से दुःखी मैं होता हूँ। जैसे मेरी अपने शरीर के दुःख को दूर करने के लिये प्रवृत्ति होती है, वैसे ही प्राणिमात्र के दुःख को दूर करने के लिये

भी प्रवृत्ति मैं करूँगा। और लोग क्या चाहते हैं? चाहते हैं कि हाथ चिटका कर दूर हो जायें। कहते हैं 'भाई, मैं तो ब्रह्म हूँ, इसलिये यदि प्राणिमात्र दुःखी है तो उसकी किस्मत, मैं तो ब्रह्म हो गया।' यह वेदांत नहीं है। प्राणिमात्र के हृदय में मैं ही आत्मरूप से हूँ। इसलिये छोटी-से-छोटी चींटी पर्यन्त के दुःख को निवृत्त करने के लिये मैं ही प्रयत्नशील बनूँगा। इसी प्रकार इन्द्र, वरुण, यम आदि के अन्दर जो सुख हो रहा है, उस सुख का अनुभव भी मैं कर रहा हूँ। जब मैं अपने लड़के को पैसा कमाकर दूँ और उससे वह लड़का जाकर कपड़ा खरीदे तो क्या मुझे उस लड़के से ईर्ष्या होगी? नहीं होगी क्योंकि मैंने ही उसे पैसा दिया। उल्टा प्रसन्नता होगी। इसी प्रकार से इन्द्र, वरुण, यम आदि देहों के अन्दर जो सुख हो रहा है, उस सुख को देने वाला मैं हूँ तो उन्हें देखकर मुझे ईर्ष्या नहीं होगी। जब इन्द्र, वरुण, यम आदि से ईर्ष्या नहीं तो आज के इन साधारण बेचारे लोहे के टुकड़ों के मोटर नामक पदार्थ को लेकर घूमने वाले लोगों से क्या मुझे ईर्ष्या होगी! ये बेचारे कागज के गट्ठर लेकर इधर-उधर घूमते हैं तो इनसे मुझे ईर्ष्या नहीं होगी। प्राणिमात्र के दुःख को दूर करने वाला मैं हूँ, जहाँ-जहाँ सुख-दुःख होता है, उसका कारण भी मैं हूँ, इसलिये ईर्ष्या कहीं नहीं और दुःख-निवृत्ति के लिये सर्वत्र प्रयत्न है। अपने शरीर में जब सुख होता है तो हमें कोई ईर्ष्या नहीं और शरीर के दुःख को दूर करने के लिये निरंतर प्रवृत्ति है।

आधुनिक पाश्चात्य देशों के जितने मीमांसक हैं, वे एकांगी हैं। जो अपने को समाजवादी, साम्यवादी कहते हैं वे तो ईर्ष्या से परेशान हैं। वे कहते हैं कि सबका दुःख दूर करो, किसी के पास ज़्यादा सुख क्यों? दुःख दूर करने में उनकी प्रवृत्ति तो ठीक है लेकिन साथ में इतनी ईर्ष्या क्यों? दूसरी तरफ, अमरीका इत्यादि वाले पूँजीवादी हैं। वे दूसरे से ईर्ष्या पर ज़ोर नहीं देते लेकिन किसी के दुःख की निवृत्ति के लिये उनका कोई प्रयत्न नहीं है। उसे अपना पैसा बढ़ाना है। 'फ्री एण्टरप्राइज़' अर्थात् सबको छुट्टी है, जो मर्ज़ी सो करो। हमारे यहाँ भी ऐसा होता है। जब बहू को आये साल-दो साल हो जाते हैं तो सारे रुपये, सारे गहने और सारे घी के डिब्बों का माल, सारे कोठार और तिजोरी बंद करके चाबी सास के पास रहती है और सास कहती है कि 'मैंने बहू को पूरी स्वतंत्रता दे रखी है, वही सारे घर का काम चलाये, मैं बोलती नहीं हूँ।' सारा अधिकार तुम्हारा, हमने तो केवल दो चाबियाँ अपने पास रख छोड़ी हैं! ऐसे ही आदमियों का सारा व्यापार लड़का ही करता है। वे तो चैक पर हस्ताक्षर करते हैं। वह लड़का क्या सम्हाले, जब चैक पर हस्ताक्षर तुम्हारे चलने हैं। इसी प्रकार 'फ्री एण्टरप्राइज़' का मतलब है कि जिसने धन बटोर कर रख लिया सो रख लिया, तुम मुक्त हो, जो मर्ज़ी सो करो, हम कोई रुकावट नहीं करते। एक तरफ ईर्ष्या पर ज़ोर है और दूसरी तरफ केवल यह कहना है कि हम तुम्हारे दुःख को दूर नहीं करेंगे, तुम अपना दुःख खुद दूर करो। वेदांत कहता है कि ये दोनों दृष्टिकोण गलत

हैं। जिस प्राणी को सुख है, उसको भी सुख हमने दिया है, उससे कोई ईर्ष्या नहीं और जिसे दुःख है, उसके दुःख को भी मुझे ही दूर करना है। मेरे सिवाय और कौन उसके दुःख को दूर करने वाला है। जैसे-जैसे यह दृष्टि होती चली जाती है, वैसे-वैसे परमशिव के पर्यंक का, अधिष्ठान का (पलंग) स्फुट बोध होता जाता है। कैसे स्फुट होता है? इस पर आगे विचार करेंगे।

# प्रवचन-२०

८–४–७२

भगवती की कहाँ प्राप्ति होती है, उसके स्थल का निर्देश किया। उसमें भी उसके अंतिम स्थल का विचार कर रहे थे 'परमशिवपर्यंकनिलयाम्'। पर्यंक, जिस पर आदमी सोता है। अब यह बताना है कि वह और परमशिव वस्तुतः अभिन्न हैं। उनमें भेद केवल ज्ञेय और ध्येय को लेकर है। ज्ञेय और ध्येय का भेद, उसके स्वरूप का क्या भेद और फल का क्या भेद है यह बताना है। ज्ञेय ब्रह्म और ध्येय ब्रह्म दो नहीं हैं। ब्रह्म तो एक ही है लेकिन दो दृष्टियों से देखने पर उसमें ज्ञेयता और ध्येयता की प्रतीति हो जाती है। अहं के अन्दर ब्रह्म की उपासना करना ध्येय ब्रह्म है और अहं के अन्दर ब्रह्म की प्रतीति होना ज्ञेय ब्रह्म है। थोड़ा-सा ही फ़र्क है लेकिन इसे समझना ज़रूरी है। ज्ञेय और ध्येय ब्रह्म में ध्येय ब्रह्म परमशिव और ज्ञेय ब्रह्म चिदानंद हो गया। एक में उपासना है, दूसरे में ज्ञान है। परमात्मा की प्राप्ति के ये दोनों ही उपाय हैं।

'वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वम् अखण्डैकरसात्मकम्।
परोक्षमवगम्यैतद् अहमस्मीत्युपासते।।' (पंच० ९.१४)

आचार्य विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि वेदांतों के द्वारा अर्थात् वेदांत-प्रतिपादक ग्रन्थों के द्वारा ब्रह्म तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। वेद का सिद्धान्त केवल ब्रह्म है, और कुछ नहीं है। सारे वेदांत के अन्दर मात्र ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। इसीलिये ब्रह्मसूत्र में भगवान् वेदव्यास ने कहा 'तत्तु समन्वयात्'। यह बड़ा जबरदस्त सूत्र है। जितने भी वेदवाक्य हैं, वे सारे के सारे केवल ब्रह्म में ही समन्वित होते हैं, यह भगवान् वेदव्यास का कहना है। गीता में भी भगवान् ने कहा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' सारे वेदों के द्वारा मेरा ही स्वरूप जाना जाता है। भगवान् कृष्ण और भगवान् वेदव्यास दोनों ही सारे वेद का तात्पर्य ब्रह्म को बताते हैं। ब्रह्म से अतिरिक्त कोई भी वेद का तात्पर्य मानने वाला व्यास और कृष्ण के विरोध में बोलता है। आजकल एक नई पद्धति चली है जिसमें कोई कहता है कि वेदों में भक्ति बताई है और कोई कहता है कि ज्ञान बताया है। कोई कहता है कर्म बताया है और कोई कहता है योग बताया है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोग वेद में भिन्न-भिन्न विषयों का प्रतिपादन मानते हैं। लेकिन भगवान् कृष्ण और भगवान् वेदव्यास स्पष्ट कहते हैं कि ये कोई प्रतिपादित वस्तु नहीं हैं। प्रतिपादित वस्तु ब्रह्म है। जैसे अर्थशास्त्र के जितने भी ग्रन्थ होते हैं उनमें चाहे जिस चीज़ का प्रतिपादन करते हुए कोई ग्रन्थ प्रतीत हो लेकिन प्रतिपाद्य तत्त्व अर्थ ही है, बाकी सब साधन हैं। साधनों में तात्पर्य न होकर तात्पर्य साध्यों में हुआ करता है। साधनों का झगड़ा व्यर्थ होता है। इसी प्रकार से भक्ति, ज्ञान, कर्म, योग आदि सब साधन हैं, साध्य केवल ब्रह्म है। अतः वेदांतों के द्वारा ब्रह्म तत्त्व को

जानें। यह जानने पर उसका स्वरूप पता चलता है कि वह अखण्ड है और एकरस है। ब्रह्म में अनेकरसता नहीं है। रस मायने स्वाद। जैसे चीनी मीठी है और एकरस है और बम्बई का बढ़िया हाफूस आम अनेक रसों का है, उसमें कुछ मीठा और कुछ खट्टा है। आम केवल मीठा नहीं होता है, कुछ खटाई उसमें अन्वित होती है। इसी प्रकार से ब्रह्म के अन्दर चीनी की तरह केवल आनंद एक ही रस है। आम की तरह कई रस नहीं है। यह एक बात पता चली। दूसरी बात पता लगती है कि ब्रह्म तत्त्व अखण्ड है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते। बाकी जितनी चीज़ें हैं, उनके टुकड़े हो सकते हैं लेकिन ब्रह्म के टुकड़े नहीं हो सकते। टुकड़े होने का मतलब है कि किसी चीज़ से उसको अलग कर सको। अनादि काल से आज तक जीव का प्रयत्न यही रहा है कि हम ब्रह्म से अलग कुछ कर लें! सारे का सारा प्रयत्न इसीलिये है। लेकिन ब्रह्म तत्त्व कभी भी किसी भी चीज़ से अलग नहीं होता क्योंकि ब्रह्म सद्रूप है। सत्ता के टुकड़े नहीं हुआ करते। सत्ता मायने है-पना। मान लो, एक किताब के पन्ने को तुमने फाड़ लिया तो ऐसा नहीं कि किताब की सत्ता में कुछ कमी हो गई। उस पन्ने की सत्ता रहते हुए भी किताब की सत्ता वैसी की वैसी है। है-पने का कोई नाप-तोल नहीं है। सत्ता पाँच इंच या दस इंच, पाँच किलो या दस किलो, पाँच लीटर या दस लीटर की नहीं होती है। क्योंकि है-पने का कोई परिमाण नहीं है, इसलिये तुम किसी भी चीज़ के टुकड़े करो, उन टुकड़ों में भी सत्ता उतनी ही रहती है जितनी बिना टुकड़ों के काल में थी। इसलिये सत्ता का खण्ड नहीं हो सकता। ब्रह्म सत्तारूप है, इसलिये उसका खण्ड सम्भव नहीं है। जब मनुष्य वेदांत का विचार करता है, तब इस अखण्ड एकरस ब्रह्म का पता लगता है। आनंद के सिवाय दूसरा स्वाद इसमें नहीं है और इसके टुकड़े सम्भव नहीं हैं। सत्य-ज्ञान-अनंत-आनंद-रूप ब्रह्म है  यह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। परोक्ष रूप से जान लिया कि ब्रह्म तत्त्व सच्चिदानद अखण्ड रूप है। उसकी उपासना कहाँ करें?

यह जो हमारे अन्तःकरण में मैं की स्थिति है, उसी में ब्रह्म की उपासना करो। 'अहमस्मीत्युपासते।' जब-जब अहं सामने आये तब-तब यह कहो कि इस अहं के अन्दर ब्रह्म है। बस यही उपासना है। जैसे शास्त्रों से तुमने जाना कि जिसके हाथ में शंख, चक्र, पद्म, गदा होती है वह चार भुजा वाला विष्णु होता है। अब जहाँ-जहाँ तुमको शंख, चक्र, पद्म, गदा की मूर्ति दीखती है, वहाँ-वहाँ तुम विष्णु की उपासना करते हो। तुमने विष्णु का साक्षात्कार नहीं किया है; यह नहीं कह सकते कि मन्दिर में लक्ष्मी नारायण का दर्शन कर आये तो भगवान् विष्णु का साक्षात्कार हो गया। फिर क्या हुआ? शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी विष्णु है, यह परोक्ष ज्ञान हुआ। इसलिये जहाँ-जहाँ शंख, चक्र, गदा, पद्म की मूर्ति दीखती है, उसमें तुम विष्णु-बुद्धि करते हो, यह विष्णु है  ऐसा ध्यान करते हो। बस इसका नाम उपासना है। तुमको मूर्त्ति में विष्णु की उपासना करते-करते एक दिन विष्णु का साक्षात्कार हो जाता है। इसी प्रकार तुम्हारे अंतःकरण में जो अहं-वृत्ति है, वह ब्रह्म नहीं है लेकिन जैसे उस मूर्त्ति में विष्णुभाव करते-करते

एक दिन विष्णु का साक्षात्कार हो जाता है, वैसे ही इस अहंकारात्मिका वृत्ति में बार-बार 'यह ब्रह्म है' ऐसी बुद्धि अर्थात् निश्चय करने से एक दिन ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। लेकिन विष्णु की मूर्त्ति में विष्णु-बुद्धि करते समय कुछ करना पड़ता है। शिला से बुद्धि को हटाना पड़ता है। यदि तुम मूर्त्ति को देखते हुए भावना करो कि यह पत्थर है, जयपुर से बनकर आई है, हथौड़ी छेनी से ठीक कर बनी है आदि; यदि यह अनुवृत्ति करते रहोगे तो आज से प्रलय तक उपासना करते रहो, कभी विष्णु का साक्षात्कार होने वाला नहीं है। उसमें होने वाली शिलाबुद्धि, या यह २५० रु० की खरीदी है आदि सारे के सारे विचार, मूर्त्ति की भावना को दृढ करेंगे, विष्णु की भावना को दृढ नहीं करेंगे। इसी प्रकार से अहं के अन्दर यदि तुम बार-बार 'मैं मैं' इस भावना को दृढ करते जाओगे तो वृत्ति की भावना दृढ होगी, ब्रह्म की नहीं होगी। गड़बड़ी यही होती है।

हम अहं के अन्दर ब्रह्म की भावना करते तो हैं पर अहं को पकड़े रखकर करते हैं। जितना-जितना अहं को पकड़ोगे उतना-उतना ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होगा। जैसे 'पत्थर कुछ नहीं है, विष्णु ही है' यही तो उपासना है, वैसे ही यहाँ 'अहं कुछ नहीं है, ब्रह्म ही है' यह भाव रखना है। मैं को दृढ करने से यह उपासना कभी सिद्ध होने वाली नहीं है। व्यवहार में क्या करते हैं? इस अहं को ही पुष्ट करते जाते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' यह उपासना करने वाला तभी सफल हो सकता है जब इस अहं को नष्ट करता रहे। जिस-जिस चीज़ से अहंकार बढ़ेगा, वह-वह चीज़ तुम्हारे लिये घातक है। कभी मन्दिर में जाओ तो पट बन्द होते हैं। पूछते हैं क्या बात है? कहते हैं कि आज एकादशी है, मूर्त्ति को नहला रहे हैं अर्थात् भगवान् का स्नान हो रहा है। तुम कहते हो हमारे सामने ही स्नान करवा दो। कभी सोचा कि ऐसा क्यों नहीं करते? सामने स्नान करवायेंगे तो बीच में उनका कुछ रंग उतर रहा होगा, पुजारी वहाँ रंग लगायेगा। आँख की पलकें भी बनायेगा। यदि यह कर्म पट खोलकर करेंगे तो तुम्हारी विष्णु-बुद्धि वहाँ रुकने लगेगी। पुजारी को तो सभी कुछ करना पड़ेगा। हमारे एक पण्डित जी पूना में हैं, बड़े अच्छे विद्वान् हैं। एक बार हम से कहने लगे 'स्वामी जी! पाण्डित्य कर्म बड़ा बुरा है।' हमने उनसे कहा, आप ऐसी बात करते हो! उनकी उम्र पिच्यानबे वर्ष की है। कहने लगे 'मेरे को पूना में ७२ वर्ष हो गये हैं और वहाँ रुपये में १५ आने मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा मेरे द्वारा ही कराई गई। वे मीमांसा (कर्मकाण्ड) के बड़े विद्वान् पण्डित हैं। कहने लगे 'अब मैं किसी मन्दिर में जाता हूँ तो मूर्त्ति में परमात्मा की भावना नहीं बनती क्योंकि जिस पत्थर को मैंने ही ईश्वर बनाया, उस पर कैसे अपना मन जमाऊँ?' इसीलिये जब मूर्ति का पूर्ण श्रृंगार होता है और तेज पूर्ण होता है तभी भक्त को दर्शन कराया जाता है। इसी प्रकार से अहं के अन्दर दुनिया-भर के विकार पड़े हुए हैं। यदि उन विकारों की तरफ दृष्टि करके उनको जीव का स्वरूप समझते रहेंगे तो कभी भी वहाँ ब्रह्मदृष्टि दृढ नहीं होनी है। इसीलिये जो प्रतिक्षण इस अहं को काटता रहेगा कि 'यह अहं कुछ नहीं है, ब्रह्म ही है।' वही उस रूप को जानेगा। आँख से ध्यान देकर देखेगा तो वहाँ पत्थर

ही दीखेगा, इसी प्रकार से यदि अहं को देखोगे तो शरीर, इन्द्रिय और मन से विशिष्ट ही अहं दीखेगा। लोग कई बार कहते हैं कि 'जब हम अपने आपको शरीर के साथ युक्त जानते हैं तो फिर मैं, अहं के अन्दर ब्रह्मबुद्धि कैसे करें?' वेदांत शास्त्र कहता है कि यदि सचमुच देह आदि तुम्हारे अहं से दूर हो गये होते तब तो तुम्हें ज्ञान हो गया होता! जिस समय नामदेव विट्ठल की मूर्त्ति को देखते थे, वहाँ उन्हें मूर्त्ति और पत्थर नहीं दीखता था, विट्ठल ही दीखते थे। उनकी उपासना नहीं रही, उपासना सिद्ध हो गई। ऐसे ही यदि तुमको देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा प्रतीत होता तब तो तुम ज्ञानी कहे जाते। जैसे पत्थर की मूर्त्ति देखने पर भी पत्थर की भावना हटाकर विष्णु की भावना, वैसे ही शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि से विशिष्ट अहं प्रतीत होने पर भी शरीर आदि से मन हटाकर उस अहं में ब्रह्मदृष्टि करनी है। ध्येय ब्रह्म को बताने का यही कारण है।

जब पहले-पहल शिष्य को बताया जाता है कि यह अहं कुछ नहीं, ब्रह्म ही है, तो सुनने के साथ उसको एक बिजली-सी चमक तो आती है लेकिन वह बिजली चमकते हुए थोड़ी देर हुई कि देह आदि के अन्दर आत्मा की भ्रान्ति फिर झट पैदा हो जाती है, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि के अन्दर फिर हठात् न चाहने पर भी झट जाग्रत् काल में उसमें अहं-बुद्धि आ जाती है। उसे सुनायें कि तुम सर्वव्यापक तत्त्व हो जैसे आकाश सर्वव्यापक है, किसी भी स्पर्श का विषय नहीं, इसलिये तुम्हारा स्पर्श नहीं हो सकता; यह सुनते काल में पलकारा लगने के साथ ही पास बैठी हुई दूसरी औरत ने ज़ोर से ठिल्ला (हाथ की कुहनी) मार दिया तो झट मुँह पलटकर बोलेगी 'अरी बहना, ज़रा देख तो सही!' उपदेश-काल के अन्दर अहं के अन्दर ब्रह्म-बुद्धि का पलकारा बस इतनी ही देर तक रहता है। सोचो कि हम चारों तरफ से हटकर बैठें, किसी के पास न बैठें, फिर तो स्थिर हो जायेंगे; तो उसी समय मक्खी नाक के कोने पर बड़े प्रेम से आकर बैठेगी और हाथ से झट स्पर्श करोगे। मक्खी का आत्मा के साथ स्पर्श (सम्बन्ध) कैसे हो गया? हठात् झट से देह, प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, आदि के साथ जबदरस्ती सम्बन्ध हो जाता है।

ऐसा क्यों हो जाता है? 'ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः' (पंच.९.२१) यह मंद बुद्धि होने के कारण है। बुद्धि में मन्दता है। दृढ ज्ञान तब होता है जब षड्विध लिंग से तात्पर्य निर्णय पूर्वक उपनिषदों का अवापोद्धार करके बार-बार विचार किया जाता है। वेद प्रमाण है। जिसने पहले वेद आदि का अध्ययन नहीं किया, मीमांसा के अनुसार विचार नहीं किया, उसकी बुद्धि में मन्दता होती है, ताकत नहीं होती। जैसे जो आदमी खुद कुश्ती नहीं लड़ा और उसने कुश्ती लड़ने की किताबें पढ़ रखी हैं तो वह जब कहीं जाता है तो साथ मैं बैठे हुए को सुनाता रहता है, जिसे अंग्रेजी में 'रनिंग कमेण्ट्री' कहते हैं, कि 'अब इसने फांस मारी, दुलत्ती मारी।' सुनकर साथ वाला सोचता है कि यह बड़ा बढ़िया पहलवान लगता है, इसे सब पता है। उससे कहो कि 'बड़े पहलवान लगते हो, लड़ लो।' तो कहेगा 'क्या मज़ाक करते हो, मैंने कुश्ती की किताब

बाँच रखी है। दाँव सब जानता हूँ लेकिन लगा नहीं सकता क्योंकि शरीर में ज़ोर जो नहीं है।' ठीक इसी प्रकार से जो लोग बी०काम०, एम०काम० पास हो जाते हैं, वे सारे व्यापार की बातों को जानते हैं। उनसे जो पूछो, उसका जवाब झट दे देंगे, लेकिन बड़ा काम जाने दो, कपड़े की दुकान में भी बिठा दो तो साल भर में दस हज़ार का घाटा लगा देंगे! वाणिज्य शास्त्र पढ़ने वाले अध्यापकों से पूछो तो सब दाँव बताते रहेंगे। लेकिन यदि उन्हें दुकान में बिठा दो तो कुछ नहीं करने वाले हैं क्योंकि उसके सिद्धान्त को केवल किताब में बाँच रखा है। व्यापार करने में जो एक चतुर बुद्धि व्यापार करते-करते आती है, वह उनमें नहीं होती। इसी प्रकार से जब तक वेद का अध्ययन मीमांसा से युक्त होकर खुद परिश्रमपूर्वक उलट-पलटकर नहीं किया, तब तक वेदमूलक दूसरे ग्रंथों को बाँचकर दाँव तो समझ में आ जाते हैं। वेदों के अर्थ लगाने में क्या दाँव-पेंच किये जाते हैं, यह दूसरी किताबों से समझ लिया या महात्माओं के उपदेश से समझ लिया तो उनका पता तो रहता है, लेकिन वेद की भूमि के अन्दर घुसकर खुद वे दाँव-पेंच किये नहीं हैं, इसलिये वेदार्थ-निर्णय में सक्षम नहीं हो पाते। इसलिये विद्यारण्य स्वामी ने कहा कि यह मन्दधी है। बुद्धि में वह ज़ोर नहीं होने से उस व्यक्ति को ब्रह्म का आत्मरूप से ज्ञान नहीं हो पाता।

उपासना के लिये बुद्धि को तीव्र करने की ज़रूरत नहीं है। यह उपासना और ज्ञान का भेद है। उपासना करने में केवल श्रद्धा से काम चल जाता है। शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी मूर्त्ति विष्णु-मूर्ति है, इसमें विष्णु का ध्यान करो, इसके लिये कोई तीव्र बुद्धि की ज़रूरत नहीं है। विष्णु ही क्यों शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी होते हैं, शंकर क्यों नहीं हो जाते अथवा शंकर ही क्यों त्रिशूलधारी हो जाते हैं, ब्रह्मा क्यों नहीं हो जाते? यह सब जानने की ज़रूरत नहीं पड़ती। केवल आप्त पुरुष के उपदेश से ही काम चल जाता है। जिस पर श्रद्धा है ऐसे आप्त पुरुष ने कह दिया कि 'यह विष्णुमूर्त्ति है, ऐसा ध्यान करो' तो तुम करने लग जाओगे। इसी प्रकार से यहाँ वेदांत और गुरु ने कह दिया कि तुम अहं में सच्चिदानंद के रस का ध्यान करो तो श्रद्धा वाले ने 'सोऽहं' पर ध्यान प्रारंभ कर दिया। उसे विचार करने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन ज्ञान केवल श्रद्धा वाला मामला नहीं है। 'आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित्' केवल गुरु या शास्त्र के कथनमात्र से ज्ञान सम्भव नहीं है। ध्यान की योग्यता आ जायेगी। ध्यान के लिये तो काम चलेगा और ध्यान करने से विष्णु के दर्शन भी हो जायेंगे, लेकिन 'दीखेगी' तो मूर्त्ति ही अर्थात् ज्ञान मूर्त्ति को ही विषय कर पायेगा। इसलिये आप्त उपदेश से श्रद्धा के द्वारा ध्यान तो बन सकता है लेकिन ज्ञान कभी सम्भव नहीं हो सकता। यदि सम्भव होता तो हमारे यहाँ जो बड़े-बड़े लोग हुए हैं जैसे कबीर, नानक, दादू आदि उनको भी हो गया होता। इनकी योग्यता में हमें कोई कमी नज़र नहीं आती है; यह नहीं कहते हैं कि उनमें योग्यता नहीं है, लेकिन उन लोगों को अनेक आप्त पुरुषों ने कहा कि 'यह मूर्त्ति विष्णु है, यह साक्षात् भगवती जाह्नवी है;' तो भी ऐसे

शुद्धांतःकरण वालों को आप्त पुरुषों के कहने पर भी उन्हें वहाँ पानी और पत्थर ही नज़र आया! इसलिये उन्होंने कहा 'पत्थर पूजे मुक्ति हो तो मैं पूजूँ पहाड़!' यदि श्रद्धा होती तो देव-दर्शन हो जाता। गंगा-किनारे रहते-रहते कबीर मर गये लेकिन अंतिम समय तक उन्हें पानी ही नज़र आया। कारण क्या है? उनका कसूर नहीं है आप्तोपदेशमात्र से नज़र तो कुछ और चीज़ आती है। यदि उन्होंने वहाँ भगवती जाह्नवी का श्रद्धापूर्वक ध्यान किया होता, यदि पत्थर में विष्णु का ध्यान किया होता, तो जैसे नामदेव को विट्ठल के दर्शन हुए, उन्हें भी हो जाते। आप्तोपदेश मात्र से ज्ञान नहीं होता है, केवल ध्यान हो जाता है। जिसमें श्रद्धा नहीं है, वह उपासना नहीं कर सकता क्योंकि उपासना में उसका अधिकार नहीं है। इसी प्रकार, जिसे वेदांत में श्रद्धा नहीं है, जो नास्तिक है, उसे यदि कहेगे कि 'अहं में ब्रह्मभावना, ब्रह्म का ध्यान करो' तो वह नहीं कर सकता। श्रद्धालु तो अहं में ब्रह्म बुद्धि करते हुए अंत में एक दिन ब्रह्मरूप हो जायेगा। जिसको अश्रद्धा है, वह कहता है कि वेदांत तो कहता है लेकिन क्या पता ऊटपटांग भी कहता हो! फिर वह ध्यान का भी अधिकारी नहीं है। दोनों में इस फ़र्क का क्या कारण है? प्रत्यक्ष हमेशा परोक्ष से प्रबल पड़ता है। तुमको हम सामने बैठे हुए देख रहे हैं। हमें किसी ने कहा कि तुम कुतुबमीनार में बैठे हुए हो। जब यह सुना तो हमें परोक्ष ज्ञान हो गया लेकिन यदि उसी समय तुम्हें सामने बैठा हुआ देख रहे हैं तो कहने वाला कितना भी विश्वासी और प्रिय व्यक्ति हो, कितना ही पढ़ा-लिखा हो, लेकिन इस प्रत्यक्ष ज्ञान को वह नहीं बाध सकता। इसीलिये लोक में कहते हैं कि आँखों देखी को कानो सुनी नहीं काट सकती। प्रत्यक्ष ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कभी नहीं बाध सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान को नष्ट करने के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान ही ज़रूरी होगा। तुम देह, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकारात्मिका वृत्ति से रहित हो, यह शास्त्र का वचन परोक्ष है और मैं देह, प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय से सहित हूँ, यह प्रत्यक्ष है। इसलिये इस प्रत्यक्ष ज्ञान को वह आप्त पुरुष के द्वारा कहा हुआ परोक्ष ज्ञान कैसे बाध सकता है?

फिर ज्ञान कैसे हो जाता है? व्यास जी ने इसीलिये वेदवचन को 'प्रत्यक्ष' कह दिया है। वेद से भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। व्यास जी कई जगह लिखते हैं 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से यह बात सिद्ध हुई। विचार इस बात का है कि सृष्टि कैसे प्रारंभ हुई। श्रुति ने कहा कामना से सृष्टि उत्पन्न हुई। जिज्ञासा हुई कि इस विषय में प्रमाण क्या है? कहा 'प्रत्यक्षानुमानाभ्यां' प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध है! सृष्टिकाल का विषय प्रत्यक्ष कहाँ से हो गया? सोचते रहो तो कुछ समझ में नहीं आयेगा। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि प्रत्यक्ष अर्थात् श्रुति और अनुमान अर्थात् स्मृति। सूत्रकार के उन प्रयोगों में प्रत्यक्ष मायने श्रुति-वाक्य और अनुमान मायने स्मृति-वाक्य। पहले-पहल यह बड़ा ऊटपटांग लगता है क्योंकि आँखों देखी बात प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है। वेद में कहा तो वस्तु प्रत्यक्ष कैसे हुई? लेकिन व्यास और भगवान् शंकर को ऊटपटांग नहीं लगता क्योंकि वेद में कही हुई बात उनको प्रत्यक्ष ज्ञात होती है और आँख-कान

से देखी-सुनी बातें उन्हें स्वप्न की तरह झूठी लगती हैं। श्रुति का विचार करते-करते उनकी बुद्धि में ऐसा ओज आ गया है। कहोगे ऐसा कैसे हो सकता है? पता नहीं आप लोगों में से कोई भौतिक शास्त्र जानता है या नहीं, किसी भौतिकशास्त्री से पूछो कि सामने जो ठोस दीवार दीख रही है, क्या यह ठोस है? वह कहेगा नहीं, पोली है क्योंकि हर पत्थर के मौलिक्यूल के बीच में बड़े-बड़े पोल, हर मालिक्यूल के अणु में पोल। जब पत्थर में भी पोल है तो यह पत्थर की दीवार कहाँ से ठोस है! ज़रा इलैक्ट्रानमाइक्रोस्कोप में रखकर देखो तो सही कि हर इलैक्ट्रॉन और प्रोटॉन में भी पोल है। यह बात भौतिक शास्त्री को जँचती है, हमको नहीं जँचती। प्रयोग करते-करते भौतिकशास्त्री के लिये दीवाल का पोलापन प्रत्यक्ष हो गया है और ठोसपना परोक्ष हो गया है। वह भौतिकशास्त्री तुमको कितना भी समझाने का प्रयत्न करे, लेकिन नहीं समझ सकोगे। इसी प्रकार यदि हमसे पूछोगे, यह पत्थर ठोस है? तो हम कहेंगे कि पोला है क्योंकि वशिष्ठ जी ने योगवाशिष्ठ में लिखा है कि मैंने एक शिला में प्रवेश करके ब्रह्म को देखा। शिलोपाख्यान में कहा है। जैसे भौतिकशास्त्री कहता है, ठीक इस प्रकार वशिष्ठ जी कह रहे हैं। दूसरे कहेंगे, पत्थर में कैसे घुसे होंगे, इसका कुछ दूसरा मतलब होगा। यह इसलिये कि तुम्हारा प्रत्यक्ष ज्ञान ठोसता का है, इसलिये वशिष्ठ-वाक्य को वह बाध लेता है। एक बड़ा भारी विद्वान् कापर्निकस हुआ है। उसने सबसे पहले पाश्चात्य देशों में इस बात का अन्वेषण किया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों तरफ घूमती है। उस समय के पोप और दूसरे ईसाइयों ने भी कहा कि यह धर्मविरोधी बात बोलता है, हमारी बाइबिल के अनुसार सूर्य घूमता है। कापर्निकस ने सप्रमाण कहा लेकिन उन सबने कहा कि ये सब ग़लत प्रमाण हैं। लगता है, इसकी खोपड़ी में भूत चढ़ गया है क्योंकि जो बात आज तक नहीं सुनी गई, वह यह बोलता है। अपने को प्रत्यक्ष दीखता है कि सूर्य पूर्व से आकर पश्चिम को जाता है, इसलिये इसके दिमाग में ज़रूर भूत चढ़ गया है, इसे जेल में बन्द कर दो। वह ११ साल जेल में रहा और वहाँ उसे तरह-तरह के कष्ट दिये गये जिससे उसका भूत उतर जाये। अंत में वह दुःखी हो गया और कह दिया कि मान लिया कि सूर्य ही चलता है। बस वही भूत उस पर सवार था, उतर गया तो उसे जेल से छोड़ दिया गया। उसके बाद वह एक कॉलेज में पढ़ाता था। उसकी जीवनी में लिखा है कि पहले ज़ोर से कहता था कि 'सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है' और फिर धीरे से फुसफुसाता था कि 'यह ग़लत है, घूमती तो पृथ्वी ही सूर्य के चारों तरफ है।' उसके लिये वह प्रत्यक्ष ज्ञान था, प्रत्यक्ष अनुभव था कि पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है। इसलिये सूर्य को घूमते हुए देखकर भी उसे बाध नहीं होता था।

इसी प्रकार से जब वैदिक बाँचता है 'सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषश्च' सूर्य आत्मा की तरह अचल है। फिर भी उसको सूर्य चलता हुआ दीखता है लेकिन श्रुति कहती है कि अचल है अतः वह जानता है कि स्थिर है, भले ही सूर्य चलता दीख रहा है। जिन लोगों को साक्षात्कार भौतिक

शास्त्री की तरह दृढ हो गया है, उनके लिये वह ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिये आँख से दीखने पर भी उनका ज्ञान बाधित नहीं होता। इसीलिये तीक्ष्ण बुद्धि वाले लोग जब वेद स्वाध्याय करते हैं तो उन्हें अपने आप की ब्रह्मरूपता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। फिर उसके बाद शरीर आदि की प्रतीति होने पर भी उनका वह ज्ञान कभी नहीं हटता क्योंकि उन्हें प्रत्यक्ष है। लेकिन जिन्होंने पहले श्रम नहीं किया है, उन्हें केवल भौतिक शास्त्री के कहने से लगता है कि मोलिक्युल, अणु होता होगा, लेकिन उनका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिये उन्हें हमेशा प्रतीत होता रहेगा कि है तो ठोस ही लेकिन वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं। इसी प्रकार से प्रतीत होगा कि हूँ तो मैं गोरा-काला, चुन्नू-मुन्नू का बाप हूँ, लेकिन शास्त्र कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ और दिल कुछ और कहता है। इसलिये इस अहं के अन्दर ब्रह्म की बार-बार भावना करनी पड़ेगी।

यदि कोई कहे कि परमशिव के अन्दर इस प्रकार का अध्यास कैसे है? आचार्य विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि यह तो बड़ी मोटी बात पूछ ली। 'एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा। तदा तदेकदेशस्य चिदाभासस्य का कथा।' इस चैतन्य में मैंने तो यह सिद्ध करके दिखाया कि आकाश से पृथ्वी तक सब अध्यस्त हैं। सारा जगत् तो तुमको आरोपित करके बता दिया। उसका जो एकदेश है, वह भी बड़ा छोटा-सा तुम्हारा अहं है, उस चिदाभास के अध्यास में क्या दिक्कत है! जैसे तुम पूछते हो कि पत्थर विष्णु कैसे? हम जवाब देते हैं 'वेवेष्टीति विष्णुः' जगत् के कण-कण को जिसने व्याप्त करके रखा है, उसे विष्णु कहते हैं। जब सारे जगत् में है तो क्या सामने की मूर्ति में नहीं है? लेकिन नासमझ कहते हैं कि 'पाथर पूजे मुक्ति होय तो मैं पूजूँ पहाड़।' अरे! जब छोटा पत्थर ही नहीं पूजा जाता तो पहाड़ कैसे पूजा जायेगा? जब तुम छोटी-सी मूर्ति में विष्णु भावना नहीं कर सकते तो जगत् के कण-कण में क्या विष्णु-भावना बननी है! जब प्रत्येक जल ही 'गांगं वारि समस्तवारिनिवहाः'; भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि मैं तो जिस पानी को देखता हूँ, उसमें मुझे गंगा जी नज़र आती हैं। नासमझ कहते हैं कि यह बात तो जँचती है कि सारा जल गंगा है, लेकिन गंगा स्वयं गंगा नहीं जँचती! इसका कारण यह है कि कुछ भी नहीं जँचा। सब जगह परमात्मा दीखता है लेकिन मूर्त्ति में नहीं दीखता, इसका मतलब यह है कि कहीं भी परमात्मा नहीं दीखा। इसी प्रकार से कोई कहता है कि मुझे सब जगह तो परमात्मा जँचता है लेकिन इस अहं में परमात्मा नहीं जँचता। वह संसार में सर्वत्र व्यापक है लेकिन मैं तो मैं ही हूँ। मैं तो परमात्मा नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय है कि परमात्मा की व्यापकता जँची नहीं, ठीक से समझ नहीं आयी। जब इस प्रकार अखंडैकरसात्मकता का अहं में अध्यास किया जायेगा, तब तक ध्यान करना है। जब यह परिपक्व हो जायेगा तो यही परमशिव का ज्ञान है और यही अंत में चिदानंद में ले जायेगा।

## प्रवचन-२१

६—४—७२

भगवती के स्वरूप का निर्देश करने के बाद उसकी उपलब्धि का स्थान बताया 'शिवाकारे मंचे परमशिवपर्यंकनिलयाम्' परमशिव के अंक में वह चिदानंदस्वरूपिणी मिलती है। ज्ञान और ध्यान से भेद की प्रतीति होती है। एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से देखे जाने पर भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। गुलाब का गुलाबी रंग और गुलाबी सुगन्ध जैसे दो हैं। रूप गुलाब का है और गंध भी गुलाब की ही है, और किसी चीज़ की नहीं है। रंग, रूप और सुगन्धि गुलाब का ही स्वरूप है लेकिन गुलाब को आँख लाल देखेगी, नाक से वह सुगंध वाला प्रतीत होगा, यद्यपि आँख और नाक दोनों से गुलाब का ही ग्रहण है। वहाँ कोई दो गुलाब नहीं हैं कि एक को आँख देखती हो और दूसरे को नाक सूंघती हो। फिर दो प्रकार का अनुभव कैसे हुआ? आँख के द्वारा देखने पर रंग वाला और नाक से वही गंध वाला, इस तरह एक ही पदार्थ दो प्रकार का प्रतीत हो गया। दामाद रूप से देखने पर उसका एक रूप और पुत्रीघातक रूप से देखने पर उसका रूप दूसरा, व्यक्ति एक ही है, फ़र्क यह है कि एक के अन्दर उसे पुत्रीहत्यारा रूप से देख रहे हो और दूसरे में दामाद रूप से देख रहे हो। ठीक इसी प्रकार से ब्रह्म को अनेक प्रकार से देखा जा सकता है। ब्रह्म को ज्ञान दृष्टि से और ध्यान दृष्टि से भिन्न-भिन्न देखा जा सकता है। अज्ञान दृष्टि से देखा जा सकता है, विक्षिप्त दृष्टि से भी देखा जा सकता है। ब्रह्म को ज्ञान-दृष्टि से देखते हो तो वहाँ चिदानंद स्वरूप का ग्रहण है और जब ब्रह्म को ध्यान-दृष्टि से देखते हो तो परमशिव रूप का ग्रहण है। जब उसी ब्रह्म को अज्ञान दृष्टि से देखते हो तो पंचमहाभूत का ग्रहण है। सब ब्रह्म को ही तो देख रहे हैं, लेकिन अज्ञान दृष्टि से देख रहे हैं। उसी को जब हम विक्षेप दृष्टि से देखते हैं तो राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि रूप से भी ब्रह्म को ही देख रहे हैं। ज्ञान और ध्यान दृष्टि से ब्रह्म को देखना अज्ञान और विक्षेप का नाशक बनता है।

इतना याद रखना कि ब्रह्म को चाहे तुम अज्ञान दृष्टि से देखो, चाहे विक्षेप दृष्टि से देखो, चाहे जिस दृष्टि से देखो, ब्रह्म को कोई फ़र्क नहीं पड़ता। यदि तुमको अज्ञान और विक्षेप दुःखदायी नहीं है तो ब्रह्म के लिये तुम ज्ञान और ध्यान करो, यह ज़रूरी नहीं है। जिसको अज्ञान और विक्षेप से दुःख है, उसको ही उस दुःख की निवृत्ति के लिये ज्ञान और ध्यान की अपेक्षा है, हम लोग समझते हैं कि ज्ञान और ध्यान की अपेक्षा ब्रह्म को है जबकि ज्ञान और ध्यान की अपेक्षा ब्रह्म को नहीं है। अनेक बार हम लोग समझते हैं कि ब्रह्मज्ञान के द्वारा ब्रह्म को कुछ होगा। श्रुति कहती है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' तुम्हारे ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म के ऊपर कोई अज्ञान होता हो जो हटे, ऐसा नहीं है। ब्रह्म के अज्ञान से तुम्हारे अन्दर जो बन्धन की अनुवृत्ति है, उसकी निवृत्ति मात्र होनी है। अतः ज्ञान और ध्यान के द्वारा ब्रह्म का अनुभव है। दोनों में थोड़ा-सा फ़र्क

कल बताया। ब्रह्मज्ञान के लिये वेद आदि शास्त्रों का मीमांसापूर्वक विवेक आवश्यक है। ध्यान के लिये श्रद्धा आवश्यक है। गुरु ने जैसा बताया, वैसा श्रद्धापूर्वक ध्यान करोगे, तब फल मिलेगा। ज्ञान के लिये श्रद्धा की ज़रूरत नहीं है क्योंकि 'विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छया न निवर्तते' भगवान् विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं कि विचार के द्वारा बोध (ज्ञान) उत्पन्न होता है। अनिच्छा अर्थात् इच्छा का न होना उसे नहीं हटा सकता। जैसे तुम रास्ते में जा रहे हो और तुम्हें बदबू आई। इसी रिंग रोड पर ज़रा आगे चले जाओ तो बदबू आयेगी। बदबू बोध है। तुम चाहते हो कि बदबू न आये, तुम्हारी बिलकुल इच्छा नहीं कि बदबू आये लेकिन नाक के द्वारा उसका सम्बन्ध हुआ तो बदबू ही आयेगी। चाहे जितनी इच्छा करो कि 'यह बदबू न हो, न हो', बदबू कहीं नहीं जायेगी, वहीं की वहीं बनी रहेगी। लेकिन यदि हमने कहा है कि शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी इस चतुर्भुजी मूर्ति का ध्यान करो, तो वह तब होगा जब इच्छा होगी अर्थात् प्रेम या श्रद्धा होगी। यदि तुम्हारे मन में अश्रद्धा है कि 'यहाँ विष्णु को क्यों देखें,' तो ध्यान नहीं कर सकते। यदि तुम्हारे मन में गुरु के वाक्य पर श्रद्धा नहीं है, तुम्हारे मन में है कि 'यह तो पत्थर है, इनके कहने से विष्णु थोड़े ही हो जायेंगे,' तो ध्यान नहीं कर सकते। लेकिन जब तुम विचार करके देखोगे कि उसका स्वरूप क्या है तो तुम चाहते भी नहीं हो तो भी ध्यान लग जायेगा।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती बंगाल देश के रहने वाले थे। पूर्वाश्रम में उनका नाम कमलनयन था। उन्होंने न्याय शास्त्र का खूब अच्छी तरह से अध्ययन किया, बड़े मेधावी थे और उनकी बुद्धि भी बड़ी तीव्र थी। गुरु जी ने उनसे कहा कि तुम काशी में जाकर वेदांत के प्रकाण्ड विद्वान् माधव सरस्वती से वेदांत पढ़ो और बाद में आकर फिर उस वेदांत का खण्डन करना। गुरु ने तो इसलिये भेजा था कि दुश्मन की बात जानकर उसका खण्डन करना। जब कभी दर्शन और धर्म जीवित होता है तब उसके अन्दर अपने प्रचार की तमन्ना होती है और जब दर्शन और धर्म मरने लगता है तो उस समय प्रचार की तमन्ना नहीं होती बल्कि चुपचाप बैठने की तमन्ना होती है। ईसाई दूसरे को ईसाई बनाते हुए प्रसन्न होता है। अपने लड़के को हाथ पकड़कर चार साल की उम्र से गिरजे ले जाता है क्योंकि तमन्ना है कि मेरा लड़का ईसाई हो। इंग्लैण्ड के अन्दर प्रत्येक अंग्रेज की इच्छा होती है कि मेरा एक लड़का नेवी या फौज में जाये और दूसरा पादरी बनकर अपने धर्म का प्रचार करे। हरेक के घर में ऐसा नहीं हो जाता लेकिन इच्छा करता है और प्रसन्न होता है। जहाँ धर्म और दर्शन के प्रति जीवन नहीं होता है, वहाँ कहते हैं 'अरे! तेरी उम्र अभी गीता बाँचने की नहीं है।' अगर लड़का कहीं सत्संग की बात सुनकर गीता ले आये तो कहते हैं कि यह कोई गीता बाँचने की उम्र है। यदि बहू सत्संग में जाये तो सास कहती है कि 'अभी से सत्संग में जाती है!' अर्थात् यह तो बुड्ढा धर्म है, बुड्ढों के काम का है और यदि कोई कहे कि 'मुझे साधु बनना है', तो प्रसन्नता से दिल खिल उठता है या घर में रोना मच जाता है? इसका कारण यह है कि धर्म और दर्शन के प्रति प्रेम नहीं है, इच्छा नहीं है। नहीं तो

प्रसन्नता से चित्त खिलना चाहिये कि हमारे धर्म का प्रचार है। वह समय ऐसा नहीं था, तब धर्म के प्रचार के प्रति तमन्ना थी।

गुरु ने कमलनयन से कहा ‘बेटा, वहाँ जाकर अच्छी तरह अध्ययन करना और फिर वेदांत का खण्डन लिखना।’ जब तक दूसरे से पढ़ा न जाये, उसके भेद का क्या पता लगता है! घर में लोग कहते हैं कि सब धर्मों में अच्छाई है। उनसे पूछो कि क्या किसी ईसाई पादरी या मौलवी की शागिर्दी की है क्योंकि तभी न कह सकते हो कि वह अच्छा है या बुरा है? किसी भी सिद्धान्त का चाहे मण्डन करो, चाहे खण्डन करो, पहले उसे अच्छी प्रकार से समझो। बिना समझे न मण्डन और न खण्डन होता है। जो दूसरे के सिद्धान्त और अपने सिद्धान्त, किसी को भी नहीं जानता और उसके लिये परिश्रम भी नहीं करता, वह एक सिद्धान्त बनाता है कि ‘तेरी भी चुप और मेरी भी चुप’। न तू मेरी बुराई कर और न मैं तेरी बुराई करूँ। लेकिन यहाँ तो सच्चाई का निर्णय करना है। कमलनयन ने जाकर माधव सरस्वती से वेदांत का अध्ययन किया। अध्ययन तो वह वेदांत का खण्डन करने के लिये कर रहे थे लेकिन जितना-जितना वेदांत अध्ययन करते थे, उतना-उतना उनका न्याय शास्त्र के प्रति सद्भाव कमज़ोर पड़ने लगा था। होते-होते एक दिन ऐसा आया कि उनका निश्चय हो गया कि मेरा न्याय शास्त्र ग़लत है। माधव सरस्वती के चरणों में गिर गये और कहा ‘गुरुजी! एक प्रायश्चित्त करना है।’ गुरु ने पूछा ‘किस दोष का करना है?’ कहा ‘मैं आपका चेला इसलिये नहीं बना था कि आपको गुरु मानता था, मैं तो आपका खण्डन करने के लिये आपसे वेदांत पढ़ने आया था। लेकिन वेदांत का अध्ययन करने से अब मेरा यह निश्चय हो गया कि यही सत्य है। इसलिये अब मैं समचुच ही इसका प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ क्योंकि अब तक तो मैं आपसे भेद लेने के लिये बात करता था।’ माधव सरस्वती हँस पड़े और सारी बातें पूछीं। उन्होंने सब बता दिया और कहा कि अब आप प्रायश्चित्त बताओ। उन्होंने कहा कि प्रायश्चित्त यही है कि जैसे तू किसी काल में वेदांत का खण्डन करना चाहता था, वैसे ही अब न्याय शास्त्र का खण्डन कर। उनको इसका दृढ निश्चय हो गया था। उन्होंने कहा कि ‘मैंने बुद्धि से तो समझा है लेकिन इसका अनुभव करना चाहता हूँ।’ किसी सिद्धांत का खण्डन करने के पहले अपने पक्ष का अनुभव तो होना चाहिये। वेदांत की यही विशेषता है ‘अनुभवावसाना हि ब्रह्मविद्या’ भगवान् भाष्यकार शंकर कहते हैं कि ब्रह्मविद्या अनुभव अवसाना है।

क्रिया, कारक और क्रिया तथा कारकों का फल इन सबसे रहित ब्रह्म है। क्रिया से रहित है क्योंकि किसी भी क्रिया से चार काम ही किये जा सकते हैं। क्रिया के द्वारा किसी चीज़ को उत्पन्न कर सकते हो जैसे घड़े को उत्पन्न करने के लिये क्रिया चाहिये। दूसरे, क्रिया से कहीं पहुँचा जा सकता है जैसे यहाँ से इण्डिया गेट जाना है तो चलने की क्रिया करनी पड़ेगी। तीसरा, संस्कार-साग को बनाना है जो उसका संस्कार करना पड़ेगा अर्थात् छीलना पड़ेगा। या बर्तन

जूठा है तो उसे माँजना पड़ेगा। और चौथा, विकार किसी चीज़ को काटना-छाँटना हो तो क्रिया करनी पड़ेगी। इन चारों के अतिरिक्त और क्रियाफल नहीं है। ब्रह्म न तो उत्पाद्य है क्योंकि नित्य है। उसे उत्पन्न नहीं करना है। सर्वव्यापक होने से आप्य भी नहीं है कि वहाँ किसी क्रिया के द्वारा पहुँच सकें। संस्कार्य भी नहीं है क्योंकि नित्य शुद्ध है विकार्य भी नहीं है क्योंकि अव्यय (अच्युत) है। इसलिये वहाँ कोई क्रिया नहीं चलती। जब क्रिया ही नहीं चलती तो कारक कहाँ से चलेंगे! जो क्रिया में किसी उपयोग वाला बने, वह कारक है। कर्त्ता क्रिया को करने वाला है। जैसे राम रोटी को खाता है। इसमें कर्त्ता (राम) क्रिया से अन्वित हुआ। क्या खाता है? रोटी को खाता है, दाल से खाता है। किस लिये? पेट भरने के लिये खाता है। क्रिया से अन्वय हो रहा है। कहाँ खाता है? घर में बैठकर खाता है। किस चीज़ से बनी रोटी खाता है? मक्की से बनी रोटी खाता है। इन सबका अन्वय क्रिया से है। जब ब्रह्म का किसी क्रिया से अन्वय नहीं तो कारक भी नहीं और जब क्रिया और कारक नहीं तो फल भी नहीं। अद्वितीय ब्रह्म क्रिया, कारक और फल से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

उपासना का नियम है कि उपास्य के जैसा बने, 'देवो भूत्वा देवं यजेत्।' शंकर का ध्यान करो तो भस्मी लगाओ, रुद्राक्ष पहनो, तभी होगा। कृष्ण का ध्यान करो तो ऊर्ध्व पुण्ड्र लगाओ और उसी प्रकार से पीले वस्त्र पहनो। ये बाहर के आचरण हैं, असली तात्पर्य दैवी गुणों से है। लेकिन हर हालत में जिसका ध्यान करना है तदनुकूल बनो, तभी ध्यान होगा। गांधी के चेले बनोगे तो चर्खा कातना पड़ेगा। ऐसे ही यदि अद्वितीय ब्रह्म को मानते हो तो 'अक्रियाकारक फलं यतो ब्रह्माऽद्वयं ततः त्यक्ताशेषक्रियः' जब अशेष क्रियाओं को छोड़ दोगे, तभी तुम ब्रह्मरूप में स्थित हो पाओगे। जब तक अपने को क्रिया, कारक, फल से अन्वित रखोगे तब तक ब्रह्म की उपासना कहाँ से होगी! अतः कमलनयन ने गुरु से कहा कि 'हमारे सारे कर्म छुड़ाइये।' गुरु ने कहा 'विश्वेश्वर सरस्वती से जाकर संन्यास लो।' संन्यासियों में यह नियम है कि जो आचार्य लोग होते हैं, उन्हीं को संन्यास देने का अधिकार होता है। क्या कारण है कि विश्वविद्यालय के उपकुलपित के हस्ताक्षर से ही तुम बी०ए० माने जाते हो? वह उपकुलपति के पद पर बैठकर ही कहता है कि तुम बी०ए० पास हो गये। उपकुलपति बनने से पहले उसकी योग्यता कोई कम होती हो, ऐसी बात नहीं है। लेकिन उपकुलपति बनने से चार दिन पहले यदि वह लिखकर दे कि 'तुम बी०ए० पास हो गये' तो उसका प्रमाणपत्र किसी काम का नहीं है। चार दिन बाद वह उपकुलपति बन गया तो जायज़ हो गया और फिर कोई संदेह नहीं करता। वह उतना ही पढ़ा-लिखा पहले भी था। इसी प्रकार जब वह आचार्य पद पर नियुक्त होता है तभी उसको दूसरे को संन्यास देने का अधिकार होता है। यह नहीं कि योग्य नहीं है, प्रश्न तो यह है कि साधिकार है या नहीं है। उन्होंने जाकर संन्यास लिया और फिर इस तत्त्व के साक्षात्कार में लग गये। अंत में उनकी स्थिति पूर्ण हो गई और उस तत्त्व को उन्होंने सम्यक् रूप से समझ लिया। उसके बाद

वे नवद्वीप में गये जहाँ उनके न्याय शास्त्र को पढ़ाने वाले गुरु जी थे 'नवद्वीपे समायाते मधुसूदनवाक्पतौ। चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः।।' तर्कवागीश और गदाधर भट्टाचार्य दो उस समय के न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। यह सुनने मात्र से ही कि मधुसूदन सरस्वती नवद्वीप में पहुँच गये हैं, वे दोनों काँपने लगे कि 'हम तो साथ पढ़ते समय ही समझते थे कि यह बहुत बड़े पण्डित हैं और अब तो वेदांती हो गये और संन्यासी भी हो गये। अब क्या होगा?' नतीजा यह हुआ कि उन्हें शास्त्रार्थ नहीं करना पड़ा, बल्कि अपने आप ही सब लोगों ने मान लिया। बाद में उन्होंने अद्वैतसिद्धि इत्यादि ग्रंथों की रचना की।

अतः जब तक हम विचार नहीं करते हैं तब तक तो श्रद्धा की आवश्यकता है लेकिन जो विचार करने वाला है उसे अनिच्छा रहते भी विचार से बोधलाभ होता ही है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती यह इच्छा लेकर काशी नहीं गये थे कि वेदांत को मानूँगा। लेकिन जैसे रास्ते में जाते हुए तुम्हारी नाक बदबू और सुगंध को वैसे ही ग्रहण करेगी जैसी है, उसी प्रकार से जब वेद आदि शास्त्रों की मीमांसा करते हैं तब उसकी इच्छा नहीं होगी तो भी उसे अद्वितीय ब्रह्म का ही ज्ञान होगा। लेकिन जो इतनी तीक्ष्ण बुद्धि वाला नहीं और पूरा समय न दे सके, उसके लिये शास्त्रों ने कहा कि यदि उसके पास श्रद्धा है, इच्छा है या प्रेम है तो फिर वह परमात्मा के ध्यान में भी लग जायेगा और एक दिन उसे उस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी। लेकिन इसमें प्रतिबन्धक चीज़ अश्रद्धा है। इसलिये अश्रद्धा से बचना पड़ेगा। 'परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत्' (पंचदशी ६.३६) यह जो ध्यान में उपयोगी परोक्षज्ञान है, इसे प्रतिबद्ध करने वाली चीज़ अश्रद्धा है। कई संदेहों को मनुष्य ध्यान के द्वारा दूर कर सकता है लेकिन श्रद्धा हो तब। इसलिये श्रद्धा की ध्यानी को आवश्यकता है।

श्रद्धा का क्या रूप है? 'विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन्। लभते वासनावेशात् स्वप्नादावपि भावनाम्।।' (पंच. ६.८२) जिस पर प्रेम होता है, उसकी किसी विरोधी चीज़ से मनुष्य घबराता है, उसे बिलकुल अच्छा नहीं लगता और उसे तुरंत छोड़ देता है। पति-पत्नी का आपस में प्रेम हो और उसे उसकी पत्नी की बुराई सुनाने लगो तो या वह थप्पड़ मारेगा या उठकर चला जायेगा, उसमें उसे रस नहीं आयेगा। पुत्र पर प्रेम है, उसकी कोई बुराई करेगा तो पिता सहन नहीं करेगा। यह प्रेम का पहला लक्षण है। इसी प्रकार जब हम ज्ञान आनंद चिदानन्द परब्रह्म स्वरूप परमात्मा का ध्यान करेंगे, उससे प्रेम होगा तो उसके किसी विरोधी प्रत्यय को हम सहन नहीं कर सकेंगे। आज हमने विरोधी प्रत्यय को सहन करने का नाम दे रखा है कि 'इनकी बड़ी अच्छी भावना है, इनके इष्ट की निंदा करो तो भी सहन करते हैं।' अंग्रेज़ी भाषा वालों ने इसका एक नाम रखा है बि बड़े 'टॉलरेण्ट' हैं। टॉलरेण्ट या सहन करने वाला कह-कहकर हिन्दू को लोगों ने बिलकुल ख़त्म कर दिया। जैसे घर में कोई बड़ा योग्य लड़का है, छोटा लड़का उसी घर में नालायकी करे तो बड़ा कहता है कि दण्ड दो; तो उससे कहते हैं कि 'तू तो सहनशील

है, इसलिये सहन कर जा।' इसी प्रकार दूसरे सारे मत-मतांतर हमारा खण्डन करें और हम बोलने लगें तो कहते हैं कि तुम्हें शोभा नहीं देता, तुम तो सहन करो! यह तो सरकारी अंकगणना (सेंसस) की बात बता रहे हैं कि स्वतंत्रता के समय  ८६ प्रतिशत हिन्दू थे और आज २५ साल बाद ८२ प्रतिशत हिन्दू रह गये हैं। इतने पर भी कहा जाता है कि आप लोग तो सहनशील हो, सहन करते जाओ। इसका क्या कारण है? अभी कुछ दिन पहले हम किसी से कह रहे थे कि 'यही राजस्थान था जिसने मुसलमान को बादशाह न मानने के कारण न जाने कितने युद्ध किये और कितने कष्ट उठाये, फिर भी महाराणा प्रताप के मुँह से कोई नहीं कहलवा सका कि अकबर को बादशाह मान लेंगे। आज उसी राजस्थान के ऊपर मुख्यमंत्री मुसलमान बनाया गया!' हमसे वे सज्जन कहने लगे कि 'यह धर्मनिरपेक्षता है, ये अल्पमत हैं, इसलिये स्थान देना चाहिये।' लेकिन हिन्दुस्तान में एक जगह (काश्मीर) में हिन्दू अल्पमत हैं, वहाँ किसी हिन्दू मुख्यमंत्री को बनाकर दिखायें तो सही। जहाँ हिन्दू अल्पमत हैं, वहाँ कहते हैं कि बहुमत की बात मानो, जहाँ हिन्दू बहुमत हैं, वहाँ कहते हैं कि अल्पमत की बात मानो क्योंकि तुम सहनशील हो! कारण यही है कि हमको उल्टी बात सिखाई जाती है। यह कोई नई बात नहीं है। ठीक इसी प्रकार से दुर्योधन ने कुछ पण्डितों को युधिष्ठिर को समझाने भेजा था कि 'संसार विनाशी है, संसार के पदार्थ क्षणभंगुर हैं। हे युधिष्ठिर! इसके लिये इस प्रकार घर वालों की हत्या में क्या रखा है, बहुत समय चला गया, अब कितनी उम्र शेष रही, थोड़े दिन के लिये क्या यह कष्ट पाना है! संसार में तो भगवद्भजन ही सार है।' युधिष्ठिर पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा। अर्जुन वहाँ मौजूद था, उस पर प्रभाव पड़ा। क्योंकि अर्जुन सरल प्रकृति का था इसलिये वही युक्तियाँ युद्ध में द्रोणाचार्य इत्यादि को देखकर भगवान् को सुनाने लगा। कहा  'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते' थोड़े से जीवन के लिये त्रिलोक की भी ज़रूरत नहीं है। 'भैक्ष्यमपीह लोके' भीख माँग कर खाने में हर्जा नहीं है, इतने बड़े-बड़े लोगों के साथ ऐसा क्यों किया जाये। वैसे ही आज हमारे ऊपर भी यही संस्कार डाला जाता है। यह सारा का सारा हमारे धर्म के ऊपर विरोधी प्रत्यय है। लेकिन सहन हो जाता है क्योंकि हमको हिन्दू धर्म के प्रति प्रेम नहीं है। जितना विचार करके देखो उतना विरोधी तत्त्व का पता लगेगा, नहीं तो हमें ख्याल नहीं आता है।

ब्रह्म का विरोधी प्रत्यय जगत् है, यही अज्ञान का कार्य है। इसलिये जब-जब जगदाकार अर्थात् परिच्छिन्न वृत्ति बनती है, तब-तब क्या तुम्हारा दिल तड़पता है? जो कण-कण और क्षण-क्षण में व्यापक परमात्मा है, उसको तुम घट, पट आदि अत्यंत परिच्छिन्न रूप में देखते हो तो यह उसकी निंदा है या स्तुति है? इस विरोधी प्रत्यय को छोड़ोगे तभी सिद्ध होगा कि ब्रह्म से प्रेम है। यदि सहन करते हो कि बनने दो घट, पट आदि वृत्ति, ब्रह्म का क्या होता है  तो इसका मतलब है कि उसके प्रति प्रेम नहीं है। दूसरी चीज़ बताई कि विरोधी प्रत्ययों को हटाते हुए जिसके प्रति प्रेम होता है, उसकी निरंतर भावना चले। मन से वह वृत्ति थोड़ी देर के लिये

भी नहीं हटती 'नैरन्तर्येण भावयन्।' पुत्र के प्रति प्रेम होता है तो वह चाहे अमरीका में जाकर बैठा हो, सामने रसगुल्ला आया तो अन्दर-ही-अन्दर मन में आयेगा कि 'हाय, मुन्ना नहीं है।' बढ़िया सूट का कपड़ा आया तो 'हाय मुन्ना नहीं है।' यहाँ तक कि कहीं घूमने भी जाना हो तो कहते हैं 'दस-पन्द्रह दिन में मुन्ने को आ जाने दो, तब चलेंगे।' यह निरंतर भावना है। इसी प्रकार जब उस चिदानंद के साथ प्रेम होगा तो उसकी निरंतर भावना चलेगी। कहोगे हम तो पिता हैं, हमको मुन्ने की याद नहीं आती। पिता को क्या याद आता है? तुम लोगों के प्रेम का विषय खनाखन है! धन के खर्च की बात जहाँ आती है, टालते हो। यदि नौकर ने कहा 'तन्ख्वाह बढ़ा दो', और यदि तुम हफ्ता भर भी टाल गये तो समझते हो कि पाँच रुपये तो बचे। सौ नौकर हों तो पाँच सौ बच गये। कोई खर्च की बात आये तो कहते हैं 'कल करूँगा।' आमदनी की बात कल तक नहीं टालते। किसी दोस्त से मिलने गये हो, कपड़े के व्यापारी हो तो वहाँ भी नज़र डालते हो कि पर्दा दिल्ली क्लाथ मिल का है या बिन्नी मिल का है? वह वृत्ति बराबर बनी रहती है। वह प्रेम इतना दृढ हो जाता है कि जब स्वप्न भी देखते हैं तो उस वासना के वेग से स्वप्न में भी उसकी प्रतीति वैसी ही रहती है। जिसकी वासना तीव्र है, उसी चीज़ का स्वप्न भी देखोगे। स्वप्न के अन्दर भी प्रेमी की वृत्ति वही बनती है। जैसे पुत्र के प्रेमी को स्वप्न भी पुत्र-विषयक, धन के प्रेमी को स्वप्न की धन-विषयक दीखता है, इसी प्रकार जब स्वप्न में भी तुम्हारी ब्रह्म की दृष्टि ही बने, स्वप्न देखो कि साठ घंटे तक ध्यान में बैठे रहे, तब समझना चाहिये कि अब यह वृत्ति दृढ हुई। इसके बिना दृढ नहीं। जैसे-जैसे यह दृढ होती है वैसे-वैसे दृष्टि पुष्ट हो जाती है। यह पुष्ट दृष्टि हो जाने पर फिर उस आत्म-तत्त्व की प्राप्ति सहज-सुलभ हो जाती है। यह ध्येय ब्रह्म का रूप हुआ। ध्यान के लिये श्रद्धा (प्रेम या इच्छा) और फिर उसके अन्दर विरोधी प्रत्यय का त्याग, जितना विरोधी प्रत्यय का त्याग उतनी ही निरंतर भावना, यह तब तक जब तक स्वप्न में भी वही वृत्ति बने। यह उसकी सीमा बता दी। ये सारी चीज़ें विचार के लिये आवश्यक नहीं हैं। ये सब ध्येय ब्रह्म के लिये चाहिये। उसके लिये बुद्धि की तीव्रता, निश्चय की दृढता अर्थात् एक बार जो निश्चय हो गया सो हो गया। फिर कभी हटने वाला नहीं है, चाहे कोई हज़ार युक्तियाँ दे। लेकिन वह तब होता है जब प्रमाण-मीमांसा ठीक प्रकार से की जाये। एक ही चीज़ में दो प्रकार का जो यह भेद है, इसकी एक श्रेष्ठता बताते हैं।

एक राजा एक बार संसार को देखने के लिये निकला। उसके मन में आया कि संसार का भ्रमण करके संसार को देखूँ, जिसे आजकल अंग्रेज़ी वाले 'वर्ल्ड टूर' कहते हैं। उसने अपनी पत्नी और पुत्री से कहा कि 'तुम हमारे साथ नहीं चल सकतीं क्योंकि न जाने कैसी-कैसी परिस्थिति आये, इसलिये औरतों का साथ रहना ठीक नहीं।' वे कहने लगीं कि 'हम भी देखें कि दुनिया कैसी होती है।' लेकिन राजा ने कहा कि तुम लोग घर में रहो। राजा निकल गया। लड़की और माँ के मन में आया कि खुद तो घूमने जा रहे हैं और हमें यहीं छोड़ जा रहे हैं। लेकिन राजा

के जाने पर रानी मालकिन हो गई, इसलिये उसने स्वतन्त्र निर्णय लेकर कहा कि हम भी जायेंगे। वे दोनों गुप्त रूप से वेष बदलकर चल दीं। जहाँ राजा आज पहुँचे, ये वहाँ दूसरे दिन पहुँच जायें। यह सोचकर कि 'हम भी घूम आयें', दोनों राजा के पीछे-पीछे चलती गईं। मार्ग में डाकू, चोर तो रहते ही हैं। उन्होंने देखा कि ये औरतें बड़े गहने पहने हुए हैं, एक दिन अपने इनसे सब लूट लें। इसीलिये राजा बेचारा मना करता था। आदमी को देखकर झट पता नहीं लगता कि यह बड़ा आदमी है या गरीब है। औरत साथ आये तो झट पता लग जाता है कि यह बड़े आदमी की औरत है या छोटे आदमी की औरत है। पुराने ज़माने में गहनों से पता लगता था कि नथ कितने तोले की पहन रखी है। इसी से बाकी सब पता लग जाता था कि कितना माल इनके पास है। चोरों ने एक दिन आक्रमण किया तो ये दोनों बेचारी डर कर वहाँ से भाग गईं। बड़ी भयंकर वर्षा हो रही थी। स्वाभाविक है कि जहाँ वर्षा हो रही हो, बादल गड़गड़ा रहे हों तो ऐसे समय में डाकुओं का सरलता से काम बन जाता है क्योंकि मारें-पीटें तो आवाज़ उसी गड़गड़ाहट में दब जाती है। झट कोई आदमी बाहर भी नहीं आता। इसलिये चोरों ने अपना काम बनाया। ये दोनों बेचारी वहाँ से भागकर बड़ी दूर किसी तालाब के किनारे जाकर बैठ गईं।

एक ब्राह्मण और उसका लड़का दूसरे दिन प्रातःकाल उसी धर्मशाला में आकर ठहरे जहाँ ये दोनों पहली रात ठहरी हुई थीं। धूप निकल आई थी, कीचड़ सूख गया था, जब ये लोग इधर-उधर घूमने लगे तो इन लोगों ने देखा कि दो औरतों के पैर एक तरफ जा रहे हैं। उनमें से एक के पैर छोटे और दूसरी के बड़े हैं। ये दोनों सामुद्रिक शास्त्र जानने वाले थे। सामुद्रिक शास्त्र जानने वाले मनुष्य के चेहरे और पैर की छाप को देखकर पता लगा लेते हैं। पिता ने पुत्र से कहा कि इन पैरों से लगता है कि इनके अन्दर सभी उत्तम गुण हैं। लड़के ने भी देखकर कहा कि बात ऐसी ही है। पिता ने कहा 'अपने चलकर घूमें, मार्ग साधारण नहीं है, जंगल की तरफ रास्ता जा रहा है और इनके चरण वापिस आते हुए भी नहीं दीख रहे हैं। इसलिये लगता है कि ये दोनों किसी विपत्ति में गई हैं या और कोई कारण होगा, चलकर पता लगायें।' लड़का कहने लगा कि 'निरर्थक जाने से कोई फ़ायदा नहीं है। मेरी माता थोड़े दिन पहले मर चुकी है। अगर ये मिल जायें तो आप इनसे विवाह कर लेना।' पिता ने कहा 'ये दो हैं, इसलिये एक से तू ब्याह करना और एक से मैं कर लूँगा।' पुत्र ने विचार किया कि यह भी पिता जी ने ठीक कहा। लेकिन पुत्र ने कहा कि 'पहले अपने यह निर्णय कर लें कि कौन किससे ब्याह करेगा क्योंकि पहले मैं किसी को देखूँ और मेरी बुद्धि हो जाये और बाद में वह कहीं आपको पसन्द आ जाये तो यह ठीक नहीं होगा क्योंकि माता का विषय हो जाता है।' पिता ने कहा 'तू ही निर्णय कर ले।' बेटे ने कहा 'छोटे पैर वाली छोटी उम्र की मेरी और बड़े पैर वाली बड़ी आपकी।' दोनों पद-चिह्नों के पीछे-पीछे गये। जब तालाब के किनारे पहुँचे तो वे दोनों वहाँ बैठी हुई मिल गईं। उन्होंने बताया कि 'हम यहाँ विपत्ति में पड़ी हैं और कोई हमारा रक्षक नहीं है।' उन बाप-बेटे

ने देखा कि माँ के पैर छोटे और लड़की के पैर बड़े हैं! फिर भी जैसा दोनों ने निश्चय किया था, वैसे ही दोनों ने विवाह कर लिया। बड़ी से लड़के ने और लड़की से बाप ने ब्याह कर लिया। उनकी आगे संतति हुई। उन संततियों में यह झंझट चलती था कि हम किसको क्या कहें, क्योंकि छोटी लड़की का जो पुत्र हुआ, वह एक सम्बन्ध से तो दादी का पोता लगा और दूसरे सम्बन्ध से दोहिता लगा। ये दोनों सम्बन्ध एक दूसरे के विपरीत पड़ते हैं क्योंकि एक पीढ़ी का फ़र्क हो गया। पिता के सम्बन्ध से जो एक पीढ़ी नीचे, वह माता के सम्बन्ध से एक पीढ़ी ऊपर है। यह संसार का स्वरूप है। ठीक जिस प्रकार से यह सम्बन्ध नहीं बनता, ऐसे ही यह जगत् का सम्बन्ध है।

जीव ही यहाँ राजा है। इसकी दो शक्तियाँ हैं  ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति अथवा मन और प्राण। कभी विचार किया कि इन दोनों में क्या विलक्षणता है? आप लोग वेदांत श्रवण करने वाले हो, मन को श्रेष्ठ मानते हो और उम्र में प्राण बड़ा है! सबसे पहले गर्भ में प्राण आता है। मन तो बाद में आयेगा, जब दिमाग बन जायेगा। यद्यपि उम्र में प्राण बड़ा है तथापि व्यवहार में प्राण मन से छोटा है। इसलिये हम मन को प्रधान मानते हैं। ये दोनों छद्मवेष से जा रहे हैं। जीवरूप राजा ही विश्व-भ्रमण के लिये निकला है। रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंध सबको देखने के लिये जीव आया है। यही उसका विश्व-भ्रमण है। इनके पीछे-पीछे छिपी हुई प्राण और मन की शक्ति है। छिपी हुई इसलिये कि जीव को यह पता नहीं लगता कि यह प्राण की और यह मन की शक्ति है। इसे लगता है कि यह मेरी ही है। वेदांत बाँचकर कहते हो कि क्षुत्-पिपासा प्राण का धर्म है लेकिन लगता यही है कि मुझे भूख लगी है। इसी प्रकार, कहते हो कि शोक, मोह मन का धर्म है लेकिन दिल कहता है कि शोक मोह हो तो मुझे ही रहे हैं। इसीलिये मन और प्राण रूप शक्तियाँ जीवरूपी राजा से छिपी हुई हैं। इन प्राण और मन के ऊपर डकैतों ने आक्रमण कर रखा है, इसलिये ये जंगल में भागे हुए हैं। प्राण और मन काम, क्रोध आदि से प्रताडित होकर जंगल में भागे हुए हैं। जीव कहीं और है और ये कहीं और हैं। कहते हो  महाराज! शान्ति चाहते हैं। जीव शांति चाहता है और मन चाँदनी चौक में जाकर बिक्री-कर की चोरी करना चाहता है! जीव को शांति कहाँ से मिले! इसलिये दोनों अलग-अलग हुए हैं। इसी प्रकार प्राण और जीव हैं। जीव चाहता है कि बढ़िया सुन्दर दाल का हलुआ खायें और प्राण कहता कि मैं तो दाल भात से ज़्यादा हज़म नहीं करने वाला हूँ। ऐसे ही सब भोगों में समझ लेना। यही प्राण और मन रूपी ज्ञान और क्रिया शक्ति का चोरों के आक्रमण के द्वारा अन्यत्र चले जाना है।

वर्षा का समय है, घोर वृष्टि हो रही है। उस दिन माया रूपी बादल से जगत् रूपी सारे पदार्थों की वृष्टि होती है। सप्तशती में उसी को शाकंभरी कहा है। सारे संसार की वृष्टि होती है। इस जगत् के पदार्थों के अन्दर जब मनुष्य देखता है तो ज्ञान और क्रिया के पदचिह्न मिलते

हैं। इसको ब्राह्मण देख पाता है। यों न जाने कितने लोग धर्मशाला में आये और गये लेकिन ब्राह्मण ने इस ओर ध्यान दिया, और किसी ने नहीं। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म का अन्वेषण करे, ब्रह्म को जानना चाहे। ब्राह्मण दो हैं   ज्ञानी और ध्यानी। परोक्ष ज्ञान के बाद ध्यान होता है। इसलिये ध्यान पुत्र की जगह पर है। चूंकि परोक्ष ज्ञान पहले होता है, इसलिये वह पिता की जगह पर है। पहले शास्त्र के 'आत्मा ब्रह्मरूप है' ऐसा परोक्ष करोगे, तभी ध्यान होगा। इसलिये ज्ञान पिता की जगह पर है। दोनों सामुद्रिक शास्त्र को जानते हैं। जैसे समुद्र से ही जल बाहर निकल कर आया है और समुद्र में ही पुनः जायेगा यह समुद्र-शास्त्र है, इसी प्रकार यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड उस परमशिव से ही आया है और पुनः उस परमशिव को ही जाता है। यही जानने वाला व्यक्ति ब्राह्मण है जो सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञाता है। प्राण का संयमन कौन करेगा? यद्यपि यह शक्ति बहुत बड़ी है लेकिन इसका ब्याह ध्यानी के साथ होगा। उधर, ज्ञान का ब्याह मन के साथ होगा जो बहुत छोटी शक्ति है। परोक्ष ज्ञान के बाद दृढ बुद्धि वाला होने के कारण ज्ञान नवीन ज्ञान है, इसीलिये उसे छोटा कहा गया। अनादिकाल से आज तक सबसे जवान ज्ञान ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होगा क्योंकि यह आज से पहले किसी को नहीं हुआ। हुआ होता तो यह संसार खत्म हो गया होता! इसलिये अपरोक्ष ज्ञान अत्यंत जवान है और प्राण संयमन से होने वाला परोक्ष ज्ञान ज़्यादा उम्र का है। बचपन से सुनते रहे कि आत्मा परमात्मा है लेकिन अपरोक्ष नहीं है, इसलिये वह उम्र में बड़ा और यह छोटा है।

इन दोनों का यह तत्तद् विवाह होता है तब उनसे संतति उत्पन्न हुई। उस संतति का रिश्ता एक पीढ़ी से ऊपर और दूसरी से नीचे का है। एक-दूसरे से विपरीत दृष्टि है। ज्ञानी का जैसा अपरोक्ष साक्षात्कार, ध्यानी का भी वैसा ही होगा, उसमें कोई फ़र्क नहीं है। एक तरफ से रि   श्ता देखने वाला कहता है कि श्रवण किया, तब निदिध्यासन आया। दूसरा कहता है   अरे नहीं भाई, पहले चित्तवृत्ति की एकाग्रता (निदिध्यासन) आयी तब श्रवण ने अपना फल उत्पन्न किया। यह ध्यानी की प्रक्रिया है; कोई कहता है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन ज्ञान के हेतु हैं। इनसे विपरीत भावना हटी तब मोक्ष हुआ। कोई दूसरा कहता है कि श्रवण-मनन सहकृत निदिध्यासन से ज्ञान है। ज्ञानी कहता है कि पहले मनन और निदिध्यासन से जिसका अंतःकरण शुद्ध हो गया उसको श्रवण होते ही अपरोक्ष ज्ञान है। एक रिश्ते में निदिध्यासन पहले और दूसरे में श्रवण पहले काम आया। दोनों रिश्ते सच्चे हैं, झूठा कोई नहीं है। हर हालत में, चाहे निदिध्यासन के रिश्ते से श्रवण बाद में, चाहे श्रवण के रिश्ते से निदिध्यासन बाद में करो, जब यह पूरा होता है तभी तत्त्व में स्थिति होती है। परमशिव की पर्यंकरूपता पर आगे विचार करेंगे।

# प्रवचन-२२

१०–४–७२

भगवती की उपलब्धि का स्थान जो परमशिवरूप की एकता, उसका प्रतिपादन किया। अभेद इसलिये कि दोनों ही सच्चिदानंद ब्रह्म स्वरूप हैं। एक ध्यान का विषय और दूसरा ज्ञान का विषय है, इस दृष्टि से भेद है। ध्येय ब्रह्म का स्वरूप बताया। अब, उसी परब्रह्म परमात्मा को जब वेद आदि सच्छास्त्रों की मीमांसा के द्वारा ठीक प्रकार से समझ कर उससे ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसका क्या स्वरूप है यह आगे बताना है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'आत्मैवेदं जगत् सर्वं सत्यापूर्वादिलक्षणम्।
वेत्ति यस्तत्त्वतो वाक्यात् तस्यैवेह कृतार्थता।।' (बृ० वा० २.१.२७१)

ध्येय ब्रह्म को बताते हुए कहा था कि जब तक निरंतर उसका अभ्यास नहीं होता, तब तक उसमें स्थिरता नहीं आती। इसलिये वहाँ नैरन्तर्य आवश्यक है। अनात्म प्रत्ययों को हटाते हुए आत्म-प्रत्यय को निरंतर बनाना ज़रूरी है। अब ज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहा 'वेत्ति यस्तत्त्वतो वाक्यात्' उस भगवती का जो ज्ञानदृष्टि से दर्शन करते हैं, वह ज्ञान किससे होता है? तत्त्व को बताने वाले जो वाक्य हैं, बस उनसे ही उसका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वाक्य अर्थात् तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि वाक्य। वाक्य का अर्थ उसको पता लगेगा जिसको पहले पद के अर्थों का पता होगा। 'राम ने रावण को मारा' यह सुनते ही कुछ लोग खुश हो जाते हैं और कुछ लोग दुःखी हो जाते हैं। जिसको पता है कि जिस रावण ने सीता का हरण किया था, समझाने पर भी नहीं माना था, वह देवताओं, ब्राह्मणों, ऋषियों को कष्ट देता था, उसको श्री राम ने मार दिया उसे यह सुनकर इसके अर्थ को समझ कर प्रसन्नता हो जाती है। जिसने रामायण कभी नहीं सुनी, वह जब सुनता है कि राम ने रावण को मार दिया तो तुरंत कहेगा कि बुरा किया। क्योंकि सामान्य नियम है 'मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि' किसी प्राणी की हिंसा करना बुरा है। वह उस वाक्य के भाव को पूरी तरह नहीं समझ सकता जिसे राम, रावण आदि के बारे में सही-सही पता नहीं है। इसी प्रकार से तत्त्वमस्यादि वाक्यों का उच्चारण किया जाता है तो जिसको पद और पद-संगतियों का पता है, उसको ज्ञान उत्पन्न होता है, दूसरे को नहीं होता।

वाक्य-उच्चारण से हरेक को कुछ ज्ञान तो हो ही जाता है। वाक्य के उच्चारण-मात्र से भी एक ज्ञान होता है। यह ख्याल रखना कि वाक्य के उच्चारण से दो प्रकार का ज्ञान होता है। एक ज्ञान है, दूसरा ज्ञानाभास है। ज्ञानाभास का मतलब है कि लगता तो ज्ञान है लेकिन ज्ञान है नहीं, केवल ज्ञान का आभास है। जैसे किसी आदमी का फोटो देखकर भी उस आदमी का ज्ञान हो जाता है अर्थात् भाचित्र भी आदमी का परिचायक है लेकिन भाचित्र तत्त्वतः उस आदमी का

ज्ञान नहीं कराता। कई बार मनुष्य भाचित्र में जितना सुन्दर लगता है, उतना सचमुच नहीं होता। हमने पहले नेहरू जी का फोटो बहुत देखा था, मन में कल्पना थी कि बड़े लम्बे होंगे। जब प्रथम बार उनको देखने का मौका पड़ा तो पूछा कि क्या यह उनके छोटे भाई हैं? कहा  नहीं, यह तो एक ही भाई है। यह बहुत साल पहले की बात है। वह जितने लम्बे फोटो में दीखते थे, उतने लम्बे नहीं थे लेकिन भाचित्र में जैसा आ गया, सो आ गया। यह नेहरू जी का ज्ञानाभास हो गया। नेहरू जी को जाना तो सही लेकिन वह ज्ञान आभास है। इसी प्रकार से जब कहते हैं कि तुम्हारे हृदय का साक्षी आत्मा है, तब साक्षिमात्र का, उस अंतःकरण की वृत्ति के साक्षी का ज्ञान तो हो जाता है, लेकिन वह ब्रह्म के ज्ञान का आभास है। साक्षी एक तरह से कूटस्थ का भाचित्र है। नतीजा यह होता है कि हमने उसको पहचान तो लिया है लेकिन जो उसका परमशिवाकार व्यापक स्वरूप है, वह हृदय में नहीं आया है, अनुभव में नहीं आया है। हम अपने देह और मन के दुःख की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। कहते हैं कि इस शरीर के और मन के दुःख को तो हटाना ही है क्योंकि प्रतीति जो हो रही है। दूसरे अंतःकरणें में किसे प्रतीति हो रही है? मुझे ही तो हो रही है! फिर भी इस देह, प्राण, मन के लिये जिस प्रकार की प्रतीति है, वैसी दूसरे देह, प्राण, मन में नहीं होती है जबकि है वह आत्मा एक ही। इसी को ज्ञानाभास कहते हैं। ज्ञान की तरह तो है लेकिन सच्चा ज्ञान नहीं है, ज्ञानाभास है।

इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि सत्य अपूर्व आदि लक्षणों वाला जो आत्मा है, उसे समझना सफल है। संसार में जो भी जड-चेतन प्रतीत हो रहा है, वह सारे का सारा आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है। यहाँ तक तो ध्यानी को भी पता लग जाता है कि यह सारा जगत् मायाविशिष्ट चेतन है। इस सारे जगत् के अंदर पाँच चीज़ें हैं

‘अस्ति भाति प्रियं नाम रूपमित्यंशपंचकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।’

इतना तो सबको प्रतीत होता है अर्थात् जिन्होंने शास्त्र का अध्ययन किया और ध्यान कर लिया कि संसार में जो कुछ है, उस सबमें सत्, चित्, प्रिय, नाम, रूप है। इनमें नाम और रूप माया है, अस्ति भाति प्रिय ब्रह्म है। इसलिये जगत् में जो कुछ है, वह या माया है या ब्रह्म है। यहाँ तक तो ध्यानी पहुँचता है अर्थात् जगत् उसके लिये मायाविशिष्ट चेतन है या ईश्वर है। लेकिन जिसको तुम नाम-रूप कहते हो, वह भी कुछ नहीं है, वह आत्मा ही है। पत्थर के अन्दर तुमको जो गड्ढा नज़र आता है, जो ऊँचाई नज़र आती है, उस ऊँचाई या गड्ढे में सिवाय पत्थर के और कुछ नहीं है। कमीज देख लो। उसमें एक का नाम कालर है जो गर्दन में गधे के कान की तरह लटकता है। एक हाथ के अन्दर जो मोड़ देते हो, वह कफ है, तीसरे बटन का छेद और दोनों हाथों में लटकने वाली आस्तीनें, एक ऊपर की जेब और दो नीचे की जेबें  सब

अलग-अलग हैं। हम तुमसे पूछते हैं भले आदमी, हमको तो कपड़ा ही कपड़ा नज़र आ रहा है। एक को तिकोना कर दिया, एक को गोल कर दिया, नज़र तो हमको सिवाय कपड़े के वहाँ और कुछ नहीं आ रहा है। जैसे पत्थर में छेद और ऊँचाई दोनों सिवाय पत्थर के और कुछ नहीं है, जैसे कमीज़ के अन्दर सिवाय कपड़े के और कुछ नहीं है, उसी प्रकार से तुम जिसको नाम रूप कहते हो, वह क्या है? आत्मा ही है। एवकार से किसी भी प्रकार के माया-स्पर्श को स्वीकार नहीं किया। यहाँ भी उसे बताया था 'भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानंदलहरीम्' सारी चिदानंद की लहरी है, और कुछ नहीं है। ये सब आत्मा की ही लहरें हैं।

इस चीज़ को तत्त्वतः अर्थात् वास्तविकता से जानना है अर्थात् अनुभूतिपूर्वक जानना है, केवल मुख से कहने वाली बात नहीं। बहुत बार हम लोग कह तो बहुत जाते हैं क्योंकि हम लोगों की एक आदत है जिसको मारवाड़ी भाषा में कहते हैं कि भाव के भाव बेचना। पाँच रुपये का एक सौदा खरीदा तो असल मारवाड़ी पाँच रुपये में ही उसे बेच देता है। हम उससे पूछते हैं कि यह तूने क्या किया, तेरे को इस टण्टे से क्या फ़ायदा हुआ? कहता है कि 'मैंने जानकार दुकानदार से खरीदा है, इसलिये १५ दिन में भुगतान करना है और यह सौदा नकद बेच दिया, रुपया अभी मिल गया, इसलिये १५ दिन का ब्याज कमा लिया।' भाव के भाव बेच दिया। मारवाड़ी ही यह कर सकता है, और कोई नहीं कर सकता। इसी प्रकार से हम लोग भी अपना ज्ञान कई बार भाव के भाव बेचते हैं। सत्संग में सुना, शास्त्रों में पढ़ा और सामने वाले को हमने वह की वह बात सुना दी। हृदय के अनुभव में उसे नहीं उतारा है। यद्यपि ऐसा करने में भी ब्याज तो बच जाता है। यह नहीं समझ लेना कि भाव के भाव बेचना सर्वथा बेकार है। जैसे वहाँ भी ब्याज तो १५ दिन का बच गया, ऐसे ही जब तुम उस ज्ञान को दूसरे को दोहराते हो तो उसके संस्कार तुम्हारे हृदय पर पड़ ही जाते हैं। किसी-न-किसी कालान्तर में वह फल देता है। क्योंकि जिस चीज को बार-बार दोहराओगे वह धीरे-धीरे अंतःकरण में संस्कार बनती जायेगी। इसीलिये कहीं-कहीं शास्त्रकारों ने लिखा है 'अनुभूतेरभावेऽपि' अनुभूति का यदि अभाव भी है, अनुभव नहीं है तो भी, मेरा सच्चा रूप ब्रह्म है, ऐसी कल्पना ही करे, झूठी ही करे क्योंकि संस्कार पड़ेगा। ग़लती तब होती है जब हम उसको ज्ञान मान लेते हैं। जब तक हम उसे ज्ञानाभास समझ कर इसलिये दोहराते हैं कि वृत्ति दृढ होगी, तब तक तो ठीक है, लेकिन यदि उसको सचमुच समझ लो तो फिर घाटा हो जाता है। कुछ-कुछ शरम भी आने लगती है। तुम तीर्थयात्रा करने गये, वहाँ किसी ने पूछा तुम कौन हो? तुमने सोचा कि यहाँ तीर्थ में आये हैं, ब्राह्मण कहने से लोग अच्छी तरह दर्शन करने देंगे, इसलिये कह दिया कि मैं ब्राह्मण हूँ। अगर सवेरे पाँच बजे उठता है तो उसे शरम आती है कि लोग क्या कहेंगे, ब्राह्मण होकर पाँच बजे उठता है! उस शरम के मारे झूठा ब्राह्मण भी सवेरे चार बजे उठकर गंगा में गोता लगा ही लेगा। इसी प्रकार जब अपने को सर्वव्यापक ब्रह्म कहोगे तो दूसरे को ठगने में शरम खाओगे कि कोई

क्या कहेगा। इसलिये शरमा-शरमी अच्छा व्यवहार करने लग जाओगे। लेकिन है वह ज्ञानाभास ही, इसलिये जैसे ही तीर्थयात्रा से घर आये, वैसे ही फिर छह बजे उठने लग जाओगे। ऐसे ही उस बात को जब तक दोहराते हैं, तब तक तो सत् व्यवहार करते हैं  यह ब्याज का फ़ायदा है लेकिन वह दृढ नहीं होता।

इसलिये यहाँ कहते हैं कि जो वाक्यों के अर्थ को वेद की प्रमाण-मीमांसा के द्वारा तत्त्वतः, अनुभवपूर्वक दृढता से जानता है, क्षणमात्र को भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता, उसकी उसी क्षण कृतार्थता है। जिसने तत्त्वतः जाना है, उसकी ही कृतार्थता है अर्थात् ध्यानी की उसी क्षण कृतार्थता नहीं है। वह तो ध्यान करते-करते जब हृदय दृढ होगा, तब कृतार्थ होगा। जिसने तत्त्वतः उसे जान लिया उसकी उसी क्षण कृतार्थता है। फिर उसके लिये कोई कृत्य (करने लायक) नहीं बचता। यह दृढ बोध, दृढ अनुभव तभी हो सकता है जब स्थिरतापूर्वक बार-बार वेद के प्रमाणों का विचार करे। उसके लिए बड़ा धैर्य चाहिये और लगे रहना पड़ता है। संसार में सबसे कठिन विचार ही है क्योंकि विचार में खुद दण्ड पेलने पड़ते हैं। जैसे पहाड़े याद करना सरल है, व्यापार करना मुश्किल है। व्यापार का कोई सूत्र नहीं है। उसी परिस्थिति को देखते हुए कभी माल खरीदोगे तो भाव घट जायेगा। सारी की सारी बातें लिख दीं कि इस महीने, इस दिन, अमुक व्यक्ति बेचने आया था तो भाव घट गया था और अगली बार सारी की सारी वही परिस्थिति देखकर तुमने अनुमान किया कि अब भी भाव घट जायेगा पर भाव बढ़ गया! कोई नियम नहीं कर सकते। इसी प्रकार से विचार के अन्दर हम कुछ सामान्य रास्ते तो दिखा सकते हैं लेकिन करना खुद पड़ेगा। लोग समझते हैं कि हमने शास्त्र की युक्तियों को याद कर लिया तो विचार हो गया। वह तो हर भिन्न परिस्थिति के अन्दर जब परिस्थिति आयेगी तब पता लगेगा। यदि विचार करना आता है तब तो उस परिस्थिति में भी विचार कर लोगे। नहीं तो कहोगे कि यह दाँव तो गुरुजी ने सिखाया ही नहीं। जैसे दाँव के रूप में केवल तुमको सामान्य नियम सिखाते हैं, कुश्ती तो लड़ते-लड़ते अभ्यास से आती है; उसी प्रकार से सामान्य नियम का प्रतिपादन होता है, उसका प्रयोग तो विचार करने वाला खुद ही जब अपनी बुद्धि को लगाये, तभी कर सकता है। विचार करने वाला जो व्यक्ति है, उसके अन्दर आत्मा का एक दृढ बल आता है। जैसे जो स्वयं सड़क पर चला है, उसको उस रास्ते में चलने का जो बल है, वह बल उसको नहीं है जिसने किसी दूसरे से उस रास्ते को पूछा भर है। यहाँ का रहने वाला दूसरे से बातें करते हुए यदि अपनी गली से बीस कदम आगे निकल गया तो वह वापिस नहीं लौटता, कहता है  कोई बात नहीं, आगे से दाहिने निकल जाऊँगा। उसे पता है उस रास्ते से पहुँच जाऊँगा। जो व्यक्ति दूसरे से रास्ता सीखा हुआ है, वह याद करता है कि जब हरे रंग का साइनबोर्ड आयेगा तो दाहिने मुड़ना है, अगर चूक गया तो फिर वापिस लौटकर आयेगा। इसी प्रकार से दूसरे से श्रवण करके श्रद्धापूर्वक जो ध्यान में लगा है वह तो वैसे ही ध्यान कर सकता

है, उसी परिस्थिति में चल सकता है। जहाँ थोड़ी-सी परिस्थिति बदली, उसकी सब समझ गड़बड़ा जाती है। इसीलिये उसमें कृतार्थता नहीं आती। जिसने उस रास्ते को अच्छी तरह से घूम कर देख लिया है, उसे गली-गली और घर-घर याद है। उसके अन्दर एक आत्मबल है कि जगत् मिथ्या है, प्रारब्ध का सुख-दुःख भोग डण्डे खाकर भी करना पड़ता है। इतना निश्चय बार-बार सुनकर, दूसरे को सुनाने पर भी अपरोक्षहीन को नहीं होता, उसका दिल कहता है कि 'जेब में पैसा नहीं तो खाना कहाँ मिलगा? बैंक में रुपया नहीं तो लड़के का व्यापार कैसे चलेगा?' दृष्टांत में सुना है कि भोजन डण्डे खाकर मिला, लेकिन उसमें यह नहीं सुनाया गया था कि लड़की का ब्याह डण्डे मारकर कराया गया! इसलिये चूक गये।

एक सच्ची घटना है : ईसा के उपदेश में लिखा है कि कभी कोई तेरे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तू दूसरा गाल आगे कर देना। एक जगह रेल में एक आदमी चढ़ा, वह बड़ा हृष्टपुष्ट था। उसने एक आदमी से जगह बनाने के लिये कहा कि ज़रा सरक जा। जिससे कहा था वह दुबला-पतला आदमी था। उसने कहा   नहीं सरकता। इसने देखा कि और कहीं जगह नहीं थी और वह लम्बी टांग करके बैठा था। इसलिये इसने थोड़ा-सा धक्का दिया, उसका पैर मुड़ा और यह वहाँ बैठ गया। उस दुबले आदमी ने उस तगड़े आदमी को एक थप्पड़ मार दी। उसने गाल सहलाया और साथ में याद आया कि 'मैं ईसाई हूँ,' उसने दूसरा गाल सामने कर दिया और कहा कि इस पर भी मार दे। वह दुबला आदमी गुस्से में तो था ही, उसने झट दूसरे गाल पर भी थप्पड़ मार दिया। अब पहलवान उठा, सोचा बाईबल में लिखा है कि कोई एक गाल पर मारे तो दूसरा गाल सामने करो; दूसरे पर मारे तो क्या करो   यह तो वहाँ लिखा नहीं है। उसने उस दुबले को उठाया और रेल के बाहर फैंक दिया! कहा कि बाइबल की उतनी बात तो मान ली जितनी लिखी है। जितनी युक्ति तुमको रटायेंगे, उतनी ही समझ पाओगे। परिस्थिति बदल गई तो फिर अन्दर की वे ही वासनायें प्रकट होंगी। ईसा का भाव यह था कि किसी भी परिस्थित में, किसी भी प्राणी को दुःख मत दो। जैसे शास्त्रों के अन्दर कहा 'मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि' किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो, यह इसका तात्पर्य हुआ। लेकिन जो व्यक्ति उस तात्पर्य को नहीं समझेगा, हृदय में नहीं उतारेगा, वह वही करेगा जो रेल वाले ने किया। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने इस तत्त्व-मीमांसा को स्वतः कर लिया, उसकी कृतार्थता हो गई। बाकी जितने साधन हैं, वे मनुष्य को कृतार्थ नहीं करते, अर्थात् उनमें कुछ-न-कुछ पाना शेष रह जाता है।

एक कथा आती है कि कौतुकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ बहुस्वर्ण नाम का राजा था। वह बहुतों को तरह-तरह के धन दान दिया करता था। लेकिन उसका ही एक क्षत्रिय नौकर था जिसका नाम यशोवर्मा था। उसे वह कभी कुछ नहीं देता था। बाकी सबको देता था। यशोवर्मा जब कहे कि 'मेरे को भी कुछ दे दो' तो राजा उससे कहे 'क्या बताऊँ, मैं तो देना चाहता हूँ लेकिन (सूर्य की तरफ अंगुली दिखाकर कहे) यह नहीं देने देता।' वह बेचारा चुप रह जाये। एक

बार सूर्यग्रहण का समय आया। यशोवर्मा ने कहा कि 'आज तो सूर्य को ग्रहण लगा हुआ है, इसलिये छिपा हुआ है, अब ना नहीं कर सकते, आज तो मेरे को कुछ दे दो।' बहुस्वर्ण ने विचार किया कि अब तो दे दूँ, नहीं तो बुराई होगी। उसने उसे कुछ धन और कपड़े आदि दे दिये। वह ले गया। लेकिन वह तो थोड़े दिनों में ख़त्म हो गये। अब वह बेचारा रोज़ देखे कि कब सूर्यग्रहण आये और कब मुझे मिले। रोज़ तो ग्रहण आता नहीं, ग्रहण का कोई ठिकाना नहीं है। पहले तो यशोवर्मा के पास धन नहीं था, इसलिये धन का अभाव उतना नहीं खटकता था। धन पास में न हो तब तक दुःख कम होता है। होकर छिन जाये तब दुःख ज़्यादा होता है। इस दुःख को देने का तरीका आजकल के लोगों ने बड़ा सुन्दर निकाला है। तुमने दो सौ रुपये वाले की तन्ख्वाह ढाई सौ रुपये कर दी। पहले महीने मैं उसको पचास रुपये ज़्यादा खर्च करने को मिल गये, अब उसे ज़्यादा चीज़ें खरीदने की आदत हो गई, दूसरे महीने में तुमने इतनी महँगाई बढ़ा दी कि जो पचास रुपये तन्ख्वाह बढ़ी थी, वह भी ख़त्म और तीसरे महीने बाकी २५० सौ भी ख़त्म हो गये! इससे अच्छा तो महँगाई न बढ़ाते और उस बेचारे के दो सौ रखे रहते तो वह सुखी रहता। लेकिन जैसे किसी काल में राज्य की, सेठों की यह इच्छा रहती थी कि जो हमारी प्रजा हैं, जो हमारे नौकर हैं, वे सुखी रहें, वैसे ही आज राज्य से मालिकों तक सबकी यह इच्छा रहती है कि जो हमारे अंतर्गत हैं, वे सुखी न हो पायें। एक-एक युग की एक-एक इच्छा होती है, क्या करोगे! उनको सुखी देखकर प्रसन्न नहीं होते हैं। एक जगह हम कहीं गये हुए थे तो उनका नौकर तंग पायजामा पहने हुआ था। हम उसे नहीं समझते, लेकिन वह मालकिन हमसे कहने लगी, 'देखिये स्वामी जी! क्या ज़माना आया है! यह नौकर ऐसा पायजामा पहनता है।' हमने कहा, बात तो ठीक है लेकिन सवेरे, तेरा लड़का भी ऐसा ही पायजामा पहने था। कहने लगी 'वह और बात है।' यदि बुरी है तो दोनों के लिये बुरी मानो; लेकिन मन में भाव यह है कि अच्छा है, इसलिये मेरा लड़का तो पहने, नौकर क्यों पहने? हृदय में उन्हें देखकर प्रसन्नता नहीं है। इसी प्रकार राजा और प्रजा का व्यवहार है।

जब पहली बार यशोवर्मा को धन मिल गया तो उस बेचारे की आदत बिगड़ गई। अब सूर्य-ग्रहण का क्या ठिकाना, कब आये? कभी साल में तो कभी दो-तीन साल में एक बार आये, कभी न आये। उसकी बीबी घर में रोज़ झगड़ा करे कि जब एक बार लाये तो ग्रहण क्यों नहीं करते। वह कहे कि 'यह मेरे हाथ में नहीं है।' उसने कहा 'करना पड़ेगा। तेरे को मेरे से प्रेम नहीं है, होता तो ग्रहण लगा लेता।' उसने कहा 'यह तो राहु लगाता है।' बड़ा दुःखी होकर उसने सोचा कि यह जीवन रखने में अब कोई फ़ायदा नहीं है। वहाँ से चलकर विंध्याचल (मिर्ज़ापुर के पास) गया। वहाँ देवी का एक मन्दिर है। वहाँ उसने कहा 'हे भगवती! अब इस शरीर को रखने से कोई फ़ायदा नहीं है। मालिक देना नहीं चाहता और घरवाली उसके बिना घर में रखना नहीं चाहती। इसलिये जीवन का कोई फ़ायदा नहीं। या तो तू मेरे को सुखी कर या

आमरणांत अनशन (प्रायोपवेशन रहकर) रखकर शरीर छोड़ दूँगा। यह तब तक करूँगा जब तक मरूँगा नहीं या जब तक इच्छा पूरी नहीं होगी।' आजकल की भूख हड़ताल नहीं समझना कि कड़ाह प्रसाद खाते हुए भूख हड़ताल चलती रहती है! सच्चा प्रायोपवेशन था। वह वहीं बैठ गया। कुछ दिन बाद भगवती ने सोचा कि यह कलंक का टीका लगायेगा। भगवती प्रसन्न हो गई, पूछा 'क्या चाहिये?' कहा 'सुख चाहिये।' भगवती ने कहा 'गज़ब हो गया, तू सुख चाहता है और संसार में सुख नाम की चीज़ कहाँ से आये? सुख कई तरह के होते हैं धन का सुख, भोग का सुख, धर्म का और ज्ञान का सुख होता है। इसलिये तू यह बता कि तेरे को कौन-सा सुख चाहिये?' उसने कहा 'माता! मैंने आज तक इन चारों में से कोई सुख नहीं देखा। न मेरे को अर्थ मिला, न मेरी कभी काम-भोग की इच्छा पूर्ण हुई, न मैंने कभी त्याग या धर्म किया और मोक्ष का तो नाम ही आज सुना है। इसलिये तू ही बता दे या जो चाहे सो दे दे।' भगवती ने कहा 'ऐसा नहीं होगा। मैं तेरे को ठिकाना बता देती हूँ, तू खुद जाकर कुछ पता लगा ले। फिर तेरे को जो चीज़ अच्छी लगे, सो माँग लेना।'

उन्होंने चार जनों का ठिकाना बता दिया कि अर्थवर्मा, भोग-गुप्त, त्याग-शर्मा और ज्ञान-गिरि अुमक-अुमक देश में अमुक-अमुक स्थान पर रहते हैं। उनके पास जाकर तू अध्ययन करके आना और फिर जो ठीक लगे सो माँग लेना। उसने मान लिया। सबसे पहले वह अर्थवर्मा के पास चलकर गया, वहाँ जाकर देखा कि सेठ की बहुत बड़ी कोठी है। तब तक बैंक का ज़माना नहीं आया था, इसलिये सोने की गिन्नियों को थैलों में भरकर देते थे और गिनते नहीं थे, तोलते थे। उसने देखा कि गिन्नियों का मनों में आदान-प्रदान हो रहा है। वह तो यह देखकर हैरान हो गया कि मैंने तो जन्म भर एक धेला नहीं देखा और यहाँ बोरे ही बोरे भरे हैं! उसने सेठ से कहा कि 'मैं विंध्याचल से आया हूँ और कुछ दिन तुम्हारे साथ रहना चाहता हूँ।' सेठ ने कहा 'ठीक है, मैं भी देवी का भक्त हूँ, तुम बैठो, साथ ही चलेंगे।' काम-काज के बाद घर पहुँचे। जब भोजन करने बैठे तो उसको तो बढ़िया घी भरे सात परत वाले पराँठे और दाल भी जिसके ऊपर खूब घी तैर रहा था मिले, लेकिन खुद सेठ ने एक छोटा-सा सूखा फुलका और मूंग की दाल का पानी लिया और उबली हुई तोरई ली। उसने सेठ से पूछा 'आपका आज कोई व्रत है क्या?' उसने कहा 'नहीं;' 'जब व्रत नहीं है तो फिर मेरे को घी के पराँठे और अपने को यह?' सेठ ने कहा 'क्या बताऊँ, मेरे को हजम नहीं होता। यह तो तू आज आया है, इसलिये तेरा साथ देने के लिये मैंने दो छोटे फुलके रख लिये हैं, नहीं तो मैं तो एक 'सूप' नाम की चीज़ पीता हूँ।' दाल को ऐसा छान दो कि उसमें भी दाल का दाना न आये, वह 'सूप' होता है। यशोवर्मा ने कहा गजब हो गया, फिर यह इतना सोने का आदान-प्रदान करता किस लिये है? दूसरे दिन फिर दिन भर उसके साथ रहा, सेठ बेचारा खूब काम करता रहे और यह देखे कि बड़ा परिश्रम करता है। सोचा कि आज तो इसे खूब भूख लगी होगी, आज रात्रि को डटकर खायेगा।

जब रात को घर पहुँचे तो बढ़िया सुन्दर खीर बनी थी जिसमें सेर भर दूध को पाव भर बनाकर उसमें थोड़े चावल, बादाम, पिस्ते, मेवे सब डाले जाते हैं; खूब बढ़िया पुलाव बनाया था जिसमें मटर, पनीर सब डाला हुआ था; खुम्बी का बढ़िया सुन्दर साग बनाया हुआ था। लेकिन उस रात भी बेचारे सेठ ने वही दाल का पानी लिया! उसने पूछा 'यह क्या बात, आज तो दिन भर मेहनत भी करते रहे, आज तो बढ़िया माल लो क्योंकि दिनभर परिश्रम किया है और परिश्रम से हजम हो जाता है।' सेठ ने कहा 'आज कुछ लेना तो नहीं था, लेकिन मेरे को आधा पाव दूध दे दो और थोड़े से उबले चावल, (पुलाव नहीं) दे दो। इससे ज़्यादा हिम्मत नहीं है।' दोनों में प्रेम हो गया और दोनों एक ही कमरे में सोये। रात को यशोवर्मा को स्वप्न आया कि चार बड़े-बड़े आदमी दण्ड लेकर आये हैं और अर्थवर्मा को पीट रहे हैं कि 'आज तूने अपनी हस्ती से ज़्यादा क्यों खाया? तूने सवेरे दो फुलके खा लिये और रात में आधा पाव दूध और उबले चावल खा लिये।' उसने कहा 'यह मिल गया, इसके कारण खाना पड़ा, मुझे छोड़ दो।' उन्होंने कहा 'कैसे छोड़ दें, तेरे को रखवाली के लिये रखा है या इस तरह खाने के लिये?' वह उठा तो देखता है कि अर्थवर्मा कराह रहा है, भात और दूध से वायु का गोला उठ रहा है। उस दिन बेचारे को कै (वमन) हुई और सूप भी निकल गया। यशोवर्मा समझ गया कि स्वप्न में मुझे देवी ने दिखाया कि यहाँ डण्डे पड़ते हैं। सवेरे उसने कहा 'मुझे आगे जाना है।' अर्थवर्मा ने कहा 'दो-चार दिन और रहो।' उसने कहा 'मुझे जो देखना था, सो देख लिया।' वहाँ से कान पकड़ कर निकला कि मुझे कभी भी धन नहीं लेना है, धन से यह हालत होती है।

दूसरे ठिकाने पर भोगगुप्त के पास चला। दो-चार दिन के बाद उस शहर में पहुँचा जहाँ भोगगुप्त रहता था। एक बढ़िया मकान के बाहर की तरफ के एक कमरे में भोगगुप्त ठहरा हुआ था। यशोवर्मा ने जाकर पहले बाहर के लोगों से पूछा कि यहाँ भोगगुप्त का मकान कौन-सा है? किसी को पता नहीं था। अंत में ११ नम्बर में पहुँचा, सोचा ग़लत तो नहीं हो सकता क्योंकि देवी ने गलत ठिकाना नहीं दिया होगा। वहाँ के दरबान ने कहा 'यह भोगगुप्त का मकान नहीं है, भोगगुप्त को तो हमारे मालिक ने ठहरा रखा है, है तो वह किसी काम का नहीं लेकिन फिर भी उसे ठहरा रखा है।' यशोवर्मा ने कहा 'मैं उनसे मिलने आया हूँ।' अन्दर गया, देखा कि एक बढ़िया सुन्दर कमरे में भोगगुप्त बैठा हुआ है। कहा 'मैं विंध्याचल से आया हूँ।' उसने हाथ जोड़कर कहा कि 'मैं भी विन्ध्येश्वरी का भक्त हूँ, मेरे बड़े भाग्य कि आप आये।' पूछा 'यह आपका मकान नहीं है?' कहा 'मैं इतने पैसे कहाँ से इकट्ठे करूँ जो बनाऊँ? यह मकान मेरे दोस्त का है।' उसने सोचा 'ठीक है, यहाँ धन नहीं है, भोग है।' कहा 'एक-दो दिन साथ रहेंगे।' दिन में उसके साथ चला। वह एक दुकान से दूसरी दुकान में पहुँचा, सब जगह लोग उसे प्रेम से बिठाते। उसका दलाली का काम था, ज़्यादा धन पास में नहीं था। लेकिन भोग तो करना ही था। दलाल का काम ही यह है कि इसका माल उसको और उसका माल इसको दिया।

बेचारे ने कभी एक की खुशामद और कभी दूसरे की जी-हजूरी की, जिसका नतीजा यह हुआ कि शाम तक उसने पाँच सौ रुपये बना लिये और शाम को यशोवर्मा से कहा कि अब ओब्राय इण्टरकाण्टिनेण्टल चलो या जो उस ज़माने के साधन रहते होंगे। वे वहाँ गये तो पाँच सौ के पाँच सौ खा-पीकर खत्म कर दिये। कहा 'सवेरे की बात छोड़ो क्योंकि को जाने कल की खबर नहीं या जग में पल की खबर नहीं।' खा-पीकर घर पहुँचे तो दरबान ने पहला प्रश्न किया कि 'आपने कल २५ रुपये उधार लिये थे, वह अभी तक नहीं दिये?' भोगगुप्त का थोड़ा-सा मुँह सिकुड़ा कहा 'कल ले लेना।' दरबान ने कहा 'शरम नहीं आती।' कहा 'दे दूँगा।' उसी समय हाथ की घड़ी उतार कर उसे दे दी। कहा 'कहीं होटल में इसके साथ खाने के लिये चला गया था।' दोस्त ने कहा 'आओ, अपने थोड़ी देर बातें करें।' यह वहाँ से पीकर आया था, ऊटपटांग बोलने लगा। दोस्त ने कहा 'मैंने तेरे को सारी सुविधायें दी हैं, तुम शाम को मेरे से दो घण्टे बातें भी नहीं करते।' यशोवर्मा ने विचार किया 'बड़ी फजीहत है, भोग तो सारे मिले हुए हैं, दुकान में हाँ जी करता था, दरबान से भी दबकर रहता है।' रात में बेचार सोया, शराब पी रखी थी तो उल्टियाँ होने लगीं 'भोगे रोगभयम्।' यशोवर्मा ने निर्णय किया कि यहाँ इस जीवन में भी कोई तत्त्व नहीं है। दूसरे दिन सवेरे उठा, कहा 'मैं तो जा रहा हूँ।' भोगगुप्त ने कहा 'थोड़े दिन रहो।' कहा 'भर पाये, अब जाने दो।'

वहाँ से चलकर कान पकड़े कि ऐसी चिंता में ग्रस्त होकर भोग करने से कोई फ़ायदा नहीं है। भोग के बिना अर्थ बेकार और निश्चिंतता के बिना भोग बेकार है। तुम्हारे सामने बढ़िया से बढ़िया भोजन सामग्री रख दें और चिंता का एक बीज डाल दें तो खाने का कोई आनंद नहीं। कमाने के लिये उसने पाँच सौ कमा लिये लेकिन किसी ने कहा कि कल से मेरी दुकान पर नहीं आना; क्योंकि दलाल जो ठहरा। वहाँ से चलकर त्याग शर्मा के पास पहुँचा। दो-चार दिन लग गये। उसका कमरा बड़ा सुन्दर गोबर से लीपा हुआ शुद्ध था। ऊपर बड़ा सुन्दर पुआल पड़ा हुआ था जो सर्दी में गरम और गर्मी में ठण्डा रहे और कोई चोरी का डर भी नहीं। वह प्रातःकाल उठकर वेद-स्वाध्याय, वेद मंत्रों का उद्घोष करे, फिर यज्ञ करे। वहाँ पहुँचकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई कि इसको निश्चिंतता है, अर्थ भी नहीं है और भोग भी नहीं है। इसके पास धर्म है, त्याग है। इसको किसी प्रकार की चिंता नहीं है। तब तक राजा के एक आदमी ने आकर कहा कि 'राजा साहब आपको याद कर रहे हैं।' त्याग शर्मा ने कहा 'मैंने एक महीने का नियम ले रखा है, इसमें मुझे कहीं नहीं जाना है और अमुक हवन पूर्ण करना है।' मंत्री ने कहा 'राजा ने कहा है कि सोने के थाल में मोती भर कर दूँगा।' उसने कहा 'राजा से कह देना कि एक नहीं, एक सौ आठ थाल भी भर कर दें तो भी मैं अपना नियम नहीं छोड़ने वाला हूँ।' यशोवर्मा को लगा कि यह बड़ा त्यागी है। इसके मन में कोई चिंता नहीं है। पाँच-सात दिन उसके साथ रहा तो यशोवर्मा का चित्त बड़ा प्रसन्न रहा। कभी संगीत का, कभी काव्य का तो कभी पुराण ग्रंथों का

आनंद ले रहा है, जो लोग आते उनके साथ तत्त्व विवेक चल रहा है। पाँच-चार दिन के बाद एक दिन ओले पड़ गये, ठण्ड हो गई और त्याग शर्मा को बुखार आ गया। बुखार में शरीर काँपे, फिर भी सवेरे उठा। यशोवर्मा ने कहा ‘लेटे रहो, तुम्हारा शरीर काँप रहा है, तबियत खराब है।’ उसका शरीर भी काँप रहा है और मुँह से ‘हा-हा, राम-राम’ निकल रहा है लेकिन उसको तो ठण्डे पानी से नहाना हुआ! नहा-धोकर बिना कपड़े पहने ही बैठ गया। यशोवर्मा ने कहा ‘बण्डी तो पहन लो।’ उसने कहा ‘यज्ञ सिले कपड़े पहनकर नहीं होता।’ दिल्ली वालों का यज्ञ नहीं समझना क्योंकि वह तो पेण्ट पहनकर भी होता है! उसे बुखार था ही, और कमज़ोर होता गया। यशोवर्मा ने सोचा कि यहाँ भी बड़ी कठिन परिस्थिति है, घबराने लगा। सोचा इसके अन्दर भी सुख तो है; अर्थी को बिलकुल सुख नहीं, उसकी अपेक्षा भोगी को भोग-काल में सुख है लेकिन आगे-पीछे सुख नहीं। त्यागी धर्मात्मा को उससे भी ज़्यादा सुख है लेकिन वह भी तो धर्म के बंधन में है। सब देखकर यशोवर्मा ने विचार किया कि इसमें भी सुख नहीं है। वहाँ से आगे चला। उसने कहा थोड़े दिन और रहो लेकिन यशोवर्मा ने कहा कि ‘देख लिया जो देखना था।’

आगे पहुँचा तो ज्ञानगिरि जी के यहाँ पहुँचा। एक जंगल में एकांत कुटिया के अन्दर बड़े आनंद से बैठे हुए महात्मा तत्त्व-विचार कर रहे थे। वहाँ पहुँचा, तो उन्होंने कहा कि ‘आज यहाँ भिक्षा की व्यवस्था नहीं है, कहीं और जा।’ उसने कहा ‘मैं आपसे मिलने आया हूँ।’ ‘किसने कहा है?’ कहा ‘विन्ध्येश्वरी से आया हूँ।’ उन्होंने कहा ‘मेरी भी वही इष्ट है, तू आया, तो बड़ा अच्छा किया।’ उन्होंने उसको बिठाया और कहा कि ‘मैं आधे-एक घंटे में आता हूँ।’ गाँव से जाकर दूध, मलाई ले आये और कहा-‘खाओ।’ कहा ‘आप तो कहते थे कि यहाँ भिक्षा की व्यवस्था नहीं है।’ उन्होंने कहा ‘मैंने नियम बना रखा है कि मैं किसी के घर माँगने नहीं जाता। संन्यासी की कई वृत्तियाँ शास्त्रों में बताई हैं। एक कुत्ते की ओर एक अजगर की वृत्ति होती है। जैसे कुत्ते को जहाँ भोजन की सुगंधि आई, वहाँ पहुँच गया। कुछ न कुछ देंगे, या रोटी या मुक्का! दूसरी, अजगर वृत्ति कि कोई आ गया तो देगा, नहीं तो बैठा है। मेरी अजगर वृत्ति है। मैंने ऐसा नियम बना रखा है, फिर भी आज तू विन्ध्येश्वरी का भक्त आया है, इसलिये माँग लाया।’ उसने कहा ‘आपको शरम नहीं आई कि लोग क्या कहेंगे।’ उन्होंने कहा ‘लोगों को जो कहना है, कहने दो, अपने को उससे क्या! तू आनन्द से बैठकर खा।’ न तो यहाँ अर्थ वालों की चिन्ता है और न भोग की और न त्यागी का बन्धन है। यहाँ तो सहज स्थिति है। उसने कहा ‘आगे से आपको रोज़ माँगने जाना पड़ेगा।’ महात्मा ने कहा ‘कल से फिर नियम बना लूँगा कि नहीं जाऊँगा, इसमें क्या है!’ जब उसने देखा तो पाया कि उसमें किसी भी प्रकार का कोई भी परिवर्तन नहीं है। उस दिन दूध-मलाई खाई तो भी कुछ नहीं, बड़े आनंद से हजम हो गई। यशोवर्मा जब वहाँ दो-एक दिन रहा तो उन्होंने किसी से कह दिया कि यशोवर्मा को घर ले जाकर खिला दिया करो। वहाँ दो-एक दिन कोई भोजन नहीं आया तो उसने पूछा कि

'आपको भूख नहीं लगती?' कहा 'भूख किस बात की? कभी-कभी व्रत रख देने से शरीर ठीक हो जाता है।' फिर एक दिन बढ़िया माल आ गया, रबड़ी, पूरी, दम आलू बनकर आये। उसने सोचा कि इन्होंने दो दिन से कुछ नहीं खाया है, यह खाने से पेट बिगड़ जायेगा। लेकिन उस दिन भी दोनों ने डटकर खाया। उसने विचार किया कि इनको तो किसी भी परिस्थिति में कोई फ़र्क पड़ता ही नहीं है। बस यही कृतार्थता है।

वापिस आकर विन्ध्येश्वरी से कहा कि 'मेरे को तो ज्ञान गिरि जैसा सुख दो। लेकिन माँ! एक बात बताओ, कि आपने मुझे दर-दर क्यों भटकवाया?' देवी ने कहा 'पहले मेरी कही हुई बात होती, इसलिये तेरे दिल में नहीं उतरती। अब तू देख आया है, इसलिये तेरे दिल में उतर गई। नहीं तो तू सोचता कि टालने के लिये बाबा जी बनने को कह रही हूँ।' जिसने इस चीज़ को तत्त्व से अनुभवपूर्वक, अर्थ, धर्म, काम सबको समझकर देख लिया कि इसमें कुछ नहीं है, वह कृतार्थ होकर प्रतिक्षण आनंद लेता है। उसकी कृतार्थता यहीं हो जाती है। ज्ञानी की कृतार्थता पर आगे विचार करेंगे।

# प्रवचन-२३

११—४—७२

परब्रह्म के ध्येय और ज्ञेय भेद से परमशिव और चिदानंद  दो शब्दों का प्रयोग किया। परमशिव ध्येय ब्रह्म है, उसी के पर्यंक में चिदानंद ज्ञेय ब्रह्म है। ज्ञेय ब्रह्म ज्ञानोत्पत्ति मात्र से अज्ञान का नाशक होने से सद्यः फल देने वाला है और ध्येय ब्रह्म ध्यान और त्याग से फल देने वाला होने से अभ्यास को लेकर है। ज्ञान को अभ्यास की अपेक्षा नहीं रहती। ध्यान का जितना अभ्यास किया जायेगा, उतना-उतना उसका फल स्पष्ट होता जायेगा। ज्ञान की उत्पत्ति में जितनी भी देरी हो, लेकिन उत्पन्न होने के बाद वह धीरे-धीरे फल नहीं देता। चाहे दस हज़ार साल से किसी गुफा में अंधकार है और किसी कमरे में पाँच मिनट पहले अंधकार हुआ है; पहले तो उस कमरे में बत्ती थी, पाँच मिनट हुए बन्द हो गई; लेकिन जब बत्ती जलाते हो तो क्या दस हज़ार साल का अंधकार दस घंटे बाद नष्ट होगा? जितनी देर में पाँच मिनट पहले वाला अन्धकार नष्ट होगा अर्थात् क्षण मात्र में दोनों जगह का अंधेरा मिट जाता है। इसी प्रकार अनादिकाल से आये हुए अज्ञान को नष्ट करने में ज्ञान को समय नहीं लगता है। तत्क्षण ही उसको नष्ट कर देता है जैसे प्रकाश अंधकार को नष्ट कर देता है। जो ज्ञान में धीरे-धीरे होना मानते हैं, वे ज्ञान के स्वरूप को जानते ही नहीं, ज्ञान धीरे-धीरे नहीं होता।

ज्ञान उत्पन्न होता है तो कैसे पता लगता है? ज्ञानोत्पत्ति चूँकि तुरंत अज्ञान को नष्ट कर देती है, इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक वार्तिक में कहते हैं 'इति भूतार्थसम्बोधो ज्ञानोन्मीलितचक्षुषां नास्ति व्याधिर्जरा नास्ति नास्ति देशपरिभ्रमः (२.१.२७६)। ज्ञान क्यों तुरंत फल उत्पन्न करता है? ज्ञान केवल भूतार्थ है अर्थात् पहले से उपस्थित के बारे में है। बर्तन के ऊपर अंधकार भी एक कालिख लगा देता है, बढ़िया से बढ़िया बर्तन भी अंधकार में काला है, और मैल की भी एक कालिख है। छह महीने से लोटे को नहीं मांजा तो भी काला है। अंधकार की कालिख तो बत्ती जलते ही नष्ट हो जाती है क्योंकि लोटा सचमुच उस कालिख वाला नहीं, केवल अंधकार की कालिख प्रतीत होती है। जहाँ मिट्टी की कालिख या गंदगी की कालिख लगी हुई है, वहाँ धीरे-धीरे जायेगी क्योंकि वह कालिख लोटे में सचमुच है। इसलिये कालिख मिटाने के लिये जितनी बार ज़्यादा रगड़ोगे, उतनी बार ज़्यादा आयेगी। अंधकार की कालिख को मिटाने के लिये बीस बार बत्ती जलाओ तो ज़्यादा अंधकार नष्ट होगा, ऐसा नहीं है। अंधकार की कालिख पहले प्रकाश में ही नष्ट हो गई, बाद में चाहे और-और बत्ती जलाते रहो, कुछ नहीं होना है। यदि शौक है तो और बड़ी जलाओ, कोई मना नहीं, लेकिन उससे लोटे में कोई फ़र्क नहीं पड़ना है। इसी प्रकार से यदि आत्मा के ऊपर सचमुच अज्ञान और किसी पदार्थ का सम्बन्ध हुआ होता तब तो सम्भवतः जितनी ज़्यादा बार ज्ञान का अभ्यास करते

उतना उस आत्मा में ज़्यादा ज्ञान होता, लेकिन वास्तविकता यह है कि अज्ञान अंधकार की तरह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्य के ऊपर केवल प्रतीतिमात्र है। चूंकि प्रतीतिमात्र है, इसलिये प्रथम क्षण में जहाँ ज्ञान उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही वह कालिख नष्ट हो जाती है, धीरे-धीरे नष्ट नहीं होती है। उसके बाद ज्ञान की आवृत्ति करो, कोई रुकावट नहीं है, लेकिन ज्ञान को बार-बार करने से आत्मा की शुद्धि ज़्यादा हो जायेगी, यह नहीं सोचना। ध्यानी चूंकि प्रकाश को उत्पन्न नहीं कर रहा है, इसलिये उसकी दृष्टि में आत्मा के ऊपर सचमुच एक कालिख है, इसलिये वह तो जितनी बार ध्यान करेगा, उतनी बार वह आत्मा में अधिक चमक का अनुभव करेगा, ध्यानी को बार-बार करने की ज़रूरत है क्योंकि उसके लिये वास्तविक सम्बन्ध है। ज्ञानी वास्तविकता को जानता है, आत्मा की नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तरूपता को जानता है इसलिये ज्ञान का विषय ब्रह्म भूतार्थ है, पहले से विद्यमान है।

उसका 'सम्बोध'-रूप ज्ञान होता है। सम्बोधन कोई सो रहा है, उसे आवाज़ लगाते हो 'हे राम! उठ जाओ।' इसी का नाम सम्बोध है। ऐसा कहने से राम पैदा नहीं हुआ, उसमें कोई विलक्षणता नहीं आई, सोया पड़ा था, उठ गया। तुम कहते हो कि पाँच मिनट पहले तो यह हाथ-पैर नहीं हिला रहा था, हमने ऐसी फूँक मारी कि इसमें हाथ पैर चलाने की ताकत आ गई, इसलिये हमने इसके लकवे के रोग को ठीक कर दिया। देखो, हम कैसे सिद्ध हैं कि 'हे राम!' कहने से इसे ठीक कर दिया। दूसरा कहता है, यह सोया पड़ा था, लकवा कहाँ लगा हुआ था! हम कहते हैं कि लकवा नहीं था तो हाथ-पैर क्यों नहीं हिला रहा था? जवाब मिलता है कि सोया पड़ा था, होश नहीं था क्योंकि सुषिुप्ति के अन्दर सब इसके अन्दर लीन था। इसी प्रकार से अनादि अंधकार के अन्दर पड़े हुए जीव को गुरु कहता है 'हे जीव! तत्त्वमसि' इसी का नाम सम्बोधन है। 'हे राम' कहने से वह हाथ हिलाता है, ऐसे ही तत्त्वमस्यादि महावाक्य का ठीक प्रकार श्रवण किया हो तो, भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'नास्ति व्याधिर्जरा नास्ति' उसकी सारी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। हर क्षण में बुड्ढा होता रहता था वह भी अब ख़त्म हो गया। हमेशा किसी-न-किसी तरफ जाता ही जाता रहता था। कभी स्वर्ग में, कभी पाताल में, कभी न्यूयार्क तो कभी पटना में घूमता ही रहता है। यहाँ बैठे-बैठे ही घूमता रहता है। और नहीं तो घर में दाल चढ़ा आये हो, उसी में भ्रमण होता है कि आज कथा में दस मिनट देरी हो गई, दाल जल न जाये। जैसे ही तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का उसने श्रवण किया, वह जग गया, उसकी सारी व्याधियाँ और जरा नष्ट हो गई। सब कहते हैं कि इसके ऊपर गुरु ने कृपा कर दी, यह मुक्त हो गया। जैसे वहाँ 'हे राम' कहने से तुमने उसका कोई लकवे का रोग दूर नहीं किया, वह सब ताकत उसमें मौजूद थी, केवल होश नहीं था। जहाँ सम्बोधन किया और जगाया, वहाँ उसकी अपनी ही ताकत व्यक्त है, प्रकट है। ऐसे ही जब उसे कहते हैं 'अरे! इस सूर्य मण्डल का शासन करने वाला प्रजापति ब्रह्मा तू है' तो उसको कोई नई चीज़ नहीं आई। यह नाम सुनते ही वह

ब्रह्माण्ड का नायक बन गया। नहीं तो एक शरीर की ही चिंता में लगा हुआ था कि इसको कैसे चलाऊँगा। लोग लगे हुए हैं कि एक शरीर का गुज़ारा कैसे चलेगा। कई लोग कहते हैं कि 'बुड्ढे हो गये। सोचते तो हैं कि कहीं एकांत में जाकर भगवान् का भजन करें, लेकिन क्या करें, इस शरीर को गरम पानी की ज़रूरत पड़ती है।' गजब हो गया, समग्र संसार में उत्तम से उत्तम ज्वालामुखी भरने वाला कह रहा है कि एक बाल्टी गरम पानी के लिये मैं कुछ नहीं कर पा रहा हूँ! जैसे ही उसने सुना कि सूर्य मण्डल को चलाने वाला मैं हूँ, यह उसे सद्यः ज्ञान हो गया। था पहले से ही, लेकिन केवल होश नहीं था। अज्ञान के अंधकार में पड़े हुए का केवल होश गुम है, और कुछ नहीं। है तो वह सारी शक्तियों वाला। वह मुक्त हुआ नहीं, वह तो मुक्त था ही, केवल अपनी मुक्ति का उसको होश नहीं था। जैसे जब बेहोश पड़ा हुआ था, तब तो यदि उसके तकिये के नीचे पड़ी हुई चाबी को निकालकर उसकी तिजोरी को खोलकर कोई उसके रुपये भी ले जाता तो कुछ नहीं कर सकता और अब तिजोरी को कोई हाथ तो लगाये, जान निकाल देगा। इसी प्रकार जब बेहोश पड़ा हुआ था, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि चोर उसके अंदर बैठे हुए नित्य ज्ञान की चोरी करते रहते थे। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि ये सब ज्ञानरत्न को चुराते रहते हैं 'ज्ञान-रत्नापहारिणः' और यह बेचारा सोया पड़ा है। अब जब उठकर बैठ गया तो किसी की हिम्मत नहीं कि उसको स्पर्श करे।

व्याधि के स्वरूप को स्वयं भगवान् सुरेश्वराचार्य बताते हैं 'नास्ति रोगो न संतापो नास्ति कामादिसम्प्लुतिः' यह चिकित्साशास्त्र (मैडिकल साइंस) की बात है। व्याधि दो प्रकार की होती है आगंतुक और नैसर्गिक। शरीर में ये दो प्रकार के कष्ट होते हैं। नैसर्गिक अर्थात् जो जन्म के साथ आये। किसी को मधुमेह रोग हो जाता है, डाक्टर पूछकर उससे कहता है कि चूँकि यह रोग तुम्हारे बाप, दादा, नानी को भी था, इसलिये यह तो होना ही था। यह नैसर्गिकता (हेरेडिटी) है। बहुत से रोग मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही आते हैं, वे नैसर्गिक कहे जाते हैं। दूसरे वे रोग हैं जिनको आगंतुक कहते हैं। जैसे रात को ठण्ड में सो गये, हवा लग गई, शरीर में दर्द हो गया; गंदा पानी पी लिया, हैजा हो गया आदि आगंतुक रोग हैं क्योंकि किसी न किसी कारण से आ गये। टाइफाइड भी ऐसा रोग है। आगंतुक व्याधियाँ फिर दो प्रकार की होती हैं १. बाह्य और २. आंतर। टाइफाइड हैजा आदि बाह्य व्याधियाँ हैं। आंतर व्याधि जैसे मेरे भाई ने जो दुकान खोली है उसमें दस हज़ार रुपये रोज़ की बिक्री और मेरी पाँच सौ रुपये की बिक्री है। अंततोगत्वा वह व्याधि पेट में अल्सर बना देती है। मेरी पत्नी बड़ी सुन्दर है लेकिन बाहर जाती है तो सब उसकी तरफ देखते हैं। यह भी एक व्याधि है। नतीजा, थोड़े दिनों में हार्ट अटैक हो जाता है। अभी थोड़े दिन पहले यहाँ हृदय-रोगों का विचार हुआ था तो उसमें इस रोग के कई कारण गिनाये थे, उसमें सिग्रेट पीना, अत्यधिक परिश्रम करना भी कारण थे और तीसरा कारण उन डाक्टरों ने सुन्दर पत्नी को बताया था। हमने वह नोट कर रखा है। जब कोई ब्याह करने

के लिये आता है तो हम उनसे कहते हैं कि कोई काली-कलूटी ढूंढना, तो वह हँसता है। हम कहते हैं इससे ज़्यादा दिन जियोगे, नहीं तो डाक्टर कहते हैं कि हार्ट अटैक हो जायेगा। यह रोग आंतर है, बाहर कुछ नहीं है। कोई पत्नी को भगा नहीं ले गया, किसी ने थप्पड़ नहीं मारा लेकिन कोई देखता है, इसी कारण से दुःखी है। इतना ही नहीं, अपना पुत्र चाचा के पास ज़्यादा बैठता है, इसी से पिता दुःखी है कि यह मेरे पास नहीं बैठता, भाग-भाग कर वहाँ जाता है। व्याधियों की कोई सीमा नहीं है। आंतर व्याधियों को संस्कृत भाषा में संताप कहते हैं और बाह्य को रोग कहते हैं। नैसर्गिक व्याधि को संप्लुति कहते हैं। जैसे ही उसे इस बात का सम्बोधन कराया 'तत्त्वमसि' वैसे ही 'नास्ति रोगो' जितने भी बाह्य कारणों से होने वाले आगंतुक दोष हैं, वे सब दूर हो गये क्योंकि जिसको तुम रोग समझते हो, किसी आगंतुक कारण से शरीर में आया हुआ समझते हो, वह तुमसे भिन्न नहीं है।

विचित्र स्थिति है। सर्दी के मौसम में रजाई ओढ़कर शरीर गर्म होता है तो खुश होते हैं और यदि बिना रजाई के सर्दी में शरीर गर्म होता है तो डाक्टर के पास दिखाया जाता है कि मेरा शरीर गर्म क्यों हो गया? कहते हैं   बुखार आ गया। दोनों गर्मियाँ हैं तो शरीर की ही। गर्मी के मौसम में वातानुकूल लगाकर शरीर ठण्डा होता है तो अपने को धन्य समझते हैं और थोड़ा-सा ब्लडप्रेशर (रक्तदाब) कम हो जाता है और उससे शरीर ठण्डा होता है तो डाक्टर को बुलाते हैं। आजकल के फैशन वाले पसीना रोकने के लिये एक तत्त्व लगाते हैं, वह २५-३० रुपये की चीज़ लगाकर पसीना न आये तो खुश होते हैं, और यदि किडनी में से लवण ठीक तरह से न निकलने के कारण पसीना न आये तो इलाज कराने दौड़ते हैं। दोनों में क्या फ़र्क है? किसको व्याधि मानें? शरीर में गर्मी बढ़ना व्याधि है तो फिर डॉक्टर को क्यों बुलाते हैं? केवल अध्यास मात्र है।

'न संतापः' इसी प्रकार से उसको अंदर के कारण से भी कोई व्याधि नहीं होती। जिस माँ-बाप के खून मज्जा से बना हुआ भाई का शरीर है, उसी से यह शरीर भी बना है। हम कई बार कहते हैं कि बेटे की अपेक्षा भाई अधिक नज़दीक है क्योंकि बेटे में तो तुम्हारा आधा खून है, आधा उस लड़की का है जिसे न जाने कहाँ से पकड़ कर लाये हो। यदि कोई रिश्ता निकल आये तो लोग निंदा करते हैं कि अपने गोत्र में ब्याह हो गया अर्थात् वह होना ही नहीं चाहिये, हो, तो बुराई है। लेकिन भाई में वही खून मौजूद है, जो मेरे में है। इतने पर भी लोग न जाने क्यों भाई को कम सगा और लड़के को ज़्यादा सगा मानते हैं! क्योंकि तत्त्वज्ञ को ऐसा अध्यास नहीं रहा। इसलिये उसको फिर कभी ताप नहीं हो सकता। पत्नी को यदि कोई देखकर प्रसन्न हो गया तो यह कोई हार्टअटैक की बात नहीं। मेरा मकान लोग देखें, इसीलिये उसके ऊपर बाहर से स्नोसम, आयल पेण्ट कराते हो और एक तरफ कहते हो कि पत्नी को कोई न देखे, देखे तो हार्ट अटैक हो जाता है! हार्ट अटैक तो उसे होना चाहिये जिसकी पत्नी सुन्दर नहीं है,

मुझे किस बात का दुःख हो? एक सज्जन के घर चोरी हुई। उन्होंने हमसे आकर कहा तो हमने कहा कि बड़ी प्रसन्नता की बात हो गई। उसका मुँह छोटा हो गया, कहने लगा  'ऐसा क्यों कहा?' हमने कहा, भगवान् ने तुम्हें इस लायक बनाया कि पुलिस के डर से वह रात में तुम्हारे यहाँ आकर कुछ ले गया, क्या किसी कंगले के यहाँ से कोई चोरी करेगा? उस भगवान् को धन्यवाद दो कि तुम्हें इस लायक बनाया कि तुम्हारे यहाँ कोई चोरी करता है। इसमें तुम्हारी कितनी तारीफ़ है। लेकिन लोग उसमें भी दुःखी होते हैं। वह फिर किस बात का ताप करे। 'नास्ति कामादिसंप्लुतिः' सारी कामनाओं का आदि 'कामस्य आदिः कामादिः' अविद्या है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं 'नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' हमेशा से चली आने वाली व्याधि अविद्या है। काम को उत्पन्न करने वाली अविद्या है। तत्त्वज्ञ के साथ कभी काम का संसर्ग नहीं, इसलिये नैसर्गिक व्याधि भी नहीं है। अतः व्याधियों के तीनों प्रकार उसमें नहीं हैं।

आगे कहते हैं कि जैसे ये नहीं, वैसे ही 'न स्युर्हर्षभयोद्वेगहानोपचयमृत्यवः' (२.१.२७७)। जैसे व्याधि नहीं, वैसे ही जरा नहीं। लोग समझते हैं कि खाली मुँह में झुर्रियाँ पड़ जाना ही बुढ़ापा है। लेकिन मन में झुर्री पड़ना ज़्यादा बुढ़ापा है। बहुतसों का शरीर बुढ्ढा नहीं होता है, लेकिन मन बुड्ढा हो जाता है। झुर्री का मतलब है चमड़े में तन कर रहने की ताकत नहीं। उसी प्रकार से जिस मन के अन्दर समग्र संसार के सामने तनकर रहने की ताकत न हो, वही बुड्ढा है। बुड्ढे का साक्षात् लक्षण है जब वह यह सोचने लगे कि 'लोग क्या कहेंगे?' जवानी का लक्षण है कि किसी चीज़ की चिंता ही नहीं है। उसी बुढ़ापे को यहाँ भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि बुढ़ापा उसमें नहीं है। हर्ष  कोई बात अपने मन की हो गई तो खुशी से फूल गया, यह बुड्ढे का लक्षण है। और, मुझे मिला ही क्या है! यह जवान का लक्षण है। तुम्हारे यहाँ कोई बुड्ढा मुनीम हो, उसके २५ रुपये बढ़ा दो तो हर बात में कहेगा कि 'आपने बड़ा अच्छा किया'; क्योंकि जानता है कि काम नहीं कर सकता! जवान मुनीम के २५ रुपये बढ़ाओ तो उल्टा कहता है कि 'आपने २५ रुपये ही बढ़ाये?' उसे हर्ष नहीं क्योंकि समझता है कि 'मेरी ताकत तो पचास की है।' इसी प्रकार से संसार के तुच्छ भोगों को प्राप्त करके बुड्ढे खुश होते हैं। जैसे मान लो धन पत्नी, मकान आदि मिल गया। सोचता है  अरे इतना तो मिल गया, नहीं मिलता तो क्या कर लेता? जवान कहता है  अरे! ये तुच्छ भोग तो क्या, मैं तो जन्म और मृत्यु का राजा हूँ, यह तो मुझे थोड़ी-सी नींद का झोंका आ गया था। ध्यानी सोचता है कि कब समय आये और मैं जन्म-मरण के चक्कर से छूटूँ। उसका प्रश्न ही यह होता है कि अब आगे तो जन्म-मरण नहीं होगा? ज्ञानी कहता है कि यह तो खेल-खेल की बात है, इसमें घबराने की क्या बात है कि नींद का ज़रा झोंका आ गया। ज्ञानी की दृष्टि है कि इन सारे अनंत कोटि ब्रह्माण्डों को मैं उत्पन्न और नष्ट करता हूँ और अज्ञानी एक पुत्र में ही खुश हो जाता है। मैं तो हर क्षण अनंत जीवों

को उत्पन्न करने वाला हूँ। 'यथाग्नेः विस्फुलिंगाः' श्रुति कहती है कि जैसे दावाग्नि जल रही है, उसमें जलने वाले जंगलों की कोई गिनती नहीं है, इसी प्रकार से इन अनंत ब्रह्माण्डों में से न जाने कितने जीव निकलते जा रहे हैं और यह एक पुत्र से ही खुश हुआ जा रहा है! बुड्ढा हर्ष को प्राप्त करता है।

जहाँ हर्ष होगा, वहाँ भय होगा कि कहीं चला न जाये। जो अनंत जीवों को प्रतिक्षण उत्पन्न करने वाला है, उसके आगे दस-बीस जीवों की तो गिनती ही नहीं है और जो बेचारा एक बेटे से ही हर्ष वाला हो रहा है, वह कहीं मर-मरा गया तो क्या होगा! उसे मरने के पहले ही भय लगा रहता है कि कहीं मर न जाये। आजकल बहुत से लोग कहते हैं कि एक लड़का हो। एक लड़का हुआ और खुदा न ख्वास्ता वह २५ साल का होकर मर गया तो पिता क्या करेगा! जब दस होंगे तो कोई डर नहीं। एक ही हो तो उस एक को बुखार भी आयेगा तो वह डरेगा। दस होने पर एक को टाइफाइड भी हो गया तो कोई डर नहीं। यहाँ हर्ष और भय का दूसरा अर्थ भी समझ लेना। मुझे ब्रह्मज्ञान हो गया, उसे इस बात का भी हर्ष नहीं। वह तो मेरा स्वरूप है, मैंने कौन-सा बड़ा काम किया! सोया था, किसी ने आवाज़ दी, उठ गया तो वह खुश नहीं होता कि 'आपका धन्यवाद, मैं जग गया।' इसमें कोई हर्ष की बात नहीं है, मेरे अन्दर कोई वैशिष्ट्य नहीं आ गया। ऐसे ही गुरु ने आवाज़ दी 'तत्त्वमसि', आँख खुली। मैं जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूट गया तो क्या कोई बड़ा भारी काम किया? कुछ नहीं। इसी प्रकार जिसका मन जीर्ण होता है उसे भय लगा रहता है कि कहीं इस ज्ञान से च्युत न हो जाऊँ। वह थोड़ा काम करने जाता है तो मन भय करता है। इसलिये मानता है कि 'कहीं ऐसी जगह जाऊँ जहाँ नाम-रूप देखने को न मिलें, क्या पता कहीं गिर जाऊँ।' भय वाला ध्यानी होता है यह पहले बता आये हैं। ज्ञानी को कोई भय नहीं है।

इसीलिये उसे किसी चीज़ से कोई उद्वेग नहीं होता। कोई चीज़ अपने मन के लायक न हो तो मनुष्य को उद्वेग होता है। गीता में भगवान् ने कहा 'यस्मान्नोद्विजते लोका लोकान्नोद्विजते च यः' हमको किसी से, किसी को हमसे उद्वेग नहीं। मन के लायक काम न होने पर उद्वेग होता है। 'मेरे' मन के लायक काम न हो, यह किस की हिम्मत है! इन्द्र, यम आदि को प्रवृत्त करने वाला मैं और मेरे मन के विरुद्ध कोई काम करे, है किसी की ताकत? मैं शक्ति देता हूँ, ज्ञान देता हूँ, मैं अपनी क्रिया शक्ति देता हूँ। मैं शक्ति न दूँ तो विष्णु कहाँ से पालन करेंगे, ब्रह्मा कहाँ से उत्पन्न कर लेंगे और यम कहाँ से मार लेंगे! केनोपनिषद् में कहा है कि मैंने यक्ष रूप से अग्नि को दबा दिया, मैंने अपनी शक्ति को दबा दिया तो वायु तिनके को नहीं उड़ा सकी और जिसे आप इंद्र मानते हो, वह मेरा दर्शन करने में समर्थ नहीं हुआ। ऐसा जो मैं हूँ, मेरे विरुद्ध कौन कार्य कर सकता है! लोग अपनी इन्द्रियों से ही उद्विग्न होते रहते हैं। कहते हैं चाहते नहीं, लेकिन क्या बतायें, खा लिया तो पेट खराब हो गया। हम कहते हैं गजब हो गया, तुम्हारी

जबान ही तुम्हारी बात नहीं मानती! आनंदगिरि स्वामी लिखते हैं कि तत्त्वधी से भी उद्वेग हुआ करता है। तत्त्वधी अर्थात् अपने स्वरूप को समझना। बहुत से लोग उससे ही दुःखी होते रहते हैं कि जैसा मैं समझ रहा हूँ, वैसा जगत् प्रतीत क्यों नहीं होता। ज्ञानी को इसकी चिंता नहीं है। कहीं नाम रूप दीख गये तो 'हाय क्यों दीख गये' इसी की चिंता में लोग लगे रहते हैं अथवा 'मेरे से ऐसा काम क्यों हो गया, मेरे से ऐसी बात क्यों बोली गई, मेरा प्रारब्ध ही खोटा है, मुझे जगत् की प्रतीति क्यों हो रही है' इन सब बातों में लोग उद्विग्न बने रहते हैं क्योंकि ध्यानी का जरा का संस्कार चलता है अतः सोचता है कि आँख खुलेगी तो बंधन, बन्द होगी तब ज्ञान हो जायेगा। वह समझता है कि ज्ञान आजकल की बैटरी की तरह है, दबाओ तो ठीक, नहीं तो अंधकार का अंधकार। लेकिन ज्ञान वह है जो कभी बुझता नहीं है। टिमटिमाने वाला ज्ञान नहीं है। इसलिये उसे कोई उद्वेग नहीं है, तत्त्वधीकृत भी उसे उद्वेग नहीं है।

इसलिये उसे हानि भी नहीं। वह कहता है कि कोई मेरा नुकसान तो करे, मैं तो चाहता हूँ कि मुझ से कोई ले जाये। मेरी सल्तनत से बाहर कोई हो तो मेरा कुछ ले जाये। 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्मात् द्वितीये सति वस्तुनि' कोई दूसरी वस्तु हो गई तो ब्रह्म नाम का अर्थ ही नहीं मिलेगा। ब्रह्म मायने सर्वव्यापक। हमारी तो यह दूसरे को चुनौती है कि मेरे से दूर कुछ ले तो जाओ, पता तो लगे कि मेरे से भिन्न कोई चीज़ है। जब मेरे से भिन्न कुछ है ही नहीं तो मेरी क्या हानि करोगे! अपने ही मकान में लड़का ठण्डी बोतल उठाकर दूसरे कमरे में ले गया तो क्या रोते हो कि हाय! मेरी बोतल पास के कमरे में चली गई, या तुम्हारे कमरे के बल्ब को बैठक में लगा दिया तो क्या सोचते हो कि घर वाली लूट कर ले गई। ऐसा कुछ नहीं क्योंकि सारे मकान के मालिक तुम हो। जितनी चीज़ों को तुम हानि समझते हो, वे मेरे ही भिन्न कमरों के अन्दर इधर से उधर ले जाते हो क्योंकि सारे मकान का मालिक तो मैं बैठा हूँ। जैसे उसकी हानि नहीं, ऐसे ही उसकी कोई बढ़ोत्री भी नहीं क्योंकि बढ़ोत्री तब हो जब कहीं से आये। तुम्हारे गोदाम में पड़ा हुआ माल तुम्हारे शयनकक्ष में रख दें तो इसमें कोई उपचय नहीं मानते। कोई पड़ोसी के घर से ले आये तो खुश होंगे। इसी प्रकार ज्ञानी तो कहता है कि है तो सारा संसार हमारा ही लेकिन चीज़ों को जहाँ-जहाँ ले जाना है ले जाओ, यहाँ नहीं भरो। जितना अंतःकरण में भरोगे कि इन चीज़ों की रखवाली मुझे करनी है, तो हल्के नहीं रहोगे। इसलिये वह कहता है कि ले जाओ क्योंकि सभी अंतःकरणों में 'मैं' बैठा हूँ। मैं ज़रा आराम से सोचूँ-समझूँ। गोदाम अलग होता है। अज्ञानी, कामी क्रोधी गोदाम हैं, उन्हें खुशी होती है कि एक फैक्ट्री थी, अब दो हो गई। विवेकी कहता है कि इसे शौक है, इसलिये इसे एक और दो, यह गोदाम है, इसे गंदगी में रहने की आदत है, हम काहे को गंदगी में रहें! हमें एक ही फैक्ट्री कष्ट दे रही है, यह और चाहता है। उसे हानि भी नहीं और उसका उपचय भी नहीं है क्योंकि द्वैत-दर्शन नहीं है। द्वैत-दर्शन ही मृत्यु है। यह न होने के कारण जरा भी हमारे में नहीं है।

देश-परिभ्रम का रूप आगे भगवान् सुरेश्वराचार्य बताते हैं कि मेरे को कोई शोक नहीं है क्योंकि शोक देश का परिभ्रम है। मेरा लड़का मुझे यहाँ दीख रहा था, अब वह उस रूप में नहीं दीख रहा है, बस इसी चीज़ का शोक है। आप सब लोग आस्तिक हैं, जानते हैं कि जीव मरा नहीं और शरीर सामने ही पड़ा था, उसे अपने हाथ से जलाकर आये हैं। यदि उसके लिये शोक है तो काहे को जलाया? जीव के लिये शोक करते हैं तो वह केवल दूर ही चला गया है। अपना लड़का जब स्कूल जाता है तो आठ घंटे का सियापा, अमरीका जाये तो चार साल का सियापा करते हैं? कुछ नहीं, क्योंकि जानते हैं कि निश्चित वह है। ऐसे ही निश्चित ज्ञान है कि जीव तो है, ज़रा दूर चला गया है। आश्चर्य की बात है कि लोग सचमुच रोते हैं कि लड़का मर गया। ज़रा सोचो कि क्या मर गया? यदि तुमने अपने लड़के को अमरीका पढ़ने भेजा और उसे रोज़ चिट्ठी लिखो कि आज तेरी माँ तीन घण्टे रोई, आज छः घण्टे रोई तो लड़का वहाँ गया हुआ पढ़ेगा या बैठा-बैठा रोता रहेगा? इसी प्रकार से जब जीव यहाँ से जाता है तो उसका ज्ञान ज़रा खुला हुआ है, तुम लोगों को ज़रा प्रतिबद्ध ज्ञान होता है, शरीर के कारण। इसलिये जब हम रोते हैं तो वह हमें देखता है और जितना देखता है कि हम बार-बार रोते हैं तो उसे उतना दुःख होता है। वह वहाँ कुछ उत्तम कार्य करने गया था, वह नहीं कर पाता। उल्टा तुम्हारे दुःख की खबर से दुःखी होता रहता है। शोक अर्थात् जो चीज़ न दीखे उसके लिये रोने लग जाना। जैसे उसे शोक नहीं, ऐसे ही उसे अरति नहीं। अरति आजकल के लड़के जानते ही हैं; आजकल 'बोर' हो जाते हैं। कहते हैं बैठे-बैठे मन नहीं लग रहा है। इसी को संस्कृत में अरति और हिन्दी में ऊबना कहते हैं। लोग इसलिये ऊबते रहते हैं कि उनकी क्रिया शक्ति कुण्ठित होती है। रिक्शा चलाने वाला या गड्ढा खोदने वाला नहीं ऊबता। लड़कियाँ लड़कों से ज़्यादा ऊबती हैं। लड़के इतवार को ज़्यादा ऊबते हैं क्योंकि काम कुछ नहीं है। यह ऊबने का रोग हमको सरकार ने दिया है। विदेशों से काम करने की मशीनें ले आये। विदेशों में तो लोग उन मशीनों को बनाने में लगे, इसलिये उनके पास समय नहीं और उस मशीन ने काम किया। चूँकि उस मशीन को हम ले आये तो मशीन बनाने का काम हमको नहीं करना पड़ा। जो काम हम करते, वह मशीन ने कर लिया तो अब हम करें तो क्या करें? लाइन में खड़े हुए हैं। कहाँ जाना है? कश्मीरी गेट, और एक्सचेंज स्टोर पर लाइन में लगे हैं। एक दिन हम चांदनी चौक गये तो देखा कि एक भक्त एक्सचेंज स्टोर पर बस की लाइन में खड़े हैं। घण्टे आधे घण्टे में वहाँ से वापिस आये तो फिर सामने नज़र पड़ी तो देखा, फिर भी वहीं खड़े थे! उन्हें कश्मीरी गेट जाना था। हम कहते हैं कि नियम होना चाहिये कि आधे मील से कम में बस में नहीं चढ़ने दिया जाये। चलते भी नहीं हैं तो बैठे-बैठे ऊबेंगे नहीं तो और क्या करेंगे? ऐसे ही सारी क्रियाओं में देख लो। आजकल एक एस०टी०डी० टेलीफोन चला है। पहले तो कहीं नम्बर मिलाना हो तो माँगना पड़ता था। अब एक बार घुमाया, नहीं मिला, दस-पंद्रह मिनट घुमाते ही रहे। पहले जिसको मिलाना था, उसे

पता है कि कब लाइन खाली होगी तो मिला देता था लेकिन अब वह मशीन निकल गई, इसलिये बैठे-बैठे घुमाते ही रहते हैं क्योंकि पता नहीं है कि कब लाइन खाली होगी। जैसे अंधे के हाथ में बंदूक देकर कहो कि गोली से निशाना मारे जाओ, कहीं-न-कहीं लग जायेगा। पहले तो एक्सचेंज में बोर्ड होता था जिसमें दीखता था कि लाइन खाली होगी तो अगला नंबर मिला देंगे। अब इतना तो पता नहीं कि कब खाली होगा लेकिन तुम अंधे की तरह चलाते जा रहे हो। जो ऐसे व्यर्थ के झमेलों में नहीं जाता। वह कभी ऊबता नहीं। वह अपनी क्रियाशक्ति का प्रयोग करता है। कार्य करने वाले के अन्दर कोई अरति नहीं।

वह फिर कर्त्ता-भोक्ता बनता होगा? कहते हैं  वह भी नहीं, बिना कर्त्ता बने ही वह सब कुछ करता रहता है। जैसे मोटर चलाने वाला सत्तर मील की गति से मोटर चलाने पर भी स्वयं एक इंच भी नहीं चलता। मोटर में बैठे-बैठे सभी आदमियों को ७० मील की गति से चलाता है। इसी प्रकार वह सारे देह आदि संघात की प्रवत्ति करते हुए भी बैठा हुआ है। दौड़-धूप तो ये करते रहते हैं, इनका काम है। बहुत से लोग क्या करते हैं? मोटर ड्राइवर चला रहा है, सामने से कोई चीज आई तो बैठा हुआ आदमी अपना पैर बिना मतलब धम्म से मारता है, कहता है  'देखना, कोई सोया पड़ा है।' यह कहने का कोई प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे पैर दबाने से गाड़ी नहीं रुकेगी। ठीक इसी प्रकार अनंत कोटि ब्रह्माण्डों को चलाते हुए जीव बार-बार पैर मारता है, ज्ञानी ऐसा कभी नहीं करता। न उसके सामने कोई कार्य है कि अमुक काम करना है। वे तो अपने आप होने हैं। मैं तो सबको बता देता हूँ और सब अपने आप नाच रहे हैं। न उसके लिये कुछ जानने लायक है। जानने लायक वह है जो मैं न जानता होऊँ, सब कुछ जानने वाला मैं हूँ। किंतु कर्त्तृत्व और ज्ञातृत्व का भाव भी उसमें नहीं। मैं करूँ, न करूँ  दोनों उसमें नहीं हैं। मैं जानूँ, न जानूँ  दोनों नहीं। यह स्थिति इति भूतार्थ है अतः जैसे ही मेरा नाम 'तत्त्वमसि' आदि लेकर बुलाया गया, वैसे ही मुझे ज्ञान हुआ, आँख खुल गई और मेरे असली स्वरूप का प्राकट्य हो गया। इस ज्ञान का फल आगे बतायेंगे।

## प्रवचन-२४

१२–४–७२

चिदानंदलहरी को परमशिव के पर्यंक में निलय वाली बताया। चिदानन्दस्वरूप भगवती परमशिव के पर्यंक में स्थित है। निलय मायने क्या? निलय का अर्थ करते हुए भगवान् सुरेश्वराचार्य तैत्तिरीय वार्तिक में कहते हैं 'निलीयते जगद् यस्मिन् निलीनं जायते ततः। निलयं तं वयं ब्रूमः कोशपंचककारणम्।।' जिसमें सारा जगत् निलीन अर्थात् ग्रसित हो जाये, कौर बन जाये। व्याकरण की दृष्टि से नि उपसर्ग के साथ ली श्लेषणे धातु से निलय शब्द बनता है। श्लेषण अर्थात् किसी चीज़ के साथ जो चीज़ ऐसी चिपक जाये कि उसके अलगाव का पता न लगे। श्लेषण का मतलब चिपकना है अतः ली धातु का अर्थ भी चिपकना होता है। निलीन नितरां चिपकना।

एक चिपकना ऐसा होता है कि थोड़ा चिपका और फिर उखड़ गया। संसार के सबे पदार्थों का चिपकना थोड़ी देर में उखड़ने के लिये है। पिता और पुत्र का सम्बन्ध पिता और पुत्र को चिपकाता है लेकिन थोड़े दिनों के बाद फिर उखड़ जाता है। धन-सम्पत्ति इत्यादि के साथ भी चिपके हुए हैं लेकिन वह चिपकना फिर उखड़ जाता है। यहाँ तक कि शरीर, मन आदि के साथ जो चिपकना है, वह भी उखड़ने के लिये है। जिस शरीर के साथ चिपके हुए हो, थोड़े समय के बाद उस शरीर से ही फिर उखड़ जाओगे। जिस मन के साथ चिपके हुए हो, उस मन से भी उखड़ जाओगे। रोज़ ही गहरी नींद में उखड़ जाते हो। जितना भी अपना स्नेह तुम संसार के पदार्थों पर डालने का प्रयत्न करते हो, वह जहाँ थोड़े समय में काल और व्यवहार की हवा लगी तो फिर सूख जाता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा कि सज्जन और दुर्जन के आपस के सम्बन्ध में क्या फ़र्क है? पहले बहुत ज़्यादा होना और फिर कम हो जाना, यह दुर्जन के सम्बन्ध का लक्षण है। जैसे मुँह की थूक से दो कागज़ों को चिपकाओ तो बिलकुल चिपक जाते हैं लेकिन थोड़ी ही देर में सूखने पर फिर अलग के अलग। अलग करना नहीं पड़ता, अपने आप ही कागज़ एक-दूसरे से मुहँ मोड़ने लगते हैं। दूसरी तरफ, सरेश से किसी चीज़ को जोड़ो तो झट नहीं जुड़ता, चिपकाते हो तो कागज़ उखड़ना चाहते हैं, लेकिन एक बार चिपक कर हवा लग गई और सूख गया तो ठीक उससे उल्टा काम होता है अब पकड़कर खींचो तो भी अलग नहीं होते। जब तक हवा नहीं लगी थी, तब तक तो दूर कर भी सकते थे लेकिन हवा लगकर सूख गया तो मजबूत हो गया। एक वह जो चिपका झट, लेकिन उखड़ने के लिये, और दूसरा वह जो चिपका धीरे लेकिन ऐसा चिपकने के लिये कि अलग हो ही नहीं।

परमात्मा का जो उस आनंद स्वरूप के साथ चिपकना है, उसे यहाँ भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने कहा कि वह नितरां श्लेषण अर्थात् ऐसा चिपकना है कि कभी हटता ही नहीं।

कैसे नहीं हटता? 'निलीयते जगद् यस्मिन् निलीनं जायते ततः' उस आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के ऊपर तुम अनंत संस्कार, अनंत वासनाओं और जगत् के अनंत पदार्थों को लाये कि इसका आनन्द स्वरूप ज़रा दूर हो जाये। सारी की सारी कोशिश चिदानंद को अलग करने की है। लेकिन वह चिदानंद-स्वरूप ऐसा आपस में निलीन है कि अनंत कोटि ब्रह्माण्डों के उत्पन्न करने पर भी परमात्मा के आनंद स्वरूप में क्षणमात्र भी फ़र्क नहीं आता। वह जैसा आनंद स्वरूप है, वैसा ही बना रहता है। हमारा क्या स्वरूप है? आनंद से बैठे हुए हैं और एक बेचारे आदमी ने आकर गाली निकाल दी। उसने डण्डा नहीं मारा, और भी कुछ नहीं किया। क्या हो गया? तुम्हारा चित् और आनंद बिलकुल अलग हो गया। हम चेतन हैं, सावधान हैं, लेकिन उसकी गाली ने आनंद को अलग कर दिया। कहते भी हैं कि 'पता नहीं कहाँ से आ गया, आज इतना बढ़िया मज़ा आ रहा था, इसने आकर मज़ा किरकिरा कर दिया।' कोई भी चीज़ आई, हमारा चित् बना रहा, आनंद से हम अलग हो गये। दूसरी तरफ, परब्रह्म परमात्मा अनंत कोटि ब्रह्माण्डों का निर्माण करते हैं और उनमें सौ में से नब्बे उसको गालियाँ देते हैं! कोई तो यहाँ तक गाली देता है कि ईश्वर कुछ है ही नहीं। मान लो तुम्हारा लड़का आकर कहे कि 'बाप-वाप कोई नहीं हुआ करता। माँ बनी है तो प्रमाण दो।' तुम्हें गुस्सा आयेगा या नहीं? यहाँ सौ में नब्बे ऐसे हैं जो कहते हैं कि हमको और सृष्टि को बनाने वाला कोई है ये सब फालतू बातें हैं, क्या प्रमाण है कि ईश्वर है! बाकी दस में से नौ यह गाली नहीं देते तो यह गाली ज़रूर देते हैं कि ईश्वर शासन करना नहीं जानता। देखो! इस भगवान् ने दुनिया को कैसा दुःखी बना रखा है। बाकी एक डरता रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि ईश्वर को हम गाली दें और हमारा नुकसान हो जाये। लेकिन सौ में हमको एक भी ऐसा मिलने वाला नहीं है कि उसके प्रति कुछ प्रेम भाव रखे। इतना विरोध होने पर भी वह 'परमशिवपर्यंकनिलयां' है। एक आदमी की गाली से हमारे चित् और आनंद में भेद हो जाता है और उसको इन अनंत कोटि ब्रह्माण्डों के व्यवहार कभी भी कोई आनंद से अलग नहीं कर सकते। कई बार लोग कहते हैं 'महाराज! सरकार हमसे ९० प्रतिशत कर लेती है, हम कैसे सच्चा कर दें? व्यापार करने से फ़ायदा ही क्या है?' कभी ईश्वर भी पूछता है कि तुम सब जीवों को सूर्यरूप से उदय होकर, वायुरूप से प्राण बनकर रोशनी देने या जिलाने से क्या फ़ायदा है? उसे पता है कि मैं सूर्यरूप से उदय होऊँगा और ये सब गाली देंगे कि धूप बड़ी तेज़ है, कोई प्रशंसा करने वाला नहीं है। मैं वायुरूप से अन्दर जाऊँगा और ये सब गालियाँ देंगे कि हवा अच्छी नहीं है। जानता है, लेकिन इस व्यापार से कोई फ़ायदा नज़र न आने पर भी क्या उसने अपने व्यापार को कम किया है? फ़ायदा देखने वाला व्यक्ति वस्तुतः हृदय में महान् दुःखी है। जिसके अन्दर आनंद भरा हुआ है, वहा कहाँ बाहर देखेगा! निलय शब्द से बताया कि सारे ब्रह्माण्डों को शासन में रखने पर भी, उनके द्वारा अनंत विक्षेपों के बनने पर भी वह सारे जगत् को अपने साथ रखते हुए भी उसके चित् और आनंद को कोई अलग-अलग नहीं

कर सकता। आनंद को उसने अपनी गोद में छिपा रखा है।

हेमकोश में निलय शब्द का अर्थ बताया है 'गोपनस्य प्रदेशेऽपि निलयोस्तमये ग्रहे' जो चीज़ गुप्त हो, उसे तिजोड़ी में रखा जाये। आनंद अपने हृदय की तिजोड़ी में रखी जाने वाली चीज़ है। घड़ी या गहने की तरह दुनिया के सामने प्रकट करने की चीज़ नहीं है। जो ज़्यादा अपनी आनंदरूपता प्रकट करता है, वह इसलिये कि हृदय में वह परम दुःखी है। अपने उस दुःख को छिपाने के लिये वह ऊपर से आनंद प्रकट करता है। निलय के द्वारा यह बताया कि वह चिदानंद-रूप उस परमशिव के पर्यंक में छिपा हुआ है। क्यों छिपा हुआ है? वह अपनी अनंतता को देखता है, आनंद को छिपाकर अनंतता को देखता है। जब अनंत बनेगा तो आनंद अपने आप स्फुट हो जायेगा क्योंकि श्रुति ने एक नियम किया है 'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति' जो भूमा है, व्यापक है वह सुख है। कम में सुख नहीं है। भूमा, अनंत या व्यापक बनना है, तब तो चित् और आनंद का संश्लेष आयेगा, चित् और आनंद चिपक कर रहेगा। जैसे-जैसे काल आयेगा, वैसे-वैस चित् और आनंद का संश्लेष पहले की अपेक्षा दृढ-दृढतर बनेगा। दूसरी तरफ, यदि तुमने विषय की प्राप्ति के द्वारा चित् और आनंद को एक करने का प्रयत्न किया, जैसे तुमको घट की इच्छा है, घड़े को तुम ले आये तो घड़े के साथ तुम्हारा चित् अर्थात् ज्ञान और घड़े के अन्दर तुम्हारी इच्छा एक हो गये। यह चित् और आनंद का एक होना निलय नहीं है। यह थूक से चिपकाना है। घड़े की इच्छा हुई, घड़ा मिला; या आजकल के ज़माने में वातानुकूल की इच्छा हुई तो वातानुकूल मिल गया। पुराने लोग तो घड़े से खुश हो जाते थे। उससे वातानुकूल और तुम्हारा दोनों का मुँह अलग-अलग जाने लगता है। एक हमारे प्रिय सज्जन मित्र हैं। उनके पास एक रेफ्रिजरेटर है, वह एक बार खराब हो गया तो दुःखी हुए कि यह खराब हो गया। इस पर पाँच सौ रुपये खर्च करें तो वह ठीक हो। अब रेफ्रिजरेटर ने मुख मोड़ा कि मेरे को अच्छा मानते हो तो मैं बैठा हुआ हूँ लेकिन काम नहीं करता। इसलिये यह थूक से चिपकने वाला प्रेम है। वह रखा हुआ भी उन्हें दुःख दे रहा है, आनंद नहीं दे रहा है। हमने कहा घर में तुम्हारा पिता सेवानिवृत्त हो जायेगा तो दुःखी होगे या सुखी होगे? थोड़े दिन काम नहीं करेगा तो क्या हुआ! लेकिन इच्छा का विषय सच्चा नहीं है। वे आस्तिक हैं, इसलिये उनसे यह बात कह दी। अगर आजकल के लड़के से कहते तो उसका जवाब होता कि सेवानिवृत्त (रिटायर) होकर पिता का क्या फ़ायदा है! वह कहता है कुछ काम नहीं है तो घर की चौकीदारी करो, कुछ काम तो करो। कहीं मकान बनवाना होगा तो कहेंगे कि पिता जी आप बनवा दो, घर में कुली-मज़दूरों को सम्भालते रहना। पिता कहे कि यह सब काम हमसे नहीं होता है, तो धीरे से अपनी पत्नी से कहेगा कि पिता सुन भी ले और जवाब भी न दे सके कि 'पिता जी के दिमाग को क्या हो गया है, खाने को इनको तीन समय चाहिये और ज़रा कह दिया कि चौकीदारों को देख लो तो इतना भी नहीं कर सकते'। कारण यह है कि थूक से चिपका हुआ

है, अन्दर निलय नहीं है। संसार के जितने पदार्थ हैं, उनके साथ जो चिपकना है, वह चित् और आनंद से ऐसा ही चिपकना है, इसलिये वह आनंद स्थिर नहीं रहता।

यहाँ 'परमशिव-पर्यंकनिलयां' में तो उसके साथ वज्रवत् चिपकना है। यहाँ तक लोगों को इस थूक से चिपकाने की आदत पड़ी हुई है कि यह ब्रह्म से भी ऐसा ही करना चाहते हैं। चाहते हैं कि घण्टे-आध घण्टे ब्रह्म के साथ निलय हो जाये, बाकी समय फिर संसार के काम में लग जायें। यह निलय होना नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'निलीयते जगद् यस्मिन् निलीनं जायते ततः' संसार के लोग आनंद को बाहर इसलिये दिखाते हैं कि अन्दर दुःखी हैं। परमात्मा इससे विपरीत, बाहर आनंद को नहीं दिखाता क्योंकि अंदर आनंद से भरा हुआ है। हम लोग बाह्य पदार्थों को सामने रखकर सुख का परिमाण मापते हैं। जितने पदार्थ जिसके पास, वह उतना ही सुखी है। वेदांत तो उल्टी बात करता है। कहता है, जिसके पास जितने पदार्थ कम, वह उतना ही सुखी। दोनों ठीक विपरीत बातें हैं। वेदांती कहता है 'कौपीनवंतः खलु भाग्यवंतः' असल में भाग्य उसका उदय होता है जिसके सारे कपड़े चले जायें, लंगोटी का एक टुकड़ा भले ही रह जाये। लेकिन कहाँ पर? यह समझने की बात है, क्योंकि अगर इतना ही होता तो सभी को लंगोटी पहना देते और काम हो जाता है। अरे! पदार्थ मन में रहते हैं। वेदांत के अनुसार पदार्थ मन में हैं। जिसके मन में केवल शरीर को ढाँकने के लिये कौपीन के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है वह सुखी है। यदि मन में पदार्थ भरे हुए हैं और बाहर नहीं हैं तब तो मरण तक कष्ट है। मन में एम्बेस्डर मोटर बैठी है और चढ़ने के लिये साइकिल है तो दुःख है और मन में एम्बेस्डर है ही नहीं तो साईकिल दुःख का कारण नहीं है। मन में पदार्थों का न होना सुख है। मन में पदार्थों का भरना दुःख है। यही फ़र्क है। परमात्मा की मायावृति में सारे पदार्थ होने पर भी उनके अन्दर किसी पदार्थ का स्पर्श नहीं है और हमारे में ठीक विपरीत है। अन्दर चूंकि पदार्थ भर रखे हैं, इसलिये दुःख है, ऊपर से हम अपने आपको आनंद या सुख के समीप करना चाहते हैं। इस चित् और आनदं का संश्लेष तब हो जब आनंद को अंदर अर्थात् गुप्त जगह में ले जायें।

निलय का दूसरा अर्थ हेमकोश ने कर दिया 'अस्तमये ग्रहे' सूर्य, चन्द्रमा आदि जब अस्त होने लगते हैं तो उस अस्त होने वाले काल में उनका प्रकाश तो दीखता है, सूर्य, चन्द्र नहीं दीखते। इसी प्रकार से आनंद की किरणें तो चारों तरफ दीखीं लेकिन जिस आनंद को हम केन्द्र बनाकर देखना चाहते हैं, वह नहीं दीखा। प्रायः बहुत से लोगों के हृदय में शंकायें रहती हैं कि मुक्तावस्था में क्या आनंद रहता है? मोक्ष अवस्था में सुख-दुःख कुछ नहीं रहता होगा या आनंद नहीं रहता होगा, ऐसा लोग मानते हैं, लेकिन यह वेदांत-सिद्धान्त नहीं है। यहाँ तो 'विज्ञानम् आनन्द ब्रह्म' है। फिर क्या नहीं रहता है? जिसको संसार के लोग बाहर ले जाकर आनंद रूप से देखते हैं, वह वहाँ नहीं रहता है। जैसे अस्तकाल में सूर्य नहीं दीख रहा है, सूर्य का प्रकाश

दीख रहा है। अब आगे कोई कहे कि प्रकाश है तो किसका प्रकाश है? तब कहते हैं कि सूर्य का प्रकाश है। सूर्य तो नहीं दीख रहा है प्रकाश दीख रहा है। उसी प्रकार से जब आनंद-स्वरूप को प्राप्त हुए से पूछते हैं कि तुमको किस का आनंद है तो वह क्या कहे! यदि कहता है कि किसी चीज़ का आनंद है तो चीज़ें वहाँ हैं नहीं चूंकि किसी अन्य अवलम्बन के बिना आनंद है। इसलिये दूसरा आदमी समझता है कि वहाँ कुछ है नहीं तो इसका आनंद किस काम का! जैसे सूर्य के बिना सूर्य का प्रकाश रहता है, ऐसे ही बिना किसी विषय के भी आनंद रहता है। इसीलिये निलीन अर्थात् अस्त न कहकर अस्तमय कहा। सर्वथा अस्त हो जाये तब तो कुछ नहीं दीखता। उदय इसलिये नहीं कहा कि उदय में तो आगे सूर्य ऊपर आ जायेगा। ऐसे ही यहाँ इस आनंद को प्राप्त करने के बाद विषय को वहाँ आना ही नहीं है। अगर उदय कहते तो होता कि थोड़ी देर बाद रोशनी बढ़ जानी है अतः संसारी लोग कहते कि थोड़ी देर निर्विकल्प समाधि लगा लें, फिर बढ़िया संसार के पदार्थों की प्राप्ति हो जायेगी। इसलिये अस्तमय कहा अर्थात् प्रकाश (आनंद) है लेकिन निर्विषयक है। इसीलिये परमात्मा की इस अवस्था को निलय कहा।

आगे कहते हैं कि इसको 'परमशिवपर्यंकनिलया' क्यों कहा? उसमें हेतु बताया 'निलयं तं वयं ब्रूमः कोशपंचककारणम्' इन पाँचों कोशों के अन्दर उसके आनंद का विस्फुलिंग प्रकट होता रहता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय इन पाँचों कोशों में उसके आनंद का विस्फुलिंग बढ़ता है जैसे बिजली चमक मारती है। बहुत दिनों की बात है, एक बार नल खोल रहे थे तो बिजली का झटका लगा। सोचा गजब हो गया, यह पानी का नल है, इसमें क्या हो गया? बाद में किसी विद्युत् विशेषज्ञ से पूछा कि क्या मामला है? वह कहने लगा कि बिजली लीक हो रही है। जहाँ बिजली का तार था, वहाँ से वह दीवार में चली गई और दीवार से चलकर नल में आ गई, इसलिये नल छूने पर लग गई। जैसे यहाँ बिजली अपने स्थान को छोड़कर मार्ग मिलते ही ठेठ नल तक पहुँच गई, इसी प्रकार चिदानंद अर्थात् अंदर का आनंद है। जहाँ प्रारब्ध ने इसे थोड़ी-सी भी लीक होने की जगह दी तो यह आनंद बुद्धि में, मन में, प्राणों में और देह तक में आ गया। बिजली में से बिजली ही निकलेगी। जिसके अन्दर चिदानंद है, उसमें से निकलेगा आनंद ही। अनंत कोटि ब्रह्माण्ड भी प्रयत्न करके उसको कभी भी दुःखी नहीं कर सकते। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद छांदोग्य भाष्य में लिखते हैं 'प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसितवदनः कृतकृत्यश्च ब्रह्मज्ञो भवति' उसकी इन्द्रियाँ हमेशा शांत रहती हैं। उसकी इन्द्रियों में कभी चपलता या चंचलता नहीं आयेगी। जैसे हाथी चलता है, वह भी अपने ही ढंग से चलेगा। हाथी से चाहो कि घोड़े की तरह उछल-उछल कर चले, तो नहीं उछलेगा। ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता की इन्द्रियों में कभी चापल्य नहीं होता। ऐसा क्या है जिसके लिये वह चंचल बने? कोई चीज़ ऐसी है क्या जिसके पीछे भाग जाये? प्रारब्ध के कारण जो प्रतीति होनी है, वह तो

तुम बैठे रहोगे तो भी प्रारब्ध नौकर की तरह लाकर देगा। और प्रतीति नहीं होनी है तो इन्द्र, वरुण, यम आदि भी नहीं करवा सकते। जब तक मनुष्य के अन्दर यह दृढ आत्मबोध नहीं है, तब तक वह सोचता है कि कहीं ऐसा न हो कि पदार्थ निकल जाये और मैं बाद में पहुँचूं। पदार्थ बाहर थोड़े ही हैं, पदार्थ तो मन में हैं। यदि प्रारब्ध तीव्र है तो स्थूल रूप में दीखेगा। उससे कमज़ोर है तो सूक्ष्म रूप में दीखेगा, स्वप्न में दीखेगा। वह तो मन में है, बाहर होता तो उसके लिये जाया जाता। जिस प्रकार कोई बैंक का मैनेजिंग डायरेक्टर, चेयरमैन या कस्टोडियन हो, दो बजे का समय हो गया हो और उसे हज़ार रुपये का चैक भुनाना हो तो क्या दौड़कर पहुँचता है? कुछ नहीं, बल्कि वहीं बैठा-बैठा छोटा-सा रुक्का लिख देता है कि ले आओ या बैठे-बैठे दूरभाष करता है; क्योंकि प्रसन्नेन्द्रिय है, उसको पता है कि मेरा माल वहाँ है और मैं उसका मालिक हूँ। इसी प्रकार से जो ब्रह्मवेत्ता है, वह जानता है कि सारे का सारा माल अंतःकरण में है, मन से बाहर कुछ नहीं है और मैं उसका मालिक हूँ। तब वह 'किमर्थं कस्य कामाय' किस प्रयोजन के लिये, किस कामना की पूर्ति के लिये अपनी इन्द्रियों को चंचल बनाये! इसलिये पहला लक्षण बताया कि उसकी इन्द्रियाँ हमेशा शांत रहती हैं।

'प्रहसितवदनः' वदन से शरीर को बताया। केवल सूक्ष्म शरीर में ही प्रसन्नता नहीं, उसके स्थूल शरीर के अन्दर भी हमेशा प्रसन्नता रहती है। इसका मतलब यह नहीं समझ लेना कि जो आजकल एक झूठी हँसी चली है। आजकल हिन्दुओं के अन्दर (सभी हिन्दुस्तानियों में और हिन्दुओं में ज़्यादा) एक झूठी हँसी चली है। किसी ज़माने में हमने मुसलमानों की देखा-देखी झूठा रोना सीखा था और साल-साल भर तक रोते रहते हैं। ऐसे ही अब हमने झूठा हँसना सीखा है। कोई आये, दाँत ज़रूर निकालने हैं। एक बड़े अच्छे सज्जन हैं, एक बार वे हफ्ते भर के लिये कलकत्ता गये। रिश्तेदारी में किसी की मृत्यु हो गई थी। तीन दिन में ही वापिस आ गये। कहने लगे 'सोलह साल में कलकत्ते गया तो सभी मिलने आये। जो मिलने आये उसके सामने होठ चौड़े करके हँसना पड़े। वे तो कई और मैं अकेला, वह झूठी हँसी हँसते-हँसते मेरे जबड़े दूखने लगे! मैंने सोचा चलो वापिस।' आजकल ऐसी झूठी हँसी खूब चलती है लेकिन ऐसी हँसी हृदय में फुफकारा नहीं मारती, ऊपर-ऊपर की है। इसलिये जैसे ही कारण हटता है, उनका स्वाभाविक चेहरा फिर वैसा ही हो जाता है। कारण के आने पर कुछ खिला और कारण जाने पर फिर वैसा का वैसा मुर्झा गया। यह हँसी नहीं है। 'प्रहसितवदनः' बाहर से हँसी प्रकट न होने पर भी सामने वाला समझता है कि वह मुस्करा रहा है। वह कोशिश करता है कि मैं न मुस्कराऊँ, दाँत रोक लेता है, होठ दबाता है लेकिन दिल क्या करे, वह जो हँस रहा है! इसीलिये ज्ञानी को देखकर अज्ञानी लोग इतना असंतोष करते हैं और कहते हैं कि ज्ञानी को भक्ति करनी चाहिये, पूजा-पाठ करना चाहिये। कोई कहता है कि यज्ञ यागादि कर्म तो करने ही चाहिये। कोई कहता है कि राष्ट्र के उद्धार के लिये तो काम करना ही चाहिये। लोगों ने बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे हैं। कोई कहता है

कि ज्ञानोत्तर भक्ति, ज्ञानोत्तर कर्म होता है। कोई कहता है ज्ञानोत्तर काल में देश के उपकार का कर्म होता है। ये सारे के सारे क्यों ऐसा लिखते हैं? इसका मूल कारण यह है कि ज्ञानी बड़ा सुखी रहता है। इसलिये कहते हैं कि इसे किसी काम में जोतो तो इसे पता लगे कि दुःख क्या होता है। जैसे महात्मा को देखकर लोग कहते हैं 'बाबा जी! काम करके खाओ तो आटे दाल का पता लगे'। वह पूछता है कि तुम्हें इससे क्या मज़ा आया? कहते हैं 'हम अपनी तरह तुम्हें दुःखी करना चाहते हैं।' इसी प्रकार आस्तिक भक्त कहता है कि हम सारे दुःखी, तुम सुखी कैसे? लेकिन वह अपना मुँह दाब कर रखता है। फिर भी उसका आनंद फूटकर निकल जाता है। वे सारे दार्शनिक ग्रंथों को बनाकर सिद्ध करना चाहते हैं कि तुम भी हमारी तरह दुःखी हो जाओ, लेकिन वह दुःखी होने वाला नहीं है क्योंकि वह तो कृतकृत्य है।

जो कुछ तुम सोचते हो कि तुमको उपासना, कर्म, भक्ति से, ज्ञान से, लोकोद्धार से जितने कर्म कुछ दे सकते हैं, उनके फल को वह अच्छी तरह से घोटे बैठा है इसलिये उसमें कृतकृत्यता है। यदि कोई कर्त्तव्य शेष है तो भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'अस्ति चेन्न स तत्त्ववित्' यदि मन में छोटी से छोटी आशा भी है कि ऐसा हो, तो वह ब्रह्मवेत्ता नहीं है। बार-बार शास्त्रों में कहा कि ज्ञान के बाद तो केवल सर्वकर्मसंन्यास ही है। वह इसीलिये कहा है क्योंकि सारे कर्मों का कुछ उद्देश्य है और वे सारे उद्देश्य तो उसे पहले से प्राप्त हैं। 'यावानर्थ उदपाने सर्वतःसम्प्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।' भगवान् भी कहते हैं 'विजानतः ब्राह्मणस्य' जिस ब्रह्मवेत्ता ने उस परब्रह्म परमात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया। विज्ञान अर्थात् अनुभवपूर्वक ज्ञान, साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान। आगे कहेंगे 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् इदं वक्ष्यामि अशेषतः' मैं तेरे को उस ज्ञान को बताऊँगा जो शास्त्र में कहा है और विज्ञान भी बताऊँगा अर्थात् अनुभव भी बताऊँगा। जिस ब्रह्मवेत्ता को विज्ञान है अर्थात् जो अपने अपरोक्ष साक्षात्कार में स्थित है, जिसने उसे साक्षात् जान लिया, सारे वेदों के द्वारा जो कुछ भी प्राप्तव्य था, वह सब उसने प्राप्त कर लिया। जैसे चारों तरफ जमुना भर गई हो तो हाथ धोने के लिये कुआँ नहीं खोदोगे। इसी प्रकार जो कृत-कृत्य है, वह अब कौन-सा कर्म करे ' शरीरमनुसंज्वरेत्'? कारण यह है कि उसके स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों शांत हो गये, अब कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं है। चूंकि वह कृतकृत्य है, इसलिये उसका सर्वकर्म-संन्यास बन जाता है। किसी भी चीज़ को छोड़ने के लिये कोशिश नहीं करनी पड़ती, पकड़ने के लिये कोशिश करनी पड़ती है। लोग कई बार कहते हैं कि कर्म छोड़ने पड़ेंगे। लेकिन छोड़ने के लिये कुछ नहीं करना पड़ता। भोजन बनाने के लिये प्रयास है। बड़ी मुश्किल से साग लाया जाता है, छीला जाता है, छौंका जाता है, हिलाया जाता है और शाम तक न बर्तो तो खराब नहीं किया जाता बल्कि हो जाता है; उसके लिये कोशिश नहीं करते हो, लेकिन हो जाता है। इसी प्रकार कर्म को छोड़ने के लिये कुछ नहीं करना पड़ता। कर्म करने के लिये तो सारे साधन जुटाने पड़ते हैं। यह उसकी निलयावस्था है। पाँचों कोशों के अन्दर उसकी

आनंदरूपता प्रस्फुटित होती है। कृतकृत्य होने से कहीं बाहर से सुख न लेने पर भी उसका सुख नहीं घटता। यह उसकी चित् और आनंद की एकता है। जिस काल में उसका चित् अर्थात् चेतन (चित्त नहीं) क्रियाशील प्रतीत नहीं होता, उस काल में आनंदरूपता की प्रतीति न हो लेकिन जैसे तुम गहरी नींद में पड़े हो तो भी तुम्हारे में चेतनता है, चुप-चाप बैठे हो, हिल-डुल नहीं रहे हो तब भी चेतनता है लेकिन प्रकट नहीं है, इसी प्रकार से ब्रह्मवेत्ता की आनंदरूपता तुमको प्रतीत न हो, यह तो हो सकता है। लेकिन जैसे क्षणमात्र को तुम्हारे अन्दर यह नहीं आता कि 'मैं चेतन नहीं हूँ' इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता में क्षणमात्र को यह नहीं है कि 'मैं आनन्दरूप नहीं हूँ'। उसकी आनंदरूपता प्रतिक्षण है। जहाँ-जहाँ मन का सम्बन्ध हुआ, इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध हुआ, वहाँ आनंदरूपता पहुँच गई।

अब चाहे दार्शनिक प्रयत्न करें, चाहे देश के नेता प्रयत्न कर लें, सब मिलकर चाहते हैं कि यह दुःखी हो लेकिन वह उसको होना नहीं है। इसीलिये दूसरे समझते हैं कि गजब हो गया, यह किसी भी हालत में दुःखी नहीं हो रहा है। घर वाले भी यही चाहते हैं। घर में कोई मरा हो, रोओ तो समझते हैं कि इसका बड़ा प्रेम है और हँसी आ रही हो तो कहते हैं कि यह तो चाहता था कि यह मर जाये। अरे! वह यह नहीं चहता था कि मर जाये, लेकिन वह यह भी नहीं चाहता था कि ज़िन्दा रहे! मर जाये इसलिये नहीं चाहता था कि मृत्यु इच्छाधीन नहीं है और जीता रहे इसलिये नहीं चाहता था कि जीना भी इच्छाधीन नहीं है, भोगाधीन है। जो इच्छा का विषय नहीं है, वहाँ इच्छा लगाना बेमतलब है। इसलिये इच्छा करने से कोई ज़िन्दा रहता तो तुम इच्छा कर लेते। यदि कोई इच्छा करने से मरता तो हम भी इच्छा करते कि माओत्से तुंग और याहिया खाँ मर जायें। जब तक उनका भोग है तब तक तुम्हारी इच्छा से कुछ नहीं होना है। इस बात की हमें कोई खुशी नहीं कि वह मर गया, लेकिन इस बात की भी खुशी नहीं कि वह ज़िन्दा है क्योंकि दोनों का इच्छा से सम्बन्ध नहीं है। यह तो जिस-जिस काल में जैसा-जैसा भोग्य पदार्थ सामने आता जायेगा, वैसा-वैसा प्रतीत होता चला जायेगा क्योंकि यह सारे का सारा संसार कैसा है और इसका रूप क्या है? कभी विचार करो। यह दृष्ट-नष्ट स्वभाव है। इसे देखते-देखते ही इसको नष्ट हो जाना है। तुम सोचते हो कि यह रसगुल्ला एक घण्टे से हमारे पास पड़ा है लेकिन यह रसगुल्ला तो प्रतिक्षण बदलता जा रहा है। जैसे एक ही यमुना के अन्दर तुम चाहो कि दो बार डुबकी लगा लें तो नहीं लगा सकते क्योंकि एक बार डुबकी लगाकर आये, वह पानी आगे चला गया, उसके जैसा होने से 'वही' की प्रतीति होती है। पदार्थ किसलिये होते हैं? जिस जीव का भोग है, उसी जीव के लिये वे पदार्थ हैं, बस इतना ही पदार्थ का उपयोग है। दृष्ट का मतलब खाली आँख से देखना नहीं। जितना इस पदार्थ का भोग तुम्हारे साथ होना है उतने काल के लिए ही उसे स्थिर रहना है। उसके पहले पैदा होकर क्या करेगा। जिस क्षण में पदार्थ का भोग नहीं है, उसके पहले वह पदार्थ था, यह कैसे मान सकते हैं क्योंकि फालतू ही पड़ता।

और जिस क्षण में हमने देख लिया, भोग लिया, उसके आगे के क्षण में वह पदार्थ किस प्रयोजन से पड़ा रहेगा? यह तो परमात्मा की सृष्टि है, कोई दिल्ली नगर निगम नहीं कि हफ्ते भर से चांदनी चौक में कूड़ा पड़ा है। यह तो दिल्ली वालों की ग़लती कि उन्हें सफाई करना नहीं आता। लेकिन परमात्मा की सृष्टि ऐसी नहीं है। जो तुमने भोग कर लिया, उस क्षण से वह पदार्थ कूड़ा हो गया और वह फिर सृष्टि में पड़ा नहीं रहेगा, ख़त्म हो जायेगा। आजकल की तरह सफाई भी नहीं कि एक जगह से कूड़ा उठाया और आगे जाकर डाल दिया। जब उधर से मोटर से निकलो तो बदबू आये! परमात्मा ऐसा नहीं है कि सावशेष नाश करके दूसरा दुःख देता रहे, वह तो निरवशेष नाश करता है, उसका शेष भी नहीं बचता।

न परमात्मा आजकल के व्यापारियों की तरह स्टाकिस्ट है कि जब ग्राहक आयेगा, तब उस ग्राहक को माल देंगे और उसके पहले वही माल भरकर रखेंगे। व्यापारी बेचारे तो अल्पज्ञ हैं, उन्हें पता नहीं है। परमात्मा तो ताज़ा माल देता है। कलकत्ते में एक बढ़िया रसगुल्ले बनाने वाला है जो केसर मिलाकर रसगुल्ले बनाता है और वैसा रसगुल्ला वहाँ और कोई नहीं बनाता। वह जितने भी रसगुल्ले बनाता है, आधे घण्टे में सारे बिक जाते हैं। जैसे ही माल ख़त्म हुआ उसने ताला बन्द किया और घर चला गया। वह गरम-गरम माल बेचता है। जैसे घर में पुराने ज़माने की पत्नी हो, तुमने घर आकर उससे पूछा कि भोजन तैयार है? उसने कहा बैठो। फिर पूछा कितने फुलके तैयार हैं? वह कहती है बैठो तो तैयार करूँ। आजकल के रसोइये की तरह नहीं कि नौ बजे फुलके बनाकर रख दिये जो अब १२ बजे तुम जब आओगे तो वही फुलके तुम्हें मिलेंगे। कुछ तो इससे भी आगे जाते हैं। ब्रिटानिया वाले तीन दिन पहले जो रोटी बनाते हैं, वह घर में पहुँच जाती है और वही घर वालों के आगे डाली जाती है जिसे टोस्ट कहते हैं। टोस्ट का अर्थ है बासी रोटी जो पहले से बनी रखी हो। लेकिन जो पत्नी प्रेम करने वाली है, वह तो तुम बैठो और जैसे तुमको आवश्यकता हुई, वैसे ही उसी समय ताज़ा-ताज़ा व सौंधा-सौंधा फुलका उतारकर तुम्हें देगी। परमात्मा भी तो हमारी माता है, इसलिये तुमको जिस पदार्थ का भोग मिलना है, वह पहले बनाकर नहीं रखता बल्कि जिस क्षण भोग होना है, उसी क्षण ताज़ा सामने आया और अगले ही क्षण उसकी सफाई। यह दृष्टिरेव सृष्टिः अथवा दृष्टि-समकाल सृष्टि है, आगे-पीछे कुछ नहीं है। परमात्मा न तो पदार्थ को एक क्षण पहले रहने देता है और न बाद में रहने देता है। सारे पदार्थ दृष्ट-नष्ट-स्वभाव हैं। इतने पर भी मनुष्य केवल मन से सोचता है! इन पदार्थों की दृष्ट-नष्ट-स्वभावता को जो जानता है, समझता है, वह किस चीज़ से अपने आनन्द को मिटाये! क्या कोई चीज़ ऐसी है जो उसके आनंद को मिटाये? हम लोग चूंकि पदार्थ को वास्तविक समझते हैं इसलिये व्यर्थ में अपने ऊपर दुःख लादते रहते हैं। इस चित् और आनंद की एकता को निलयरूप बनाना है। इस निलयरूपता पर आगे विचार करेंगे।

# प्रवचन-२५

१३–४–७२

भगवती की प्राप्ति के दो रूप, ज्ञेय और ध्येय, बता चुके हैं। ज्ञेय ब्रह्म में चित् और आनंद अभिन्नरूप से रहते हैं। वह आनन्द कैसा है, आज इसे बतायेंगे। 'ब्रह्मण्यानन्दशब्दोऽयं प्रयुक्तः सुखवाचकः' ब्रह्म आनन्दमय है, यह श्रुति ने कहा तो आनन्द का अर्थ सुख हुआ। आनन्द दो तरह का होता है। एक सुखमात्र और दूसरा उत्पन्न होने वाला सुख है। श्रुति ने कहा 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' तो यहाँ आनन्द का अर्थ क्या है? 'सवेद्ये च सुखे लोक आनन्दाख्या प्रयुज्यते' शास्त्रों में आनन्द सुख का वाचक है। लोक में जब कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति बड़ा सुखी है तो इसका मतलब है कि उसके पास खूब रुपये हैं, सुन्दर पत्नी है, आज्ञाकारी पुत्र हैं, सेवा करने वाले नौकर हैं, रहने को तीन मंज़िला मकान है जिसमें वातानुकूल लगा हुआ है। 'सवेद्ये च सुखे लोक' ये सारी की सारी चीज़ें जहाँ दीखती हैं अर्थात् इन पदार्थों के सम्बन्ध वाले को लोक में सुखी कहा जाता है। इसलिये सुख शब्द के दो प्रयोग हुए। शास्त्रों में ब्रह्म को आनंद कहा और संसार में सवेद्य सुख को आनंद कहते हैं। अब शंका होती है कि फिर आनन्द, जो संसार में प्रसिद्ध है, वही आनंद ब्रह्म का भी है या कोई दूसरा है? यह शंका होनी स्वाभाविक है। मीमांसा में यह नियम है कि रूढि अर्थ प्रधान होता है। यह शास्त्रीय विषय है लेकिन थोड़ा समझ लेना ज़रूरी है। किसी भी शब्द का पहला अर्थ वह लेना पड़ेगा जो उसकी रूढि है अर्थात् जो अर्थ संसार में सब लोगों में प्रसिद्ध है। जैसे गौ शब्द का अर्थ होता है 'गच्छति इति गौः' जो चलती है, वह गाय है। गम् धातु का अर्थ चलन होता है। चलने वाली चीज़ें तो अनंत हैं, आदमी, घोड़े, बिजली, बादल, पानी आदि बहुत-सी चीज़ें चलने वाली हैं लेकिन लोक में प्रसिद्ध गौ वह है जिसके सासना (लटकती गर्दन की झालर) है जो सिवाय गाय के और किसी की नहीं होती। इसलिये गाय का लोकप्रसिद्ध अर्थ केवल उस गौ नाम का जानवर है। यदि कहीं गौ शब्द आता है तो उसका पहला अर्थ गाय करना पड़ेगा। यदि वह असम्भव अर्थ हो या अर्थ लगे ही नहीं, तो दूसरी बात है। लेकिन गौ शब्द को देखते ही कोई दूसरा अर्थ करना, यह साधारण व्यवहार और मीमांसा के विरुद्ध है।

आधुनिक युग के अन्दर कुछ लोग ऐसे होते हैं, विशेषकर आर्यसमाज और फिर उसके बाद बहुत-से लोग उनको मानने वाले हुए; वे वेद आदि ग्रंथों के अन्दर सब जगह कहते हैं कि हम किसी भी धातु से कोई भी अर्थ मान लेंगे। यह उनकी मान्यता है कि हम यौगिक अर्थ को लेंगे। कई बार लोग कहते हैं  महाराज! वेद को आर्यसमाजी भी मानते हैं, आप लोग भी मानते हैं, क्या कोई भेद है? कई भेद हैं। पहला तो यह कि वे एक चौथाई वेद को मानते हैं, तीन चौथाई को नहीं मानते। उसके अलावा जो एक चौथाई मानते हैं, उसमें भी जहाँ शब्द आता है, वहाँ

वे उसका यौगिक अर्थ करते हैं। नतीजा यह होता है कि उन्हीं के अर्थ करने वाले चार विद्वानों के अर्थ देखो तो चारों के अलग-अलग अर्थ होते हैं क्योंकि किसी ने गौ का मतलब चलने वाली इन्द्रिय ले लिया, किसी ने चलने वाला जानवर अर्थ ले लिया, किसी ने गौ का मतलब गेहूँ लिया है क्योंकि गेहूँ उगता है। लिखने वाले का तो कोई एक मतलब होगा। यह तो नहीं हो सकता कि भारतीय रबड़ की तरह जितना खींचो, खींचते चले जाओ। यह एक आधारभूत भेद है।

हम लोगों की मान्यता है कि पहले रूढि अर्थ और जहाँ रूढि अर्थ न बने, वहाँ कोई दूसरा अर्थ लेना पड़ता है। लोक में भी जब हम लोग आपस में बातचीत करते हैं तो प्रसिद्ध अर्थ को लेकर ही हम पहले बोलते हैं। हमारी बात का कोई प्रसिद्ध अर्थ वाला प्रयोग असम्भव हो जाता है तब तुम अर्थ लगाते हो कि स्वामी जी का यह मतलब रहा होगा। जैसे हमने कहा 'सर्दी है, आग जला दो' तो तुम आग का प्रसिद्ध अर्थ लोगे और लकड़ी जलाकर आग पैदा करोगे। यदि हमने कह दिया कि 'आज दाल क्या खाई है, आग खाई है', तब तुम कहते हो कि आग तो कोई खाने की चीज़ नहीं है। इसलिये अर्थ लगाया कि जैसे आग जलाती है, वैसे ही दाल ने जलाया होगा अर्थात् दाल में मिर्च बहुत पड़ी होगी। लेकिन जब हमने कहा कि आग जलाओ तो मिर्च की धूनी नहीं दोगे! यह नहीं कि उस दिन कहा था आग खाई है तो आज सर्दी कही तो हमने मिर्च जला दी। पहले प्रसिद्ध अर्थ लिया जाता है, असम्भव होने पर फिर यौगिक अर्थ सोचा जाता है। इसी प्रकार वेद्य (ज्ञेय) सुख के अन्दर संसार में आनन्द शब्द की प्रसिद्धि है। जब वेद ने कहा कि ब्रह्म आनन्द है तब शंका होती है, क्या आनन्द शब्द का यही अर्थ है? कुछ लोगों ने माना कि यही अर्थ है, इसलिये ब्रह्म को वेद्य मान लो। यह वैष्णवाचार्यों की मान्यता है कि ब्रह्म को ज्ञेय मान लो। जब हम ब्रह्म का दर्शन करेंगे, स्पर्श करेंगे, तब हमको आनंद होगा। जैसे धन मिला तो धन वाला सुख, सुन्दर पत्नी मिली तो वह सुख हो गया, उसी प्रकार से जिसने ब्रह्म की सन्निधि प्राप्त कर ली, ब्रह्म का साक्षात् कर लिया तो वह सुखी हो गया, यही ब्रह्मानन्द का सीधा अर्थ करो।

श्रुति इस बात को जानती थी कि इससे प्रसिद्ध अर्थ आ जायेगा, इसलिये श्रुति ने जहाँ 'आनन्दं ब्रह्म' कहा, उसके पहले 'विज्ञानं' लगा दिया। श्रुति ने बड़ा विलक्षण विचार किया : संसार के अन्दर जो पदार्थ है, उस पदार्थ के अन्दर सुखरूपता तब हुई, जब वह हमसे सम्बन्ध वाला हुआ, क्योंकि वह ज्ञेय है। यदि इसी प्रकार से ब्रह्म के साक्षात्कार से हमको सुख होता तो ब्रह्म खुद ज्ञानरहित हो जाता और जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ सुख कहाँ से? ब्रह्म में दो दोष आ जाते, एक तो ब्रह्म जड हो जाता और दूसरा आनंद-रहित हो जाता। सोना हमारा बनकर तो हमको सुखी करता है लेकिन क्या खान में पड़ा हुआ सोना भी मूँछों पर ताव देता है कि मैं बड़ा सुखरूप हूँ? मकान में जब हम रहते हैं तब मकान सुख देता है, क्या तुम्हारा मकान (जहाँ कोई नहीं रहता, वह मकान) बड़ा सुखी है? इसी प्रकार से यदि परमात्मा सवेद्य सुख होता तो

जब-जब हमारे साथ होता, तब-तब सुखी होता और जब हम कोई न होते तो बेचारा उसी सोना या मकान की तरह व्यर्थ हो जाता! बहुत बार वैष्णवाचार्य लोग यही दृष्टांत देते हैं कि चीनी खाने में मज़ा है, चीनी बनने में कोई मज़ा नहीं है। इसलिये वे कहते हैं कि चींटी की तरह चीनी को खाओ, भक्त बनकर भगवान् का आनंद लो, भगवान् बनकर क्या होगा? वही बात आ गई, चीनी अपने मिठास को खुद नहीं जानती, इसी प्रकार से यदि चीनी की तरह ब्रह्म होता तो परमात्मा खुद बेचारा सुखी नहीं होता। जैसे चीनी को अपने मिठास का पता नहीं, ऐसे ही परमात्मा को भी अपना मिठास मालूम नहीं होता। फिर वह परमात्मा हमसे भी गया-बीता हो गया! ठीक जैसे चीनी की अपेक्षा चींटी श्रेष्ठ है उसी प्रकार परमात्मा की अपेक्षा जीवात्मा श्रेष्ठ हो जायेगा। इसलिये अतिधन्य वेद ने कहा कि वह केवल आनंद नहीं बल्कि ज्ञानस्वरूप है अर्थात् ब्रह्म अपने आनन्द को स्वयं ही जानता है और प्रकट करता है।

कुछ लोगों ने केवल सवेद्य सुख को दुःख माना, जैसे नैयायिक इत्यादियों ने कहा कि जहाँ कोई चीज़ होती है, वहाँ सुख होता है। ब्रह्म को किसी चीज़ का सुख नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्मदृष्टि में चीज़ है नहीं। चीज़ होगी तो वह पराधीन हो जाता है। इसलिये उन्होंने कहा कि ब्रह्म को सर्वथा आनन्दरहित मान लो। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग सब ब्रह्म को कैसा मानते हैं? 'निरानन्दं तथा केचित् कैवल्यं प्रतिजानते' कुछ लोग प्रतिज्ञा करते हैं कि ब्रह्म निरानन्द है। इसलिये ब्रह्म की प्राप्ति करने पर निरानन्द हो जायेंगे क्योंकि उनको यह भय है कि सवेद्य मानेंगे तो पराधीन हो जायेंगे। वैष्णवों ने जिस प्रकार उसको सवेद्य आनन्दरूप माना तो भी ब्रह्म में दोष आ गया कि वह जड और आनन्दरहित हो गया, अपने आनन्द को खुद नहीं जानता; यह देखकर दूसरे लोगों ने कहा कि ब्रह्म को आनंदरूप मानो ही नहीं, तब यह दोष नहीं आयेगा। वे यह भूल गये कि निरानंद होना भी एक बहुत बड़ा दोष है। जैसे एक तरफ कुआँ और दूसरी तरफ गड्ढा हो। यदि ब्रह्म को आनंदरूप मानो तो जड हो जाता है और यदि ब्रह्म को ज्ञानरूप मानने जाओ तो निरानन्द हो जाता है। बड़े-बड़े लोग इन दोनों चीज़ों के चक्र में इधर बचाते हैं तो उधर जाते हैं, उधर बचाते हैं तो इधर जाते हैं। इसलिये भगवान् पद्मपादाचार्य कहते हैं कि रागियों का एक गीत है 'अपि वृन्दावने रम्ये श्रृगालत्वं स इच्छति। न हि निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम' रागी लोगों का कहना है कि वृन्दावन में सियार होकर रहना अच्छा है लेकिन उस निर्विषय ब्रह्म की प्राप्ति न हो जाये क्योंकि वहाँ आनंद नहीं है। कभी सोचा कि उनकी दृष्टि क्या है? अर्थात् परमात्मा सियार से भी गया-बीता है, तभी तो ऐसा कहते हैं! कहोगे कि किसी को आनंद होता होगा, किसी को निरानन्द होता होगा! आजकल ही नहीं, पुराने ज़माने में भी ऐसे लोग रहे हैं जो सही-गलत के निर्णय से बचते हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि बड़े भाई को कह दिया कि 'छोटे ने सूट ले लिया तो ले लेने दे, तू ही चुप रह।' फिर छोटे को कह दिया कि 'बड़े भाई के साथ ऐसा नहीं करते।' अर्थात् मल्हम-पट्टी करके दोनों को चला

दिया। आजकल भी ऐसे लोग होते हैं। कहते हैं कि कुछ मुसलमानों की तो कुछ ईसाइयों की भी अच्छाई है। लेकिन भगवान् सुरेश्वराचार्य तो विवेक की तलवार लेकर खड़े रहते हैं 'विकल्पासम्भवस्तत्र वस्तुवृत्तत्वकारणात्' कहते हैं यहाँ तो वस्तु का विचार हो रहा है। विकल्प अर्थात् 'यह भी ठीक और वह भी ठीक' तब हुआ करता है जब कोई काम किया जाये। जैसे तुमने कहा 'पानी ले आओ' तो विकल्प हो जाता है पानी गिलास में भी ला सकते हो, लोटे या प्याले में भी ला सकते हो इसलिये वहाँ विकल्प बन जाता है, लेकिन जहाँ वस्तु का विचार हो कि यह लोटा है या गिलास, वहाँ विकल्प नहीं चलेगा कि है तो लोटा, लेकिन गिलास या प्याला मान लो क्या फ़र्क पड़ता है! जहाँ वस्तु का विचार होता है, वहाँ विकल्प नहीं बनता। जो लोग कहते हैं कि परमात्मा को 'ऐसा भी मान लो, वैसा भी मान लो', वे सचमुच मानते हैं कि परमात्मा है नहीं। इसलिये कहते हैं कि अपनी-अपनी भावना से जहाँ जैसा देखो। भावना से वह चीज़ दीखा करती है जो हुआ नहीं करती। जो नहीं है, वहाँ तो जैसी भावना करोगे, वैसी दीखेगी। लेकिन जो चीज़ है, उसमें भावना काम नहीं करेगी। इसी प्रकार से जो कहता है कि जिसकी जैसी भावना, वैसा देखो, उसका मतलब है कि परमात्मा है कुछ नहीं, अपनी-अपनी भावना से देखते हो। लेकिन जो जानता है कि परमात्मा है, वह कैसे कहे कि अपनी भावना से देखो? वह कहेगा कि जैसा है, वैसा देखो। या तो ठीक देख रहे हो, या ग़लत, बीच वाला मामला नहीं है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म चूंकि वस्तु है इसलिये उसके विषय में विकल्प नहीं बन सकता कि ऐसा भी है और वैसा भी है।

उसका स्वरूप क्या है? श्रुति स्पष्ट कर रही है 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' जिसे तुम आनन्द कहते हो, वह विज्ञान आनन्द नहीं है, बल्कि विज्ञेय आनन्द है। इसलिये जैसे यदि हमने कह दिया कि आज आग खाई है तो आग और खाना साथ-साथ हो गया। चूंकि जो आग जलती है, वह खाई नहीं जाती इसलिये मानना पड़ेगा कि यहाँ आग का कुछ और मतलब है। इसी प्रकार यदि सवेद्य (ज्ञेय) सुख को कहना होता तो श्रुति कहती 'विज्ञेयम् आनन्दं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और ज्ञान का विषय है। श्रुति स्पष्ट कहती है 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' तो विज्ञेय से अलग बता रही है। क्यों अलग करके कह रही है? विज्ञेय आनन्द पराधीन होता है और विज्ञान आनन्द स्वाधीन होता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य आगे कहते हैं कि इसलिये विज्ञेय के अन्दर जो आनन्द शब्द का प्रयोग है, वह काम-चलाऊ प्रयोग है। लोक में बहुत से काम-चलाऊ प्रयोग होते हैं। जो चीज़ लोगों को कहीं नहीं मिलती और उसका नाम सुन लेते हैं तो वे उसका नाम रख लेते हैं लेकिन चीज़ वह नहीं है। जैसे गंगा अति पवित्र नदी है। जो लोग गंगा के किनारे रहते हैं, वे कहते हैं कि 'गंगा नहाने जा रहे हैं' तो ठीक ही है। लेकिन कभी गंगा से दूर चले जाओ, महानदी, तुंगभद्रा, कावेरी के रहने वाले लोग भी कहेंगे कि 'हम गंगा नहाने जा रहे हैं' लेकिन नदी वहाँ गंगा नहीं है, तुंगभद्रा, या कावेरी है। वे किसी भी नदी को गंगा कहते

हैं क्योंकि असली गंगा उनको नहीं मिली, इसलिये जो भी पुण्य नदी सामने हुई, उसको गंगा कह देते हैं। दक्षिण भारत में भी लोग गंगा दशमी के दिन गंगा नहाने जाते हैं और कहते हैं कि आज गंगा दशहरा है, गंगा स्नान जा रहे हैं। वहाँ पर गंगा न होने पर भी चूंकि उनको गंगा नहीं मिल रही है, इसलिये जो नदी मिलती है, उसका नाम वे गंगा रख लेते हैं। ऐसे ही सब चीज़ों को समझना। एक बार केदारनाथ में ठहरे हुए थे, वहाँ एक कांस्टेबल था, उसको वहाँ के लोग हमेशा कोतवाल साहब कहा करते थे। शुरू में हमने सोचा कि कोतवाल ही होगा। एक दो बार हमारे पास आया तो देखा कि वह पढ़ा-लिखा भी नहीं था। पूछा कि तुम कोतवाल (एस०पी०) कैसे हो गये। कहने लगा ‘स्वामी जी! मैं तो कांस्टेबल हूँ।’ बात यह थी कि केदारनाथ में एक ही पुलिस वाला और वह वही कांस्टेबल है। उसी को वहाँ का कलक्टर और कोतवाल जो समझ लो। सरकारी एक ही आदमी है, इसलिये सर्वाधिकार सम्पन्न है। इसीलिये उसे खुश करने के लिये वहाँ के लोग उसी को कोतवाल कहते हैं। इसी प्रकार संसारी लोगों को चूंकि ब्रह्म का आनंद तो मिलता नहीं, इसलिये जहाँ-जहाँ ब्रह्म के आनन्द का उन्हें आभास मिल जाता है, उसकी छाया मिल जाती है, बेचारे उसी को आनंद कह देते हैं। ‘विषयेन्द्रियसम्बन्धात् यत्तु दुःखं सुखायते’ भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि दुःख के अन्दर कुछ कमी हो जाती है, विषयेन्द्रियों के सम्बन्ध से। वे बेचारे उसी को सुख मान लेते हैं। जैसे रसगुल्ला जडरूप है। उस रसगुल्ले-रूपी विषय के साथ तुम्हारी जीभ-रूपी इन्द्रिय का संयोग हुआ तो उसमें कुछ सुखरूपता आ गई। बस यही सुखाभास हो गया। जैसे कागज़ के ऊपर रंग पोतने से हाथी के मुँह वाले चूहे पर बैठे गणेश हो गये। गणेश तो कैलाश पर्वत पर भगवान् शंकर के पास रहते हैं। लेकिन पूजा करनी है, वे मिलते नहीं, इसलिये कागज़ पर मानो एक आभास बना लिया और खुश होकर कहते हो कि हमने गणेशजी की पूजा कर ली। कोई सचमुच ही समझे कि पूजा कर ली तो ग़लत होगा। दर्शन ही नहीं किया तो क्या पूजा की! इसी प्रकार जब रसगुल्ले को जबान पर रखा तो सुख का आभास आ गया अर्थात् सुख का एक छोटा-सा फोटो आ गया। चूंकि वही तुमको मिलना है, इसलिये तुम उसी को सुख कहते हो। वास्तव में दुःख को विषयेन्द्रिय सम्बन्ध से सुखरूप मान लेते हो। महाराज भर्तृहरि कहते हैं कि प्यास लगती है तो प्यास के दुःख को दूर करते हो लेकिन कहते हो कि पानी पीकर बड़ा मज़ा आया। लेकिन प्यास लगने के पहले जो स्थिति थी, वही तो स्थिति पहुँची, और क्या हुआ! इसी प्रकार जिन-जिन चीज़ों को सुखरूप समझते हो, वहाँ होता कुछ नहीं है। एक तीव्र दुःख उत्पन्न होता है, उसमें थोड़ी-सी कमी हो गई तो उसे सुख मानते हो। कभी पहाड़ी यात्रा में जाकर देखा कि वहाँ बोझ लेकर चलने वाले लोग अपनी कमर में दस सेर का एक पत्थर रखकर चलते रहते हैं। जब चढ़ाई तेज़ आती है तो उसे फैंक देते हैं। उनसे पूछा कि पहले वह पत्थर क्यों रख लिया? तो कहते हैं कि यदि यह पत्थर न रखते तो ऊँची चढ़ाई आने पर हल्के कैसे होते! पहले वह दस सेर वज़न ज़्यादा था, ऊँची चढ़ाई पर फैंक

दिया तो उन्हें हल्कापन महासूस होता है, भले ही बोझे का अपना वज़न यथावत् है। कम हो क्या गया? इसी प्रकार इच्छा के द्वारा दुःख की ईंट अपने मन पर लाद ली और उसके बाद विषय की प्राप्ति होने पर वह ईंट हट गई तो सुखी हो गये। बस यही सुखाभास है।

विषयों को सुख क्यों नहीं कहते, दुःख क्यों कहते हैं? लोगों को तो विषयों से बड़ा सुख मिलता है। आचार्य कहते हैं 'आद्यन्तवत्त्वात् तत् दुःखं दुःखसंस्कारजं तथा' हम जो विषयों को दुःखरूप कहते हैं तो हमें विषयों से कोई द्वेष नहीं है और न कोई गाली-गुफ़्तार कर रहे हैं। लेकिन सच्ची बात कहते हैं कि यदि रसगुल्ले में सुख होता तो खाने के बाद भी सुख होना चाहिये। जैसे रसगुल्ला सफेद है तो खाने के बाद भी सफेद है, जब पेट भर गया, और खाने की सम्भावना नहीं, तब भी सफेद है। इसी प्रकार यदि रसगुल्ला सुखरूप होता तो खाने के पहले भी और पेट भरने पर भी सुख देता लेकिन वह नहीं देता। खाने के पहले तो दुःख देता रहता है कि 'हाय! रसगुल्ला नहीं आया' और पेट भरने के बाद कहते हैं 'यार, अब नहीं चलेगा।' वह कहता है चलेगा कैसे नहीं। कहते हो 'जूठा छूटेगा।' फिर अचार माँगते हो। यह दुःख क्यों होता है? यदि रसगुल्ला आनंदरूप होता तो बाद में भी होता। एक नियम है कि जो चीज़ पहले जैसी हो और अंत में वैसी रहे, वह तो उसका सच्चा रूप है और बीच में जो चमक जाती है, वह उसका झूठा रूप है। भगवान् वार्तिककारों ने तो इसका बड़ा सुन्दर दृष्टांत दिया है। कहते हैं कि सांसारिक भोग के पूर्व में भी पत्नी और भोग के बाद भी जो पत्नी है, वह तो पत्नी है और भोगकाल के पूर्व और बाद में जो पत्नी नहीं है, वह वेश्या है। यह फ़र्क है। संसार के पदार्थ भोगकाल में सुखरूप पर भोगकाल के बाद और पहले दुःखरूप हैं तो उन्हें कैसे सुखरूप माना जाये? 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेपि तत्तथा' भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि जो आदि में नहीं और अंत में भी नहीं है तो वर्तमान काल में दीखने पर भी वह नहीं है। यह नहीं कि गणिका पहले और पीछे है। जिस समय उसके साथ पत्नी का व्यवहार चलता है, उस समय भी वह गणिका है। इसी प्रकार पदार्थ पहले सुखरूप और बाद में भी सुखरूप होते तो उन्हें सुखरूप मानते। लेकिन भोग के आदि में दुःख और अंत में भी दुःख है तो जिस भोगकाल में सुखरूप प्रतीत होते हैं तब भी दुःखरूप ही हैं।

'दुःखसंस्कारजं तथा' और देख लो कि जैसी चीज़ होती है, वैसा ही संस्कार छोड़ती है। हींग खा लोगे तो वैसा ही डकार (संस्कार) और कस्तूरी खाओगे तो वैसा संस्कार छोड़ेगी। पदार्थों के भोग के बाद जब उस पदार्थ की तुम्हारे पास उपलब्धि नहीं है और उसकी याद आती है तब क्या होता है? थोड़ी कड़ी बात कहते हैं, घबराना नहीं : जो पत्नी अत्यंत सुख देने वाली है, वह जब मर जाती है और उसकी याद आती है तो रोते हैं या सुखी होते हैं? यदि वह सुखरूप होती तो उसका संस्कार सुखरूप होता लेकिन दुःखरूप होता है। योग्य पुत्र मर जाये तो उसकी स्मृति दुःखरूप होती है। इसलिये आदि अंत में दुःखरूप और बाद में जो संस्कार छूटा, वह भी दुःखरूप

है। आप में से एक आने सेर का दूध पिये हुए बहुत से लोग होंगे और आज एक रुपया आठ आने सेर दूध मिलता है। विचार करो कि जब-जब वह एक आने सेर का दूध याद आता है तो लगता है कि किसी ने कलेजे को तौलिये की तरह निचोड़ दिया। उसकी स्मृति से सुख नहीं होता। संसार के जितने पदार्थ हैं, उनकी स्मृति दुःखरूप ही है। जैसे हींग की वासना में दुःख वाली बदबू थी और कस्तूरी की वासना सुगन्धि वाली, ऐसे ही पदार्थों के भोग के अनन्तर जब उनकी स्मृति दुःखरूप है तो वे स्वयं भी दुःखरूप हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि श्रुति विषयों को आनंद नहीं कहती। तुम लोगों ने केवल नाम रखा है क्योंकि तुम्हें असली सुख नहीं मिलता। बम्बई में आजकल लिखा रहता है कि 'यहाँ शुद्ध घी में भोजन बनता है' लेकिन उसके बीच में ही 'वनस्पति' लिखा होता है 'शुद्ध वनस्पति घी में भोजन बनता है।' बेचारों को शुद्ध घी उपलब्ध नहीं है, इसलिये उसी को शुद्ध कहते हैं। इसी प्रकार से जिन व्यक्तियों को सुख, आनंद नहीं मिला, उन बेचारों ने दुःख का ही नाम सुख रख लिया, और क्या करते!

फिर सुख क्या है? 'निर्धूताशेषदुःखौघहेतुत्वात् सुखमेव तत्' इस अशेष दुःखों के समूह अज्ञान और उसका कार्य-रूपी सारे दुःख-समूह को जिसने धोकर फैंक दिया, बस वही सुख है। चूंकि वह परब्रह्म परमात्मा ही इन सारी चीज़ों को हटा देता है, इसलिये वही सुखरूप है। यहाँ चिदानंदलहरी इसी दृष्टि से कह रहे हैं। जब इस आनंद के स्वरूप को समझोगे, तब ये दुःख की चीज़ें छूटेंगी। जब तक यह समझोगे कि उसमें सुख है या नहीं, जब तक यह मानोगे कि वहाँ क्या आनन्द होना है, तब तक विषयसुख छूटेगा नहीं। जो लोग उसे निरानंद कहते हैं, वे संसार के सुख से चिपटे रहना चाहते हैं।

एक ब्राह्मण था। वह यज्ञस्थल गाँव में रहता था। उसका खुद का नाम भी यज्ञसीम था। वह बड़ा वेदाध्ययन किये हुए वेदज्ञ और धनी था। केवल वेदज्ञ ही नहीं, क्रियाशील भी था। बहुत से लोग वेदज्ञ होते हैं, शास्त्रों को जानते हैं लेकिन क्रियारहित होते हैं, करते कुछ नहीं हैं। लेकिन वह ऐसा नहीं था। वह अपने तीनों ऋणों को चुका चुका था। प्रत्येक मनुष्य पर तीन कर्जे होते हैं १. ऋषि ऋण, २. पितृ ऋण और ३. देव ऋण। महाराज मनु कहते हैं 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत' इन तीनों ऋणों को चुकाना हरेक के लिये ज़रूरी है। ऋषि ऋण यह है कि उन्होंने हमें ज्ञान दिया, इसलिये उस ज्ञान को हम आगे बढ़ावें। खुद अध्ययन करके बढ़ावें और दूसरों को पढ़ाकर बढ़ावें तथा उसके विषय में कुछ और नवीन ज्ञान प्राप्त करके बढ़ावें। बढ़ाना तीन प्रकार का है। तुम्हारे पिता ने तुम्हें दुकान चलाना सिखाया। इसलिये जैसा पिता ने बताया, पहले उसे समझो। बहुत से लोग वही नहीं करते। पिता जैसे चलाता था वही उनको पता नहीं है। या घर की औरतों को समझ लो : जितना तुम्हारी सास भोजन बनाना जानती है, उतना तो सीखना ही चाहिये। बहुत-सी औरतों को यह नहीं आता। कहती हैं हमारी सास बड़ा अच्छा भोजन बनाना जानती हैं। ऋषि ऋण का पहला हिस्सा है कि जितनी दूसरे

ऋषियों की परम्परा है, उसको पहले सीखो। चाहे वह क्षेत्र भोजन बनाने का हो। न सीखने वाली औरतों को झाड़ू तक लगाना नहीं आता। कहती हैं कि जेठानी घर को बड़ा साफ रखती थी। इससे तुम्हें क्या फ़ायदा हुआ, सीखा क्यों नहीं? ऋषि ऋण में पहला ज्ञान सीखना है और फिर उसे आगे सिखाना है। जितना सास से सीखा, उतना बहू को सिखाओ। बहुत से लोग जानते तो हैं लेकिन आगे नहीं सिखाते, अपने तक ही सीमित रखना चाहते हैं। किसी दवाई का ज्ञान है, उनसे कहो कि बता दो, तो नहीं बतायेंगे। सम्पूर्णानंद जी ने लिखा है कि मेरी मौसी के पास मोतीझरा की एक दवाई थी। उसे पता था कि मैं लोभी नहीं हूँ जो उससे पैसे कमा लूँगा और यह भी पता था कि मैं इतना मूर्ख भी नहीं हूँ कि समझ नहीं सकूँगा। लेकिन वह मर गई, अंत तक यही कहती रही ‘लल्ला फिर बताऊँगी।’ ऐसे बहुत से लोग होते हैं। चाहे तुम्हारे पास अणिमा आदि हों, वह विद्या है, उसे आगे किसी को सिखाओ। ऋषि ऋण यही है कि पूर्वजों से सीखना और अगली पीढ़ी को सिखाओ और यदि सामर्थ्य हो तो उस ज्ञान को बढ़ाना अर्थात् सास जैसा बनाती थी, उससे बढ़िया तरीका निकालना। यह सबके लिये नहीं है क्योंकि सब की योग्यता आगे बढ़ने की नहीं होती लेकिन कम से कम उतना सीखना तो सब का कर्त्तव्य है। पितृऋण चुकाना अर्थात् आगे संतति उत्पन्न करना। देव ऋण सूर्य, चन्द्र आदि देवता हमारे ऊपर उपकार करते हैं, उस ऋण को चुकाना अर्थात् उनकी पूजा-अर्चना करना।

यज्ञसोम ने इन तीनों ऋणों को चुका रखा था। उसका पुत्र देव सोम बड़ा योग्य था और पढ़ने-लिखने में लगा रहता था, प्रतिभा-सम्पन्न था। जब वह सोलह वर्ष का हुआ तो अकस्मात् उसका स्वास्थ्य खराब हो गया और वह मर गया। पिता बड़ा दुःखी हुआ कि एक ही पुत्र था वह भी योग्य, और वह भी मर गया। वह रोता रहे। दूसरे ब्राह्मणों ने समझाया कि मरा हुआ यदि रोने से जी जाये तो हम भी रो लेते हैं। इसलिये अगला कर्त्तव्य देखो, इसकी अंत्येष्टि करनी है। वह उसे श्मशान के पास लेकर आया, वहीं सब रो रहे थे, लोगों की आदत होती है। वहाँ एक शैवयोगी रहता था, उसने सोचा, ‘क्या हो गया, ये क्यों रो रहे हैं?’ वहाँ आकर देखा तो उसके मन में दो भाव आये। पहला भाव तो यह आया कि ‘ये लोग बेचारे बड़े दुःखी हैं, इनका जवान लड़का मर गया है।’ वह भी उनके साथ रोने लग गया। था वह योगी, परमेश्वर-भक्त, लेकिन उनके दुःख को देखकर उसको सहानुभूति हुई तो वह रोने लग गया। उसकी सहानुभूति यह थी कि ये बेचारे सच्चाई को नहीं जानते, इसलिये रो रहे हैं। थोड़ी देर में वह बड़े ज़ोर से हँसने लग गया! कुछ लोगों ने समझा पागल होगा। वह वहाँ से भाग गया। उसके हँसने का कारण किसी ने नहीं जाना। पहले तो सहानुभूति करके रोया और फिर अकस्मात् उसे ख्याल आया कि ‘ये लोग तो केवल इस शरीर के न हिलने-डुलने के कारण रो रहे हैं तो इनको मैं खुश कर दूँगा। मैं परकाया प्रवेश करके इसके शरीर में घुस जाऊँगा। इन्हें पता नहीं लगेगा और ये खुश हो जायेंगे। मेरा यह शरीर बुड्ढा हो गया है, इसलिये योग आदि करने में काम नहीं दे रहा

है। नया शरीर मिलेगा तो वहाँ परमात्मा का भजन और साधना करूँगा।' इसलिये हँसा कि 'बड़ा अच्छा हुआ, दोनों तरफ का काम बन गया, ये भी खुश और मेरा भी काम बन गया। अगला नया जन्म लेता तो फिर दस-बारह साल बचपन के निकलते, तब होश आता।' वह भाग कर गया, अपना शरीर छोड़ा और इसमें प्रवेश कर गया। वह हाथ-पैर हिलाने लगा और हर-हर महादेव कहकर उठ गया। लोग उसे घर ले गये। थोड़े दिन बाद उसने कहा कि 'मेरे को योगाभ्यास करने की इच्छा हो रही है। कारण यह है कि जब आप लोगों ने मुझे मरा देखा था, तो उस काल में संसार की असत्यता का मुझे निर्णय हो गया। अब योगाभ्यास करूँगा तो उम्र बढ़ जायेगी नहीं तो फिर मर जाऊँगा।' घर वालों ने सोचा कि बचा रहे, यही ठीक है। वह फिर एकांत में विचार में लग गया।

जैसे वह हँसा और रोया था, वही स्थित हम सबकी है। जिस समय हम परब्रह्म परमात्मा की आनंदरूपता का वर्णन सुनते हैं तो एक बार दृष्टि जाती है कि सारे साधनों को छोड़कर उस परमानन्द में चले जायें, पहली दृष्टि तो यह बनती है 'कैवल्ये न तु सापेक्षा सर्वसाधननिस्पृहः' कैवल्य के लिये इन सब चीज़ों की कोई ज़रूरत नहीं है। सारे साधनों से निस्पृह होकर उस परम आनन्द को प्राप्त करो। जैसे योगी को हुआ कि 'इतने साल का पुराना शरीर है, इसमें रहकर बड़ी साधना की। आगे नया शरीर मिलने वाला है, उससे भी साधना करूँगा।' इसी प्रकार मन कहता है कि इस संसार के भोगों से सुखाभास लिया तो अब इन सबको ऐसे ही कैसे छोड़ दूँ! जैसे जीर्ण शरीर के प्रति उसकी दृष्टि गई, ऐसे ही साधक की जाती है कि इन सारी चीज़ों को मैं कैसे छोड़ दूँ, यह दुकान, यह मकान मैंने बनाया, मैंने बेटे पैदा किये, उनकी तरफ वृत्ति जाती है। लेकिन फिर जब थोड़ी देर में देखता है कि इन सुखाभासों की अपेक्षा वह आनन्द परम आनन्द है, तब कहता है कि इन सबको छोड़ो। फिर सारी साधना को छोड़कर उस ब्रह्मानन्द में चला जाता है। लेकिन वह यज्ञस्थल में यज्ञसोम से पैदा हुआ था। जो ऐसी स्थिति को प्राप्त करेगा, वह पहले यज्ञस्थल में रहने वाला होगा अर्थात् अपने सारे कर्म परमात्मा के लिये करेगा और उन कर्मों को परमात्मा की प्राप्ति के लिये करेगा। वह व्यक्ति वेदज्ञ होगा। वह सारे ऋणों को चुकाये हुए होगा अर्थात् सारी चीजों से उसकी दृष्टि हटी हुई होगी। तभी वह देवसोम अर्थात् स्वयंप्रकाश सोम होगा। ऐसी दृढ भावना वाले के अन्दर ही ब्रह्मस्थिति सम्भव है। तब उसे लौकिक और नश्वर सुख को छोड़ने में देरी नहीं लगेगी, सारे साधनों से निःस्पृह होकर दिव्य शरीर में प्रवेश कर लेगा। जीव-भावना से प्रयुक्त जितने सम्बन्ध है, उन सबको छोड़कर अपने शुद्ध ब्रह्मरूपी देह में प्रवेश कर जायेगा।

# प्रवचन-२६

१४–४–७२

भगवती की उपलब्धि का स्थान क्रमशः बताया। उसमें जो उसकी अंतिम आनन्दरूप उपलब्धि है, सब गुणों से रहित जो वस्तु की प्राप्ति है, उस आनन्दस्वरूप का कुछ विचार प्रारम्भ किया। आनन्द के स्वरूप को समझना बड़ा ज़रूरी है क्योंकि हम प्रायः आनन्द को ढूँढते समय यह नहीं जानते कि क्या ढूँढ रहे हैं। यह विचारणीय विषय है, ध्यान से समझना। हम समझते हैं कि आनन्द कोई चीज़ है जिसको प्रयत्न करके, साधना करके, प्राप्त किया जाता है। संसार के जितने मत-मतान्तर और विचारक हैं वे सब आनंद प्राप्त कराना चाहते हैं। किसी-न-किसी साधन से, उपाय से, प्रयास से, प्रयत्न से आनंद की प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं। एकमात्र वेदांत का कहना यह है कि प्रयास, प्रयत्न या साधन ही तो दुःख है। दुःख से सुख की प्राप्ति कैसे होगी! इसलिये सब कहते हैं कि आनंद प्राप्त किया जायेगा लेकिन वेदांत कहता है कि आनन्द नित्य प्राप्त है। 'विज्ञानानन्दयोर्भेदो वृथैव परिकल्प्यते' भगवान् सुरेश्वराचार्य वार्तिक में कहते हैं कि विज्ञान और आनन्द का भेद व्यर्थ में परिकल्पित किया जाता है। विज्ञान और आनंद दो हों, तब तो आनन्द का ज्ञान हो, लेकिन ज्ञान और आनंद का भेद व्यर्थ में कल्पित है। इसलिये भगवान् आनन्दगिरि लिखते हैं 'वृथैव मृषैव' वृथा मायने झूठी ही कल्पना है। इसी से प्रभावित होकर लोग पूछते हैं कि 'उस निर्विकल्प अवस्था में आनंद है, इसे कैसे जानते हो?' कल बताया था कि कुछ लोग कैवल्य को निरानन्द मानते हैं। वही पूछते हैं कि वहाँ आनन्द है, इसमें क्या प्रमाण है?

कभी-कभी वेदांती अपने ब्रह्मास्त्र को उठाता है। उस ब्रह्मास्त्र को चलाने पर सामने वाले को पता ही नहीं चलता कि कहाँ उड़ गया जैसे हाइड्रोजन बॉम्ब! वेदांती उसे कभी-कभी चलाने के लिये रखता है। अविचारशील तो जल्दी चला देता है 'एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्। आस्ते न धीर-वीरस्य भंगः समरकेलिषु।।' श्री हर्ष कहते हैं कि वेदांती एक ब्रह्मास्त्र ऐसा रख छोड़ता है कि फिर बड़े से बड़े भयंकर युद्ध को वह एक खेल समझता है। लेकिन वह हमेशा नहीं चलाया जाता। यह नहीं कि छोटी-सी बात हुई और झट, हाइड्रोजन बॉम्ब डाल दिया। वह ब्रह्मास्त्र बताते हैं : वादी का प्रश्न है कि निर्विकल्प में आनन्द है, यह कैसे जानते हो? हम पूछते हैं कि निर्विकल्प में आनन्द नहीं है, यह तू कैसे जानता है? यदि वह कहता है कि 'वहाँ विकल्प नहीं है, इसलिये आनन्द नहीं है, ऐसा मैं जानता हूँ अर्थात् वहाँ आनन्द का अभाव है यह जानता हूँ' तो भी प्रश्न रह ही गया कि आनन्द नहीं है यह बात कैसे जानते हो? आत्मरूप आनन्द तो क्योंकि स्वयंप्रकाश है, इसलिये आनन्द को जानने का कोई साधन नहीं चाहिये। यदि वादी वहाँ आनंद का अभाव स्वयंप्रकाश मानता है, तो जवाब है कि हम

स्वयंप्रकाश आनंद मानते हैं। वहाँ आनन्द नहीं है, इसमें उसके पास प्रमाण नहीं, फिर भी मानता है, वैसे ही वहाँ आनन्द है, इसमें कोई प्रमाण न होने पर भी हम मानते हैं। फिर भी एक फ़र्क है। आनंद नहीं  इसमें तो तुम्हारे पास कोई प्रमाण नहीं है, जबकि आनन्द है  इसमें हमारे पास वेद प्रमाण हैं। युक्ति से वहाँ आनंद की सिद्धि नहीं है, प्रत्यक्ष से वहाँ आनन्द की सिद्धि नहीं, लेकिन प्रत्यक्ष और युक्ति से वहाँ आनन्द के अभाव की भी सिद्धि नहीं है। इसमें दोनों पक्ष बराबर हुए। लेकिन आनन्द है  इसमें वेद प्रमाण, और आनन्द नहीं है  इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ब्रह्मास्त्र का प्रयोग ठीक तरह से समझ लेना। वादी जितना प्रत्यक्ष और युक्ति कहे, उसका तो खण्डन कर दो अर्थात् जो प्रत्यक्ष से सिद्ध करे, जो युक्ति से सिद्ध करे, उसे प्रत्यक्ष और युक्ति से असिद्ध कर दो। जब प्रत्यक्ष और युक्ति बराबर तुल गये तो वेद प्रमाण जुड़ जायेगा। यह वेदांत का ब्रह्मास्त्र है। प्रत्यक्ष और युक्ति के समय में बीच में वेद नहीं डाला जाता। इसी को ग़लत जगह प्रयोग करना कहते हैं। सामने वाला वादी जब तक प्रत्यक्ष और युक्ति का प्रयोग करे, तब तक तो तुम प्रत्यक्ष और युक्ति का ही प्रयोग करो, बीच में वेद को न डालो। जब प्रत्यक्ष और युक्ति के आधार पर उसका खण्डन पूरा हो गया, तब वेद प्रमाण आता है और कहता है कि अब तुम दोनों की बराबरी में वेद जीत जायेगा। आनंद निर्विकल्प अवस्था में है या नहीं, यह दोनों ही सिद्ध नहीं हो सके क्योंकि वहाँ विकल्प नहीं है। फिर वेद कहता है 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'। सुख और सुख का अभाव दोनों स्वसंवेद्य ही हैं। इससे विज्ञान और आनन्द का भेद व्यर्थ ही कल्पित है।

लेकिन ग़लती कहाँ होती है? यह समझो : आनन्द दुःख का विरोधी नहीं है, आनन्द अलग है, दुःख अलग है और दुःख का अभाव अलग है। संसार के प्राणी जब कहते हैं कि हम आनन्द चाहते हैं तो वे आनन्द नहीं चाहते हैं, कहते ज़रूर हैं लेकिन वे दुःख का अभाव चाहते हैं। इसी विषय में वेदांत और न्याय, सांख्य का भेद है। नैयायिक दुःख-निवृत्ति को उद्देश्य मानता है, सांख्यवादी भी आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति चाहता है। ये सब दुःख से छूटना चाहते हैं। इन शास्त्रों का वेदांत से कोई विरोध नहीं है। ये दुःख से छुड़ाने की प्रतिज्ञा करते हैं और जो दुःख से छूटना चाहे, वह इन शास्त्रों में जाये। लेकिन वेदांत केवल दुःख से छुड़ाने वाली बात नहीं करता। वह तो आनंदप्राप्ति, आनन्द स्फुट होने की बात करता है। इसलिये दुःख आनन्द का विरोध नहीं है। सुख और दुःख दोनों साथ भी रहते हैं। कहाँ रहते हैं? गंगा दशहरा जेठ मास में आता है, उस समय गंगा-स्नान करने के लिये हरद्वार के ब्रह्मकुण्ड में ऊपर से चिलचिलाती धूप पड़ रही होगी और सिर गर्मी से फट रहा होगा। जिस समय ब्रह्मकुण्ड में नाभि तक अन्दर जाओगे तो नाभि के अंदर ठण्डे-ठण्डे पानी का सुख और उससे ऊपर चिलचिलाती धूप का दुःख हो रहा होगा। दोनों साथ-साथ होते हैं। इसलिये दुःख व सुख आपस में विरोधी नहीं हैं। आनन्द रहते हुए भी दुःख होता है और आनंद न होने पर भी दुःख हो सकता है। तीसरी बात, सुखप्राप्ति

उद्देश्य है, दुःख-निवृत्ति उद्देश्य नहीं है। वेदांत कहता है कि आनन्द नैसर्गिक है, स्वाभाविक है, आनन्द अनायास है, बिना प्रयास के है। दुःख भी प्रयास से है और दुःख-निवृत्ति भी प्रयास से है। इसलिये दुःख-निवृत्ति भी दुःख ही है। दुःख का हटना दुःख है। घबराना नहीं! कहोगे, यह कैसे? किसी शायर ने कहा है 'दर्दे सर के वास्ते चन्दन लगाना है मुफीद। इसका घिसना और लगाना दर्दे सिर यह भी तो है।।' सिर में दर्द हो रहा हो, यदि चंदन लगाओ तो फ़ायदा होगा। लेकिन बैठकर चन्दन घिसोगे तो हाथ दर्द करेंगे। दुःख-निवृत्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह स्वतः भी तो दुःख ही है। एक दुःख की जगह दूसरा दुःख आता है, और कुछ नहीं होता। यह ज़रा हिम्मत की बात है। सर्दी को रोकने के लिये कम्बल बड़ी अच्छी चीज़ है। हमारे एक विरक्त महात्मा काशी में हैं। सर्दी में हम काशी में थे। हमने उनसे कहा कि हमारा बढ़िया कम्बल है, ले जाओ। वह कम्बल देखकर कहने लगा 'यह ले जाऊँगा तो डण्डे और ऊपर से पड़ेंगे, इसलिये कोई पुराना टाट दे दो।' एक भक्त कहने लगे 'नया ला दूँ?' महात्मा ने कहा 'मैं मठ में तो सोता नहीं, कभी पेड़ के नीचे तो कभी कहीं सो जाता हूँ। नया कम्बल और शाल देखकर चोर छीन ले जायेंगे। कम्बल भी जायेगा और डण्डे ब्याज में पड़ेंगे। इसलिये यह देकर हमें क्यों दुःख देते हो?' यह वास्तविकता है। एक दुःख को हटाओगे तो दूसरा दुःख आ जायेगा। जो इस चीज़ को समझ लेता है वह दुःख-निवृत्ति के टण्टे को छोड़ देता है। वह कहता है कि दुःख-निवृत्ति भी दुःख है। इसलिये इसकी तरफ प्रयत्न ही मत करो। वह आनन्द की तरफ जाता है, दुःख-निवृत्ति नहीं चाहता और जिस आनन्द को वह चाहता है, वह किसी प्रयास से ढूँढा नहीं जा सकता क्योंकि जो ढूँढोगे, वह फिर दुःख देगा।

दुःख से दुःख मिलेगा, सुख नहीं मिलेगा। हम शायद कभी बीमार पड़ जायें या आगे कोई और ज़रूरत पड़ जाये   इस 'आगे की बीमारी' को रोकने के लिये, उस समय दवाई की ज़रूरत पड़ेगी, इसके लिये पास में पैसा चाहिये, नहीं तो बीमार पड़ेंगे तब रोग दूर कैसे करेंगे? अब पैसा कैसे कमावें? बारह बजे का समय है, घरवाली भोजन बनाने बैठी है, कहती है 'खाने आ जाओ।' भूख भी लगी है, खाना भी चाहते हैं, लेकिन नहीं जाते हैं क्योंकि भूख को सहन कर रहे हैं। किसलिये सहन कर रहें? आगे कभी बीमार पड़ेंगे, तब उस दुःख को इस पैसे से हटा लेंगे जो अब कमा रहे हैं। आगे बीमार नहीं पड़े, तब तो शत प्रतिशत नुकसान। आगे बीमार पड़ गये, तब तो उस समय का दुःख हट गया और अगर कहीं हमारे पुण्य कर्म हुए और उनके कारण बीमारी आई ही नहीं तो शत प्रतिशत नुकसान हो गया क्योंकि वह पैसा दुःख दूर करने के काम नहीं आया और आगे बीमार पड़े तो उस पैसे से जो दवाई आई, उसने शायद काम किया या नहीं किया। यदि नहीं किया तो कम से कम यह संतोष हुआ कि 'खरीद तो लाये थे, नहीं होता तो कहाँ से खरीदते?'

चीन देश की एक कहानी है : एक चीनी आदमी बीमार पड़ा। किसी भले आदमी ने उससे

कहा कि किसी चिकित्सक को दिखा दो। उसने कहा ठीक है। थोड़े दिन बाद दूसरे आदमी ने उससे पूछा कि क्या तुमने चिकित्सक को नहीं दिखाया? उसने कहा 'दिखाया, क्योंकि यदि डाक्टर को नहीं दिखायें तो उस गरीब को फीस नहीं मिलेगी तो वह जियेगा कैसे?' पूछा 'फिर क्या दवाई नहीं मँगाई?' यह बोला 'मैंने दवाई भी मँगवाई क्योंकि दवाई बनाने वाले को भी जीना है। लेकिन मैंने वह दवाई खिड़की से बाहर फैंक दी!' उसने पूछा 'ऐसा क्यों किया?' कहा 'मेरे को भी जीना है!' दवाई खाकर रोग घटेगा या बढ़ेगा यह पता नहीं, लेकिन इतना निश्चित है कि पैसा था तो दवाई आ गई। ऐसी सम्भावनाओं के चक्र में इस क्षण का जो खाने का सुख था वह तो हाथ से गया। इसलिये दुःख-निवृत्ति के लिये प्रयास स्वयं दुःखरूप है, उससे दुःख की निवृत्ति कैसे होगी? दुःख से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। दुःख को क्षणिक बदला जा सकता है। आनन्द किसी प्रयास का फल नहीं, इसलिये वह दुःखरूप ही नहीं है। सारे परिश्रम से रहित होने की अवस्था में ही आनन्द प्रकट होता है।

फिर दुःख कैसे हटता है? इतना समझ लो कि दुःख-निवृत्ति दुःख के स्वरूप को समझने से होती है। जब विचारपूर्वक दुःख के स्वरूप को समझते हो तब दुःख-निवृत्ति होती है। दुःख की निवृत्ति प्रयत्न करने से नहीं होती, समझने से होती है और समझा अन्दर से जाता है। लोग दुःख-निवृत्ति के लिये ज़्यादा दुःख चढ़ा लेते हैं! पदार्थों को एकत्रित करते हैं, वह भी दुःखरूप बता दिया, उन पदार्थों के रक्षण करने में लगे रहते हैं। गर्मी के मौसम में सर्दी के कपड़े ट्रंक में गोलियाँ डाल कर रखो। पता नहीं सर्दी पड़े, न पड़े। एक बार कुछ लोग सर्दी के मौसम में आबू आये। जाते समय कहने लगे 'फालतू कम्बल लाये, सोचा था सर्दी होगी।' इस चक्कर में सारा का सारा बोझा उठाकर ले गये। इसी प्रकार जब सर्दी आती है तो लोग कहते हैं कि अब के गरम कपड़ा पहनने का मज़ा नहीं आया क्योंकि ठण्ड पड़ेगी तब कोट पहनेंगे, इस सम्भावना से पहले कोट बना लिया। लेकिन सर्दी का क्या ठिकाना! वह नहीं पड़ी। बाहर जा रहे हैं, धूप पड़ रही है लेकिन छाता लेकर जा रहे हैं। कारण यह है कि जुलाई का मौसम है, शायद पानी बरस जाये। पानी बरसेगा, नहीं बरसेगा, दो किलो का वजन फालतू उठाये घूम रहे हैं और कहीं भूल गये तो भी दुःख। पानी तो नहीं बरस रहा था, घर से क्यों लेकर चले थे? दुःख समझ से दूर होता है, चीज़ें बटोरने से दुःख दूर नहीं होता।

जैसे चीज़ें बटोरने से नहीं, वैसे ही इस भरोसे से नहीं कि कोई वैकुण्ठ लोक में बैठा हुआ हमारा दुःख दूर कर देगा, कोई गुरु हमारा दुःख दूर कर देगा या कोई दूसरा दूर कर देगा। भगवान् ने गीता में कह दिया 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' स्वयं भगवान् कृष्ण का वचन है। संसार में कोई कहे कि 'हम तुम्हारे दुःख को दूर कर देंगे' तो भगवान् कृष्ण से बड़ा कोई नहीं हो सकता। और वे कह रहे हैं कि किसी का भी पाप मैं ग्रहण करके दूर नहीं करता। वह विभु अर्थात् व्यापक परब्रह्म परमात्मा

सच्चिदानंद न किसी के पाप को दूर करता है, न किसी के पुण्य को लेता है। फिर ईश्वर, गुरु आदि सब किस लिये हैं? तुम जो अज्ञान के कारण दुःख के पंक में फँसे हो, तुम्हारे उस अज्ञान को वे हटाते हैं। गुरु, ईश्वर ये सब तुमको बुद्धि दे सकते हैं। दुःख के स्वरूप को समझे तो दुःख दूर हो जाता है। दुःख को उड़ाने वाली चीज़ तुम्हारी समझ है। हज़ार सूर्योदय होकर घड़े को नहीं दिखा सकते, आँख ही दिखायेगी, तुमको देखना पड़ेगा। प्रकाश तो केवल देखने में तुम्हारी सहायता करता है। इसी प्रकार गुरु, शास्त्र, ईश्वर सब प्रकाश की जगह हैं। वे सब तुमको समझ देने में सहायता कर सकते हैं। लेकिन समझ तुमको खुद लेनी पड़ेगी। तुम्हारी समझ को, तुम्हारे ज्ञान को तुम्हारे अज्ञान ने ढाँक रखा है, बस उस अज्ञाननिवृत्ति तक ही परमात्मा, गुरु, शास्त्र तुम्हारी मदद कर सकते हैं। बाकी सब काम तुम्हारे अपने आत्मा को करना है। यदि इससे अतिरिक्त तुम समझोगे कि कोई तुम्हारा दुःख दूर कर देगा, तो वह दुःख तो दूर नहीं होगा, लेकिन ऊपर से एक और दुःख लग जायेगा कि 'कहीं हमारे किसी काम से परमात्मा नाराज़ न हो जाये। गुरुजी कहीं नाराज़ न हो जायें!' इसी भय से ग्रस्त रहते हैं क्योंकि अपनी समझ नहीं है। जैसे पदार्थों के विषय में भय से दुःख है; हमको पता है कि रोटी से भूख हटती है, जब भूख लगेगी, तब रोटी ले आयेंगे  यह समझ हुई। रोटी ले आने की हमारी जो सामर्थ्य है, वह हमेशा हमारे में रहेगी। रोटी ले आने के लिये पैसा हमारी सामर्थ्य नहीं है। इसलिये उसकी रक्षा करनी पड़ती है। हमको भोजन बनाना आता है, जहाँ भी जायेंगे, भोजन बना लेंगे। उस ताकत की रक्षा के लिये हमें कुछ नहीं करना पड़ता। लेकिन हमको भोजन बनाना नहीं आता, हमारे में वह सामर्थ्य नहीं है, इसलिये हमने एक रसोइये को रख छोड़ा है और उसकी रक्षा करने के लिये रात-दिन लगे रहते हैं। कोई पड़ोसन आकर बात करने लगे तो डर लगता है कि कहीं दो-चार रुपये ज़्यादा देकर उसे अपने यहाँ न ले जाये। उसके सिर में दर्द हो गया तो डर कि छुट्टी न ले ले। उसके घर से चिट्ठी आ गई तो सोचा कि कहीं इसका बाप बीमार तो नहीं हुआ। वह कहता है कि 'मेरे को यह नौकरी पसन्द नहीं है' तो कहते हैं कि पाँच रुपये और ले लो। यह सब इसलिये कि तुम्हारे अन्दर भोजन बनाने की सामर्थ्य नहीं है। यदि तुम्हारे में भोजन बनाने की सामर्थ्य है तो उसकी रक्षा करने के लिये कोई चिन्ता नहीं करते रहते। इसी प्रकार से जो पदार्थ प्राप्त करने की सामर्थ्य होती है, उस पदार्थ की रक्षा के पीछे दिमाग खर्च नहीं करते। जिसमें सामर्थ्य नहीं है, उसने धन या पदार्थ को इकट्ठा कर रखा है और उसकी रक्षा में लगा हुआ है। सुख हमारी सामर्थ्य है, हमारा स्वरूप है। यह वेदांत ने हमको बताया कि आनंद तुम्हारा स्वरूप है, इसकी प्राप्ति के लिये तुम क्या प्रयास या चिंता कर रहे हो! आनंद तो जब चाहोगे, तब लोगे। आनन्द तुम्हें छोड़कर और कहीं होता तब तो ये सब झंझटें आतीं लेकिन वह तुम्हारा स्वरूप है। इन सब चीज़ों से दुःख और बन्धन बढ़ेगा, घटेगा नहीं।

प्रश्न कर सकते हो कि यदि आनन्द हमारा स्वरूप है, स्वतः सिद्ध है तो फिर क्या कारण

है कि कभी हमको इसका अनुभव होता है और कभी नहीं होता? भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'आनन्दः पर एवात्मा भेदसंसर्गवर्जितः। स एव सुखरूपेण व्यज्यते पुण्यकर्मभिः।' (तै.वा.२.३५) हमारा पर आत्मा अर्थात् अत्यंत उत्कृष्ट आत्मा है आनन्द है। उसमें कोई भेद नहीं, भेद का उसमें संसर्ग भी नहीं है। लेकिन जब-जब पुण्य कर्म आता है, तब-तब हमारा आनन्दरूप व्यक्त हो जाता है। ऐसा नहीं कि हमने आँख खोली तो तुम पैदा हो गये। तुम तो थे, लेकिन आँख खोलने से तुम व्यक्त हो गये। उसी प्रकार जब हमने पुण्य कर्म किया तो हमारा आनन्द (सुख) व्यक्तमात्र हो गया। आँख बन्द करके जब हम बैठे हैं तब क्या हमारी देखने की ताकत ख़त्म हो गई? हम अन्धे नहीं हो गये। घोर अंधकार में भी हम अंधे नहीं हैं, हमारी देखने की ताकत केवल व्यक्त नहीं है। उसी प्रकार जब पुण्य कर्म की रोशनी नहीं होती, उस काल में हमारा आनन्द रूप प्रकट नहीं होता लेकिन हमारा आनंद कहीं चला नहीं जाता। वैसा का वैसा रहता है।

आनन्द करता क्या है? आगे भगवान् वार्तिककार कहते हैं

'यावद्यावत् तमोऽपैति बुद्धौ धर्मसमाहतम्।
तावत्तावद् धियः स्वस्थ्यं तावत्तावत् सुखोन्नतिः।।' (तै. वा.२.३६)

अंधेरे भी कई तरह के होते हैं और सब अंधकारों के हटने में भेद है। जेठ में गर्मी बहुत होती है लेकिन धूप तेज़ नहीं होती। धूप आश्विन (क्वार) में बहुत तेज़ होती है। आश्विन में धूप भयंकर होती है क्योंकि धूल का छाता बारिश से हट चुकता है। इसी प्रकार से अज्ञान कहीं थोड़ा-सा हटा हुआ है, कहीं और ज़्यादा और कहीं उससे भी ज़्यादा हटा हुआ है। जितना-जितना अज्ञान हटता है, उतना-उतना ही बुद्धि में धर्म समाहित होता जाता है। धर्म तो सब करते हैं। कोई इस डर से कि नरक न जाना पड़े, कोई कहता है कि करना ठीक है, कोई विलक्षण बुद्धि वाला इसलिये करता है कि और कुछ कर ही नहीं सकते। जिसको सच बोलने का अभ्यास हो जाता है, वह जानता भी है कि इसमें यदि थोड़ी-सी बात को बदलकर कह दूँ तो सब चीज़ ठीक हो जायेगी, लेकिन ऐसी आदत पड़ी हुई है कि सत्य ही उसके मुख से निकलेगा। मन में सोच भी ले कि इस बात को छिपा लूँ, लेकिन नहीं छिपा सकता, चाहने पर भी अधर्म की बात नहीं सोच सकता। यह बुद्धि में धर्म का समाहित होना है। इससे बुद्धि स्वस्थ होती जाती है। बुद्धि की अस्वस्थता अर्थात् आत्मा में स्थित न होने का कारण यही है कि उसमें धर्म समाहित नहीं है। अधर्म बैठा हुआ है जो उस बेचारे को उचकाता रहता है। जितनी-जितनी बुद्धि की यह स्थिरता होगी, उतना-उतना सुख बढ़ता जायेगा। तुम सुख को किधर ढूँढने जाते हो? दुःख ढूँढने जा रहे हो और फिर कहते हो 'महाराज! संसार में दुःख क्यों बढ़ रहा है?' जब ढूँढकर दुःख को ला रहे हो तो बढ़ना ही हुआ। वस्तुतः सुख तुम्हारे अन्दर एकरूप है। जैसे सूर्य का प्रकाश

एकरूप है, क्वार में बढ़ता नहीं, इस कमरे में कम नहीं है और आँगन में ज़्यादा नहीं है। जितना-जितना तुमने बीच का व्यवधान दूर किया और सफाई लाये, उतना-उतना वह व्यक्त होता है। ऐसे ही आनन्दस्वरूप तुम्हारा आत्मा तो वैसा ही है। जितनी-जितनी बुद्धि के अन्दर स्वस्थता आई, उतना-उतना आनन्द व्यक्त होता चला गया, स्फुट होता चला गया। लोग क्या करते हैं? साधारण आदमियों को उल्टे रास्ते फँसा देते हैं क्योंकि वे निर्बुद्धि हैं।

एक ब्राह्मण के चार पुत्र थे लेकिन चारों बड़े नालायक, महामूर्ख और बड़े भोगी थे। पिता समझाता-समझाता मर गया लेकिन उन्होंने कभी समझने की कोशिश नहीं की। ब्राह्मण वेदाध्ययन करने वाला था। मूर्ख संतति से मरणांतक कष्ट होता है। जिस प्रकार वैश्य का लड़का न कमाये, और क्षत्रिय का बेटा युद्ध में पीठ दिखाये तो उसकी छाती छलनी होती है, ऐसे ही ब्राह्मण का लड़का मूर्ख निकल जाये तो उसकी छाती भी छलनी बन जाती है। उस दुःख से ब्राह्मण मर गया और थोड़े दिनों में ब्राह्मणी भी मर गई। जो थोड़ा-बहुत धन बचा था, वह चारों ने भोग-परायणता में ख़त्म कर दिया और अब दुःखी रहने लगे। एक दिन उन्होंने सोचा कि अपने मामा के घर चलें। उनके मामा यज्ञस्थल में रहते थे, वहाँ पहुँचे। कुछ दिन तो मामा ने उन्हें बड़े प्रेम से रखा कि अनाथ हैं। लेकिन थोड़े दिनों में तंग आ गया। मूर्ख भी हो और भोगी भी हो तो क्या ठिकाना! एक दिन मामा ने कहा कि 'तुम लोग अलग रहो, हमारे साथ तुम्हारा गुज़ारा नहीं हो सकता।' चारों बड़े दुःखी हुए। सोचा कि श्मशान में चलकर तपस्या करें। श्मशान में पहुँचकर उन्होंने देखा कि एक आदमी पड़ा है। उससे पूछा 'तू क्या करता है?' उसने बताया 'मैं ऐसा दुःखी था कि मैंने सोचा गले में फाँसी लगाकर मर जाऊँ। पेड़ से टंगा, जी घुटा, हाथ-पैर पछाड़े, डाल टूट गई और मैं नीचे गिर गया। पैर टूट गये, और कुछ नहीं हुआ।' ये लोग यह बात कर ही रहे थे कि तब तक उस आदमी का भाई आ गया, उसने पूछा 'कैसे गिर गये?' उसने कहा 'आया तो मरने था लेकिन गिर गया।' उसने कहा 'श्मशान में आकर भी तेरे को मरने की सूझी। लोग काली उपासना करते हैं, सिद्धि प्राप्त करते हैं। जब यहाँ आ ही गया तो तपस्या करता।' इन चारों ने सुन लिया, सोचा कि अपने भी तपस्या करें। श्मशान में बैठकर हठी की तपस्या करने लगे कि जब तब काली दर्शन नहीं देंगी, नहीं खायेंगे, भूखे मर जायेंगे। देवता लोग बड़े खेलने वाले होते हैं। काली ने सोचा कि इस प्रकार मर जायेंगे तो कलंक लगेगा कि काली की पूजा करते-करते मर गये। दर्शन देकर कहा 'जो चाहो माँग लो।' एक ने कहा 'मेरी ऐसी ताकत हो कि कोई भी जानवर मरे, मैं उसकी हड्डी पर माँस चढ़ा दूँ।' मूर्ख जादू-टोना ज़्यादा पसन्द करते हैं। काली ने कहा तथास्तु। दूसरे से पूछा तो उसने कहा 'मेरी ऐसी ताकत हो कि उस माँस चढ़े हुए के ऊपर बाकी का सारा जाल चढ़ा दूँ।' काली ने कहा तथास्तु। तीसरे से कहा 'तू भी माँग ले।' उसने कहा 'मैं यह चाहता हूँ कि जिसके ऊपर हड्डी माँस का जाल चढ़ जाये, मेरी ऐसी ताकत हो जिससे उस पर सब अंग-प्रत्यंग आ जायें।'

देवी ने कहा   तथास्तु। चौथे ने कहा 'जिस पर हड्डी, माँस, चमड़ा और बाकी अंग-प्रत्यंग आ जायें, मैं उसे ज़िन्दा कर दूँ।' देवी ने उसे भी तथास्तु कहा। चारों वहाँ से चले। सोचा कि काली ने कहा है तो परख करें। वहाँ उन्हें एक शेर की हड्डी दिखाई दी। आव देखा न ताव, एक ने ढाँचा, दूसरे ने जाल, तीसरे ने फूँक मारी तो चमड़ा चढ़ा दिया। चौथे ने कहा कि अब देखो मैं क्या करता हूँ। उसने जो फूँक मारी तो शेर जीवित हो गया, वह दहाड़ा और चारों को खा गया!

अविचारशील की यही हालत है। वस्तुतः यह किसी एक की कथा नहीं है। जीवन में क्या होता है? जैसे ब्राह्मण के लड़के मूर्ख थे, उसी प्रकार से हम लोग उस परब्रह्म परमात्मा, जो आनंदस्वरूप है, उसकी तरफ से तो मूर्ख हैं; भोगी हैं और मूर्ख होने से प्रमादी भी हैं। नतीजा होता है कि जैसे वे अनाथ हो गये, ऐसे ही हमारे अंदर वह आनंद हिलोरे मार रहा है। वह हमारा पिता ही तो है जो हमारे हृदय में बैठा हुआ है लेकिन हम अनाथ बने ढूँढ रहे हैं। कोई पैसे में, कोई व्यापार में, कोई लड़कों में उसे ढूँढ रहा है कि शायद वहाँ कहीं हमको आनंद मिल जायेगा। इस अनाथता की दशा में वे अपने मामा के घर पहुँच गये। मामा माँ का भाई होता है। यहाँ भी यह सारा जगत् असल में हमारे मामा का घर है, माया का पीहर है। यह सारा जगत् अविद्या या माया की संतति है। परमात्मा से दृष्टि दूर करके जब हम मामा के घर आते हैं तो थोड़े समय तक सुखी होते हैं। उधर त्याग, तपस्या की बात थी, यहाँ तो ऐसे ही मिल जाता है। माँ-बाप खुश रहते हैं कि हम इसे पाँच सौ रुपये का सूट पहना रहे हैं। जैसे ही समय बीता, वैसे ही आटे-दाल का भाव पता लगने लगा। हम कई बार कहते हैं कि पढ़ा-लिखाकर तुम बच्चों को इतना दुःखी करते हो कि ठिकाना नहीं क्योंकि तुमने लड़कों का स्टैण्डर्ड पाँच सौ रुपये महीने का बना दिया और जब शादी करके बीवी-बच्चे वाले हुए तो उनकी कुल तन्ख्वाह ही पाँच सौ रुपये होगी। नतीजा यह होता है कि कई लोग शादी से डरते हैं, कई लोग कमाई की सोचते हैं कि यह आ गयी तो कहीं मेरी कमाई का हिस्सा न खा जाये। थोड़े समय तक सुख देख लिया लेकिन अब मामा ने कहा कि जाओ यहाँ से। जब वहाँ से भी चले तो श्मशान में पहुँचे। वहाँ उनको उपदेश मिला कि यहाँ काली की उपासना करो तो काम बन जायेगा। कोई कहता है अर्थ के पीछे लगोगे तो सुखी हो जाओगे। किसी ने कहा कि धन ही सुख का कारण है। बेचारे उपासना में लग गये। अविचारशील को उपासना फल तो सकती है लेकिन वह उससे अपना हित कर नहीं पाता। अतः विवेकपूर्वक चित्त में स्वस्थता लाये बगैर सुखलाभ असंभव है।

## प्रवचन-२७

१५—४—७२

भगवती का स्वरूप और उसकी उपलब्धि का स्थान बताकर अब कहते हैं कि जो उसका भजन करते हैं, वे धन्य हैं 'भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीं' कुछ लोग ही ऐसे धन्य होते हैं कि इस चिदानंदस्वरूपिणी भगवती की उपासना करते हैं अथवा भजन करते हैं। भगवती का भजन करने की कठिनता उसकी उपलब्धि का स्थान बताने से ही सिद्ध हो जाती है। इसी सौन्दर्यलहरी के अंतिम भाग में जाकर स्वयं भगवान् शंकराचार्य कहेंगे कि सामान्यतः घर के अंदर या अंतःपुर में जहाँ औरतें रहती हैं, वहाँ चाहे जिस आदमी को नहीं जाने दिया जाता। बाकी, बाहर के कमरों में लोग बैठें या चले जायें, लेकिन घर के अंतःपुर में चाहे- जिसको नहीं ले जाया जाता। विलायत में अंग्रेज़ तुम्हारा बड़ा अच्छा मित्र हो जायेगा लेकिन हमेशा क्लब और होटल में ही बुलाकर खिलायेगा। यदि किसी को उसने अपने घर में बुलाया या खिलाया तो माना जाता है कि अब इसका इस पर पूर्ण विश्वास हो गया। इसीलिये उस देश में प्रसिद्ध है 'एन इंगलिशमैन्स हाउस इज़ हिज़ कैसल' अंग्रेज़ अपने घर को एक किला समझता है। जैसे किले में किसी ऐरे-गैरे नत्थू खैरे को प्रवेश नहीं दिया जाता, वैसे ही अंग्रेज़ कभी अपने घर में नहीं घुसाता। अपने यहाँ भी अंतःपुर में नहीं जाते हैं। इसे भगवान् भाष्यकार इसी सौन्दर्यलहरी के अंतिम भाग में कहेंगे 'पुरारातेरन्तःपुरमसि ततस्त्वच्चरणयोः सपर्यामर्यादा तरलकरणानाम् असुलभा'। साधारण आदमी भी अपने अंतःपुर में किसी को नहीं ले जाता तो जितना बड़ा आदमी होगा, उतनी ही रक्षा ज़्यादा होगी। जिसके पास रहने का एक ही कमरा है, वह बेचारा पर्दा खींचकर ही अंतःपुर बना सकता है। जिसके पास दो कमरे हैं, वह बीच के एक दरवाज़े से ही अंतःपुर बना सकता है। जिसके घर में बीस कमरे हैं, वह पूरी दीवार खड़ी करेगा। राजा है तो सात फाटकों के अंदर रखेगा।

जब सामान्य दृष्टि से जो जितना श्रेष्ठ, वह उतना ही अपने घर को सुरक्षित रखता है तब तुम तो जगदीश्वर, परब्रह्म परमात्मा की घर वाली हो। कई बार आदमी सोचता है कि परमात्मा को कैसे पाया जाये? चिदानंदलहरी को कहाँ बताया था? 'शिवाकारे मंचे' इन पाँच कोशों को हटाकर अन्दर जाओ और फिर उसके अंदर आनंद का न होना, अंतशीलता की दीवार, आवरण आदि सारे दरवाज़ों से जाकर चिदानंद की प्राप्ति होगी। जो मंच है, वहाँ जाने के लिये पहले ही बड़ी दीवालें पाँच कोश हैं। इसीलिये उस चिदानंद की प्राप्ति कठिन है। ये सारे उस चिदानंदलहरी को सुरक्षित रखने के लिये बनाये। पुराराति का मतलब होता है कि जिसकी सामर्थ्य सारे पुरों का ध्वंस करने की है। यहाँ एक विलक्षण विरोधाभास अलंकार है। पुर का जो शत्रु, उसका अंतः का जो पुर है; जो सारे किलों को (घरों को) नष्ट करने वाला है, उसके अन्दर

का किला है, यही विरोधाभास है। वास्तविकता यह है कि जो इस बाह्य समग्र जगत् को, आकाश तक को नष्ट करने की क्षमता रखता है, वही पुरारातिं हुआ, उसके ही अन्दर उसकी प्राप्ति होती है। है वह सब के अन्दर बैठा हुआ लेकिन जब तक सारे पुरों को नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं है, तब तक वह अन्दर रखा हुआ हाथ नहीं आने वाला है। चूंकि उसके अंतःपुर में रहने वाली हो, इसलिये आपके चरण मिलना बड़ा कठिन मामला है, कोई सरल मामला नहीं है।

कहोगे कि वह अन्दर-ही-अन्दर है तो फिर शान्त होगी। जो चीज़ अन्दर होती है, वह जिसके अन्दर होती है, उससे छोटी होती है। पुरारातिं के अंतःपुर में है तो वह फिर व्यापक नहीं होगी। भगवान् दत्तात्रेय भगवती के रूप को बताते हुए कहते हैं

'यत्पादपद्ममकरन्दकणा धरित्री यन्मध्यवर्ति विवरं गगनं समग्रम्।'
यद्गात्रसंगिकिरणत्रसरेणुरर्कः तस्यास्तवाम्ब! वपुषो मितिरीशवेद्या।'

भगवती का रूप कैसा है? कोई समझेगा कि अंतःपुर में है तो छोटा होता होगा। कहते हैं, छोटा तो है ही क्योंकि जिसके परिमाण को समझा जा सके, यह छोटा तो होना ही हुआ लेकिन उसके परिमाण को कौन जानता है? उसकी मिति अर्थात् सीमा को केवल ईश (परमेश्वर) ही जानता है। जानता है, इसलिये सीमित भी मानना पड़ेगा। फिर हम लोग क्यों नहीं जान सकते? उस चिदानंद भगवती के चरणों की जो धूल है, उसके चरण कमलों के अन्दर पराग के मकरंद (छोटा-छोटा दाना) का एक-एक दाना तुम्हारी एक-एक पृथ्वी है! उनकी नाभि का जो छेद है, अनंत कोटि ब्रह्माण्ड उसी आकाश में रहते हैं। सारा का सारा आकाश उनकी नाभि का छेद है। क्या कल्पना कर सकते हो? फिर उनके शरीर में चमक कैसी है? उनके शरीर के साथ त्रसरेणु होते हैं। कहीं पर खिड़की से रोशनी आ रही हो, उसे देखो तो छोटी-छोटी चीज़ें हिलती दिखाई देती हैं, वे छोटी-छोटी चीज़ें त्रसरेणु होते हैं। इसी प्रकार एक-एक सूर्य उनके शरीर से निकलने वाले प्रकाश स्तम्भ के अन्दर एक-एक त्रसरेणु है! हमारा इतना लम्बा चौड़ा सूर्य उनका एक त्रसरेणु है। ऐसा जो आपका शरीर है उसके आदि और अंत को केवल ईश जानते हैं। सीमा तो है ही क्योंकि शंकर जी उसकी सीमा को जानते हैं। उस चिदानंदलहरी के अंतःपुर में रहने पर भी उसकी इतनी व्यापकता है लेकिन इतनी व्यापक भी भगवान् शंकर के तो अंतःपुर में ही रहने वाली हुई।

'सपर्यामर्यादा तरलकरणानाम् असुलभा' उसके अन्दर तरलकरण वाले अर्थात् चंचल चित्त और इन्द्रिय वालों को नहीं जाने दिया जाता। साधारण आदमी भी अपने अंतःपुर में उसे नहीं घुसने देता जिसके बारे में पता है कि इसके चंचल चित्त का कोई ठिकाना नहीं है। यदि किसी राजा को पता हो कि यह आदमी दुष्कर्म करने वाला है तो वह कभी उसे अपने अंतःपुर में नहीं

जाने देगा। यदि चंचल चित्त और इन्द्रिय वाला सोचता है कि उसके चरणों की पूजा हमें मिल जायेगी तो नहीं मिलने वाली है। जो चंचल चित्त वाले हैं उन्हें उस चिदानंदलहरी की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वे उसके नाम-रूप को देखकर ऐसे मुग्ध बने रहते हैं कि उनका चित्त आनन्दरूप को नहीं देख पाता। विचार करो कि जिसके घर में कलकत्ते के बाग बाजार के बढ़िया सुन्दर रसगुल्लों के मटके भरे हुए हैं, क्या कभी हो सकता है कि वह रास्ते के अन्दर खराब और सड़े हुए रसगुल्लों को देखकर उसमें से एक टुकड़ा खायेगा? क्या वह सोचेगा कि 'इसे भी तो खा लूँ, क्या हर्जा है, ये भी तो रसगुल्ले हैं।' अगर खाता है तो इसका मतलब यह है कि उसके घर में बढ़िया रसगुल्ले नहीं हैं। इसी प्रकार से तुम्हारे अंतःपुर (अंतःकरण) में चिदानंदस्वरूप की स्थिति है तो फिर क्या कभी हो सकता है कि इन सड़े हुए विषयों के छोटे टुकड़ों में तुम आनंद लेने को जाओ और कहो कि 'चलो, अंदर तो आनंद भरा ही है, लेकिन यह सड़ा टुकड़ा भी तो खा लें, क्या हर्जा है'? इसलिये कहा कि चंचल अंतःकरण और इन्द्रिय वाले को इसकी प्राप्ति सुलभ नहीं है, सम्भव नहीं है। वैसे इसके अन्दर एक विलक्षण चीज़ भगवान् भाष्यकार ने रखी है क्योंकि सौन्दर्यलहरी एक भाव वाला ग्रन्थ है। 'अ'-शब्द के दो अर्थ होते हैं। अ-का एक मतलब 'न' भी होता है। इसलिये असुलभा अर्थात् सुलभ नहीं है। अ नेति-नेति हो गया। स्थूल, सूक्ष्म को जिसने 'अ' कर दिया अर्थात् नेति-नेति के द्वारा उस तत्त्व को जान लिया, उसके लिये तो सुलभा है। जिसने नेति-नेति के द्वारा इस ब्रह्माण्ड का बाध नहीं किया, उसके लिये कभी नहीं मिलने वाली है और जिसने नेति-नेति के द्वारा बाधित कर दिया, उसके लिये सुलभ है। उसे कोई कठिनाई नहीं लगती। तुम्हारे घर में नोटों का पुलिन्दा पड़ा हो और यदि तुमसे कहा जाये कि यह नोट किसी को दे दो तो नहीं दे सकोगे। लेकिन यदि यह पता लग जाये कि ये झूठे नोट हैं, किसी बाहर के प्रेस से छप कर आये हैं और सरकार इनकी खोज कर रही है कि कहाँ हैं, तो फिर आगे पता लगाओगे? प्रेस वाले को पकड़ोगे? फिर तो कह भी देंगे कि 'तब तक पड़े रहने दो', तो कहोगे कि 'कैसे पड़े रहने दें! आपको चाहिये तो ले लो।' चूँकि तुम्हें पता लग गया कि ये नोट झूठे हैं, काम के नहीं हैं, उल्टा जेल में डालने वाले हैं। इसी प्रकार से इस संसार के स्थूल सूक्ष्म सभी पदार्थों का तुम्हें पता लग जाता है कि ये सच्चे सिक्के तो हैं नहीं, इनसे कुछ भी नहीं मिलना है और उल्टा इसके द्वारा आत्म-वृत्ति अनात्मा की तरफ जाकर नरक के डण्डे ही पड़ने हैं। इस बात को जो जानता है, वह इन पदार्थों को इकट्ठा करके नहीं रखेगा, इनसे सुख की आशा नहीं करेगा। जिसे तो अभी पता नहीं कि ये नोट ग़लत छपे हुए हैं, वह सोचता है कि चल जायें, इसीलिये रखे हुए है। इसलिये असुलभा कहा।

असु नाम प्राणों का है। 'गतासून्' अर्थात् गतप्राणाः। असु अर्थात् जिन्होंने प्राण को सर्वथा अपने नियंत्रण में कर लिया, उनके लिये तो भगवती के चरण कमलों की उपासना 'लभा' जाती है अर्थात् मिल जाती है और जिसने अपने प्राणों को अपने नियंत्रण में नहीं किया उसको

भगवती के चरण नहीं मिलने वाले हैं। अ नाम प्रजापति (विराट्) का भी है। जिसने उस विराट् के साथ ऐकात्म्य प्राप्त कर लिया, उसके लिये तो यह सुलभ है। प्रजापति सारे संसार (ब्रह्माण्ड) के अन्दर एक ही विराट् पुरुष है। उसके साथ जिसका ऐकात्म्य हो गया अर्थात् इस व्यष्टि के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहा, केवल समष्टि के साथ सम्बन्ध रहा, समष्टि के अंग रूप से व्यष्टि रहे लेकिन समष्टि के ही अंग रूप से रहेगा; जिसने इस प्रकार से समष्टि विराट् प्रजापति के साथ ऐकात्म्य प्राप्त कर लिया, उसके लिये तो भगवती सुलभा है। जो इस साढ़े तीन हाथ के खाक के पुतले में फँसा हुआ है, उसके लिये उस भगवती के चरणों की पूजा मिलना सम्भव नहीं है। ये सब भाव असुलभा के हैं।

'सपर्यामर्यादा तरलकरणानाम् असुलभा' सपर्या नाम पूजा (भजन) का है। जिस चीज़ को जो करने का अधिकारी हो, उसकी ही मर्यादा में वह आता है। जब तक संसार के किसी भी पदार्थ के प्रति किंचित् भी इच्छा बनी हुई है, तब तक बाहर के द्वारपाल ही भेज देते हैं क्योंकि यह अंतःपुर है। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि अथवा इंद्रपद, प्रजापति का पद, जो चाहो सो लो और जाओ यहाँ से, लेकिन अंदर जाने का अधिकार नहीं मिलता। लोक में भी यही देखने में आता है। जब तक बाह्य पदार्थों से किसी को संतोष न हो जाये, तब तक अंतःपदार्थ कोई नहीं देता है। कोई आयकर अधिकारी आकर पाँच सौ रुपये से खुश हो जाये तो तिजोरी नहीं खोलते, बाहर से ही टरकाते हो कि यह इसी से खुश हो जाये। जो इससे खुश नहीं होता और कहता है कि 'आपकी घरवाली को बाजूबन्द पहने हुए देखा था, मुझे वही लेना है।' सोचते हो कि घरवाली झगड़ा करेगी, उससे कहते हो कि 'रुपया ले लो, बनवा लेना।' वह कहता है कि 'वही देना हो तो दो, नहीं तो कार्यालय में मिलना।' तब घरवाली को कहते हो कि 'तेरे को मोती का बनवा दूँगा, यह दे दे।' इसी प्रकार जब तक उस परम महिषी के चरण कमलों को छोड़कर, उसकी आराधना को छोड़कर यदि कोई भी इच्छा बाकी है, तब तक तो वही इच्छा पूरी करके विदा कर दिया जाता है लेकिन जो कहता है कि मुझे यह सब कुछ नहीं लेना है, वही सपर्या में अधिकृत है।

भगवान् भाष्यकार दूसरी जगह कहते हैं 'न मोक्षस्याकांक्षा भवविभववाञ्छापि च न मे, न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः। अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै, मृडानी रुद्राणी शिवशिव भवानीति जपतः।।' (देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम्) मुझे मोक्ष की कोई इच्छा नहीं क्योंकि मैं तो नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभाव हूँ, मेरे को तुम मोक्ष देकर टरकाना चाहती हो, वह तो मेरा अपना धर्म है, तुम क्या दोगी! मैं बद्ध हूँ यह बन्धन तो मुझे कोई दे सकता है लेकिन मोक्ष कौन देगा? कोई व्यक्ति बड़ा सुन्दर हो तो उसके मुख को काटकर रंग लगाकर किसी प्रकार से असुन्दर बना सकते हो लेकिन सुन्दर बनाने के लिये कुछ नहीं करना पड़ेगा क्योंकि वह खुद ही सुन्दर है। इसलिये हे भगवती! मोक्ष तो मेरा स्वरूप है, इसका क्या लेना है! बंधन तो संसार के

पदार्थ मुझे दे रहे थे और वे अब मुझे नहीं चाहिये। संसार के पदार्थों की इच्छा ही मेरे मोक्ष को प्रतिबद्ध किये हुए थी। अब संसार के पदार्थों की इच्छा छोड़ दी तो तुम क्या मोक्ष दोगी! वह तो मैंने अपने आपको ज़बरदस्ती बाँध रखा था। इस संसार का जितना वैभव है, इसकी भी इच्छा नहीं क्योंकि ये सारे के सारे नेति-नेति के द्वारा बाधित हैं। जब ये बाधित होकर इच्छा का विषय नहीं हैं तो मोक्ष की भी इच्छा नहीं है। वैभव की इच्छा इसलिये नहीं क्योंकि इसकी इच्छा से मोक्ष दबता है। मोक्ष की इच्छा इसलिये नहीं, कि इच्छा नहीं तो मोक्ष स्वतः प्राप्त है। फिर और कुछ ले लो। संसार का वैभव न लो, मोक्ष तुम्हारा स्वरूप है तो आत्मज्ञान ले लो जिससे मोक्ष स्फुट हो जाता है। कहते हैं हे भगवती! जिसका मोक्ष आवृत हो, उसे ब्रह्माकार वृत्ति की ज़रूरत पड़ती है, स्वरूप ढका हुआ हो तो उसके लिये प्रकाश की ज़रूरत पड़ती है। जैसे कमरे में रखे हुए घड़े के ऊपर अंधकार की खोली चढ़ी होती है, इसलिये उसे देखने के लिये बिजली की ज़रूरत पड़ती है। क्या कभी ऐसा भी होता है कि यह टार्च ले जाकर ज़रा देख आओ कि सूर्य उदय हुआ या नहीं? कोई कहे कि ऐसे ही देख आऊँगा तो उससे कहो कि पता कैसा लगेगा? सूर्य को देखने के लिये टार्च की ज़रूरत नहीं है। उसी प्रकार उस परम ज्ञानस्वरूप परमात्मा को देखने के लिये क्या किसी वृत्ति की ज़रूरत है? ब्रह्माकार वृत्ति मैं क्या करूँगा?

चलो, ब्रह्माकार वृत्ति को भी जाने दो, उस निर्विकल्प समाधि के अन्दर जो अनंत आनंद का बोध होता है, उस आनन्द को तो ले लो। 'समाधि-निर्धूत-मलस्य चेतसः निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।' समाधि के द्वारा चित्त के सारे मल धौत हो जाते हैं। समाधि के एक-एक क्षण के अन्दर चित्त के मैल ऐसे धुलते हैं कि तुम्हारा सर्फ और टिनोपाल क्या कपड़ों को साफ करेगा! जब अंतःकरण ऐसा शुद्ध और सारे दोषों से रहित हो जाता है तब फिर जब उसको आत्मा में प्रवेश कराते हैं तो जो सुख होता है, उसको वाणी से प्रकट नहीं कर सकते क्योंकि वाणी से उसी चीज़ को प्रकट किया जा सकता है जिसके सानी का कोई दूसरा हो। नहीं तो, हमको एक कहानी याद आती है। किसी ने पूछा कि करोल बाग कहाँ है? दूसरे ने कहा अजमलखां रोड के पास। उसने पूछा वह कहाँ? तो कहा कि करोलबाग में! इसी प्रकार से किसी ने कहा राम रावण का युद्ध कैसा हुआ था? यह प्राचीनों का कथन है 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' कहते हैं जैसा राम-रावण का युद्ध हुआ था! यह कोई हँसी की बात नहीं है। तुम भी कहते हो कि 'केवलराम जी बस केवलराम ही हैं' अर्थात् दृष्टांतान्तर का अभाव है। यह कहना कि 'केवलराम जी केवलराम ही हैं', फालतू है, क्योंकि केवलराम तो केवलराम होना ही हुआ। ऐसे ही उस शुद्धांतःकरण के द्वारा जब उस परमात्मा में प्रवेश करते हो तो वह शुद्धांतःकरण परमात्मा में प्रवेश करने की तरह ही है अर्थात् दूसरा कोई उदारहण नहीं है। वाणी से उसे कहा जा सकता है जिसकी जाति का कोई दूसरा पदार्थ हो। जब कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं तो क्या वर्णन करोगे! उस अंतःकरण के द्वारा ही

उसका ग्रहण होता है। जिस अंतःकरण ने प्रवेश किया, बस वही उसे जानता है।

भगवती ने कहा कि तुम्हें श्रवण, मनन, ब्रह्माकार वृत्ति नहीं चाहिये, न आनन्द चाहिये क्योंकि वह नित्य है तो निर्विकल्प समाधि का आनंद ले लो, आत्मदर्शन का सुख तो ले लो। कहते हैं उस सुख की भी इच्छा नहीं है क्योंकि मेरा अंतःकरण जैसा सुख लेता है, वह तो मैं हूँ। मैं समाधि लगाकर क्या अपने आपको चाहूँ! समाधि की तब तक ज़रूरत थी जब तक अंतःकरण में था। अब जब मैं आत्मस्वरूप हूँ तो अब दूसरा (अंतःकरण) मेरा सुख ले, मैं किसी का सुख क्यों लूँ! कहती हैं फिर क्या लोगे? मैं तो इतना ही दे सकती हूँ। तू ही बता कि तेरे को क्या चाहिये? कहते हैं अब मेरे को अंतःपुर में प्रवेश दे दो। अब मैं आपके चरणों की पूजा करूँगा। तुमको जो देना था, वह तो मेरा ही था। इसलिये मैं तो केवल यही कहता हूँ 'मृडानी रुद्राणीशिवशिव भवानीति जपतः' बस अब तेरी आराधना करते हुए ही जीवन का हर क्षण जाये। भगवती ने कहा कि अब मैं इसे कुछ देकर तो विदा नहीं कर सकती, इसलिये अब तो पूजा ही करवानी पड़ेगी। इस प्रकार सर्वथा निर्मुक्त होकर जो पूजा करता है, उसी को असुलभा भगवती की प्राप्ति होती है।

'कतिचन' ऐसे कितने लोग होते हैं जो धन्य होते हैं? भगवान् दक्षिणामूर्ति, दक्षिणामूर्ति-संहिता में सनकादि को उपदेश करते हुए कहते हैं कि ऐसे आदमी की पूजा क्या है? वह हर क्षण पूजा करेगा। हर क्षण पूजा कहाँ की जाती है। यदि पूजा का एक प्रकार मानें तो एक प्रकार की पूजा सब समय नहीं कर सकते। आँख से भगवती को देखते रहोगे तो थोड़ी देर में आँख थक जायेगी। इसलिये एक तरह की पूजा नहीं हो सकती। इसलिए भगवान् दक्षिणामूर्ति सनक सनंदन से कहते हैं 'जपो जल्पो भवेत् तन्द्रा समाधिरभिधीयते। त्वचा यत् क्रियते कर्म तन्मुद्रारचनं भवेत्।।' वह जो जल्प अर्थात् धीरे-धीरे बातचीत करता है, वही जप है। जब आदमी किसी से गुह्य बात करता है तो फुसफुसाहट करने लगता है ताकि दूसरा न सुन ले, बाकी बातें ज़ोर से करेगा। वह फुसफुसाहट ही उसका जप है। 'जप अव्यक्तायां वाचि' अर्थात् इस ढंग से बोलना कि अव्यक्त हो, साफ न हो। इससे मानो वह गुप्त मंत्र का जप कर रहा हो। जब उसको तंद्रा आती है अर्थात् जब वह नींद और जाग्रत् की अवस्था के बीच की अवस्था में जाता है, उस अवस्था में यदि कमरे की बत्ती बन्द कर दो तो पता लग गया कि बन्द कर दी लेकिन यदि अकस्मात् बत्ती तेज़ हो गई तो पता नहीं लगता कि तेज़ हो गई। दिल्ली में वोल्टेज कम ज़्यादा होती रहती है। कभी-कभी अकस्मात् किताब नहीं दीखती तो सोचते हैं कि चश्मा खराब हो गया होगा, साफ किया तो फिर अंधकार का अंधकार। सोचा डाक्टर को दिखायें, इतनी देर में ज़्यादा चमक दीखने लग जाती है। सोचते हैं कि यह क्या हो गया? कुछ नहीं हुआ, वोल्टेज नाम का पदार्थ कम बढ़ती हो गया। तन्द्रा में वोल्टेज का फ़र्क पता नहीं लगता लेकिन बिलकुल बुझ जाये तो पता लग जाता है। कई आदमी बात कर रहे हों तो पता लगता है कि ये बात कर रहे हैं

लेकिन अकस्मात् पूछ लें कि क्या कहा, तो पता नहीं लगता कि क्या कहा। यदि आराम-कुर्सी पर बैठकर पुस्तक पढ़ रहे हैं तो उसी पंक्ति को बार-बार पढ़ते हैं, समझ में नहीं आती। अपना ही मन कहता है कि कौन-सा शब्द समझ में नहीं आया? फिर पढ़ा तो शब्द सारे समझ में आ गये लेकिन अर्थ कुछ समझ में नहीं आया। यह तंद्रा की स्थिति है। इसलिये तंद्रा जाग्रत् और सुषुप्ति का अंतराल है। समाधि की अवस्था को ब्रह्म-स्थिति भी नहीं कह सकते क्योंकि वहाँ सुख हो रहा है। उसे जगत्-स्थिति भी नहीं कह सकते क्योंकि जगत् का भान नहीं हो रहा है। यह मध्य स्थिति हुई। 'त्वचा यत् क्रियते कर्म' शरीर से जो भी कर्म किया जाता है, वे सारी की सारी मुद्रायें हो गयीं। तरह-तरह की मुद्रायें होती हैं जो पूजा के काम में आती हैं। वे क्रियायें सारी की सारी मुद्रायें हैं।

'तत्तद् ध्यानं भवेद् इच्छा जायते यत्र यत्र वै' ध्यान का मतलब होता है कि जिस चीज़ से प्रेम है, उससे एकतानता होना, वृत्ति का एक प्रवाह हो, बीच-बीच में वृत्ति खण्डित न हो। लेकिन यह रहस्य न जानकर लोगों को किसी भी इच्छा में रस नहीं आता। जिस चीज़ की इच्छा होती है, उसमें एकतानता रहे   बस वही ध्यान है। आगरे का पेठा खाते समय उस पेठे से एक हो जाओ; लेकिन उस समय लड्डू से एक बने तो कैसे रस आयेगा? जो चपलकरण नहीं है, उसका ऐसा विक्षेप नहीं है। 'प्रादक्षिण्यं भवेत् तत्र यत्र यत्र तु गच्छति' जहाँ-जहाँ वह जाता है, वहाँ-वहाँ ही उसकी प्रदक्षिणा होती है क्योंकि जानता है कि वहाँ भगवती है ही। 'यत्र यत्रासने तिष्ठेत् तत्र तत्र नमस्क्रिया' वह जिस आसन से बैठा है, चाहे कभी पैर उकडूं करके बैठा है, उसी से नमस्कार कर रहा है। हम विशिष्ट आसन से नमस्कार करते हैं लेकिन वह हर आसन से नमस्कार ही कर रहा है क्योंकि हर आसन में कुछ-न-कुछ अंग झुकेगा। वह झुकना ही उसकी नमस्क्रिया है। 'यद् यद् उच्चार्यते वाचा तत्स्तोत्रपठनं भवेत्' जो-जो वाणी से उच्चरित होता है, अर्थात् वह जो ज़ोर से बोलता है, वह स्तोत्र पाठ कर रहा है। स्तोत्र पाठ धीमी आवाज़ में नहीं होता। एक नियम है कि सौ अक्षरों से ज़्यादा पारायण करना हो तो ज़ोर से बोलना होगा। सौ से  कम अक्षरों का पाठ धीमे किया जा सकता है। अगर कोई कहता है कि 'सौ से ज़्यादा अक्षरों के मंत्र का मन ही मन पाठ कर रहा हूँ' तो समझना चाहिये कि उसे याद नहीं है! बहुत से लोग महिम्न पाठ में आँख बन्द करके बैठेंगे, लोग समझेंगे कि समाधि लग गई। उसमें सौ से ज़्यादा अक्षर हैं, इसलिये उसका पाठ धीरे नहीं होता। 'यदा यदा भवेत् स्वप्नस्तदानुस्मरणं भवेत्' यहाँ स्वप्न का मतलब आँखें बन्द करके देखने वाला स्वप्न ही नहीं समझना। वेदांत शास्त्र के अन्दर जाग्रत् और स्वप्न दोनों को स्वप्न नाम से कहा जाता है। स्वप्न का लक्षण भगवान् गौडपाद ने किया है 'अन्यथा गृह्णतः स्वप्नः निद्रा तत्त्वम् अजानतः' दो ही अवस्थायें मानते हैं, एक में तत्त्व का ज्ञान नहीं अर्थात् स्वरूप को नहीं जानता और दूसरे में स्वरूप को कुछ विरूप से जानता है। एक में सच्चिदानंद को नहीं जानता और दूसरे में सच्चिदानंद को नाम-रूप से युक्त जानता है। रस्सी

का अंधकार में न दीखना और रस्सी का साँप की तरह दीखना   दो ही अवस्थायें हुई। इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य ने दो ही अवस्थायें मानीं। इस प्रकार अन्यथा ग्रहण के दो हिस्से हो गये। एक वह जो दो-चार घण्टे में ख़त्म हो जाये, फिर दूसरा चालू हो जाये, और दूसरा वह जो लम्बे समय तक चलता रहे। अन्यथाग्रहण होना स्वप्न है और तत्त्व को न जानना निद्रा है।

जाग्रत् में और स्वप्न में भी जब-जब तत्त्व का अन्यथा ज्ञान होता है, तब-तब हमको अनुस्मृति हो रही है अर्थात् जिस चीज़ को पहले देखा हुआ हो, उसको किसी दूसरे रूप में देखकर पहले रूप की याद आने का नाम अनुस्मृति है। यह देखकर उसके पूर्व रूप की स्मृति हुई और उस स्मृति के बाद हुआ कि 'यह वही है' तो अनुस्मृति हुई। अनुस्मृति और प्रत्यभिज्ञा में भेद है। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष पदार्थ की होती है। अनुस्मृति परोक्ष की भी होती है। प्रत्यभिज्ञा हमेशा अपरोक्ष पदार्थ की होती है। 'अनुस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः'   कृष्ण के चरण सामने हों तब उसकी यदि पूर्व अनुभूत चरणों के साथ एकता हो, तब तो प्रत्यभिज्ञा है। लेकिन यदि सामने कृष्ण-चरण नहीं हैं और मन में पहले अनुभूत चरणों की स्मृति होती है तो वह अनुस्मृति हो गई। वह भगवान् कृष्ण के चरणों की अनुस्मृति सारे पापों को नष्ट कर देती है और सारे कल्याण देती है। वैसे ही जब हमको अन्यथा ग्रहण होता है तो उसके द्वारा सच्चिदानंद का ज्ञान ढक जाता है लेकिन फिर भी अनुस्मृति तो है। जिसे नाम रूप वाला समझ रहे हैं, उसे नाम-रूप-रहित सच्चिदानंदरूप से जाना था। जैसे स्वप्न से उठने पर क्या दृष्टि बनती है? उठने पर यह नहीं होता कि 'दो घण्टे तक हरद्वार थे अब यहाँ आ गये।' इसी प्रकार जितने काल तक स्वप्न की प्रतीति हुई, जगत् की वृत्ति बनी और फिर जैसे ही पुनः सच्चिदानंद की स्मृति हुई, वृत्ति बनी तो यह सब कुछ नहीं था, सारा का सारा गलत था। 'महाशुद्धो भवेत् सर्वत्र सर्वदा' इसलिये वह सर्वत्र अर्थात् सब चीज़ों में और सर्वदा अर्थात् सब काल में (हमेशा) महाशुद्ध ही बना रहता है। उसे अशुद्धि का स्पर्श ही नहीं है क्योंकि वह जो करता है, केवल परमात्मा को लेकर करता है। यह जिसकी पूजा है, उसके लिये कहा   'भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानंदलहरीम्'।

इस प्रकार से मोक्ष, वैभव, आत्मानुभव समाधि इन सबको जिन्होंने छोड़ दिया क्योंकि इन सब की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसे व्यक्तियों को ही भगवती के चरणों की और इस भजन की प्राप्ति होती है। उन्हें धन्य कहा। उनका भजन यह है कि उनके जीवन का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक क्षण केवल भगवती की आराधना है। उन्हें जो चार चीज़ें मिलती हैं, उन चारों में से किसी की अपेक्षा नहीं है। चूँकि चारों की ज़रूरत नहीं रही, इसलिये वह किसी उद्देश्य से तो काम कर नहीं सकता। जब कोई उद्देश्य नहीं रहा तो वह क्या करता है? दूसरों को अत्यंत दुर्लभ भगवतीके, आराध्य के चरणों का भजन ही करता है, और वह कुछ नहीं करेगा। वह चाहे आँख से, नाक से, मुँह से, किसी प्रकार से करे। यही भजन की धन्यावस्था है और कभी किसी-किसी को ही होती है।

## प्रवचन-२८

१६–४–७२

चिदानंदस्वरूपिणी परब्रह्ममहिषी का भजन धन्य करते हैं। कल बताया कि यह कौन-सी भक्ति है। परमात्मा के लिये जो कुछ भी किया जाता है वह सामान्य भाषा में भज धातु से कह दिया जाता है। भज धातु का वास्तविक अर्थ सेवा होता है इसलिये परमात्मा के लिये जो कुछ भी किया जाता है, वह सब भज धातु का अर्थ हो जाता है। लेकिन यहाँ सामान्य भजन को न लेकर पराभक्ति को लिया गया है, परम भजन को लिया गया है। जब मनुष्य उस परमात्मा से सर्वथा एकतानुभूति कर लेता है 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति' उस ब्रह्मभाव को प्राप्त करके जो सर्वथा शोक-मोह से हट गया है, उसके बाद जो वह करता है 'मद्भक्तिं लभते परां', उस पराभक्ति को यहाँ कहा। इस प्रकार के भजन करने वाले को धन्य बताया। जितना भी इहलौकिक, पारलौकिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक मुक्ति पर्यन्त जो कुछ भी प्राप्त करना था, वह इसने कर लिया, इसलिये अब इसे प्राप्त करने के लिये कुछ बचा नहीं। जो चाहिये था, वह सारा का सारा मिल गया। चूंकि उसकी सारी स्वइच्छायें समाप्त हो गयीं, इसलिये अब प्रवृत्ति और निवृत्ति में उसकी अपनी इच्छा की हेतुता नष्ट हो गई। उसकी श्वास लेने की भी इच्छा नहीं रह गई है क्योंकि उसके जीवन का लक्ष्य पूरा हो गया। इसके बाद जो भक्ति या भजन की अवस्था होती है, उसे यहाँ कहा 'भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानंदलहरीं' कुछ धन्य लोग ही ऐसा भजन कर पाते हैं।

यह एक अद्भुत स्थिति है। इस अद्भुत स्थिति के अन्दर पूर्ण रूप से अद्वितीयता है। द्वैत की वहाँ गंध भी नहीं है। बाकी जितना है वहाँ द्वैत-गंध है। भगवान् ने भी इसीलिये गीता में कहा 'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' यद्यपि बाकी सब भजन करने वाले भी अच्छे हैं, उनकी अच्छाई में संदेह नहीं है, फिर विशेषता क्या है? विशेषता यह कि ज्ञानी मेरा आत्मा है, मेरा स्वरूप है, मैं उसको क्षण-भर के लिये भी नहीं भूलता और वह मेरे को क्षण-भर के लिये नहीं छोड़ता। अद्वैत एक अनुभूति है, अनुभव है, अपरोक्ष तत्त्व है। हम इन शब्दों का प्रयोग करते हैं लेकिन शब्दों का प्रयोग करने पर भी इसका कोई अर्थ हमारी समझ में नहीं आता। कारण यह है कि जीव और शिव की अद्वितीयता है, जीव और शिव एक हैं। पहले तो जीव का स्वरूप ही हम नहीं जानते, यद्यपि थोड़ा-सा जानते भी हैं। वस्तुतः हम जीव क्या हैं, यह भी हम नहीं जानते। क्या क्षणमात्र को भी अपने को इस शरीर से भिन्न करके अनुभव किया है? आगे की बात तो जाने ही दो। एक बात ज़रा कड़ी-सी कहेंगे कि हम अभी चार्वाक भी नहीं बने क्योंकि चार्वाक कहता है कि देह से भिन्न मैं नहीं हूँ। क्या एक क्षण को भी तुम अपने आपको अपने माता-पिता से, पुत्र-पत्नी से, जाति-कुल से, देश-धर्म से अलग करके कभी अनुभव करते

हो? यहाँ *अनुभव* की बात कर रहे हैं। कहने को तो कह देंगे कि हम सारे वर्णाश्रम से अतीत, सारे देश-काल से अतीत निरवच्छिन्न तत्त्व हैं, लेकिन हृदय में एक क्षण को भी तुम्हारा अनुभव होता है कि मैं भारतीय नहीं हूँ, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ? कोई दूसरा कह दे कि 'अरे चाण्डाल! मेरी टट्टी साफ कर देना।' यह सुन लेने मात्र से ही हृदय में क्या होता है? उस समय पता लग जाता है कि 'मैं उत्तम वर्ण का हूँ, मेरी फैक्ट्री चल रही है और साल भर में ६० लाख रुपये का ट्रान्ज़ैक्शन करता हूँ, इसने मेरे से कह दिया कि मेरी टट्टी उठा ले जा!' इसलिये कहा कि हम अभी चार्वाक भी नहीं बन पाये। देह से हटाकर अपना स्वरूप मानने तक हमारा अनुभव नहीं है। फिर अन्न-प्राण-मनो-बुद्धि से परे होना तो बहुत आगे की बात हुई। इन सबको छोड़कर जो केवल अविद्या का आश्रयमात्र जीव है, वही हमारी अनुभूति से अति दूर है। जब जीवभाव ही इतना दूर है, जब वही समझ में अभी नहीं आया है, अनुभव नहीं हुआ है तो शिव के बारे में जितनी बातें हैं, वे तो अति दूर हैं, उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। फिर जीव और शिव की एकता और अद्वितीयता की जो बात हम करते हैं, समझना चाहते हैं, वे समझ में आयें कैसे? कहते ज़रूर हैं कि आत्मा परमात्मा है, जीव शिव है, ब्रह्म जीव एक हैं आदि; इन सब शब्दों का प्रयोग करते हैं, लेकिन हृदय की अनुभूति में पैठकर देखते हैं तो जीव-इच्छा का शिव-इच्छा से एक होना, जीव के अन्दर अपनी इच्छा का भान तक न होना, जीव और शिव की परम एकता होना   इसका हृदयगत अनुभूति में कोई अर्थ नहीं होता।

जो विज्ञ व्यक्ति है, उसका क्या अनुभव है? 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।' (ईशावास्योपनिषद्) यह केवल पाठ करने का मंत्र नहीं है। जो अनुभूति-रहित होता है, वह इसकी खींचतान करना चाहता है। क्यों? क्योंकि हम तत्त्व को अपनी छोटी सी अनुभव की पिटारी में लाना चाहते हैं, पिटारी खोलकर अनुभव में नहीं जाना चाहते। वह सारे जड-चेतन जगत् को आत्मा में देखता है, अपने में देखता है। तुम तो शरीर को भी अपने में नहीं देखते, शरीर में अपने को देखते हो। तुम्हें प्रतीत होता है कि 'मैं शरीर में हूँ, मैं मन में हूँ'। उसका अनुभव है कि समग्र जड-चेतन ब्रह्माण्ड में मैं व्यापक हूँ। श्रुति बार-बार इसको कहती है तो इसलिये नहीं कि यह ख्याली पुलाव या कसरत हो, यह अनुभव है। जैसे सामान्य व्यक्ति को सामने रखा हुआ बिल्व दीखता है, ऐसे ही उसका यह प्रत्यक्ष दर्शन है, अनुदर्शन है। पश्यति में कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। जब हम आँख खोलकर तुम्हारा चेहरा देखते हैं तो कुछ श्रम है। थोड़ी देर में आँख थक जाती है, रोशनी न हो तो चेहरा नहीं दीखता। लेकिन यदि हमारा तुम्हारा गहरा परिचय है तो आँख बन्द या खुली जो भी हो, स्पष्ट अनुभव होता है। इसी प्रकार अनंतकोटि ब्रह्माण्ड का उसे नित्य अनुदर्शन होता है। श्रुति की आदत है कि वह टटोलती है। कहा   क्या ऐसा अनुभव हो जाता है कि मैं आकाश की तरह हूँ और सारे मेरे में हैं? चकार से श्रुति पलटा देती है। चकार यहाँ सहसमुच्चय के लिये है 'सर्वभूतेषु च

आत्मानं' सारे प्राणी अपने में और सारे जड-चेतन जगत् के अन्दर अपने को एक-साथ देखता है अर्थात् सर्वथा अभेद देखता है। समुद्र में लहर की तरह नहीं, समुद्र में समुद्र की तरह। समुद्र में लहर है और लहर में समुद्र है। कहाँ कहोगे कि समुद्र की सीमा ख़त्म हुई और लहर शुरू हुई? लहर के ज़र्रे-ज़र्रे में समुद्र है। 'ततो न विजुगुप्सते' इसलिये उसको किसी चीज़ से जुगुप्सा नहीं, वह किस से घृणा या परहेज़ करे, किस से दूर रहे! यह दध्यङ् आथर्वण महर्षि का अनुभव है, उन्हीं का यह मंत्र है।

दध्यङ् आथर्वण महर्षि कैसे थे जिनकी अपनी यह अनुभूति थी? यह समझना ज़रूरी है। उन्होंने एक बार अश्विनी कुमारों से कह दिया कि 'मैं तुमको आत्मविद्या का उपदेश दूँगा;' बृहदारण्यक उपनिषद् ईशावास्य की व्याख्या है। उसमें इस कथा का उल्लेख है। तत्त्वोपदेश से पूर्व उन्होंने कहा कि तुम यह साधना कर लो। अश्विनी कुमार साधना में लग गये। इधर महर्षि के पास एक बार इन्द्र आ गया और उसने कहा कि हमको उपदेश दो। वे जानते थे कि इन्द्र उपदेश के लायक नहीं है। सब लोग उपदेश के लायक नहीं हुआ करते हैं। लेकिन अब इन्द्र को कैसे मना करें! इसलिये उपदेश देने लगे और उसे वैराग्य का उपदेश देना शुरू किया कि संसार कैसा है। बताते-बताते उन्होंने कहा कि इन्द्र का पद ऐसा है जैसे कुत्ते का पेशाब! यह अनुभव करके भी देख लेना कि किसी को वैराग्य का उपदेश दो और धन की निन्दा करो तो कहते हैं कि 'धन की ज़रूरत सबको होती है।' इसका कारण यह है कि उसे धन की निंदा बर्दाश्त नहीं होती। इन्द्र ने कहा 'बस-बस रहने दो, सुन लिया तुम्हारा ब्रह्मज्ञान। मैं तुम्हारी रक्षा करूँ, राक्षस आयें तो तुम्हें बचाऊँ, और मुझे ऐसा! लेकिन ख्याल रखना कि आगे कभी इस ब्रह्मविद्या की बात की तो सिर काटकर फैंक दूँगा। हमारा ही अपमान करने लगे!' जैसे धनी समझता है कि हमारा ही धन खाकर हमारे ही धन की निन्दा करते हैं। दध्यङ् आथर्वण महर्षि ने कहा 'ठीक है।' कुछ समय बाद अश्विनी कुमार वापिस आ गये और कहा कि 'हमने साधना पूरी कर ली, अब हमें उपदेश दो।' महर्षि कहने लगे 'अब उपदेश नहीं दे पाऊँगा क्योंकि इन्द्र ऐसा-ऐसा कह गया है। मैं उपदेश देना शुरू करूँगा तो वह वज्र से मेरा सिर काट देगा।' अश्विनी कुमारों ने कहा कि 'फिर हम निराश लौट जायें?' कहने लगे 'नहीं, मैं उपदेश दूँगा।' भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक वार्तिक में कहते हैं कि उन्होंने क्या सोचा 'प्राणों के ऊपर संकट है लेकिन अपने मुख से कही हुई बात को सत्य करने के लिये मैं उपदेश अवश्य करूँगा, भले ही मरना ज़रूरी है, वह कबूल है।' तब अश्विनी कुमारों ने उपाय निकाला, वह लम्बी कथा है। उन्होंने सिर कटवा कर भी बचा लिया।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि इस सारी कथा से सिद्ध होता है कि 'आत्मनो मरणेनापि सत्यं रक्ष्यं प्रयत्नतः' अपने आप की मृत्यु होने पर भी सत्य का रक्षण करें। आज आयकर वाले यदि कर ले जायेंगे तो क्या बचेगा इसलिये झूठ तो बोलते हैं, लेकिन जीव-शिव की एकता में

तो हम स्थिर ही हैं! सारा संसार तो तीन काल में नहीं है, लेकिन आयकर वाले मकान नीलाम न कर ले जायें! भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि मर भी जायेंगे लेकिन सत्य की रक्षा करनी है। ऐसे ऋषियों के अनुभव को देखते हैं कि वे मृत्यु को अपने से भिन्न नहीं समझते थे क्योंकि 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति' मृत्यु भी अपना ही स्वरूप है। सप्तशती का पाठ करते समय सब बोलते हैं 'या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः' जो भगवती हमारे पेट के अन्दर, सबके पेट के अन्दर, भूखरूप से स्थित है। क्या कभी हृदय से प्रार्थना करते हैं कि हमारे पेट में भगवती ऐसी रहे कि रात-दिन भूख से तड़पते रहें और हे भगवती! तुम्हारे से आलिंगन होता रहे? भूख क्या है? कहते ज़रूर हो लेकिन क्या उस भूखरूपी भगवती से चिपटने की इच्छा होती है, रात-दिन भूखे रहने की इच्छा होती है? जैसे यह प्रार्थना शब्दमात्र है क्योंकि मन में है कि तृप्तिरूप भगवती है, भूखरूप नहीं है। इसी प्रकार जब दध्यङ् आथर्वण ऋषि कहते हैं तो ऐसे सत्यदर्शी ऋषियों की बात खींचतान की नहीं बल्कि अनुभूतिवाक्य है। इसलिये इसे भीतर से जानने का प्रयत्न करना चाहिये। अनुभूतिरहित व्यक्ति ऐसी बातों को केवल शब्द समझता है। इसका अनुभव अन्दर से करना पड़ता है, बाहर से नहीं। भीतर से जानने के लिये ही सारे के सारे शास्त्रों की गतार्थता है बाहर से इसे जानने का यत्न भी व्यर्थ है। हम बिना हृदय में उतारे इसे बाहर से जानने का यत्न करना चाहते हैं लेकिन वह सार्थक नहीं होता है। यही आत्मा की अंतिम विजय है।

विचार करो, सारी सृष्टि का बीज क्या है? भज धातु का जैसे एक अर्थ सेवा है वैसे दूसरा अर्थ भेद होता है। भाग शब्द भी भज धातु से बना है। भाग मायने हिस्सा। अथवा हम अपने पिता से विभक्त हो गये अर्थात् अलग हो गये। सारी की सारी सृष्टि का बीज है कि शिव की इच्छा से हमारी अपनी इच्छा को हमने अलग कर रखा है। अपनी इच्छा के कारण ही तो हम शिव की इच्छा से अलग हैं। अपनी इच्छा की सर्वतोभावेन परिसमाप्ति हो जाने से हम उसके साथ एक हो गये, इसलिये वह परा भक्ति को गई। इसीलिये यही आत्मा की अन्तिम विजय है। वस्तुतः अनंतकाल से हम चले आये हैं। उसका यही फूल है जो खिल उठता है। यही मानव का चरम उत्थान है। संसार के सारे चराचर जगत् को अपने साथ अभिन्न करके देखना ही चरम उत्थान है। उसी उद्देश्य से सारे धर्म हमें हाथ पकड़कर आगे ले जाते हैं। भयंकर झंझावातों से संघर्ष करते हुए व्यक्ति जो चूर-चूर होता है, वह इस चरम उत्थान के लिये ही होता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य तो यहाँ तक कह देते हैं कि यह व्यक्ति अपने को चाहे भक्त समझे लेकिन यह भक्त नहीं है। इस स्थिति में पहुँचने के बाद 'एताम् अवस्थामापन्नो ध्यातृत्वाद् विनिवर्तते। अविद्या तिमिरान्धानां ध्येयत्वम् अभिगच्छति।' इस अद्वितीय भूमि के अन्दर स्थित रहने पर अब उसे ध्यान की ज़रूरत नहीं, अब वह ध्याता नहीं रह जाता। फिर वह क्या करता है? जो अविद्या के अंधकार में पड़े हैं, अब उनको वह ध्येय रूप से दीखता है। अर्थात् वे अलग नहीं हो जायेंगे

कि इससे हमारी नहीं पटती है। तुम राजा बन कर, इतने छोटे समुदाय को प्रसन्न नहीं कर पाते हो क्योंकि वे सब तुम्हारी तरफ आशा की नज़रों से देखते हैं, लेकिन तुम नहीं देखना चाहते हो, भागना चाहते हो क्योंकि ध्येय वाली चीज़ नहीं है। राजा बनना अत्यधिक कठिन है क्योंकि उसका उपयोग प्रजाजन का रंजन करना है, तभी वह राजा है। राम का दृष्टांत सामने है। सीता का त्याग प्रजा के रंजन के लिये किया। आजकल के राजा की तरह नहीं थे। वे लोग एक तरह से प्रबल वीर होते हैं, उनके अन्दर वीरता पराकाष्ठा को पहुँची होती है। कारण यही है कि वीर वही हो सकता है जो बलिदान करने में न डरे। जो हिसाब लगाता रहता है कि 'ऐसा करूँगा तो ऐसा होगा, इसमें क्या फ़ायदा होगा, क्या नहीं होगा', वह कभी वीर नहीं बन पायेगा। वीर मनुष्य वही हो सकता है जो बलिदान कर सके और जिसके अंदर जितना अधिक बलिदान करने की सामर्थ्य है, वह उतना ही बड़ा वीर है। यह अपने जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण का बलिदान ही करता है।

उसकी कठिनाई यह है कि उसकी आदत सत्य स्तर पर रहती है जिसमें किसी भी प्रकार का उद्वेग होता ही नहीं। जैसे बढ़िया सुन्दर शरीर में चंदन लगाकर कोमल शैया पर जो व्यक्ति सोया हुआ है। उस समय वह जिस पूर्णसुख में मग्न है, उसी समय यदि हल्का-सा हवा का झोंका निकल गया तो उसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसी प्रकार जो त्रिगुणातीत सत्य में विद्यमान है, संसार के पदार्थों का आवागमन उसके लिये उतनी सत्ता वाला भी नहीं है। जब तक हम इस माया के अधीन हैं, तब तक हम उनकी स्थिति को समझ ही नहीं पा सकते। उसकी समानता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जिस चीज़ को हम समझ ही नहीं सकते, उसकी समानता क्या कर सकते हैं! भगवती श्रुति, अतिधन्य वेद कहता है कि ऐसा व्यक्ति संसार में केवल दुर्लभ ही नहीं है, दुर्लभतर है, अर्थात् नहीं मिलता है। श्रुति ने एकवचन का प्रयोग किया, 'दुर्लभतरः' कहा 'दुर्लभतराः' नहीं कहा। किसी ने कहा कि कभी-कभी एकवचन बहुत अर्थ में भी प्रयोग कर लिया जाता है। इसीलिये श्रुति ने उस संदेह को दूर करने के लिये कहा कि इस विषय में कुछ बहुलता नहीं होती। लेकिन एक भी ऐसा होता है तो वह सब चीज़ों को अपने स्पर्श से पवित्र कर देता है। श्रुति कहती है कि वही साक्षात् वेद-पुरुष है 'स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते' इस बात को साधारण आदमी नहीं समझता। जिन्होंने वेद के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझा है वे ही उसको साक्षात् वेदपुरुष समझते हैं।

हम इस आदर्श को अपने जीवन से देखना चाहते हैं, उस आदर्श के अनुसार जीवन को बनाना नहीं चाहते। हम पहले निर्णय कर लेते हैं कि जो भी आदर्श हैं, वे हमारी समझ से परे नहीं हो सकते इसलिए हमारा निरंतर प्रयास शास्त्र, ऋषि, सबके अनुभव को अपने ढाई टके की बुद्धि में लाने का है कि हमारा यह अनुभव है, अब यदि कोई ऋषिवाक्य है तो तोड़-फोड़कर इसमें बिठाओ। हम उस आदर्श की तरफ जाकर उस आदर्श को प्राप्त करें   यह प्रयास नहीं है।

बजाय इसके कि हम जीवन को आदर्श में ढालें, हम आदर्श को अपने जीवन में खींचकर नीचे की तरफ लाना चाहते हैं। कई बार हमें विदेशी धर्म की एक बात बहुत अच्छी लगती है। ईसा को हुए प्रायः दो हज़ार वर्ष हो गये लेकिन एक भी ईसाई ने यह प्रयास नहीं किया कि 'ईसा में क्या विशेषता हो सकती है, इसलिये ईसा ने जो कुछ किया, वह हमारे साथ भी हो। जो हमें उपलब्ध हो सकता है उसके अतिरिक्त सब फालतू है।' दो हज़ार वर्षों में उनके यहाँ भी बड़े-बड़े लोग हुए। लेकिन यह उनकी एक दृष्टि रही है कि ईसा जैसा था वैसा वही हो सकता है। यह दृष्टि ठीक है या गलत है, यह अभी नहीं कह रहे हैं। वे हर क्षण ईसा को काट-छाँटकर अपने अनुसार बनाने में विश्वास नहीं करते, वरन् उस आदर्श के अनुसार अपने को ढालते हैं। हम राम, कृष्ण, शंकर आदि को अपने छोटे से राग-द्वेष के अनुसार देखकर कहते हैं कि हमने इन्हें किया तो उनमें ज़रूर होंगे; क्योंकि हमारा अंतःकरण रागशून्य नहीं हो सकता तो शंकर का भी नहीं हो सकता। यदि हम जगत् को अपने से भिन्न करके देखते हैं तो वे भी ऐसा ही देखते होंगे, वे भी हमारी तरह से ही खाते-पीते होंगे। अतः कृष्ण कहते हैं 'जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः' जन्म-कर्म तो मेरा भी है लेकिन उसमें कुछ दिव्यता है। हमें यह तत्त्वतः, अनुभूतितः जानना है, यह नहीं कि 'व्यास जी ऐसा मानते थे।' आज हमारे यहाँ कई ऐसे राजनैतिक लोग हैं जो अपने को राजा पदवाच्य समझते हैं और कहते हैं कि हमने पश्चिमी बंगाल को जीत लिया, हमारा नाम भी राम है, हमारे ऊपर भी एक रामायण लिखी जानी चाहिये! यह प्रवचन किया गया। क्या किसी ईसाई की यह कहने की हिम्मत है कि 'आज के हम बड़े लोग हैं, हमें भी ईसा मान लो'? क्या यह सुनकर उनकी छाती में आग जलती है जो मर्यादा पुरुषोत्तम को अपना आराध्य मानते हैं? कारण यह है कि हमने अपने जीवन में यही किया है, कि 'शंकर ने भी ऐसा ही किया होगा, उनकी अनुभूति हमसे अलग नहीं हो सकती। जो हमारा अनुभव है, वही राम, कृष्ण, शंकर आदि का था। जैसे हमको भेद प्रतीति होती है, ऐसे ही शंकर को होती होगी।' ईसाइयों की जो दृष्टि है, उसके कारण वे आदर्श की ओर चलते हैं। हमारी यह कमज़ोरी है, इसे दूर करने के बजाय हम यह मानकर चलते हैं कि हमारी यह कमज़ोरी है तो उनमें भी ज़रूर होगी।

हम यह नहीं समझ पाते कि वे जिस स्तर पर साँस लेते हैं वह हमारी कल्पना से अतीत है। बीस हज़ार फुट की चढ़ाई के ऊपर बिना किसी ऑक्सीजन को लिये हुए चढ़कर दौड़ने वाले लोग हैं, हम वहाँ जाते हैं तो हमारी साँस फूलती है, इसी प्रकार वे लोग सारे जगत् का व्यवहार करते हैं पर उनकी साँस नहीं फूलती अर्थात् उनकी कभी द्वैत-दृष्टि नहीं बनती, राग-द्वेष का स्पर्श भी नहीं होता। यदि हम भी कहें कि वहाँ चढ़कर देखें तो सिवाय कष्ट के और कुछ नहीं होगा। जब तक अंतःकरण में राग-द्वेष हैं, और वैसा करने का प्रयास करने लगते हैं तो उल्टी होने लगती है। कहते हैं कि 'हम सब प्राणियों में अपने को देखते हैं।' हम प्रश्न करते हैं कि

अगर चोर आ जाये तो कुछ नहीं करोगे? कहते हैं 'महाराज! कोशिश तो करनी चाहिये।' लेकिन धीरे-धीरे सत्संग करते हुए वहाँ पहुँचोगे, तब तो ठीक है, यदि तैयारी के बिना ऊपर जाकर कोशिश करोगे तो सिवाय खून और उल्टी के कुछ नहीं होना है। सारा यादव कुल नष्ट होने पर भी उनके चेहरे पर शिकन तक नहीं आई; एक क्षण पहले राज्य लेने गये थे और अग्रिम क्षण जंगल में जाने को तैयार थे लेकिन मुँह पर शिकन नहीं आई; और तुम्हारी नई धोती यदि फटी निकल जाती है तो चेहरे पर शिकन आ जाती है। क्या उस जगह पर साँस ले पाओगे? इस उच्च स्तर पर खड़े होने पर भी उनकी विशेषता यह है कि वे हमारे मार्गदर्शक हैं। आचार्य लिखते है 'प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्' प्रज्ञा की बड़ी भारी अट्टालिका अर्थात् सप्तम भूमिका पर खड़े होकर स्वयं सारे शोकों से रहित होकर भी दूसरे प्राणियों के प्रति, जो अपने को जन्म-मरण के अंतःपाती देखते हैं, उनके प्रति उनका हृदय भर जाता है। वे वहाँ खड़े रहकर हमारा मार्गदर्शन करते हैं, हमें किस प्रकार चलना है, यह बताते हैं। उनकी अनुभूति के शब्द हमारे मार्गदर्शक हैं। वे हमें रास्ता बताते हैं। जिस पूर्णता के अन्दर, शिव-जीव-ऐक्य के अन्दर उनकी निरंतर श्वास-प्रश्वास की गति है, उसे समझने का प्रयत्न करोगे तो उनकी अनुभूति के आधार पर ही कर पाओगे, अपने विचार से नहीं समझ पाओगे। अपने विचार से समझने जाओगे तो बड़ा कष्ट होगा, कई गड़बड़ियाँ आ जायेंगी। यदि उसकी जगह एक कदम और आगे चलकर उनसे समानता का दावा करोगे तो पहले ही बता दिया कि साँस टूट जायेगी, कर नहीं सकोगे।

वस्तुतः स्थिति क्या है? सृष्टि में एक विचित्र नियम है। जो चीज़ जहाँ से चलती है, वह पूर्ण भाव को प्राप्त करके फिर वहाँ पहुँच जाती है। जल समुद्र से चलकर चाहे जितना घूमता रहे, अंत में पुनः समुद्र में ही पहुँच जाता है। इसी प्रकार से पृथ्वी से उत्पन्न हुआ अन्न अंत में पृथ्वी में जा पहुँचता है। पृथ्वी से उत्पन्न अन्न शरीर में गया। 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' उसका सूक्ष्म भाग मन बन गया। मन अन्न से ही बनता है। मन में जाकर यदि किसी परमात्मा की तरफ चलने वाले की तरफ सम्बन्धित हो गया तो वह शुद्ध होकर धर्माधर्म रूप में परिणत हो गया, विवेकरूप में चला गया। अंत में जब मनुष्य मरता है तो यह शरीर उसी पृथ्वी में पुनः खाद रूप में बदल जाता है। इसी प्रकार से जीव माया के मध्य से चला। धीरे-धीरे उत्थान भाव को प्राप्त करता चला गया, देव बना, देवेश्वर बना, ब्रह्मलोक आदि के अन्दर गया, सगुण ब्रह्म की प्राप्ति की और अंत में पुनः अपने स्वरूप में पहुँचा। वहाँ पहुँचकर यदि वहीं रह जाता तो हमको उसके विषय में कोई ज्ञान नहीं होता। लेकिन सृष्टि का नियम है कि जहाँ से चला था अर्थात् माया के मध्य से चला था, इसलिये उस पूर्णता को प्राप्त होकर पुनः उस माया में रहने वाले प्राणियों को अपनी ही खाद बनाकर उन्हें उर्वर करता है, आगे बढ़ाता है। इसलिये यह सत्य है कि उसकी स्थिति को तुम नहीं समझ सकते लेकिन वह हमको संसार के भीतर ही देखने को

मिलता है, इसलिये लगता है कि शिवता हमारी आँखों के सामने नाच जाती है। पूर्णता को प्राप्त करके उसे ही बढ़ाने में लग जाता है। फ़र्क यह है कि जिस कारण पहले वह जीवभाव में था, वह नहीं रहा।

एक कथा आती है: प्रतिष्ठानुपर में एक राजा था। वह राजा बड़ा सुन्दर था, इतना सुन्दर था कि उसे अपने रूप के अनुरूप कोई पत्नी ही नहीं मिली। जो औरत देखे, कहे कि मेरे लायक सुन्दर नहीं है। एक बार वहाँ से दो बौद्ध भिक्षु निकले। वे उस राजा के यहाँ गये, भिक्षा इत्यादि की। राजा को देखकर वे बहुत प्रभावित हुए और कहा कि 'हम संसार में बड़ा भ्रमण करते हैं, विदेशों में जाते हैं, लेकिन तुम्हारे जैसा कोई सुन्दर नहीं देखा। यदि कोई तुम्हारे समान सुन्दर है तो एक लड़की है जो रूपधर राजा की हेमलता रानी की पुत्री रूपवती है। वस्तुतः तुम कभी विवाह करना तो उसी से करना।' दोनों उसके सौन्दर्य का वर्णन करने लग गये। उसकी सुन्दरता को सुनकर राजा की उससे विवाह करने की इच्छा हो गई। पूछा 'कहाँ है?' उन्होंने बताया 'मुक्तिपुर में वह राजा राज्य करता है।' राजा के यहाँ कुमारीदत्त नाम का एक चित्रकार रहता था। राजा ने उस चित्रकार से कहा कि 'ये भिक्षु ऐसी बात कहते हैं तो तुम ज़रा वहाँ जाकर पता लगाओ कि क्या मामला है। यहाँ से मेरा एक चित्र साथ लेते जाओ। वहाँ बात चलाना और यदि उन्हें पसन्द आ जाये और आगे बात चले तो अपने विवाह के कार्य के लिये आगे चलें।' कुमारीदत्त बड़ा योग्य चित्रकार था। ठीक जैसा व्यक्ति हो, वैसा ही चित्र बना देता था। उसके चित्र को दूर से देखने पर मनुष्य को भ्रम हो जाता कि वह साक्षात् व्यक्ति है या चित्र है। उसने राजा का एक चित्र लिया और भिक्षु के साथ वहाँ चला। मुक्तिपुर में पहुँचकर उसने बड़ा भारी सूचनापत्र लगा दिया जिसमें लिखा कि 'संसार का सबसे योग्य चित्रकार कुमारीदत्त आया हुआ है, जिसने अपना चित्र बनवाना हो, आकर बनवा ले।' उसकी प्रशंसा राजा तक पहुँची। वहाँ गया। राजा ने पूछा 'तुम बड़ा सुन्दर चित्र बनाते हो?' उसने कहा 'परीक्षा करके देखो। देव, मनुष्य, असुर, किस का चित्र बनाकर दिखाऊँ?' राजा ने विचार किया कि देव, असुर का तो दर्शन ही नहीं किया तो क्या पता लगेगा कि चित्र ठीक बना या नहीं! राजा अपनी लड़की रूपलता को ले आया और कहा कि 'इसका चित्र बनाओ तो जानूँ।' जब चित्र बनकर तैयार हो गया तो राजा रानी को बुलाकर दिखाया। चित्र देखते ही दोनों स्तब्ध रह गये और कहा कि 'तूने सारा का सारा ठीक विवरण इसमें कर दिया, अब इसमें कोई कमी नहीं रह गई है।' उसे बहुत इनाम दिया और कहा कि 'तुम बड़े देश-देशांतरों में घूमते रहते हो, हमारी लड़की बहुत सुन्दर है, इसके लायक कोई सुन्दर लड़का हो तो बताओ। हमारे आस-पास के राज्यों में तो कोई नहीं है।' तब कुमारीदत्त ने कहा कि 'प्रतिष्ठानपुर में पृथ्वीरूप राजा ठीक इसके लायक है।' उन्होंने कहा कि 'पहले उसका चित्र दिखाओ तो पता लगे।' कुमारीदत्त ने बताया कि 'उस राजा ने भी मुझ से अपना चित्र बनवाया था जिसकी नकल मेरे पास है।' रूपलता उस चित्र को

देखकर स्तब्ध रह गई। रूपलता की आँखों से आश्चर्य को देखकर माता-पिता ने समझ लिया कि यह मुग्ध हो गई है। उन दोनों ने उस चित्र को देख कुमारीदत्त से कहा कि 'तुमने जैसे हमारी लड़की का चित्र बनाया है, उससे हमें विश्वास हो गया कि वह चित्र भी यथार्थ ही होगा। मैं तो इस राजा को नहीं जानता लेकिन अपने राजदूत तुम्हारे साथ भेज देता हूँ।' कुमारीदत्त को तो पता ही था कि राजा ने इसी बात के लिये भेजा है, इसलिये मान गया। राजदूत, दोनों भिक्षु और कुमारीदत्त वापिस आये। राजा को रूपलता का फोटो दिखाया। फोटो देखते ही राजा भी वैसे ही मुग्ध हो गया जैसे रूपलता उसके चित्र को देखकर मुग्ध हुई थी। राजा ने पूछा 'पक्की बात है कि मेरा ब्याह इससे हो जायेगा?' उन्होंने कहा 'बिलकुल पक्की बात है क्योंकि उनको भी आप पसन्द आ गये हैं।'

राजा मंगलघट हाथी पर बैठकर वहाँ से चला। रास्ते में बड़ा भयंकर विन्ध्यक्षेत्र का जंगल आया। राजा बड़े आनन्द से जा रहा था। अकस्मात् कुछ भीलों ने आक्रमण कर दिया। वह आक्रमण इतना जबरदस्त था कि यद्यपि उसकी फौज का एक-एक आदमी चार-चार भीलों को मारता था लेकिन उनकी संख्या बड़ी थी। इसलिये अंत में उन्होंने राजा से कहा कि अब परिस्थिति बड़ी खराब है। राजा स्वयं दिव्य अस्त्रों के साथ युद्ध में उतरा और भीलों को ख़त्म कर दिया। राजा भी खून से लथपथ हो गया। राजदूत बड़े प्रसन्न हो गये कि भावी दामाद केवल देखने में ही सुन्दर नहीं, बहादुर भी है। वे वहाँ से चलकर समुद्र के किनारे पहुँचे जहाँ उदारचरित नाम का राजा राज्य करता था। उसने पृथ्वीरूप का बड़ा स्वागत किया, एक-दो दिन अपने यहाँ रखा और वहाँ से आगे जाने के लिये समुद्र में जाने वाली नौकायें भी दीं। वहाँ से चलकर वे अर्थपुर पहुँचे। राजा, रानी और रूपलता सब लोग राजा को देखकर मुग्ध हो गये कि अपने को अच्छा वर मिल गया। राजदूतों ने रास्ते की सारी घटना सुनाते हुए कहा कि 'वह केवल देखने में ही सुन्दर नहीं, वह बहादुर भी है।' संसार में बहुत से लोग देखने में सुन्दर होते हैं, उन्हें कोई काम बताओ तो मामला ढीला-ढाला। लेकिन राजा में यह बात नहीं थी। उनका विवाह किया गया। दस दिन तक राजा वहाँ रहा। उसके बाद विदा किया गया। वह ज़माना विवाह का था, आजकल के विवाह में तो पार्टी दी जाती है, खाना नहीं खिलाया जाता, वे लोग पार्टी भी 'थ्रो' करते हैं जैसे कुत्तों को टुकड़े फैंके जाते हैं! पुराने ज़माने में पार्टी नहीं दी जाती थी। वह युग ऐसा था जब तक ये सब बातें नहीं आई थीं। दस दिन बाद वहाँ से विदा होकर वे पुनः उदारचरित राजा के वहाँ पहुँचे। राजा ने उन्हें वहाँ आराम से रखा। वहाँ से मंगलघट हाथी पर पत्नी को बिठाकर और स्वयं कल्याणगिरि हाथी पर बैठकर राजा पुनः अपने राज्य में आया।

इस सारी कथा के अन्दर वस्तुतः जीव का ही चित्रण किया गया है। प्रतिष्ठान का अर्थ है जहाँ कोई चीज़ रहे। आजकल हिन्दी में भी इसका प्रयोग होता है, दुकान को भी प्रतिष्ठान कहते हैं अर्थात् जहाँ चीज़ रहे जैसे ग्रामोद्योग प्रतिष्ठान। यहाँ अपना देह ही प्रतिष्ठानपुर है। इसके

अन्दर जो राजा राज्य करता है, वह जीव ही पृथ्वीरूप है। पार्थिव देह वाला होने से इसका रूप पृथ्वी है। यह इस प्रतिष्ठानपुर में रहता है। इस जीव के योग्य कहीं कोई पत्नी नहीं है। जितने दूसरे पदार्थ हैं, वे सब तो जड हैं, इसलिये जड के साथ चेतन कैसे विवाह करे! इसलिये इसकी जाति का कोई उसके जैसा सुन्दर नहीं है। किसी काल में इसके यहाँ बौद्धभिक्षु आते हैं। बौद्ध अर्थात् जो बुद्धि से युक्त हो। बुद्धि से ही मनन, निदिध्यासन आदि होगा, आदमी बुद्धि से विचार करता है और ध्यान करता है। ध्यान भी बुद्धि के द्वारा किसी स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न है। ये दो बौद्ध भिक्षु हैं। इन्हें भिक्षु इसलिये कहा गया कि जैसे संन्यासी के पीछे कोई भागने वाला नहीं होता, लेकिन जो भिक्षु नहीं है, उसके पीछे पत्नी, पुत्र आदि कुछ न कुछ लगा ही रहता है। ऐसे ही मनुष्य मनन, निदिध्यासन तभी कर सकता है जब पीछे से कोई चीज़ रुकावट डालने वाली न हो। हमारा मनन, निदिध्यासन इसलिये नहीं खुलता कि अपनी सारी वासनायें पीछे खींचती हैं। जब मनन करने का समय आता है तो कहते हैं कि अब इतना ही बहुत है क्योंकि वासना कहती है कि अगला कदम ले लिया तो ख़त्म हो जायेंगे। इसलिये वह पीछे देखता है। क्या कारण है कि जब हम कहते हैं कि 'सारी प्रजा में इतने गरीब लोग हैं, इन गरीबों की गरीबी हटाने के लिये हम बड़े आदमियों से धन लेते है,' तब यह कहते हुए मन में क्यों नहीं आता कि 'हम इस मोटर में बैठे हुए घूम रहे हैं, हमें विदेशी मोटर चाहिये ताकि राष्ट्रपति की इज़्ज़त कम न हो जाये। लेकिन बाकी लोगों की भी तो इज़्ज़त है?' कारण यह है कि ये बौद्ध भिक्षु नहीं हैं। इसलिये उनका मनन झट भेद करता है कि जहाँ तक हमारी वासनाओं का सम्बन्ध है, वहाँ तक दीवार खींच दो। हमने एक सौ करोड़ रुपये खर्च करके फैक्ट्री खोल दी, उसमें दस साल से कोई फ़ायदा नहीं हो रहा है, कोई नहीं पूछता कि क्या बात है, फ़ायदा क्यों नहीं हुआ। तुमने पाँच करोड़ से एक फैक्ट्री खोली, एक साल फ़ायदा नहीं हुआ तो कहते हैं कि 'यह कैसे हो सकता है! फ़ायदा ज़रूर हुआ होगा, इसलिये आयकर तो देना ही पड़ेगा।' कारण यह है कि बेईमानी है। यदि तुम कहते हो कि 'इन्हें भी ज़रूर फ़ायदा हुआ होगा और वह फ़ायदा राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री खा गये', तो कहते हैं कि ईमानदारी वही है जो हम करें, बाकी सब बेईमानी है। जैसे राज्य स्तर पर ऐसे ही हमारा अध्यात्म स्तर है। कहते हैं शिखा और यज्ञोपवीत रखने से क्या फ़ायदा होता है, शरीर में क्या रखा है! लड़की के ब्याह के समय यदि कहते हैं कि काला-कलूटा वर हुआ तो क्या हो गया? तब कहते हैं कि ऐसी बात मत कहो। यह मनन, निदिध्यासन को पीछे खींचता है, हिम्मत नहीं पड़ती। बुद्धि की समझ में वही प्रवेश कर सकता है जो पहले भिक्षु बने।

मनन, निदिध्यासन से तो जीव को पता लगता है कि कोई मेरे जैसा है। कौन है? यह पता नहीं लगता, जब तक उससे नहीं मिलता। मनन के द्वारा जब मनुष्य निरपेक्ष, वासना-रहित विचार करता है तो वह मनन उसे बता देता है कि संसार के यावत् पदार्थ असत्य हैं। मनन की

अंतिम सीढ़ी है कि संसार अनिर्वचनीय मिथ्या है। अब उसके लिये वेद पढ़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती। निदिध्यासन अर्थात् जैसे-जैसे योगाभ्यास करके मन को एकाग्र करते हैं, वैसे-वैसे पता लगा, तब ध्यान का आनन्द आया। जिसे ध्यान का आनन्द नहीं है, वह गरीब क्या करेगा? वह संसार के पदार्थों की तरफ दौड़ेगा। यहाँ भी वेद की ज़रूरत नहीं। योगाभ्यास करे तो उसका आनन्द आने लगता है। मनन, निदिध्यासन से पता चला कि सारा संसार अनिर्वचनीय मिथ्या है अर्थात् न सत्य और न असत्य। आनंद के लिये हमें बाहर जाने की ज़रूरत नहीं है। ध्यान की गम्भीरता में स्वतः आनंद का अनुभव होता है। यहाँ तक भिक्षु ने बताया कि तुम्हारे जैसी एक सुन्दरी है। वही यहाँ आनंदलहरी है जो बड़ी सुन्दर है। ब्रह्मविद्यारूपिणी है, उसके पिता का नाम रूपधर है। जो सारे रूपों को धारण करे, वह रूपधर है। ब्रह्म ने ही सारे रूप ले रखे हैं और उसकी पत्नी हेमलता जो हिम से उत्पन्न हो। इसलिये पार्वती को हैमवती कहा। अथवा जो देखने में बड़ी सुन्दर हो अर्थात् विद्यारूपिणी, विद्या की लता हो। इन दोनों के संयोग से ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है। इसलिये रूपलता नाम रखा। जीव के लायक एक चीज़ है जिससे प्रेम करे, वह ब्रह्मविद्या है। बाकी सारी जड पदार्थों की विद्या है। केवल एक ही ज्ञान ऐसा है जिसका विषय ब्रह्म है, चेतन है, बाकी सब ज्ञानों का विषय जड है। लेकिन जब इस बात को उसने सुना तो केवल परोक्ष ज्ञान हुआ कि 'हाँ! ऐसी एक ब्रह्मविद्या है जिसका विषय ब्रह्म है।' अब वह चित्रकार कुमारीदत्त से पता लगाने को कहता है कि वह कहाँ रहती है। वह मुक्तिपुर में रहती है। बिना वहाँ पहुँचे उसकी प्राप्ति नहीं है। कुमारीदत्त वह है जो दोनों को मिलाने वाला है। भगवती श्रुति को ही कुमारी कहा है क्योंकि इसका कभी विवाह नहीं होता। इसका विवाह उससे हो जो वेदपुरुष बने और वेदपुरुष बनते ही जब उसके सामने सबका बाध हो जाता है तो कुछ नहीं, इसलिये कुमारी ही रहती है। उस श्रुति के द्वारा दत्त (पुत्र) अपरोक्ष ज्ञान होता है। तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से जो ज्ञान होता है, वह साक्षात् होता है। इसलिये परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान दोनों को मिलाने वाला वेद है।

ब्रह्मविद्या भी बिना जीव के और किसके पास जायेगी! ब्रह्मविद्या का विवाह उसी से होना है। जीव भी तभी कृतार्थ होगा जब ब्रह्मविद्या आयेगी और वह ब्रह्मविद्या भी तभी कृतार्थ है जब किसी जीव के साथ हो। जब तक जीव को प्राप्त नहीं हुई, वह भी कुछ नहीं। अब कुमारीदत्त अपरोक्ष ज्ञान से कहता है कि किस का चित्र बनाऊँ? रूपधर कहता है ब्रह्मविद्या का ही चित्र बनाओ। सारी उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का ही चित्र है। जब उपनिषदों का श्रवण करता है तो जीव उसे देखता है। जैसे ही उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का चित्र देखता है, मुग्ध हो जाता है कि मुझे विवाह करना है तो इसी से करना है, कोई दूसरा मेरे लायक नहीं है। जब यह निश्चय हो गया तब वहाँ से चला। न किसी देवता का चित्र हमारा चित्र है, बड़े से बड़े ब्रह्मा, विष्णु आदि का चित्र भी हमें पसन्द नहीं आयेगा। न असुर, न दानव का चित्र हमारा चित्र है क्योंकि वह

नहीं देखा हुआ है। जितना देखते हैं, अपने मन को ही देखते हैं, बाहर देखने का कोई प्रमाण नहीं है। जब ब्रह्मविद्या की तरफ, अपरोक्ष ज्ञान को प्राप्त करने के लिये चला तो भीलों ने आक्रमण किया। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य सारे के सारे तस्कर हैं। संसार के जितने रिश्ते, जितने कुटुम्ब-कबीले हैं, जितने मित्र हैं वे और संसार के यावत् पदार्थ भील ही हैं। चाहे जितना मारो, बड़े प्रबल हैं, नहीं मरते। अंत में जब जीव ही अपना हथियार उठाये तो ये ख़त्म हों। जीव मंगलघट हाथी पर बैठा अर्थात् प्रतिक्षण सिवाय मंगल के किसी के अमंगल को सोचता ही नहीं है। भगवान् ने सबसे पहला उपाय बताया 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।' उसकी चराचर भूतों के प्रति मंगल की भावना है, द्वेषभाव नहीं, उनसे मित्रता है। कई लोग होते हैं जिनसे मित्रता करो, द्वेष न करो तो भी वे खच्चर की तरह लात मारते हैं। यदि वे लात मारें तो उन पर करुणा करो कि बेचारे जानते ही नहीं कि क्या कर रहे हैं। ऐसे मंगलघट हाथी पर जो बैठा होगा, वही काम आदि तस्करों से अपने आपको दूर कर सकेगा। जो देखेगा कि ये भील हमारा नुकसान नहीं कर रहे हैं, वह उनसे बचने के लिये कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार वह उदारचरित के यहाँ पहुँचा, उसका चरित्र उदार हो गया। वही उसे नौकायें देता है। जो उदार नहीं, उसे नाव ही नहीं मिलती जिससे वह पार जाये।

उस नाव पर बैठकर वह मुक्तिपुर की तरफ जाता है। उसके पास जाने के लिये समुद्र पार करना पड़ा। जैसे समुद्र दो देशों को बिलकुल अलग कर देता है, ठीक इसी प्रकार प्रतिष्ठानपुर और मुक्तिपुर दोनों बिलकुल अलग-अलग हो गये। यह माया के अन्दर और वह माया-अतीत है। इसके बीच में जो ले जाने वाली नौका है, इसी का नाम भाग-त्याग लक्षणा है अर्थात् कुछ हिस्सा ले लिया और कुछ हिस्सा छोड़ दिया। एकमात्र जीव को तो ले लिया, जीव का साक्षी रूप लक्षणा के ऊपर पहुँचता है तो विवाह करके प्रसन्न होता है और वहाँ दस दिन रहता है। जल्दी-बाजी नहीं कि एक क्षण के लिये भाग-त्याग लक्षणा करके वहाँ पहुँचे, वृत्ति ब्रह्माकार बनी, नहीं बनी, फिर शरीर में पहुँच गये। 'दस' हमारे यहाँ बहुवाची शब्द है। जैसे लोक में कहते हैं कि 'दसियों आदमी आये थे' अर्थात् बहुत आये थे। जब काफी देर तक वहाँ स्थिर रह गये तो फिर उसी मार्ग से आये। लेकिन पहले ब्रह्मविद्या के पूर्व का उदारचरित्र था, इसलिये बाहर से उदार चरित्र के साथ रहने पर भी अंदर से दिल परमात्मा के साथ जा रहा है। साधक के सामने परमात्म-प्राप्ति का लक्ष्य है। जब वही पुनः उदारचरित में आता है तो लक्ष्य हाथ में है लेकिन अब उसमें कोई स्वार्थ भावना नहीं है। अब तो केवल लौट रहा है और पुनः प्रतिष्ठानपुर में आता है। फिर वह सारे प्राणियों के लिये सुख का रूप बन जाता है जैसे राजा बना। यह स्थिति प्राप्त करनी है। तब मनुष्य अविद्या के अंधकार में पड़े हुओं के लिये तो ध्येय हो जाता है, ध्याता नहीं रहता। यही उसकी पूर्णता है, मानों अपने को खाद बनाकर बाकी जीवों को उर्वर करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। यह उसकी धन्यता है। इस धन्यता का प्रकार फिर बतायेंगे।

## प्रवचन-२६

१७–४–७२

चिदानंदलहरी का जो पर भाव से भजन करते हैं वे धन्य हैं, इसका विचार कल प्रारम्भ किया था। वे क्यों धन्य हैं? उनका क्या स्वरूप है? भगवान् आनन्द गिरि ने सारे गुणों को एक जगह पर एकत्रित करके इसका स्वरूप बताया।

'कारुण्याम्भोनिधिभ्यो विधिशतवशगान् प्राणिनो मोचयद्भ्यो
विद्यापारंगतेभ्यो गतविततमःस्तोमवद्भ्यो महद्भ्यः।
आभूमेरा च सत्यात् प्रथितपृथुयशःश्रेणिनिःश्रेणिभाग्भ्यः
तेभ्यः सद्भ्यो गुरुभ्यस्त्रिविधमपि नमः सन्ततं संविदध्मः।।'

यहाँ बताया कि उनकी धन्यता किस रूप की है। सबसे पहले उसका स्वरूप बताया कि उनके अन्दर करुणा वैसे ही रहती है जैसे समुद्र में जल रहता है। साधारण मनुष्य विधि अर्थात् कर्म-मार्ग के अधीन है। विधि का अर्थ यहाँ नियम है। शास्त्रीय विधि, लौकिक विधि, मन की और इन्द्रियों की विधि इन सारे के सारे नियमों के अन्दर व्यक्ति जकड़ा हुआ होता है। सैंकड़ों अर्थात् अनंत विधियों में जो बँधा हुआ है, उन सारी ही विधियों, विडम्बनाओं को छोड़ने में उसका तात्पर्य रहता है। जितनी भी विद्यायें हैं, उनको वह पूर्ण रूप से उनके अनात्मस्वरूप तक जानता है अर्थात् उसका ज्ञान अप्रतिहत होता है। जिस प्रकार गणित शास्त्र का विद्वान् एक-एक कदम करके हिसाब नहीं लगाता बल्कि उसको हिसाब के अर्थ का झट भान हो जाता है। फिर समझने के लिये वह कदम बताता है लेकिन वस्तुतः उसका भान सद्यः (सकृद्) है। इसी को पारंगत कहते हैं। जहाँ कहाँ भी तम अर्थात् अज्ञानांधकार है, वह चाहे जितना विस्तृत हो, उसके लिये वह गत है। चूँकि गतविततमः है, इसलिये वह स्तोमवद् अर्थात् स्तुतिवाला होता है। स्तोम एक विशिष्ट प्रकार की स्तुति है, इसका तात्पर्य आगे बतायेंगे। वह किसी भी चीज़ को परिच्छिन्न अर्थात् एकदेश या सीमित दृष्टि से नहीं सोचता। उसकी दृष्टि हमेशा व्यापक भाव का चिंतन करती है। नीचे से नीचे भूमि से लेकर अर्थात् पृथ्वी लोक से लेकर सत्य लोक पर्यन्त अर्थात् ऊपर से ऊपर जो ब्रह्मलोक है, वहाँ तक वह एकरूप से ही उन सबको देखता है। उस सबके अन्दर वह देखता है कि एकमात्र उसका ही यश अर्थात् उसके ही नाम-रूप की सर्वत्र स्थिति है। 'तस्य नाम महद् यशः' उसमें सोपानक्रम भले हो। कहीं उसके स्वरूप को सद्रूप से जाना जाता है, कहीं चित् रूप से तो कहीं आनंद और अनंत रूप से जाना जाता है। कहीं चाण्डाल रूप से और कहीं ब्राह्मण रूप से जाना जाता है। लेकिन इस भूमि से लेकर सत्य लोक पर्यन्त वह एक-जैसा ही है। ऐसा व्यक्ति ही 'सद्भ्यः' निरंतर सत्य में निष्ठा वाला होने के कारण

सब की अपेक्षा गुरु होता है। संस्कृत में गुरु का अर्थ 'भारी' होता है अर्थात् वह सबसे भारी पड़ता है। अधिष्ठान के ऊपर अध्यस्त होता है। भारी चीज़ नीचे होती है। इन सब हेतुओं के कारण ही कहते हैं कि उनके लिये हमारा नमस्कार है। इस प्रकार एक जगह सब संग्रह कर लिया।

आचार्य आनंद गिरि ने सबसे पहला गुण करुणा बताया। करुणा के वे अम्भोनिधि अर्थात् समुद्र (जल की खान) होते हैं। सहसे पहले करुणा कहने का कारण है। उनकी करुणा ही वह डोरी है जिससे जीव के साथ शिव का सम्बन्ध बनता है। जितनी भी संस्कृतियाँ, जातियाँ, सभ्यतायें हैं, उन सबके पीछे वहाँ के सामान्य व्यक्तियों का कोई बड़ा भारी उद्भट दान या महत्त्व हो, ऐसा नहीं है। हम लोग समझते हैं कि हमारे द्वारा संस्कृति है लेकिन नहीं है। वस्तुतः संस्कृति क्या है? किसी न किसी ऐसे महापुरुष की एक दीर्घ छायामात्र है, और कुछ नहीं है। सामान्य पुरुष उस छाया के अन्दर रहकर ठण्डक भी पाता है, फल, सौरभ और पुष्प भी पाता है। कदंब वृक्ष की छाया में रहना कुछ और है, अशोक वृक्ष की छाया में कुछ और है। बबूल की छाया और चिनार की छाया में कुछ और है। देवदारु की छाया में रहोगे तो कुछ और है। देवदारु की छाया में रहने वाले को टी०बी० नहीं होती। उसकी छाया में रहने वाला व्यक्ति समझता है कि मैं स्वस्थ हूँ। लेकिन उस स्वस्थता का कारण देवदारु है। हम केवल उस छाया में रहमात्र रहे हैं। संसार की जितनी संस्कृतियाँ और जातियाँ हैं, वे सारी किसी-न-किसी ऐसे व्यक्ति की छाया हैं। उस छाया में जब तक हम रहते हैं, तब तक सोचते हैं कि यह हमारी देन है, लेकिन वह देन हमारी नहीं होती है। वह तो उस वृक्ष के अधीन है। एक तरह से यों समझ लो कि यहाँ और वहाँ के बीच में जो कड़ी है वह कड़ी उनकी करुणा है। उनके अन्दर देव मानव बन जाता है और मानव देव बन जाता है। वहाँ देवभाव और मानव-भाव दोनों का ऐसा ऐक्य हो जाता है कि न यह कह सकते हो कि वह केवल देव है और न यह कि वह केवल मानव है। इसीलिये किसी भी संस्कृति के लिये उनका महत्त्व असीम होता है।

वस्तुतः नित्य अनंत आनंद के विषय में वही एकमात्र प्रमाण है। जीव ने आज तक जितना भी सुख देखा है, वह क्षणिक है। चाहे जितना बुद्धि का विलास कर ले, लेकिन सारा बुद्धि का विलास करने पर भी, सारा सोच लेने पर भी उसका सुख का अनुभव क्षणिक है। भले ही समाधि में बैठकर चार-छह घण्टे सुख ले ले लेकिन छह घण्टे के बाद फिर भी तो उठना पड़ता है। आज तक नित्य आनंद के विषय में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। सम्भावना प्रमाण नहीं हुआ करती है। सब ज्ञानों में अनुस्यूत एक ही ज्ञान है, यह सम्भावना है। यह सत्यता है या नहीं  यह अनुभूति पर आधारित होगा। जब सबके अन्दर एक अनुस्यूतता का अनुभव होता है, तब प्रमाणित है। सम्भावना हमको उस तरफ प्रवृत्त कराती है लेकिन निश्चायक नहीं होती, निश्चय नहीं कराती। निश्चायक अनुभव होता है। श्रुति ने कहा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' द्रष्टव्य को उद्देश्य रखकर ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विधान है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा एक अनुभव उत्पन्न होता है, वह द्रष्टव्य है, बाकी सब उसके अंग हैं। यह ठीक है कि साधना-काल में श्रवण अंगी और मनन, निदिध्यासन अंग हैं लेकिन यदि इतना ही तात्पर्य हो जायेगा तो द्रष्टव्य कहने की ज़रूरत ही नहीं थी। इसलिये मनन, निदिध्यासन श्रवण के अंग हैं, यहाँ तक तो ठीक है लेकिन श्रवण भी स्वयं उस दर्शन का अंग ही है। इसी प्रकार से अनंतता को समझ लेना। आत्मा ऐसा नित्य आनंद और अनंतता है, इसके विषय में वस्तुतः उसका यह अनुभव ही हमारे लिये एकमात्र चिराग का काम करता है, नहीं तो वे केवल सम्भावनायें होकर रह जायें। यही वस्तुतः अध्यात्मशास्त्र और धर्म का भेद है।

धर्म अपना रक्षण चाहता है। धर्म का रक्षण कौन करेगा? हम करेंगे। धर्म कब होगा? जब हम धर्म करेंगे। बहुत से व्यक्ति जब हमसे कहते हैं कि हिन्दू धर्म सबसे श्रेष्ठ है तो हम उनसे कहते हैं कि पहले वह धर्म दिखाओ तो सही। तब वे हमें गीता की किताब दिखाते हैं और कहते हैं कि यह सबसे श्रेष्ठ है। शबर स्वामी जैमिनि-सूत्र भाष्य में लिखते हैं 'क्रियमाणो हि धर्मः' किताब में लिखा हुआ धर्म नहीं हुआ करता! यदि किताब में लिखा हुआ धर्म हुआ करता तो गीता की सारी किताबें अब तक वैकुण्ठ में पहुँच गई होतीं। जैसे किताब में लिखा 'सत्यं वद' धर्म नहीं, ऐसे ही टेप में लिखा हुआ 'सत्यं वद' भी धर्म नहीं है। यदि ऐसा होता तो सारे टेप भी वहाँ पहुँच गये होते। 'सत्य बोलना चाहिए' यह जबान से कहने से कुछ फल नहीं होता है। इसलिये जब तुम झूठ बोलना छोड़ोगे तब धर्म होगा। जब कहते हो कि हिन्दू धर्म श्रेष्ठ है तो उसकी क्रियमाणता दिखाओ। किताब से यह पता लगता है कि किसी अतिदीर्घकाल पूर्व हिन्दू धर्म हुआ करता था। यह इसलिये समझना ज़रूरी है कि जब तक क्रिया और ज्ञान का भेद नहीं समझोगे, तब तक सारा काम गड़बड़ा जायेगा। रामचन्द्र जी ने क्या किया, इस बात को तुम खूब रट लो, कुछ धर्म नहीं होगा। धर्म कब होगा? राम की तरह आचरण करने से धर्म होगा। यदि राम-चरित्र बाँचने से धर्म होगा तो रावण-चरित्र बाँचने से पाप भी होगा! धर्म जबान से बोलने वाली चीज़ नहीं है। किताब में लिखा हुआ धर्म नहीं, धर्म पहले से मौजूद नहीं है। जब तुम करते हो, तब उत्पन्न होता है।

ज्ञान के अन्दर उत्पन्न कुछ नहीं होता। इसलिये वह ब्रह्म तुम्हारी रक्षा की अपेक्षा नहीं करता। तुम करोगे तब धर्म होगा, लेकिन तुम जानोगे, तब ब्रह्म होगा ऐसा नहीं है। यह अध्यात्म विद्या और धर्म का आधारभूत भेद है। धर्म का रक्षण हमको करना है और ब्रह्म हमारा रक्षण करता है। जिस काल में हम सर्वथा माया के अंधकार में पड़े हुए हैं, उस काल में भी सत्ता, चित्ता देकर हमारी रक्षा ब्रह्म ही करता है। इसलिये भगवान् ने अध्यात्म विद्या को 'अध्यात्म-विद्या विद्यानां' कहा, सारी विद्याओं में अपना स्वरूप अध्यात्म विद्या को बताया क्योंकि बाकी सारी विद्यायें हमारे अधीन हैं और हम अध्यात्म विद्या के अधीन हैं। दूसरी जगह इसे 'राजविद्या'

कहा है 'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्'।

चूंकि ब्रह्म के साथ उसका ऐक्यानुभव है, इसलिये वह धर्म के द्वारा रक्षित नहीं, बल्कि धर्म का रक्षक हो जाता है। हमें धर्म से कुछ लेना है लेकिन धर्म उससे लेगा। सृष्टि के प्रेरणास्रोत को वह जानता है। सारी सृष्टि की प्रेरणा कहाँ से है, इसे वह समझता है। इसलिये सृष्टि-चक्र के स्वरूप को वह उतना ही स्पष्ट समझता है जितना हम लोग अपने बन्धन के चक्र को समझते हैं। दोनों की समझ में यह बहुत बड़ा फ़र्क है। सृष्टि के पदार्थों को वह भी देखता है और हम भी देखते हैं लेकिन दोनों के देखने में फ़र्क है क्योंकि वह उसके परम कारण को समझता है और हम नहीं समझते। इसीलिये हमारा ज्ञान पदार्थाधीन है और उसके लिये पदार्थ ज्ञानाधीन हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य नैष्कर्म्यसिद्धि में बताते हैं 'प्रागात्मबोधात् बोधोऽयं बाह्यवस्तूपसर्जनः। प्रध्वस्ताखिलसंसार आत्मैकालम्बनः श्रुतेः।।' (४.५५) आत्मज्ञान होने के पहले जो कुछ भी ज्ञान होता है, वह बाह्य वस्तु को सामने रखकर होता है। घट सामने है तो घटज्ञान है, पट सामने है तो पटज्ञान है। ज्ञान तो होता है लेकिन सारा ज्ञान पदार्थ के अधीन होता है। अब उसका बाह्य और अन्दर का भेद मिट गया। हमको पदार्थों का ज्ञान बाह्य पदार्थों का सहारा बनाकर क्यों होता है? दृष्टांत से समझो : रोटी हमें बाहर दीखती है और भूख अन्दर दीखती है। यहाँ अनुभव की बात करना, 'प्राण का धर्म क्षुत्पिपासा हैं' ऐसा नहीं कहना क्योंकि यह बाह्य और आंतरिकता का हमने कल्पित भेद कर रखा है। अब जैसे ही आत्मबोध हुआ, उसके द्वारा बाह्य और अन्दर का सारा भेद, संसार का मूल नष्ट हो गया, अखिल संसार नष्ट हुआ। अखिल के द्वारा बताया कि यह संसार-नाश सावशेष नाश नहीं है। जैसे साँप को हमने डण्डे से मार दिया तो साँप मरा भी है नहीं भी मरा है। मरा इसलिये है कि अब उसमें जान नहीं है, हिल-डुल नहीं रहा है; और मरा नहीं इसलिये कि यद्यपि साँप के प्राण चले गये लेकिन तुम जिस साँप से डरे थे वह सूक्ष्म सर्प तो था नहीं, सूक्ष्म होता तो दीखता नहीं! स्थूल सर्प से डरे थे और वह पड़ा ही हुआ है। मरा भी है क्योंकि अब डर नहीं लग रहा है। लेकिन जिससे डरे थे, वह तो सामने ही पड़ा रह गया। यह सावशेष नाश है। संसार के सब वादी कहते हैं कि जब परमात्मा की प्राप्ति होगी तो संसार तुम्हें दुःख नहीं देगा, फिर भी अज्ञान में पड़े हुओं को दुःख होगा।

लेकिन वेदांती की अद्भुत हिम्मत है 'नेहात्मविन्मदन्योस्ति न मत्तोऽज्ञोस्ति कश्चन इत्यजानन् विजानाति यः स ब्रह्मविदुत्तमः।।' इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद उसे धन्य कहते हैं। उसका अनुभव क्या है? भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि संसार में आत्मा को समझने वाला (आत्मवेत्ता) मेरे से भिन्न कोई नहीं है, न आज तक हुआ और न भविष्य में होने वाला है। क्या फिर अज्ञानी बहुत से पड़े हैं? कहते हैं नहीं। न आज तक मेरे अतिरिक्त कोई आत्मज्ञानी हुआ, न होगा, और न है। और न ही मेरे सिवाय अज्ञानी आज तक हुआ, न है और न होगा! मेरे से भिन्न कोई अज्ञानी भी नहीं है। बड़ी भारी हिम्मत की बात है। अन्य सब वादी

कहते हैं कि 'तुम तो इस मायाजाल से छूट गये, तुम धन्य हो, इस मनुष्य शरीर में आकर तुम्हें अपना काम बनाना चाहिये, दूसरे अपनी जानें।' वेदांती कहता है कि वह कौन है जो मेरे से भिन्न है, जो अपनी जाने? अज्ञानी बना हुआ साधक मैं-मैं कर रहा हूँ, घोर अज्ञान में पड़ा हुआ पाप कर्म मैं कर रहा हूँ और उसके फलस्वरूप नरकाग्नि में मैं पड़ा हुआ हूँ, कर्म का भोग मैं कर रहा हूँ और आत्मज्ञान कर सनकादि का रूप भी मैं ही हूँ। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यह बात कुछ अटपटी-सी लगती है और ज़रा हिला देते हैं, कहते हैं नहीं जानते हुए जानता है। तुम या जानना समझते हो या न जानना समझते हो। न जानते हुए अज्ञान का आश्रय है, उसका विषय अज्ञान है और जानना ज्ञान का आश्रय है अर्थात् उसका विषय ज्ञान है। इसलिये ज्ञान, अज्ञान दोनों का आश्रय विषय केवल मैं ही हूँ। यह उस आत्मब्रह्मवित् की अनुभूति है जो अपने स्वरूप में स्थित है। वह कारुण्य का समुद्र क्यों होता है, यह इससे समझ में आ जायेगा।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश करते हुए ऐसी एक बात कही कि जिसे सुनकर मैत्रेयी कहती है 'यहीं पर मुझे मोह हो गया, आप यह क्या कह रहे हैं?' उन्होंने क्या उपदेश दिया? उन्होंने कहा कि संसार में सच्ची बात क्या है, यह तुझे बताता हूँ। सच्ची बात यह है कि सिवाय अपने आपे के, और किसी से प्रेम होता ही नहीं है! बड़ी कड़ी बात कही। लोग कहते हैं महाराज! लोग देवताओं से बड़ा प्रेम करते हैं। लेकिन याज्ञवल्क्य कहते हैं 'आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति' देवताओं के लिये देवता प्रिय नहीं होते हैं, इसलिये प्रिय होते हैं कि देवताओं से हमें क्या मिलेगा। किसलिये लोग पूछते हैं कि मन्दिर में ज़्यादा चेतन देव कौन है? इसलिये नहीं पूछते कि जो कमज़ोर देवता हो, वहाँ पूजा करेंगे तो वह भी प्रबल हो जायेगा! जैसे किस स्कूल में सबसे अच्छी पढ़ाई होती है क्या यह इसलिये पूछते हो कि कमज़ोर स्कूल में लड़के को भेजकर ज़्यादा फीस देंगे तो हमारे बच्चे से अनुभव करके मास्टर अनुभवी बन जायेगा? डाक्टर सबसे अच्छा कौन है ऐसा पूछते हैं। ऐसा नहीं कि हम अल्पज्ञ से इलाज करायेंगे, चाहे हमारी टांग कट जाये, उसका अनुभव बनना चाहिये। लोग कहते हैं कि हमको पत्नी से बड़ा प्रेम है, पुत्र से बड़ा प्रेम है। भगवान् विद्यारण्य स्वामी को एक बार संदेह हो गया कि पुत्र से माँ-बाप को बड़ा स्नेह होता है। मन में सोचा कि श्रुति ने कहा है तो बात ठीक कही होगी। एक बार किसी ने उन्हें भिक्षा के लिये निमंत्रण दिया। वहाँ पहुँचे, भोजन में देर थी। बैठे हुए थे, सोचा कि पुत्र से माता-पिता को बड़ा प्रेम होता है। देखा कि घर का पिता वहाँ आया और छोटे से नौ-दस महीने के बच्चे को उठाकर बार-बार चूम रहा था। उसने सवेरे दाढ़ी नहीं बना रखी थी। इसलिये उसकी दाढ़ी के बाल बच्चे के कोमल गाल में चुभ रहे थे। वह बच्चा रो रहा था और पिता को बड़ी उसे प्यार करके खुशी हो रही थी! विद्यारण्य स्वामी का हृदय खुल गया कि श्रुति ने ठीक कहा है 'श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति तत्पिता चुम्बति एव न सा प्रीतिः'

दाढ़ी मूछों के काँटों से बच्चा रो रहा है। बाप उसे प्रेम कर रहा है, फिर वह क्यों रो रहा है? लोग कहते हैं कि मुझे रुपयों से बड़ा प्रेम है। जिस समय डाकू आकर बंदूक दिखाता है तो झट निकालकर दे देते हैं। क्यों? प्रेम है तो रखे रहो। इस प्रकार याज्ञवल्क्य सब चीज़ों का दृष्टांत देते हुए अंत में कहते हैं कि सब चीज़ों को ऐसा समझ लो कि सब चीज़ें केवल आत्मा के लिये प्रिय होती हैं।

लेकिन इस उपदेश का तात्पर्य क्या है? जो अनुभव की तरफ जाने वाला नहीं है, वह तो इसका मतलब लगता है कि स्वार्थी बन जाओ, अपना मोक्ष ढूँढो। 'अपना मोक्ष' नाम की चीज़ वेदांत में नहीं मिलने वाली है। जब आत्मा के साथ एक हो जाता है तो अपने से अन्य कुछ उपलब्ध ही नहीं होता। श्रुति कहती है कि हमने जो कहा कि सब चीजें आत्मा के लिये प्रिय होती हैं, वह इसलिये कि जब तुम सबके आत्मा हो जाओगे तब सब तुमको प्रिय हो जायेंगे। विचार करो कि वेदांत ज्ञान के पूर्व तो संसार में कुछ भी प्रिय नहीं था क्योंकि सब कुछ आत्मा से भिन्न था। इसलिये वहाँ जितना भी प्रेम था वह केवल दिखावा था क्योंकि अन्दर से प्रेम अपने साथ था और दिखाते थे कि तेरे साथ है। अब स्थिति बदल गई, अब सब कुछ उसका आत्मस्वरूप हो गया है, इसलिये अब उसको सबके साथ प्रेम हो गया लेकिन 'उदासीनवदासीनः गुणैर्यो न विचाल्यते' दिखाता है कि हमको तुम्हारे साथ प्रेम नहीं है। ठीक उल्टी बात है। ऐसा क्यों? माता के दृष्टांत से समझ लो : माता को पुत्र से प्रेम होता है, हृदय चाहता है कि पुत्र से बैठकर बातें करे, फिर भी कहती है कि 'तेरा इम्तिहान आ रहा है, मेरे से बात मत कर।' इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता इस बात को जानता है कि यदि हम इसको प्रेम दिखायेंगे तो यह हमारे बाह्य नाम-रूप-आचरण को देखता रहेगा। अनादिकाल से आज तक यही तो हम करते रहे हैं। हम हिन्दुओं के पास 'नो-हाउ' (तरीके का ज्ञान) है कि किसी महापुरुष को कैसे मारा जाये! हमारे यहाँ जितने महापुरुष पैदा होते हैं उतने और कहीं नहीं होते। उन्हें तलवार आदि से नहीं मार सकते, उससे वे और बढ़ते हैं। इसलिये हमनें उन्हें मारने का एक बड़ा सुन्दर तरीका निकाला कि उनकी पूजा करो! यही उन्हें मारने का एक तरीका है। चूँकि हम उनकी पूजा करते हैं, इसलिये वे हमारे सिर से ऊँचे रहते हैं। इसीलिये उन्होंने जो किया, वह हमारे मतलब का नहीं है। इससे दूसरा भी कोई नहीं कह सकता कि 'तुम इतने बड़े महापुरुष को नहीं मानते' क्योंकि पूजा कर ही रहे हैं। पर मानते नहीं हैं क्योंकि वे तो पूज्य हैं। राम, कृष्ण जैसे हम नहीं बन सकते। शास्त्र ने आदर्श बनाया था, उसके अनुसार हमने बनना है। उस आदर्श को अपने से सर्वथा भिन्न करके हमने उन्हें ऐसा कर दिया कि वे हमारा आदर्श नहीं रहे। इसलिये कभी उस आदर्श की बात कही जाती है तो हाथ जोड़कर कहते हैं कि 'वे तो बहुत बड़े थे।' जैसे महापुरुष को पूजा करके मारते हैं, ऐसे ही महान् ग्रन्थ को नित्य पाठ की पोथी बनाकर ख़त्म कर देते हैं कि वे पाठ करने की चीज है। वेदों के साथ हमने यही किया। वेदों को बाँचना जानते हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने सोचा कि एक छोटी-सी किताब दे दो जिसके अनुसार लोग अपना जीवन बना लें। लेकिन उसे भी पाठ का ग्रन्थ बना लिया। वह सरल पुस्तक थी, अतः कहीं अर्थ का भान न हो जाये इसलिये एक और शर्त लगाई कि जब कोई मरने वाला हो तब पढ़ना! वह बेचारा मर रहा है, हूक-हूक कर रहा है, अर्थ उसकी समझ में नहीं आयेगा और तुम भी उसकी हूक-हूक देख रहे हो तो समझने की कोशिश नहीं करोगे। महापुरुष दीपक की तरह हमारे मार्गदर्शक थे लेकिन हमने उन्हें ऐसा बना दिया ताकि न वैसा देखें और न उन जैसा बनें।

चूँकि हम इस बात को जानते हैं, इसलिये महापुरुष बार-बार कहते हैं कि हम तुम्हारे प्रति उदासीन हैं; लेकिन उनके हृदय में तुम्हारे प्रति प्रेम है, बाहर से ही उदासीन हैं। ज्ञान से पूर्व उदासीन थे, हृदय से उसका कल्याण नहीं चाहते थे, ऊपर से प्रेम दिखाते थे। अब वे प्रेम न करें यह हो ही नहीं सकता। उनके प्रेम का जो प्रकटीकरण है, वह करुणा का रूप हो जाता है। वे तुम्हारे दुःख की तरफ दृष्टि करते हैं इसलिये उनका दृष्टिकोण बदल जाता है। आत्मज्ञान के पहले तो बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है लेकिन अब बाहर और अंदर का भेद नष्ट हो गया तो एक आत्मा ही उसका एकमात्र अवलम्बन है। केवल आत्मा ही उसे सर्वत्र अनुभव में आता है। जिसे तुम घट, पट, मठ समझते हो, वह भी उसके लिये आत्मा ही है। इसलिये उसका ज्ञान पदार्थाधीन नहीं है, बल्कि पदार्थ उसके ज्ञानाधीन हैं। इसीलिये महर्षि वाल्मीकि कहते हैं 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचम् अर्थोऽनुधावति' हम लोग पदार्थों को देखकर शब्द प्रयोग करते हैं। वे आद्य ऋषि लोग जैसा शब्द प्रयोग करते हैं, वैसा ही सामने अर्थ प्रकट हो जाता है। स्वप्नवत् समझ लो : तुम्हारी दुकान में जो सूत की गाँठ आती है, वह दिल्ली क्लाथ मिल से बनकर आती है। वह आने से पहले उनके स्टाक रूप में और वहाँ से पहले गोदाम में पड़ी रहती है और फिर तुम्हारे घर में आता है। लेकिन स्वप्न में जो गाँठ आती है, वह कहाँ से बनकर आती है? उसी समय आती है। पहले तुम्हारे मन में आता है कि दुकान में गाँठ आ जाये, और आ जाती है। स्वप्न में पहले संकल्प होगा कि गाँठ आ जाये, तभी आयेगी। ठीक इसी प्रकार यह सारा जाग्रत् ब्रह्मविदुत्तम के लिये स्वप्न है। इसलिये सबसे पहले उसके अन्दर जैसा ज्ञान है, तदनुकूल ही पदार्थ सामने आ जाता है।

यही सृष्टि का प्रेरणास्रोत है। सारी सृष्टि का प्रेरणास्रोत ज्ञान से पदार्थ हैं। 'आत्मनः आकाशःसम्भूतः' यह केवल किसी एक युग में, अति प्राचीन काल में आत्मा ने आकाश उत्पन्न कर लिया था, ऐसा नहीं समझना क्योंकि काल की विवक्षा नहीं है। इसलिये भगवान् भाष्यकार छांदोग्यभाष्य में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'आसीत्' पद में काल की विवक्षा नहीं है; आज से इतने करोड़ साल पहले आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ था ऐसा तात्पर्य नहीं है। इस समय में भी वस्तुतः आत्मा रहता है, उस ज्ञान से ही आकाश, वायु इत्यादि सब उत्पन्न होते हैं। पहले से हैं और फिर ज्ञान होता है ऐसा नहीं। ज्ञान से ही

उत्पन्न हैं लेकिन जब तक तुम्हारा भेद भ्रम निवृत्त नहीं होता है, तब तक अज्ञान नष्ट नहीं होता है।

अब तक प्रतीति है कि पदार्थ है तब ज्ञान है, लेकिन जब ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है तब पता चलता है कि ज्ञान है, तब पदार्थ है। यह करुणा का रूप हुआ। यदि पदार्थाधीन ज्ञान है तो तुम किसी पर क्या करुणा कर सकोगे? यदि दिल्ली क्लाथ मिल से ही मनुष्य को शान्ति और सुख मिलना है, सर्दी दूर होनी है तो तुम्हारी करुणा सीमित रहेगी। लेकिन यदि तुम्हारे अन्दर वह चीज़ है, वह स्रोत तुम्हें मिल गया तो उस स्रोत के मिलने पर भीषण सर्दी के अन्दर गंगोत्री में गोमुख के अन्दर वस्त्ररहित होकर, दाँत किटकिटाते हुए, शरीर थर-थर काँपते हुए बैठकर भी यदि तुम्हें आनन्द दिया जा सके तो करुणा हुई। बाह्य पदार्थ किसी को देना करुणा नहीं है। छोटा बच्चा जब रोता है और माँ सोचती है कि 'मुझे खिचड़ी बनानी है' तो उसके हाथ में लालीपाप (डण्डे पर लगी हुई मिश्री) पकड़ा देती है, वह उसे चूसने लगता है। कोई उससे भी ज़्यादा चतुर होती है तो एक रबड़ आता है जो उसके मुँह में डाल देती है, सोचती है कि पाँच पैसे बेकार हो जायेंगे। थोड़ी देर तक वह चीज़ चूस कर जब बच्चे को कुछ नहीं मिलता तो गुस्से में फैंक देता है। लालीपाप से भूख नहीं मिटी तो उसे भी फैंक देता है और रोने लगता है। यह माता की करुणा नहीं है। करुणा या प्रेम तब है जब प्रेम से स्तन खोलकर उसके मुँह में दे और १५ मिनट तक उसे दूध पिलाये, तब उसकी भूख मिटे। इसी प्रकार से तुम्हें एक पुत्र की और धन की ज़रूरत है तो तुम्हें पुत्र और धन दे दिया। यह लालीपाप दे देना है कि बच्चा भूल जाये। लेकिन उसे चूसने से भूख तो मिटनी नहीं है। लगेगा, दस लाख से कुछ नहीं, एक करोड़ मिल जाता तो अच्छा था। दस लाख हनुमान जी से मिले थे। एक से दस दुकानें खुलें इसके लिये भैरव देवता की पूजा करो। चाहे बाहर का, चाहे अन्दर का देवता समझो, लेकिन उससे भूख नहीं मिटनी है। थोड़ी देर बाद फिर किसी चीज़ की कामना हुई तो पुनः रोने लगता है। कुछ लोग और चतुर होते हैं जिन्होंने 'नारा' नाम की सूखी रबड़ की चीज़ निकाली। भैरव पूजा से कम-से-कम कुछ तो शान्ति मिली, लालीपाप चूसा तो कुछ मिठास तो मिला। उन्होंने नारा दिया 'गरीबी हटाओ।' दो साल बाद भी वही का वही हाल, गरीबी तो कुछ हटी नहीं। लालीपाप देना ही जब करुणा नहीं तो यह नारा देना कहाँ से करुणा होगी! करुणा वह है जिसके द्वारा वस्तुतः शान्ति से बैठकर बच्चे को दूध पिलाया जाये।

वह दूध क्या है? आजकल की मम्मियाँ जैसा करती हैं, वह नहीं है। ईजिप्ट देश में एक 'मम्मी' हुआ करती है। मरने वाले की लाश मसाला भर कर रख देते हैं, दीखता ज़िंदा आदमी की तरह है लेकिन मुर्दा होता है, उसे 'मम्मी' कहते हैं। वह कुछ करने-धरने योग्य नहीं होता। कलकत्ते में ऐसी दो मम्मियाँ वहाँ से लाई हुई रखी हैं। इसी प्रकार आजकल एक मम्मी जाति है, उसके स्तन भी दीखते हैं लेकिन वे दूध के काम के नहीं हैं, दिखती माँ की तरह हैं। यहाँ

उनकी बात नहीं कर रहे हैं। माता अपने स्तन का दूध पिलाती है, अपना अभिन्न खून पिलाती है। उस खून को ही दूध बनाकर बच्चे को पिलाती है। उसी प्रकार से ब्रह्मवेत्ता की करुणा यह है कि उसका जो अपना स्वरूप है, जो उसका खून ब्रह्म है उस ब्रह्म को ही वह शब्दों के द्वारा किसी तरह सफेद करके, मीठा करके कहता है 'बेटा! पी ले, यह ताकत की चीज़ है।' बड़े प्रेम से छाती से चिपका कर पिलाता है। अब उसकी भूख मिट जाती है। श्रवण, मनन निदिध्यासन से उसका पान किया। अब जब बच्चे को हिण्डोले पर रखता है तो वह रोता नहीं है। दूध पिये बच्चे को हमारे यहाँ आत्मज्ञानी का दृष्टांत बताया है कि वह दूध पिये बच्चे की तरह तुष्ट हुआ रहता है। इस करुणा के समुद्र पर आगे विचार करेंगे।

# प्रवचन-३०

१८–४–७२

परब्रह्म-महिषी चिदानंद-स्वरूपिणी संवित् भगवती के चरणों की आराधना क्यों कठिन है, यह बताया। जब तक तरलकरण हैं, जब तक इन्द्रिय और मन स्थिर और निर्मल नहीं हो जाते, तब तक उसके चरणों की आराधना सम्भव नहीं है। इसीलिये जो योग्य आराधक हैं, उनको यहाँ धन्य बताया। ऐसे व्यक्ति वास्तविक करुणा के समुद्र हो जाते हैं। जैसे माता-पिता अपने बच्चे को अपने स्वरूप का ही पान कराते हैं उसी प्रकार अपने आत्मस्वरूप को निचोड़ कर वे संसार के ताप से दग्ध व्यक्तियों को देते हैं। जैसा कि पहले बताया कि वे केवल बाह्य पदार्थों को नहीं देते, बच्चे को फुसलाने वाली चीज़ नहीं देते। जब बच्चे को माँ दूध पिलाती है तो कभी ध्यान दिया कि बच्चा क्या करता है? स्त्रियों को पता होगा। कभी पीते-पीते वह दाँत मारता है। मम्मियों को तो पता नहीं है, माँ को पता है। कभी वह इतनी ज़ोर से सिर मारता है कि स्तन में गाँठ पड़ जाती है। कभी इतनी ज़ोर से लात मारता है कि छाती में दर्द हो जाता है, कभी यदि नाखून काटने में देरी हो गई हो तो नाखूनों को मारता है, दूध पिलाती हुई माँ चीख भी पड़ती है, गाली भी दे जाती है। लेकिन उसके बाद फिर एक स्तन से मुँह को हटाकर दूसरे स्तन में लगा देती है, उठाकर फैंकती नहीं है।

ठीक इसी प्रकार से जीव ने आज तक शिव का आनंद तो लिया नहीं, उसको क्या पता कि दूध पिलाने वाला अपने कौन से अंश से हमको पुष्ट करना चाहता है! जैसे बच्चा दाँत मारता है, वैसे ही भेदवादी अभेद का खण्डन करता है। लेकिन उसको कोई क्रोध नहीं आता, उल्टा वह कहता है 'तुम व्यावहारिक दृष्टि से इसे द्वैत समझते हो, हम वह बात नहीं कह रहे हैं, हम व्यवहारातीत की बात कर रहे हैं।' वह जानता है कि वह बेचारा समझता नहीं है। इसकी बुद्धि में अभी वह सामर्थ्य नहीं है कि समझ सके। जब कभी वैराग्य, त्याग की बात आती है तो सिर मारता है, कहता है कि इस बात को छोड़ दो। बड़े-बड़े विद्वानों के ग्रंथ देखते हैं, वे लोग कहते हैं कि शंकर ने अद्वैत तो बड़ा सुन्दर बताया, बड़ा अच्छा लिखा, उनका दर्शन, 'मैटाफिज़िक्स' बड़ा अच्छा है, लेकिन उनके नीति शास्त्र (ऐथिक्स) में जगह-जगह जो सर्वकर्मसंन्यास पर ज़ोर दिया है, वह संन्यासी होने के नाते पक्षपात कर गये! आचार्य कहते हैं कि 'ज्ञान तो सब आश्रमों वालों को हो सकता है लेकिन मोक्ष सिवाय सर्वकर्मसंन्यास के नहीं हो सकता है।' इस पर कहते हैं कि शंकर ज़रा पक्षपात कर गये। उनसे कहो कि वेद का क्या करोगे! जैसे वेद ने कहा है 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' ज्ञान से मोक्ष होता है, वैसे ही वेद ने कहा 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'। तब कहते हैं कि फिर शंकर को नहीं तो याज्ञवल्क्य को गाली दो! यह सब सिर पटकना क्यों? क्योंकि वैराग्य वाली बात समझ में नहीं आती। यदि भगवान् भाष्यकार का दर्शन ठीक है और

पक्षपातरहित है, तो सभी बातें ठीक होंगी क्योंकि मनुष्य का मन एक ही हुआ करता है। यदि एक जगह पक्षपात होगा तो सर्वत्र पक्षपात का संदेह आ जायेगा।

ज्ञान के द्वारा जब जडसहित अज्ञान का नाश हो गया तब यह कर्त्ता, कर्म, करण भाव कहाँ से लाओगे? जब सब कुछ आत्मरूप हो गया तो आगे किसी भी चीज़ का कर्त्ता, कर्म कहाँ से आयेगा? तब झट उनका योगशास्त्र लुढ़क जाता है। योगशास्त्री मानता है कि समाधिकाल में निर्विकल्प अवस्था और जाग्रत् काल में जगत् है, यह आधारभूत फ़र्क योग और वेदांत का है। योगी कहता है कि किसी काल में निर्विकल्प अवस्था समाधि, और किसी काल में जगत् है। जो लोग सर्वकर्मसंन्यास को नहीं पचा पाते, वे कहते हैं कि 'विचारकाल में कर्त्ता, कर्म, करण भाव से रहित और व्यवहार काल में फिर कर्त्ता, कर्म, करण वाला अर्थात् सारे के सारे कर्त्तव्य फिर सिर पर आ गये, इसका क्या कारण है?' यही सिर मारना है। उससे माँ के स्तन में गाँठ भी निकल आती है। वह कहता है कि इसे कैसे समझायें!

कभी नाखून मारता है। नाखून ज़ोर से लगे तो स्तन से दूध की जगह खून निकलता है। कहते हैं कि 'यदि तुम्हारा सर्वकर्मसंन्यास कर्त्ता, कर्म, करण भाव नहीं है तो तुम्हारा यह शरीर खाये-पिये बिना कैसे चलता है?' इससे भी उसे कोई क्रोध नहीं आता क्योंकि जानता है कि इसकी बुद्धि ही जड है, यह देह को देखकर विचार कर रहा है। कर्म का मतलब होता है, किसी उद्देश्य को लेकर जो किया जाये। आत्मा से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये उसका उद्देश्य केवल आत्मा ही है। इसीलिये गूढार्थदीपिका में आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि आत्मा के उद्देश्य से देह, इन्द्रिय, मन आदि संघात की प्रवृत्ति श्लाघ्य है, प्रशंसनीय है, और अनात्मा के उद्देश्य से कार्य-करण-संघात की प्रवृत्ति निन्दित है। क्योंकि उसका प्रतिक्षण विचार केवल प्रत्येक प्राणी के हृदय में आत्मा के ज्ञान को प्रवेश कराना ही है, इसलिये वह कर्म नहीं है। लोक में भी दो तरह से आदमी कर्ज लेता है। एक ज़रूरत से कर्ज़ा लिया जाता है और दूसरा, कर्ज़ा चुकाने के लिये लिया जाता है। पाँच हज़ार की हुण्डी का भुगतान आ रहा है, वह कहता है 'मैं इसे आगे नहीं बढ़ाऊँगा, मेरे को मेरा रुपया वापिस चाहिये।' तुम्हारे पास रुपया नहीं है, लेकिन दूसरे से हुण्डी लेकर उसे देते हो। विचार करना, तुमने नया कर्ज़ा लिया लेकिन लेते हुए भी तुम्हारे ऊपर नया कर्ज़ा नहीं हुआ क्योंकि पुराना कर्ज़ा चुक गया। ठीक इसी प्रकार से आत्मज्ञानी (ब्रह्मवेत्ता) का कर्म, कर्म इसलिये नहीं है कि वह जितना भी बोलना-चालना, उठना-बैठना करता है, वह उस अनात्मभाव के नाश के लिये। कल बताया था कि किसी अंतःकरण में मैं अज्ञानी हूँ और किसी अंतःकरण में मैं ही ज्ञानी हूँ। मेरे से भिन्न न कोई ज्ञानी और न ही कोई अज्ञानी है। इसलिये एक अंतःकरण के ज्ञान का दूसरे अंतःकरण के अज्ञान में संचार करके मैं अज्ञानरूप कर्म का नाश कर रहा हूँ, इसलिये वह कर्म नहीं है। आत्मज्ञान से अतिरिक्त जो क्रिया होती है, वह सारी-की-सारी कर्म है।

भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर प्रश्न उठाते हैं कि संन्यासी को भी श्रुति ने कुछ विधि कर ही दी है, जैसे 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' भिक्षा करता है। वहाँ ही भाष्य की पंक्ति है 'न हि वरविघाताय कन्याम् उद्वाहयति'; कहते हैं कि यह भिक्षा की *विधि* नहीं है। यहाँ तो यह कहा है कि केवल अपने शरीर-निर्वाह के लिये भिक्षा के अतिरिक्त और कुछ न करे। उसमें दृष्टांत दिया कि कोई अपनी लड़की की शादी इसलिये नहीं करता कि मेरी लड़की मंगली है, इसलिये लड़का (वर) मर जाये! इसी प्रकार से आत्मज्ञानी के लिये विधि करे कि वह भिक्षा करे, यह तो उल्टा काम हो जायेगा। किंतु संभव है कि किसी काल में अत्यंत क्षुधा इत्यादि से पीडित हो जाने पर भी उससे कहा जाये कि 'खाओ-पियो कुछ नहीं।' भगवान् भाष्यकार जानते थे कि समाज तो इस सर्वकर्मसंन्यास को कभी समझने वाला नहीं है, इसलिये समाज उससे सारा ज्ञान लेने के बाद भी उपदेश देगा कि 'कुछ न करो तो बहुत अच्छा है, खाओ-पियो भी नहीं।' जैसे आज, सौ रुपया महीना लेने वाले अध्यापक को पाँच लाख रुपया अपने सचिवों पर खर्च करने वाली प्रधानमंत्रिणी, लाख रुपया रोज़ अपनी सुरक्षा के ऊपर खर्च करने के बाद कहती हैं कि 'देश के लिये बलिदान करना चाहिये, राष्ट्र के लिये त्याग करना चाहिये क्योंकि आप अध्यापक लोग हो!' इसी प्रकार नित्य-निरंतर समाज के कल्याण में प्रवृत्त होने वाले को भी समाज यही कहेगा कि चार रोटी भी न खाओ तो अच्छा है। उसके अंदर कारुण्य का समुद्र है ही, उसको गुस्सा तो आयेगा नहीं, लेकिन मन में यह सम्भावना आ सकती है कि शरीर का रक्षण ज़रूरी है। ये लोग नहीं देना चाहते तो चलो थोड़ा-सा खेती ही कर लेंगे और बाकी समय समाज-कल्याण में लगा देंगे। यह सम्भावना किसी के हृदय में आ सकती है, इसलिये श्रुति ने कहा कि यदि एक मिनट का समय भी तुमने अपने शरीर-निर्वाह के लिये लगा दिया, सोचा कि 'कम से कम खेती ही कर लूँ या घंटे भर कहीं काम ही कर लूँ', तो फिर तुम्हारा आत्मज्ञान के पथ से पतन हो गया क्योंकि कर्मसंन्यास नहीं रहा। अपनी देह की रक्षा के लिये किसी हालत में कुछ करना ही नहीं है, यह श्रुति का आग्रह है क्योंकि यदि दूसरे का कल्याण करने के लिये भी अनात्मा के लिये कुछ काल के लिये भी प्रवृत्ति कर ली तो जिसे हिन्दी वाले कहते हैं कि यह कर्म अंगुली पकड़कर पउँचा पकड़ता है।

एक कथा सुनी होगी : एक महात्मा केवल अपनी कौपीन रखते थे और कुटिया में रहकर भजन करते थे। एक बार एक चूहा उनकी कुटिया में आ गया। उनके पास लंगोटी रखने के लिये कोई गोदरेज की अल्मारी तो थी नहीं, चूहे ने वह लंगोटी काट दी। दूसरे दिन बाहर गये तो किसी ने पूछा कि 'लंगोटी ऐसी कैसे?' कहा 'क्या बताऊँ, चूहे ने काट दी।' उसने नई दे दी। अब चूहे को रस मिल गया, दो-चार दिन बाद उसने फिर से काट दिया, फिर गये, नई ले आये। पाँच-सात बार ऐसा हुआ तो नई लंगोटी देने वाला कहने लगा कि 'रोज़-रोज़ चूहे से कटवाते रहोगे तो कैसे काम चलेगा!' महात्मा को रात भर तो जगना नहीं और चूहे का क्या

ठिकाना, कब आ जाये। उसने कहा ‘एक बिल्ली पाल लो।’ भोले-भाले महात्मा थे, बिल्ली पाल ली। अब भिक्षा में बिल्ली के लिये दूध माँगने लगे। पाँच-सात दिन बाद वह कहने लगा कि ‘रोज़-रोज़ दूध कैसे मिलेगा? वहाँ घास है, एक गौ पाल लो, दूध भी मिलेगा और गो-सेवा भी हो जायेगी।’ महात्मा ने एक गाय भी ले ली। गाय के लिये घास चाहिये और सर्दी में सब घास सूख जाती है। गाँव का मामला था, थोड़े दिन तो लोगों ने घास दी, लेकिन रोज़-रोज़ कहाँ से मिले! कहने लगे ‘आप जहाँ रहते हो, वहाँ ज़मीन तो है ही, थोड़ी बोकर दाने डाल दिया करो तो अनाज भी निकल आयेगा और घास भी मिल जायेगी।’ अब बेचारे ने वहाँ खेती कर ली। अनाज की खेती अच्छी हो गई, दाने चिड़ियाँ चुग जायें, लेकिन वे उड़ाते नहीं थे, सोचा अपने को घास चाहिये। साल-छह महीने के बाद वहाँ से पटवारी लोग निकले, कहने लगे कि ‘मालगुजारी लाओ।’ महात्मा कहने लगे ‘मेरे पास कुछ नहीं है, दाना चिड़ियाँ चुग गयीं और चारा गाय के काम आ गया, अपने लिये कुछ नहीं किया।’ उन्होंने कहा ‘यह सब कुछ मान्य नहीं है, खेती करते हो और कहते हो कि चिड़ियाँ चुग गयीं!’ पकड़ कर ले गये। वहाँ का न्यायाधीश कहने लगा कि ‘कुछ तो जमा करा दो।’ महात्मा कहने लगा ‘मैं सच कह रहा हूँ कि दाना चिडियाँ चुग गई।’ अब न्यायाधीश को भी कुछ संदेह हो गया कि कुछ तो ज़रूर रखा होगा, चिड़ियाँ २०-२५ प्रतिशत ही चुग गई होंगी, बाकी तो बचा होगा। कहने लगा ‘चिड़ियाँ चुग गई तो भी दण्ड देना पड़ेगा।’ उस ज़माने का जो दण्ड था, उसके अनुसार धूप में पीठ पर पत्थर बाँध कर सवेरे से शाम तक खड़ा कर दिया। महात्मा धूप में खड़ा है, ऊपर सिर जल रहा है, नीचे पैर जल रहे हैं। सोच रहा है कि मैंने कौन-सा ऐसा दुष्कर्म किया कि जिसके लिये यह फल भोगना पड़ा? महात्मा वेदांती थे, यह कहकर नटने वाले नहीं थे कि ‘पूर्व जन्म का कुछ होगा।’ सोचते-सोचते अंत में विचार हुआ कि यहाँ अपने शरीर के लिये लज्जा-रक्षणार्थ कौपीन मेरे हृदय में बैठी हुई थी, अर्थात् हृदय में यह भावना बैठी हुई थी कि शरीर की लज्जा ढकी रहे। यदि समाज नहीं चाहता कि इस शरीर की लज्जा ढकी रहे, तो श्रुति ने वहाँ भी कह दिया कि तुम चिन्ता मत करना ‘न दण्डं न कमण्डलुं नाच्छादनं चरति परमहंसः।’ यदि समाज न दे तो यह समाज का टण्टा, हमारा क्या टण्टा! बड़े प्रेम से लंगोटी उठाकर फैंक दी और ज़ोर से हँसने लगे कि ‘मज़ा आ गया! इस लंगोटी ने यह सारा काण्ड किया।’ लोगों ने समझा कि गर्मी के कारण महात्मा का दिमाग खराब हो गया है। कर्मचारियों ने पूछा तो कहने लगे कि ‘खराब हो गया था, अब ठीक हो गया है।’ पूछा ‘नंगा क्यों हो गया?’ बोले ‘इसी के लिये सारा टण्टा किया था। न मेरे मन में इस शरीर के लिये कौपीन की कामना हुई होती और न आज यह भोगना पड़ता।’ यह अंगुली पकड़कर पउँचा पकड़ने की बात है। न्यायाधीश ने भी समझ लिया कि सच्चे महात्मा हैं। इसलिये श्रुति ने कहा कि यदि शरीर के निर्वाह के लिये तुमने किंचित् कर्म में प्रवृत्ति कर ली, अनात्म पदार्थों के लिये थोड़ा भी करना शुरू कर दिया तो वह अनात्म पदार्थों

का चिंतन तुम्हें धीरे-धीरे कहाँ ले जायेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। समाज के कल्याण के लिये सब करो, अपने शरीर के निर्वाह के लिये भी कुछ न करो, वह समाज पर छोड़ो। उसकी जब तक आवश्यकता है, तब तक करो, नहीं आवश्यकता हो तो इस टट्टी-पेशाब के थैले को लेकर घूमने की क्या ज़रूरत है!

इसलिये श्रुति ने कहा 'भिक्षाचर्यं चरन्ति', क्योंकि भिक्षा के लिये अपने शरीर के लिये कुछ नहीं किया जाता। जो मिल गया और जो समाज समझता है कि यह इसके काबिल है, वह समाज देगा। हम अपनी योग्यता बतायें यह नहीं, क्योंकि यह कर्म हो जायेगा। अर्थात्, 'मैंने यह किया इसलिये यह मिला', ऐसा नहीं। एक बार हमारे गृहमंत्री श्री गुलजारीलाल नंदा थे। उन्होंने कहा कि महात्मा लोग कितने अस्पताल चलाते हैं, पाठशालायें चलाते हैं, इसकी एक सन्नद्ध सारी कार्यवाही छप जाया करे तो लोगों को पता लगे कि महात्मा क्या कर रहे हैं। उन्होंने एक भारत साधु समाज बनाया था, वहीं की एक बैठक में सब बैठे थे। हमने कहा कि 'हम लोगों की बदनामी क्यों करवाते हो? कर्म हमारे लिये दूषण है, भूषण नहीं है। सारे भारतवर्ष में माता नौ महीने बच्चे को पेट में रखती है, फिर उसके पैदा होने के बाद खुद उसके टट्टी-पेशाब में सोती है। उसकी एक सन्नद्ध सूची तैयार कराओ कि अमुक समय तक टट्टी-पेशाब में सोई, तब पता लगे कि औरतें कितना काम करती हैं!' हँसने लगे कि यह तो सब जानते हैं कि वह यह सब अपने बच्चे के लिये करती है। हमने कहा वह अपने बच्चे के लिये करती है और हम तो खुद अपने लिये करते हैं। जिनके लिये तुम कह रहो हो, वे हमारा रूप हैं। बच्चा तो बड़ा होकर माँ से अलग हो भी सकता है, लेकिन जो अपना आत्मा है, वह कभी बड़ा होकर भी अलग नहीं होगा। जब तक वह अपने को अलग मानता है, तब तक उसे बड़ा करना है। जब बड़ा हो जायेगा तो समझेगा कि अलग नहीं है। माध्यंदिन शाखा का शतपथ ब्राह्मण कहता है, 'हे देवता, तुम और मैं एक ही हूँ।' माँ बच्चे के लिये करती है और हम अपने लिये करते हैं, उस पर भी कहते हो कि उसकी एक सन्नद्ध सूची तैयार करो! कितनी फजीते की बात है। जो माँ अपने बच्चे को बिल बनाकर देने लग जाये 'मैंने तेरे लिये इतना किया', तो बच्चा कहेगा कि इससे अच्छा तो मुझे अनाथालय भेज देती! इसलिये श्रुति ने कहा 'भिक्षाचर्यं चरन्ति।' गीता में भी भगवान् ने कहा 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' यह उसका कारुण्य है कि जब बच्चा नाखून मारकर खून भी निकालता है, दूध नहीं पीता तब वह जानती है कि अभी बच्चा है, नहीं समझता है। इसी प्रकार वह आत्मा और अनात्मा के कार्य-कारण संघात की प्रवृत्ति के भेद को नहीं समझता। यह समझता है कि कार्य कारण भाव की प्रवृत्ति अनात्मा के लिये होती है। इसलिये जहाँ-जहाँ यह कार्य-कारण भाव की प्रवृत्ति देखता है वहाँ अनुमान करता है कि यह हो रहा है तो अनात्मा के लिये हो रहा है, मेरे आत्मा के लिये हो रहा है यह नहीं समझता।

इस प्रकार की करुणा का विकास कैसे होता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने तीन सोपानों के

द्वारा इसे बताया। सबसे पहला सोपान है कि जो ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाला है, वह क्या करे? 'इमं ग्रन्थम् उपादित्सुः अमानित्वादिसाधनः। यत्नतःस्याद् न दुर्वृत्तः प्रत्यग्धर्मानुगोह्ययम् ।।४.७०।।' नैष्कर्म्यसिद्धि में कहते हैं कि पहला कदम यह है कि जो इस ग्रंथ को अर्थात् इस ज्ञान को ग्रहण करने की इच्छा वाला हो वही इसे ग्रहण कर भी सकेगा। क्योंकि यह निवृत्ति धर्म, प्रवृत्ति धर्म की तरह, डण्डे मारकर नहीं कराया जाता! यही धर्म और अध्यात्म विद्या में, प्रवत्ति और निवृत्ति में फ़र्क है। प्रवृत्ति डण्डे मारकर कराई जाती है, निवृत्ति स्वेच्छा से होती है। समाज के भय से, ईश्वर के भय से, नरक के भय से, माता-पिता या सास-ससुर के भय से, बिना इच्छा के जो कर्म किया जाता है, वह प्रवृत्ति धर्म हो जाता है और बिना किसी भय से, केवल प्रेम के कारण किया जाता है तो वही निवृत्ति धर्म हो जाता है। गीताभाष्य के प्रारंभ में भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जो अभ्युदय के धर्म हैं, वही निःश्रेयस के धर्म हैं। अभ्युदय करने वाले जो कर्म हैं, उन्हीं कर्मों को जब हम ईश्वर के प्रेम से परमेश्वर के लिये करते हैं तब वही निःश्रेयस (कल्याण) के लिये, मोक्ष के लिये हो जाते हैं। कर्म अलग नहीं हैं। इसीलिये वेदांत शास्त्र कभी किसी को जबरदस्ती, बिना इच्छा के कुछ नहीं करवाता। अपनी इच्छा से नास्तिक बनो, यह अच्छा है हमारे कहने से आस्तिक बनो यह अच्छा नहीं। निवृत्ति धर्म वाला कहता है कि जब तक तुम्हारे में इच्छा उत्पन्न नहीं करायेंगे, तब तक आगे नहीं चलेंगे। याज्ञवल्क्य जनक के पास जाते हैं, जनक से बातचीत होती है, वे उपदेश देते हैं। जनक प्रसन्न होकर कहते हैं कि 'साठ हज़ार गायें ले जाओ। बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है।' याज्ञवल्क्य ने कहा 'मेरे बाप ने मना कर रखा है। जब तक तेरे समग्र संशय निवृत्त नहीं होंगे, तब तक मुझे तेरे से कुछ नहीं लेना है, आगे पूछो।' जब सारे संशय निवृत्त हो गये तब जनक कहते हैं कि 'मैं अब अपने आपको मन बुद्धि सहित अर्पित करता हूँ।' याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'अब ले लेता हूँ। पहले तो जबरदस्ती, बिना इच्छा के, बदले में दे रहे थे।' हमसे कुछ मिला है, उसके बदले में दे रहे हो तो उसमें रस नहीं है। 'हमको जो मिला है, उसके बदले में हम कुछ नहीं कर सकते। हमारा देह, प्राण इन्होंने ले लिया लेकिन जो मिला, उसके लिये हम कुछ कर नहीं पाये' यह इच्छा उत्पन्न करनी है।

प्रवृत्ति धर्म वाला इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि उस बेचारे में धैर्य नहीं है, वह झट फल चाहता है। साल, दो साल, दस साल हो गये, सोचता है कि हम मर जायेंगे तो कुछ नहीं हुआ, हमारा यह लड़का ऐसा का ऐसा रह गया। उत्तम ब्रह्मवेत्ता कभी भी बिना मर्ज़ी के नहीं कहता क्योंकि उसमें धैर्य है। वह कहता है कि तुम दस-बीस साल गिन रहे हो, अनंत कल्प बीत गये, यह माया नहीं छूटी, दस-बीस जन्म और नहीं छूटेगी तो क्या हो जायेगा! उसकी दृष्टि अनंत ब्रह्माण्ड को विषय करती है और तुम्हारी दृष्टि दस-बीस साल को विषय करती है। तुम्हारी दृष्टि कहती है कि 'हम मर जायेंगे, यह लड़का बिगड़ा का बिगड़ा रह जायेगा', उसकी दृष्टि है कि हम कभी मरने वाले ही नहीं हैं और न तुम मरने वाले हो। इसलिये उसके अन्दर तो पूर्ण धैर्य है, उसे कोई जल्दबाजी नहीं है।

इस धैर्य के कारण ही वह कहता है कि जब तुम्हारे अन्दर इस ज्ञान को ग्रहण करने की इच्छा हो, तब अमानित्वादि साधनों को करो। वेदांत ज्ञान में प्रवेश करना चाहो तो सबसे पहले अमानित्वादि साधनों को करो, यदि इच्छा है तो करो, जोर-जबरदस्ती का मामला नहीं है। बहुत से लोग ज्ञान में भी जबरदस्ती करना चाहते हैं। कहते हैं  मैं जैसा समझता हूँ, वैसा तू समझता क्यों नहीं? वह समझ तो जब आये, तभी आयेगी। प्रवृत्ति धर्म को जबरदस्ती कराया जाता है। उपदेश किया जाता है कि सच बोलो। झूठ बोलने से फ़ायदा नज़र आता है तो आने दो। सच बोलो  यह प्रवृत्ति धर्म है, इसमें जबरदस्ती चलेगी। जब सच न बोलने पर हृदय में तड़पन होने लगे तब सत्य बोलना जबरदस्ती का कार्य नहीं रहा। हमने कहा  चोरी नहीं करनी चाहिये। तुमने कहा  'ठीक है, लेकिन इसके बिना काम नहीं चलता।' हमने कहा  'पाप लगेगा', तो कहते हो 'पाप तो लगेगा, लेकिन काम नहीं चलता है।' यह कहने वाला अब तक प्रवृत्ति धर्म में लगा रहा, निवृत्ति धर्म कुछ नहीं किया। भगवान् ने भी जहाँ साधन बताये, वहाँ सबसे पहला साधन अमानिता बताया 'अमानित्वम् अदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः। इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्। असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।' (१३-७,८,९)।। इत्यादि सारे-के-सारे साधन भगवान् ने वहाँ गिनाये। इन सबमें पहला साधन अमानिता है। जब तक अपने आपको कुछ मानते रहोगे, तब तक इसमें प्रवेश दुर्लभ है। जिसमें अमानिता नहीं रहती है, उसमें आगे के सारे साधन व्यर्थ हो जाते हैं। मैं पढ़ा-लिखा, मैं धन वाला, मैं इतना व्यापार करने वाला, मैं अमुक जगह पढ़ने-पढ़ाने वाला, मैं इस देश का राज्य करने वाला आदि  जब तक ये सब हैं तब तक इस वेदांत ज्ञान के अन्दर प्रवेश होने के लिये इच्छा उत्पन्न ही नहीं हुई। हमको आगे जाकर उपदेश करना है कि संसार के अन्दर चींटी और भुनगे से लेकर इन्द्र पर्यन्त तुम हो!

भारतवर्ष में बड़ा आन्दोलन हो रहा है कि हरिजनों से भेदभाव मिटाओ। यह नहीं मिट सकता। जानते हो क्यों? तुम ब्राह्मण को यह समझा कर तैयार कर लोगे कि हरिजन के साथ खा लो लेकिन हरिजन को इस बात के लिये तैयार नहीं कर पाओगे कि धोबी के साथ खाओ। बड़ी जाति वाले को किसी तरह समझा-बुझाकर, दबाव डालकर तैयार कर लोगे लेकिन हरिजन को नहीं समझा पाओगे। यदि कभी हरिजनों के साथ प्रेम से बैठो तो पता लगेगा कि तुम्हारे जात-पाँत से उनका जात-पाँत २५ गुना ज़्यादा है। इसका क्या कारण है? तुम लोग पढ़े-लिखे हो, इसलिये कुछ समानता की बात समझ सकते हो। प्राचीन संस्कारों से कोई प्रवृत्ति आती भी है तो समझते हो कि ग़लत है। लेकिन उनमें तो ज्ञान है नहीं, उनकी समझ में नहीं आयेगा। इसलिये यह भेद नहीं मिट सकता।

ठीक इसी प्रकार से जब तक हम देह आदि अनात्म पदार्थों के अन्दर इच्छा वाले हैं, तब तक इस देह आदि संघात से निवृत्त होने वाली अवस्था के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं बैठता। हम

स्वयं ही वस्तुतः अछूत की जगह हैं। इसलिये सबसे बड़ा अछूत हमारी दृष्टि में आत्मा है क्योंकि आत्मा का स्पर्श तुमने किया तो तुम्हारी जितनी मान्यतायें हैं, वे सारी की सारी इकट्ठी जल गयीं। तुम कहते हो 'एक-दो जातियाँ जलें, वहाँ तक तो ठीक है। मैं वैश्य नहीं, यह बात तो ठीक है लेकिन मैं मनुष्य भी नहीं यह कैसे हो सकता है! मनुष्य तो मैं ज़रूर हूँ।' यह एक अनुभव की बात बताते हैं। वैश्य कहे कि ब्राह्मण हमारे हाथ का खाने लगे, जात-पाँत मिट गई। अच्छा हुआ। जब वैश्य से कहते हैं कि 'हरिजन के यहाँ से निमंत्रण आया हुआ है, वहाँ चलकर खा लो' तो वह कहता है 'नहीं महाराज! ऐसा कैसे हो सकता है!' द्विजों में एकता हो लेकिन हरिजन के साथ तो नहीं। मैं वैश्य नहीं हूँ, द्विज हूँ। 'मैं वैश्य हूँ' यह अभिमान छोड़ना मीठा लगता है और 'मैं द्विज हूँ' यह छोड़ना कड़वा लगता है। इसी प्रकार जिन अभिमानों को तुम नहीं करना चाहते हो, वे अभिमान तो मीठे लगते हैं कि अच्छा हुआ हट गये। लेकिन आत्मज्ञान तो तुम्हारे यावत् अभिमानों को जला डालेगा, एक को नहीं रखने देगा। जब लोग कहते हैं कि आदमी-आदमी सब एक जैसे हैं, किसी तरह का भेद-भाव नहीं करना चाहिये तो यह हमारे आजकल के राजनीतिज्ञों को मीठा लगता है। यदि हम किसी पाकिस्तानी को खबर देते हैं कि यहाँ हवाई जहाज खड़े हैं तो कहते हैं कि देश-द्रोह करते हो! आदमी-आदमी सब एक जैसे, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि देश-द्रोह कर लो। लेकिन जब आत्मा का स्पर्श करोगे तो केवल हिन्दुस्तान में रहने वालों की आत्मा के साथ ऐक्य थोड़े ही होगा! अतः जितना-जितना आत्मा के विचार में जाओगे, उतना-उतना सब कहेंगे कि इस आत्मा को अस्पृश्य रखना, इसे न छूना। कभी-कभी हम कहते हैं कि संसार में मौलवी के पास मुसलमान अपने बच्चे को लेकर जाता है, ईसाई अपने चार-पाँच साल के बच्चे को लेकर गिरजे जाता है, इसी प्रकार से कोई भी व्यक्ति हमारे यहाँ अपने बच्चे को वेदांत शास्त्र नहीं पढ़ाता है क्योंकि वह तो यह चाहता है कि हमारे निश्चित स्वार्थ सुरक्षित रहें, ऐसा कोई धर्म हो तो ठीक है। यदि यह वेदांत में चला गया तो इसका नतीजा यह होगा कि फिर यह मेरा पशु नहीं रह पायेगा। जब तक निश्चित स्वार्थों का मान नहीं छोड़ पाओगे तब तक वेदांत के अन्दर प्रवेश नहीं बनता। इसीलिये लोग इससे घबराते हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'यत्नतःस्यान्न दुर्वृत्तः' प्रयत्न करके इन साधनों के अन्दर स्थिर हो। बहुत बार लोग कहते हैं कि ज्ञान और कर्म का विरोध है। ज्ञान प्राप्ति के लिये कर्म की क्या ज़रूरत है? वही यहाँ बता रहे हैं कि इसलिये ज़रूरत है कि जितना तुमने अभिमान कर रखा है, वह सारा 'मैं शिवरूप हूँ' इसका विरोधी है। मैं अमुक व्यक्ति, अुमक देश का रहने वाला, अमुक जाति का, मैं अमुक की सास, अमुक की बहू ये सारे ज्ञान 'मैं शिव हूँ' इस ज्ञान के विरुद्ध हैं। जब तक इस सारे जंजाल को साफ नहीं करोगे, तब तक योग वाली लुढ़कन आती रहेगी : सुनते समय 'मैं ब्रह्म हूँ' और बाकी समय वह अभिमान लुढ़का देगा। इसलिये कहा कि यत्नपूर्वक रहे।

# प्रवचन-३१

१६.४.७२

परब्रह्ममहिषी का जो परभाव से भजन करते हैं, वे धन्य हैं। उनकी धन्यता का कारण यह है कि जो केवल शुद्ध परब्रह्म परमात्म-तत्त्व है, जो मन और वाणी का सर्वथा विषय नहीं है। वह नित्य होने पर भी अविद्या के अंधकार में पड़े हुए जीव के दुःख को दूर करने में समर्थ नहीं है। है वह शुद्ध चिन्मात्र, लेकिन जिस प्रकार से सूर्य चाहे जितना ज्येष्ठ के महीने में तप जाये, चाहे जितना तुम्हारी आँखों को चौंधिया दे, लेकिन वह सूर्य उल्लू को किंचित् प्रकाश भी नहीं दे सकता। दिन भर उल्लू के सामने बार-बार यह कहो कि 'देखो तो सूर्य कैसा चमक रहा है, क्या यह तुम्हारे अंधकार को दूर नहीं कर रहा है?' वह कहेगा 'नहीं कर रहा है।' ठीक इसी प्रकार से निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा की शुद्धरूपता का जितना भी वर्णन करो, लेकिन जो अविद्या के अंधकार में है, वह कहता है कि यह सब मेरे दुःख को दूर करने में समर्थ नहीं हो रहा है। तुम उसको बताते हो कि तुम्हारे देह से सम्बन्ध का अत्यंताभाव है, तुम शरीर के द्रष्टा हो और द्रष्टा दृश्य से अलग होता है, इसलिये तुम शरीर से अलग हो। वह कहता है कि यह बात तो समझ में आई। तब तक अपनी नाक के ऊपर बैठी मक्खी उड़ाने लगता है! तुम कहते हो कि तुम द्रष्टा साक्षी हो। वह कहता है कि जिस समय मैं तुम्हारी बात को समझ रहा हूँ, मैं द्रष्टा साक्षी से अभिन्न हूँ, उसी समय नाक पर बैठी हुई मक्खी कहती है कि मैं तेरी नाक पर बैठी हुई हूँ। उस समय हमारा साक्षी-ज्ञान अपने शरीर पर बैठी हुई एक अणुमात्र मक्खी के दुःख को दूर नहीं कर पा रहा है तो मन के दुःख को क्या दूर करेगा! वह शुद्ध चिन्मात्र है, उसके अन्दर दुःख का त्रैकालिक अत्यंताभाव है, इसमें संदेह नहीं है, युक्ति से, श्रुति से, विद्वत् पुरुषों के अनुभव से यह सिद्ध है। जैसे श्रुति कहती है कि सूर्य देदीप्यमान है, चमक रहा है, युक्ति कहती है कि हमको-तुमको गर्मी लग रही है तो इस गर्मी का कारण कोई-न-कोई प्रकाशपुंज अवश्य है। उल्लू बेचारे ने किसी से वेद भी सुना, वह कहता है कि सूर्य में प्रकाश-ही-प्रकाश है, श्रुति से भी सिद्ध है, अनुमान भी करता है कि हमको इतनी गर्मी लग रही है तो इस गर्मी का कारण कोई तेज, प्रकाश या अग्नि ज़रूर है, नहीं तो गर्मी कहाँ से लगती? पास बैठा हुआ हंस आदि सज्जन पुरुष कह रहा है कि सूर्य चमक रहा है। लेकिन ये तीनों मिलकर क्या उसको सूर्य का ज्ञान कराकर अंधकार को दूर करने में समर्थ हो पाते हैं?

इसी प्रकार साधक श्रुति के अन्दर बाँचता है 'असंगो नहि सज्जते अशीर्यो नहि शीर्यते' यह असंग है, किसी भी चीज़ के साथ इसका सम्बन्ध नहीं बनता है। युक्ति भी कहती है कि यदि आत्मा संग वाला होता तो इतने पदार्थों के सम्बन्ध से अब तक नष्ट हो गया होता क्योंकि अनादिकाल से हर क्षण में नित्य संग है। इसलिये युक्ति से भी वह आत्मा असंग है। यह तुम्हारी

असंगता है। लोग कहते हैं कि हम लोग अपने घरों में बड़े आसक्त हैं, क्या करें, घर के बाल-बच्चों की बड़ी याद आती है। और हम कहते हैं कि तुम लोग सर्वथा अनासक्त हो! भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं 'कति नाम सुता न लालिताः' हर जन्म में न जाने कितने बच्चों को पालते रहे। एक-एक जन्म के अन्दर एक-एक बच्चा भी हुआ हो तो अनंत जन्मों में तुम्हारे अनंत पुत्र हो गये। एक-एक जन्म में एक-एक बीवी भी ब्याही हो तो अनंत जन्मों में अनंत बीवियाँ हो गईं। एक-एक जन्म में एक-एक मकान भी बनाया हो या रहे हो तो अनंत जन्मों में अनंत मकान खड़े कर लिये। फिर भी कैसे अनासक्त हो कि उनका सबका कभी स्वप्न में विचार भी नहीं करते! यह तुम्हारी जबरदस्त अनासक्ति है कि अनंत जन्मों के पुत्रों को भूल गये। कोई तुमसे कहे कि 'मैं पूर्व जन्म में तुम्हारा पुत्र था, अब भूखा मर रहा हूँ, हज़ार रुपया दे दो' तो गवाही करके पुलिस को बुलाकर उसे थाने में भेज दोगे। यह तुम्हारी अनासक्ति है। अनंत जन्मों के पुत्र, पत्नी और सम्पत्ति का तुमने त्याग कर दिया, अब उन्हें सर्वथा याद नहीं करते तो एक जन्म के एक पुत्र को जो याद करते हो तो तुम्हें आसक्त कहें या अनासक्त कहें? थोड़ी-सी आसक्ति है, बाकी सारी अनासक्ति है।

यह आसक्ति क्यों? जैसे कमल के पत्ते पर पानी की बूंद पड़ती है, सैकेण्ड दो सैकेण्ड, क्षण-दो क्षण को वहाँ प्रतीत होती है और फिर लुढ़क जाती है। कमल चाहे सर्वथा निर्लिप्त हो, फिर भी क्षण-दो क्षण तो बूंद से लिप्त रह ही जाता है, लुढ़कने में कुछ तो समय लगता ही है। इसी तरह तुम्हारे शुद्ध निस्संग रूप के ऊपर यह शरीर, मन आदि क्षण-दो क्षण को दीखते हैं और फिर लुढ़क जाते हैं। अनंत काल से कितने शरीर और मन तुम्हारे ऊपर गिरते रहे और लुढ़कते रहे। जब कमल के ऊपर क्षण दो क्षण के लिये जल दीखता है तो क्या उसे वहाँ चिपकने वाला मानोगे? वहाँ तो क्षण-दो-क्षण है भी, यहाँ इतना भी नहीं है। अनंत जन्मों के परिमाण में सौ साल क्या हैं! और सौ साल में भी चिपका नहीं रहता। पहले तो आजकल साठ-सत्तर में ही हरिः ओऽम् तत्सत् होने लग जाते हैं। साठ-सत्तर साल की उम्र में से आठ घण्टे रोज़ सोने के निकालो तो बीस साल निकल गये। गहरी नींद में अनासक्त हो। बाकी चालीस साल में हिसाब लगाकर देखो तो कम से कम घण्टा-आधा घण्टा स्वप्न भी देखते हो। जाग्रत् का लेप स्वप्न में नहीं है। जाग्रत् का विचार करके देखो तो एक पदार्थ, जैसे पुत्र का संग है। उसे दिन भर में दो घंटे याद कर लेते होगे। बाकी समय उसके प्रति भी अनासक्त हो। इसलिये केवल श्रुति ही असंग कहती हो, यह नहीं, बल्कि आत्मा से सारे सम्बन्ध लुढ़कते चले जाते हैं। हमने तो कुछ नहीं किया, हमारे बिना किये ही हम असंग हैं। साधना करने वालों या ध्यान भजन करने वालों को छोड़ भी दो, दूसरे जिन बेचारों ने कुछ भी नहीं किया, फिर भी वे असंग हैं। यह युक्ति भी सिद्ध करती है कि असंगता उसका स्वभाव है। श्रुति ने कहा, युक्ति ने कहा, महापुरुष भी अपना यही अनुभव कहते हैं, तीनों होने पर भी जिस प्रकार से उल्लू को श्रुति, युक्ति और विद्वान् पुरुषों

के अनुभव से निश्चय है, लेकिन फिर भी अंधकार देखता रहता है, ठीक इसी प्रकार श्रुति, युक्ति और विद्वत् पुरुषों के अनुभव के द्वारा सुनने पर भी जीव दुःख देखता रहता है। यदि वह परब्रह्म परमात्मा चिन्मात्र निर्विषय हमारे अंधकार को दूर कर सकता तो कर देता लेकिन वह नहीं कर पाता, इतना निश्चित है। फिर यह माया तो दूर करेगी क्या, इसका तो काम ही तुमको ढाँकना है।

महापुरुष को धन्य इसलिये कहा कि वह इन दोनों के बीच में पुल बन जाता है। 'अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलं' यजुर्वेद की श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है। सेतु नाम पुल का है। भगवान् राम ने जो पुल बाँधा था, उसे सेतुबंध (रामेश्वर) कहते हैं। जो इस प्रकार से ब्रह्मज्ञान में नित्य निरंतर स्थिर रहने वाले हैं, वे उस अमृत स्वरूप के पुल हैं। पुल को न इस तरफ का और न उस तरफ का कह सकते हो। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच से सिंध नदी बहती है। उस सिंध नदी के ऊपर वाले पुल को न हिन्दुस्तान और न पाकिस्तान कह सकते हो। है दोनों तरफ लेकिन दोनों का नहीं है, बल्कि दोनों को मिलाने वाला है। जैसे आग जब ईंधन को जला रही होती है, उस समय उस ईंधन में दो हिस्से हैं। एक हिस्सा तो प्रत्यक्ष दीख रहा है, लकड़ी है, दूसरा हिस्सा राख का प्रत्यक्ष दीख रहा है। उनके बारे में तो तुमको निश्चित ज्ञान है। हाथ लगाओ तो कड़ी लकड़ी है और जहाँ हाथ लगाते ही अंगुली घुस जाये वह राख है। लेकिन ठीक जहाँ आग जल रही हो, वह स्थल ऐसा है कि अंगुली लगाते हैं तो अटकती भी है और फिर झर भी जाती है। अंगुली लगाने तक लकड़ी है और अगले क्षण ही राख है। उस हिस्से को न लकड़ी और न राख कह सकते हो। ठीक इसी प्रकार से जो ब्रह्मवेत्ता पूर्ण रूप से उस तत्त्वभाव में परिनिष्ठित है, उसे न तो शुद्ध चिन्मात्र कह सकते हो और न ही ऐसा कह सकते हो कि वह संसार में है। जैसे कल बताया कि संसारी प्राणी सब चीज़ों को द्वैत दृष्टि से देखते हैं, इसलिये संसारी हैं। शुद्ध चिन्मात्र के अंदर कुछ देखना है ही नहीं। दो दृष्टियाँ हो गयीं। इसकी दृष्टि है कि यह देखता तो है लेकिन अपने से भिन्न नहीं देखता। देखता है, इसलिये उसे शुद्ध ब्रह्म भी नहीं कह सकते, द्वैत-दृष्टि से नहीं देखता, अपने से भिन्न करके नहीं देखता आत्मदृष्टि से देखता है, इसलिये उसे संसारी नहीं कह सकते क्योंकि संसारी का लक्षण द्वैत-दृष्टि से देखना है, अधिष्ठान का लक्षण द्वैत को देखना ही नहीं है। यह देखता भी है और द्वैत-दृष्टि से नहीं देखता है, इसलिये इसे सेतु माना गया है। चूंकि इसे सेतु माना गया, इसीलिये यह दोनों को मिला पाता है। इसीलिये उसे यहाँ धन्य कहा गया है, यही उसकी धन्यता का कारण है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में एक विचित्र बात लिखी है

'निवृत्तसर्पः सर्पोत्थं यथा कम्पं न मुञ्चति।
विध्वस्ताऽखिलमोहोऽपि मोहकार्यं तथात्मवित्।।' (४.६०)

जिसने प्रकाश के अन्दर 'साँप' को देख लिया, इसलिये साँप तो चला गया, लेकिन उस साँप को देखने से शरीर की जो कँपकँपी हुई थी, वह नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार से समग्र मोह की निवृत्ति हो जाने पर, अविवेक के नष्ट हो जाने पर भी आत्मवेत्ता मोह के कार्य को नहीं छोड़ता है। यह हमारी संस्कृत भाषा की विशेषता है कि जब इस पर ध्यान देते हैं तो विलक्षण बात लगती है। प्रायः लोग यह दृष्टांत तो बहुत देते हैं लेकिन हिन्दी वाले कहते हैं कि साँप के हट जाने पर भी कँपकँपी नहीं मिटती है। बस यहीं फिसल जाते हैं, गड़बड़ कर जाते हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं' 'न मुंचति' 'कँपकँपी नहीं छूटती' यह न कहकर कहा कि नहीं छोड़ता है। कर्तृवाच्य प्रयोग है। 'स्वतंत्रः कर्त्ता।' बस यह फ़र्क है। सर्प हट गया लेकिन वह सर्प के भय को नहीं छोड़ता है अर्थात् स्वतंत्र होकर उसे रखता है। यदि समग्र अविद्या की निवृत्ति होने के बाद भी मोह-कार्य की पराधीनता रह जाये तो फिर मुक्ति क्या हुई? 'नहीं छूटता है' की पराधीनता को लेकर प्रायः हम अपने को जबरदस्ती ही कृतार्थ कर लेते हैं! अर्थात् समझते हैं कि छोड़ना तो चाहते हैं लेकिन नहीं छूटता। किंतु यह विरुद्ध बात है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है बल्कि वह तो जब चाहे, तब उसे ख़त्म कर दे, लेकिन नहीं करता है। क्यों नहीं करता है? यह पहले बता आये हैं कि अपने ही आत्मस्वरूप के अन्दर उस ज्ञान का संचार हो जाये, इसलिये मोह-कार्य को नहीं छोड़ता है। न छोड़ने के कारण ही उसके कोई साधन नहीं रह जाते। इसीलिये बताया कि पहली अवस्था में वह प्रयत्न करता है, अमानिता आदि साधनों का अभ्यास करता है। यह पहली साधनावस्था हुई। जब इस ज्ञान को प्राप्त करना चाहे तब अमानित्वादि साधन वाला बने, दुर्वृत्त न रहे। जब अमानित्वादि साधन वाला हो गया तब ज्ञान उत्पन्न होने की अवस्था आई। दूसरी अवस्था में 'अमानित्वादिनिष्ठो यो' अब अमानित्वादि साधनों में वह निष्ठ हो गया अर्थात् उसे वे करने नहीं पड़े। देह इत्यादि में उसका अभिमान होता नहीं है। अब वह साधन न रहकर उसका स्वभाव हो गया। अब वह दूसरे प्राणियों के प्रति मित्रता, करुणा, द्वेष का अभाव करता है। उसका जितना व्यक्तिगत अभिमान था, वह सब तो उसने छोड़ दिया।

यहीं पर हमारा और आधुनिक सभी सुधारकों और तथाकथित समाजवादियों का झगड़ा है। हम कहते हैं कि पहले अपने घर को आग लगाओ तब दूसरे के घर पर धावा बोलो। पहले अपना व्यक्तिगत सब कुछ छोड़ दो और फिर दूसरे से कहो कि तू भी छोड़। आज का सामजवादी कहता है कि 'मेरा बचा रहने दो, बाकी सब बहुतेरे हैं।' ये सब जनता का ध्यान बँटाकर अपना राज्य चलाना चाहते हैं। जैसे पाकिस्तान हौवा बनाये रखता है कि हिन्दू खा जायेंगे। इस चक्कर में कि हिन्दुस्तानी आक्रमण कर देंगे, पाकिस्तानी चाहे जितना कष्ट सहते हैं क्योंकि हिन्दुओं से लड़ाई करनी है। वैसे ही हमारे यहाँ हौवा बना रखा है कि पूंजीवादी खा जायेंगे। कहो कि खुद पूंजीपति बने बैठे हो? तो दूसरी तरफ अंगुली दिखा देते हैं। वेदांत कहता

है कि यह हमारा कर्म नहीं है, हमारा कर्म है कि तुमने जितना अपना मानकर रखा है, उसको तो पहले छोड़ दो। जब तुमने अपने व्यक्तिगत सारे अभिमान छोड़ दिये तब समाज के कल्याण के लिये आगे कुछ कर सकते हो। अब अद्वेष आदि साधनों को करो। यहाँ सांख्यवादी से वेदांती का फ़र्क है। सांख्य-योगी कहता है कि अपना दुःख मिटा, तो काम हो गया। हम अपने दुःखों से इसलिये छूटना चाहते हैं कि दूसरों के दुःख दूर करने में लग सकें। जब तक अपनी पूंजी बढ़ाओगे, तब तक देश की पूँजी कैसे बढ़ाओगे? हम जो तुम्हें अपनत्व से हटाना चाहते हैं तो सोने के लिये नहीं बल्कि अद्वेषादि करने के लिये। तब यह ज्ञान उत्पन्न होगा। जब तक बाहर के पदार्थों की तरफ अपनी इन्द्रियों का मुख खोले रहोगे, जब तक तुम रूप, रस, गंध, शब्द स्पर्श से सुख लेते रहोगे, तब तक चेतन का सुख नहीं मिलता है। एक दृष्टांत देते हैं, कोई बुरा मत मानना। जब तक तुम विवाह इसलिये करोगे कि यह औरत देखने में सुन्दर है अथवा यह औरत भोजन बढ़िया बनाती है, यह दहेज अच्छा लायेगी, इसकी रिश्तेदारी बड़े आदमियों में है; तब तक बहिर्मुख चित्त होने के कारण पत्नी का सुख कभी नहीं मिलने वाला है। इसी प्रकार जो लड़की सोचेगी कि लड़का बड़ा अफसर है, देखने में सुन्दर है, कमाकर पैसा ज़्यादा लाता है, घर में इसका जीवनस्तर बहुत अच्छा है; तब तक तुम्हें पति का सुख नहीं मिलना है। पति और पत्नी का सुख चेतन का सुख है, वह इन सब चीज़ों से नहीं मिलना है क्योंकि ये सब तो बाह्य हैं। वह सुख पति-पत्नी का आपस का एक अद्‌भुत प्रेम है जो न शरीर पर और न मन पर आधारित है, इनसे विलक्षण है। उसका सुख तभी मिलेगा जब सारी बाह्य उपाधियों को हटाओगे, उससे दिल मिला सकोगे। इसी प्रकार से जब तक हम संसार के रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श से सुख लेते रहेंगे, तब तक इन शब्द आदि के पीछे समष्टि और परमात्मा चेतन का सुख नहीं मिल सकेगा। आँख, कान आदि से जो सुख मिलेगा, वह व्यक्तिगत है। एक छोटा-सा गरीब बच्चा है, उसके कोई माता-पिता नहीं है। उसको तुमने अपने घर दूध पिलाना शुरू किया, उसका स्वास्थ्य बढ़िया बन रहा है, तुम्हें कुछ नहीं मिल रहा है, लेकिन हृदय के अन्दर एक सुखानुभूति होती है। यह सुखानुभूति चेतन को लेकर है। दूसरी ओर 'यह लड़का जब तगड़ा हो जायेगा तो हमारा गुण गायेगा, अन्य व्यक्ति सौ रुपये में तो यह अस्सी रुपये में हमारा काम करेगा' यह चेतन का सुख नहीं है। ठीक इसी प्रकार से जब हमने अमानित्वादि के द्वारा अपने सारे व्यष्टि भावों को समाप्त कर दिया, तब उसके बाद अद्वेष, मैत्री, करुणा आदि साधनों के द्वारा समष्टि चेतन परब्रह्म परमात्मा का सुख मिलने लगेगा। हमने चेतन का सुख देने के लिये जड के सुख से छुड़ाया। इसलिये कहा कि जब तक इन्द्रियों की बहिर्मुखता से सुख लेते रहोगे, तब तक अंतरंग आत्मा का सुख नहीं मिलने वाला है। यह दूसरी सीढ़ी हुई। ज्ञान उत्पन्न हो गया तब लक्ष्य बताते हैं।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्यस्य

न तु साधनरूपिणः।।' जब आत्मा का साक्षात्कार हो गया, प्रबोध हो गया। संशय विपर्यय से रहित बोध को प्रबोध कहते हैं। संशय विपर्यय से प्रतिबद्ध ज्ञान को भी कहीं-कहीं ज्ञान कहते हैं, इसलिये उसे बोध कहते हैं। जिसको आत्मा का संशय विपर्यय से रहित अपरोक्ष साक्षात्कार हो गया, तब अद्वेष आदि गुण उसके साधन नहीं रहे। पहले अमानित्वादि साधन हुआ, फिर अमानित्वादि बिना यत्न के हुआ। जीवन्मुक्ति के अनुभव में क्योंकि अद्वेष आदि उसका स्वभाव हो गये हैं अर्थात् बिना यत्न के होते हैं, इसलिये वह उन्हें छोड़ता नहीं। जो चीज़ अयत्न से होती है, उसमें कोई प्रयोजन नहीं रहता। मुक्त का अद्वेष आदि में कोई प्रयोजन नहीं है कि इससे मुझे कुछ होगा। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जो खेलने वाला है, उसका तो कुछ मन रिझाने का प्रयोजन हो भी सकता है। खेलने वाले का हो सकता है कि बैठे-बैठे मन नहीं लगता हो; अतः कुछ प्रयोजन कल्पित भी हो जाता है, लेकिन यहाँ तो सर्वथा प्रयोजन नहीं है। सर्वथा प्रयोजन-रहित होकर कार्य करता है। इन तीन अवस्थाओं के द्वारा इसे पूर्णता की प्राप्ति होती है। जब इसकी प्राप्ति हो जाती है तब वह पुल बन जाता है। अब मोह के कार्य को उसने नहीं छोड़ा, अज्ञान नष्ट हो गया लेकिन अज्ञान के कार्य को उसने रखा।

अज्ञान के कार्य की निवृत्ति कैसे हो? आगे बताया 'तरोरुत्खातमूलस्य शोषेणैव यथा क्षयः' जैसे पेड़ को जड़ से उखाड़ दो। उस पेड़ को ख़त्म करने के लिये कुछ करने की कोई ज़रूरत नहीं है, जड़ को भी तोड़ो मत बल्कि चारों तरफ से अच्छी तरह ज़मीन खोदकर पूरे पेड़ को जड़-सहित ज़मीन से अलग कर दो। इसमें तुमने पेड़ को नष्ट नहीं किया, पेड़ वैसा का वैसा है। साफ छत के ऊपर उस पेड़ को रख दो। वह कब तक रहेगा? हर क्षण, हर दिन वह सूखता ही जायेगा, आगे हरा नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार से सारे जगत् का जो मूल अज्ञान था, जिस ज़मीन के अन्दर से यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ था बिना नष्ट किये उस ज़मीन से तुमने उसे हटा दिया; मोहकार्य तो रह गया, लेकिन जहाँ से उसे खाद पानी मिलता था, वहाँ से दूर कर दिया। अब वह पेड़ कुछ समय तक फूल भी देता है। क्या कभी अनुभव किया है? कभी कोई हमारे कमरे में ग्लेडियोलस की सुन्दर व्यवस्था कर देता है जिसमें ऊपर का फूल खिला, नीचे का अधखिला, उसके नीचे का बिलकुल बन्द होता है। एक-डेढ़ दिन के बाद ऊपर का सूख जाता है, सजावट करने वाले उसे फैंक देते हैं, नीचे वाला खिला होता है। फिर उसके बाद नीचे वाला भी सूख जाता है, उससे नीचे वाला खिलने लगता है। लेकिन दूसरे की खिलावट उतनी बढ़िया नहीं होती; जितनी ताज़े में थी। तीसरे वाले की खिलावट ऐसी होती है जैसे शरीर में कोई रोग हो! जैसे किसी रोगी से पूछो 'कैसे हो?' और वह हँसकर कहे 'ठीक हूँ' लेकिन चेहरे पर कोई रौनक नहीं होती। उसे सुखाने के लिये कोई कोशिश नहीं हो रही है। ठीक इसी प्रकार से ऊपर के पेड़ में कुछ फूल खिल जायेंगे, कुछ फल भी बड़े हो जायेंगे, कुछ फल तीन चौथाई पके हुए हैं तो वे पूरे भी पक जायेंगे, लेकिन हर दिन होता क्षीण ही जायेगा और अंत में बिना प्रयत्न

के सूख जायेगा। इसी प्रकार से चूंकि उसका मोह, अज्ञान तो नष्ट हो गया, वह अज्ञान से दूर हो गया, फिर भी मोह के कार्य को वह बचाकर रखना चाहता है कि सारे प्राणी इससे दूर हों। मैत्री करुणा आदि उसका स्वभाव है लेकिन चूंकि जड़ से अलग हो गया है, इसलिये हर क्षण थोड़ा-थोड़ा सूखता जाता है। उसे कुछ कार्य करता देखते हैं, जैसे वहाँ फूल, फल होते हैं। इस प्रकार वह दूसरे प्राणियों के प्रति कुछ कार्य करता हुआ दीखता है लेकिन हर क्षण उसकी वह प्रतीति अपने आप कम होती चली जाती है। भेद यह है कि जब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब तक तो इसमें परतंत्रता है कि 'मोह कार्य मेरे ऊपर सवार है'; अनुभव होता है कि 'मैं तो छूटना चाहता हूँ लेकिन मन के संस्कार छोड़ते नहीं है।' वास्तविक आत्मवेत्ता का अनुभव है कि 'मेरी तो छोड़ने की कोई इच्छा नहीं है लेकिन क्या करूँ, छूटता ही जाता है!' यह दोनों के अनुभव में फ़र्क होता है। यही साधारण मनुष्य से, परोक्ष ज्ञानी से अपरोक्ष ज्ञानी को अलग कर देता है, यही परोक्ष ज्ञानी और अपरोक्ष ज्ञानी में फ़र्क ले आता है।

इसलिये कहा कि वह धन्य है क्योंकि जिस अज्ञानकार्य को हटाने के लिये हम निरंतर सचेष्ट हैं, उससे वह बिना प्रयत्न के ही छूटता जा रहा है। जब तक यह अनुभव नहीं होता तब तक समझ में नहीं आता। हम लोग रात-दिन चेष्टा करते हैं कि संसार हमसे दूर हो। रामकृष्ण परमहंस कभी-कभी विचार कर भजन करते-करते समाधि में जाने लगते थे, तब कुछ बड़बड़ाने लगते थे जैसे 'मुझे रसगुल्ला या पूड़ी खानी है', यह कहते-कहते उनकी समाधि हो जाती थी। फिर कुछ समय बाद समाधि खुल जाती थी। कुछ समय बाद लोगों ने पूछा कि आप यह क्यों कहते हैं? कहने लगे 'मन में कोई कामना नहीं है। इसलिये चित्त समाधि में चला गया तो बाहर किसको लेकर निकलेगा? जब तक कोई आश्रय या कामना न हो तो समाधि कैसे खुले? लेकिन मैं चाहता हूँ कि तुम लोगों का कुछ दिन कल्याण होता रहे। यदि मन में कोई संकल्प नहीं होगा तो बाहर निकलना नहीं बनेगा। इसलिये ज़बरदस्ती एक छोटा-सा संकल्प कर लेता हूँ, वह संकल्प, जैसे खाने की इच्छा, मुझे कुछ समय बाद बाहर ले आता है।' यहाँ फ़र्क समझो। हम लोग कहते हैं कि हमें संसार की कोई चीज़ याद न आये और वह आती रहती है; वह कहता है कि कोई चीज़ याद आ जाये, लेकिन वह भूल जाता है। धीरे-धीरे यह व्यवहार सूखता चला जाता है। यद्यपि 'कम्पं न मुंचति' वह तो कंप को नहीं छोड़ता है लेकिन यदि तुम बार-बार याद करके इच्छा भी करो कि साँप से बड़ा डर रहा था, कोशिश भी किये जाओ, तो भी वह कंप नहीं टिकता। क्या किया जाये! धीरे-धीरे कम होता जाता है। इन तीन सोपानों से वह उस स्थिति में पहुँच गया, इसलिये उसे धन्य कहते हैं। अब अपरोक्ष साक्षात्कार उसका स्वभाव हो जाता है। दुर्वृत्त क्यों नहीं है? क्योंकि प्रत्यग् आत्मा के धर्म को प्राप्त कराने वाला है।

प्रत्यग् आत्मा का क्या धर्म है? भगवान् गौडपादाचार्य ने बताया 'अजम् अनिद्रम् अस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः।।' (४.८१) प्रत्यग् आत्मा का

धर्म अर्थात् जीवभाव धाता के स्वभाव का है अर्थात् उस परब्रह्म परमात्मा के स्वभाव का है। धातु क्यों कहते हैं? आचार्य आनन्दगिरि स्वामी लिखते हैं 'धीयते अस्मिन् जगत् सुषुप्तौ इति धातुः' सुषुप्ति के काल में इसके अन्दर सारे जगत् का धारण हो जाता है, इसलिये उसे धातु कहते हैं। ईश्वर के अन्दर सारा जगत् रहता है, इसलिये ईश्वर को भी धाता कहते हैं। सारे जगत् को अपने अन्दर एक करके, चिपटा करके रखना ही इसका धर्म है। यह एक ऐसा संकेत वेदांत हमें देता है कि सारे साधनों का आधार बता देता है। जितने साधन हैं, चाहे वे प्रवृत्ति के हों, चाहे निवृत्ति के हों, वे धीरे-धीरे कदम-कदम से इस वस्तु-स्वभाव की प्राप्ति तक ले जाने के लिये हैं। चूँकि वस्तु-स्वभाव की प्राप्ति है, इसलिये 'सकृद् विभातः' एक बार ही वह प्रकाशित हो जाता है। ज्ञान थोड़ा-थोड़ा नहीं हुआ करता। ज़रा संतोष देने के लिये वैसा कह देते हैं। वस्तुतः ज्ञान या तो होता है, या नहीं होता है। जैसे एक धोबी का गधा चोरी हो गया। बेचारा ढूँढ़ता रहा लेकिन नहीं मिला। दो-चार दिन बाद उसने कुम्हार के यहाँ वह गधा देखा और पहचान लिया। उसने कुम्हार से कहा कि 'मेरा गधा क्यों ले आया?' कुम्हार ने कहा 'नहीं, गधा मेरा है। तेरे पास क्या प्रमाण है कि गधा तेरा है?' धोबी ने काजी को शिकायत की। मुसलमानी राज्य था। काजी ने पहले कुम्हार से पूछा कि 'बता, यह गधा है या गधी है।' कुम्हार के पास तो एक-दो दिन से आया था, इसलिये ध्यान नहीं दिया था। कहा 'थोड़ा-सा गधा है, थोड़ी-सी गधी है!' धोबी से पूछा तो उसने झट कह दिया कि 'मेरा तो गधा है।' काजी ने कुम्हार से कह दिया कि 'तैंने चोरी की है, इसलिये जेल जाना पड़ेगा।' जैसे कुछ गधा कुछ गधी कोई जानवर नहीं होता, इसी प्रकार सारा जगत् या मेरा रूप है या मेरा रूप नहीं है, एक ही बात होती है। जिसका रूप होता है उसे संदेह नहीं होता, वह तो अधिष्ठान में स्थित है। जिसका वह नहीं होता है, वह कहता है कि किसी रूप में, किसी काल में तो मैं सर्वरूप हूँ और किसी रूप में और किसी काल में मैं नहीं भी हूँ, कभी हूँ, कभी नहीं हूँ। इससे पता लगता है कि असल में नहीं है। विचार-काल में मैं ब्रह्म हूँ, दुकान काल में फिर जीव का जीव ही हूँ। यही स्थिति काजी को निर्णायक बना देती है। कई बार लोग हमसे प्रश्न करते हैं कि कैसे पता लगे कि हमें ज्ञान हो रहा है? हम तो एक ही जवाब देते हैं कि यह संदेह इसमें प्रमाण है, कि ज्ञान नहीं हुआ! जैसे कोई बच्चा आकर पूछे कि 'हमको पेशाब लगी कि नहीं?' तो उसे जवाब देंगे कि बेटा, लगती तो पूछने नहीं आता, ना भी करते तो कपड़े खराब कर लेता। इसी प्रकार से हम सब मिलकर कह दें कि तुम अज्ञानी हो, नहीं मानोगे; लेकिन जब तक संदेह है कि ज्ञान हुआ या नहीं, तब तक तो निश्चित है कि अभी अज्ञान ही है। इसलिये सकृत् विभात हुआ करता है। इसको प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। इसलिये कहा जन्मरहित, निद्रा-रहित और स्वप्न-रहित। इन सभी अवस्थों से रहित जो प्रभात (प्रकर्षेण भात) अर्थात् अच्छी तरह से जिसका ज्ञान हो गया, प्रबोध हो गया। प्रातःकाल में अंधकार सर्वथा नष्ट हो

जाता है, अतः प्रभात कहा है। पौ फटना या ब्रह्ममुहूर्त नहीं कहा। सूर्य बाहर आ गया, उसके बाद देखना भी चाहो कि अंधकार कहाँ छिप गया, तो भी पता नहीं लगेगा। 'भवति स्वयं' वह स्वयं ही होता है, यह वास्तविक अवस्था उसकी पहचान है। पहली अवस्था अमानित्वादि साधन, दूसरी अवस्था अमानित्वादि-निष्ठा और अद्वेषादि साधन, तीसरी में अद्वेषादि में भी निष्ठा हो गयी, पर उसके बाद सकृत् विभात होता है। इस प्रकार अंतिम अवस्था वाला तो ध न्य है ही, लेकिन जो इस रास्ते में पैर रख दे, वह भी धन्य है।

भगवान् गीता में कहते हैं 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।' कई बार छांदोग्योपनिषद् पढ़ते हैं तो उसमें आता है कि विरोचन ज्ञान लेने गया लेकिन उसे ज्ञान नहीं हुआ। बहुत से लोग समझते हैं कि असुर को क्या ज्ञान होना था! हम कहते हैं कि ज्ञान लेने चला गया, यह कोई कम बात है! जैसे कोई आदमी किसी से इतना कह दे कि 'लाला जी! क्या बतायें, नैनीताल घूमने तो गये थे लेकिन आपकी याद आती रही कि आप साथ नहीं रहे।' उसने निमंत्रण भी नहीं दिया, शायद साथ जाते तो अपने कमरे में भी नहीं रखता, लेकिन इतना कहने पर ही कि 'आपकी याद आती रही', इतने में ही लाला जी खुश हो जाते हैं। इसी प्रकार से हो सकता है तुम अमानित्वादि साधन करके वहाँ नहीं पहुँचे, निमंत्रण भी नहीं दिया कि वह परब्रह्ममहिषी मेरे घर पर आये। अपने अंतःकरण में अद्वेषादि साधनों को रखा भी नहीं। लेकिन फिर भी कहता है कि 'मैं चाहता तो ज़रूर हूँ, आपको याद कर रहा हूँ।' वह परब्रह्ममहिषी इतने से ही प्रसन्न हो जाती है। इसलिये वह भी धन्य है कि जो कम-से-कम इतना कहे कि हमें इस रास्ते में पैर रखना है। इतना कह भर दे तो भी वह भगवती उसके आगे के सारे कष्टों को दूर कर देती है। जो पैर रखे, उसका तो कहना ही क्या है!

## प्रवचन-३२

२०—४—७२

जो परब्रह्ममहिषी का भजन करते हैं, वे धन्य हैं यह बताया। धन्यता का क्या रूप है, इस पर कुछ विस्तृत विचार कर रहे थे। धन्यता का रूप बताते हुए आनंदगिरि स्वामी ने उन सारी चीज़ों का किस प्रकार से संग्रह किया, यह बताया। पहली चीज़ करुणा की अतिशयता का प्रतिपादन किया। करुणा का रूप बताया कि क्यों करुणा होती है। प्रत्यग् धर्म के स्वरूप में चार सोपान बताये : पहला अमानित्वादि साधन, फिर अद्वेषादि साधन, फिर दोनों में निष्ठा और तब स्वरूप स्थिति। यह एक प्रकार का क्रम है। यही धाता का स्वभाव है अर्थात् वस्तु स्वभाव है। दो तरह के धर्म होते हैं  एक, ऊपर से आरोपित और दूसरा, स्वभाव से। जो स्वभाव से होता है वह कभी भी पूरी तरह से दबता नहीं है और जो आरोपित, औपाधिक होता है, वह टिकता नहीं है! जितना यह जानना आवश्यक है कि आत्मा का धर्म क्या नहीं है, औपाधिक धर्म क्या है, उतना ही यह जानना भी आवश्यक है कि आत्मा का धर्म क्या है। एकमात्र विज्ञान को तो शून्यवादी, विज्ञानवादी भी मान लेता है। यदि हम उस ब्रह्मस्वरूप को केवल नकारात्मक ढंग से बतायेंगे कि वह क्या नहीं है तो शून्यवादी में और वेदांती में कोई फ़र्क नहीं रह जायेगा।

वेदांत के अन्दर यदि ब्रह्म के निरूपण में केवल नकारात्मक विचार करोगे तो शून्यवाद आ जायेगा और यदि वेदांत के अन्दर माया का भावात्मक रूप से विचार करोगे तो सांख्यवाद आ जायेगा। जितना-जितना जगत् को माया के कार्यरूप से समझोगे, उतना-उतना सांख्यवाद हो जायेगा क्योंकि सांख्यवादी प्रकृति के द्वारा ही भोग, मोक्ष सब मानता है। यदि इस प्रकार से वेदांती ने भी माना तो सांख्यवादी और वेदांती में क्या फ़र्क रह जायेगा? दूसरी तरफ, यदि ब्रह्म यह नहीं, यह नहीं  केवल 'नहीं' रखोगे, तो शून्य हो जायेगा। इन दोनों चीज़ों से बचना आवश्यक होता है। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं 'सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा। यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ।।' यह जो नित्य-विज्ञप्ति मात्र है, यह सुखस्वरूप है। दुःखाभावरूपमात्र नहीं है। चिदानंद स्वरूप का विचार करते हुए यह बता आये। प्रत्यग् धर्म वह है जो इसको आवृत नहीं होने देता। जैसे आग का धर्म गरम होना है। आग हो और गरम न हो, यह नहीं हो सकता क्योंकि अग्नि का स्वरूप गर्मी है। अग्नि का औपाधिक धर्म प्रकाश है। इसलिये अग्नि बिना प्रकाश के रह सकती है। जब पानी उबाल लेते हो तो यह पानी हाथ को जला तो देता है लेकिन उस पानी में प्रकाश नहीं है। अपने शरीर में जब बुखार होता है तो गर्मी हो जाती है और ताप-मापक लगाते हैं। गर्मी तो है लेकिन बिना बिजली के काम नहीं चलता! इसलिये जहाँ अग्नि होगी, वहाँ गर्मी अवश्य है। बाकी उसका औपाधिक धर्म हुआ। दूसरी चीज़ को नचाना भी उसका औपाधिक धर्म है। गरम चीज़ ऊपर-नीचे आती जाती है। आलू उबालो

तो ऊपर नीचे होते हैं, इनको ऊपर-नीचे अग्नि कर रहा है, लेकिन वह उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है। लेकिन इन सब भेदों के अन्दर उसका जो अपना धर्म गर्मी है, वह अवश्यंभावी है। दो धर्म हमेशा रहते हैं, एक स्वाभाविक, नैसर्गिक या स्वरूप से और दूसरा औपाधिक।

जैसे इस प्रत्यगात्मा का औपाधिक धर्म है, वैसे ही इसका स्वाभाविक धर्म है, स्वरूप लक्षण है, यह बौद्धों की तरह केवल अभावात्मक नहीं है। सुख उसका स्वरूप धर्म है। इसलिये, ब्रह्मस्थिति के अन्दर दुःख का प्रवेश हो, यह कभी नहीं हो सकता। कई बार मनुष्य कहता है कि जैसे मैं सुख की वृत्ति को प्रकाशित करता हूँ, वैसे दुःख की वृत्ति को प्रकाशित करता हूँ। बात तो ठीक है लेकिन दुःख की वृत्ति को मनरूप उपाधि को लेकर करता हूँ, यदि मन नहीं तो दुःख नहीं। यह औपाधिक धर्म है। सुख को मैं किसी उपाधि से प्रकाशित नहीं करता। गहरी नींद में मन नहीं है और सुख है, इसलिये यह स्वरूप धर्म है। ऐसे ही अमानित्वादि, अद्वेषादि जितने साधन बताते हैं, वे सारे के सारे स्वरूप-धर्म की तरफ ले जाते हैं, इसलिये उन्हें 'प्रत्यग् धर्म' कहा। याज्ञवल्क्य ने जनक को सारा का सारा उपदेश सुनाकर अंतिम प्रमाणपत्र दिया 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि।' हे जनक! तू ब्रह्म हो गया   यह नहीं कहा, बल्कि 'तूने अभय को प्राप्त कर लिया' कहा, क्योंकि निर्भयता उसका स्वाभाविक धर्म है, वहाँ भय की सम्भावना नहीं है। एक मुसलमान सूफी हुआ जिसने किसी प्रकार से ब्रह्मवृत्ति को प्राप्त किया। उसकी गर्दन काट दी गई! उससे कहा गया कि 'तू झूठ बोल दे।' लेकिन उसने कहा कि 'चाहे गर्दन काट दो, मैं अनहलक ही कहूँगा।' उसने गर्दन कटा दी क्योंकि अभय की प्राप्ति थी। आज हम पाँच रुपये का विक्रयकर बचाने के लिये कहते हैं कि 'माया के संसार में थोड़ा झूठ बोल दिया, इतनी बड़ी माया में यह भी तो माया ही है, झूठ को भी तो मैं ही प्रकाशित कर रहा हूँ।' उसे सूली पर चढ़ा दिया लेकिन उसने यह नहीं कहा कि 'मुँह से कह देने में क्या फ़र्क पड़ता है, हूँ तो मैं ब्रह्म ही।' उन्हीं ग्रंथों को हम बाँच लेंगे लेकिन जब पाकिस्तान बना तो सारे बोरी-बिस्तर लेकर भाग आये क्योंकि भय था। ब्रह्म का धर्म है अभय। हम जब अनहलक का विचार करते हैं तो गर्दन कटने वाली बात को छोड़ जाते हैं। जैसे दध्यङ् आथर्वण की कथा में बताया था कि सत्य के आश्रयण के लिये उन्होंने अपना सिर कटा दिया। यद्यपि इतने काल का भेद है, देश का भेद है और बाह्य धर्मों का भी भेद है लेकिन इतने पर भी वह अभय-प्राप्ति तो वैसी की वैसी रही। मास्टर एकार्ट योरोप में हुए हैं। उनका भी यही कहना था कि मैं ब्रह्म हूँ। उनको ज़िन्दा चिता पर चढ़ाकर वहाँ के ईसाइयों ने जला दिया। यह इसलिये कहते हैं कि कितना भी भिन्न देश काल का प्रभाव हो लेकिन जो स्वरूप धर्म जहाँ प्रकाशित हो जायेगा, वहाँ दुःख या भय नहीं रहेगा। चाहे वह भारत, फारस या योरोप में कहीं भी हो, अनुभूति का स्वरूप नहीं बदलेगा। याज्ञवल्क्य ने इसीलिये कहा 'जनक! तू अभय को प्राप्त हो गया' क्योंकि ब्रह्म निर्भय है। यह औपाधिक धर्म नहीं है। आनंद, निर्भयता इत्यादि का प्रतिपादन इसलिये किया गया कि यह

स्वरूप धर्म है, यह अवश्य प्रकट होता है। आत्मज्ञान हो और यह धर्म प्रकट न हो, यह कभी हो ही नहीं सकता क्योंकि यह स्वरूप धर्म है। जैसे कोई कहे कि मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ लेकिन जड हूँ, या कोई कहे कि मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ लेकिन असत्य हूँ, झूठा हूँ यह नहीं हो सकता, ऐसे ही कोई कहे कि मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ लेकिन दुःख का प्रकाश हूँ यह कभी नहीं हो सकता।

चैतन्य के साथ आनन्द स्वरूप धर्म है। माया से ब्रह्म जड भी होता है। आखिर जितने घट, पट आदि पदार्थ हैं, उनमें भी ब्रह्म विद्यमान है। वहाँ सत् रूप से विद्यमान है। वहाँ चेतन का प्रकाश नहीं है, केवल सत्ता मात्र है। क्या इतने से यह मान लेंगे कि कोई ऐसी ब्रह्मस्थिति है जहाँ जडरूपता का प्रकाश बना रहे और तुम घट, पट आदि की तरह बन जाओ? क्योंकि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान मेरा स्वभाव है, इसलिये वह असम्भव है। यद्यपि घट, पट आदि के अन्दर अज्ञान से ज्ञान तिरोहित है लेकिन ब्रह्म का ज्ञान होगा तो ज्ञानरूपता कभी छोड़ नहीं सकता। यह नहीं कि मैं ज्ञानी हूँ लेकिन मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि मैं जड हूँ। केवल सदाकार वृत्ति ब्रह्म नहीं क्योंकि ज्ञान ब्रह्म का स्वभाव है। ब्रह्मज्ञान होने पर जैसे जडरूपता असम्भव है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञान होने पर दुःखरूपता असम्भव है क्योंकि 'विज्ञानम् आनंदं ब्रह्म।' जैसे ब्रह्म की जडता औपाधिक है, ज्ञानरूपता वास्तविक है ऐसे ही दुःखरूपता औपाधिक है, सुखरूपता स्वाभाविक है। भयरूपता औपाधिक है और निर्भयरूपता स्वाभाविक है। ब्रह्म के कोई टुकड़े नहीं हैं। जैसे कोई कहे कि चिदंश से ज्ञानी हूँ, सदंश से नहीं हूँ, यह नहीं हो सकता। घटरूप जड पदार्थ का मैं प्रकाश हूँ, उस काल में भी मैं चेतन हूँ। क्या क्षणमात्र को भी यह वृत्ति बनती है कि मैं घट का प्रकाशक हूँ तो मैं जड हूँ? कभी नहीं बनती। फिर मैं यदि शरीर के बड़े भारी फोड़े की पिलपिलाहट का प्रकाशक भी हूँ तो उसकी पिलपिलाहट के समय में दुःखरूप कैसे हो जाऊँगा! जैसे जड का प्रकाश होने पर भी मेरा चेतन अंश क्षणमात्र को लुप्त नहीं होता, ऐसे ही जिसको लोग दुःख समझते हैं, उस दुःख का प्रकाश होने पर भी मैं दुःख नहीं हो सकता। जड का प्रकाश होने से मैं जड नहीं बन जाता क्योंकि मुझे अपनी ज्ञानरूपता का पता है, ऐसे ही भयंकर से भयंकर परिस्थिति का प्रकाशक होने पर भी मुझे भयरूपता की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि मैं निर्भय हूँ। ये सारे के सारे वास्तविक धर्म हैं।

'यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवान् असौ' जैसे लड़के को कहते हो कि जिस किसी के हाथ का लेकर मत खा लेना; इसका मतलब यह नहीं कि मेरे या माँ के हाथ का न खाना, बल्कि हमारे से भिन्न और किसी का नहीं। वैसे ही यहाँ भगवान् गौडपाद कहते हैं कि जिस किसी का अर्थात् अपने को छोड़कर दूसरे का; अर्थात् जो अपना वास्तविक धर्म है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' इस अपने धर्म को छोड़कर और किसी का धर्म अपने सिर पर मत लाद लेना। यदि किसी भी दूसरे का धर्म लादा तो आनंद झट आवृत हो जायेगा और विज्ञान भूल जाओगे। आवरण का अर्थ करते हुए सर्वज्ञ शंकर इसी कारिका की व्याख्या में लिखते हैं

'द्वयोपलब्धिनिमित्तं हि तत्र आवरणं न यत्नान्तरम् अपेक्षते' द्रष्टा और दृश्य दो कि उपलब्धि से ही आवरण है, कुछ और यत्न की ज़रूरत नहीं है अर्थात् ढाँकने के लिये और किसी कोशिश की आवश्यकता नहीं है। दूसरेपने की प्राप्ति ही झट हमें आवृत कर लेती है, इसके लिये कोई दूसरा प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। जैसे-जैसे यह दूसरे का ग्रहण कम होता जायेगा, वैसे-वैसे वह नित्य सुख प्रकट होता चला जायेगा, विस्तृत होता चला जायेगा उसके अन्दर कभी कोई प्रतिबन्धक नहीं आ सकेगा।

एक कथा आती है : एक शहर का नाम शिखापुर था। उसके राजा का नाम नरश्रेष्ठी था। श्रेष्ठ पुरुष को श्रेष्ठी कहते हैं या हो सकता है कि वैश्य ही राजा हो क्योंकि राजा कोई भी हो सकता है, जो भी युद्ध में जीत जाये। वह राजा बीच-बीच में शहर घूमने को निकला करता था जिससे शहर में कोई सुखी-दुःखी हो तो उसे पता लग जाता था। पहले के राजा यह किया करते थे कि स्वयं घूमकर पता लगाते थे कि राज्य में लोग सुखी हैं या दुःखी हैं क्योंकि प्रजा उनकी हुआ करती थी। अब प्रजा किसकी है? जानते ही हो। अब प्रजा भगवान् की है। यह भारत का दुर्भाग्य है। संसार में केवल भारत ही एक ऐसा देश था जिसने समष्टि को ईश्वर रूप से देखा, बाकी सब तीसरे और सातवें आसमान पर बैठने वाले ईश्वर को मानते रहे। हृदय में बैठने वाले ईश्वर को, प्रत्येक प्राणी के हृदय में बैठने वाले समष्टि ईश्वर को केवल भारतीयों ने माना। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' यह बात और कोई नहीं सोच पाया। जिस देश ने समष्टि को ईश्वर बनाया, उसी देश का यह हाल है कि समष्टि को ईश्वर मानने के बाद हम इतने स्वार्थी और व्यष्टिनिष्ठ हो गये कि समाज के किसी भी कार्य के लिये हमें कठिनाई पड़ती है। यह भारत की आज विचित्र स्थिति है। जो वेदांत हमें सर्वथा निर्भय बनाकर अपने जीवन को समष्टि की दृष्टि से सर्वभूतों में आत्मा की दृष्टि रखने वाला बनाता, उस वेदांत का हमने यह किया कि जो बेचारे तीसरे या सातवें आसमान में ईश्वर को मानने वाले हैं, वे भी दया के नाम से कुछ कर लेते हैं पर हमसे नहीं होता। देख लो, ईसाई लोग कितना दया का काम करते हैं या सिक्खों को देखो कि उनके गुरुद्वारों में कितनी सफाई रखते हैं। जो लोग ईश्वर को भिन्न भी समझते रहे, वे दया इत्यादि के कारण कुछ कर लेते हैं लेकिन जिस वेदांत ने हमें सिखाया कि सारे प्राणियों में मैं विद्यमान हूँ, उस वेदांत से लोगों ने निकाला कि मैं तो ब्रह्मरूप हूँ, इसलिये मेरे शरीर से होने वाला व्यवहार तो सब प्रारब्ध से होता है। चाहे घर का काम हो, चाहे दुकान चलाना, घर की, धन की रक्षा तो बाधितानुवृत्ति से होती है। धर्म के लिये कुछ करना हो तो कहते हैं कि 'संसार तो मिथ्या है, यह तो तीन काल में सिद्ध नहीं होता है। इसके चक्कर में कौन पड़े!' जब समाज या समष्टि का विचार आता है, उस काल में सर्वथा निवृत्तिपरायण बनते हैं। किसी दूसरे की मदद करने के लिये बाधितानुवृत्ति नहीं आती। हमें कई बार आश्चर्य होता है कि क्या ज्ञान का ठेका इस युग में केवल स्वार्थ वालों के लिये ही रह गया है? क्या किसी

परमार्थ वाले को ज्ञान होता ही नहीं? सोचो तो पता लगेगा कि हमने समष्टि पूजन का नाम लेकर सामान्य धर्म दया से मुख मोड़ लिया और प्राणिमात्र के हृदय में अपने को न देखकर वेदांत से मुख मोड़ा। इसलिये धीरे-धीरे वह समष्टि दृष्टि हटती चली गई। दूसरे के अंतःकरण में पड़ने वाला मेरा प्रतिबिम्ब है, वहाँ भी द्वयोपलब्धि ही कर रहा हूँ। मुझे ज्ञान हो गया, तुम्हें नहीं हुआ, इसलिये तुम जन्म-मरण के चक्कर में पड़ोगे और मैं छूट गया यह द्वयोपलब्धि-निमित्त से है। उस समय के राजा प्रजा को अपना समझते थे और इसलिये प्रजा के दुःख को समझने के लिये जाते थे। आज पहले तो राजा को बुलाओ तो उसका आना मुश्किल, अपने आप तो क्या आयेंगे! अपना एयरकंडिशण्ड मकान छोड़कर नहीं आयेंगे। यदि तुमने बड़ा प्रबन्ध करके बुला भी लिया, जैसा कि चैम्बर ऑफ कामर्स वाले कर लेते हैं, तब क्या वह तुम्हारे दुःख को सुनता है या ऊपर से प्रवचन और झाड़ जाता है कि 'तुम्हारा यह कर्त्तव्य है'? तुम चाहे जितना कहो कि 'हमारी ये मुश्किले हैं, हमारे सेल्सटैक्स, इन्मक टैक्स में अमुक-अमुक गड़बड़ियाँ होती हैं अथवा एक्साइज़ के लिये अमुक कठिनाइयाँ हैं।' उस समय ऊँघते हैं या देर से आते हैं और उसके बाद कहते हैं कि तुम पूर्ण त्याग और तपस्या करके इस राष्ट्र का निर्माण करो जिससे हमारे रहने खाने की सुविधायें बढ़ जायें! क्योंकि वे तो देश के मुकुटमणि हुए इसलिये उन्हें अपनी सुविधायें कम नहीं करना हैं।

लेकिन नरश्रेष्ठी राजा ऐसा नहीं था, इसलिये वह जाकर छिपकर देखता था कि लोगों को क्या असुविधायें हैं और उन्हें कैसे दूर किया जाये। उन्होंने अपने कुछ सिद्धान्त नहीं मान रखे थे जो प्रजा पर थोपने थे क्योंकि राजा का एक ही सिद्धान्त माना गया है कि वह प्रजा को प्रसन्न करे। आजकल न जाने कहाँ-कहाँ के विचारकों ने, मार्क्स और लेनिन ने किताबें लिख दीं, उन्हें रट लिया, वे चाहे घटें, न घटें, हमारे सिर पर सवार हैं। कहते हैं कि इन सिद्धान्तों को मानने का हमने निर्णय कर लिया है। पहले ब्राह्मण का यह काम था कि सिद्धान्त का निर्णय करे, राजा का यह काम नहीं। राजा का काम प्रजा को प्रसन्न करना था। लेकिन आज घपले का मामला है। नरश्रेष्ठी इसी प्रकार से घूम रहा था। वहाँ उसने देखा कि एक लड़की को कुछ डाकुओं ने लूट लिया है और उसे दूर से बाँघ कर ले आये हैं, खाने को भी नहीं दे रहे हैं और उनका भाव भी बड़ा खराब है कि इसे बेचकर पैसा बना लेंगे। राजा ने देखा कि कन्या बँधी है, उसी समय डाकुओं के पास गया। यहाँ रास्ते में एक साइकिल वाला मरा पड़ा था, हमारे सत्संगी भी इधर से चले जा रहे थे। वेदांत का सत्संग सुनकर जा रहे थे, किसी ने कहा कि डाक्टर को बुला लो। दूसरे कहते हैं 'इस चक्कर में मत पड़ो, पुलिस के चक्कर में आ जाओगे।' डाकुओं के सामने तो क्या जायेंगे, बेचारे पुलिस के सामने जाने से डर रहे हैं। हमारा सत्संग भय की निवृत्ति नहीं कर पाता। कोई पुलिस वाला तुम्हें जान से नहीं मार देगा, तुम्हें जेल में नहीं डाल देगा, लेकिन पाँच-चार बार थाने आना-जाना पड़ेगा। यह स्वार्थ की पराकाष्ठा है कि दूसरा मर रहा है, लेकिन

इसकी कोई चिन्ता नहीं। यदि इस प्रकार तुम्हारा बेटा मरा पड़ा होता तो क्या यह कहते कि 'पुलिस को खबर देने जायेंगे तो वह पीछे पड़ जायेगी कि कहीं बीमार कराकर तो नहीं मार दिया, इसलिये यहाँ से भागो।' लेकिन जो दूसरा इस देश का रहने वाला हिन्दू है, वहाँ वेदांत आ जाता है कि कौन किस का है! द्वैत के शिकंजे में पूरी तरह से ग्रस्त हुआ व्यक्ति समझता है मानो अद्वितीयता की स्थिति है, मैं अद्वैती हूँ।

लेकिन वह राजा ऐसा नहीं था। वह जब वहाँ से निकला और उसने कन्या को देखा तो सहन नहीं कर सका। डाकुओं के पास जाकर पूछा 'क्या बात है?' डाकुओं ने कहा 'तुम्हें क्या मतलब?' राजा ने उसी समय डाकुओं को मार दिया और लड़की को छुड़ा दिया। लड़की का नाम सुभाषिणी था। उसने सारा वृत्तांत बताया कि 'मुझे रास्ते से उठा लाये, मेरे सारे गहने लूट लिये और मैं दो दिन से भूखी हूँ, खाने तक को कुछ नहीं दिया।' वहीं पास में एक मन्दिर था। राजा ने उस कन्या से कहा कि 'तुम यहाँ बैठ जाओ और मैं कुछ खाने को लाता हूँ।' राजा ने उन डाकुओं को मारा तो था लेकिन जान से नहीं मारा था। हमारे यहाँ नीतिशास्त्र में कहा है कि शत्रु और रोग को जड़ से मार देना चाहिये। यदि छोड़ोगे तो फोड़े की तरह फिर बढ़कर नुकसान करेंगे। ऐसे ही शत्रु है। सबसे बड़ा शत्रु अज्ञान है। इसको भी हम लोग आधा तो मार देते हैं और कुछ ज़िन्दा रहने देते हैं, सोचते हैं कि थोड़ा-सा अज्ञान तो बना रहे, नहीं तो व्यवहार कैसे चलेगा? वही आगे चलकर भयंकर हो जाता है। शत्रु को कभी छोड़ना नहीं चाहिये। या तो उसे छेड़ो नहीं, यदि छेड़ दिया तो मूल से उखाड़ने के लिये डट जाओ। राजा जब वहाँ से कुछ खाने की सामग्री जुटाने चला तो इन लोगों ने विचार किया कि यह तो राजा है, इसलिये यह हम लोगों को ज़रूर नष्ट करेगा। राजा उस कन्या को मन्दिर में बिठाकर उसके लिये खाना लेने गया तो रास्ते में उसे जिह्मी कुट्टिनी बैठी हुई मिली। उसने कहा कि 'मैं तुम्हारे लिये खाने का बढ़िया इंतजाम कर देती हूँ, मेरे साथ चलो।' राजा ने सोचा कि 'कहाँ जाऊँगा, शाम का समय है, यही ला देगी।' वह कुट्टिनी भोजन के बहाने से गुणिका नाम की गणिका के पास राजा को ले गई। राजा को वहाँ बिठाकर कहा कि 'मैं अन्दर भोजन बनाती हूँ, यह आपसे बातें करेगी।' वह गणिका तो थी ही, नाच नाचने लगी। राजा ने सोचा कि भोजन बन रहा है। यदि किसी आदमी को जल्दी कहीं से भगाना हो तो वहाँ का पंखा बन्द कर दो अर्थात् कोई ऐसा काम करो जो दुःख का हो तो आदमी को जो काम करना होगा, वह पाँच मिनट में करके चला जायेगा। और यदि किसी आदमी को ज़्यादा देर तक बिठाना हो तो वहाँ वातानुकूल लगा दो, वह सोचेगा कि पाँच मिनट और गप्प मारते चलें। इसीलिये व्यापारी आजकल ऐसा करते हैं कि पहले तो वातानुकूल लगाते हैं और फिर ठण्डी कोका कोला मँगाते हैं। ग्राहक फँस गया, जाने की इच्छा हुई तो सोचता है कि 'कुछ तो खरीद ही लो, नहीं तो भद्दा लगता है।' सुख की उपलब्धि में समय झट बीत जाता है और दुःख की उपलब्धि में थोड़ा समय भी लम्बा लगता है। एक महात्मा

बड़े मज़ाकिया हैं। एक दिन कहने लगे कि 'मैंने समझ लिया कि हमारे ऋषि सचमुच हज़ारों साल की समाधि लगाते थे।' हमने पूछा कि यह बात कैसे समझ में आ गई? कहने लगे जब मैं ध्यान करने बैठता हूँ तो समझता हूँ कि घण्टा भर ध्यान हो गया लेकिन जब घड़ी देखता हूँ तो दो ही मिनट हुए होते हैं! मैंने सोच लिया कि एक घण्टा ध्यानकाल व्यवहार के अन्दर दो मिनट का होता है। ऐसे ही ऋषियों ने हज़ारों साल की समाधि लगाई होगी।' सौ साल की उम्र में हज़ारों साल की समाधि हो सकती है। क्योंकि समाधि लगाने में दुःख होता है, इसलिये समय काटे नहीं कटता। एक घण्टा ध्यान लगाने में बड़ा कष्ट होता है। सुख का समय बड़ी जल्दी कट जाता है। बराती बनकर लगता है कि अभी आये थे और लड़की वाले को लगता है कि ये कब यहाँ से जायें। गणिका वहाँ नृत्य करने लगी। राजा का मन उसमें ज़्यादा लग गया तो थोड़ी देर हो गई।

इधर उस मन्दिर के अन्दर दर्शन करने के लिये सुमन नाम का एक वैश्य पहुँचा। उसने वहाँ लड़की को बैठे देखा तो पूछा कि 'कैसे बैठी है?' उसने कहा 'मैं भूखी हूँ और इस-इस प्रकार से मेरे को राजा ने कहा था कि तेरे लिये खाना ला रहा हूँ। लेकिन वह अभी तक नहीं आये, रात बहुत हो गई है।' वैश्य ने कहा कि 'तू मेरे घर चली चल, मैं तुझे खाना खिला देता हूँ।' वह उस वैश्य के साथ चली गई और वैश्य ने उसे भोजन करा दिया। भोजन करके दोनों अपने आनंद से हँसी-मज़ाक कर रहे थे कि तब तक वहाँ एक चूहा निकल आया। वैश्य का घर हुआ, चूहा निकलना ही हुआ क्योंकि अनाज भरकर रखते हैं। पुराने वैश्य का लक्षण था 'कृषि-गौरक्ष्यवाणिज्यं' वे खेती करते थे, घी-दूध का काम करते थे, व्यापार करते थे। पुराने बनियों के पास घर में अनाज, दूध इत्यादि सब रहता था। आजकल मामला हरिः ओऽम तत्सत् है। आजकल वैश्यों के यहाँ सोफा रहता है जिस पर बैठते हैं। २५-५० लोग आ जायें तो नौकर से कहते हैं कि बाजार से जाकर चीज़ें ले आ! आजकल के घरों में लोग हफ्ते भर का अन्न रखते हैं। हमारे यहाँ उसे परम त्यागी का रूप बताया जो घर में हफ्ते से ज़्यादा का अन्न न रखे। आजकल सभी त्यागी हैं क्योंकि घर में हफ्ते से ज़्यादा का अनाज नहीं रखते। आजकल तो लोग घरों में रुपये भी नहीं रखते, बैंक की पास-बुक रखते हैं। शनिवार या रविवार को ज़रूरत हो तो उधार माँगते हैं। सोना-चाँदी घर में नहीं, बैंक के लाकर में पड़ा रहता है। घर में न अनाज, न रुपये और न सोना चाँदी है और शनिवार-रविवार को तो वे उस स्थिति में है जिस स्थिति में कोई बेचारा संन्यासी होता है। सुमन वैश्य और कन्या दोनों बैठे थे, वहाँ एक चूहा निकल आया। सुमन ने इधर-उधर किया और फिर बड़े ज़ोर से हाथ मारा तो चूहा मर गया। वह उस लड़की से कहने लगा कि 'देखो, मैं कितना बहादुर हूँ, चूहा मार दिया, नहीं तो लोग घबराते हैं।' उस लड़की को बड़ी शरम आई। कहा 'वह राजा जिसने इतने डाकुओं को मार डाला, एक बार भी उसने यह नहीं कहा कि मैंने कोई बड़ा काम किया, और तुम एक चूहे को मारकर इतनी

तारीफ किये जा रहे हो!' 'मैं उस राजा को छोड़कर भोजन के लोभ से इसके घर आई' इस बात से उसे इतनी ज़्यादा शरम और दुःख हुआ कि उसके कारण उसकी हृदय-गति रुकी और वह हार्टफेल होने से मर गई। अब सुमन को डर लगा कि हो न हो, राजा इसे ढूँढता हुआ आयेगा और इसे यहाँ देख लिया तो समझेगा कि मैंने इसे मार डाला, तब वह ज़रूर मुझे जेल देगा या न जाने क्या करेगा। इस भय से वह भी मर गया। घण्टे-दो घण्टे तक जब कुट्टिनी भोजन लेकर नहीं आई तो राजा ने पूछा कि बात क्या है, भोजन क्यों नहीं ला रही है? उसने कहा 'अभी तैयार हो रहा है।' राजा समझ गया कि तैयार कुछ नहीं हो रहा है, ये मेरे को धोखा दे रहे हैं। राजा ने कहा 'अभी तो मैं जाता हूँ, बाद में समझूँगा। तुम लोगों ने मुझे धोखा दिया, वह लड़की मन्दिर में अकेली होगी।' राजा ने देखा कि वह लड़की मन्दिर से चली गई है। उसने विचार किया कि मैं प्रमादी हूँ, इसलिये मैं राजा बनने के लायक नहीं। इस दुःख से वह राजा भी वहाँ मर गया। उधर जिह्मी कुट्टिनी और गणिका ने विचार किया कि राजा हमें आकर मार डालेगा, इसलिये अपने पहले ही जहर खाकर मर जायें। इस प्रकार सबके सब मर गये। यह एक दृष्टांत है।

इस दृष्टांत में एक के मरने से सबके मरने का क्रम अपने आप बनता चला गया। चूहा मरा तो लड़की मरी, लड़की मरी तो सुमन वैश्य मरा, सुमन मरा तो आगे का सार क्रम बनता चला गया। ऐसे ही इस सारे संसार की समाप्ति है। शास्त्रकारों ने बताया है 'यथा स्वापनिमित्तेन स्वप्नदृक् प्रतिबोधितः। करणं कर्म कर्त्तारं स्वाप्नं नैवेक्षते स्वतः।।' ४.२६।। नैष्कर्म्य सिद्धि में भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि स्वाप निमित्त से अर्थात् स्वप्न के अन्दर बहुत कुछ देखता है, अनुभव करता है, जैसे ही स्वप्न देखने वाले को जगाते हो तो न स्वप्न में होने वाले पदार्थ, न कर्त्ता, और न करण रहते हैं। सारे ही नहीं रहते। ऐसे ही यहाँ शिखापुर की जगह सूक्ष्म देह समझना क्योंकि श्रुति में शिखास्थल वस्तुतः जीव के ज्ञानस्वरूप का स्थल माना है। इसीलिये जगह-जगह पर 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' महानारायण उपनिषद्, तैत्तिरीय आरण्यक, कृष्ण यजुर्वेद श्रुति कहती है कि उस शिखा के बीच में परमात्मा स्थित है। इसलिये शि ाखा (चोटी) प्रतीक हुई, सूक्ष्म शरीर को शिखा कहा जाता है। इसके अन्दर नरश्रेष्ठी राजा प्रमाता (जीव) है, यही नर है। सारा का सारा खेल खेलने वाला यह नर ही है। जीव (प्रमाता) है तो राजा लेकिन श्रेष्ठी अर्थात् बनिया है क्योंकि कर्म के व्यापार में लगा रहता है कि कर्म का बीज पहले बोऊँ और आगे कर्मफल भोगूँ। जैसे व्यापार में माल वैसे मानो कर्म बेचा और सुख-दुःख रूप फल भोगा। राजा होते हुए भी कर्म और कर्मफल का व्यापार करने वाला है। इसीलिये भगवान् ने अर्जुन से कहा कि 'तू राजा है, पहले बनियापना छोड़, कर्मफल की आसक्ति छोड़ दे, राजा बनकर रह।' इसीलिये इसे नरश्रेष्ठी कहा। यह अपने देश-भ्रमण के लिये आया हुआ है। यह सारा का सारा संसार प्रमाता का है। यह देखता है कि सुभाषिणी अर्थात्

अच्छा-अच्छा बोलने वाली श्रुति (प्रमिति, वेद) को डाकुओं ने लूट लिया है। डाकुओं ने उसके ब्रह्मरूपी धन को लूट लिया है, इसलिये वे श्रुति को कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड में लगाते हैं अर्थात् वेदान्त का कर्म और उपासना परक अर्थ करते हैं जबकि वेदांत का यह अर्थ नहीं है। और फिर उसे भूखी रखते हैं उनहोंने सोचा कि शायद किसी को अर्थ का पता लग ही जाये; कोई किताब बाँचो और न इच्छा करो तो भी अर्थ का पता लग जाता है। इसलिये उन्होंने कहा कि वेद का अर्थ तो सोचो ही नहीं! इसलिये पंडित वही अच्छा है जिसे रुद्रीय कंठ है, रुद्रीय का अर्थ जानने वाला नहीं है। ऐसे ही हमारा गीता-पाठ होता है, उसमें क्या लिखा है, उससे कोई मतलब नहीं है। वेद को डाकुओं ने लूटा, पहले तो कर्म और उपासना में अर्थ लगाया और अब लोगों से कहते हैं कि वेद का अर्थ कुछ नहीं है, पाठ किये जाओ। यह सुभाषिणी कन्या डाकुओं के द्वारा लूटी गई।

किसी काल में अपने देश को देखते हुए प्रमातारूप जीव आता है और देखता है कि श्रुति का इन्होंने यह हाल कर रखा है। उसे छुड़ाता है कि कर्म और उपासना श्रुति का तात्पर्य नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य केवल परब्रह्म परमात्मा है। छुड़ा तो लिया लेकिन उसकी भूख को फिर भी नहीं मिटाया। यह समझने पर भी कि वेद का अर्थ कर्म उपासना नहीं, परमात्मा है, फिर भी भूख को नहीं छुड़ाया अर्थात् वेद का अध्ययन नहीं करते। कहने लगा कि परमात्मा को जानें, यही तात्पर्य है। पढ़ना हमारा काम नहीं है, जाने दो। तब भी भूखी बैठी है। जैसे राजा उसके लिये खाना लेने गया ऐसे कुछ लोगों ने कहा कि वेद तब समझ में आये जब वेदांग का अध्ययन करें। वे १२ साल व्याकरण पढ़ने में लगे तो व्याकरण में ही लग गये। काशी में कोई व्याकरण ही पढ़े जा रहा है, कोई साहित्य तो कोई न्याय पढ़े जा रहा है। ये सभी शास्त्र वेद-रक्षणार्थ थे, उन्हें पढ़कर वेद का मतलब लगाना था, परमात्म ज्ञान प्राप्त करना था, वह छूट गया। जिह्मी नाम की कुट्टिनी अर्थात् कुटिल व्यक्ति कहता है कि तुम्हारे मन का काम करेंगे। पहले नहीं कहते कि वेद नहीं पढ़ायेंगे; लेकिन कहते हैं कि 'पहले व्याकरण और न्याय नहीं पढ़ोगे तो वेद कैसे समझोगे?' और उसमें ऐसा लगा दिया कि सारी ज़िंदगी निकल जाती है। वे सारे शास्त्र आवश्यक तो हैं क्योंकि वेद की कुछ बातें उनमें आती हैं, लेकिन उसी में मुग्ध हैं। यहाँ तक स्थिति है कि इसी वर्ष की बात है, काशी में पण्डित-सभा और वेद-सभा को साथ-साथ बुलाया गया। यह निश्चित हुआ कि पहले वेदपाठ पण्डित करेंगे। एक वैयाकरण बड़े नाराज़ हो गये, कहने लगे 'मैं वेद को नहीं मानता, इसमें क्या रखा है!' एक बात याद रखो कि न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य सब मानते हैं कि ज्ञान से मुक्ति है लेकिन कहते हैं कि उस ज्ञान की प्राप्ति तब हो जब पहले हमारी बात समझ लो, बाद में उसे देखना। प्रमातारूप राजा न्याय, व्याकरण देखता रहता है, वेदांत तक नहीं आता, यही प्रमाद है।

उधर वेदकन्या को सुमन ले गया। सुमन अर्थात् अच्छा मन। मन ने कहा कि अपने मन

से देखो कि वेद में क्या है। जब अपने मन से वेद को देखा तो भोजन दिया, अर्थ समझा, लेकिन उसे समझ कर एक चूहे को मार दिया! थोड़ी देर तक वेदांत विचार करो तो विचार काल में बड़ी तृप्ति का अनुभव होता है, ऐसा लगता है कि सिर का बोझ उतर गया। उतने समय के लिये बड़ी शान्ति मिलती है। इसलिये लोग वेदांत का श्रवण करते हैं, विचार करते हैं। जब बड़ा भयंकर दुःख आता है तो थोड़ी देर के लिये विचार किया और वेदांत की दो-एक बातें समझ में आई तो मन शान्त हो जाता है। अपने मन से वेदांत-विचार करने पर इतना फल तो हो जाता है लेकिन यह तो चूहा है। सारे वेदांत और ब्रह्म का चिंतन करके कहता है कि संसार की चिंता को हटा दिया, अब आगे तो समझ ही लिया है। यह क्या मारा? बनना तो नित्य अनंत आनंद स्वरूप, नित्य भूमानंद ज्ञानस्वरूप था और यह इस शरीर की क्षणिक चिन्ता मारकर बड़ाई मानता है। श्रुति को इतनी शर्म आई कि मर जाती है अर्थात् श्रुति अपने को व्यर्थ समझती है। तब मनीराम को भी भय होता है, कहता है कि मेरा जो सहारा था, वह साथ नहीं देता है। कई बार ऐसा होता है कि थोड़ा-बहुत दुःख हो तो विचार चलता है लेकिन तीव्रता में विचार भी नहीं चलता, स्तब्ध हो जाता है। इसलिये अतितीव्र दुःख में अच्छे-अच्छे लोग भी स्वरूप में स्थिर नहीं रह पाते। उधर राजा अपने को प्रमादी समझता है कि मेरा उद्देश्य तो वेद का अध्ययन करके उस नित्य आनंद की प्राप्ति करना था लेकिन मैं दूसरी-दूसरी चीज़ों में रह गया, इसलिये वह भी अपने आपको मरा ही मानता है। जिह्मी कुट्टिनी, गणिका आदि दूसरे शास्त्र समझते हैं कि हमारा जीवन भी निरर्थक हुआ क्योंकि आत्मज्ञान कराना था जो नहीं करा पाये। इसलिये शास्त्र कहता है कि यह नहीं, बल्कि उस अभय पद की प्राप्ति करनी है, जिस किसी धर्म का इस आत्मा पर आरोप नहीं करना है। इस स्वरूप में स्थित होने पर ही वास्तविक करुणा की दृष्टि बनती है, अन्यथा नहीं।

# प्रवचन-३३

२१–४–७२

भगवती के स्वरूप का निरूपण करके यह बता रहे थे कि उसके चरणों की साक्षात् अर्चना करने वाला धन्य है। उसकी धन्यता किन-किन दृष्टियों से है, उसे क्यों धन्य कहा गया, उसके ऊपर विचार करते हुए देखा कि जो अब तक उसको परतंत्रता का बोध था, वह अब न रहकर स्वातंत्र्य का उन्मेष हो गया। जो हमारी दृष्टि है, उससे उसकी दृष्टि सर्वथा उलट गई। हमारी दृष्टि सर्वथा नाम-रूप-कर्म की सत्यता को लेकर है, सच्चिदानंदरूप को अज्ञान समझ कर है। संसार की दृष्टि में सत्-रूप अर्थात् 'है' जिसका रूप है, वह नहीं है अर्थात् ब्रह्म नहीं है! ब्रह्म मायने 'है' अतः 'ब्रह्म नहीं है' का मतलब 'है नहीं है'! इसीलिये वेदों ने कहा 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः' ब्रह्म है यों 'है'-मात्र का भी जिसको निश्चय हो गया, वह संत है। कहोगे, 'बड़ा आश्चर्य है कि लोग मन्दिरों में, मस्जिदों में जाते हैं और सभी कहते हैं कि परमात्मा है, तो क्या सब सन्त हैं?' यहाँ 'अस्ति ब्रह्म' सर्वव्यापक परमात्मा है। किसी एक देश-काल में रहने वाले परमात्मा को, देवताओं को मानने वाले बहुत हैं, उनकी अपेक्षा भूत-प्रेत, यक्ष, गंधर्वों को मानने वाले बहुत हैं, उनकी अपेक्षा स्त्री, धन, पुत्र इत्यादि को मानने वाले बहुत हैं। हमारी पत्नी है, हमारा पुत्र है, यह मानते हो, इसका मतलब यह नहीं कि परमात्मा को मानते हो! उससे आगे चले तो भूत, प्रेत आदि को माना अर्थात् जो मर चुके हैं, ऐसे लोगों की पूजा करना। यह भी परमात्मा को मानना नहीं है। गीता में भगवान् ने कहा 'प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः' उसकी अपेक्षा किसी एक देशकाल में, चाहे वह तीसरे या सातवें आसमान में हो, वैकुण्ठ हो, गोलोक हो, वहाँ बैठने वाला कोई है, यह देवता हुआ।

भगवान् वेदव्यास एक जगह लिखते हैं कि भगवन्! मैंने एक बहुत बड़ा पाप किया। क्या पाप किया? मैं आपका जप करता रहा, आपका ध्यान करता रहता और आपके लिये तीर्थयात्रा करता रहा, ये तीन काम किये। यह इसलिये बताते हैं कि जब महापुरुषों की उक्तियाँ देखते हैं और उसमें कहीं लेख आ जाता है कि मैंने बड़ा पाप किया या दोष किया तो हम लोग सोचते हैं कि हमारी ही तरह उनका भी दोष होता होगा। भगवान् भाष्यकार एक जगह मन को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं 'हृदयकपिमत्यंतचपलम्'। मेरा मन बड़ा चंचल है। इसे पढ़कर सोचते हो कि जैसे तुमको अपने बीबी-बच्चों की, धन की याद आती है, ऐसे ही उनको भी आ जाती होगी। लेकिन उनकी चंचलता और तुम्हारी चंचलता में फ़र्क है। व्यास जी कहते हैं कि 'मैंने बड़े-बड़े पाप किये, मुझे क्षमा कर देना।' भगवान् ने पूछा  क्या पाप किये? व्यास जी कहते हैं 'मैंने बड़ा जप किया, यह एक पाप किया। दूसरा पाप मैंने यह किया कि ध्यान करता रहा और तीसरा यह कि तीर्थयात्रा करता रहा।' ये पाप कैसे हैं? व्यास जी कहते हैं  आप वाणी से

परे हैं। परमात्मा वाणी से अतीत है। वाणी से परे परमात्मा को जब हम वाणी के द्वारा बोलते हैं तो क्या परमात्मा का झूठा नाम नहीं रख देते? जैसे कोई भला आदमी हो और उसका नाम तुमने बुरा आदमी रख दिया तो उसकी निंदा हुई। उसी प्रकार से जो नामातीत है उसका नाम तुमने रख दिया कि यह नामी है, तभी जप करोगे। यह परमात्मा की कितनी बड़ी बदनामी है कि जिसे हमारी वाणी विषय नहीं कर सकती, उसका तुमने नाम रख दिया, जो वाणी के द्वारा कह रहे हो। और एक नहीं, अनेक बार आपको गाली देता रहा कि आपका यह नाम है। हर बार जप करते हो तो यही करते हो। किसी भले आदमी को एक बार बुरा कहो तो उसे चोट लगती है और यदि दुबारा कहो तो क्या ठिकाना! इसी प्रकार से आप नामरहित हैं और मैं बार-बार आपका नाम कहता रहा, इसलिये यह पाप हुआ। साधारण आदमी को उल्टा कहना बुरा है। और साक्षात् परमात्मा को कहना तो और बुरा है।

ध्यान कैसे पाप हो गया? आज तक किसी भी मन ने कभी भी आपको विषय नहीं किया 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं' मन के द्वारा जिसको कभी भी पकड़ा नहीं जा सकता, उसको मैंने ध्यान से पकड़ना चाहा। मैं ध्यान कर रहा हूँ अर्थात् मन के द्वारा परमात्मा को ग्रहण कर रहा हूँ। जिस प्रकार वाणी से अतीत परमात्मा को मैंने झूठा करने की कोशिश की, मुँह से नाम लेना परमात्मा की वागतीतता को झूठा ही करना है। एक वह पाप किया और फिर मन से आपको ग्रहण करता रहा, यह दूसरी बदनामी लगाई। जब कहते हो कि मैं ध्यान करता हूँ तो मतलब हुआ कि परमात्मा मन का विषय है। तीसरा पाप किया कि परमात्मा कण-कण और क्षण-क्षण में व्यापक है और मैं कहता रहा कि मैं भगवान् के दर्शन करने जा रहा हूँ। हर बार तीर्थयात्रा का संकल्प होता है तो कह रहे हो कि परमात्मा सर्वव्यापक नहीं है। जिस प्रकार से संसार के पदार्थों का नाम लो तो कोई दोष नहीं, संसार के पदार्थों का मन से चिंतन करो तो कोई दोष नहीं, वैसे ही संसार के लिये घूमने जाओ तो कोई दोष नहीं। लेकिन कहते हो कि 'मैं परमात्मा का दर्शन करने के लिये तीर्थयात्रा करने जा रहा हूँ' तो उन्हें अव्यापक समझना दोष है। इसलिये मैंने आपकी सर्वव्यापकता का खण्डन किया है। हे भगवन्! मैं महापापी हूँ, मेरे इन पापों को निवृत्त कर देना। जब महापुरुष अपने को पापी कहते हैं और हम अपने को पापी कहते हैं तो दोनों में बड़ा फ़र्क है।

विचार करो, हमने स्त्री, पुत्र आदि को माना कि 'है', यह ब्रह्म को मानना नहीं है, यद्यपि 'है' तो माना। ऐसे ही भूत, प्रेत आदि को मानना परमात्मा को मानना नहीं है। इसी प्रकार किसी देश में रहने वाले देवता को मानना भी परमात्मा को मानना नहीं है। मंदिर जाते, जप-ध्यान करते बहुतेरे आस्तिक लग रहे हैं, पर जब छटनी करने लगते हो तब पता लगता है कि कितने लोग 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद।' अतिधन्य वेद कहता है सर्वव्यापक परमात्मा है इतना भी जिसका निश्चय हो गया वह सन्तस्वरूप हो गया। उस परमात्मा को सब लोग प्रतिक्षण कहते

हैं 'नहीं है' क्योंकि बाकी सब चीज़ों को 'है' कह रहे हैं। दूसरी चीज़ों को 'है' कहने का मतलब है कि ब्रह्म नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यदि एक अणु भी है, तो ब्रह्म नहीं रहा क्योंकि कम-से-कम एक अणु तो परमात्मा नहीं रहा। 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्मात् द्वितीये सति वस्तुनि' जहाँ दूसरी वस्तु एक अणु भी आ गई तो उस अणु के आने से ही ब्रह्म समाप्त हो गया क्योंकि ब्रह्म कभी न्यून होता ही नहीं है। दूसरी वस्तु है तो परमात्मा नहीं है। इसी प्रकार से एक रोग होता है जिसमें आँख को कोई-कोई रंग नहीं दीखता, बाकी सब चीज़ें दीखती हैं, उसे 'कलर ब्लाइण्डनेस' कहते हैं। यद्यपि आँख सब चीज़ें देखती है, केवल रंग नहीं देखती, इतने मात्र से कहना पड़ेगा कि आँख नहीं देखती या ठीक से नहीं देखती। इसी प्रकार से यदि किसी भी पदार्थ के अन्दर तुमको 'हैपना' दीख रहा है जो तुम्हें लगता है कि परमात्मा का नहीं है, तो तुम्हारी दृष्टि से परमात्मा नहीं रहा। तुमने परमात्मा से अतिरिक्त किसी चीज़ की सत्ता को कहा तो परमात्मा की सत्ता नहीं रही, बस इतनी-सी बात है। बहुत से लोग कहते हैं 'महाराज! परमात्मा का भजन करने के लिये अपना अहं तो रख लेना चाहिये, क्योंकि मैं नहीं रहेगा तो भजन कैसे होगा?' भज धातु का अर्थ संस्कृत में काटना (विभक्त करना) होता है। हिन्दी में भी भाग कहते हैं। दोनों भाइयों का हिस्सा काट दो तो कहते हो कि इनका यह-यह भाग हो गया। जब कहते हो कि अहं रखना चाहते हैं तो मतलब है कि परमात्मा को काटे बिना हमें संतोष नहीं होने वाला है! विचार करो कि यह कितनी बड़ी अपने हृदय में परमात्मा के प्रति द्वेष की अग्नि है कि हम कहते हैं कि उसे बिना काटे नहीं छोड़ेंगे? यह दूसरी बात है कि परमात्मा को काटने की तुम्हारे में क्षमता नहीं है, इसलिये तुम कल्पना करते रहते हो कि हम काट रहे हैं। तुमने कल्पित अहं ही बनाया। जैसे हम किसी को मार नहीं सके और मन में हमेशा सोचते रहे कि इसे मारना है, तो हमारी तरफ से तो हमने उसे मार ही डाला। ऐसे ही परमात्मा को नहीं मार सके लेकिन हर बार अहं-अहं करके परमात्मा को काटने की चेष्टा तो करते ही रहते हो। यह भजन नहीं है। कहने को हम कहते हैं कि हम भजन करना चाहते हैं लेकिन वस्तुतः यह भजन नहीं है। अपने अहं का त्याग करके केवल परमात्मा ही परमात्मा है, यह भजन हुआ।

पहले तो हमारा यही दृढ निश्चय नहीं हो पाता कि परमात्मा है। फिर कहते हैं कि परमात्मा है, शायद चेतन नहीं क्योंकि चेतन तो हम हुए और वह हमसे अलग है। जो चेतन से अलग होता है, वह जड होता है। इसलिये पहले तो यह निश्चय नहीं कि परमात्मा है। किसी तरह से 'परमात्मा है' यह निश्चय हो, तो भी उसकी जडरूपता बनाये रखना चाहते हो कि वह जड है। हमारी सारी पूजा के अन्दर हृदय की भावना यह है कि परमात्मा जड है। हमारी पूजा का नारियल और होता है क्योंकि परमात्मा जड है, उसे क्या पता लगेगा! मन्दिर में चढ़ाने का केला और होता है। मातायें भगवान् पर चढ़ाने के लिये गले हुए काले-काले केले लाती हैं और घर ले जाने के लिये केले अच्छे होते हैं क्योंकि वह तो जड है, उसे क्या पता! खोटे सिक्के भगवान्

पर चढ़ाये जाते हैं क्योंकि भगवान् को क्या पता कि खोटा या खरा है! रात में रखा हुआ दूध खराब हो जाये तो शंकर जी के ऊपर अभिषेक करने के लिये ठीक है। एक भड-भूजन मक्की चने भूँजती थी। मक्की की फूली की विशेषता है कि जब भुँजती है तब बड़े ज़ोर से उछलती है। उसके सामने ही पैदल पटरी (फुटपाथ) थी। जो कुछ दाने उछल जाते थे उन्हें वह उठाकर वापिस ले आती थी। जहाँ पगडण्डी खत्म होती है, वहाँ सड़कों में नाली (रथ्या) हुआ करती है जो प्रायः खुली होती है और उसमें पानी भी बहता रहता है। मक्की के कुछ दाने उसमें गिर जाते हैं। वह उन दानों की तरफ हाथ जोड़कर कहती थी 'हे भगवन्! ये सब श्री कृष्णार्पणमस्तु' अर्थात् यह सब आपको अर्पण हैं। यही तुम्हारी दृष्टि होती है। जीवन के कौन से क्षण परमात्मा के लिये निकालना चाहते हैं? कोई भी काम आया तो सबसे पहला फावड़ा या कैंची सत्संग पर चलता है। यह कोई नहीं कहता कि 'तीन दिन काम था, रोटी नहीं खाई या सोये नहीं', यह भी कोई नहीं कहता कि 'बुखार आ गया था, दुकान नहीं गये।' लोग कहते हैं कि 'तबियत कुछ ठीक नहीं थी, इसलिये सत्संग में नहीं आये या काम था, इसलिये ध्यान नहीं किया।' क्या कारण है कि जब हम निश्चय कर लेते हैं कि अब यह समय ऐसा है जिसमें कोई दूसरा कार्य होने वाला नहीं है, तभी कहते हैं कि सत्संग ही कर लो। दिल्ली में हमें इसका बड़ा अनुभव होता है क्योंकि दिल्ली एक ऐसा स्थल है जहाँ पर कई रेलों की अदला-बदली होती है। कलकत्ते से रेल सवेरे आ गई और अब शाम को बीकानेर की रेल मिलेगी या जोधपुर से शाम को आने वाली रेल है और सवेरे फिर कलकत्ते जाने के लिये मिलेगी। इसी प्रकार से पंजाब या काश्मीर से लोग आयें तो भी दिल्ली में गाड़ी बदलनी पड़ती है। बीच में दो-चार घंटे रहते हैं। उस बीच लोग सत्संग करने आते हैं। आकर कहते हैं  'महाराज! कुछ दस्सो।' हम कहते हैं कि सवेरे आ जाना, सुन लेना। कहते हैं  'सवेरे तो चले जाना हैं।' दर्शन करने आये हैं। लेकिन वह दर्शन का समय कैसा है? ठीक जैसे वह फूली नाली में पड़ गई तो श्रीकृष्णार्पणमस्तु, ऐसे ही दूसरी गाड़ी नहीं मिली, इसलिये आ गये। इतने पर भी हम उन्हें धन्य ही मानते हैं! उन फूलियों को भी उठाकर चाहती तो भड़-भूजन चूल्हे में डाल सकती थी। इसलिये उस बीच के समय को भी यदि वह सिनेमा में लगाते तो हम क्या करते? इसलिये ऐसे को भी हम धन्य मानते हैं। सारी पूजा में हमारी यह दृष्टि क्यों बनती है? क्योंकि हम परमात्मा को चेतन नहीं समझते। कर्मकाण्डी तो परमात्मा को सर्वथा जड बना देता है। वह तो कहता है कि 'परमात्मा क्या करेगा! हमने कर्म किया है, यह कर्म अपना फल खुद देगा।' इसलिये कर्मकाण्डी (या मीमांसक) तो खुलकर कहता है कि परमात्मा है ही नहीं। दूसरे बेचारे इतनी हिम्मत तो नहीं करते, सोचते हैं कि बदनामी हो जायेगी, लेकिन मन में मानते हैं। ऐसे आधुनिक कर्मकाण्डी बहुत से हैं जो मानते हैं कि कर्म का फल तो भोगना ही पड़ेगा, इसमें ईश्वर क्या करेगा! जो कर्मफल को अवश्यभावी समझते हैं, वे भी परमात्मा को मूलतः या तो मानते ही नहीं या जड मानते हैं।

जब परमात्मा की सत्ता और चित्ता ही हमारे मन पर आरूढ नहीं होती तो आगे उसकी आनंदरूपता का तो पता कहाँ से लगे! इसीलिये जितने भी हम सत्कार्य करते हैं, वे हमें सुख नहीं देते, बल्कि बोझ बनते जाते हैं। मनुष्य किसी भी कार्य को यदि आनंद के लिये करता है तो वह कार्य बोझ है। जब तक कोई कार्य आनंद के लिये करोगे तब तक बोझ है, आनंद करना बोझ नहीं है! खाने के लिये हलुआ बनाना बोझ है, खाना बोझ नहीं है। इसी प्रकार आनंद के लिये करना बोझ हो जायेगा, आनंद स्वतः बोझ नहीं है। वैसे, वेदांती को तो हलुआ खाना भी बोझ लगता है क्योंकि हलुए के मिठास में सुख है, उसे उठाना, मुँह में डालना बोझ है, यह भी क्रिया है। आचार्य शंकरानंद गीता-टीका में लिखते हैं कि जिस व्यक्ति को आँख खोलना और बन्द करना भी अत्यंत भारी मालूम पड़ता है कि 'इतना टण्टा कौन करे', वही नैष्कर्म्य में स्थित है। साँस को अंदर लेना और बाहर छोड़ना भी उसे महान् दुःख लगता है। लोग कहते हैं कि इनकी समाधि लगी हुई है। वह कहता है कि मैं समाधि नहीं लगाता; क्योंकि हमको किसी आकार की वृत्ति बनाने में झंझट होती है इसलिये मन की वृत्ति नहीं बनती। न साँस लेते हैं और न छोड़ते हैं क्योंकि बोझ लगता है। जिस समाधि को दूसरे बड़े प्रयत्न से प्राप्त करते हैं, वह कहता है कि समाधि तो हमें अनायास हो जाती है। वेदांती कहता है कि हलुए का स्वाद लेने में भी तो टण्टा है। पहले जीभ तक आये तब जीभ पर रखे हलुए का स्वाद लो। स्वाद से अंतःकरण में मधुराकार वृत्ति बनती है। वह कहता है कि हलुआ बनाना, खाना और उसका स्वाद लेना भी आनंद नहीं। केवल मन की स्वादाकार वृत्ति ही तो आनन्द है। लेकिन स्वादाकार वृत्ति भी आनंद नहीं है। स्वादाकार वृत्ति के द्वारा क्या हुआ? हमारा आनंदस्वरूप जिस स्वादेच्छा से ढँका था वह स्वादेच्छा रूप विक्षेप हट गया। इसलिये स्वादाकार वृत्ति भी आनंद के आवरण को भंग करने में गतार्थ है। आवरण भंग करने से भी थोड़े ही आनंद हुआ। हम आनंदरूप थे, ऊपर आवरण आ गया था जो हट गया। इसलिये आवरण-भंग भी आनंद नहीं, आनंदरूप तो हम हैं। विचार करो तो यह सारा का सारा श्रम व्यर्थ ही है क्योंकि हम ही तो आनंदरूप हैं। सामान्य रूप से विचार करते हैं तो यहाँ तक समझ में आता है कि हलुआ बनाना दुःख है, खाना सुख है। विचारशील को लगता है कि यह सारी की सारी दुःख-परम्परा है, आनंदरूप तो मैं हूँ। जब यह विचार दृढ हो जायेगा तब वेदांती के अन्दर स्वाभाविक है कि यह अंतःकरण की वृत्ति बनाने की कोई अपेक्षा नहीं है। वृत्ति का न बनना उसका स्वभाव है जो दूसरों के द्वारा कल्पित किया जाता है कि इसकी समाधि है। सत्, चित् और आनन्द रूप परमात्मा है।

जैसे आनन्दरूप परमात्मा है, वैसे ही वह परमात्मा अनंत है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। हम परमात्मा को अनंत नहीं मानना चाहते। उससे भी हम घबराते हैं। हमसे किसी ने आकर कहा कि बाकी धर्मों में तो एक ही देवता होता है, एक परमात्मा को मानते हैं, एक ही खुदा कहते हैं। हमारे यहाँ बहुत हैं, ३३ करोड़ देवता हैं। हमने कहा यह तो पुरानी सूची है, उसके बाद न

जाने कितने देवता हो गये! व्यास जी के बाद तो किसी ने सूची बनाई ही नहीं। पुराणों के बाद देवताओं की जनगणना हुई ही नहीं है। हमने उनसे कहा कि पहले तो वे भी एक को नहीं मानते, वहीं गड़बड़ है, फिर उनका परमात्मा बड़ा सीमित हुआ। जैसे किसी आदमी के पास एक ही सूट हो, चाहे भोजन करने जाये तो वह पहनकर, मध्याह्न में घूमने जाये तो वही पहनकर और रात में सोये तो वही पहनकर। क्या उसे बड़ा आदमी मानोगे? कहने लगे 'नहीं।' हमने कहा कि हमारा परमात्मा सृष्टि का काम करता है तो एक सूट पहन लेता है। सृष्टि के कार्य में कुछ खास निर्णय करने पड़ते हैं इसलिये चार सिर रखता है। साधारण आदमी भी जब कोई खास निर्णय करना हो तो कहता है कि चार आदमी बैठकर विचार करेंगे तो निर्णय ठीक होगा। अब तुम तो खुद आदमी बनना नहीं जानते, इसलिये आजकल हिन्दी में कहावत चलती है कि चार आदमी बैठकर विचार करो। इसीलिये ब्रह्मा जी चार सिर रखते हैं। फिर जब उनको संरक्षण करना हुआ, किसी को बचाना हो तो चार हाथ वाला सूट पहन लिया, विष्णुरूप बन गये। चार हाथ लगाओ तो वज़न झट उठ जायेगा। इसी प्रकार जब संहार करना हुआ तो नष्ट करने वाला सूट अर्थात् रुद्ररूप बन गये। जो-जो काम करना हुआ, उन अलग-अलग कामों के अलग-अलग सूट हैं। तुम्हारे उस अल्लाह मियाँ का एक ही सूट है, वह चाहे सृष्टि करे, स्थिति करे, वही दाढ़ी लटकती रहेगी। हमारा परमात्मा ऐसा नहीं है। अब एक कदम और आगे चलेंगे। परमात्मा सर्वशक्तिमान् है, सब कुछ कर सकता है। यह बात वे भी कहते हैं, लेकिन उनसे हम पूछते हैं कि वह मरना भी जानता है, क्या वह मर भी सकता है या नहीं? कहते हैं 'यह वह नहीं कर सकता।' हम जहर खाकर मर सकते हैं, वह बेचारा वह भी नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् कैसा! हमारा परमात्मा मर सकता है। जब उसको मरने की इच्छा होती है तो वह मनुष्य का सूट पहन लेता है। 'शिवो ब्रह्मादि देहेषु सर्वज्ञ इव भासते। देवतिर्यङ् मनुष्येषु किञ्चिज्ज्ञः तारतम्यतः।।' वह शिव ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देहों के अन्दर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रतीत होता है, वही शिव मनुष्य के अन्दर, देवताओं के अन्दर और पशु-पक्षियों के अन्दर अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् प्रतीत होता है। इसलिये हमारा परमात्मा मर भी सकता है। उसको मरने की इच्छा हुई तो उसके लिये अलग सूट है। जब अल्पज्ञ बनना होता है तो चींटी, मच्छर का सूट पहनता है।

कहोगे ऐसा मानने में क्या प्रमाण है? पहले तो हमारा वेद प्रमाण है। वेद के बारे में संदेह है तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जैसे बाबू केवलराम जिस-जिस सूट को पहनकर आये, सब में केवल-राम नाम रहा। सारे सूट बदलने पर भी नाम एक ही है। इसीलिये कहते हो कि यह बाबू केवल राम ही हैं। हर आदमी प्रत्यक्ष रूप से कहता है कि यह बाबू केवलराम जी हैं। सूटों के बदलने पर भी सबको एक ही प्रत्यभिज्ञा है कि यह बाबू केवलराम जी हैं। इसीलिये मानते हो कि सूट बदलने से वह नहीं बदले। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र से लेकर कल्लू तक सबका नाम 'मैं' (अहं) है। दूसरा कोई नाम नहीं है। ब्रह्मा आयेगा तो कहेगा 'मैं ब्रह्मा आया', विष्णु भी

कहेंगे 'मैं विष्णु आया', कल्लू भी कहेगा 'मैं'। कई बार लोग दरवाज़ा खटखटाते हैं, हम पूछते हैं कौन? कहते हैं 'मैं।' हम पूछते हैं सूट वाला नाम बताओ, यह तो बिना सूट वाला नाम बताया, असली नाम बताया। विज़िटिंग कार्ड में केवल बाबू केवलराम से काम नहीं चलता, इसलिये आगे लिखते हैं 'एफ०आर०सी०एस० लण्डन' तब पता लगता है कि यह हैं तो वही बाबू केवलराम, सच्ची बात तो यही है। कल अगर मेडिकल एसोसियेशन से झगड़ा हो तो वह प्रमाणपत्र रद्द भी हो सकता है क्योंकि उनके पास ऐसा करने की क्षमता होती है। अथवा मान लो कि आज बाबू केवलराम, मुख्य मंत्री, आंध्र प्रदेश हैं, कल उन्हें मानने वाले अलग हो जायें तो वह मुख्यमंत्री नहीं रहे। इसलिये बाकी उपाधियाँ हैं। उपाधि से काम चल जाता है क्योंकि उसी नाम के कई हो सकते हैं। इसलिये जब पूछते हो तो पहला सच्चा परिचय बताते हैं कि 'मैं हूँ।' 'मैं' नाम का सारा जगत् हुआ, इसलिये आगे किसी उपाधि को बताते हैं कि मैं मनुष्य हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं भारतीय हूँ। लेकिन असली नाम 'मैं' है और यह ब्रह्मा से लेकर कल्लू तक, मक्खी, मच्छर के अंतःकरण में भी यह साक्षात् है जो कभी नहीं बदलता। जैसे सारे सूटों के बदलने पर एक ही नाम 'बाबू केवलराम' ही है, ऐसे ही सारे देहों के बदलने पर भी 'मैं' नाम बताता है कि है वह एक ही, कपड़ा अलग-अलग पहन रखा है और कुछ भेद नहीं है। अतः जब कहते हैं कि 'तुम्हारे ३३ करोड़ देवता बहुत' तो हमें शरम आती है क्योंकि हमारे तो अनंत हैं! वेद में लिखा है 'अनंता वै विश्वे देवाः।' श्रुति कहती है कि किसी समय हमको पता था, इसलिये हमने ३३ करोड़ गिन लिये, सचमुच तो अनंत हैं क्योंकि कण-कण और क्षण-क्षण वही तो है, उसके सिवाय और कौन है? एक ही रूप में क्यों नहीं रहता यह प्रश्न उसे परतंत्र बनाने की दृष्टि से है। वह क्यों एक रूप में रहे? जो परतंत्र होता है, वह एक ही रूप में रहता है, जो स्वतंत्र होता है वह एक रूप में ही नहीं रहता। लोक में भी यही बात है, कहीं किसी बड़े आदमी के सामने जाकर बैठो तो एक ही आसन से सीधे बैठना पड़ता है, ज़रा इधर-उधर करें तो दूसरे इशारा करते हैं। लेकिन जब अपने सोने वाले कमरे में अकेले होते हैं जहाँ पत्नी भी न हो, उस समय में तुम कभी एक से नहीं बैठते, थोड़ी देर में हाथ, पैर, सिर इधर-उधर बदलते रहते हो। कोई कह सकता है कि ध्यान करने बैठते हैं, तब तो अकेले होते हैं लेकिन वहाँ भी अकेले नहीं, वहाँ एक देव को रख छोड़ा है, उसके डर से एक आसन में बैठना पड़ता है, वहाँ भी परमात्मा को दूसरा बना रखा है। मन से वहाँ दूसरे को बना रखा है। अतः उस समय एक आसन से बैठते हो। जब तुम स्वतंत्र होने पर एकरूप नहीं रहते तो उस परब्रह्म परमात्मा को कैसे कहते हो कि वह हमेशा एक ही रूप में बना रहे! क्यों बना रहे? वह प्रतिक्षण नवीन-नवीनतर उन्मेषों को धारण करता रहेगा, यही उसकी विशेषता है।

परमात्मा के इस सत्, चित्, आनंद रूप को जो ठीक प्रकार से समझता है, वही वस्तुतः धन्य है। जब तक उसके इस स्वरूप को नहीं समझता तब तक धन्य नहीं होता है। जब उसके

इस स्वरूप को समझ लेते हैं, तब सारे पाप समाप्त हो जाते हैं। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर इसी सौन्दर्य लहरी में (श्लो. ३०) आगे जाकर कहेंगे

‘स्वदेहोद्भूताभिर्घृणिभिरणिमाद्याभिरभितो
निषेव्ये नित्ये त्वाम् अहमिति सदा भावयति यः।
किमाश्चर्यं तस्य त्रिनयनसमृद्धिं तृणयतो
महासंवर्त्ताग्निर्विरचयति नीराजनविधिम्।।’

जो ऐसा सचमुच समझता है, उसका क्या होता है? वह समझता है कि अपनी ही देह से अणिमा आदि रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ देह का मतलब अन्नमयकोश ही नहीं, हमारे यहाँ स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन शरीर माने गये हैं। असली जो देह है उससे अणिमादि रश्मियाँ उद्भुत होती हैं। सूर्य व्यापक है और किरण अत्यंत छोटी है। किरण उत्पन्न तो सूर्य से होती है। इसी प्रकार से सर्वव्यापक जिस समय किरण रूप से उद्बुद्ध हुआ अणु प्रतीत होता हो, यह जीव रूप हो गया। किरण अणु तो है लेकिन किरण सूर्य से अतिरिक्त है क्या? कुछ नहीं। किरण के ऊपर नीचे सर्वत्र सूर्य ही है। आग से निकली चिंगारी के अन्दर आग के सिवाय कुछ नहीं है। इसी प्रकार से मेरा जो अणु-भाव दीख रहा है, वह वस्तुतः उस चिदानंदलहरी के सिवाय कुछ नहीं है। जब इस प्रकार से मैं अपने आपको देखता हूँ तो मैं तू है तू मैं हूँ। वह हमेशा ही इस भाव के अन्दर मग्न है कि मैं और तू दो नहीं, तू ही मैं, मैं ही तू है।

साधारण आदमी को कहो कि ‘मैं तू है’ तो गुस्सा हो जाता है। प्रधानमंत्री से कहो कि ‘मैं ही हूँ’ तो जेल में डाल देगी। वह परब्रह्ममहिषी कहती है कि जैसे ही वह भावना करता है कि ‘मैं और तू एक हूँ’, कहती है कि यही तो मैं समझाती थी! जब तूने यह कह दिया तो मेरा काम ख़त्म हो गया। सारी श्रुति में यही कहा है। फिर उसकी समृद्धि का कोई ठिकाना नहीं है। संसार की सारी समृद्धि को वह तिनका समझता है। वह क्या करे? उसका नीराजन वह महासंवर्ताग्नि खुद उतारती है। प्रलय-काल की अग्नि संवर्ताग्नि है। महासंवर्ताग्नि अर्थात् महाप्रलय के समय की अग्नि। महाप्रलय वह है जिसके बाद सृष्टि कभी उद्बुद्ध होने वाली नहीं है। बाकी प्रलयों में फिर सृष्टि हो जाती है। ज्ञान तो नित्य के लिये संहार करता है। रस्सी में जो साँप था उसे किसी ने पिंजड़ें में बन्द किया, किसी ने बीन बजाकर वश में किया, लेकिन वह साँप फिर थोड़ी देर बाद उछलता है क्योंकि साँप जो रहा! अंत में किसी ने दीपक लाकर दिखा दिया, वह साँप बेचारा कहाँ गया? हवा चलती है तो क्या फिर आ जाता है? अब दीपक के समाने वह साँप कभी नहीं आने वाला। यह महाप्रलय की अग्नि है। यह स्वयं उसकी आरती उतारती है, इसलिये उसे धन्य कहा। ब्रह्मज्ञान हमको नहीं होता है और न हम ब्रह्मज्ञान से संसार का अत्यंत नाश करते हैं। जो प्रलय-अग्नि ब्रह्माकार वृत्ति है, वह मुझ ब्रह्म की आरती उतारती है। उससे अज्ञान

नष्ट हो जाता है तो हम क्या करें! मैं ब्रह्म अज्ञान को नष्ट नहीं करना चाहता, इसलिये उसमें मेरा कसूर नहीं है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जो इस प्रकार की भावना करता है, वह भी धन्य है कि महाप्रलय अग्नि उसकी आरती उतारती है। इस धन्यरूपता को ग्रहण करके कुछ लोग ऐसे धन्य होते हैं। इसी धन्यता के रूप पर आगे विचार करेंगे।

## प्रवचन-३४

२२–४–७२

जो चिदानंदलहरी का सेवन करते हैं, वे धन्य हैं। उसके सेवन करने का तात्पर्य उससे एक हो जाना है। सेवक वही होता है जो मन से सेव्य के साथ अभिन्न हो जाये। जब तक सेव्य और सेवक अभिन्न नहीं हो जाते तब तक सेवा की पूर्णता नहीं होती। क्या कारण है कि प्रायः हम जिसकी सेवा करते हैं, उसको हम प्रसन्न नहीं कर पाते और यदि प्रयत्नपूर्वक उसको प्रसन्न करते हैं तो अपने आपको प्रसन्न नहीं रख पाते? दोनों का भेद समझना : या तो हम सेवा अपने मन के अनुसार करते हैं, इसलिये जिसकी सेवा करते हैं, वह प्रसन्न नहीं हो पाता। प्रायः यही होता है। आदमी कहता है कि हम तो उनके लिये सब कुछ करते हैं लेकिन वे खुश नहीं होते। हम जो कुछ समझते हैं, हम करते हैं लेकिन वह जो चाहता है, उसे करने को हम तैयार नहीं हैं। जो चीज़ उनको चाहिये, उसको हम ग़ैर-ज़रूरी समझते हैं और हम जिसको ज़रूरी समझते हैं, उसको वह ग़ैर-ज़रूरी समझता है। यह हमारी समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों। बच्चे चाहते हैं कि हमारी हर बात पर रुकावट न हो और कुछ भी करने की स्वतंत्रता हो। हम चाहते हैं कि बच्चे सर्वथा हमारे अनुसार करें। बच्चा कहता है 'पिता जी! हमको आप बढ़िया सूट मत सिलवा दो, उसकी हमको ज़रूरत नही है, लेकिन हमको कुछ स्वतंत्रता दो।' लेकिन पिता कहता है 'मैं तेरे लिये पाँच सौ रुपये का सूट सिलवाता हूँ, बेवकूफ! तू समझता क्यों नहीं? हमारी परतंत्रता कर ले।' भोजन बनाने वाला कहता है कि 'मैं इतना बढ़िया मिर्च का छौंक लगाता हूँ, घी डालता हूँ। फिर भी मालिक को पसन्द नहीं आता।' मालिक कहता है कि 'मुझे उबली सब्जी खाना अच्छा लगता है।' रसोइया समझता नहीं कि उन्हें मिर्च और घी अच्छी तरह डाला हुआ क्यों नहीं अच्छा लगता, उबली सब्जी क्यों अच्छी लगती है? यही सब जगह समझ लेना। आदमी अपनी घरवाली से कहता है कि मैं तेरे को बाइस्कोप ले चलूँ, साड़ी खरीदवा दूँ, शाम को होटल ले चलूँ, तू जो कहे, मैं तेरे लिये करने को तैयार हूँ। वह कहती है कि 'मैं सवेरे चार बजे उठकर ध्यान करना चाहती हूँ, इसलिये मुझे रात को आठ बजे सो जाने दो।' वह कहता है कि 'सवेरे उठकर ध्यान करके क्यों अपनी तबियत खराब करना चाहती है?' सेवक अपने मन के अनुसार सेव्य के साथ व्यवहार करता है तो वह सेव्य प्रसन्न नहीं होता। यह रात-दिन का काम है। यदि किसी ने निर्णय किया कि मैं अपने सेव्य के अनुसार ही काम करूँगा, मुझे उसी की सेवा करनी है, उसकी ही बात माननी है तो वह काम करके खुद को प्रसन्नता नहीं होती। उसके साथ रात १२ बजे तक घूमकर, जलसों में जाकर, बाइस्कोप देखकर आते हैं तो अपने को प्रसन्नता है, उसे नहीं है। यही समस्या है, या सेवक प्रसन्न है या सेव्य प्रसन्न है और इस 'या' के पेट में सिवाय दुःख के और कुछ नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि सेवक हृदय से दुःखी

है तो सेव्य के मन का सब काम करने पर भी सेव्य के हृदय में सच्ची प्रसन्नता नहीं होती। सेवक का हृदय यदि उदास है और ऊपर से वह प्रसन्न करने के लिये चाहे जो कुछ कर ले लेकिन सेव्य को प्रसन्नता नहीं हो सकती। घरवाली सारा काम तुम्हारे मन के अनुसार करे, फिर भी तुम्हारे हृदय में खटकता रहता है, बीच-बीच में कहते हो कि 'तुम उदास क्यों रहती हो?' वह कहती है कि 'मैं आपका सब काम करती हूँ, यह मेरा मन उदास रहे तो क्या करूँ!' उदासी खटकती है। जिसकी सेवा करो, वह यदि प्रसन्न नहीं तो सेवक को प्रसन्नता नहीं और सेवा करने वाले का हृदय प्रसन्न नहीं तो सेवा लेने वाले की तबियत भी नहीं खिलती है। समस्या यह हुई कि या सेव्य प्रसन्न या सेवक प्रसन्न और इस 'या' के पेट में दोनों दुःखी हैं क्योंकि या का मतलब है कि एक प्रसन्न और दूसरा नहीं प्रसन्न। फिर जो प्रसन्न होना चाहिये, वह भी प्रसन्न नहीं है।

इस समस्या का हल क्या है? बाकी सारे भक्तिशास्त्र इस चट्टान पर आकर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। द्वैती वैष्णवों के भक्तिशास्त्र चलते तो यह लेकर हैं कि हम भगवान् की सेवा करेंगे क्योंकि यही भक्ति का रूप हुआ और सेवा करने के लिये ही वे भगवान् से अलग रहना चाहते हैं क्योंकि एक हो जायेंगे तो सेवा कैसे करेंगे? विचार करने पर पता लगता है कि तुम अलग हो, इसीलिये सेवा नहीं कर सकते! जिस उद्देश्य के लिये तुम द्वैत रखना चाहते थे, वह उद्देश्य ही भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिये द्वैत में कभी सच्ची भक्ति हो ही नहीं सकती। सच्ची भक्ति कब हो? उस भगवती का सच्चा भजन तब हो जब उससे तादात्म्य हो जाये, जब सेव्य और सेवक का मन एक हो जाये। जैसे रसोइये को मिर्च का साग अच्छा लगता है, वैसे ही मालिक भी मिर्च का साग अच्छा लगने वाला हो तो दोनों को खुशी होगी अथवा दोनों उबली सब्जी खाने वाले हों तो दोनों खुश होंगे। जहाँ पति-पत्नी दोनों को बाहर घूमने, बाइस्कोप में जाकर पत्ते चाटने अच्छे लगें वहाँ दोनों सुखी होंगे या दोनों को ही प्रातःकाल चार बजे उठकर ध्यान-धारणा करके, सत्संग सुनने में आनंद हो तो दोनों सुखी होंगे। जितना-जितना तादात्म्य बढ़ेगा, उतना-उतना सुख बढ़ेगा। हम कभी-कभी एक दृष्टांत दिया करते हैं कि एक सज्जन के पैरों में बड़ा दर्द रहता था, इसलिये उनको बड़े ज़ोर से दबाने की ज़रूरत पड़ती थी। उनकी पत्नी को टहलने का शौक था। लेकिन मान लो कि दिल्ली की चांदनी चौक की गांधी गली या कटरा नील में रहते हों तो कहाँ घूमने जायें? दोनों ने उपाय निकाला  मैं लेट जाता हूँ, तू मुझ पर चल! इससे एक का घूमना हो जाता था और दूसरे का पैर दब जाता था। यह तादात्म्य सम्बन्ध है। जो काम करने में उसको प्रसन्नता, वही काम कराने में हमको प्रसन्नता, क्योंकि दोनों का मन एक है। इसीलिये यदि परमात्मा का वास्तविक भजन करना चाहते हो तो परमात्मा के साथ एक हो जाना पड़ेगा। जब तक वह शासन करने वाला और मैं शासित, तब तक यह प्रेम खिलने वाला नहीं है। यह तभी खिलेगा जब एक हो जायेंगे। वेदांत इसीलिये भक्ति की असलियत बताता है, भक्ति को हटाता नहीं है। सच्ची सेवा बताता है, लेकिन वेदांत में इसका नाम भक्ति नहीं, यह समझ लो।

यह समस्या दोनों का मन एक हो जाने से है। भक्त को यह नहीं लगता कि मैं भक्ति कर रहा हूँ क्योंकि वह तो वही करना चाहता है, उसे लगता है कि मैं अपने मन का काम कर रहा हूँ। न ईश्वर को लगता है कि मैं इससे काम करवा रहा हूँ। इसीलिये वह यह नहीं कहता कि मैं भक्ति कर रहा हूँ और परमात्मा भी नहीं कहता कि मैं भक्ति करवा रहा हूँ। दोनों का अंतःकरण (मन) एक हो गया है। परमात्मा की भक्ति करने वाला धन्य भक्त वह है जो परमात्मा के साथ एक भाव को प्राप्त हो गया। जैसा पहले भी बताया कि ईश्वर समष्टि है अर्थात् समष्टि का नाम ईश्वर है। जब हम समष्टि के साथ एक हो जाते हैं, जब हम अपने स्वार्थ को सबके स्वार्थ में समझ लेते हैं तब भक्ति है। अब तक हम समझते हैं कि हमारा स्वार्थ और देश का स्वार्थ अलग है, हमारा और मानवता का स्वार्थ अलग-अलग है, इसलिये कुछ देर तो हम मानवता का या समाज के स्वार्थ का काम भले कर लें लेकिन उसमें यह रहता है कि कुछ तो अपना भी स्वार्थ सिद्ध करें। वेदांत ज्ञान प्राप्त करने पर वह समझता है कि यह दो नहीं, एक ही है इसलिये सबका कार्य करते हुए उसके मन में यह कभी नहीं आता कि अपना भी तो काम करना है। जैसे भोजन बनाते हुए जब पत्नी और पति का मन एक है तो पत्नी सोचती है कि पति के लिये बना रही हूँ, ऐसा नहीं सोचती कि अपने लिये बना रही हूँ। लेकिन पति के लिये जो भोजन बनाया, खुद भी तो वही खायेगी। क्योंकि दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है इसलिये उसके मन का भोजन अपने आप बन गया। इसी प्रकार से जब हम समष्टि के लिये कार्य करते हैं, सारे समाज को सामने रखकर काम करते हैं तो हम समाज से बहिर्भूत थोड़े ही हैं। यह दृष्टि होनी चाहिये।

एक कथा आती है। एक बड़ा अच्छा ज्योतिषी था। राजा उसे बहुत मानता था और खूब धन देता था। वह ज्योतिषी मर गया क्योंकि ज्योतिषी भी मरता है, चाहे जितने अपने ग्रह देख ले, फिर भी वह मर जाता है। ज्योतिषी का लड़का बचपन में कुछ नहीं पढ़ा था। राजा के यहाँ से जो बढ़िया माल आये, सो खाये। एक नियम याद रखना 'सुखार्थिनां कुतो विद्या' हमारे शास्त्रकारों ने नियम किया कि जिसको सुख लेने की इच्छा हो जाती है, वह फिर विद्या नहीं पढ़ सकता। आज लोग हमसे शिकायत करते हैं कि 'आज के लड़के पढ़ते नहीं, हम क्या करें?' हम कहते हैं कि लड़के बुरे नहीं है, तुम उनको पढ़ने नहीं देते। तुम उसे पाँच सौ का सूट, रेडियो, ट्रांजिस्टर और टेलीविज़न लेकर दोगे, उसके कमरें में वातानुकूल लगाओगे, बढ़िया फाउण्टेन पैन लेकर दोगे तो वह बेचारा कैसे पढ़े? तुम पढ़ने दो, तब न पढ़े। जो सुख की तरफ प्रवृत्ति करेगा, वह विद्या नहीं पढ़ सकता। उनका कसूर नहीं है। जिनको विद्या की दृष्टि है, जो विद्या प्राप्त करना चाहते हैं, उनको सुख कहाँ मिलने वाला है! यह केवल बचपन में नहीं समझ लेना, यही जीवन के अंत तक समझना। विद्या-प्रेमी को कभी भी सुख नहीं होगा और सुख के प्रेमी को विद्या आई हुई भी चली जायेगी, नहीं रह सकती। दूसरी विद्याओं की तो बात क्या करें, राजविद्या, वेदांत विद्या, गुह्य विद्या भी उसमें नहीं टिकती जो सुख चाहने वाला हो। कई बार

लोग कहते हैं कि सत्संग काल में वृत्ति बड़ी स्थिर रहती है, पता नहीं आगे क्यों चंचल हो जाती है? क्योंकि उनको सुख की इच्छा हो जाती है। खाने को, पहनने को अच्छा चाहिये, घर वालों का चेहरा भी देखना है, सब तरह के सुख ढूँढोगे तो विद्या कहाँ से रहेगी!

इसलिये श्रुति ने कह दिया कि इस विद्या के साथ त्याग का समुच्चय है 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।' त्याग के द्वारा ही तुम इस विद्या को अपने अन्दर रक्षित कर सकोगे। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि यह बड़ी उल्टी बात कही, त्याग से कैसे रक्षा हो सकती है? संदेह होता है। कहते हैं  त्याग से भी रक्षा होती है। भूख लगी हुई हो तो भूख का त्याग हो जाये अर्थात् पेट भर जाय, बीमारी आई हुई हो, दूर हो जाये अर्थात् त्याग हो जाये तो रक्षा हो गई। ठीक इसी प्रकार से अनात्म पदार्थों का रक्षण अनात्म पदार्थों से होता है। इसलिये अनात्म पदार्थों से हट गये तो आत्म पदार्थों का रक्षण हो गया। भगवान् शंकर क्यों सब चीज़ों से अलग रहते हैं? इसलिये रहते हैं 'नहि स्वात्मारामं विषय-मृगतृष्णा भ्रमयति' विषय-मृगतृष्णा उसे परिभ्रान्त नहीं कर पाती क्योंकि आत्मा का आनंद है। अनात्मा के सुख को ढूँढोगे तो आत्मा के आनंद में कैसे स्थिर रहोगे? भगवान् वेदव्यास महाभारत में कहते हैं कि धर्म और अधर्म दोनों को छोड़ो, सच और झूठ दोनों को छोड़ो। प्रश्न होता है कि दोनों को क्यों छोड़ो? यही एक गाँठ है जिसे खोल लेना। गाँठ यह है कि धर्म को छोड़ने को कहते हैं तो बड़ा मीठा लगता है कि टण्टा छूटा क्योंकि उसमें परिश्रम करना पड़ता है। लेकिन धर्म छोड़ने का मतलब है कि धर्म के नतीजे सुख को छोड़ना। धर्म का फल सुख है, इसलिये न सुख को और न दुःख को ढूँढो। सुख को ढूँढने का तरीका धर्म है और दुःख को ढूँढने का तरीका अधर्म है। दोनों को मत ढूँढो। सुख तो स्वरूप है। चाहते हैं कि सुख तो मिलता रहे लेकिन उसका साधन धर्म न करना पड़े! यह नहीं हो सकता। दोनों को छोड़ने के लिये इसलिये कहते हैं कि धर्म से होने वाला सुख अनात्म सुख है, चेतन का सुख नहीं, जड से होने वाला सुख है। अधर्म से होने वाला दुःख भी जड का दुःख है। अनात्मा के सुख-दुःख को जैसे ही छोड़ा, वैसे ही आत्मा का आनंद स्वतः प्रकट है। बड़ा कठिन मामला है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि त्याग के द्वारा पालन करो, रक्षा करो। इसका मतलब है कि अनात्म धर्मों के त्याग से ही आत्मानंद स्फुट होता है। जैसे रोग के हटाने से ही स्वस्थता प्राप्त होती है, कोई कहे कि बिना रोग छोड़े स्वस्थ हो जायें तो यह कैसे सम्भव बताया जाये?

जब आत्मा और अनात्मा दोनों का सुख मिल सकता है तो आत्मा के सुख को लेने के लिये ही क्यों कह रहे हैं? श्रुति ने कहा 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' कठिनाई यह है कि अनात्मा तुम्हारा कभी बन नहीं सकता, किसी का आज तक नहीं बना है। यदि अनात्मा का सुख तुमको नित्य प्राप्त हो सकता तो विकल्प होता। मान लो एक तो तुम्हें पचास रुपये महीने की नौकरी देता है। प्राइवेट नौकरी में यह लिखा तक है कि बिना नोटिस के निकाल सकते हैं, तन्ख्वाह नहीं

बढ़ायेंगे। दूसरी, सरकारी नौकरी है जिसमें दो हज़ार रुपये महीना, रहने को मकान, जन्म भर निकाला नहीं जा सकता, तन्ख्वाह बढ़ती ही जायेगी। यदि ये दो विकल्प सामने हुए तो इन्हें विकल्प नहीं कह सकते क्योंकि दोनों की तुलना ही नहीं है। दोनों का भेद इतना बड़ा है कि विकल्प है ही नहीं। एक आदमी तुमको पचास साल की एजेन्सी देता है जिसमें हर साल तीन लाख का माल मिलेगा, आगे माल बढ़ता जायेगा, सोल एजेन्सी, पाँच प्रतिशत कमीशन और कमीशन भी हर साल आधा प्रतिशत बढ़ता जायेगा। दूसरी तरफ साल में एक हज़ार का माल मिलेगा, जब चाहें एजेन्सी कैंसल कर सकते हैं, एकल एजेन्सी नहीं मिलेगी, दूसरे को भी दे सकते हैं, आधा प्रतिशत कमीशन देंगे और उसका भुगतान भी पाँच साल बाद करेंगे। पहले वाले की एजेन्सी मत लो, यह साथ में शर्त है। इसमें कोई विकल्प नहीं, झट पहले वाले को ले लोगे। औरतें कहेंगी कि यह हमारी समझ में नहीं आया, हम नौकरी और व्यापार दोनों नहीं करतीं। अतः मान लो तुम्हें लड़की की शादी करनी है। एक लड़का एम०ए० पास है, चार हज़ार रुपये महीना कमाता है, अपनी जाति का और देखने में बड़ा सुन्दर है, स्वभाव का शान्त है और उसके घर वाले बड़े पुराने रईस हैं। दूसरा लड़का कमाता कुछ नहीं, मैट्रिक फेल है, काला, मुँह पर माता के दाग हैं, बड़े तेज़ स्वभाव का है, माँ को भी हाथ उठाकर मारने वाला, छोटी जाति का है। इन दोनों लड़कों को लेकर तुम्हें कहें कि दोनों में से जिससे मर्ज़ी विवाह कर दो। यहाँ विकल्प नहीं मानोगे, कहोगे  हमसे मज़ाक करते हैं। दूसरे का नाम ही क्यों लेते हैं।

इसी प्रकार यहाँ एक आत्मा का आनंद नित्य, हमेशा होने वाला है, यह पहली चीज़ है। दूसरी चीज़ है कि बिना किसी साधन का होने के कारण नित्य बढ़ने ही वाला है। मिलने में बड़ा सरल है। एक तरफ यह आनंद है, और दूसरी तरफ अनात्मा के पदार्थों का सुख प्राप्त करने में कठिन, प्राप्त कर लिया तो रखने में कठिन, रख लिया तो भोग करने में कठिन 'सर्वेन्द्रियाणाम् जरयन्ति तेजः' २५ रसगुल्ले खा लिये तो आगे नहीं खा सकते, वहीं मामला ख़त्म है। सब तरह से क्षयिष्णु आगे नरक के डण्डे पड़ाने वाला और किस समय तुम्हारे पास से निकल जाये, कोई ठिकाना नहीं। लोग जब मौलिक अधिकारों की बात करते हैं तो बड़ी हँसी आती है। शरीर पर ही अपना अधिकार नहीं है तो बाकी क्या मौलिक अधिकार आने वाले हैं! लोग सरकार से पूछते हैं कि बिना मुआवज़ा दिये (कम्पैन्सेशन) दिये हुए हमारी सम्पति कैसे ले लेगी? वेदांत कहता है कि यह तेरा शरीर भी एक दिन बिना मुआवज़ा के ले लिया जायेगा! इस अनात्मा के सुख को लोगे या उस आत्मा के आनंद को लोगे? क्या कोई विकल्प है। 'कस्य स्विद्धनम्' यह धन किसी का नहीं है। जैसे विद्यार्थी को सांसारिक सुख नहीं वैसे आत्मविद्या स्थिर इसलिये नहीं कि हम अनात्मा के सुखार्थी बन जाते हैं। जो इस आत्मविद्या को प्राप्त करना चाहता है, वह इस अनात्म-पदार्थों के सुख की तरफ दृष्टि नहीं करता।

ज्योतिषी के लड़के को उसके बाप ने सुख ही सुख दिया था। राजा के यहाँ से माल आता

था। नतीजा यह हुआ कि लड़का न पढ़ा, न लिखा और न कुछ काम करना सीखा। जैसे तुम लोग अपने लड़कों को तैयार करते हो तो वे केवल इस काम के रहते हैं कि जब तक तुम जियो, तुम्हारी छाती सालते रहें! यही विचार करते रहते हो कि कहीं बेचारे दुःखी न हो जायें। उन्हें क्या चिन्ता, वे तुम्हें क्या सुख देंगे! जब उसका पिता मर गया तो सारा धन उसने थोड़े दिनों में ख़त्म कर दिया। अब सोचने लगा कि राजा के पास जायें। वहाँ से चला, रास्ता लम्बा था। एक जगह गाँव के पास पेड़ के नीचे बैठ गया और जो भोजन साथ में बाँधकर लाया था, खाने लगा। तब तक वहाँ एक साँप आ गया और मनुष्य की वाणी में उससे पूछा ‘कहाँ जा रहे हो?’ वह समझ गया कि यह समान्य साँप नहीं है। साँप ने कहा ‘घबरा नहीं, तेरे बाप से मेरी बड़ी दोस्ती थी। तू राजा के यहाँ जायेगा तो क्या करेगा?’ उसने कहा ‘वह मेरे पिता को धन देता था तो मुझे भी देगा।’ साँप हँस पड़ा और कहने लगा ‘राजा ऐसे नहीं देते। तेरा बाप ज्योतिषी था, उससे राजा की बात होती थी। तू पढ़ा-लिखा नहीं है, क्या करेगा? इसलिये मैं जैसा कहता हूँ, वैसा करना। तू वहाँ जाकर कहना कि मैं साल भर में एक ही प्रश्न का जवाब देता हूँ। वह खुशहाली के बारे में ही प्रश्न करेगा। वह पूछे तो तू कहना कि इस साल भयंकर गर्मी पड़ेगी, खड़ी खेती भी सूख जायेगी। इसलिये राजन्! इस साल अनाज इकट्ठा करके रखना, अग्निशामक उपाय करना।’ वह वहाँ गया तो राजा ने सुना कि ज्योतिषी का लड़का आया है। पिता की प्रशंसा के पीछे लड़के की प्रशंसा भी हो जाती है। राजा ने पूछा ‘कुछ जानते हो?’ कहा ‘हाँ, लेकिन साल भर में एक ही प्रश्न का जवाब देता हूँ।’ राजा पुराने ज़माने का था, पुराने राजों को प्रजा की चिंता होती थी। आजकल के राजाओं को चिन्ता है कि सेविंग्स बैंक में अपने कितने रुपये पहुँच जायें क्योंकि वही असली माल है, बाकी सब तो नकली माल है। राजा ने पूछा कि ‘यह साल कैसा होगा?’ उसने बताया कि ‘इस साल भयंकर गर्मी पड़ेगी और लू चलेगी, अंधड़ आयेंगे, खड़ी खेती सूख जायेगी। इसलिये अनाज इकूठा कर लेना और अग्निशामक उपाय करना।’ राजा को उस पर विश्वास था, वह वहाँ कुछ दिन रह गया। उसने जो बातें कहीं, वही होने लगीं। राजा को उस पर बड़ी श्रद्धा हो गई कि यह बड़ा अच्छा ज्योतिषी है। वहाँ से जाने लगा तो राजा ने उसे बहुत धन दौलत दिया। सुखार्थी में बुद्धि नहीं होती, वह मूर्ख होता है। उसने सोचा कि यह साँप तो और भी किसी को बताता रहेगा। इसलिये इसे मार डालना चाहिये! उसने चलते समय राजा से कहा कि मुझे दस गड्डे लकड़ी भी साथ दे दो। राजा ने सोचा कि ज्योतिषी है, शायद शतचण्डी या सहस्रचण्डी यज्ञ करना होगा। इसलिये बढ़िया लकड़ी दे दी। जब वहाँ पहुँचा तो सब बिलों के चारों तरफ लकड़ी रखकर उसमें तेल छिड़ककर जला दिया कि वहाँ साँप मर जायेगा।

जो धन लाया था, वह सारा साल भर में ख़त्म हो गया। फिर राजा के पास चला। वहीं पहुँचा और खाने की तैयारी करने लगा। फिर वह साँप वहाँ आ गया और कहा ‘क्या बात है?’

साँप ज़रा प्रेम से बोला, इसलिये उसे कुछ हिम्मत आई, सोचा, 'इसे क्या पता होगा?' जबकि जानता है कि साँप मनुष्य की वाणी बोल रहा है, इसने भविष्य की बात बता दी, फिर भी सोच रहा था कि इसको पता नहीं होगा! साँप ने कहा 'फिर राजा पूछेगा तो क्या बतायेगा?' उसने कहा 'आपको गुरु बना लिया है, इसलिये वही बता दूँगा कि इस साल गर्मी पड़ेगी और लू चलेगी।' साँप ने कहा 'ऐसा नहीं कहना। यह कहना कि इस साल इतनी वृष्टि होगी कि चारों तरफ पानी ही पानी भर जायेगा। खेती में पड़ा हुआ बीज सड़ जायेगा, लोग बड़ा कष्ट पायेंगे, बड़ी बाढ़ें आयेंगी, झोपड़ियाँ गिर जायेंगी। इसलिये सारी व्यवस्था कर लेना, किनारे के गावों को खाली करवा लेना।' उसने कहा 'ठीक है।' पहुँचा। राजा को पहले ही उस पर श्रद्धा हो गई थी। फिर वही कहा कि मैं एक प्रश्न का जवाब देता हूँ। वही जवाब दिया जैसा साँप ने कहा था कि जल-प्लावन होगा। राजा ने रहने का सब इंतजाम कर दिया। वह वहाँ दो-एक महीने रहा और उसके बाद प्रसन्न होकर वहाँ से विदा हुआ तो राजा ने उसे बड़ी दौलत दे दी। लौटने पर सोचने लगा कि एक साल गर्मी और एक साल अति-वृष्टि होती है। वह साँप किसी दूसरे को ऐसा न बता दे, बता देगा तो हमारी रोज़ी मारी जायेगी। इसलिये राजा से कहा कि 'दस नौकर हमारे साथ कर दो।' वहाँ पहुँचा तो गाड़ी रुकवा दी और उन नौकरों से कहा कि इन सारे बिलों में पानी भर दो। अब उसने सोचा कि साँप मर गया होगा क्योंकि आग तो ऊपर-ऊपर रहती है। घर चला आया।

साल भर में फिर सारी सम्पत्ति ख़त्म हो गई, फिर उसी वृक्ष के पास पहुँचा। तब तक देखता है कि वह साँप फिर वहाँ आ गया! उसने पूछा तो कहा कि 'राजा के पास जा रहा हूँ। वही कह दूँगा कि इस साल फिर आग ही बरसेगी।' साँप ने कहा 'ऐसा नहीं कहना। कहना कि इस साल ठीक वृष्टि होगी, गौएँ खूब दूध देंगी, खेती ठीक होगी। सब लोग दूध-पूत से सुखी होंगे।' उसने जाकर राज को वही बता दिया। राजा को बडी प्रसन्नता हुई। दो-एक महीने वहाँ रहा। राजा ने देखा कि जैसा उसने कहा, वैसा ही हुआ। वहाँ से चलने लगा तो उसके मन में आया कि मौसम का कुछ ठिकाना नहीं। न जाने कब पानी बरस जाये और कब गर्मी पड़ जाये। इसलिये अपने साथ ही इस साँप को कर लेना चाहिये। चलने लगा तो कहा 'राजन्! हमें दूध के बड़े-बड़े कण्डाल भर कर दो।' सब बर्तनों में दूध लेकर वहाँ आया। दूध के कण्डाल रखकर प्रार्थना की 'सर्प देवता! आओ और भोग लगाओ।' वह साँप और उसका सारा परिवार आ गया। जब उन्होंने दूध पी लिया तब लड़का पूछने लगा 'हमने आपको दूध पिलाया, आप खुश हैं?' साँप कहने लगा 'तूने आग लगाई तो कौन-सा शाप दिया, पानी में डुबाया तो क्या किया, जो आज दूध पीकर प्रशंसा करूँ?' 'अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रगथितं शरीरम्। सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।।' सुख और दुःख कोई दूसरा नहीं देता। यह कुबुद्धि है कि दूसरा सुख-दुख दे सकता है। 'मैं यह काम करता हूँ' यह वृथा अभिमान

है। शरीर का जैसा कर्मसूत्र है उसके अनुसार शरीर को मिलेगा। पहले साल मैंने कहा था कि जबरदस्त गर्मी पड़ेगी, लू चलेगी। मैं भी इस देश का रहने वाला हूँ। सब पर गर्मी और लू आई तो मैं कैसे बचता? यह समष्टि-व्यष्टि की एकता है। मेरी गर्मी का निमित्त तू बन गया, यह बात दूसरी है। और वह निमित्त भी तू नहीं बना, उसका भी कारण मैं ही हूँ क्योंकि गर्मी का विचार था कि अनेक प्राणियों को खूब कष्ट देगी। मैंने राजा को सावधान किया, इसलिये मैंने गर्मी के साथ अपकार किया, मैंने उसके कार्य में रुकावट पैदा की। मैं था तो इसी राज्य का, गर्मी ने सारा बदला चुका दिया, निमित्त तू बन गया। ऐसे ही दूसरे साल कहा कि ऐसा जल-प्लावन होगा कि सारा देश डूबेगा। मैं भी इस देश का रहने वाला हूँ, सब डूबेंगे तो मेरे ऊपर भी जल-प्लावन आयेगा। दूसरे डूबें, इसमें मैंने कुछ रुकावट पैदा की। उसका फल यह हुआ कि वरुण ने मेरे ऊपर ही सारा बदला निकाला। तेरा कोई कसूर नहीं है। इसी प्रकार से इस साल सभी को बढ़िया खाने-पीने को मिला। मैं भी इस देश का रहने वाला हूँ। सबको मिला तो मेरे पास भी आ गया। मैंने दो बार उस दुःख से लोगों को बचा लिया तो मुझे भी सुख-दुःख मिल गया। इसलिये तू इसमें कारण नहीं है।' समष्टि व्यष्टि अलग-अलग नहीं है, एक ही है। साँप की उत्तम दृष्टि है।

उत्तम दृष्टि वाला नहीं सोचता कि मुझे सुख हो। साँप की तरह सोचता है कि चाहे मुझे कितना ही दुःख उठाना पड़े, मैं समष्टि को सुखी करूँ। समष्टि सुखी होने पर व्यष्टि को दुःख नहीं होगा। जो व्यक्ति अकाल में खिला देगा, सुकाल में तुम उसे भूखा नहीं मरने दोगे। उसकी इच्छा नहीं, फिर भी बिना इच्छा किये अपने आप प्राप्त होगा। समष्टि-व्यष्टि की एकता होने के कारण वह व्यक्ति समष्टि के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त किये होता है। उसकी सेवा इसलिये नहीं करता कि वह सुखी हो। क्या कारण है कि आजकल के समाजसेवी इतने दुःखी होते हैं? कहते हैं 'मैं जिसका उपकार करता हूँ, वह मेरी बात नहीं मानता'। घर में कहते हैं कि हम लड़की का उपकार करते हैं, वह बात नहीं मानती, इसका क्या कारण है? कारण यही है कि जब तक तादात्म्य नहीं होगा, काम नहीं बनता। समाजसेवी का तादात्म्य नहीं है, इसलिये समाज-सेवा करने पर भी वह सुखी नहीं हो पा रहा है। राजा-प्रजा का तादात्म्य नहीं है, इसलिये प्रजा उसकी क्रिया से सुखी नहीं होती है। जैसे-जैसे यह तादात्म्य बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे सर्वत्र ईश्वर-दृष्टि करने वाला होगा। भगवान् ने गीता में इस कार्य को एक विचित्र नाम दिया। उस पर जितना विचार-चिंतन करो, उसमें से एक नई बात निकलती है। भगवान् ने तीन जगह कहा कि चाहे मुमुक्षु हो, चाहे ज्ञानी हो, उसे कर्म करना चाहिये लेकिन लोकसंग्रह के लिये करना चाहिये। यह शब्द तीन जगह भगवान् ने प्रयोग किया है 'कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः' (४.१५) 'लोकसंग्रहमेवाऽपि' (३.२०) और 'चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् (३.२५)।' एक जगह मुमुक्षु के लिये और एक जगह ज्ञानी के लिये बता दिया। एक जगह दोनों का संग्रह करके बता दिया कि जनक

आदि ने भी पूर्व में ऐसा ही किया था, इसलिये तू भी लोकसंग्रह की दृष्टि से कर। लोकसंग्रह विचित्र शब्द है। भगवान् उपकार शब्द का प्रयोग भी कर सकते थे लेकिन संग्रह शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि इसमें तादात्म्य की ध्वनि है, उपकार में वह ध्वनि नहीं है। उपकार में उपकार्य-उपकारी भाव होता है। जो मोक्ष की इच्छा करने वाला है, उसे खुद ही अपना उपकार करना है। जब अंतःकरण की शुद्धि के लिये उपकार करता है तो वह भी किसी अन्य का उपकार नहीं क्योंकि अपने लिये कर रहा है। ज्ञानी को दूसरे के प्रति द्वितीय-बोध नहीं तो उसका भी उपकार नहीं बनता। इसलिये भगवान् ने लोकसंग्रह पद कहा। सामान्य रूप से लोग दूसरे के फ़ायदे के लिये प्रयत्न करते हैं। भगवान् ने वह भी नहीं कहा। दूसरी जगह कहा 'यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' ईश्वरार्पण-बुद्धि से करने से अंतःकरण शुद्ध होता है; लेकिन यहाँ ऐसा नहीं कह रहे हैं। लोकसंग्रह का रूप ही यह है जिसे यहाँ भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर 'धन्य' शब्द से कर रहे हैं। तादात्म्य-बोध हो जाना ही भगवती की आराधना है। यह जो तादात्म्य-बोध है, उसी को लोकसंग्रह पद से कहा है। वही धन्य है जो इस स्थिति को पा चुका।

# प्रवचन-३५

२३–४–७२

परब्रह्म परमात्मतत्त्व की उपलब्धि का स्थान और स्वरूप बताया। उसका भजन करने वाले को धन्य बताया। इसके स्वरूप पर थोड़ा विचार किया था कि उसकी धन्यता क्या है, धन्यता का स्वरूप क्या है, धन्य का मतलब क्या है। धन्य का मतलब होता है कुछ ऐसी क्रिया करना जो दूसरा न कर सके। आजकल वाला धन्यवाद नहीं लेना। अंग्रेज़ी वालों के 'थैंक्स' को आजकल धन्यवाद कहते हैं। यहाँ वह तात्पर्य नहीं है। वस्तुतः धन्य का मतलब होता है किसी ऐसे कार्य को कर लेना जो कोई दूसरा न कर सके। वह कौन-सा कार्य कर लेता है जो दूसरा नहीं कर सकता? कब उसे धन्य कह सकेंगे? संसार के सारे प्राणी अहं के खूंटे में बँधे हुए हैं। जैसे गाय के लिये एक लकड़ी गाड़ दी जाती है, उस लकड़ी में रस्सी बाँध दी जाती है और वह रस्सी गाय के गले में बाँध देते हैं। वह गाय काफी घूमती रहती है। जितनी लम्बी रस्सी होती है, उतनी ही दूर में गाय घूमती रहेगी। कभी बिलकुल उस ठूंठ के पास आ जायेगी, कभी गज-दो गज दूर चली जायेगी। लेकिन इस घूमने में उसका सम्बन्ध उस ठूंठ के साथ कभी ख़त्म नहीं होता। इसलिये गाय दूर जाते हुए भी कहना पड़ेगा कि वस्तुतः वह ठूंठ से दूर नहीं है। इसी प्रकार से हमारे अंतःकरण में अहं का ठूंठ गाड़ दिया गया और काफी लम्बी डोरी हमें मिली हुई है। यहाँ से चंद्रलोक भी हम चले जाते हैं, अपोलो में ही नहीं, यहाँ बैठे-बैठे ही पहुँच जाते हैं। आँख पहुँचने के साथ, आँख पर चढ़कर चन्द्रमा में पहुँच जाते हैं। चन्द्रमा में पहुँचे हुए भी यहाँ मन में अंतःकरण रूपी ठूंठ से छूटकर नहीं पहुँचे। संसार के सारे प्राणी अहं में बँधे हुए हैं। चाहे राग, द्वेष, काम, क्रोध लोभ, मद, मात्सर्य का जीवन हो, चाहे उससे उल्टा वैराग्यवान् द्वेष-रहित, निष्काम, क्रोध-रहित, उदार, सर्वथा निर्मोही चरित्र हो, लेकिन दोनों जगह अहं के ठूंठ में ही बँधे हुए हैं। किसे यहाँ धन्य कहा? जो भगवती का भजन करने से धन्य होने वाला है, वह इस अहं-ठूंठ को उखाड़ देता है, बाकी सब लोग अहं में बँधे रहते हैं। इसीलिये भजन करने वाला धन्य है। जीव और शिव में बस इतना ही फ़र्क है, कोई ज़्यादा नहीं है। अहंता के पाश में बँधा जीव और अहं-पाश से छूट गया तो शिव है। जहाँ मैं का बंधन नहीं, वहाँ जीवभाव नहीं है। इसमें दृष्टांत है कि गहरी नींद में मैं नहीं तो वहाँ जीव-भाव भी नहीं है। गहरी नींद में राग नहीं तो वैराग्य भी नहीं, वहाँ शोक अशोक दोनों नहीं हैं। इसीलिये जब हम लोग शिवरात्री आदि के दिन आपसे पूजा करवाते हैं तो मध्य में परमात्मा को स्थिर करके चावल छुड़वाते हैं 'वैराग्याय नमः अवैराग्याय नमः धर्माय नमः अधर्माय नमः ऐश्वर्याय नमः अनैश्वर्याय नमः ज्ञानाय नमः अज्ञानाय नमः' राग-वैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान चारों का पूजन करवाते हैं। इसलिये मैं नहीं तो राग और वैराग्य दोनों नहीं हैं। यदि अहं को उखाड़ दिया तो सारा

जीवभाव समाप्त हो गया, शिवभाव रह गया। यही देवभाव की प्राप्ति है, इसी का नाम देवभाव है। जब तक अहं है तब तक देव नहीं और अहं नहीं तो जीव नहीं।

अहं को लेकर ही यह सारा टण्टा है। अहं को लेकर ही तुम्हारा सारा कार्य अभी तक चल रहा है। जब तक जीवभाव में हो, तब तक सारा कार्य अहं से बँधा हुआ है। अगर चित्त शुद्ध करना चाहते हो तो अहं (मैं) को शुद्ध करना चाहते हो। यदि कहते हो कि अंतःकरण शुद्ध हो, तो भी सोच रहे हो कि मैं का बंधन छूटे, ज्ञान भी मैं को हो। बाकी सब कार्य तो मैं का करते ही हो, खुद ही जानते हो। धन कमाना, ब्याह करना, पुत्र पैदा करना, बंगाल का रसगुल्ला खाना इत्यादि सारे काम मैं के लिये हैं। विचार करके देखो तो ज्ञान भी मैं के लिये ही, वैराग्य भी मैं के लिये, जितने भी साधन हैं, वे सब मैं को लेकर हैं। जितनी सिद्धियाँ हैं, वे भी मैं के लिये हैं। इसलिये मैं के खूँटे में बँधे हुए ही यह सब होता। जब मैं का खूँटा ही हट गया तो फिर आगे कोई भी कार्य कैसे होगा? यह शंका होती है। कुछ लोग यह मानते हैं कि यदि मैं उखड़ गया तो खेल ही ख़त्म हो जायेगा। उनका कहना ठीक भी है और ग़लत भी है। ठीक इसलिये है कि जिसको संसारी खेल समझते हैं, वह इस मैं रूपी खूँटे के साथ ही सम्बन्धित है। लेकिन यह खेल मैं रूपी खूँटे से बहुत बड़ा है। बाहरी संसार को छोड़ो, पहले शरीर को ही लो। शरीर में भोजन कौन पचाता है? कह सकते हो मैं पचाता हूँ। अगर पूछें कि 'कैसे पचाते हो, तब पेट से क्या-क्या रासायनिक पदार्थ निकलते हैं?' तो नहीं बता सकते! हाजमा बिगड़ा तो कहते हैं कि 'हाजमा बिगड़ गया, पता नहीं क्या बात हो गई?' यह नहीं कहते कि मैंने हाजमा बिगाड़ा। अतः शरीर के कार्य मैं के द्वारा नियंत्रित नहीं हैं। हृदय की गति और खून का दौरा मैं को लेकर नहीं है। शरीर से पसीना भी मैं को लेकर नहीं है, पता नहीं कैसे निकलता है। चाहते हो कि पसीना निकले तो नहीं निकलता। कई लोग इसके लिये दवाई लेते हैं, फिर भी नहीं निकलता। और आगे चलो, मन में जब कुछ भी विचार आता है, क्या उसे तुम निकालते हो? जैसे शरीर में बदहज्मी हो गई तो तुमने उस बदहज्मी को मैं के साथ जबरदस्ती बाँध दिया, तुमने नहीं की, इसी प्रकार से मन में जो विचार आता है, वह तुम लाते नहीं हो लेकिन उठने के बाद फिर उसे मैं के साथ बाँध लेते हो। शरीर और मन में भी ९० प्रतिशत काम ऐसा है जो इस काल में भी तुम नहीं कर रहे हो और चल ज़रूर रहा है। बाहर की बात नहीं कह रहे हैं। किसी दिन बैठकर पाँच घण्टे तक नोट करते रहो कि कौन-कौन सा विचार तुम मन में *लाते* हो और कौन-कौन-सा विचार मन में *आता* है? जो विचार तुम लाये, उन्हें अलग लिखो और जो विचार लाने का तुम्हारा कोई ध्यान नहीं, वह भी आता रहा उसे भी लिखते रहो। पाँच घण्टे में ही पता लग जायेगा कि ९०-९५ प्रतिशत विचार तो आते हैं और पाँच प्रतिशत तुम लाते हो। बहुत-से लोगों का तो प्रयोग किया ही हुआ है क्योंकि सत्संगी हो। जब प्रातःकाल ध्यान करने बैठते हो तो तुम परमात्मा का ख्याल लाना चाहते हो लेकिन संसार के ख्याल आते रहते हैं। रोज़ ध्यान में पता

लगता होगा कि कितने प्रतिशत संसार के ख्याल आते हैं। बड़े प्रेम से ध्यान करने के लिये बैठते हो, कि भगवान् विष्णु का ध्यान करेंगे।

'सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्।।'

भगवान् की मूर्ति शंख, चक्र धारण किये हुए है, पीला कपड़ा पहने हुए है, इसका ध्यान कर रहे थे। अब वह पीला कपड़ा देखकर याद आया कि 'मिन्नी की शादी के लिये डोली के समय पीले रंग की साड़ी अच्छी रहेगी, कोटावाली लायें या बनारसी सिल्क की लायें, आजकल बनारसी सिल्क का भाव बड़ा तेज़ हो गया है, क्या बतायें महँगाई बढ़ती ही जा रही है, दुकान की बिक्री आजकल कम हो गई है। कई दिन से मुनीम जी को बलदेवदास जी के यहाँ तगादा लेने के लिये नहीं भेजा, वहाँ १८ हज़ार का तगादा हो गया है' ध्यान करने बैठे थे लेकिन तगादे तक पहुँच गये! ये सारे विचार तुम नहीं लाये। ध्यान कर रह रहे थे, लाना क्या चाह रहे थे और कहाँ पहुँच गये? यह तो तब है जब पूरे ज़ोर-शोर से ध्यान कर रहे हो। बाकी समय तो मन को छूट दी ही हुई है। इससे सिद्ध हुआ कि अहं के न रहने पर भी मनीराम ९०-९५ प्रतिशत काम करता रहेगा। इसी प्रकार से ९०-९५ प्रतिशत देहराम भी काम करता ही रहेगा। लेकिन समझते हैं कि अहं चला जायेगा तो काम कैसे होगा! नहीं होगा  इतने अंश में तो ठीक है कि पाँच प्रतिशत अहं को बाँध कर होने वाला काम नहीं होगा, लेकिन बाकी सब होता रहेगा, उसे कोई नहीं रोक सकता।

विचार करो कि वह ९०-९५ प्रतिशत करने वाला जो है उसी का नाम देवाधिदेव महादेव है। और तो कोई कर नहीं रहा है, परमात्मा ही कर रहा। अब ज़रा आगे विचार करते हैं, घबराना नहीं। जो तुम कहते हो कि हम पाँच प्रतिशत काम कर रहे हैं, वह भी क्या तुम सचमुच करते हो? ९०-९५ प्रतिशत में तो तुम कुछ करते ही नहीं, वृथा अभिमान है कि हम करते हैं। पाँच प्रतिशत में मन के अन्दर जो विचार आये, वे यदि तुम्हें पसंद हुए तो उनको तुमने स्वीकार किया, नहीं पसन्द हुए तो तुमने विरोध किया। क्या पाँच प्रतिशत भी काल ऐसा आता है जब मन में कोई विचार न रहे? सूक्ष्म दृष्टि से समझना। अथवा पाँच प्रतिशत भी ऐसा काल आयेगा, जब शरीर क्रिया न करे? शरीर क्रिया ज़रूर करेगा। इसलिये हो यह रहा है कि यदि सर्वथा देवाधीन भी कार्य करते तो भी चलता, तुम तो केवल यह करते हो कि पाँच प्रतिशत चीज़ों को लेकर या तो उस देव-संकल्प के साथ हो जाते हो या विरोध प्रकट करते हो। बस, इतना ही कर पाते हो, और कुछ नहीं। जहाँ देवलीला के साथ होते हो, वहाँ तुम्हारे बिना भी कार्य होता है और जहाँ विरोध करते हो, वहाँ क्या तुम विरोध कर पाते हो? मन से बड़ा विरोध करते हो 'अरे मनीराम! यह धन नश्वर है, चला जाने वाला है। बार-बार सत्संग में सुना, युक्ति से विचार

किया, शास्त्र भी कहता है कि यह धन बिजली के पलकारे की तरह है।' मन को यह सब समझाते हो और कहते हो कि तू लोभ न कर। लेकिन विरोध करने पर भी जीत नहीं पाते और समर्थन करके कोई काम तेज़ नहीं कर पाते। फिर तुम्हारे इस विरोध करने से केवल एक फल 'दुःख' ही हुआ, तुम्हारी चली तो नहीं। जब तुम्हारी नहीं चलेगी तो दुःख होगा ही। इसलिये तुम बड़ा प्रयत्न करके अहं का खूँटा गाड़कर केवल एक काम करते रहते हो कि दुःख भोगते रहते हो। बस, इसमें तुम स्वतंत्र हो, और कुछ नहीं कर सकते। अहं का खूँटा उखड़ गया तो भी कार्य चलता रहेगा पर यह खूँटा न होने से दुःख उड़ जायेगा। अब देवलीला में तुम किसी प्रकार विरोध नहीं करोगे। सारा का सारा दुःख इसलिये है कि सृष्टि के आदि काल में ही जो संकल्प उस हिरण्यगर्भ ने कर लिया तदनुकूल ही सारी घटनायें होती हैं। घटनाओं पर हमारा कोई ज़ोर नहीं है, ज़ोर अहंता को रखने में है या अहंता को छोड़ने में है। अहंता को लेकर ही राग-द्वेष है। अहंकार हट गया तो राग-द्वेष हट गये। इसी में जीव की स्वतंत्रता है।

एक बार एक रानी अपने महल में अपनी सखियों के साथ बैठी हुई बातें कर रही थी। अकस्मात् एक औरत रोती हुई दौड़कर आई और रानी से कहा कि 'मेरे को बचाओ।' रानी ने घबराकर पूछा कि 'तेरे को कौन दुःखी कर रहा है? घबरा नहीं, यहाँ चारों तरफ फौज है, किसी प्रकार का डर नहीं, तू निस्संकोच होकर कह कि तेरे को कैसे बचाऊँ।' उसने कहा कि 'मैं ज़रा बैठ जाऊँ तो शांति से बताऊँ।' रानी ने पानी मँगाया। वह शांत हो गई तो कहने लगी कि 'मैं एक क्षत्रिय-पुत्री हूँ, मेरा नाम अशोकमाला है। जब मैं विवाह-योग्य हुई तो मेरे ही गाँव में हठशर्मा नाम के एक ब्राह्मण ने मेरे पिता से कहा कि मेरा ब्याह उसके साथ कर दे। मेरे पिता ने मना किया कि 'तेरे साथ कैसे ब्याह करूँ!' उसने ज़िद पकड़ ली कि ब्याह करना ही पड़ेगा। मैंने भी हल्ला-गुल्ला सुना तो ऊपर से देखा कि ब्राह्मण बड़ी उम्र का कुरूप, काला भुजंग, नाक-आँख किसी काम के नहीं। मैंने अपनी माँ से कहा कि 'पिता जी से कह देना कि इसके साथ मेरा ब्याह नहीं करना।' पिता ने ऊपर आकर मेरी माँ से कहा कि 'यह ब्राह्मण ज़िद कर रहा है, इसलिये लड़की का ब्याह इसके साथ कर दें?' माँ ने कहा कि 'अपने को भी पसंद नहीं और लड़की ने भी कह दिया कि इसके साथ मेरा ब्याह नहीं करना।' पिता ने जाकर उस ब्राह्मण से कहा कि 'लड़की भी ब्याह नहीं करना चाहती, इसलिये नहीं हो सकता।' वह कहने लगा 'जानते हो कि मेरे पास बहुत पैसा है। अरे, दस-पाँच लाख तुम्हें चाहिये तो मेरे से ले लो लेकिन मेरा ब्याह इसके साथ कर दो।' मेरे पिता का दिल थोड़ा ढीला पड़ा। धन को देखकर आदमी का दिल ढीला पड़ जाता है। इसीलिये उसे हिरण्य (हितं च रमणीयं च) कहा है, देखने में रमणीय होता था, वह ज़माना था, लेकिन अब तो लोग कागज़ के नोटों पर ही पिघल जाते हैं जो देखने में भी सुन्दर नहीं होते! फिर भी उसने कहा कि 'लड़की की इच्छा के बिना तो ब्याह नहीं कर सकते', लेकिन यह कहने में थोड़ा ढीलापन आ गया। हठशर्मा समझ गया कि थोड़ा और दबाव

डालना चाहिये। वहीं बैठकर कहा कि 'मैं यहाँ आमरण अनशन करके मर जाऊँगा।' पिता डरा कि कहीं यह ब्राह्मण यहाँ मरेगा तो ब्रह्महत्या का पाप चढ़ेगा। सोचा, अशोकमाला ऐसे ही चिंता कर रही है, ब्याह हो जायेगा तो खूब गहने आदि मिल जायेंगे। पत्नी से फिर कहा तो उसने कहा कि 'उसमें कोई चीज़ ठीक नहीं, उम्र भी बड़ी है।' पिता ने कहा 'तुम क्या जानो! अरे, जहाँ पैसे गहने मिले, अशोकमाला अपने आप खुश हो जायेगी। 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति' इसलिये ब्याह कर दे।' मैं रोती चिल्लाती रही लेकिन पिता ने निर्णय कर लिया और मुहूर्त देखकर पिता ने ब्याह कर दिया। मेरी नहीं चली।

ब्याह करके वहाँ पहुँची तो वहाँ का वातावरण मुझे सर्वथा अनुकूल नहीं लगा। मेरे चित्त में बड़ा दुःख हुआ। मैंने उससे कह दिया कि 'मैं तेरे साथ नहीं रहूँगी, तू ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय, जाति भी हमारी एक नहीं है। तू बुड्ढा, मैं जवान, उम्र भी एक जैसी नहीं, तू बदसूरत, मैं सुन्दर, शरीर भी एक जैसा नहीं। मेरी-तुम्हारी कोई चीज़ नहीं मिलती।' एक दिन मौका पाकर में वहाँ से भाग गई और दूसरे गाँव में एक परिचित क्षत्रिय लड़के के पास पहुँच गई। उसने पूछा कि 'तेरा ब्याह हो गया है, फिर यहाँ कैसे आई।' उसने समझाया लेकिन मैंने कहा कि 'मैं कुएँ में गिरकर मर जाऊँगी लेकिन उसके साथ नहीं रहूँगी।' हठशर्मा पता लगाने लगा कि कहाँ चली गई। थोड़े दिन में पता लग गया और वहाँ पहुँच गया। उससे कहने लगा कि 'इसे तू मेरे को वापिस दे।' उसने कहा कि 'यह मरने को तैयार है।' कहने लगा 'जो भी हो, तू इसे मेरे को वापिस दे।' उसने कहा कि 'मैं ऐसे नहीं दूँगा।' हठशर्मा ने रात को उसके घर में आग लगा दी। उस बेचारे का घर जल गया। उसने हाथ जोड़कर कहा 'भली मानस, जहाँ जाना है, वहाँ चली जा। आज इसने मेरा घर जलाया, कल मुझे मार डालेगा।' अब मैं दूसरे गाँव में क्षत्रिय के यहाँ पहुँची और उससे कहा कि मुझे आश्रय दो। हठशर्मा तो पीछे पड़ा था, फिर पता लगा लिया और वहाँ भी पहुँचा। कहा 'इसे वापिस दे दो।' उसने कहा 'यह बेचारी बड़ी दुःखी है।' उसने वापिस नहीं दिया। रात में उसने उसके दोनों बैलों को मार डाला। अब उसने भी मुझ से कहा कि 'आज इसने मेरे बैल मारे हैं, कल मुझको ही मार डालेगा।' मैं तीसरी जगह पहुँची तो वहाँ भी यही हाल हुआ। वहाँ उसने उसकी खड़ी खेती को जला दिया। उसने भी मुझे निकाल दिया। अब मैं भागकर आपके शहर में आई। यहाँ वीरशर्मा नाम के एक ब्राह्मण के घर मैंने नौकरी कर ली और रोटी आदि बनाने का काम ले लिया। वह ढूँढता-ढूँढता यहाँ भी आ गया। मैंने सोचा कि यह इस ब्राह्मण का भी नुकसान करेगा और फिर ब्राह्मण भी मुझे निकाल देगा, इसलिये मैं पहले ही वहाँ से भागी। जैसे ही मैं मकान से बाहर निकली, तो यह दुष्ट मेरे पीछे आया और मैं भागकर यहाँ पहुँची।' यह सुनकर रानी ने चौकीदारों को अवाज़ दी और उन्होंने उसे पकड़ लिया। रानी ने राजा को खबर कर दी। राजा भी आ गया। रानी ने उसे पूछा कि 'तू इसे तंग क्यों करता है।' उसने कहा 'मेरा इसके साथ विवाह हुआ है, इस विषय में अग्नि साक्षी है

इसलिये मैं इसे नहीं छोड़ूँगा, मार डालूँगा।' पहले बड़ा समझाया लेकिन नहीं माना।

अंत में उस लड़की ने देवताओं को साक्षी करके कहा कि 'आप ही सच-सच बताओ कि क्या मैंने अपने मन से इसके साथ विवाह किया है, मेरे मन में क्या ऐसी कोई भावना थी? आप ही मेरी रक्षा करो क्योंकि और कोई गवाही देने वाला नहीं है। लौकिक दृष्टि से विवाह हो गया।' आकाशवाणी से देवताओं ने कहा कि 'यह लड़की ठीक कह रही है। लेकिन इसका कारण बताते हैं : यह विद्याधरों के घर पैदा हुई थी। यह मानवी नहीं है, विद्याधरी है। यह बड़ी सुन्दर थी। इसके पिता का नाम अशोककर था। उनके और कोई बच्चा न था। जब यह बड़ी हुई तो अशोककर ने इसके लिये कई वर देखे लेकिन इसे सुन्दरता का बड़ा घमण्ड था। जिस लड़के से बात हो, उसमें कोई-न-कोई दोष निकाल दे। यह आजकल का रोग ही नहीं, पुराने ज़माने से रोग है। लड़कों को लड़की और लड़कियों को लड़के पसंद नहीं आते। लड़की कानी भौंड़ी नहीं होती है, फिर भी कहते हैं कि सुन्दर नहीं है। सुन्दरता को कोई समझता नहीं है, देखते सब हैं। एक दिन पिता को इस पर क्रोध आया कि हम कितनी ही कोशिश करें लेकिन तेरे को कोई लड़का पसंद नहीं आता। इसलिये तू जाकर मृत्यु लोक में पैदा हो। क्योंकि तू सबको यही कहती है कि यह सुन्दर नहीं है इसलिये तुझे मृत्युलोक में काला-कलूटा वर मिलेगा। फिर तू उससे महा दुःखी होगी। जब तू अपने जीवन से सर्वथा निरपेक्ष हो जायेगी तब तेरे को यह स्मरण दिलाया जायेगा और तब तू मानव देह को छोड़कर विद्याधर देह में चली आयेगी। आज तक तू अपनी बुद्धि से काम करती रही। आज तूने सबको छोड़ दिया है और हमें बुलाया है।' यह देववाणी समाप्त होते ही वहीं मर गई। राजा को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। उसके पति को भी बड़ी शरम आई क्योंकि देव लोकों ने कह दिया कि काला-कलूटा मिलेगा। वह समझता था कि मैं बड़ा अच्छा दिखता हूँ। जब वापिस वहाँ पहुँची तो उसका गर्व ख़त्म हो गया। शाप ख़त्म हो गया और वह विद्याधर-लोक में बड़े आनंद से रहने लगी। वहाँ उसका एक विद्याधर से विवाह हो गया। यह एक दृष्टांत है।

विचार करके देखो तो परमात्मा ही अशोककर है। अशोक अर्थात् शोकरहित, जो सारे संसार को शोकरहित कर सके वही अशोककर है। परमात्मा सबके शोकों को ख़त्म कर देता है। प्रतिज्ञा है 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' परमात्मा की तरफ चले तो शोक का नाम बना नहीं रहने वाला है। यह बड़ा सीधा मापदण्ड है। धन्य होने के कई मापदण्ड बताये। आनंद एक मापदण्ड, भयरहितता दूसरा मापदण्ड। ऐसे ही आज शोकरहितता बता रहे हैं। परमात्मा की तरफ चले तो शोक ख़त्म क्योंकि शोक अहं के खूँटे में बँधा है। अहं से जब अपने को बाँधा तो माना कि अमुक काम ऐसा हो। लेकिन परमात्मा की इच्छा नहीं तो वह कभी नहीं होने वाला है। फिर बैठकर शोक करोगे कि ऐसा नहीं हुआ। जब अहं हट गया तो अब जीव की लीला न रहकर देवलीला हो गई। देवलीला में कभी शोक नहीं होता। जीवलीला में ही शोक

है। जब तक जीवभाव में हो तब तक शोक भी मिट नहीं सकता और शिवभाव में हो तो कभी शोक नहीं हो सकता। जैसे सूर्य के प्रकाश में अंधकार नहीं रह सकता, ऐसे ही परब्रह्म परमात्मा देवाधिदेव महादेव में कभी शोक नहीं रह सकता। इसलिये वह अशोककर है और उसकी पुत्री अशोकमाला है। यह बुद्धि हो गई। है तो यह परमात्मा की पुत्री ही। यज्ञोपवीत के समय गायत्री हिन्दुओं का मुख्य कलमा है 'धियो यो नः प्रचोदयात्' परमात्मा हमारी बुद्धि को प्रेरणा करते हैं। बुद्धि की प्रेरणा करने वाला परमात्मा, उसी से बुद्धि उत्पन्न होती है। जब तक यह बुद्धि जाग्रत् रहेगी तब तक यह अशोकमाला रहेगी। एक के बाद दूसरी चीज़ आये तो उसे माला कहते हैं। जैसे एक के बाद दूसरा फूल हो तो फूलमाला, वैसे ही जब तक बुद्धि परमात्मा से सम्बन्धित रहेगी तब तक जीवन के अनुभव शोकरहित होंगे। ज्ञानी और अज्ञानी की सबसे बड़ी कठिनाई ही यह है। ज्ञानी को दुःख नहीं दीखता, अज्ञानी को सुख नहीं दीखता। ज्ञानी कहता है कि कोई दुःखी कैसे हो सकता है, परमात्मा की सृष्टि में कहीं दुःख नाम की चीज़ है ही नहीं। एक गेहूँ का दाना गाय के गोबर में डालो, उसमें थोड़ा-सा पानी डालो और उसमें से हज़ारों दाने निकाल लो। गाय को घास डालो और दूध निकालो। दुखः का नाम नहीं है, कितनी सुन्दर सृष्टि है। अज्ञानी कहता है कि मेरे को कहीं सुख ही नहीं दीखता। दोनों की दृष्टि सर्वथा एक-दूसरे से उल्टी चलती है क्योंकि एक देवलीला में है, इसलिये उसे तो कहीं शोक नहीं। संसारी को क्यों शोक होता है? इसने हज़ार गेहूँ के दाने डाले, उसमें से दो सौ दाने निकले और आठ सौ नहीं निकले तो रोता रहता है कि अब के उपज अच्छी नहीं हुई। उन दो सौ के एक-एक दाने में से हज़ार निकलकर दो लाख हो गये यह उसे नहीं दीखता। हज़ार में से गये आठ सौ उसे शोक देते रहते हैं। जब हम आये थे, तब हमारा एक बेटा नहीं था, एक बेटी नहीं थी। बाद में चार बेटे और तीन बेटियाँ हुईं। तीन बेटे दो बेटियाँ मर गई। दो फिर भी बचे हुए हैं। लेकिन बचे हुओं पर खुश नहीं, मरे हुओं को रो रहा है। देवलीला वाला कहता है कि जब आये थे, कुछ नहीं लाये थे। यहाँ तो फिर भी कुछ है ही। व्यापार करके व्यापारी कहता है कि सारा धन कर-विभाग वाले ले जाते हैं, कुछ नहीं बचता। लेकिन मतलब है कि जितना हम सोचते हैं, उतना नहीं बचता क्योंकि कुछ न बचता तो कब से हरद्वार चले गये होते! देवलीला में रहने वाला इन चीजों को देखकर हमेशा आनंदी रूप में रहता है। एक बुढ़िया कहने लगी कि 'भगवान् ने मुझे कुछ नहीं दिया।' हमने उससे कहा कि तेरे को एक लाख रुपया दिलवा देंगे। एक बहुत बड़े आदमी की आँख चली गई है। तू अपनी आँख उसे दे दे, लाख रुपया मिल जायेगा।' कहने लगी 'यह कैसे हो सकता है?' हमने कहा इसका मतलब है कि लाख की सम्पत्ति तो तेरे पास है ही, फिर भी कहती है कि मेरे पास कुछ नहीं है। अब आगे समझ लो : कान, नाक, दाँत सब हैं, हाथ-पैर, गोड़े हैं। सारी की सारी करोड़ों रुपये की सम्पत्ति दबाकर कहते हैं कि हमारे पास कुछ है ही नहीं। अब उन्हें क्या बतायें! जैसे औरतें करती हैं कि एक चूड़ी बनवा ली, मोती की माला बनवा

ली। फिर कहती हैं कि मेरे पास कुछ नहीं है क्योंकि पड़ोसन के पास कण्ठा है जो मेरे पास नहीं है। जो नहीं है, उसे देख रही है। अशोकमाला अशोककर से उत्पन्न हुई बुद्धि जब तक परमात्मा के साथ रहती है, परमात्मा से प्रेरित रहती है तब तक उसे पता नहीं कि शोक नाम की कोई चीज़ भी है।

उस बुद्धि के मन में घमण्ड आ जाता है। बुद्धि सोचती है कि संसार में सबसे उत्तम रचना तो मैं ही हूँ। लेकिन वह यह भूल जाती है कि मैं उत्तम *रचना* हूँ, उत्तम नहीं हूँ। जिस प्रकार यह शरीर उत्तम रचना है, उत्तम नहीं है। यदि शरीर उत्तम होता तो मरने के बाद लोग इसे जलाकर राख न करते। उसमें कोई चित् धातु बैठा है, इसलिये उत्तम रचना है। बुद्धि जब तक परमात्मा द्वारा नियंत्रित है, तब तक बड़ी उत्तम है। लेकिन यही बुद्धि यदि अपने को उत्तम समझकर खुद नाच-कूद करती है तो कहाँ ले जायेगी, इसका ठिकाना नहीं है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि बड़े सावधान रहना। 'दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोनुसंधीयताम्' बुद्धि से तर्क करना लेकिन वेद में कही हुई बातों को समझने के लिये, पुष्ट करने के लिये इसका प्रयोग करना। दुस्तर्क लगाकर वेद की ही जड़ें खोदने में न लग जाना। जिससे उपकार होता है, उसको ही खोदने जाते हैं कि माल तो हमें मिल गया, अब हमको क्या चिन्ता है। आदमी यही सोचता है। हमारी सरकार, हमारे अफसर जब तक गद्दी पर रहते हैं तब तक उसकी खूब खुशामद, उससे सारे काम ले लो। जब रिटायर हो गया और कभी कहे कि 'घरवाली बीमार है, ज़रा अपनी मोटर दे दो', तो कहते हैं कि मोटर का इंजन बिगड़ा हुआ है। जब तक अफसर था, तब तो टैक्सी भी भाड़ा करके भेजेंगे। यह संसार का स्वभाव है। इसी प्रकार से बुद्धि का देने वाला परमात्मा है और वही बुद्धि परमात्मा को उखाड़ने में लग जाती है कि ईश्वर ही नहीं है! यह दुस्तर्क है। जब इस प्रकार की बुद्धि हो जाती है, हर चीज़ को अपने से घटिया समझता है, तब अशोककर (परमात्मा) कहता है कि 'अब जाकर तू संसार को चख कि इसका रूप कैसा है।' इसलिये उसे मृत्युलोक में भेज देते हैं। बुद्धि स्वयं तो विद्याधरी है। बुद्धि में ही ब्रह्मविद्या आकर बैठेगी। लेकिन उसे शाप लगा कि तू हर चीज़ को काटती रहती है तो जाकर अपनी असलियत को देख। बुद्धि को मृत्युलोक में भेज दिया गया। मृत्युलोक में आने का मतलब है क्षणिक पदार्थों का अनुभव होना। संसार के सारे पदार्थ क्षणिक हैं। जब तक बुद्धि से उनका विचार करो, तब तक वे पदार्थ ही बचते नहीं हैं। यह उस ढंग की बात है कि एक बार हम दिल्ली में ही कहीं जा रहे थे तो रास्ते में गाड़ी का टायर पंक्चर हो गया। दिल्ली विश्वविद्यालय से होकर कमलानगर जाना था। नीचे उतरे, सोचा टैक्सी करें, कहीं प्रवचन का कार्यक्रम था। हमारे साथ के सज्जन घबराये हुए थे। उन्होंने पहले कभी टैक्सी रोकी नहीं। कोई टैक्सी आये तो पहले से इशारा न करें, पास आये तो इशारा करें और वह आगे चला जाये। वे देखें कि खाली है या नहीं। जब तक यह देखें, वह आगे चली जाये! हमने कहा यह टण्टा छोड़ो, जो भी टैक्सी

आये उसे हाथ दो, खाली नहीं होगी तो अपने आप चली जायेगी। तुम्हारे निर्णय से रुकने वाली नहीं है। इसी प्रकार से संसार में किसी भी चीज़ का बुद्धि से निर्णय करोगे तो जब तक निर्णय करोगे, तब तक वह पदार्थ कहीं का कहीं चला जायेगा, तुम्हारा निर्णय किसी काम का नहीं रहेगा। संसार के यावत् पदार्थ क्षणभर रहने वाले हैं। वहाँ पर जब बुद्धि लगती है तो उसे बड़ा शोक होता है क्योंकि जब तक निर्णय करते हैं, वह चीज़ ही चली गई। यह अनुभव कई जगह होता है। हमारे पास एक बार एक रसोइया था। कोई मिठाई आदि आये तो वह उसे तब तक रोक कर रखता था, जब तक उसमें बदबू न हो। जब खराब हो गई तो किसी को क्या दे! खराब होने से पहले कैसे पता लगे कि यह खराब होने वाली है? चार घण्टे पहले खराबी का पता नहीं लगेगा। खराबी आ गई तो उसे कौन लेगा? उसका कहना होता था कि कैसे पता लगे? हमने कहा, बुद्धि का टण्टा छोड़, जब आये, तब खा-खिला लिया कर। इसी प्रकार बुद्धि को भी बड़ा शोक है कि पहले क्यों नहीं जाना? रात-दिन अनुभव होता है। जब कोई बात आती है तो बुद्धि कहती है कि ऐसा पहले क्यों नहीं किया? बीमारी बढ़ती है तो कहती है कि पहले डाक्टर को क्यों नहीं लाये? इसी प्रकार बुद्धि शोक करती रहती है।

उसने हठशर्मा से विवाह किया क्योंकि शाप लगा था कि वह बुद्धि मृत्युलोक में क्षणिक पदार्थों को देखते हुए इनसे विवाह कर लेगी। चाहती नहीं है, लेकिन मृत्युलोक में उसकी चाहना तो चलेगी नहीं क्योंकि यहाँ इसका पिता अहं (जीव) है। जब तक बुद्धि विद्याधरी थी, इसका पिता शिव था। जीव कहता है कि हठशर्मा से विवाह कर ले। इसीलिये बुद्धि का सबसे पहले हठयोग से विवाह हो जाता है। घबराकर बचना चाहती है लेकिन इससे सम्बन्ध होता है। सारी साधना वास्तव में हठ ही है। जैसे हठशर्मा ने कहा था कि 'यहीं मर जाऊँगा लेकिन इसे नहीं छोड़ूँगा', इसी प्रकार से हठयोग में चावल नहीं खायेंगे, रोटी नहीं खायेगे, एक पैर पर खड़े रहेंगे, चान्द्रायण व्रत करेंगे। इससे आगे बढ़े तो और जबरदस्त हठ कि प्राणों को, मन को रोकेंगे। बुद्धि हठ करना चाहती है। बुद्धि की एक विचित्रता है कि इसे कोई हठ अच्छा नहीं लगता। क्या कारण है कि आज हम लोगों के बच्चों में परिवर्तन आ रहा है? यद्यपि हमारा धर्म परम वैज्ञानिक धर्म है लेकिन हठयोगी के हाथ में पड़ गया है, इसलिये बच्चों को कोई समझाता नहीं, उनकी बुद्धि में कोई धारण नहीं कराता। केवल हठ दिखाते हैं कि सवेरे स्नान नहीं करोगे तो चाय नहीं मिलेगी। क्यों नहीं मिलेगी   यह नहीं समझाते इसलिये बुद्धि को वह पसंद नहीं आता। बुद्धि हमेशा किसी चीज़ को समझकर पकड़ना चाहती है क्योंकि सूक्ष्म है। लेकिन उसका पिता तो अहं है। उसे बुद्धि की प्रकृति की समझ नहीं है। इसलिये जबरदस्ती हठ के साथ उसका ब्याह करा देता है। वह बुद्धि वहाँ नहीं टिकती। ध्यान, धारणा, समाधि और चाहे निर्विकल्प समाधि सब कर ले, बुद्धि नहीं टिकनी है। जितनी देर उस पर बिठा कर दबाकर रखोगे, उतनी देर दबेगी, फिर ढीली की ढीली। सौभरि महर्षि  को साठ हज़ार साल की समाधि लगाने के बाद

भी एक मछली को देखकर ब्याह का संकल्प आया और ब्याह कर लिया। जो भी हठयोग करो, वह पूरा फल नहीं दे सकता। यह हठशर्मा है जो सब जगह पहुँच गया। उसे छोड़कर फिर एक क्षत्रिय, दूसरे क्षत्रिय और तीसरे क्षत्रिय से विवाह करती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की भिन्न-भिन्न साधना में जाता है लेकिन हर जगह यह हठ पहुँच जाता है। विचार में लगाओ तो वहाँ भी हठधर्मिता आ जाती है। नई बात सुनी तो घबरा जाता है, वहाँ भी हठ आ जाता है। उपासना में लगाओ तो वहाँ भी हठ करते हैं। अपने तरीके से उपासना करेंगे। कर्म में भी हठ करते हैं। जहाँ-जहाँ इसे लगाते हो, वहाँ-वहाँ यह हठ पीछा नहीं छोड़ता। कभी अपने जीवन में विचार करके देखो तो पाओगे कि जीव में, हमारे अंदर यह आग्रह बहुत रहता है। हर चीज़ का हठ है। विचार का भी हठ होता है। सामने वाले की बात का जवाब नहीं है, युक्तिसंगत बात है, लेकिन हठ के कारण कहता है कि 'बात तो ठीक है लेकिन *इस प्रकार* ग़लत है।' सब धर्मों में सत्त्व, रज, तम तीनों में हठ लगा हुआ है। सत्त्वगुणी भी हठी होता है। यहाँ तक तो ठीक है कि सत्त्वगुण का हठ रजोगुण के हठ की अपेक्षा अच्छा है लेकिन है तो हठ ही। बहुत से लोग सोते नहीं। नींद आ रही है, अंधेरे में बैठे हैं, उनसे कहो लेट जाओ तो कहेंगे सवेरा है, कैसे लेट जायें? यह तमोगुणिता है। हठधर्मी नहीं हो तो कहेगा कि कल ठीक भजन करेंगे। नींद नहीं आ रही हो तब ध्यान करेंगे। व्रत अच्छी चीज़ है। वहाँ भी हठ है कि सिर दर्द कर रहा है, माथे को बाँधकर लेटा हुआ है, खट्‌टी उल्टियाँ आ रही हैं, जी घबरा रहा है, भगवत्-चिंतन नहीं हो रहा है लेकिन व्रत है, कैसे खा लें? व्रत इसलिये है कि पेट हल्का रहेगा तो भगवान् का भजन करेंगे। लेकिन उसे जबरदस्ती हठ बना दिया गया। पूछो आज क्या है? कहती हैं 'करवाचौथ है। इसलिये दिनभर कुछ नहीं खाना है।' लेकिन कोई बैठकर ताश खेलती है और कोई सिनेमा देखने जा रही है। यदि व्रत रखकर ताश आदि खेलना है तो उसकी अपेक्षा चार फुलके खा लेना अच्छा है। लेकिन हठ है कि व्रत को छोड़ना नहीं है। कहते हैं कि घर में बैठने से भूख लगती है। हम कहते हैं कि चार फुलके खाने में कोई हरजा नहीं है। ऐसे ही सत्त्वगुण में हठधर्मिता होती है। बीमार हैं लेकिन दवाई नहीं लेगे। यह हठधर्मिता सब जगह पहुँच जाती है।

अंत में वीरशर्मा के यहाँ काम करती है। देख लिया कि क्षत्रियों से काम नहीं चला, हठ पीछा नहीं छोड़ता, फिर भी वीरशर्मा के पास आती है। इन सब चीज़ों को छोड़कर जो अहंता को हटा सके, वही वीर होता है। उसे यहाँ धन्य कहा है। वीर वस्तुतः वह होता है जो सामने विरोधी के आने पर न घबराये। बाकी जितने साधन हैं, वे सब तो सामने के विरोधी से हमको भगा ले जाने वाले हैं। यह साधन ऐसा है कि जब विरोधी आये तो उसे तोलो कि कितना तगड़ा है। शास्त्रकारों ने बताया है 'विषयेन्द्रिय सम्बन्धः सामान्यः सर्वदेहिनाम्। योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता।।' इन्द्रियों को विषयों से हटाने के लिये झगड़ा न करो लेकिन सम्बन्धकाल में सावधान रहो, प्रमादी न बनो। विषय का रूप जानो, अंतःकरण का रूप और अपना रूप

जानो। जब इस प्रकार विषयों के साथ सम्बन्ध करते हुए सब समय सावधान रहते हैं, तब इसके अंदर कुछ शक्ति आती है। लेकिन यहाँ पर भी हठ वाले को पदार्थ के स्वरूप को समझने पर भी पुराने संस्कार फिर उदय होने लगते हैं। विचार से जानते हैं कि यहाँ आग्रह की कोई ज़रूरत नहीं है लेकिन वहाँ एक बड़ा भारी घड़ियाल (मगर या क्रोकोडाइल) बैठा रहता है। कहता है कि इस विषय में मेरा कोई आग्रह तो नहीं, बात तो सारी समझ ली 'मगर'...। यह मगर (लेकिन) लगाकर पहले के हठ की सारी बातें ले आते हैं। 'संसार में सारे पुत्र मेरे ही हैं, सारे प्राणी मेरे ही हैं, मगर महाराज! इन लड़कों के प्रति कुछ विशेष कर्त्तव्य तो हैं ही। संसार में सारे घर मेरे ही हैं लेकिन कमला नगर वाला घर तो मेरा है ही।' बुद्धि से समझते भी हैं लेकिन मगर बैठा हुआ है जो खा जाता है। जब मगर के भय से श्रुतिरानी के पास पहुँची तब श्रुति इसकी रक्षा करती है और वहाँ देववाणी होती है। श्रुति के समक्ष ही इसे स्मृति आती है कि मैं तो विद्याधरी थी, मेरे अंदर तो देवलीला-क्षेत्र था। मैं पुत्री तो उस परब्रह्म परमात्मदेव की थी लेकिन इस प्रकार से मर्त्यलोक में आई। बुद्धि को निश्चय करना है 'तत्तु समन्वयात्' संसार के सारे शास्त्रीय और लौकिक ज्ञानों का समन्वय परमात्मा में है। संसार वेदातिरिक्त कुछ नहीं है। संसार के सारे शास्त्रीय, और लौकिक ज्ञानों का चरम तात्पर्य एक शिव ही है, यह निर्णय करना है। घट दीखने पर भी शिव दीखता है, घटावच्छिन्न दीखता है। पहले बताया था कि हमारे यहाँ सब कुछ देवता है। इसलिये घट-वृत्ति के अन्दर भी बुद्ध से शिव का निश्चय है। घट से लेकर विष्णु पर्यन्त बुद्धि की प्रत्येक वृत्ति में 'जित देखूँ तित तू ही तू है' जहाँ-जहाँ देखता है, वहाँ शिव ही शिव नज़र आता है। 'शिवः कर्त्ता, शिवो भोक्ता, सोहमस्मि सदाशिवः' करने वाला, भोगने वाला, यज्ञ करने वाला, सारे अनुभवों में आने वाला भी शिव ही है। जब सब कुछ शिव है तो अन्दर भी शिव ही है। इस अनुभूति वाले को पता लगता है कि बुद्धि तो इसलिये मिली थी, यह निश्चय करना था कि सब चीज़ों में चेतन का अनुभव करूँ, लेकिन मृत्यु लोक में चले गये! जैसे वह विद्याधरी प्रसन्न हो गई, ऐसे ही यह बुद्धि अहं से रहित होकर उस पिता से सम्बन्ध होने पर फिर असली पिता के पास पहुँची। जीवन्मुक्त की अवस्था में उसका किसी चीज़ में हठ नहीं होता। उसकी अहंता भी ख़त्म हो गई। जब तक मृत्युलोक में थी तब तक किसी भी प्रकार से हठशर्मा के चंगुल से नहीं छूट सकती थी। तब तक हिन्दू कोडबिल भी नहीं था कि तलाक दे दे! जब तक विवाहित थी, तब तक तो उसके लिये हठशर्मा से छूटना असम्भव था। इसी प्रकार जब तक बुद्धि अहंता की पुत्री बनी हुई है, तब तक किसी-न-किसी प्रकार का हठ और आग्रह इसके सिर पर छाया रहेगा। जब अहंता से छूट गई और विद्याधरी अर्थात् शिवपुत्री हो गई तो अब किसी काल में क्षणमात्र को भी हठ या आग्रह होने वाला नहीं है और वह देवलीला में भाग लेने वाली होकर अशोकमाला हो जायेगी अर्थात् सारे शोकों से रहित हो जायेगी। अशोकमाला से धन्यता का स्वरूप बताया।

## प्रवचन-३६

२४-४-७२

परब्रह्ममहिषी की उपलब्धि का स्थान और स्वरूप का प्रतिपादन किया। आगे बताते हैं कि जो उसका भजन करते हैं वे धन्य हैं। धन्यता क्यों है? आचार्य भगवत्पाद कहते हैं 'धन्याः भजन्ति' उस भगवती का भजन करना उसी के लिये सम्भव है जो धन्य हो गये हैं। यह नहीं कहा है कि भजन के द्वारा धन्य होते हैं। इसलिये भजन दो प्रकार का है १. जो भजन हमको धन्य बनाता है और २. भजन जो धन्य होने पर किया जाता है। दोनों जगह भजन और भक्ति शब्दों का प्रयोग होता है, क्योंकि साध्य और साधन दोनों में एक शब्द का प्रयोग अनेक जगह देखने में आता है। जैसे किसी से पूछा कि बटलोई में क्या पक रहा है? कहते हैं 'भात पक रहा है।' भात कभी नहीं पका करता, चावल पकता है। भात तो पकाने के बाद हुआ। फिर भी कहते हो कि भात पक रहा है। भात साध्य हुआ और चावल साधन। साध्य-शब्द का प्रयोग साधन के लिये भी करते हैं। अथवा कहते हो कि फुलका तवे पर पड़ा है। लेकिन फुलका तब बनेगा जब अंगारों पर डालने पर गोल फूल जायेगा। इसीलिये उसका नाम फुलका (फूला हुआ) है। आजकल के ज़माने में फुलका मिलना बड़ा दुर्लभ है। आजकल जो मिलता है उसका नाम चपाती है जो फूलती नहीं। किस में फूले! किसी ने अपनी घर में गंदी गैस लगा रखी है, उस पर फुलाओ तो बदबू आती है, किसी के घर में पत्थर का कोयला है, उसपर भी बदबू। कहीं तो फूलने का साधन ही नहीं, बिजली का ही चूल्हा है! अब बेचारा फुलका कहाँ तो फूल सकता है! इसलिये चपाती खाने को मिलती है। फुलका वह है तो गोल फूला हुआ हो, कहीं काला दाग न हो, जिसमें भाप निकलने के लिये छेद न हो, आजकल ऐसा फुलका बड़ा दुर्लभ है। अब तवे पर रखी चीज़ को ही फुलका कह देते हैं तो साध्य फुलके शब्द का साधन अर्थ में प्रयोग हुआ। अनेक स्थलों में जैसे साध्य में साधन-शब्द का प्रयोग हो जाता है, वैसे ही साधन में साध्य शब्द का प्रयोग भी हो जाता है। भक्ति भी इसीलिये साधन और साध्य भेद से दो प्रकार की हुई। साधन भक्ति के द्वारा मनुष्य धन्य बनता है। धन्य बनने के पहले जो भक्ति कही जाती है वह साधन भक्ति है।

यहाँ 'भजन्ति त्वां धन्याः' द्वारा साधन भक्ति नहीं बता रहे हैं, नहीं तो कहते कि भक्ति के द्वारा धन्य होते हैं। यहाँ तो कहा है कि धन्य लोग भजन करते हैं। वे धन्य क्यों हैं? अहंता से रहित हैं, इसलिये धन्य हैं। उनका अहंकार नष्ट हो गया है। जैसे चावल भात बन गया इसका मतलब है कि चावल में कणिका नहीं रह गयी। चावल गलते हुए कई सीढ़ियों से निकलता है। अंतिम सीढ़ी में दबाकर देखा तो अंदर कहीं कणिका, कचास है ही नहीं। बीच-बीच में कहते हैं कि अभी एक या दो कण बाकी हैं। जब कोई कण नहीं रह गया, उसका नाम भात है।

संस्कृत में भात को भक्त कहते हैं। 'भक्तम्, अन्नं, भिस्सा' आदि भात के पर्यायवाची शब्द हैं। भक्त का अपभ्रंश ही हिन्दी में भात है। उधर परमात्म-भक्ति वाले को भी भक्त कहते हैं। जैसे चावल के सारे कणों को नष्ट हो जाना भक्त हो जाना है वैसे ही सारी अहंता का नष्ट हो जाना भक्त बन जाना है। देह, इन्द्रिय, मन, समाज न जाने कहाँ-कहाँ की अहंतायें लगा रखी हैं और अंत में अज्ञान की भी अहंता है। कहते हैं कि 'तू ज्ञान है' तो कहता है 'मैं तो अज्ञानी हूँ।' फिर ज्ञान की अहंता करता है कि 'मैं ज्ञानी हूँ!' *ज्ञान* नहीं बनता, ज्ञानी बनता है क्योंकि वह अहंता रख सकता है। इसकी अहंता इधर से उधर से इधर गठिया रोग की तरह है। कभी घुटने से ठीक किया तो पसली में आया, पसली से ठीक हुआ तो गर्दन में आया, इस प्रकार गठिया रोग शरीर को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार मैंपना (अहंता) भी नहीं छोड़ता। अज्ञान से हटाओ तो ज्ञान में, दुःख से हटाओ तो सुख में, कहीं-न-कहीं जाता ही रहता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'जाति-नीति-कुल-गोत्र-दूरगं' उसमें न जाति, न कुल और न गोत्र है। वह इन सबसे अतिदूर है। सारी की सारी अहंता छोड़ो। इस अहंता की कोई भी कणिका जब तक बची हुई है, तब तक भात नहीं है।

जैसे अभाव रूप पदार्थों में अहंता, ऐसे ही भावरूप पदार्थों में अहंता होती है। बौद्ध अभाव में अहंता करते हैं। अपने यहाँ भी बहुत से लोग अभाव में अहंता कर लेते हैं। 'मैं यह नहीं, मैं यह नहीं' यह अभाव में अहंता है। इसीलिये सर्वज्ञ भगवान् शंकर कहते हैं कि यदि भावरूप का चिन्तन करते हो तो भाव, और अभावरूप से चिंतन करते हो तो अभाव बनते हो

'भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
पूर्णवृत्त्या हि पूर्णत्वं तस्मात् पूर्णत्वमभ्यसेत्।।'

यदि भाव पदार्थों को सोचोगे कि 'मैं यह हूँ, मैं यह हूँ' तो भाव वृत्ति से भावरूप बन जाओगे। 'मैं शरीर हूँ, मैं शरीर हूँ' ऐसी भावना करके ही शरीर बने हो। 'मैं मन हूँ, मैं मन हूँ' ऐसी भावना करके ही तो मन बने हो। 'मैं पापी हूँ' की भावना से पापी, 'मैं पुण्यात्मा हूँ' की भावना से पुण्यात्मा बन गये। फिर यदि कोई भावात्मकता की भावना नहीं की, किया कि 'मैं यह नहीं, मैं यह नहीं' तो ऐसी अभाव-वृत्ति से अभावरूप बन जाओगे। यह बड़ा कठोर काम बताया है। वेदांत न इधर और न उधर जाने देगा, ठीक बीच में ले जायेगा। जैसे सितार या आजकल गिटार बजाने में यदि तार ज़्यादा कस दोगे तो टूट जायेगा, ढीला कर दोगे तो आवाज़ नहीं आयेगी, बिलकुल मध्यम रखना पड़ेगा, न ज़्यादा तने और न बिलकुल ढीला ही हो। वेदांत मार्ग इसीलिये तो लोगों को कठिन लगता है। 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'। अतिधन्य वेद कहता है कि यहाँ छुरे या तलवार की धार पर चलना है। भुथरी तलवार होगी तो शायद घाव न लगे, अतः 'निशिता' खूब तेज़ धार करो, उस तेज़ धार के अन्दर

इधर-उधर कुछ नहीं, बिलकुल सरल रेखा जाती है, चौड़ाई कहीं नहीं, लम्बाई ही लम्बाई होगी। निशित शब्द बड़े विचार का है, कोई रेखागणित का पंडित समझ लेगा : रेखा वह है जिसमें लम्बाई ही लम्बाई है, चौड़ाई है ही नहीं अर्थात् एक ही दिशा है, दूसरी नहीं, क्योंकि चौड़ाई दूसरी दिशा हो जाती है। इसी प्रकार जिसमें सिवाय एक ब्रह्म की दिशा के दूसरी दिशा हो ही नहीं, सिवाय ब्रह्म के किसी का विचार क्षणमात्र को होता ही नहीं है, वही साधक भक्त हो सकता है। आदमी कहता है कि कुछ तो छूट दे दो। लोग पूछते हैं   महाराज! ब्रह्म कितने दिन में मिलेगा, साधना करते हुए बहुत दिन हो गये। हम उनसे कहते हैं कि जब 'कब मिलना' छूट जायेगा तब मिलेगा। क्योंकि 'कब मिलने' का मतलब है कि मिलने के बाद कुछ और करना है   यह भावना बनी हुई है। जब तक संसार में कुछ और कीमत वाला है, तब तक ब्रह्म कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता।

'दुरत्यया' जिस रेखा में एक ही दिशा हो, चौड़ाई नाम का आयाम है ही नहीं। लोग प्रश्न करते हैं कि ब्रह्मज्ञान करने से दुनिया का क्या फ़ायदा होगा? हम कहते हैं कि बड़ा नुक्सान होगा! दुनिया का फ़ायदा चाहते हो तो ब्रह्मज्ञान की तरफ दृष्टि करना ही नहीं। इसीलिये दुनिया की दृष्टि वाला मरते समय गीता सुनाता है, कहीं पहले सुन ली तो दुनिया को उड़ा देगी। इसलिये यहाँ निशिता और दुरत्यया के द्वारा तलवार की मध्य रेखा की तेज़ी बतायी जो दोनों तरफ है। तलवार के तल (planes) जिस जगह जाकर मिलते हैं उसी का नाम तेज़ी, धार है। ज़्यादा तेज़ी का लक्षण होगा कि उस रेखा को न इस तल में और न उस तल में कह सकते हो। यदि थोड़ी-सी चौड़ी है तो इधर का हिस्सा और उधर का हिस्सा होंगे लेकिन जब दोनों मिलते हों तो उसे न इधर का और न उधर का कह सकते हो। इसी प्रकार से हर चीज़ के दो तल होते हैं। तलों को संस्कृत में पक्ष कहते हैं। हर चीज़ के दो पक्ष होते हैं और देखने से पता लगता है कि यह इधर का पक्ष है और यह उधर का पक्ष है। लेकिन एक मध्य बिन्दु ऐसा होता है जो खूब तेज़ कर दिया जाता है तो उसे न इधर के पक्ष का और न उधर के पक्ष का कहा जा सकता है। दोनों पक्ष वाले कह सकते हैं कि यह मेरा पक्ष है। इसीलिये जहाँ दो देशों के पक्ष (सीमायें) मिलते हैं वहाँ पाँच-पाँच मील ज़मीन दोनों तरफ से छोड़ देते हैं, क्योंकि रेखा से तो रोज़ झगड़ा करते रहेंगे! उस ज़मीन को 'नो मैन्स लैण्ड' कहते हैं अर्थात् बीच वाला हिस्सा किसी का नहीं। वेदांत 'नो मैन्स लैण्ड' है! संसार के बाकी जितने पक्ष, वाद, मत और धर्म हैं वे सब तो किसी-न-किसी के बाड़े में हैं। जैसे गाय, भैंस बाँधने का बाड़ा बनाते हो। उसमें यह तो निश्चित पता है कि यह इस मत का और वह उस मत का है। सांख्यवादी कहता है कि वेदांत बिलकुल ठीक है, लेकिन थोड़ी-सी बात, प्रकृति को सत्य मान ले तो। दूसरी तरफ शून्यवादी कहता है 'वेदांत तो मुझसे मिलता है, बस यह एक आत्मा को न जाने क्यों नित्य कह देता है! जब आत्मा में कुछ है ही नहीं तो सीधा कह दो कि आत्मा नहीं है।' दोनों समझते हैं वेदान्त मेरे मत से

मिलता है। इसीलिये जो वेदांत पक्ष को ठीक से नहीं समझता वह किसी भी जगह जाकर सुनता है तो आकर कहता है कि बहुत-सी बातें तो अपने जैसी ही हैं, कोई-कोई बात में फ़र्क है। बस उसी 'कोई-कोई बात में' वे अपने बाड़े को बनाते हैं। वह कोई बात दूसरी जगह मिल जायेगी तो पहले वाली नहीं मिलेगी। इसलिये जहाँ दोनों पक्ष समाप्त हैं, लेकिन वह किसी बाड़े में नहीं, वही वेदांत है। इसलिये भाववृत्ति एक पक्ष और अभाव अर्थात् शून्यवृत्ति दूसरा पक्ष है।

एक स्थल ऐसा है जो न भाव और न अभाव है, वही पूर्ण है। उस पूर्ण को भाववृत्ति वाला कहता है कि मेरी यही तो बात है, नाम-रूप सारे का सारा ब्रह्म है। भाव वाला कहता है कि तुम जिसको ब्रह्म कहते हो मैं उसे ईश्वर कहता हूँ। दूसरी तरफ, अभाव वृत्ति वाला शून्यवादी कहता है कि 'नेति-नेति' के द्वारा मेरी ही बात कह रहे हो। लेकिन वेदांत एक ही साथ दोनों कहेगा 'तदेजति तन्नैजति!' संसार के अन्दर कण-कण में जिसका भ्रमण हो रहा है, वहाँ वह प्रभु ही नृत्य कर रहा है। इससे भाववादी (ईश्वरवादी) बड़ा खुश होता है कि यही हम भी कहा करते हैं। लेकिन, वह परमात्मा कभी कहीं स्पंद करता ही नहीं, हर स्पन्द मिथ्या है। इस पर शून्यवादी कहता है कि यही तो हम कहते हैं। 'तदेजति' को भाववादी ने और 'तन्नैजति' को शून्यवादी ने पकड़ा। वेदांती कहता है कि हम तो मध्य का केन्द्र कह रहे हैं, इसीलिये वेदांत को किसी पक्ष के अन्तर्गत नहीं कर सकते, यह निष्पक्ष है। जैसे वहाँ पर निष्पक्षता है, वैसे ही सब जगह समझना। चावल से भात बनेगा तो एक स्थिति ऐसी जब चावल निश्चित और एक स्थिति में भात निश्चित है। एक मध्यबिन्दु ऐसा है जिस क्षण वह भात है और चावल भी है। एक मध्यबिन्दु सब चीज़ों में मानना पड़ेगा। इस मध्यबिन्दु को कब पकड़ सकते हैं? जब हर चीज़ के अन्दर अपनी पूर्ण दृष्टि बनने लगती है तभी उसकी अनुभूति होती है, उसके बिना नहीं हो सकती। अहंता तब गलेगी जब भक्त बनोगे। साधन और साध्य दोनों को एक नाम से इसी कारण कहते हैं। साधन कब साध्य में बदल जाता है और साध्य कब तक साधन रहता है वह केवल एक मध्यबिन्दु मात्र है। साधन ही साध्य में बदल जाता है।

वेदांत में साधन और साध्य का अत्यंत भेद नहीं है, दूसरी जगह तो भेद है। जैसे कर्मकाण्ड के अन्दर घी भी स्वर्ग नहीं, तिल, जौ भी स्वर्ग नहीं, आग भी स्वर्ग नहीं, मंत्र भी स्वर्ग नहीं, पुरोहित और यजमान भी स्वर्ग नहीं, इस प्रकार यज्ञ कर्म में कुछ भी स्वर्ग नहीं लेकिन इन सब चीज़ों के द्वारा तुमको स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसमें साधन और साध्य दोनों अलग-अलग हुए। यह नहीं कि घी या चावल ज़्यादा मिलाने से स्वर्ग हो जायेगा! इसलिये साधन साध्य बिलकुल भिन्न जाति के हैं। इस प्रकार से वेदांत के अन्दर साधन और साध्य भिन्न जाति के नहीं। जो शम, दम आदि साधन हैं, वही साध्य भी हैं, साधन का जल जाना ही तो साध्य बन जाना है। जैसे सितार के तार को न ज़्यादा और न कम कसना है, उसी प्रकार न भाव की तरफ और न अभाव की तरफ जाना है, केवल मध्य को लेना है। अहंता के नाश का विचार आता है तो हम

अभाव की तरफ दौड़ जाते हैं। जब हम कहते हैं कि 'अहंता को नष्ट करो', तो समझते हो कि वहाँ कुछ नहीं रहेगा। वेदांत की अगली पंक्ति भी तो याद रखो 'देहं नाहं कोहं सोहं' ये स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह मैं नहीं हूँ। फिर मैं क्या बच गया? मैं तो अपने को ये तीन शरीर वाला ही समझ रहा हूँ। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर मैं नहीं, तो क्या मैं हूँ ही नहीं! 'कोहम्'? कहते हैं 'सोहं' मैं देव हूँ।

जिस प्रकार से तुमने उस घट को ले लिया जिसमें गंदे नाले का पानी भरा है या जिसमें कोई मल-मूत्र भरकर ले जा रहा है और उसे ले जाकर तुमने गंगा जी में सीधा डुबो दिया। घण्टे-दो घण्टे बाद बाहर निकालते हो तो वही गंदा का गंदा पानी बाहर निकला। डुबाया तो है लेकिन गंदा पानी फिर भी भरा रहा। यह तो होता है कि थोड़ा-सा (एक सेंटीमीटर) गंगा का पानी भी ऊपर-ऊपर आ जाता है। अंत में निर्णय करते हो कि 'कोई फ़ायदा नहीं हो रहा है। भगवान् शंकर ने गलत लिखा है कि 'यथा रथ्यापाथः शुचि भवति गंगौघमिलितं' अर्थात् नाले के पानी को गंगा में डालो तो शुद्ध हो जाता है। हम अंधविश्वासी नहीं, हमने प्रयोग करके देखा कि गंदे नाले के पानी का भरा घड़ा गंगा से निकालते हैं तो वही गंदे का गंदा पानी निकलता है, एक-दो दिन रखने पर भी शुद्ध नहीं हुआ।' हम कहते हैं कि अगर प्रयोग ही करना है तो थोड़ा और करो : ऐसा करो कि गंगा में घड़े को छोड़ दो। जहाँ छोड़ा, वहीं वह मल बह जायेगा, और फिर घण्टा-आधा घण्टा तो जाने दो, पाँच मिनट बाद भी उसी जगह का पानी निकालो तो गंगाजल निकलेगा। घड़े को हाथ में रखकर चाहे जितनी देर डुबाये रहो, कुछ नहीं होना है! ठीक इसी प्रकार से तुमने अहंता के अंदर सारी दुनिया की गंदगी को भर रखा है, सारी कामनायें और वासनायें तुम्हारी अहंता के अन्दर भरी हुई हैं और वह अहंता रखे हुए ही तुम परमात्मा में गोता लगाते हो! समाधि भी अहंता रखकर लगाते हो, मन्दिर में अहंता रखकर जाते हो, वेदांत-विचार भी अहंता रखकर करते हो क्योंकि कहते हो कि 'मुझे यह निश्चय है कि मैं ब्रह्म हूँ।' अर्थात् हाथ घड़े पर मार रहे हो। जब तक 'मैं ब्रह्म हूँ', तब तक जैसे समाधि अपना फल नहीं दे पाती, ऐसे ही यह वेदांत-विचार भी फल नहीं दे पाता।

फल कब हो? ब्रह्म से सम्बन्धित होकर फल उत्पन्न न हो यह नहीं हो सकता 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते।' ज्ञानाग्नि के साथ जो चीज़ छुआ दोगे, वह भस्म हो जायेगी, यह बात बिलकुल ठीक है। लेकिन एक पदार्थ-विशेष 'एस्बैस्टस' होता है। वह अग्निरोधक है, उसके अंदर अग्नि प्रवेश नहीं कर पाती। तुमने अग्निरोधक के द्वारा किसी चीज़ को ढाँक कर उसे अग्नि में डाला और निकाला, फिर कहते हो 'आप कहते हैं अग्नि से चीज़ जल जाती है लेकिन मैंने अग्नि में डाला और नहीं जला!' इसी प्रकार मनुष्य कहता है कि मैंने इतनी साधना की, हमारा तो कुछ जला नहीं, फिर आप कैसे कहते हैं 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते?' लेकिन वह अहंता-रूपी अग्निरोधक जो लगा हुआ है, वह नहीं जलने देगा। जब तक घड़ा है तब

तक भगवान् भाष्यकार का कहना 'यथा रथ्यापाथः शुचि भवति' नहीं बनेगा। इसीलिये उन्होंने 'मिलितं' शब्द का प्रयोग किया। अर्थात् कब शुद्ध होगा? जब गंगा के प्रवाह से मिल जायेगा। मिलने का मतलब ही होता है कि जितने बाहर के आडम्बर रखे हैं, इन्हें छोड़कर एक होना। मीरा एक जगह कहती है कि मैंने बहुत साधना की लेकिन मुझे प्राप्ति नहीं हुई। 'पँचरंग चोला पहर सखी री मैं झिरमिट रंगवा जाती। झिरमिट माँ मोहि मोहन मिलिये खोल मिली तन गाती।।' पँचरंग, पाँच कोश; सबके अलग-अलग रंग हैं। मीरा कहती है कि पाँचों रंग का चोला पहनकर समाधि की स्थिति (झिरमिट) है जिसमें अंधकार और प्रकाश दोनों हैं। अन्धकार इसलिये कि वहाँ अज्ञान की अनुवृत्ति है और प्रकाश इसलिये कि वहाँ ब्रह्म भी है। समाधि में दोनों होते हैं। लेकिन वहाँ जाने पर भी मुझे मोहन नहीं मिला। जब मैंने तन-रूपी गाती को फाड़ दिया, शरीर-रूपी अवरोध हटा दिया, वहीं मुझे मोहन मिल गया। जब तक यह देहरूपी घड़ा है तब तक चारों तरफ ब्रह्म के अन्दर रहने पर भी उससे मिलन नहीं हो रहा है, क्योंकि पाँच कोशों की गाती, अहंता पड़ी हुई है। तब तक चाहे जितनी समाधि लगाओ, चाहे जितनी साधना करो, कुछ नहीं होना है।

साधना बिलकुल व्यर्थ तो इसलिये नहीं है कि यदि वह घड़ा गरम है तो गंगा में कुछ देर पड़कर ठण्डा पड़ जायेगा और उसके ऊपर-ऊपर कुछ थोड़ा-सा गंगा जल भी आ जायेगा। उसी प्रकार से इन साधनाओं को करने से शांति आ जायेगी। आदमी कहता है कि 'सत्संग में जा बैठते हैं तब तक तो शांति है, बाहर जाकर गड़बड़ हो जाता है।' तब तक शान्ति क्यों है? क्योंकि गंगा जल में रहोगे तो जल अपना असर ज़रूर करेगा। लेकिन अंदर का माल साफ नहीं है, अहंता से पकड़े हुए हो। जैसे ही अहंता को तोड़ दोगे, अहंता गल जायेगी, वैसे ही, उसी क्षण परिवर्तन देखोगे। कोई गंदगी नहीं रहेगी, सारी कामनायें और वासनायें ख़त्म हो जायेंगी। घड़े को फोड़ने पर क्या रह जायेगा यह प्रश्न ही नहीं। घड़े को फोड़ने पर जिसको घटाकाश समझ रहे थे, वह नष्ट नहीं हुआ, महाकाश हो गया। घड़े की गंदगी नष्ट नहीं हुई, उड़कर कहीं नहीं गई, गंगा बन गई। इसी प्रकार से जब कहते हैं कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों देहों की अहंता को नष्ट करो तो लगता है कि फिर क्या बच जायेगा? अपनी अहंता में बँधा हुआ जीव 'अहंब्रह्मास्मि' हो जाता है। वेदांत यह नहीं कहता कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ, कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं जीव नहीं हूँ, लेकिन 'मैं' मैं नहीं हूँ! इसका मतलब यह नहीं कि मैं कुछ नहीं हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। जहाँ अहंता का घट फूटा वहाँ जीवभाव नहीं, शुद्ध ब्रह्म ही मिलेगा। अब वासना और कामना की बदबू कहाँ रहेगी! यदि बदबू आती है तो मानना पड़ेगा कि अभी घड़ा फूटा नहीं। इस पूर्णत्व की प्राप्ति होगी तब देव बन गया। अब जो कुछ करेगा, देवलीला ही होगी। देवलीला का मतलब क्या है? यह थोड़ा-सा कठिन विषय है। कभी स्वप्न देखते हो, स्वप्न में बड़ी रचना रचते हो कि रामलीला के मैदान में सत्संग हो रहा है और पाँच लाख जनता आकर सत्संग सुन रही है।

सत्संगी को यही स्वप्न होगा, यह तो होगा नहीं कि सिनेमा के अन्दर लम्बी लाइन लगी हुई है; वह कुसंगी का स्वप्न होता है। स्वप्न में उन सबको बनाने वाले तुम हो, उनके माँ-बाप और कहीं नहीं हैं, यह पक्का निश्चय है। उन सारे आदमियों को तुमने बनाया और उसमें बैठे हुए एक तुम भी हो जो सपने में सत्संग सुन रहे हो। लेकिन उन सबको बनाने और उस एक शरीर-मन को बनाने में कुछ फ़र्क है। हैं तो दोनों तुम्हारे ही बनाये हुए लेकिन उस शरीर और मन में तुम स्वतंत्र हो और बाकी चार लाख निन्यानबे हज़ार नौ सौ निन्यानबे में तुम परतंत्र हो। यह शरीर तुम्हारी इच्छा के अनुसार चलता है और वे शरीर तुम्हारा विरोध करते हैं। पाँच लाख का दृष्टांत नहीं समझे तो छोटा-सा दृष्टांत बताते हैं, क्योंकि आजकल लोग ज़्यादा संख्या से घबराते हैं, पाँच लाख पैदा करना नहीं चाहते। स्वप्न में एक ही लड़का तुमने पैदा किया। तुम्हारे सिवाय वह कुछ नहीं है, तुम्हारी ही दी हुई सत्ता है। उस सपने के लड़के से कहते हो ‘भैया तू होठों तक दाढी बढ़ाकर मत घूम।’ अब उसकी सत्ता तुमसे अलग कुछ नहीं, कोई ब्रह्मा विधाता उसे पैदा करने के लिये नहीं आये, जब तक तुम सत्ता दे रहे हो, तभी तक वह है, लेकिन वह कहता है ‘पिताजी! आप किस ज़माने की बात करते हो?’ यह कहकर तुम्हारा विरोध कर रहा है। उसमें बना हुआ एक शरीर और मन जिसके साथ तुम एक हुए हो, वह तो होठों तक दाढ़ी बढ़ाकर विरोध नहीं करता। वहाँ तुमने पैदा किया। एक तो वह जो तुम अपने साथ मिलाते हो; बाकी सब भी तुम्हारे ही मिलाये हुए हैं लेकिन कोई विरोधी है, कोई अर्द्ध-विरोधी है और कोई समर्थक भी हैं। तुम वहाँ लीला करने वाले हो और वे सारे तुम्हारे द्वारा चलाये जाने वाले हैं, फिर भी विरोध करते हैं, क्योंकि तुमने उन्हें स्वतंत्रता दे रखी है।

इसी प्रकार अब तक तो हम सब लोग उस देवाधिदेव महादेव का विरोध करने वालों में से हैं। हैं सब उसी के स्वप्न में। वह कहता है सत्य बोलो, हम कहते हैं क्या बाबा आदम के ज़माने का वेद लिये बैठे हो! सारी दुनिया झूठ बोलती है, ज़माने के साथ तो चला करो। न जाने कभी सत्य बोलते होंगे। कोई कहता है जात-पाँत तोड़ो, कोई कहता है ईमानदारी छोड़ो, कोई कहता है पति-पत्नी की वफादारी छोड़ो, तलाक करो। सब आकर उस देवाधिदेव महादेव को उपदेश करते हैं जिसने यह लीला चला रखी है। जिस क्षण तुमको ज्ञान हुआ कि ‘यह लीला चलाने वाला मैं (अहंकार वाला) नहीं। यह तो वह है और वह मैं (साक्षिरूप) हूँ, क्योंकि मुझसे भिन्न नहीं है।’ अब तुम खुद उस लीला के चलाने वाले देव के साथ मिल गये, अब तुम्हारा सारा खेल विरोध करने वालों के लिये नहीं होगा बल्कि उस देव का समर्थन करने वालों के लिये होगा, क्योंकि अब वह शरीर जिसे वहाँ देख रहे हो, वह वही है जिसकी कल्पना कर रखी है। इसलिये अब वह देवलीला करेगा, जीवलीला नहीं करेगा। जीवभाव समाप्त होने के बाद अनंत शरीरों के अंदर स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेगा।

भाग तो अब भी ले रहा है, क्योंकि काम वही करता है जो वह कराता है, लेकिन तुम चूँकि

जबरन करते हो, इसलिये तुम्हें मज़ा नहीं मिलता। कभी दशाश्वमेध पर चले जाओ तो वहाँ ऐसे वीतरागी महापुरुष मिलेंगे जिन्होंने जन्म भर एक टाट बिछाया है और दिन भर 'बाबा दे जाओ' कहने के बाद शाम को चार आने मिले तो उससे सत्तू लेकर खाया। उन्हें पता नहीं कि बिछौना और ओढ़ना क्या होता है। उन्होंने जीवन में नहीं देखा कि गर्मी की लपलपाती धूप में छत के नीचे रहना कैसा होता है, अथवा माघ की सर्दी के तीव्र झंझावात में कभी यह नहीं जाना कि शरीर पर कपड़ा डालकर लेटना कैसा होता है। ऐसे-ऐसे भिखारी हैं। लेकिन ऐसे सर्वथा सर्वत्यागी होने पर भी उन्हें फल कुछ नहीं मिलता, उल्टा दुःख-ही-दुःख होता है, क्योंकि वे उसको परतंत्रतापूर्वक सहन करते हैं। यदि आज रजाई मिले तो ओढ़ लें लेकिन नहीं मिली तो बेचारे क्या करें?

भगवान् भाष्यकार यह बात जानते थे कि साधारण आदमी तितिक्षा का अर्थ यह करता है कि वह बहुत सहन करते हैं। कहते हैं कि वह तो भिखारी भी करता है! इसलिये बड़ा विचार करके तितिक्षा का अर्थ किया 'सहनं सर्वदुःखानाम् अप्रतीकारपूर्वकम्। चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते।।' सारे दुःखों को सहन करना मात्र तितिक्षा नहीं है। उस दुःख को दूर करने की क्षमता होने पर भी उसे दूर नहीं करना। घर में रजाई पड़ी हुई है, सर्दी ज़्यादा पड़ रही है लेकिन हम नहीं ओढ़ेंगे। क्यों नहीं ओढ़ेंगे? आगरा में एक बहुत बड़े आदमी थे। उनका नियम था कि रात्रि में एक कम्बल ओढे हुए सो रहे हैं। अकस्मात् ठण्ड ज़्यादा लग गई। तुरंत विचार करते थे कि इस बन्द कमरे में एक कम्बल ओढ़ कर सोया हुआ हूँ और मुझे ठण्ड लगी, तो बाहर भी कई सोये होंगे। यहाँ तक तो वे और मैं एक थे, इसलिये इस समय तक उनका और मेरा सुख-दुःख समान था। अब ज़्यादा सर्दी बढ़ी तो उनकी भी बढ़ी होगी। तब रात के चाहे बारह-एक बजे हों, उसी समय दो-तीन सौ कम्बल निकलवाकर घोड़ा-गाड़ी में बैठकर सड़क पर निकल जाते थे; मोटर होने पर भी खुद मोटर में नहीं चढ़ते थे। सड़क पर जाकर बिना कम्बल वालों को एक-एक कम्बल ओढ़ाते जाते थे। उन्होंने जो भी अपना क्षेत्र माना हुआ था, वहाँ से आने के बाद बचे हुए कम्बलों में से एक कम्बल घर आकर खुद ओढ़ते थे। कई बार नहीं बचता था, इसलिये उनका लड़का एक कम्बल छिपाकर रख देता था और चौकीदार से कहता था कि जब आयें तब मुझे बता देना। वापिस तीन-चार बजे आये तो सोचते थे कि अब कम्बल ओढ़कर क्या करना है! यह है तितिक्षा। हमारे पास पड़ा हुआ है, लेकिन नहीं ओढेंगे। लेकिन यह तभी हो जब अहंता हटे। साधन ही नहीं है तब तो अपने आप अप्रतीकार है। जब है ही नहीं तो क्या ओढ़ोगे?

एक सज्जन ऐसे हैं जो कहते हैं कि सरकार ने कई नौकरियाँ दी लेकिन ऐसी एक भी नहीं दी जिसमें मैंने घूस खाई। जन्म भर घूस नहीं ली, ऐसा नहीं, बल्कि मौका ही नहीं मिला! इसी प्रकार सोल एजेन्सी लेकर बैठे हैं और कहते हैं कि 'मैंने कभी ब्लैक मार्किटिंग नहीं की'; करने

का मौका ही नहीं मिला। 'करने की सारी सम्भावनायें होने पर भी नहीं करूँगा' यह तितिक्षा का रूप है। लेकिन भगवान् भाष्यकार तो भाष्यकार ही ठहरे, उन्हें तलवार तेज़ करने का शौक है। कहते हैं, ऐसा भी बहुत से लोग करते हैं लेकिन साथ में चिन्ता करते रहते हैं कि 'मैंने इतना सब शुभ कर्म किया, सबको दिया, क्या सचमुच बाद में मिलेगा या नहीं, कहीं सारे का सारा नुक्सान तो नहीं हो जायेगा?' बहुत से लोग साधन करते हैं, लेकिन सब करके भी उनकी चिंता नहीं जाती। उन्हें यह चिन्ता नहीं थी कि 'वापिस घर पहुँचूँगा तो कम्बल मिलेगा या नहीं।' बहुत लोग चिन्ता करते हैं कि 'सब कुछ ऐसे कर दूँगा तो आगे व्यापार कैसे चलेगा? मज़दूरों की तनख्वाह बढ़ा देंगे, फ़ायदा कम करेंगे, फिर पाँच साल बाद यदि घाटा हो जायेगा तो कहाँ से आयेगा?' अभी तक घाटा हुआ नहीं, पर घाटा हो जायेगा तो क्या होगा? इसलिये आज ही भूखे मरो! विलाप भी करते हैं कि 'इतना दिया, फिर भी इन्होंने गड़बड़ किया।' देने का मज़ा ले लिया, उन्होंने गड़बड़ किया तो अब रोते क्यों हो? देने का मतलब यह नहीं। देने के एवज में अच्छा व्यवहार भी न चाहो, उसी का नाम तितिक्षा है। दशाश्वमेध घाट पर वे बेचारे इतना दुःख सहन कर लेते हैं, फिर भी उनकी वहाँ देवलीला नहीं होती, इसका कारण यही है कि उनके पास ये सारी चीज़ें रही ही नहीं।

हम कई बार कहते हैं कि तुम लोग कोई कम तपस्या नहीं करते। हम लोग भी इतनी तपस्या नहीं कर सकते। १०२ डिग्री बुखार है, लेकिन दुकान की चाबी पास है और लड़का घर पर नहीं है तो उस हालत में भी दुकान खोलकर गोलक के पास कम्बल ओढ़कर सोओगे। कोई कम दुःख नहीं होता। हमारे किसी महात्मा का सिर दर्द होता है तो कहता है कि 'यह चाबी पड़ी है', नहीं सोचता कि नौकर क्या करेगा। तुम कभी ऐसा नहीं करोगे। जेठ की चिलचिलाती धूप से बचे हुए कनाट प्लेस की दुकान में आनंद से एयरकंडीशंड कमरे में बैठे हुए और आजकल शिंकजी तो नहीं, ठण्डी-ठण्डी कोका कोला पी रहे हो। ऐसे बड़े-बड़े करोड़पति दस-दस लाख रुपया पगड़ी देने वाले सेठ हैं। हम सोचते हैं कि गुड़ ही गुड़ खाते होंगे। तभी कपूरथले के महाराजा का फोन आया कि 'एक हीरे के हार का सौदा जल्दी करना है, जल्दी आ जाओ।' बाहर चिलचिलाती धूप पड़ रही है, उस समय शायद एक बार ज़ोर भी लगाता है कि 'अगर शाम को सात बजे आ जायें तो कोई हर्ज़ा है?' महाराजा कहते हैं 'मुझे छह बजे तो राष्ट्रपति भवन जाना है।' तो वह लक्षाधिपति सेठ बेचारा एयरकंडीशंड कमरे को छोड़कर चिलचिलाती धूप में खड़ी मोटर में जाकर बैठता है जिससे कुंभीपाक नरक का कुछ स्वाद तो आ ही जाता है! सोचता है 'महाराजा से सस्ता सौदा आ जायेगा तो दो-चार लाख रुपये बन जायेंगे।' यह क्या कम तपस्या है? यदि किसी महात्मा को ऐसी स्थिति में कहो कि 'वहाँ उस मन्दिर में पट खोलने हैं', तो कहेगा कि और किसी से कह दो।

इसलिये तुम्हारी तपस्या हमसे बहुत ज़्यादा है, लेकिन उस तपस्या का फल इसलिये नहीं

कि वह अप्रतीकारपूर्वक और चिन्ता-विलापरहित नहीं है। इसलिय देवभाव की लीला तो तुम सबको करनी पड़ेगी, क्योंकि उस अखण्ड का संकल्प पूर्ण होना है, लेकिन परतंत्रतापूर्वक करने से उस आनंद का बोध नहीं होता। जब अहंता ख़त्म हो गई तो अब उस लीला में स्वतंत्रतापूर्वक सहयोग करता है। अहंता के नष्ट हो जाने से प्रतिक्षण आनंद-ही-आनंद लेता है। इस नित्य आनंद की प्राप्ति अहंता की निवृत्ति पर ही सम्भव है। भक्त तब जब अहंता गल जाये, शरीर न गले। जहाँ अहंता नष्ट हुई, वहाँ देवलीला का सहयोगी हो गया। अब उस परब्रह्म देव की नित्य लीला में आनंद ही आनंद रहेगा। ऐसे धन्य उस भगवती का भजन करते हैं।

## प्रवचन-३७

२५-४-७२

भगवती के स्वरूप और उपलब्धि के प्रकार का प्रतिपादन करके उसकी पराभक्ति करने वालों को धन्य बताया। क्यों धन्य बताया? अत्यंत असम्भव प्रतीत होने वाली चीज़ को जो सम्भव कर दे उसके धन्य कहते हैं। यह धन्यता का लक्षण है। सामान्य पुरुष के लिये जो असम्भव है वही धन्य पुरुष के लिये सम्भव होता है। वस्तुतः असम्भव कोई चीज़ होती ही नहीं। जिसको तुम असम्भव कहते हो वह और कुछ नहीं, केवल करने के तरीके के अज्ञान या कठिनता का नाम है। फ्रांस देश का एक बहुत बड़ा राजा हुआ है, उसने इटली पर चढ़ाई की। जैसा उत्तर में चीन, दक्षिण में हम हैं और बीच में बड़ा भारी हिमालय पहाड़ है, इसी प्रकार उत्तर में फ्रांस दक्षिण में इटली और बीच में बड़ा ज़बरदस्त पहाड़ पड़ता है। जैसे हम मानते रहे कि इतने बड़े हिमालय को पार करके कौन आता है, कोई कैसे आयेगा? जब आ गये तब हम स्तम्भित रह गये, इसी प्रकार से उस राजा ने इटली पर चढ़ाई की तो उसके एक सेनाध्यक्ष ने कहा कि 'वहाँ चढ़कर जाना असम्भव है।' उस राजा ने जवाब दिया 'असम्भव शब्द मूर्खों के शब्दकोश में होता है।' वेदांती इसीलिये किसी चीज़ को असम्भव नहीं मानता। उसका कहना है 'अघटितघटनापटीयसी माया' जो घट सकना कभी समझ में नहीं आ सकता, उसे घटा देना ही तो माया का कार्य है। इसलिये किसी चीज़ को असम्भव मानना वेदांती के लिये बनता ही नहीं है।

यदि विचार से सम्भव या असम्भव का निर्णय करोगे, यदि यह कहो कि जो चीज़ विचार और युक्ति से समझ आये उसे सम्भव मानेंगे, तो वेदांती कहता है 'किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्' विचार से सम्भव-असम्भव देखने जाओगे तब तो संसार में अपना जितना अनुभव है, यही सम्भव नहीं है। विचार करो, हम बोल रहे हैं यह कभी सम्भव हो सकता है? यदि जड बोलता हो तो मुर्दा भी बोले। चेतन का और वाणी का सम्बन्ध कैसे सिद्ध करोगे? बोलना असम्भव होने पर भी प्रतीति तुम सबको हो रही है कि बोल रहे हैं। युक्ति और विचार से तो बोलना भी सम्भव नहीं है, देखना भी सम्भव नहीं है। दीवाल वहाँ पड़ी रहती है, हम यहाँ बैठे रहते हैं, दीवाल दीख जाती है। अनादि काल से आज तक सब वैज्ञानिक और दार्शनिक इसपर जुटे हुए हैं, आज तक यह सिद्ध नहीं हो सका कि दीवाल हमको कैसे दीख जाती है। विचार और युक्ति से सिद्ध नहीं होता है। कहो कि 'हमको प्रतीत कैसे होता है?' तो, विचार और युक्ति से चीज़ सिद्ध होने पर मानोगे तब तो संसार की किसी चीज़ को मान ही नहीं सकते। यदि कहते हो कि 'चाहे युक्ति से सिद्ध हो या नहीं, अनुभव हो रहा है इसलिये मानेंगे', तो फिर असम्भव कुछ नहीं है! जो भी अनुभव हो गया सो हो गया, सम्भव और असम्भव में

भेद नहीं रहेगा। हम लोग दो-चार कोटि तक का विचार कर समझ लेते हैं कि पता लग गया। लेकिन अन्तिम कोटि तक का विचार करो तो कुछ पता नहीं लगता। वेदांती इसलिये कहता है कि जब तुमको दो-चार कोटि में जाकर हथियार डालने ही पड़ेंगे तो इतना टण्टा क्यों करते हो? पहले ही हथियार डाल दो, बात ख़त्म हुई।

उससे फ़ायदा क्या है? परम शान्ति का अनुभव ही फ़ायदा है। कार्य और कारण भाव का आग्रह ही हम लोगों को परम दुःखी बनाता है। किसी कार्य को देखते ही हम कारण ढूँढते हैं, और कारण ढूँढने में दुःखी बने रहते हैं। यदि हम कारण को ढूँढना छोड़ दें, तो यह सारा झंझट मिट जाये। यह बात ठीक से समझना। हम समझते हैं कि कारण का अन्वेषण करके कुछ हाथ आयेगा और कारण के अन्वेषण से कुछ हाथ नहीं आना, क्योंकि कारण कोई है नहीं। दो-तीन कोटियों के कारणों को समझने में हम निरंतर प्रयत्न और परिश्रम करते रहते हैं, दुःखी बने रहते हैं। धन्य वह है जिसने इस कार्य और कारण के भाव का विचार छोड़ दिया। यही असंभव को सम्भव करना है। मनुष्य का अंतःकरण ऐसा बना हुआ है कि बिना कार्य-कारण के रहना ही नहीं चाहता। इसलिये जब पहले-पहल वेदांती किसी को कहता है कि 'कार्य-कारण भाव को छोड़ो', तो उसे लगता है कि असम्भव है। धन्य वह है जिसने इस असम्भव को सम्भव कर लिया, जिसने कार्य-कारण भाव को छोड़ दिया। विचार करके देखो तो कारण का अन्वेषण तुमको झूठ की तरफ ले जाता है, और कारण के अन्वेषण का छोड़ना ही तुमको सत्य की तरफ ले जाता है। इसीलिये धन्य वह है जिसने कारणान्वेषण छोड़ दिया और वह छोड़ने के कारण ही वह निरंतर सत्य को ही ग्रहण करता है। कारण सारे का सारा संगठित (organised) होता है और जिन चीज़ों को जितना बाँधोगे, वे उतना ही बड़ा बन्धन बनेंगी, कभी मुक्ति नहीं बनेंगी। लोग कहते हैं कि बिना व्यक्तियों के संगठन के समाज, काम या व्यवहार कैसे चलेगा? ऐसा मानने वाले निरंतर हर विचार को संगठित (सम्बन्धित) करना चाहते हैं।

इसीलिये लोग उपनिषदों से घबराते हैं! वेदांत के भी दो रूप हैं-१. संगठित रूप और २. सच्चा रूप। क्योंकि कैसी भी सत्यता बताओ, थोड़े दिन में लोग उसका भी संगठन बना लेंगे! उपनिषदों को बाँचो तो कहीं कहेंगे 'तत्तेजोऽसृजत्' तेज (अग्नि) बनाया। कहीं कहेंगे मन बनाया, कहीं कहेंगे 'आकाशःसंभूतः'। कहीं कहा है जल पहले बनाया। अब, संगठित लोग आये तो उन्होंने कहा कि इनका कुछ संगठन करो। यहाँ तेज की सृष्टि बताई, वहाँ आकाश, वायु आदि की सृष्टि बताई तो दोनों को जोड़ लो। उसका गुणोपसंहार यहाँ और इसका वहाँ कर लो। इससे मनुष्य को शान्ति मिली कि आत्मा से पहले आकाश, आकाश से वायु और वायु से तेज हुआ। किताब बाँचने से बड़ा अच्छा लगता है क्योंकि एक पक्की बात पता लग गयी कि पहले क्या हुआ। लेकिन वैदिक ऋषि खुद ही एक बात कह गये कि अलग-अलग क्यों बताया? सच्ची बात एक जैसी हुआ करती है और झूठी बात (गप्प) अलग-अलग हुआ करती है। सच्ची बात

तो यह है 'न कश्चित् जायते जीवः सम्भवोस्य न विद्यते। एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचित् न जायते।।' जीव आज तक पैदा हुआ ही नहीं! सम्भव नहीं कि कभी कुछ चीज़ पैदा हो। यदि सच्ची बात जानना चाहते हो तो वह यह है कि कुछ भी न आज तक पैदा हुआ है, न होगा और न है। सृष्टि यदि सच्ची बात होती तब तो एक तरह से उसकी व्यवस्था होती कि पहले आकाश, फिर वायु, फिर अग्नि, फिर जल और तब पृथ्वी हुई। लेकिन सच्ची बात यह है कि सृष्टि पैदा हुई ही नहीं। जैसे जो सच्चा गवाह हो, वह तो एक जैसी गवाही देगा और जो झूठा गवाह होता है, वह झट बदल जाता है। जब वैदिक ऋषि से तुम पूछते हो कि 'आकाश पहले या अग्नि पहले?' तो उसने सोचा कि पहले अग्नि ही पैदा हुई होगी, आकाश वायु को जाने दो! कोई कहता है कि पहले आकाश, वायु नहीं, तेज होता है। वैदिक ऋषि कहता है कि चलो तुम तेज मानते हो तो पहले यही सही। क्योंकि सच्ची गवाही तो है कि सृष्टि हुई ही नहीं।

लोग लगे हुए हैं कि देखें, वेद कैसी सृष्टि बताता है। नतीजा यह हुआ कि लोगों ने व्यवस्था बनाई। कुछ ने तो निर्णय किया कि वैदिक ऋषियों को खुद ही पता नहीं था कि सृष्टि कैसे हुई! बहुत आधुनिक ग्रन्थकार यही लिखते हैं कि वैदिक ऋषियों का अपना-अपना अलग मत था इसलिये कोई कुछ और कोई कुछ लिखता था। हमने एक बड़े भारी विद्वान्, पूना विश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर, से बात की। हमने उनसे कहा कि एक ही याज्ञवल्क्य ने तीन प्रकार की सृष्टि बताई है। एक ही दध्यङ्आथर्वण ने पाँच प्रकार की सृष्टि-प्रक्रिया बताई है। कहने लगे 'मानना पड़ेगा कि भांग खाकर लिखा करते थे।' हमने कहा कि यह बात हमने तुम्हारी मान ली। भांग मायने दूसरे अज्ञानी पुरुषों के अज्ञान को अपने में मानकर बोलते थे, क्योंकि उनकी गवाही तो थी कि सृष्टि हुई ही नहीं। सामने वाला नहीं मानता है तो जैसे छोटे बच्चे को ज़िद में देखकर आदमी कहता है 'अच्छा भाई, मान ली तेरा बात, पिण्ड छोड़', ऐसे ही बार-बार कोई कहता है कि 'सृष्टि है कैसे नहीं! हमको दीखती है। समझाओ कैसे दीखती है।' वेदान्ती कहता है 'समझा नहीं सकते, लेकिन दीखती है।' किसी ने कहा, पहले परमाणु बने। वेदान्ती कहेगा 'अच्छा, मान ली तेरी बात कि परमाणु बने।' वस्तुतः श्रुतियों का तात्पर्य जगत् के कारण का प्रतिपादन करने में नहीं वरन् कार्य-कारण-भाव को हटाने में है। मिट्टी से घड़ा, लोहे से औजार, सोने से गहने बने ये सब वर्णन सृष्टि के प्रतिपादन में तात्पर्य वाले नहीं हैं, तात्पर्य इसमें है 'उपायः सोऽवताराय' कि किसी तरह से सामने वाले के हृदय में यह चीज़ उतर जाये कि कुछ बना नहीं है। वह जिस दृष्टांत से जैसे समझ में आ जाये उसे उपस्थित कर दिया जाता है।

कार्य-कारण भाव का परित्याग लगता तो असम्भव है, लेकिन इसको जो सम्भव कर ले उसे धन्य कहेंगे। ऐसे व्यक्ति का निरंतर चिंतन कार्य-कारण- भाव को निवृत्त करने में लगता है। इसीलिये आचार्य श्रीहर्ष लिखते हैं कि तुम हमसे क्यों पूछते हो कि कार्य-कारण-भाव क्या

है, घड़े का ज्ञान कैसे होता है; इन सबकी व्यवस्था बनाना हमारा काम नहीं है। अपने-अपने सिद्धान्त की व्यवस्था में तो द्वैती लोग दृढ बुद्धि वाले होते हैं। यह भगवान् गौडपादाचार्य बताते हैं कि अपने-अपने सिद्धान्त उन्होंने बना रखे हैं। वेदांत शास्त्र तुमको यह बताता है कि यदि सचमुच कोई सिद्धान्त होता तो अनादि काल से आज तक लोग जो जूझ रहे हैं वे किसी एक निश्चय पर पहुँच जाते। कपिल के ज़माने से सांख्य शास्त्र चला आया, कणाद के ज़माने से वैशेषिक शास्त्र और गौतम के ज़माने से न्याय शास्त्र चला आया। असत् से जगत् की उत्पत्ति की मान्यता भी अति प्राचीनकाल से चली आई है। पर ये सब मिलकर आज तक किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे। इन लोगों के किसी निर्णय पर नहीं पहुँचने में या तो यह मानें कि ये सब मूर्ख थे; लेकिन वेदांत ऐसा नहीं मानता। यह ज़रा विचार की बात बताते हैं, ठीक से समझना। या तो मानें कि कोई निर्णय करने की चीज़ तो है, लेकिन ये सारे-के-सारे मूर्ख होने के कारण पता नहीं लगा पाये। वेदांत कहता है कि ऐसा हम कैसे मान लें कि सारे के सारे मूर्ख हैं! हम तो यह मानते हैं कि ये सारे-के-सारे विद्वान् थे, ऋषि थे इसलिये 'अजातिं ख्यापयन्ति ते।' वेदांती कहता है कि ये सब अपनी लड़ाई से यह सिद्ध कर रहे हैं कि निर्णय किया जाये ऐसी कोई चीज़ है ही नहीं। अगर कोई चीज़ निर्णययोग्य हुई होती तो इनमें से किसी-न-किसी को तो पता लग ही गया होता। जब इतने बड़े-बड़े लोग खूब डटकर जूझकर निर्णय नहीं कर पाये, तो बजाय इसके कि तुम भी उसी में जूझो, यह निर्णय करो कि अनिर्णीत ही तत्त्व है, अर्थात् जो चीज़ है, उसका निर्णय असम्भव है, निर्णययोग्य कुछ है ही नहीं।

जैसे लोक में होता है कि एक कमरे में दस आदमी दस दिन से ढूंढ रहे हैं कि मेज़ कहाँ गई, रखी इसी कमरे में थी। तुमसे किसी ने आकर कहा कि 'आप बड़े बुद्धिमान् हो, हम दस आदमियों के ढूँढने पर भी मेज़ नहीं मिल रही है, आप चलकर ढूंढ दो।' जो बुद्धिमान् नहीं होता वह वहाँ जाकर ढूँढने लगता है कि इन्होंने मुझे अच्छा माना है! बुद्धिमान् सोचता है कि मेज़ जैसी चीज़, और दस भले आदमी, कोई मूर्ख भी नहीं, दस दिन से ढूँढ रहे हैं, तो इसका मतलब हुआ कि उस कमरे में मेज़ नहीं है, यह बिना गये सिद्ध हो गया। इसी प्रकार से वेदांती देखता है कि नैयायिक, वैशेषिक, गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि जैसे बड़े-बड़े महर्षि लोग, बुद्ध, महावीर जैसे बड़े-बड़े मत-प्रवर्तक लोग आज तक नहीं निर्णय कर पाये कि यह सृष्टि कैसे हुई, सब जूझ रहे हैं। दूसरा कहता है कि 'आप वेदांती हैं, आप भी मैदान में उतरो, आप भी अपनी सृष्टि-प्रक्रिया बताओ कि सृष्टि कैसे हुई।' वह कहता है कि 'हमको ज़रूरत नहीं है। जब इतने बड़े-बड़े लोग निर्णय नहीं कर पाये तो निर्णय हो गया कि सृष्टि हुई ही नहीं।' बहुत से लोग वेदांती बनकर भी व्यवस्था बनाने में लगते हैं! व्यवस्था हो तो निकले, नहीं तो क्या निकले?

जैसे-जैसे इस व्यवस्था की आस्था दूर होती है, वैस-वैसे इस अजाति भाव में स्थिति होती है। यह ठीक से समझ लेना। जितना-जितना व्यवस्था में आग्रह होगा, उतना-उतना वेदांत की

अनुभूति से दूर जाओगे। मनुष्य अपने पुराने संस्कारों के कारण यहाँ भी बार-बार व्यवस्था में आग्रह वाला होता है और जितना-जितना व्यवस्था में आग्रह वाला होगा, उतना-उतना अनुभव से दूर होता चला जायेगा, क्योंकि व्यवस्था जहाँ जो चीज़ नहीं है, वहाँ उस चीज़ को ढूंढने में लगी रहती है। जितना-जितना अद्वैत की दृष्टि का अनुभव होता जायेगा, उतना-उतना व्यवस्था के प्रति आग्रह हटता जायेगा। विचार करो, हम यहाँ बैठे हुए हैं। हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि इस समय चाँदनी चौक में हमारी दुकान बनी हुई है। अभी दस-पाँच दिन पहले सदर बाजार में आग लगी थी, कई दुकानें जल गईं, हज़ारों रुपयों का नुक्सान हो गया। उन दुकानों के मालिकों में से कोई उस दिन सवेरे अपने घर में चाय पीते हुए कह रहा होगा कि 'ऐसा करना, आज मुन्ने को दुकान पर भेज देना, मैं घर के खर्चे के रुपये भेज दूँगा।' घर के खर्चे के रुपये जल गये, जले हुए रुपयों को कह रहा है कि दे दूँगा! अगर उस समय कोई पूछे कि तुम्हारे पास कोई प्रमाण है कि रुपये वहाँ हैं? तो कहेगा 'प्रमाण कैसे नहीं है? यह चाबी है, मैं ताला बन्द करके आया हूँ, रुपये रखे हुए हैं। तुम्हारे वेदांत को जानने से थोड़े ही हो जायेगा कि वहाँ रुपये नहीं हैं।' लेकिन कोई प्रमाण नहीं है। जब जल गई तो कहता है कि मारा गया। मारा तो तभी गया था जब ताला बन्द करके गया था। जितनी-जितनी तुम्हारी अद्वैतनिष्ठा दृढ होगी, उतना-उतना तुम्हारे अन्दर से यह भाव हटता चला जायेगा और उतना-ही-उतना तुम्हारी शक्ति का विकास होगा। इस व्यवस्था के चक्कर में तुम्हारा दिमाग बोझिल रहता है और उस बोझ के कारण तुम किसी भी चीज़ में सुख नहीं ले सकते। यह व्यवस्था का आग्रह तुम्हारे सारे सुखों को रोक लेगा।

इस समय तुम हमसे कह रहे हो कि आज का मौसम बड़ा अच्छा है, सवेरे-सवेरे पाँच बजे ठण्डी हवा चल रही है, सुखानुभव हो रहा है। अब व्यवस्था ने झट पैर बढ़ाया कि अप्रैल का अंत आ रहा है, अधिक वैशाख के बीच में पहुँच गये हैं, अब तो दिन में लू लगने ही वाली है। अब बोलो, इससे क्या फ़ायदा है? मन में तो एक ही वृत्ति रहेगी। वैशाख-अंत प्रयुक्त लू की वृत्ति  बनी, उस क्षण ठण्डी हवा की वृत्ति ख़त्म हुई। इस समय है ठण्डी हवा, लेकिन मन लू में पहुँचा हुआ है। एक बार किसी अपनी लड़की का ब्याह इसी दिल्ली में था। दो मई का ब्याह था। बाद में हमको लोगों ने बताया कि उस दिन बारात आई और ऐसी भयंकर बरसात बरसी कि रात में दौड़-धूपकर बारातियों के लिये कम्बलों की व्यवस्था करनी पड़ी। उन्होंने व्यवस्था की थी कि गर्मी का मौसम है, सब खुले में सोयेंगे। लेकिन उस भयंकर वर्षा के कारण इतनी ठण्ड हो गई कि बारातियों ने कहा कि 'कम्बल मँगाओ, हम लोग गरम कपड़े नहीं लाये।' विचार करो, जब दो मई को यह हो सकता है तो अप्रैल के अंत में लू आये इसमें है कोई प्रमाण? कुछ नहीं है। लेकिन काल-व्यवस्था को सोचकर इस क्षण दुःखी हो गये।

कलकत्ते में अपना एक लड़का पढ़ता नहीं था। बहुत बड़े आदमी का लड़का था। वह

हमसे बराबर कहें कि यह पढ़ता नहीं है। हमने कहा जाने दो, नहीं पढता तो कौन-सा ब्राह्मण का लड़का है। क्या हर्जा है? कहें 'नहीं महाराज! पढ़ेगा नहीं तो काम कैसे करेगा?' वह लड़का अपना खाता-पीता और आनंद से रहता था। व्यवस्था दिमाग में बैठी है कि पढेगा तो कमायेगा, नहीं तो क्या कमायेगा। हमने उसके माँ-बाप को समझाया कि तुम जितना कमाकर जा रहे हो, वह दो पीढ़ियों में ख़त्म नहीं होने वाला है, इसे क्यों पढ़ाकर कमाने में लगाते हो? वे किसी तरह चार साल मैट्रिक में उसे पढ़ाते रहे, पाँच-पाँच ट्यूटर लगाये, बेचारे को न सवेरे चैन, दोपहरी को स्कूल जाना और न शाम को चैन। लेकिन वह भी सच्चे गुरु का चेला था, नहीं पास हुआ तो नहीं हुआ। चार साल बाद माँ-बाप ने हथियार डाल दिये। अब वह क्या काम करे! स्थिति यह हुई कि उसके साथ कोई अपनी लड़की का ब्याह करने को तैयार नहीं, क्योंकि कमाता नहीं। सब घर वाले उसे नालायक कहें। हमारे पास कई बार आये तो हम कहें कि कोई हर्जा नहीं। दो-तीन साल बाद उसका एक चाय-कम्पनी वाले से परिचय हुआ। चाय कंपनी में एक आदमी का काम होता है कि पीकर बताता है कि चाय एक नंबर की, दो नम्बर की या तीन नम्बर की है। एक नम्बर की चाय विदेशों में जाती है, दो नम्बर की महंगी मिलती है, तीन नम्बर की हम सबको मिलती है। वह पीकर पता लगा लेता था। यह भी बड़े आदमी का लड़का, चाय पीने का बड़ा शौकीन था। बात- चीत में उसने चाय-उत्पादक के सामने कहा कि 'मैं बता देता हूँ कि यह चाय अच्छी है या बुरी।' उसने कहा है 'तुम्हें बड़ी पहचान है, परीक्षा करेंगे।' बहुत से लोग परीक्षक बनते हैं, लेकिन लेबल की परीक्षा करते हैं, लेबल बदल दो तो उन्हें पता नहीं लगता! वह लड़का सच्चा परीक्षक था। उसको चाय व्यापारी ने कहा 'तू मेरे यहाँ काम कर ले।' उसे तीन हज़ार रुपये महीने में अपने यहाँ नौकर रख लिया। वही जो महा-नालायक समझा जाता था, तीन हज़ार रुपये महीना कमाने लगा, मोटर अलग, रहना, खाना-पीना सब मुफ्त। अब वह बड़ा 'लायक' बन गया और जगह-जगह से लड़की देने वाले आ गये।

हमने कहा यह है 'अजातिं ख्यापयन्ति ते'; पढ़ने से इज़्ज़त होती है, पैसा कमाया जाता है, यह ज़रूरी नहीं है। उसके साथ पढ़ने वाले फर्स्ट क्लास एम०ए०, गोल्ड मैडल पाने वाले मैडल लिये घूम रहे हैं, कोई दो सौ रुपये नहीं कमाता। केवल एक भ्रम है कि पढ़कर कमायेगा। हमने एक व्यवस्था बाँध रखी है। उसके माँ-बाप भी दुःखी रहा करते थे, अब हम उनसे कई बार कहते हैं कि तुम इतने साल दुःखी रहे और इसे भी चार साल तक एक मिनट को चैन नहीं लेने दिया, कुछ फ़ायदा हुआ? एक लड़के का ऐसा होने पर भी वह जो व्यवस्था का चक्कर दिमाग में चलता रहता है, दूसरे लड़के के सिर पर फिर सवार हो जाता है कि 'पढ़ा कर'।

विचार करो, ऐसा क्यों है? व्यवस्था का आडम्बर हमारे सिर पर इतने ज़ोर से छाया हुआ है कि हम उससे निकल नहीं पाते। धन्य वह है जो जानता है कि इस क्षण में यह है, इसके पहले और पीछे किसी चीज़ में कोई प्रमाण नहीं है। भगवान् भाष्यकार ने इसीलिये लक्षण किया

‘अतीताननुसंधानं भविष्यद्-अविचारणम्।’ बीती हुई बातों की स्मृतियाँ का ला-लाकर वह अपने दिमाग को बोझिल नहीं बनाता। न जाने कितनी बीती हुई बातों का आदमी विचार करता रहता है! भविष्य की किसी भी आने वाली चीज़ का विवेकी विचार नहीं करता, क्योंकि जो अभी आया ही नहीं, जिसकी सत्ता में ही संदेह है, उसके लिये निरंतर परिश्रम में लगे रहने से क्या फ़ायदा है! जैसे आजकल के लोग निरंतर हमसे कहते हैं कि अभी तुम लोग कष्ट सहो, किसी समय तुम्हारे पोते अमरीका की तरह धनी होकर मौज करेंगे। अभी पैसा खर्च मत करो, अभी तो बचाकर सरकार के पास जमा करो, ‘सेविंग्स स्कीम्स’ (बचत योजनाओं) में लगाओ, अभी मत खाओ-पियो क्योंकि तुम मर जाओगे तो तुम्हारे पोतों को धन मिलेगा। जब हम कभी उनसे पूछते हैं कि जो बाप जमा कर गया, वह तुमने वैल्थ टैक्स में छीन लिया और जो दादा जमा कर गया वह तुमने पूंजीवादी मानकर छीन लिया, फिर आज हम जमा करेंगे तो तुम बचने दोगे, कैसी विरोधी बात है? जिन्होंने जमा किया उनसे कहते हैं कि तुम्हारा जमा किया हुआ बेइमानी का है और हमसे कहते हैं कि आगे के लिये जमा करो! जनता भी हमारी इतनी मूर्ख है कि उसको छिनता देखकर भी फिर बचत योजनाओं में जमा करने जाती है। मूर्खता की हद है, क्योंकि व्यवस्था में आग्रह बना हुआ है। जो व्यवस्था में आग्रह वाला नहीं है, वह भविष्य का विचार नहीं करता। वह बिना मतलब के उस चीज़ के चिंतन में नहीं लगता जो है ही नहीं।

जिस काल में जो चीज़ सामने है, उस काल में अपने आपको पूर्णतया उससे तादात्म्य करके रहना है। एक क्षण के अन्दर यदि रहोगे तो वहाँ ‘ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म’ है। ज्ञाता ज्ञेय तो अगले क्षण में बनते है। जिस क्षण में अनुभव होता है, उस क्षण में तो केवल ज्ञान है। फिर आगे व्यवस्था बनाते हो कि घटज्ञान हुआ तो जानने वाला कोई ज़रूर होगा जो मैं हूँ। यदि घट का ज्ञान हुआ तो घट ज़रूर होगा, इसलिये ज्ञेय हुआ। यह तो ज्ञान होने के बाद पूर्व-ज्ञान का अनुसंधान करके तुम ज्ञाता-ज्ञेय-भाव लाते हो। लेकिन ज्ञान काल में ज्ञातृ-ज्ञेय-भाव नहीं है। और एक कदम आगे चलो, जब कहते हो कि मैं ज्ञाता था या ज्ञाता हूँ या ज्ञाता होऊँगा (काल की यहाँ विवक्षा नहीं है) तो यह भी एक ज्ञान ही है कि मैं ज्ञाता। घट ज्ञेय था  यह भी तो एक ज्ञान ही है। घट ज्ञेय था  यह ज्ञान ही उसे फिर ज्ञेय बनाने की कोशिश करेगा। जिस काल में जो भी पकड़ेगा, वहाँ सिवाय ज्ञान के और कुछ भी मिलने वाला नहीं है ‘ज्ञानमेकं परं ब्रह्म।’ व्यर्थ ही मान लिया है कि मैं ज्ञाता था। इसकी स्मृति इस ज्ञान से भिन्न कुछ नहीं है। जब ज्ञान ही सर्वरूप है और वह हर क्षण है तो जैसे तुम्हारे पास पाँच तोला सोना है, उसका तुम कभी कड़ा, कभी घुंघरू, कभी जंजीर, कभी करधनी और कभी अनंत बना लेते हो लेकिने जब तक पाँच तोले सोना कम नहीं होता, क्या तब तक दुःखी सुखी होते हो? अगर गहना बनने में टांका निकल जाये तो दुःखी कि ‘न निकाला होता तो ही अच्छा होता’, और, है तो असम्भव लेकिन, कभी ऐसा हो जाये कि पाँच तोले की जगह उसमें छह तोले सोना आ जाये, तो सुखी हो

जाओगे। लेकिन पाँच तोले जब तक पास है तब-तक सुख-दुःख नहीं होगा। माल एक ज्ञान ही है, वह कभी ज्ञाता ज्ञेय की शक्ल वाला, कभी घट पट आदि की शक्ल वाला, कभी दोस्त और कभी दुश्मन शक्ल वाला बनता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार (देवी भुजंग. २०) कहते हैं

'कदा वा हृषीकाणि साम्यं भजेयुः कदा वा न शत्रुर्न मित्रं भवानि।
कदा वा दुराशा-विषूची-विलोपः कदा वा मनो मे समूलं विनश्येत्।।'

हे भवानी भगवती! कब मेरी इन्द्रियाँ (ऋषीका नाम इन्द्रियों का है) उस समता को प्राप्त होंगी जिसमें हमने बिना मतलब के न जाने कितने भाव बना रखे हैं। आँख से कुछ और दीखता है, कान से कुछ और सुनता है, आँख और कान का आपस में झगड़ा चलता रहता है। एक आदमी तुमसे कहता है कि 'मैं चोर नहीं हूँ।' कान ने सुना कि मैं चोर नहीं हूँ। साथ में ही तुम देखते हो कि उसकी जेब में एक चम्मच पड़ा हुआ है जिसपर लिखा हुआ है 'आई०आर०' (इंडियन रेलवेज़)। हिन्दुस्तान की रेलवे की चीज़ों पर आई० आर० लिखा रखता है। वह वहाँ खाने गया हुआ था, बेचारा एक चम्मच जेब में डाल लाया। यहाँ दो चीज़ें हैं : आँख कह रही है कि रेलवे की चम्मच इसकी जेब में है, इसलिये यह चोर है। कान कहता है कि वह कहता है 'मैं चोर नहीं हूँ।' द्वैती बड़े चक्कर में पड़ा हुआ है कि आँख को माने या कान को माने! उसको पूछते भी हैं कि 'तेरी बात मानें या जो आँख से देख रहे हैं, उसे मानें?' कहो कि आँख से देखी बात मान लें। हम वेदांती तो मान ही नहीं सकते, क्योंकि आँख से संसार दीखता है, वेद से ब्रह्म दीखता है। अब वेद की बात मानें या आँख की? लेकिन व्यवहार में भी सब समय आँख की बात नहीं मान सकते।

एक बार हम एक जगह गये हुए थे, दो औरतों ने आकर नमस्कार किया। दोनों के चेहरे बिलकुल एक जैसे थे। हमने सोचा बहनें होंगी, पूछा तो कहा देवरानी हैं। एक-दो मिनट ध्यान से देखते रहे, फिर हमने पूछा चचेरी बहनें हो, एक ही घर में ब्याही हो? कहा 'नहीं, यह इलाहबाद की है और मैं बनारस की हूँ।' तब उन्होंने कहा कि सभी हमें बहनें समझते हैं। यहाँ आँख की बात मानें या कान की? कहोगे कि झूठ बोल रही हैं। निर्णय क्या करें? इसी प्रकार जितनी इन्द्रियाँ हैं, इन सबकी खबरें अलग-अलग होती हैं। एक बार एक आदमी रसगुल्ला लेकर आया, उसमें गुलाब जल की बड़ी खुशबू आ रही थी, सोचा बड़ा स्वादिष्ट होगा। मुँह में डाला तो मैदे का मैदा। एक बार आगरे में एक सज्जन ने हमसे कहा कि 'मैं आपको वैजीटेबल घी देशी घी की जगह खिलाऊँगा और आपको पता नहीं लगेगा।' हम सोचते थे कि देशी घी का पता लगा जाता है। उसने हमारे सामने पाँच किलो शुद्ध वैजीटेबल घी लिया और एक शीशी निकालकर उसमें से दो बूंदें उस घी में डालीं और ठण्डा कर दिया। कहा अब खाइये। उसमें ऐसी बढ़िया देशी घी की सुगन्धि आई कि कुछ ठिकाना नहीं। हमारे सामने ही यह सब किया,

हमने कहा मान गये तुम्हारी बात को। यह जो अपने मन में व्यवस्था बैठी हुई थी कि नाक से घी का पता लगता है, यह भ्रम भी आज से चला गया। अब क्या व्यवस्था करें! कहीं आँख तो कहीं नाक धोखा देती है। यहाँ नाक कह रही है कि असली घी है लेकिन आँख से कुछ और दीखता है। अब दोनों में झगड़ा हो रहा है, किस की बात मानें?

भगवान्! भाष्यकार इसीलिये कहते हैं हे भगवती! यह टण्टा छूट जाये। नाक से शुद्ध घी मानते हुए भी आँख से अशुद्ध घी मानते रहें। इस व्यवस्था के चक्कर में न पड़ें कि असली है या नकली। एक असली कह रहा है, दूसरा नकली कह रहा है, तो दोनों की बात मान लो। हे भगवती! इसी प्रकार से मेरे को कभी भी शत्रु और मित्र की व्यवस्था न करनी पड़े। रात-दिन हम इसी व्यवस्था और छंटाई में लगे हुए हैं कि हमारा असली दोस्त, हमारा शुभ-चिंतक कौन है और हमारा दुश्मन कौन है। जितने लोग मिले हैं उन्हें कभी एक कोटि में तो कभी दूसरी कोटि में डालते रहते हैं। जिसे थोड़े समय पहले शत्रु मान रहे थे, उसे फिर मित्र कोटि में डाल देते हैं। जीवन में रात-दिन यही कर्म करते रहते हो। आज तक यह निर्णय असम्भव है कि कौन शत्रु और कौन मित्र है क्योंकि व्यवस्था बनती जो नहीं, क्या करोगे!

कनाट प्लेस में एक औरत गई। एक बड़ी भारी दुकान थी, वहाँ उसने अठारह रुपये में जो सौदा खरीदा, उसकी कीमत नौ रुपये थी। ठीक दुगने दाम में वह सौदा दुकानदार ने बेचा। इससे सिद्ध होता है कि वह अव्वल दर्जे का ठग है, चोर है, अधिक दाम लेता है। आज का समाजवादी हल्ला मचायेगा कि इसी को तो हम रोकना चाहते हैं। वह औरत घर पहुँची तो उसे ख़्याल आया कि उसके हाथ में जो थैला (हैण्डबैग) था, वह वहाँ छोड़ आई। उसमें पाँच हज़ार रुपये के नोट थे। बड़ी घबराई, तुरंत दूरभाष करके पूछा कि 'मैं वहाँ बैग छोड़ गई थी?' दुकानदार ने कहा 'यहाँ है, आकर ले जाइये।' झट वहाँ पहुँची, बैग लिया, रुपये निकालकर गिने तो पूरे थे। झट ५०० रुपये निकालकर दुकानदार को देने लगी। उसने कहा 'यह तो आपकी चीज़ थी, इसमें इनाम की क्या बात है?' अब बनाओ व्यवस्था; चोर है तब नौ रुपये की चोरी की, लेकिन पाँच हज़ार की चोरी नहीं की! लोग कहते हैं ये पूंजीवादी और ये समाजवादी, लेकिन बनाओ व्यवस्था। इसी प्रकार से कोई व्यक्ति हमारे लिये परम शत्रुता का काम करता है, थोड़ी देर में वही मित्रता का काम करता है। हम इधर-से-उधर अपने को धक्का मारते रहते हैं कि कभी शत्रु और कभी मित्र है।

सर्वज्ञ भगवान् शंकर कहते हैं कि यह झगड़ा मिट जाये। यह जो आशा नाम की चीज़ है, यह एक विषूची है जो हमेशा बींधती रहती है। अग्रिम क्षण क्या होगा, कल क्या होगा, धन चला जायेगा, स्त्री चली जायेगी, दोस्ती चली जायेगी यह सोचते रहते है; अथवा धन आ जायेगा, सुन्दर पत्नी मिल जायेगी, दोनों तरफ समझ लेना। चला जायेगा और आ जायेगा दोनों की आशा लगी रहती है और इसके द्वारा हमारे अन्दर हमेशा सूचीवेध होता रहता है। विषूची

एक भयंकर रोग है जो हमें जीवन में कभी सुख नहीं लेने देता। कहते हैं  हे भगवती! कब यह लुप्त हो जायेगी। इस समय हमारा जो है वह है, अग्रिम क्षण क्या रहेगा, क्या नहीं रहेगा, कल क्या आयेगा  ये सब फालतू विचार हैं। हे भगवती! मेरा मन यही तो सब करता रहता है। मैं तो केवल साक्षी हूँ, इसलिये केवल ज्ञान का प्रकाशक हूँ। ऐसे साक्षि-भाव को छोड़कर मेरा मन मरे मुर्दे, भूत को और मरे हुए गर्भ, भविष्य को सोचता रहता है। लोग कहते हैं कि 'हमारी योजना सफल हो गई, क्योंकि इतने बच्चे पैदा नहीं हुए।' पैदा न होने में भी वे कारण बन गये! ऐसे ही हमारी जो आशायें पूरी नहीं होती, वे भी हमें दुःख देती रहती हैं। यह मन बिना मतलब बीच में आकर मुझे प्रमाता बनाता है।

मैं तो साक्षी हूँ, ज्ञान का प्रकाशक हूँ, केवल साक्षिमात्र हूँ। मेरे सामने तो केवल ज्ञान ही है, इसलिये सब कुछ  साक्षिभास्य है। मन और इन्द्रियाँ बीच में आकर मुझे प्रमाता बनाती हैं। इनसे रहित होकर में केवल ज्ञानमात्र परब्रह्म हूँ। घटज्ञान में ज्ञान को अलग करूँ, घट को अलग करूँ। फिर ऊपर से एक ज्ञाता लाऊँ, तब प्रमाता बनूँ। कब मेरा यह प्रमातृभाव नष्ट हो और मैं केवल जिस क्षण ज्ञान आ रहा है, उस समय केवल साक्षिभास्य पदार्थों को देखता हुआ रहूँ। व्यवस्था बनाने के लिये त्रिविध सत्ता मैंने बना रखी है, श्रुति ने यह नहीं बनाई, भगवान् गौडपादाचार्यों ने नहीं बनाई। वादी व्यवस्था का आग्रह करने लगा तो कहा मान लिया त्रिविध सत्ता है। अनुभव केवल साक्षिभास्य का है। जैसे साक्षिभास्य स्वप्न में कोई व्यवस्था बनना असम्भव है : रास्ते में जा रहे हो, अकस्मात् देखते हो कि पानी के बीच में हो। सड़क पानी जैसी बन गई। अब बनाओ व्यवस्था! वैसे जाग्रत् में व्यवस्था जबरदस्ती बनाने पर भी बनती नहीं है। कपिल, कणाद आदि व्यवस्था बनाने में जुटे रहे किन्तु नहीं बना पाये क्योंकि यदि व्यवस्था होती तो बनती। जैसे स्वप्न में व्यवस्था नहीं, वैसे ही जाग्रत् में भी नहीं। जैसे स्वप्न में सब कुछ साक्षिभास्य है, वैसे ही जाग्रत् में भी सब कुछ साक्षिभास्य है। प्रमाता नाम की कोई चीज़ नहीं है। यदि दिल से यह कह दिया तो फिर धन्य हो गये।

## प्रवचन-३८

२६-४-७२

भगवती के स्वरूप और उपलब्धि के स्थान का प्रतिपादन करने के बाद सर्वज्ञ भगवान् शंकर उसके भजन करने वाले, पराभक्ति करने वाले कैसे लोग होते हैं, इसका प्रतिपादन करते हैं। वे धन्य होते हैं। धन्यता के स्वरूप पर विचार करते हुए देखा कि असम्भव को सम्भववत् करने के कारण ही वे धन्य कहे गये। जो चीज़ युक्ति से सम्भव प्रतीत नहीं हो उसको वे अनुभव में उतारकर सम्भववत् कर लेते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना का समन्वय असम्भव लगता है। मनुष्य की चेतना में दो तरफ से प्रवाह आता है, एक ऊर्ध्व चेतना से और दूसरा अधश्चेतना से। अंग्रेज़ी वाले इसी को सुपर ईगो और इड (super ego, id) कहते हैं। हमारा जो चेतन मन है इसमें कुछ संदेश तो ऊर्ध्वचेतना के आते हैं अर्थात् क्या ठीक है और क्या ग़लत है। कुछ संदेश इसमें अधश्चेतना के आते हैं कि क्या चीज़ सुख-दुःख देने वाली है। उपनिषदों की भाषा में कहा जाये तो 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः' यहाँ मनुष्य का मतलब देह तो है नहीं अतः अर्थात् मन में आते हैं। श्रेयः अर्थात् ऊर्ध्वचेतना (सुपर ईगो) इस बात को बताने वाली है कि यह ठीक है, यह श्रेय का (कल्याण का) मार्ग है। अधश्चेतना (इड) से आने वाला प्रेयः अर्थात् यह प्रिय है, यह चीज़ हमको सुखवत् प्रतीत होगी। ये दोनों हमारे अंतःकरण में उपस्थित हो जाते हैं। संदेश श्रेय और प्रेय दोनों तरफ के आते हैं। श्रेय और प्रेय कभी एक नहीं होते। यह असम्भव-सा समझना। जो चीज़ देह, इन्द्रिय आदि को प्रिय लगने वाली है, वह चीज़ कल्याण नहीं करने वाली है। जो चीज़ देह, इन्द्रिय आदि को प्रिय नहीं लगने वाली है वह कल्याण का मार्ग है। इसलिये इन दोनों का झगड़ा मुकता नहीं है।

धन्य उसको इसलिये कहा कि उसकी ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना का झगड़ा मिट गया है, अर्थात् ऊर्ध्वचेतना के संदेश में ही उसको प्रियता का बोध होता है। जैसे प्रातःकाल चार बजे ठण्डी हवा चलती है, रात में दो बजे तक गर्मी भी लगती है और मच्छर भी काटते हैं। दो-ढाई बजे के बाद मच्छरों का भी पेट भर जाता है, जितना उनको पीना था उन्होंने पी लिया और गर्मी भी घट जाती है, ठण्डी हवा बहने लगती है। इसलिये उस समय सोना प्रिय लगता है। उधर ऊर्ध्वचेतना कहती है, श्रेय का पथिक कहता है 'ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी' अरे! यही काल तो उठने का है, सवेरे तीन बजे के बाद यदि सोते रहेंगे तो वह निद्रा हमारी आयु, विद्या, यश और बल चारों को क्षीण कर देगी। श्रेय और प्रेय का झगड़ा चल गया। सवेरे से ही यह झगड़ा शुरू हो गया। बाजार में जा रहे हो, बढ़िया सुन्दर पकोड़े या तिकोने सिंघाड़े (समोसे) भरकर तले जा रहे हैं। साथ में आम की खटाई की चटनी बनी हुई है। सामने दीख रहे हैं तो झट प्रेय (इड) का संदेश आता है कि खा लो।

ऊपर से ऊर्ध्वचेतना (श्रेय) का संदेश आता है कि पहले तो बनाने वाला कैसा है, उस व्यक्ति का पता नहीं। किसी भी चीज़ को कोई भी व्यक्ति छूता है तो अपने शरीर और मन के स्पन्द उसमें छोड़ देता है। छूने पर शरीर और मन का स्पन्द अवश्यमेव उस पदार्थ में जायेगा, अच्छा हो या बुरा हो। पदार्थ भी मूलभूत रूप से स्पन्द से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामस्वरूपिणी' क्रिया या परिणाम या परिस्पन्द रूप होगी। आधुनिक विज्ञान भी कहता है कि पदार्थ शक्ति का स्पन्दमात्र है। चाहे विज्ञान की दृष्टि से देखो तो भौतिक स्पन्द गया, आध्यात्मिक दृष्टि से देखो तो मानसिक स्पन्द गया, स्पन्द गया ज़रूर, इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। बाज़ार में खड़े होकर सिंघाड़े तलने वाला कोई ध्यान करने वाला महापुरुष नहीं है। इसलिये उसका स्पन्द तुमको लाभ करे, यह असम्भव है, नुक्सान ही करेगा, कम करे या ज़्यादा करे   यह दूसरी बात है। पहले तो बनाने वाले का ज्ञान नहीं। बनाने वाला कौन है, यदि यह भी पता लग गया तो जहाँ खड़ा होकर बना रहा है वहाँ से जितने व्यक्ति निकलते हैं वे भी अपने शरीर के स्पन्दों के द्वारा, दृष्टि के स्पन्द के द्वारा पदार्थों में परिणाम लाते हैं। देखने से भी पदार्थ में परिणाम हो जाता है। आँख का भी एक स्पन्द होता है, यह दृष्टि से परिणाम है। यदि तुम बन्द अंधेरे कमरे में, जहाँ सूर्य की दृष्टि ही नहीं जाती हो, एक पौधे को बो दो और दूसरा पौधा बाहर सूर्य की रोशनी में बो दो, दोनों पौधों का फ़र्क देखने लगोगे। सूर्य स्पंद ही तो देता है 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः' सूर्य समष्टि चक्षु है। हम किसी पदार्थ को देखते भी हैं तो उसमें परिणाम और परिस्पन्द होता है। कितने आदमी गये; यद्यपि स्पर्श की अपेक्षा दृष्टि का प्रभाव कम है लेकिन वह कम प्रभाव भी जब हज़ारों आदमी निकल गये तो कहाँ तक पहुँचा!

फिर, जहाँ खड़ा होकर या बैठकर बना रहा है, वह स्थल कैसा है? देश का प्रभाव भी पड़ता है। जिसमें वह खाने को देगा, वह प्लेट कैसी है। यह सब विचार करते जाना। जो उसकी खुली मटकी पड़ी है, उसमें मक्खियाँ कितनी हैं, अन्दर न भी पड़ी हों अपने पैर तो बार-बार लगाकर उड़ ही रही हैं और पैर भी उसके एक-दो नहीं छह होते हैं। अभी तक पदार्थ का विचार नहीं किया है। तेल कौन-सा, आटा कौन-सा है   यह विचार नहीं कर रहे हैं। पाँच-सात दिन पहले हमको कोई सज्जन बता रहे थे 'महाराज! मैं कहीं पर गया तो वहाँ सड़े सेबों से रस बनाते हैं और लोग आठ-आठ आने में उस बोतल को खरीदते हैं।' हमने उनसे कहा, और तुम क्या सोचते थे, कि तुमको लोग बढ़िया सेबों का जूस निकालकर देंगे! उनको व्यापार करना है या तुमको स्वस्थ बनाना है? पदार्थ का विचार तो अभी हम कर ही नहीं रहे हैं। वह कौन-सा आटा और कौन-सा साग लेकर आयेगा, यह सारा भी समझ लेना।

फिर वहाँ बैठकर खाते समय तुम्हारे मन का स्तर क्या होगा? वहाँ बैठकर नीचे जूते पहने हुए होंगे, जूते उतारें तो लोग हँसेंगे। हमारे एक सज्जन दवाइयों की बहुत बड़ी कम्पनी के बड़े

अफसर हैं। उनसे हमने एक बार कहा कि जूते पहनकर नहीं खाना चाहिये, ऐसा प्रसंग आ गया। कहने लगे  'स्वामी जी, किसी पार्टी में जायें तो क्या करें? वहाँ कुर्सी पर बैठना पड़ता है।' हमने कहा कि इसमें क्या है, जूते खोलकर कुर्सी पर ही पालथी मार लेना। कहते हैं कि लोग बुद्धू समझेंगे। इसलिये वहाँ पर बैठकर यह भी नहीं कर सकते। परोसने वाला तो जूता पहनकर ही आयेगा। क्या वहाँ कोई शान्ति की स्थिति बनेगी। एक चिल्ला रहा होगा  'अरे बैरा! इधर आ, पानी नहीं देता।' तुम भी चिल्लाओगे कि 'मैं तो सबसे ज़्यादा देर से बैठा हुआ हूँ और मुझे नहीं लाकर दिया।' पहले ही मन में विकार उत्पन्न हुआ। शुरू से अंत तक वहाँ के खाने में सिवाय दुःख के और कुछ नहीं है, यह बात ऊर्ध्वचेतना कहेगी, श्रेय का विचार आयेगा। प्रेय का विचार आयेगा कि कल किसने देखा है, मन को कौन जानता है, मरने के बाद क्या होगा देखा जायेगा, कल तक पेट खराब होगा तो दवाई खा लेंगे। प्रेय कहता है कि अभी तो यह बड़ी सुगन्धि वाली बढ़िया चीज़ नज़र आ रही है, खा लो।

ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना दोनों सामने आकर लड़ेंगी। यह लड़ाई ख़त्म नहीं होती, हमेशा किसी-न-किसी रूप में यह लड़ाई चलती ही रहती है। पराभक्ति करने वाला धन्य क्यों है? क्योंकि उसकी यह ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना की लड़ाई ख़त्म हो गई है। उसको उस समोसे को देखकर घृणा उत्पन्न होती है, यह प्रेय है यह बुद्धि बनती ही नहीं है। एक महात्मा के सत्संग में राजा जाया करता था। राजा ने कहा 'महाराज! एक दिन मेरे घर चलकर भोजन करिये।' महात्मा ने कहा 'मैं तेरे यहाँ नहीं आऊँगा।' राजा कहने लगा  'महाराज! सब के घर जाते हो तो मेरे घर क्यों नहीं आयेंगे।' कहने लगे  तेरे घर में बदबू भरी रहती है, इसलिये नहीं आयेंगे। राजा ने कहा  'मेरे घर में बदबू और ये खेती करने वाले किसान लोगों के घर में क्या सुगन्धि भरी रहती है।' महात्मा कहने लगे वहाँ भी होती है लेकिन कुछ कम होती है। राजा ने कहा  'कभी राजा का घर देखा भी है! ऐसे ही बाबाजी बन गये होगे।' राजा ने बहुत ज़िद की तो महात्मा ने मान लिया और वहाँ गये।

राजा ने खास आदेश दे रखा था कि आज खूब गुलाब-जल का छिड़काव करना। महात्मा आये तो धीरे-धीरे नाक बन्द करें। राजा ने पूछा तो कहा कि बड़ी बदबू आ रही है। राजा ने कहा  'आपको कोई सर्दी जुकाम तो नहीं है? यहाँ तो कोई बदबू नहीं है।' सर्दी जुकाम भी नहीं था, आश्रम से ठीक आ रहे थे। किसी तरह से भोजन कर-करा कर आ गये। राजा ने कहा 'आपको ही बदबू आई, और किसी को नहीं आती।' महात्मा कहने लगे  ऐसा ही होगा।

एक दिन सत्संग के बाद राजा से कहा कि आज मेरे साथ घूमने चल। जिधर चमार लोग चमड़ा पकाते थे, उधर घूमने ले गये। राजा ने कहा 'इधर तो हरिजनों की बस्ती है।' महात्मा ने कहा  'क्या हो गया, ज़रा घूम आयें।' चमड़ा उबलने की बदबू बड़ी तेज़ होती है। राजा नाक बन्द करे कि कहाँ ले जा रहे हो। महात्मा ने कहा  मुझे यहाँ बदबू नहीं आ रही है, तुझे कैसे

आ रही है? राजा ने कहा 'गजब हो गया! मेरे महल में इन्हें बदबू आती थी और यहाँ बड़े प्रेम से जा रहे हैं।' तब तक वहाँ पहुँच गये जहाँ चमड़ा खौल रहा था। बेचारा राजा अपनी नाक ठूंसे जाये। महात्मा ने कहा काहे को ऐसा करता है, यहाँ तो कोई बदबू नहीं है। राजा ने कहा 'क्या मज़ाक करते हो!' महात्मा ने कहा तुझे विश्वास नहीं है तो इन सबसे पूछ ले। महात्मा ने चमारों से पूछा कि तुम्हें बदबू आ रही है? उन्होंने सूंघकर कहा कि 'यहाँ तो कोई बदबू का नाम-निशान भी नहीं है।' दूसरे लोगों ने भी यही कहा राजा से कहा 'तुझे बदबू आती है तो जुकाम हो गया होगा, बाकी तो यहाँ बदबू की कोई चीज़ है नहीं।' थोड़ी देर में बाहर निकल गये। अब राजा को बोलने की ताकत नहीं रही। बाद में राजा कहता है कि 'आप भी चमारों से पूछते हो कि बदबू आ रही है या नहीं, उनको तो उसमें रहते-रहते आदत पड़ गई।'

महात्मा ने कहा राजन्! इसी प्रकार से विषयों के बीच रहते-रहते तुझे भी आदत पड़ गई है, इसलिये तुझे विषयों की गंध नहीं सताती। सन् ४२ में सबसे पहले चोरबाज़ारी चली। उससे पहले लोग चोरबाज़ारी नहीं जानते थे। बड़ी उम्र के सब लोगों को पता होगा कि उस समय चोरबाज़ारी करते हुए मनुष्य रात में चुपचाप कहता था कि सामान ले जाना, क्योंकि उसे बदबू आती थी कि बुरा कर्म कर रहा हूँ। अब तीस साल के बाद खुले बाजार में बैठकर आदमी कहता है कि 'इतने दाम ब्लैक के हैं, लेना हो तो ले लो।' उल्टा लोग हमसे कहते हैं 'महाराज! इसमें बुराई क्या है!' अब क्या बतायें? उसमें बदबू ही नहीं आती! इसी प्रकार जितने विषय हैं, उनके साथ सम्बन्ध करते-करते मनुष्य को अभ्यास हो जाता है और फिर उसकी बदबू का उसे पता नहीं लगता। जिसको उन विषयों का अभ्यास नहीं है। उसको उस बदबू का पता लग जाता है। अतः महात्मा ने कहा 'राजन्! तुम्हारे यहाँ जितने विषय हैं, सब तुमने लोगों से प्राप्त किये हैं, उनके अन्दर उनकी हाय बैठी रहती है। उसमें हमको बदबू आती है।'

यह ऊर्ध्वचेतना की विजय है। अभी झगड़ा यह है कि विषय प्रिय लगते हैं, श्रेय की दृष्टि से उनका त्याग करना पड़ता है, इसलिये ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना का झगड़ा है। बाद में वैराग्य नहीं है, वे विषय इतने अप्रिय लगते हैं, उनमें इतनी बुरी गंध आती है कि जबरदस्ती भी उसमें उसको प्रविष्ट किया जाये तो टिकता नहीं है। यह ऊर्ध्वचेतना की विजय है। यह धीरे-धीरे होता है। इसीलिये उसको धन्य कहा कि जो श्रेय और प्रेय का समन्वय असम्भव लगता है, वह उसके जीवन में स्वतः हो जाता है। उसके मन का झगड़ा समाप्त हो जाता है। विचार करो कि तुम्हारा बन्धन है क्या? यही तो बन्धन है। कभी रस्सी बाँधी होगी, उसमें गाँठ बाँधने में क्या करते हो? दो कोनों को लेकर एक-दूसरे से विरुद्ध घुसा देते हो। यही गाँठ का उद्देश्य है। दोनों एक दिशा में करो तो वह गाँठ नहीं है। इसी प्रकार से ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना जितनी एक-दूसरे से विरुद्ध हैं, उतना ही बन्धन है। जितना-जितना श्रेय और प्रेयका झगड़ा ज़्यादा, उतना बन्धन ज़्यादा। यदि श्रेय ही प्रेय बन जाये तो गाँठ खुल गई। गाँठ खोलने में क्या करते

हो? उसको उसी तरफ खींचते हो जिधर दूसरी डोरी है। यदि प्रेय (इड) को वहाँ से निकालकर श्रेय की तरफ खींच लो तो गाँठ खुल गई। श्रेय और प्रेय का झगड़ा बन्धन, और श्रेय-प्रेय का झगड़ा मिट जाना ही मुक्ति है। ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना का संघर्ष ख़त्म हो जाना ही तो मुक्ति है।

इन दोनों का झगड़ा कई स्तरों का है। पहला, आचरण का है। श्रेय और प्रेय के आचारण अलग-अलग प्रकार के हैं। सवेरे तीन बजे उठना श्रेय का आचरण और सात बजे तक सोना, प्रेय का आचरण है। बाजार में खड़े होकर खाना प्रेय और घर में पत्नी के द्वारा बनाया हुआ बढ़िया सुन्दर भात बिना मिर्च-मसालों से दूषित किये हुए खाना श्रेय का मार्ग है। यह आचरण का फ़र्क है। इसी को साधारण भाषा में धर्म और अधर्म कहते हो। जिनका आचरण शुद्ध हो जाता है उनको सवेरे पड़े रहने पर भी नींद नहीं आती। घर वाले कहते हैं 'पिता जी सोते रहिये, डाक्टर कहता है कि आपको तकलीफ है इसलिये सोते रहना।' कहते हैं 'डाक्टर साहब! दिन में दो घण्टे सो लूँगा, सवेरे तो उठ जाने दें। मन खराब हो जाता है।' प्रेय वाले को उठाओ तो मन खराब होता है, और इसे सोता रहना पड़े तो मन खराब हो जाता है! यह श्रेय की विजय हो गई। उसको कहते हैं कि दस रुपये इनाम देंगे, समोसा खाओ तो सही, वह कहता है 'सौ रुपया भी दो तो मैं यह मिट्टी मुँह में नहीं डाल सकता! कैसे खा लूँ? आदमियों के खाने की चीज़ खाऊँगा।' यह श्रेय की विजय हो गई। ऐसे ही सब आचरणों में समझना। जैसे-जैसे हमारा आचरण धर्माचरण, श्रेयोनुकूल बनता चला गया, वैसे-वैसे हम क्रिया से मुक्त होते चले गये अर्थात् धर्म हमको अधर्म से मुक्ति दे देता है। सदाचार हमको अनाचार से मुक्ति दे देता है।

दूसरा हमारा बन्धन भावना का है। दो तरह की भावनायें दो तरफ खींचती रहती हैं। श्रेय और प्रेय की भावनायें या इच्छायें दो तरफ खींचती हैं। संसार के पदार्थों में जो प्रियता की बुद्धि है, वह हमारे प्रेम को संसार के पदार्थों में खींचकर ले जाती है। धन में धन की इच्छा ले जाती है। सम्पत्ति की इच्छा, पुत्र की इच्छा, पत्नी की इच्छा आदि सारी इच्छायें हमें उसी-उसी तरफ ले जाती हैं। पत्नी में आगे फिर टण्टा कि यह सुन्दर है, यह असुन्दर है, इसका शील अच्छा है, इसका शील बुरा है। इसकी नाक अच्छी, इसका कान अच्छा। यह बंधन कहाँ तक पहुँच गया है कि हम तो देखते ही रह जाते हैं! हमारी एक लड़की का ब्याह था, लड़की बहुत सुन्दर थी। वह एक बहुत बड़े व्यापारी की लड़की थी, हिन्दुस्तान में धनाढ्य दो-तीन व्यापारियों में उनकी गणना होती है। जिनके साथ लड़की के ब्याह की बातचीत हुई, वे भी अरबपति थे, उन्होंने एक डाक्टर भेज दिया कि पहले वह जाकर देखेगा कि लड़की के दाँत कैसे हैं, मसूड़े हैं या नहीं, आँखें कैसी हैं! डाक्टर आकर देखने लगा तो लड़की रोने लग गई। घर वालों ने समझाया कि इसमें क्या हर्जा है। दूसरे दिन वह हमसे आकर बोली 'महाराज! मैं तो बिलकुल गाय हो गई।' हमने कहा कि हम तो पहले ही कहते हैं कि लड़की और गाय एक जैसी हैं। उसने कहा 'वह बात

नहीं, जैसे जानवर को बेचा जाता है ऐसे ही कल डाक्टर मेरे घर आकर मेरी आँख, कान, नाक और मसूड़ों की परीक्षा करके गया। मैं तो जानवर हो गई।' रोने लगी। उसके माँ-बाप को समझाया तो कहने लगे 'महाराज! वहाँ राज करेगी।' हमने कहा, राज्य तो महाराजा पटियाला के घर में कुत्ते भी करते थे! उन कुत्तों को कैसा सुन्दर रहना और खाने को मिलता था। अपने ही सत्संगी थे, इसलिये जब ज़रा डाँटा तो होश आया कि पैसा कोई चीज़ नहीं होती। उधर से सर्टिफिकेट आ गया कि सब ठीक है, लड़की पसन्द है। जब इधर से ना हो गई तो वे बार-बार पूछते हैं कि बात क्या है। तब इन्होंने कहा कि लड़की नहीं करना चाहती। ऐसे-ऐसे भयंकर काण्ड भारतवर्ष में होने लग गये।

यह मनुष्यता है या पशुता है? इसी को तो पशुता कहते हैं। पशु यह देखता है कि नाक-कान कैसे हैं। मनुष्य तो देखता है कि यह मेरी पत्नी है, बात ख़त्म हो गई, रोज़-रोज़ की झिक-झिक थोड़े ही होती है। अमरीका में एक बार किसी ने एक व्यक्ति से पूछा 'तुम लोग शादी करने के बाद एक-दूसरे से मिलते हो तो दोनों में आपस में कैसे पटती है, निभ कैसे जाती है?' उसने कहा 'एक बात बताओ, तुम्हारे जब बेटा-बेटी पैदा होते हैं तब तुम उनका फोटो पहले क्राइस्ट साइब से मँगा लेते होगे कि इस डिजाइन का लड़का या लड़की हो? यदि पहले डिजाइन या फोटो नहीं बना लेते तो तुमको उस बेटे से कैसे प्रेम हो जाता है? कैसे निभ जाती है?' अमरीकन कहने लगे 'वह तो अपना बेटा हुआ।' तब उन्होंने कहा 'बस यह अपनत्व की ही तो भावना है। जैसे वह बेटा तुम्हारा प्यारा है, ऐसे ही वह मेरी पत्नी है, इसलिये मुझे प्यारी है।' अपनत्व का भाव है, इसलिये प्यारी होनी हुई। प्रेम नाक, कान, आँख, दाँत को विषय नहीं करता, पत्नी को विषय करता है। वह मेरी पत्नी है, चाहे झगड़ा भी करे।

पुराणों में तो यहाँ तक कथा आई है कि एक ब्राह्मण ने जाकर राजा को शिकायत की कि 'मेरी पत्नी को कोई राक्षस ले गया है, राजन्! पता लगाओ।' राजा ने कहा 'उसका हुलिया बताओ।' ब्राह्मण कहता है 'उसके बड़े लम्बे-लम्बे दाँत बाहर को निकले हुए हैं। काली है। गुस्सैल इतनी है कि बात करने के पहले चिमटा उठाकर मारती है। राजन्! यह नहीं समझना कि मैं उसकी निंदा कर रहा हूँ, मैं तो केवल हुलिया बता रहा हूँ। यह इसलिये बता रहा हूँ कि वह मेरी पत्नी है, मेरे को उससे कोई दुर्भावना नहीं है।' स्कंदपुराण में यह कथा है। राजा को बड़ी शरम आई क्योंकि वह अपनी सुंदर सुशील एक पत्नी को निकाल चुका था! यहाँ तो श्रेय और प्रेय बता रहे हैं।

प्रेय वाला निरंतर विषयों के प्रकारों को देखेगा। श्रेय वाला केवल अपने कर्त्तव्य को देखेगा। यह मेरी पत्नी है इससे मुझे प्यार करना है, बात ख़त्म हो गई। जैसे धर्म के द्वारा अधर्म से मुक्ति, उसी प्रकार सद्भावनाओं के द्वारा असद्-भावनाओं से मुक्ति है। झगड़े की जड़ यह है कि दोनों एक-दूसरे के विरोध में चलती हैं। एक बार यदि यह सोच लोगे कि हमको पसन्द

करना है तो फिर वह पसंद बदलती रहती है। आज कोई चीज़ पसन्द आयेगी तो कल कुछ और ही पसन्द आयेगी। जैसे एक मकान है, आदमी उससे बढ़िया मकान देखता है तो उसे बेचकर वह खरीद लेता है। अब विषयों का स्वरूप तो बदलता रहता है, फिर थोड़े दिन बाद और खरीद लेता है। जैसे सद्भावनाओं की विजय से असत् भावनाओं से मुक्ति होती है, उसी प्रकार से इन दोनों के रहने पर भी अर्थात् सत् कर्म और सत् भावना के रहने पर भी परतंत्रता बनी रहती है। विचार सत् है, क्रिया सत् है लेकिन उन विचारों, उन भावनाओं और उन क्रियाओं के अनुरूप हम सारी चीज़ों को घटित करने में समर्थ नहीं हैं।

क्यों यह परतंत्रता फिर भी बनी रहती है? क्योंकि जब तक एक देह और मन में परिच्छिन्न हो, तब तक परतंत्रता हट नहीं सकती। इस परतंत्रता से मुक्ति दिलाने के लिये आत्मविद्या आवश्यक है। आत्मविद्या के विकास से कोई दूसरा पर नहीं रह जाता जिसके तंत्र अर्थात् हम अधीन हों। इसलिये आजादी को स्वतंत्रता कहते हैं। स्वतंत्र अर्थात् अपने अधीन और गुलाम को परतंत्र कहते हैं अर्थात् दूसरे के अधीन। जब तक दूसरा है तब तक दूसरे की अधीनता, परतंत्रता है। आत्मविद्या कहती है कि पर नाम की कोई चीज़ है ही नहीं, स्व ही स्व है। परतंत्रता जो बच गई थी, उससे मुक्ति देने वाला अद्वैतानुभव हुआ। जहाँ यह अद्वैत अनुभव हुआ, वहाँ मनुष्य परतंत्रता से छूटकर स्वतंत्र बन गया। होता क्या है? जैसे-जैसे बन्धन छूटता है, वैसे-वैसे गठरी या बिस्तरा फूलता है! अगर बिस्तरा बाँध रखा है तो गाँठ खोलने पर वह ढीला पड़ जायेगा, खुल जायेगा। एक-दूसरे के ऊपर जो लिपटा है वह भी तो एक तरह की गाँठ ही है। जब किसी चीज़ को लपेटते हो तो एक-दूसरे का विरोध करते हो, एक परत नीचे और दूसरी ऊपर। अब यदि वह बन्धन भी खोल दो तो हर चीज़ अलग हो गई, खुल गई। इसी प्रकार से धर्म ने अधर्म से मुक्ति दे दी, ईश्वर के प्रेम ने जगत् के प्रेम से मुक्ति दे दी, ईश्वर के ज्ञान ने जगत् के ज्ञान से मुक्ति दे दी, अद्वैत अनुभव ने सब तरह से परतंत्रता से मुक्ति दे दी। तो अब क्या हुआ? मन की सारी शक्तियाँ विकसित हो गयीं, खुल गयीं। जितनी रुकावटें थीं, वे सारी दूर हो गईं। मन के गहन- गुह्यतम सारे तत्त्व चेतना की रोशनी में आ गये। मन की बड़ी शक्तियाँ हैं। जिनको तुम अष्टसिद्धियाँ कहते हो, वे सब इस मन में निहित हैं, कोई नई चीज़ें नहीं हैं, अणिमा, महिमा, लघिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ तो बच्चों का खेल हैं! आदमी इनमें से किसी एक को प्राप्त करके अपने को बड़ा भारी कृतार्थ समझता है। आत्मवेत्ता को हँसी आती है। जैसे हम कभी गाँव जाते हैं तो लोग हमारे पास किसी को लाकर कहते हैं कि 'यह हमारे यहाँ के बहुत बड़े सेठ हैं। महाराज! इनके तो बुजुर्गों से रुपये चले आये हैं, आज तक इनके रुपयों की थाह नहीं मिली।' कोई नया आदमी जो गाँव को नहीं जानता, वह सोचेगा कि इनके पास शायद दस-बीस अरब रुपये होंगे। परिस्थिति क्या है? गाँव वालों को पचास-सौ रुपये माँगने हुए। कभी किसी ने डेढ़ सौ माँग लिये और उसने दे दिये तो समझते हैं कि इनके रुपयों

की थाह नहीं! जब उनसे परिचय हुआ तो उन्होंने कहा 'महाराज! लड़के को पढ़ने भेजा है, उसे कुछ काम लगाना है।' हम पूछते हैं कि 'काम में चार-पाँच लाख रुपये लगा दोगे, कितने लगा दोगे?' कहते हैं 'महाराज! बीस हज़ार तो लगा सकते हैं। और अच्छा काम हो तो औरत के गहने रखकर पच्चीस हज़ार भी लगा सकते हैं।' गाँव वालों के लिये उसके धन की थाह नहीं है जबकि यह है उसकी सारी पूंजी। दिल्ली के भरतराम-चरतराम से उस गाँव के सेठ की तुलना कैसे की जाये! इसीलिये भगवान् शंकर भगवत्पाद दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र में कहते हैं

'तेनास्य श्रवणात्तथार्थमननाद् ध्यानाच्च संकीर्तनात्।
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः।
सिद्ध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम्।।१०।।'

अर्थात् इस सिद्धान्त का विचार करना, क्योंकि उसमें आत्मविद्या प्रकाशित की गई है। इसमें तो मन में स्वतः ईश्वरता आ जाती है। संसार के जितने साधन हैं, उन्हें करने पर भी कुछ ऐश्वर्य तो आता है लेकिन स्वतः नहीं आता, कोशिश करने पर आता है जबकि इसमें स्वतः आता है। किसी ने पूछा, क्या अणिमा, महिमा आती हैं? कहते हैं अरे! यह तुमने क्या बात की! उसका ऐश्वर्य तो अव्याहत होता है उसके ऐश्वर्य को रोकने की किसी की क्षमता नहीं होती, क्योंकि स्वतः ईश्वरत्व है। यह नहीं समझ लेना कि स्वतंत्रता कहीं से आई है, वह तो पहले ही वहाँ विद्यमान है। लेकिन ऊपर के इन आवरणों के कारण छिपी हुई है। ईश्वर के जितने गुण शास्त्रों में बताये हैं, वे कैसे हैं? क्या ईश्वर कहीं तीसरे या सातवें आसमान में बैठा हुआ है जिसमें ये सारी शक्तियाँ हैं? कुछ वेदांती भी ऐसा मान लेते हैं, कि सर्वव्यापक ईश्वर तो है लेकिन है कहीं दूसरी जगह! जीव उसके किसी एक अंश में है तो चलो ठीक है, लेकिन बाकी ईश्वर कहीं और है ज़रूर। किंतु यों यदि दोनों में भेद मानोगे तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का अर्थ ही नहीं रह जायेगा। साक्षी ही वेदांत में ईश्वर कहा गया है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने उसी को ईश्वर बताया है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो श्रुति जो कहती है सुषुप्ति में 'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' उसे कहाँ लगाओगे? प्रतिदिन उस ईश्वर के भुजपाशों में जाकर उससे एक हो जाते हो, कोई दूसरा नहीं है जहाँ जाते हो। जाग्रत् और स्वप्न से जो तुम्हारा बोझा है, वह हटा, तो ईश्वर ही हो। जाग्रत् और स्वप्न के बन्धन के कारण बँधे हुए हो। वहाँ पहुँचे तो मन की गहनतम सारी शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं।

अब थोड़ी वेदांत की प्रक्रिया की बात बताते हैं, घबराना नहीं। तुम सोने का गहना बनाते हो; गहने की शक्ल के कारण साधारण आदमी से पूछो कि यह क्या है? तो कहता है कि कड़ा है। लेकिन जो थोड़ा-सा जानकार हो, उससे पूछो कि असल में क्या है? तो कहेगा कि सोना है। ऐसे ही साधारण आदमी कहता है 'मेरा मन है।' पूछते हैं कि यह मन क्या है? मन अविद्या का

ही तो कार्य है या और कुछ है? तुम जब अंतःकरण-विशिष्ट हो और अन्तःकरण जब माया है तब मायाविशिष्ट तुम ही हुए या और कोई हुआ? मायाविशिष्ट ही तो ईश्वर है। गड़बड़ी केवल यह होती है कि चूंकि अविद्या मन की शक्ल वाली दीखती है इसलिये हम कहते हैं कि हम तो मनोविशिष्ट (अन्तःकरणविशिष्ट) हैं और माया कहीं दूसरी जगह है, जिससे मायाविशिष्ट ईश्वर होगा। अंतःकरण माया ही तो है। माया ने संकल्प-विकल्प का रूप धारण किया तो उसपर तुमने 'मन' शब्द का आरोपण कर दिया; और क्या किया? प्रक्रिया-विचार से अब अपने उस संकल्प-विकल्प की निवृत्ति हो गई। ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना का झगड़ा संकल्प-विकल्प था। ऊर्ध्वचेतना संकल्प डालती थी, अधश्चेतना विकल्प डालती थी। मन संकल्प-विकल्प कर रहा था। जब गहना गला दिया गया फिर तो सभी गहने सोना है, इसी प्रकार जब मन संकल्प-विकल्पशून्य हो गया तो अविद्या ही रह गई। अब उसकी जो भी वृत्ति बनेगी, अविद्यावृत्ति होगी। अविद्यावृत्ति को साक्षी जानता है, प्रमाता नहीं जानता। कल बताया था कि साक्षिभास्य की स्थिति ही तो धन्य बनाती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा कि ज्ञानोत्तरकाल में अविद्यागंध, अविद्याछाया या अविद्यालेश रहता है 'गन्छच्छायालेशमात्रादि भाषा' भगवान् सर्वज्ञात्ममहामुनि कहते हैं। वहाँ मन की गंध या मन की छाया नहीं कहा, अविद्या की छाया, अविद्या की गंध या अविद्यालेश कहा है। ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना (संकल्प और विकल्प) का झगड़ा तो मिट चुका, अब केवल साक्षिभाव है और इसमें स्थित होकर जो भक्ति करता है उसे धन्य कहते हैं। जिस रूप में वृत्ति आती है, उसे अविद्यारूप से समझकर प्रमाता बनकर ग्रहण नहीं करता, साक्षी बनकर ग्रहण करता है, यही उसकी धन्यता है।

# प्रवचन-३९

२७-४-७२

जो उस चिदानंदलहरी के स्वरूप का किसी भी भेद-भाव के न रहने पर भी भजन करते हैं, उनको धन्य बताया 'भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानंदलहरीम्'। इस धन्यता का स्वरूप देखा कि चेतना के संघर्ष, श्रेय और प्रेय के संघर्ष अथवा ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना के संघर्षों का जिसने समूल छेद कर दिया, वही यहाँ धन्य कहा गया। इस संघर्ष का कारण क्या है? इन दोनों चेतनाओं के संघर्ष का मूल अविद्या है। ऊर्ध्वचेतना मनुष्य को निरंतर व्यापकता की तरफ ले जाना चाहती है, सारी की सारी श्रेय दृष्टि हमको परिच्छिन्न भाव से हटाकर अपरिच्छिन्न भाव में, व्यक्ति-भाव से हटाकर समाज की तरफ, व्यष्टि-भाव से हटाकर समष्टि-भाव की तरफ ले जाती है। हमारी अपनी क्रियायें अपने लिये न होकर सबके लिये हों यही सारे धर्म का बीज है। जितने भी धर्म शास्त्रों में प्रतिपादित हैं उन सबका लक्षण बताया 'सर्वत्यागे समापना।' यज्ञ क्या है? द्रव्य को अपने पास से हटाकर अग्नि में त्याग ही यज्ञ है। दान क्या है? जिसको अपना व्यक्तिगत पदार्थ समझते हो उसको समष्टि के लिये या समाज के लिये देना दान है। तप क्या है? अपने स्वार्थ के लिये कार्य न करके दूसरे के लिये करना।

भगवान् सुरेश्वराचार्य इसीलिये बृहदारण्यक-वार्तिक में कहते हैं

'मुमुक्षुर्न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।।'

बात बड़ी सीधी है। मुमुक्षु किसी भी काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति न करे। ज्ञानी की बात दूर रहने दो, अभी तो मुमुक्षु की बात कर रहे हैं। यदि मोक्ष की इच्छा है तो काम्य और निषिद्ध दोनों स्वार्थ के कर्म छोड़ने पड़ेंगे। लोग काम्य कर्म का अर्थ केवल शास्त्रीय काम्य कर्म करना चाहते हैं। लेकिन भगवान् सुरेश्वराचार्य ने यहाँ 'वैदिक काम्य कर्म' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। चाहे वैदिक काम्य कर्म हों, चाहे लौकिक काम्य कर्म हों, मुमुक्षु कामना से कभी कर्म करेगा ही नहीं। इतना ख़्याल रखना कि यहाँ 'प्रवर्तेत' कहा है अर्थात् प्रवृत्ति नहीं करता है, मुमुक्षु अभी ज्ञानी तो है नहीं, अविद्या अभी उसमें है इसलिये अविद्या से उसमें कामना उत्पन्न होती है। ज्ञानी को तो कामना उत्पन्न ही नहीं होगी। स्वार्थ के लिये कोई कर्म करने की इच्छा ज्ञानी में तो उत्पन्न ही नहीं होगी। अपने लिये कुछ करना, यह कामना है और कामना का बीज अविद्या है। अविद्या, काम, कर्म यह सूत्र बिलकुल रटकर रखना। जहाँ-जहाँ कर्म है वहाँ-वहाँ कामना है, और वहाँ-वहाँ अविद्या है। कर्म मायने कोई प्रयोजन; कार्य जब किसी उद्देश्य के लिये किया जाता है तो उस उद्देश्य को कर्म (object) कहते हैं। जहाँ तुमको कोई चीज़ उद्देश्य लगती है

कि यह चीज़ मुझे मिलनी चाहिये, यह चीज़ मुझे पानी चाहिये, इस जगह पर मुझे पहुँचना है, वह उद्देश्य हुआ। यह कर्म है जिसके लिये कामना ज़रूरी है। पहुँचने की इच्छा होगी तभी पहुँचना चाहिये, पाने की इच्छा होगी तभी पाना चाहिये, इसलिये जहाँ कर्म है वहाँ कामना अवश्य है। दूसरों से तो छिपा सकते हो लेकिन अपने से नहीं छिपेगा! और जहाँ कामना है, वहाँ अविद्या ज़रूर है।

ज्ञानी के लिये जैसा भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं 'न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।' (गी. ३-२२) ज्ञानी का अनुभव यह है। 'पार्थ' सम्बोधन से भगवान् कहते हैं हे अर्जुन! जाति, कुल और कुटुम्ब इन सब दृष्टियों से तू मेरा रिश्तेदार है। पृथा का पुत्र होने से मेरा भाई है, जाति एक जैसी, रिश्तेदार एक जैसे, रूप भी एक जैसा, तेरी-मेरी उम्र भी एक जैसी है। बहुत-सी चीज़ों में हम और तुम एक जैसे ही हैं। बस थोड़ा-सा फ़र्क है कि तेरे को रात-दिन कुछ पाना है और मुझे किसी क्षण कुछ पाना ही नहीं है! ज्ञानी के कोई दो सींग नहीं निकल आते जो दूर से पता लगे कि सींगों वाला ज्ञानी होता है। उसमें कर्त्तव्य का अभाव हो जाता है। हे पार्थ! तीनों लोकों में, मुझे न स्वर्ग में, न इहलोक में और न मुझे ब्रह्मलोक में कोई कर्त्तव्य है। कोई मुझे यह नहीं कह सकता कि 'यह आपको करना चाहिये।' ऐसा क्यों? हेतु देते हैं 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' कोई चीज़ ऐसी नहीं जो मेरी पहले न हो। 'तीनों लोकों में' कहा है, यह याद रखना। अनेक लोग स्वर्गादि के लिये तो कह देते हैं कि हमें नहीं चाहिये, लेकिन इहलोक के पदार्थों को मानते हैं कि अभी अप्राप्त है! दिल्ली क्लाथ मिल की एजेन्सी तो अप्राप्त ही है! इसलिये भगवान् ने 'त्रिषु लोकेषु' कहा। न मुझे कोई चीज़ अप्राप्त है और न मुझे कोई चीज़ प्राप्त करने योग्य दीखती ही है, दोनों ही नहीं है। ज्ञानी के सींग नहीं होते, उसके मन से कामना नष्ट हो जाती है। मुमुक्षु की कामना नष्ट नहीं हुई है, ज्ञानी की कामना नष्ट हो गई, क्योंकि कामना का बीज अविद्या उखड़ चुका।

अज्ञान होने के कारण मोक्ष की इच्छा वाले मुमुक्षु की कामना फड़फड़ाती है, क्योंकि अज्ञान अभी नष्ट नहीं हुआ लेकिन कामना को पूरा करने के लिये कभी भी वह कोई कर्म नहीं करता। मन में इच्छा हुई कि आज मुझे बंगाली मार्केट के रसगुल्ले खाने हैं, तो वह कभी भी बंगाली मार्केट जाकर रसगुल्ला खरीदने वाला नहीं है। उल्टा कहेगा 'अच्छा, आज तेरे को रसगुल्ला अच्छा लग रहा है तो नहीं ही खाना है।' घर वाली ने रात में ही लाकर रैफ्रिजरेटर में रख दिया है! घरवाली वह होती है जो तुम्हारे दिल की बात बारह घण्टे पहले ही जान ले, तुम्हारे मन में कढ़ी-चावल खाने की इच्छा हो और वह पहले ही थाली में परोस कर आ जाये। नहीं तो घरवाली क्या! घरवाली ने पहले ही रसगुल्ला लाकर रख दिया है, और मन में सवेरे ही रसगुल्ला खाने की कामना भी हो गई। उसने निकालकर रख दिये। छू कर देखा, बड़े ठंडे और मुलायम भी हैं। मुमुक्षु कहता है 'अरे मन! आज तूने न कामना की होती, न तड़पना होता। आज तो तेरे को नहीं खिलाऊँगा, तूने कामना न की होती तो खिला देता।'

ज्ञानी की कामना होती ही नहीं, मुमुक्षु की कामना तो होती है, लेकिन उसको वह कर्म तक पहुँचाता नहीं है, उसके लिये कभी क्रिया नहीं करता है, यह मुमुक्षु का कर्त्तव्य हो गया। और वह निषिद्ध कर्म नहीं करता, क्योंकि निषिद्ध कर्म तभी होता है जब किसी पदार्थ के प्रति कामना तीव्र होती है। कामना में भी दो स्तर हैं। एक, तीव्र कामना और दूसरी, सामान्य कामना। सामान्य कामना को मनुष्य वैध उपायों से पूरा करता है। सामान्य कामनाओं की पूर्ति उन कर्मों के द्वारा करता है जो बुरे नहीं हैं। बुरे कर्म का प्रसंग आया तो कामना हटा देता है। जब कामना तीव्र होती है तो फिर वह निषिद्ध उपायों (बुरे कर्मों) का भी अवलम्बन कर लेता है। जैसे दुकानदान दुकान में पैसा कमाने के लिये बैठा है, कोई अन्नक्षेत्र खोलने के लिये नहीं बैठा है! जिसे पैसे की सामान्य इच्छा है वह वैध उपायों से पैसा कमाता है; सौ रुपये का माल बेचा, उससे कुछ खर्चा निकला और कुछ घर का सामान खरीदा। तीव्र कामना वाला निषिद्ध उपायों को भी ग्रहण करता है। रात में दूसरे के घर में घुसकर चोरी करता है। दुकानदार और चोर में कामना एक ही है कि धन प्राप्त करूँ। लेकिन एक की कामना नियंत्रित है, अतः जो वैध उपायों से मिलेगा उसी को लेगा। इच्छा तो है कि ज़्यादा मिल जाये, लेकिन यह नहीं है कि दूसरे की जेब ही काटी जाये! लेकिन जिसमें तीव्र कामना होगी, वह निषिद्ध उपायों को ग्रहण करेगा।

यद्यपि काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म दोनों कामना से प्रयुक्त हैं लेकिन दोनों में कुछ फ़र्क है। एक में निषिद्ध का अवलम्बन कराने वाली तीव्र कामना है, तीव्र कामना वाला व्यक्ति अपने कुटुम्ब का, घर का, किसी का नुक्सान नहीं देखता। देश की गुप्त खबरों को दुश्मन को दे देता है। क्योंकि धन की तीव्र कामना हुई, इसलिये यहाँ तक करता है। उसका सबसे बड़ा दृष्टांत जयचंद है। पृथ्वीराज को हराने की उसकी इतनी तीव्र कामना थी कि मुहम्मद गौरी को आने का निमंत्रण दे दिया! उसका नतीजा क्या हुआ? कभी कन्नौज में जाकर देखो तो समझ में आयेगा। वहाँ सारे मकानों को मुहम्मद गौरी ने उखड़वा दिया, आज तक उनके ध्वंसावशेष पड़े हैं। जयचन्द के नगर को उसने नेस्तनाबूद कर दिया। जयचंद उससे कहने लगा कि 'मैंने तो तेरी मदद की थी, तूने यह क्या किया!' मुहम्मद गौरी ने उससे कहा 'तू हमजात का नहीं हुआ तो मेरा कभी हो सकता है! जब तूने अपने धर्म वाले के साथ दगा किया तो मैं तेरा विश्वास करूँगा!' तीव्र कामना वाले की यह स्थिति हो जाती है। वह उस समय कुछ नहीं देखता कि क्या नुक्सान है और क्या फ़ायदा है। यह निषिद्ध अवस्था हुई। कामनाओं के द्वारा प्रयुक्त न वैध उपायों का अवलम्बन करे और निषिद्ध उपाय तो सर्वथा ही न करे।

अगर कामना से प्रयुक्त करना ही नहीं है तो क्या कुछ न करे? कहते हैं ऐसा नहीं, 'नित्यनैमित्तिके कुर्यात्' नित्य और नैमित्तिक कर्म करे। नित्य और नैमित्तिक कर्म कामना से प्रयुक्त होकर नहीं हुआ करते। ये केवल शास्त्र की आज्ञा से प्रवृत्त होकर किये जाते हैं। यह मुमुक्षु को पहला पाठ सिखाया जाता है कि कामना छोड़कर कर्म करना सीखो। कामना से

प्रयुक्त काम्य और निषिद्ध कर्म हैं तथा कामना के बिना किये जाने वाले नित्य-नैमित्तिक कर्म हैं। वैदिक विचारधारा में करने तो सब हैं, क्योंकि साधारण आदमी में कामना है। लेकिन कामना-प्रयुक्त व्यक्ति को भी नित्य-नैमित्तिक कर्म इसलिये करवाते हैं ताकि समाज के लिये किये जाने वाले कर्मों का तुम्हें अभ्यास पड़े। नित्य कर्म प्रतिदिन के कर्म हैं। प्रतिदिन के कर्मों में संध्या, अग्निहोत्र ही नहीं समझ लेना। जितने कर्म तुम्हारे प्रतिदिन के समाज के कर्ज़ों के होते हैं, स्मृति में उन नित्य कर्मों को ज़रा खोलकर बताया है। सिद्धान्त पहले समझ लो। प्रतिदिन हमको देवताओं से कुछ मिलता है। सूर्य भगवान् उदय होकर हमें प्रतिदिन रोशनी देते हैं, इसलिये सूर्य को अर्घ्य देना हमारा नित्य कर्म हो गया। इसी प्रकार से प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन हमारा कुछ-न-कुछ उपकार करता है। यहाँ से ऑफिस जाते हो तो बस चलाने वाला बस लेकर जाता है, उपकार करता है। कहोगे, पैसा देने से ले जाता है।

पैसे वालों का बड़ा आनन्द कलकत्ते में आया। वहाँ के सफाई कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी कि हम पैसा नहीं लेंगे और काम नहीं करेंगे। चार-चार तल्ले के मकानों जितने ऊँचे वहाँ कूड़े के ढेर हो गये! उसके सामने रहने वाले मालिक और भाड़ेदार सब लखपति और करोड़पति थे, लेकिन क्या करें? सबका यह घमण्ड दूर हो गया कि पैसा देने से काम होता है। जब काम नहीं करते हैं तब पता लगता है कि पैसा लेकर घूमते रहो, कुछ नहीं होता है। इसी प्रकार एक बार बम्बई में थे, वहाँ टैक्सीवालों ने हड़ताल कर रखी थी और हमें किसी सम्मेलन में जाना था। हमारे साथ के एक सज्जन ने टैक्सी वाले से कहा कि 'दस-बीस-पचास रुपये ले लो, हमें पहुँचा दो।' उसने कहा 'आज तो यूनियन ने हड़ताल कर रखी है, सौ दो तब भी नहीं ले जायेंगे।' हमने उनसे कहा, क्यों बार-बार पैसा दिखाते हो। अब पैसे से काम बनने वाला नहीं है। उसने कहा 'बड़ी मुश्किल है, सम्मेलन में पहुँचना है।' हमने कहा   पहुँच जायेंगे, तू पैसे के झंझट को छोड़। थोड़ी दूर गये तो हमने एक टैक्सी वाले से कहा कि हम तो महात्मा लोग हैं, अमुक जगह सम्मेलन में जाना है, पहुँचा दो। कहा   'हाँ जी, मुफ्त में ले जायेंगे।' सेठ जी भी चुपचाप बैठ गये और हम वहाँ पहुँच गये। बाद में हमने सेठ से कहा कि तेरा पैसा सब जगह नहीं चलता है। कहीं-कहीं चलता है, कहीं नहीं भी चलता। प्रेम का सिक्का सब जगह चलता है। संसार में इस सिक्के को कोई ना करने वाला नहीं है।

प्रेम का सिक्का उसके पास हो जो अद्वैत के कर्म करे, अद्वैत दृष्टि वाला हो, तब प्रेम हो। जब तुम मालिक और वह नौकर बन गया तो अब द्वैत का राज्य है, प्रेम नहीं रह गया। वेदांत इसलिये बार-बार सिखाता है कि मालिक और नौकर कुछ नहीं है, पिता और पुत्र कुछ नहीं। गुरु और शिष्य कुछ नहीं 'विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः। शिष्यचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः। स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितः'। पहले भी बताया था कि कार्यकारणभाव की व्यवस्था का निश्चय व्यर्थ है। किसको कार्य और किसको कारण

कहें  यह 'व्यवस्था' नहीं बना सकते। बड़े-बड़े नैयायिक, मीमांसक सब लगे हुए हैं, आज तक कोई व्यवस्था नहीं बना पाये। इसी प्रकार मालिक नौकर की व्यवस्था नहीं बनती। नौकर द्वारा तीस दिन भोजन बनाने के बाद महीने की पहली तारीख को अब तुम उसके नौकर हो, क्योंकि तनख्वाह उसे नौकर की तरह देनी पड़ेगी। तुम कहो 'नहीं दूँगा' तो नाम बुलाकर ले लेगा। तनख्वाह देते समय मालिक नौकर ही तो है। वह तो तीस दिन का काम कर चुका है। प्रतिदिन वह कुछ काम का तुम्हारे ऊपर कर्ज़ा चढ़ाता रहा है। कोई व्यवस्थित द्वैत भाव वहाँ बनता नहीं है।

जैसे देवता हमारे प्रति प्रतिदिन कुछ करते हैं, वैसे ही दूसरे लोग भी हमारे प्रति कुछ करते हैं, घोर जंगल में, एकांत में रहने वाला महात्मा भी यह नहीं कह सकता कि हमारे ऊपर दूसरे प्राणियों का उपकार नहीं हो रहा है। होता ही रहता है। इसी प्रकार दूसरे भूतों का उपकार है। ये सारे उपकार हमारे ऊपर होते रहते हैं। हमको कोई-न-कोई ज्ञान रोज़ मिलता है, यह ऋषियों का उपकार है। पूर्वजों के उपकार हैं। इसलिये किसी काल में नित्यकर्मों को समझाने के लिये स्मृतिकारों ने कहा कि पाँच यज्ञ तुम्हारे प्रतिदिन के कार्य के हैं  देव-यज्ञ, अतिथि-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, ऋषि-यज्ञ और भूत-यज्ञ, पाँच की संख्या याद करने में मतलब नहीं है, उसका सिद्धान्त समझो। नित्य जिनका हमारे ऊपर उपकार है, वह समाज है, समाज का मतलब केवल मानव समाज नहीं, समष्टि है। गाय हमें दूध पिलाती है, वह भी हमारा समाज है। कौए गंदी चीज़ को साफ कर ले जाते हैं, उनका भी हमारे ऊपर उपकार है। वेदांत का आधारभूत दृष्टिकोण केवल पाँच-सात की गिनती कराने में नहीं है। आधार यह है कि मैं उनसे उपकृत हो रहा हूँ तो उनके प्रति उपकार करना मेरा कर्त्तव्य हो गया। इसलिये वह उपकार करेगा। उसे 'उपकार करूँ' ऐसी कामना नहीं है। दूसरों ने तो उपकार कर दिया, इसलिये अब उपकार की कामना से नहीं, बल्कि कर्त्तव्य बुद्धि से करता है, सोचता है कि 'उनका उपकार तो मेरे ऊपर हो गया। अब यदि मैं कुछ उपकार नहीं करता हूँ तो कर्त्तव्यच्युत हो जाता हूँ।'

जिस दिन हमने पंचमहायज्ञ छोड़े उसी दिन से हमने चोरी करनी शुरू की। चोरी कई तरह की होती है। कोई सीधी चोरी होती है, कोई घूमकर चोरी होती है। हमको एक सज्जन सुना रहे थे कि दो व्यापारी आपस में बात कर रहे थे। एक कहता है  'लोग माल बेच देते हैं लेकिन सेल्स टैक्स नहीं लेते, रसीद नहीं काटते।' दूसरा कहता है 'यह कोई चोरी नहीं है, तुमने लिया नहीं तो सरकार को नहीं दिया। बहुत से लोग तो सेल्स टैक्स लेते भी हैं पर रसीद नहीं काटते अर्थात् सरकार को नहीं देते। चोर होते हैं।' चोर दोनों हैं। एक ने सिंगल चोरी की, दूसरे ने डबल चोरी की, चोर तो दोनों हुए। जिस दिन हमारे मन में यह आया कि हम दूसरे का उपकार, ऋषि-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, इत्यादि न करें, उसी दिन चोरी शुरू हो गयी। जिस दिन हमने अपने पितरों को तर्पण नहीं किया, उसी क्षण हमने बीज बो दिया जो आगे वृक्ष बनकर लड़के के मुँह से कहलायेगा

'पिता जी, आपने मेरे लिये क्या किया?' लोग कहते हैं, लड़के बिगड़ गये। लड़के नहीं बिगड़े। तुमने जिस दिन तर्पण नहीं किया तो माना कि पितरों के उपकार के बदले उनको अंगूठा दिखाया जा सकता है। जिस दिन तुमने सूर्य-अर्घ्य नहीं दिया, उस दिन मान लिया कि सूर्य का उपकार लेकर उसके प्रति अपनी दृष्टि हटाई जा सकती है कि 'सूर्य मेरा क्या कर लेगा, अर्घ्य नहीं दूंगा तो।' जिस दिन यह भावना मन में आई उसी दिन हमने बीज बो दिया कि कोई व्यापारी तुम्हारे रुपयों को जमा करके एक दिन दीवाला मारकर तुम्हें अंगूठा दिखा कर चला जायेगा। जब कोई व्यापारी दीवाला मारकर अंगूठा दिखाता है तब कहते हैं कि ज़माना बिगड़ गया! हम कहते हैं, बीज तुम्हारा बोया हुआ है, क्यों दुःखी होते हो? प्रसन्न होना चाहिये कि मैंने जो बीज बोया था वह बड़ा होकर मेरे ही ऊपर छाया कर रहा है। जैसा बीज बोओगे वैसी ही तो छाया मिलेगी। विष-वृक्ष को बोकर यदि तुम्हें आम की छाया नहीं मिलती तो कोई दुःखी होने की बात है? तुम्हारा ही बोया हुआ है। नित्य कर्म वे हैं जो, प्रतिदिन जिनका हमारे ऊपर उपकार है उस उपकार के बदले में किये जायें। सिद्धान्त यह हुआ कि हम समष्टि के अंग हैं। सारे नित्य कर्मों का बीज यह है कि समष्टि के अंग हैं, सारे समाज के अंग हैं। वह सारा समाज हमारे ऊपर प्रतिक्षण उपकार कर रहा है तो हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि उसके प्रति हम भी करते जायें। इच्छा कुछ नहीं है। सूर्य को अर्घ्य दोगे तो सूर्य कोई कम या ज़्यादा गर्मी देने वाला नहीं है! यह नहीं समझना कि सूर्य को अर्घ्य दिया तो वह जेठ में गर्मी कम कर देगा। उसके लिये कर्म करो, न करो, गर्मी उतनी ही पड़ेगी, लेकिन करने से तुम्हारा फर्ज़ पूरा हो गया।

जैसे नित्य कर्म बताये, ऐसे ही कुछ निमित्त से भी कर्म होते हैं। किसी निमित्त से होने वाले नैमित्तिक कर्म होते हैं। श्रीकृष्ण ने हमारे ऊपर बहुत बड़ा उपकार किया। वैसे तो मानवमात्र हमारे ऊपर उपकार करता है, लेकिन श्रीकृष्ण ने किसी काल में सर्वथा धर्म के रक्षण के लिये बड़े से बड़ा कर्म किया, एक विशिष्ट उपकार किया। इसलिये हम उनके जन्मदिन को याद करते हैं, उस दिन पूजा करते हैं, तन्निमित्त उपवास आदि करते हैं। यह नैमित्तिक कर्म हो गया। कालविशेष की दृष्टि से, पितृविशेष की दृष्टि से श्राद्ध पक्ष आता है। रोज़ तर्पण करते हैं लेकिन उन दिनों श्राद्ध भी करते हैं, यह नैमित्तिक धर्म आ गया। चन्द्रमा निरंतर हमारे मन को विकसित करता है इसलिये चन्द्रमा का प्रतिदिन का उपकार तो है, लेकिन पूर्णिमा के दिन उसकी आह्लादक ज्योति हमारे ऊपर अत्यधिक आती है इसलिये पूर्णिमा के दिन विशेषकर चन्द्रमा को अर्घ्य देते हैं, यह किसी निमित्त से होने वाला कर्म हो गया। जैसे पिता जी के हम रोज़ पैर छूते हैं, उनका रोज़ का उपकार है, इसलिये रोज़ पैर छूते हैं। अब, किसी दिन हमारा काम अटका हुआ है। हमने जो काम शुरू किया है वह पच्चीस हज़ार रुपयों के लिये अटका हुआ है, पिता जी को पता लगा तो हमने कहा 'हाँ पिता जी! काम अटका हुआ है, कोशिश कर रहा हूँ।' पिता जी ने कहा 'मेरी फिक्स्ड डिपाज़िट की रसीद ले जाकर काम में लगा। मुझे तो दो समय रोटी ही

खानी है।' यह उनका विशेष उपकार हो गया। उस दिन पिता जी के दुबारा पैर छूते हैं कि आपकी कृपा से काम हो गया। यह नैमित्तिक कर्म हो गया। नित्य-नैमित्तिक कर्म वे हैं जो किसी कामना से नहीं किये जाते हैं।

कई कर्म काम्य भी होते हैं और नित्य भी होते हैं। अभी पिता जी वाले दृष्टांत में समझ लो। पिता जी के दुबारा पैर छूना दो तरह से हो सकता है। एक, कामना से प्रयुक्त हो कर पैर छुए। कहा 'बड़ा फँसा हूँ, दे दीजिये।' उनके पास फिक्स्ड डिपाज़िट है, दे देंगे। दूसरे, पिता जी ने अपनी प्रसन्नता से दिये, तुम्हारा माँगने का कोई भाव नहीं था, तब जो पैर छुए वह नैमित्तिक हुए। यदि पैर छूना और दबाना इसलिये है कि आज खुश हो जायें, तो वही काम्य हो गया। यही कर्म निषिद्ध भी होता है। पिता जी से कहा कि 'बैंक के कागज़ पर दस्तखत कर दो, कुछ ज़रूरत है।' पिताने कहा 'मैं पढ़ा लिखा नहीं हूँ, बात क्या है?' कहा 'बैंक वाले माँग रहे थे।' उन्होंने दस्तखत कर दिये और वह रुपया निकाल लिया यह निषिद्ध कर्म हो गया। नित्य और नैमित्तिक कर्म अर्थात् हम जब समाज, समष्टि के प्रति अपना कर्त्तव्य करते हैं, किसी कामना से प्रयुक्त होकर नहीं।

ऐसा क्यों करें? 'प्रत्यवाय-जिहासया'। प्रत्यवाय एक तरह का दोष है। नित्य कर्म वह जिसको न करने से दोष लगे और करने से कुछ फल नहीं। सूर्य ने तो हमको फल देना ही है, धूप देनी ही है, चाहे हम अर्घ्य दें या न दें। इसलिये सूर्य को अर्घ्य देने से हमें कुछ मिला नहीं। लेकिन यदि अर्घ्य नहीं दिया तो उसने जो हमारा उपकार किया था, उसके बदले में जो हमने कुछ नहीं किया इसका पाप ज़रूर लगेगा। कई बार शंका होती है कि हमने *नहीं किया*, इसमें क्या दोष है? भगवान् भाष्यकार तैत्तिरीय भाष्य में प्रत्यवाय का विचार करते हैं कि यदि करते तो दोष नहीं लगता अर्थात् जो तुम्हारे ऊपर कर्ज़ा था वह चुक गया होता। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। हमने यदि कुछ नहीं किया, उससे यदि भावरूप पाप उत्पन्न हो जायेगा तो दर्शन की दृष्टि से दोष आ जायेगा। लेकिन उसका कर्ज़ा हमने नहीं चुकाया, कर्ज़ा भाव पदार्थ हुआ, नहीं चुकाया तो रह गया, यही पाप प्रत्यवाय हो गया। नित्य नैमित्तिक कर्म इसलिये करे कि प्रत्यवाय हटते चले जायें। यों मुमुक्षु को ही शिक्षा दी जाती है कि कामना से प्रयुक्त कर्म को छोड़ो।

भगवान् ने इसीलिये आगे कहा 'अरे अर्जुन! मेरे को कुछ भी करना शेष नहीं है क्योंकि सब चीज़ें मुझे मिली हुई हैं।' जब आपको कुछ करना ही नहीं है तब फिर चुपचाप जाकर पड़े रहो! इस पर भगवान् ने आगे कहा 'लेकिन मैं रात-दिन कर्म में लगा रहता हूँ।' महाभारत में आता है कि भगवान् के साथ हमेशा उनकी अग्नियाँ चलती थीं। खाली बांसुरी हाथ में पकड़ा कर कृष्ण की मूर्ति नहीं बन जायेगी। प्रतिदिन एक हज़ार ब्राह्मणों को भोजन कराकर वे भोजन करते थे। दिन बंधे होते थे कि किस दिन हीरों की और किस दिन पन्नों की दक्षिणा देनी है।

यों वे वेद और ब्राह्मण की रक्षा करते थे। लोग आजकल के फोटो को देखकर समझते हैं कि राधा को देखकर नाचते रहते होंगे, और क्या करते होंगे! लोग यह भूल जाते हैं कि ग्यारह साल की उम्र में राधा को छोड़ गये थे। उसके बाद एक सौ चौदह साल में एक बार राधा को देखा। वह भी खुद मिलने नहीं गये थे। सूर्य-ग्रहण के दिन भगवान् और वृंदावन वाले सारे वहाँ पहुँच गये थे, राधा भी उनके साथ पहुँच गई थी। इतने दृढ कर्मनिष्ठ थे। अतः कहते हैं 'मेरे को कुछ कामना नहीं, कुछ प्राप्त करना नहीं, फिर भी देख, मैं कर्म में लगा हुआ हूँ।' क्यों लगे हुए हैं? 'यदि मैं इस प्रकार का बर्ताव नहीं करूँगा तो क्या नतीजा होगा? मेरा अपना कुछ कर्म नहीं है, मेरा कोई उद्देश्य नहीं है, मुझे कुछ पाना नहीं है, लेकिन यह सब न होने पर भी मेरे ऊपर सबकी दृष्टि है, सब देखते हैं कि कृष्ण क्या करते हैं। जो कृष्ण करेंगे, वही लोग भी करेंगे।' भारत में इतने दल-बदल कब से शुरू हुए? जब देखा कि प्रधानमंत्री दल-बदल कर सकती है तो सोचा कि हम क्यों नहीं कर सकते! तभी से दनादन दल-बदलना शुरू हो गया। श्रेष्ठ जो आचरण करता है उसका अनुकरण होता है। लगता है कि यदि वह झूठ बोल सकता है तो हम क्यों नहीं बोल सकते। अतः भगवान् ने कहा 'मेरे को देखकर ही तो लोग करते हैं। यद्यपि मेरे लिये कोई कर्त्तव्य नहीं, कामना नहीं, क्योंकि मेरा कोई अज्ञान नहीं। मैं अपनी सर्वव्यापकता को नित्य-निरंतर जानता हूँ। ऐसा होने पर भी मैं कर्मरत रहता हूँ।' ज्ञानी का अपना प्रयोजन तो नष्ट हो गया, इसलिये ज्ञानी अपने लिये कुछ करेगा ही नहीं।

मुमुक्षु की कैसी प्रवृत्ति हैः यदि अपनी इच्छा है कि बंगाली मार्केट के रसगुल्ले खाऊँ, तब तो सामने आये हुए रसगुल्ले भी छोड़ देना। किंतु यदि बच्चे ने या नौकर ने भी कह दिया 'बहुत दिनों से रसगुल्ला नहीं आया, बड़ी इच्छा हो रही थी। जेठ की चिलचिलाती धूप पड़ रही है, ड्राइवर भी बाहर गया हुआ है।' तो घरवाली से कहता है 'मैं थोड़ी देर में आता हूँ।' उस गर्मी में गाड़ी लेकर जायेगा और रसगुल्ले ले आयेगा। घरवाली पूछे तो कहेगा कि किसी काम से चला गया था। अब स्वयं भी प्रेम से खाता है, क्योंकि अपने मन ने नहीं कहा था, नौकर ने कहा था। सोचता है कि 'नौकर हमारी हज़ारों बातें मानता है, एक दिन बेचारे के मुँह से निकल गया कि आज रसगुल्ला याद आ गया।' यह मुमुक्षु के लिये है। वह याद करता है कि 'मैं कैसी-कैसी परिस्थिति में उससे कहता हूँ कि चवन्नी का पान ले आ तो वह झट ले आता है।' आज वह भी प्रत्यवाय हटाने के लिये चला गया। खुद भी बड़े प्रेम से खाता है, नहीं छोड़ता, क्योंकि आज मन ने नहीं कहा था कि खाना है। जब मुमुक्षु के अन्दर भी इसी प्रकार का ही कर्म है तो ज्ञानी में अविद्या सर्वथा नष्ट है, अतः उसमें परमार्थ की ही क्रिया संभव है। इसलिय भगवान् ने कहा 'यदि मैं छोड़ता हूँ तो ये बेचारे भी अपना कर्म नहीं करेंगे, मेरे कर्म न करने से इनका नुक्सान हो जायेगा। नतीजा होगा कि ये सब बेचारे उच्छिन्न हो जायेंगे। उनकी कामनायें अभी बनी हुई हैं, अतः कामनाओं के लिये प्रवृत्ति करेंगे लेकिन निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति करेंगे।'

आजकल क्या होता है। जितन-जितना लोगों को सुनाया जाता है कि निष्काम कर्म करो, निष्काम भक्ति करो, उतनी-उतनी लोगों की ब्लैकमार्केटिंग बढ़ती है। अब श्रीसूक्त से हवन करके धन-प्राप्ति का उपाय जँचता नहीं, क्योंकि निष्काम कर्म करना है! और धन की कामना नहीं गई इसलिये पाप या चोरबाज़ारी ही उपाय रह गया। जितना-जितना वैध उपायों से लोगों को रोकोगे, उतना-उतना लोग निषिद्ध उपायों में जायेंगे। हमारी समाज रचना और सरकार की दृष्टि में गलती ही यह है। मानवमात्र को धन बटोरने की इच्छा है। जो भी अपने को मानव समझता है वह धन बटोरने की इच्छा करता है। वह धन चाहे नोटों में हो, चाँदी में हो, ज़मीन में हो, है तो धन ही। यह उसकी इच्छा है। तुमने धन कमाने के वैध उपाय रोक रखे हैं। सारे कानून वैध उपायों से धन नहीं बटोरने देते। इसलिये स्थिति यह है कि आज सत्तर प्रतिशत धन ब्लैक का है। ऐसा क्यों है? जब वैध उपाय रोक लिये गये तो निषिद्ध उपायों का अवलम्बन करेंगे, क्योंकि कामना तो जायेगी नहीं। मुख्यमंत्री की तनख्वाह हज़ार रुपया महीना है और एक मुख्यमंत्री भी कह रहे थे कि उनका टेलीफोन का बिल ही सात सौ रुपये का हो जाता है! मुख्यमंत्री खुद ही कह रहे थे कि 'एक हज़ार में कैसे काम चले? हमारे पास महीने में कम-से-कम दस हज़ार आदमी मिलने वाले आते हैं। अगर उन्हें और कुछ नहीं, केवल बर्फ डालकर नींबू-पानी भी पिलायें तो पाँच सौ रुपये हो जाते हैं। इसलिये मैं सिवाय घूस खाने के और क्या कर सकता हूँ?' तुमने जब उसके वैध उपाय रोक दिये तो वह निषिद्ध उपाय ग्रहण करेगा। व्यापारी को धन-सम्पत्ति चाहिये, वैध उपाय रोकोगे तो चोरी करेगा, अफसर को रोकोगे तो निषिद्ध उपाय करेगा। घरवाली को खर्चा चाहिये। वह रोज़ कहती है कि मन्दिर में पच्चीस रुपये देने हैं। पति कहता है 'अरे साधुओं को रुपये दिये जाते हैं? ठीक है, पाँच पैसे चढ़ा आओ।' वह तो दान करेगी ही, आटे की बोरी में से निकालेगी। यदि वैध उपाय से कहते कि 'सौ रुपये महीना तेरे लिये है, जहाँ तेरी मर्ज़ी खर्च कर, चाहे दान कर, चाहे सिनेमा जा।' तो चोरी न करती। चारों तरफ से रोकोगे तो निषिद्ध उपायों का चयन करेगी। जितनी-जितनी शास्त्रीय कर्मों में रुकावट डाली जाता है, उतना ही आदमी निषिद्ध कर्म करता है। जब तक कामना नहीं जलेगी, तब तक सिर्फ कहने से पापवर्जन नहीं हो जायेगा।

हमारे सारे समाज के अन्दर कामना के स्वरूप को ठीक से न समझने से घुन लग गया है। ब्राह्मण को बनिया कहता है कि 'तू लंगोटी पहनकर बैठा रहे।' इच्छा यह कहती है कि पंडित वह, जो सवा रुपया दक्षिणा मिल जाये तो तीन बार आशीर्वाद दे। लेकिन पंडित की कामना तुम्हारे कहने से ख़त्म नहीं होनी है, उसके भी बाल-बच्चे हैं, उनकी पढ़ाई-लिखाई का इंतजाम करना है। पंडित को वैध उपायों से रोकोगे तो उसे हमेशा शनि की साढ़े साती बतानी पड़ेगी! एक ज्योतिषी जी बता रहे थे कि किसी की जन्मपत्री देखो तो वह अपनी जन्मपत्री दिखाने के साथ-साथ अपने लड़के की, अपनी पत्नी की भी दिखा देगा। मेरा तो उसमें डेढ़ घण्टा लग गया

और उसने वही पाँच का नोट पकड़ा दिया। पहले तो वह कहता हूँ जो ठीक है, लेकिन जब उसने सब पूछकर भी पाँच ही रुपये दिये तो मैं क्या करूँ? मुझे कोई अनुष्ठान बताना पड़ेगा, तभी वह दो सौ रुपये देगा। यदि उससे कहूँ कि 'सब ठीक है, शुभ-ही-शुभ है, सौ रुपये दे दो' तो नहीं देगा। बुद्धिमान् हो तो अच्छा बताने पर तीन सौ दे दे कि अब तो अच्छा समय आ रहा है। बुरे समय में कुछ कमी करे भी। लेकिन वह दृष्टि नहीं है। सर्वत्र ऊपर से नीचे तक यह झूठी निष्कामता घुन लगा देती है। जब मुमुक्षु बने तब तुमने कामना को छोड़ना शुरू किया। तब बुद्धि यह प्रवृत्ति करती रही कि प्रत्यवाय हटाते हुए नित्य-नैमित्तिक कर्म करे। नित्य-नैमित्तिक कर्म करते-करते अंत में तुम्हारी कामनायें नष्ट होंगी।

मनुष्य के भाव और क्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध है। केवल दिमाग से नहीं सोचते, दिमाग के साथ शरीर भी सोचता है! कभी सोचने वाले के चेहरे को देखो : आँख खिंच जाती है, सिर पर सलवट पड़ जाती है, हाथ में तानव आ जाता है। यदि केवल दिमाग सोचता तो शरीर में क्रिया किसलिये? दूसरी तरफ, हाथ में तनाव कर दो, सिर पर तनाव ले आओ, तो थोड़ी देर में मन में चिन्ता शुरू हो जायेगी। यह प्रयोग वैज्ञानिकों ने किया है कि शरीर और दिमाग का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये ज़ोर देते हैं कि यदि तुम अपनी भावना के अनुसार शरीर की क्रिया ठीक नहीं करोगे तो वह भावना दृढ नहीं होगी, क्योंकि दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे-जैसे शरीर को ढीला (रिलैक्स) करोगे, मन का तनाव भी कम होता है। जैसे-जैसे शरीर से कामनारहित होकर कर्म करोगे, वैसे-वैसे विचारों में, भावनाओं में भी कामना-रहितता आने लगेगी। शरीर से कामना-प्रयुक्त कर्म करोगे तो धीरे-धीरे मन में भी कामनायें भरने लगेंगी। यह स्वाभाविक नियम है, क्योंकि शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सनातन धर्म ने इसीलिये शरीर की प्रत्येक क्रिया को धर्म से अलग नहीं किया, क्योंकि अलग करके वह चलेगा नहीं। नित्य-नैमित्तिक कर्मों से मुमुक्षु को निष्काम कर्म में दृढता कराई तो उसका नतीजा होगा कि धीरे-धीरे उसका मन और अंतःकरण भी कामनारहित होता जायेगा। जैसे-जैसे कामनारहित होता जायेगा, वैसे-वैसे 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते' अतिधन्य वेद कहता है कि जब कामना सर्वथा नष्ट हो जायेगी तब जो अपने को मरणधर्मा मानता है वही अपने को अमरणधर्मा समझने लगेगा। इस शरीर में ब्रह्म की उपलब्धि ऐसी होगी जैसे हाथ में रखे हुए बिल्व का कण-कण नज़र आ रहा है।

भगवान् कहते हैं कि यदि मैं ऐसा कर्म नहीं करूँगा तो ये लोग भी निष्काम कर्म नहीं करेंगे, क्योंकि सोचेंगे कि 'कृष्ण नहीं करते तो क्यों करना है?' ये सारे लोग उजड़ जायेंगे, निषिद्ध कर्म करेंगे। मेरी तो कामना नहीं है लेकिन इनको तो कामना है। 'संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः' ये सारी प्रजायें नष्ट हो जायेंगी। इनमें सांकर्य आ जायेगा। दो जातियों का मिल जाना सांकर्य है जैसे ब्राह्मण ने क्षत्रिय से ब्याह कर लिया। उसी प्रकार आदमी जब कामना-प्रयुक्त

होकर निष्काम भाव लायेंगे तो सांकर्य हो जायेगा। जैसे आजकल हो जाता है। एक सज्जन कहने लगे कि 'मेरी अनन्य शरणागति है। इसलिये मैं सिवाय कृष्ण के, और शरण नहीं लेता।' हमने पूछा   ठहरे कहाँ हो? कहने लगे   'मेडन्स होटल में ठहरा हूँ?' पूछा, साथ रुपया लाये हो? कहा   'रुपयों के बिना कौन रहने देगा!' इसका मतलब हुआ कि रुपयों की शरण से ठहरे हो। कहते हैं   'यह व्यवहार है।' यह शरणागति में चोरी है। धन की शरणागति, कामना की शरणागति, घर वालों की भी शरणागति, लेकिन बाकी सब जगह 'श्रीकृष्णः शरणं मम'। जब कभी शास्त्रीय कर्म की बात आई तो 'मैं अनन्यशरण हूँ।' इसी का नाम सांकर्य है, क्योंकि दो जातियाँ मिल गईं, अन्दर कामना भरी है और दूसरी जाति (अनन्य शरणागति) से विवाह करने की तैयारी है। भगवान् कहते हैं   'ये सब मेरा रूप हैं, इनको मैं बरबाद करने के लिये नहीं आया।' यही ज्ञानी की दृष्टि है। उसके मन के गहनतम तत्त्व तनावों से खुल गये हैं। वे खुलने पर किस प्रकार के कर्म करता है, यह श्रीकृष्ण के कर्मों से बताया।

# प्रवचन-४०

२८-४-७२

परब्रह्म-महिषी का भजन तभी कर सकते हैं जब धन्य हों। धन्यता की अनुभूति के बिना परमेश्वर की भक्ति बनती नहीं। 'कृत्यं कृतं प्रापणीयं प्राप्तं' ही धन्यता की अनुभूति है। जो कुछ करने के योग्य था सब कर लिया। जब तक किंचित् मात्र भी अनुवृत्ति इस बात की है कि कुछ करना बाकी है, तब तक मनुष्य में धन्यता का अनुभव नहीं आता। जैसे लोक में भी, घर में लड़की बड़ी हो तो माता-पिता के हृदय में कृत्य है कि 'इस लड़की का अच्छे घर में ब्याह हो जाये, यह सुख की जगह चली जाये,' यह कृत्य की भावना रहती है कि यह करना है। जब लड़की अच्छे घर, वर को प्राप्त कर लेती है तब चार आना संतोष हो जाता है। फिर जब बारात आकर विदा हो जाती है तो बारह आना संतोष हो जाता है। फिर साल भर के बाद आकर जब लड़की कहती है कि 'मैं परम सुखी हूँ, पति भी प्यार करता है, सास-ससुर भी बड़े स्नेह से रखते हैं, ननदें भी बड़ा उत्साह दिखाती हैं, देवर भी सब कहना मानते हैं', तब सोलह आना मनुष्य के हृदय में संतोष आकर भावना आती है कि मैं धन्य हो गया 'कृतं कृत्यम्।' यदि इनमें से किसी भी चीज़ में कोई कमी रह जाये तो फिर धन्य की भावना नहीं आती। इसी प्रकार से परमात्मा की प्राप्ति भी क्या है? एक लड़की की शादी-सी है!

भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते (शिवा. ल. ८४) हैं 'हे परमेश्वर! बुद्धिकन्यां गृहाण'। यह बुद्धि मेरी एक अच्छी कन्या है, गुण वाली कन्या है। मैंने अपनी बुद्धि रूपी कन्या को भली प्रकार पढ़ा-लिखाकर अच्छे गुण वाली बनाया है, जाति भी इसकी अच्छी है क्योंकि सत्त्वगुण से उत्पन्न हुई है और सत्त्व गुण के ही संस्कारों से मैंने इसे भर दिया है। अब यह जवान भी हो रही है, विवाह के योग्य हो रही है। जब तक कन्या छोटी होती है तब तक अपनी ही जाति से अर्थात् सहेलियों से खेलती है। अब तक मेरी यह कन्या जवान नहीं हुई थी तो खुद अनात्मा (जड) से और महाभूतों से उत्पन्न थी और अपनी ही जाति के अनात्म पदार्थों से अर्थात् पंचमहाभूतों के विकारों से, जड पदार्थों से ही खेल कर प्रसन्न रहती थी। लेकिन अब कन्या जवान हो गई। जवान कन्या फिर लड़कियों के साथ खेलकर खुश नहीं होती, उसे अपने से भिन्न जाति वाला अर्थात् लड़का चाहिये। इसी प्रकार से अब मेरी यह बुद्धि कन्या संसार के जड पदार्थों से खेलकर प्रसन्न नहीं हो रही है बल्कि अपने से भिन्न जो चेतन जाति का (ब्रह्म) है, उसे चाहती है। यही तो बुद्धि की जवानी का लक्षण है। जब तक जड पदार्थों के विषय में विचार करते रहना चाहें तब तक बचपना है। जब जड पदार्थों में रुचि न रह जाये, वहाँ से वृत्ति हटे, तब जवानी है। सारे कर्मकाण्ड का अंतिम प्रयोजन यही है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, तप, त्याग इन सब

के द्वारा परमात्मा को जानने की इच्छा पैदा हो जाती है। सारे कर्मों का अंतिम फल परमात्मा का साक्षात्कार करने की इच्छा उत्पन्न हो जाना है। लेकिन इच्छा कैसी? जिस चीज़ की इच्छा होती है उससे भिन्न चीज़ अच्छी नहीं लगती। इच्छा ऐसी कि फिर जड पदार्थ अच्छे नहीं लगते, सामने आने पर भी उनसे दिल नहीं रमता। आजकल तो लड़कियाँ घरों में बड़ी होता ही हैं, अनुभव करते होगे। क्योंकि पहले तो आठ साल की उम्र में ब्याह कर देते थे, इसलिये पता नहीं लगता था। अब सोलह-सत्रह साल की लड़की घर में हो जाती है। देखते हो कि सब समय उसका मन उदास रहता है, चेहरा तना हुआ रहता है, छोटी-छोटी बातों से तुनुकमिज़ाज हो जाती है, कमरा बंद करके बैठी रहती है। घर वाले कहते हैं कि इसका स्वभाव खराब हो गया है। कुछ नहीं हो गया, उसको तो पति चाहिये और तुम उसको दूसरी चीज़ें दे रहे हो, उससे क्या काम होना है!

इसी प्रकार जब बुद्धि कन्या संसार के पदार्थों से विरक्त होती है, प्रारब्ध उसके सामने सुख के भोगों को लाता है, लेकिन वह बुद्धि है कि तड़फड़ाती है, उसकी उदासी नहीं जाती क्योंकि उसे तो चेतन परमात्मा चाहिये। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि अब मेरी यह बुद्धि जवान हो गई, अच्छे गुण वाली, अच्छे कुल की है। भगवान् ने कहा, 'फिर मेरे पास ही क्यों ला रहे हो?' कहते हैं  महाराज! क्या करें, इसके जोड़ का वर एक ही है। यदि दो-चार चेतन होते तो छँटाई कर लेते। चेतन एक है तो अब क्या करें? इसलिये अब आपको भी इसके साथ पाणिग्रहण करना पड़ेगा। जब यह बुद्धि उस चेतन तत्त्व को ग्रहण करती है, ब्रह्माकार वृत्ति बनाती है, यदि परमेश्वर ने स्वीकार कर लिया  और, अच्छी कन्या है तो क्यों नहीं स्वीकार करेंगे?  तब चार आना संतोष होता है। वेदांत की भाषा में इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। वह सत्य ज्ञानरूप है, यह हमारी बुद्धि ने समझ लिया। बुद्धि ने कह दिया कि 'मैं बस इसी के लिये तड़प रही थी।' चार आना संतोष हुआ। जैसे ही मनुष्य उपनिषदों का थोड़ा-सा विचार करता है तो चार आना संतोष हो जाता है।

उपनिषद् तीन कदमों में ले जाती हैं : पहले, उपनिषद् संसार-बंधन को शिथिल करती है। 'षद्' का मतलब 'ढीला करना' है। फिर उसके बाद गति कराती हैं,'षद्' का दूसरा अर्थ 'चलना' है। और तीसरा अर्थ 'अवसादन कर देना' अर्थात् ख़त्म कर देना है। उपनिषद् में षद् धातु के ये तीन अर्थ हैं। उपनिषद् पहले तो संसार-बन्धन को ढीला करती हैं, जितना तनाव पहले था, उतना नहीं रहता। अभी पूरा विचार नहीं किया, लेकिन उतने मात्र से ही शैथिल्य होता है। यह चार आने संतोष हुआ, बात पक्की हो गई। बारह आना संतोष जब गति हो गई, बारात विदा हो गई, उसकी गति कर ली। अब, वापिस आकर ससुराल वालों के तारीफ़ के पुलिन्दे बाँध रही है। यदि आकर कहती है कि 'अपने घर में रबड़ी अच्छी बनती है।' और उनके यहाँ? 'हाँ अच्छा ही खाना बनता है।' तो माँ-बाप के एक काँटा चुभता है। फिर कहे  'साग तो अच्छा बनता है

लेकिन वेजीटेबल घी का प्रयोग करते हैं।' दूसरा शूल माँ-बाप के हृदय में गया। जितना-जितना वह माँ-बाप के घर की तारीफ करेगी, उतना-उतना माँ-बाप को प्रसन्नता नहीं होगी, क्योंकि उसका मतलब है कि वहाँ उसे सुख नहीं हुआ। इसी प्रकार से जब बुद्धि-कन्या ने उस परमात्मा का परोक्ष ज्ञान किया, बात पक्की होती है, तब बुद्धि कहती है कि बात तो यह जँच गई कि यदि कुछ जानने-करने लायक है तो वह केवल परमात्मा ही जानने लायक है; इससे चार आना संतोष तो हो गया। लेकिन इससे धन्य (कृतकृत्य) नहीं हुए।

उसके बाद तैयारी होती है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा ये सारी दहेज की तैयारियाँ हैं। यहाँ भी दहेज देना पड़ेगा, जैसे आप लोग कई चीज़ें दहेज में देते हो, फर्नीचर, गहने इत्यादि, वैसे ही यहाँ शम अर्थात् मन के अन्दर किसी प्रकार के विक्षेप का अभाव, यह बुद्धि को दहेज में देना पड़ेगा। दम अर्थात् इन्द्रियों को शान्त करना पड़ेगा। दहेज ठीक न हो तो तय हुई बात भी गड़बड़ हो जाती है! लड़की को लड़का और लड़के को लड़की पंसद आ गई, फिर लड़के के माँ-बाप कहते हैं कि बारात तीन सौ की आयेगी, लड़की का बाप कहता है कि 'पचास लाना', तो लड़के वाले ढीले पड़ जाते हैं। फिर लड़के वाला कहता है 'मेरे को टेलीविज़न सैट चाहिये', लड़की वाला कहता है कि 'मैंने तो और चीज़ें तैयार कर रखी हैं;' वह कहता है 'मुझे और कुछ नहीं चाहिये।' वह पिता बेचारा ब्राह्मण, उसे क्या पता कि यह भी मागेंगे! इसलिये उसने अपने यजमानों से इस निमित्त से छोटी-मोटी चीज़ें अलग-अलग ला रखी हैं। अब काम ढीला पड़ जाता है। ऐसे ही हमारी बुद्धि कन्या को परमात्मा पतिरूप से जँच भी गया, बुद्धि को समझ में भी आ गया कि जाना तो इसी तरफ है, संदेह कुछ नहीं है, लेकिन यदि शम, दम आदि का दहेज नहीं है तो लड़का नहीं मानता! कहता है 'पहले दहेज इकट्ठा कर लो तब आगे बात चलेगी।' इसीलिये श्रुति ने इसे वित्त कह दिया। दहेज की सारी चीज़ें धन ही हैं। लौकिक धन से तो वह खुश होने वाला नहीं है, क्योंकि उसकी जाति चेतन (आत्मा) है। वह चेतन तुम्हारी जड चीज़ों से खुश नहीं होगा।

तुम्हारा मन भी शांत हो गया, इन्द्रियाँ भी चंचल नहीं रहीं। विषय सामने आने पर भी प्रारब्ध के कारण जब उनका भोग भी हो रहा हो, उस समय में भी, उनमें रति नहीं होती; दुःख आने पर, दुःख का भोग होने पर भी उससे छूटने की इच्छा नहीं होती; यह तितिक्षा है। समाधि का अभ्यास बना हुआ है। जैसे साधारण आदमी थोड़ी असावधानी की तो फिसल कर गिरता है, ऐसे ही जहाँ मन थोड़ा इधर-उधर हुआ तो मुमुक्षु झट समाधि में जाता है। गुरु और वेदांत वाक्य पर दृढ विश्वास है, यह श्रद्धा हुई। जब यह सब उसे प्राप्त हो गया, तब दहेज का इंतजाम हो गया। बारात आई, विवाह किया। विवाह करके बारात विदा हो गई।

'आत्मनि एव आत्मानं पश्येत्' अब वह निरंतर आत्मचिंतन में लगा हुआ है। साल भर तक वह बुद्धि परमात्मा के साथ ही रही अर्थात् कुछ समय तक रही। उस समय उसको अभी

संसार की तरफ का कुछ ख़्याल नहीं कि क्या हाल है, समाधि काल में पता नहीं लगता। परमात्म-चिंतन में जीव को बुद्धि के हाल का कुछ पता नहीं, क्योंकि वह लीन हुई है। इसीलिये कहते हैं 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा।' तदा अर्थात् उस काल में वाणी कुछ नहीं कह सकती। जब उसके अंदर आनंद भोग करने के बाद बुद्धि वापिस आई तो क्या करती है?

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।'१०-९ गीता।।

बुद्धि को वहाँ सुख की प्राप्ति हुई यह देखने माँ-बाप नहीं जा सकते। जब वापिस आकर उसका चित्त बार-बार करता है कि अब भेज दो, हर चीज़ उसे वहाँ की प्रिय लगती है, जब बात करती है, वहीं की बात करती है, वहीं की विशेषतायें बताती है, तब जीव को संतोष हो जाता है कि कृत-कृत्य हो गया। अब वह जीव के संसार की कोई तारीफ नहीं करती। समझ कर कहो भी कि कुछ तो बाप के घर की चीज़ अच्छी होगी? कहती है 'हाँ पिता जी! आप बहुत अच्छे हैं, नहीं तो अच्छे घर ब्याह कैसे होता? लेकिन आपकी प्रशंसा इस बात में है कि आपने मुझे वहाँ भेज दिया।' इसी प्रकार जीवभाव को बुद्धि कहती है कि बड़ा अच्छा किया, मुझे वहाँ भेज दिया। यही जीव की विशेषता है। जब यह कृत-कृत्यता का बोध होता है तब जीव धन्य है, उसके पहले धन्य नहीं है। धन्यता मायने कृत-कृत्यता अर्थात् जो करने लायक काम था वह कर दिया। जिस प्रकार बारात विदा करके बारह आना संतोष हुआ, वैसे ही नित्य निरंतर परमात्म-अनुसंधान में लग गये तब बारह आना संतोष हो गया, जब उसके बाद बुद्धि निरंतर उसी की प्रशंसा करे, तब समझना चाहिये कि अब अंतिम चीज़ अवसादन की है। अब अपनी उस बुद्धि में सिवाय उस परमात्मा के और किसी चीज़ की बात निकलती ही नहीं है, बुद्धि सर्वथा वहाँ जाकर लीन हो गई। अवसादन की यह तीसरी अवस्था कृत-कृत्यता की है। इसी के द्वारा भजन सम्भव है। नतीजा यह होता है कि मन के गहनतम (वसुतम) तत्त्व अब बाहर आ गये। मन के अन्दर जितने खजाने भरे हुए हैं, वे सारे खजाने रोकने वाला कौन है? तनाव ही रोकने वाला है। प्रेय और श्रेय का जो झगड़ा है, इस कारण ही ये सारे खजाने हमारे हाथ नहीं लगते। जब ये तनाव खुल जाते हैं तब मन की सारी शक्तियाँ सृजन के लिये उपलब्ध हो जाती हैं।

हमारी इस समय की सारी अर्थव्यवस्था की गड़बड़ी का मूल कारण क्या है? किसी भी *चीज़* में तेज़ी नहीं है! एक-दूसरे पर अविश्वास के कारण सारा काम अटका हुआ है। व्यापारी और सरकार का आपस में अविश्वास है; सरकार सोचती है कि व्यापारियों को छूट देंगे तो ये मार डालेंगे। व्यापारी सोचता है कि सरकार की बात मानेंगे तो यह मार डालेगी। व्यापारी और मज़दूर का आपस में अविश्वास है। सब एक-दूसरे से सावधान हैं, तनाव में हैं। सरकारों का फिर आपस में तनाव। प्रांतीय सरकार सोचती है कि केन्द्र हमको न खा ले, केन्द्र सोचता है कि

हमको कहीं प्रांतीय सरकारें न खा लें। फिर प्रांतीय सरकारों में आपस में तनाव। मंत्री सोचते हैं कि कहीं सचिव फ़ायदा न उठा ले जायें और सचिव सोचते हैं कि कहीं मंत्री फायदा न उठा ले जायें। ऊपर से नीचे तक कोई कार्य ऐसा नहीं जिसे करने में किसी को छूट हो। यह सारा प्राकार अंग्रेजों ने बनाया था, क्योंकि विदेशी राज्य को हमारी उन्नति तो करनी नहीं होती है, हमारा विश्वास कर नहीं पाते, इसलिये नियम बनाते हैं कि हर चीज़ उनके हाथ से निकले जिसमें कहीं प्रशासित लोग कुछ कर न लें। आज तक हम वास्तविक स्वतंत्र नहीं हुए हैं। वास्तविक स्वतंत्र होते तो हमको एक-दूसरे का विश्वास होता। सरकार समझती कि ये व्यापारी स्वतंत्र हैं तो कुछ काम करेंगे। यह नहीं कि हर छोटे से काम के लिए पहले सरकार लाइसेन्स दे, नहीं तो व्यापारी ज़रूर खा जायेगा। सरकार की यही मान्यता है, कि 'हम देश को बचा कर रख रहे हैं, नहीं तो ये व्यापारी खा जाते।' व्यापारी कहता है कि 'हम किसी तरह उद्योग को बचा कर रख रहे हैं नहीं तो मज़दूर खा जाते।' सरकार के अफसर कहते हैं कि 'हम बचा कर रख रहे हैं नहीं तो मंत्री राजनीतिज्ञ खा जाते।' राजनीतिज्ञ कहते हैं कि 'सरकारी अफसर खा जाते, हम बचाकर रख रहे हैं' इसका मतलब है कि सब मानते हैं कि देश हम सबका नहीं है। स्वतंत्र देश की विचारधारा यह नहीं होती, यह परतंत्र विचारधारा है। स्वतंत्र देश की विचारधारा होती है कि देश हम सबका है, कोई क्यों खायेगा? यह सोचने का एक तरीका है। जहाँ यह विश्वास की बात आई, वहाँ देखोगे कि उन्नति की गति इतनी तीव्र हो जायेगी कि जिसका कोई ठिकाना नहीं है। एक नियम याद रखो। घर में तुम बेटे को स्वतंत्रता देकर देखो कि 'यह दुकान तेरी है, ये ले पचास हज़ार और तू दुकान चला।' पाओगे कि लड़का रात को नौ बजे तक काम करेगा। और तुम लड़के से कहो कि 'बेटा, कोई भी काम मेरे से पूछकर करना, चेक पर मेरे दस्तखत चलेंगे, तू गड़बड़ कर जायेगा।' देखोगे कि लड़का पाँच बजे से ही घूमने-फिरने की सोचने लगेगा, थोड़ा-सा जुकाम हो गया तो कहेगा कि आज दुकान नहीं आ सकता। कारण यह है कि जब तुम सारा नियंत्रण हाथ में रखोगे तो वह बेचारा नौकर हुआ, परतंत्र हुआ। परतंत्र का तो काम ही हुआ कि जितना कम कर सको, करो, जितना फायदा उठा सको, उठाओ। जब तुमने उसे स्वतंत्र कर दिया, मालिक बना दिया, तब कहेगा कि मालिक हूँ, ज़्यादा-से-ज़्यादा काम करूँ। काम करवाने का तरीका ही किसी को स्वतंत्र बनाना है।

जैसे सारे राष्ट्र की प्रगति का कारण हमारा एक-दूसरे को स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न करना है, एक-दूसरे को परतंत्र बनाने का प्रयत्न करने से राष्ट्र की प्रगति में रुकावट आती है, उसी प्रकार से अभी हमारा मन श्रेय और प्रेय के चक्कर में परतंत्र बना हुआ है। इसलिये हम मन के द्वारा पूरा कार्य नहीं कर पाते हैं। हमारी करने की इच्छा तो होती है लेकिन कर नहीं पाते। इसको हमने मालिक नहीं बनाया है। जब यह अद्वैत ज्ञान पूर्ण रूप से हो जाता है, परमात्म-प्राप्ति हो जाती है, तब वह प्रेय और श्रेय का एक-दूसरे का अविश्वास, जिसे इड और सुपर ईगो,

ऊर्ध्वचेतना और अधश्चेतना अथवा क्या कल्याणकारी है और क्या अच्छा लगता है कहा था, इनका झगड़ा समाप्त हो जाता है। इस झगड़े से ही हमारे मन की सामर्थ्य रुकावट अनुभव करती है, हम कुछ कर नहीं पाते। प्रेय का काम करने जाते हैं तो श्रेय आकर रुकावट डालता है कि 'ऐसा करूँगा तो कहीं औचित्य में गड़बड़ी तो नहीं हो जायेगी।' श्रेय का काम करते हैं तो प्रेय रुकावट डालता है कि 'कहीं ऐसा करने से हमारे प्रेय का कुछ नुक्सान तो नहीं हो जायेगा?' घूस खाते समय सोचता है कि नरक के डण्डे न पड़ें और घूस छोड़ते समय सोचता है कि कहीं भूखा न मरना पड़े। अब वे वसुतम तत्त्व खुल गये, क्योंकि श्रेय ही अब प्रेय बन गया, दोनों का झगड़ा अब नहीं रहा। अब पता लग गया कि मैं जिसको प्रेय समझता था, वह वस्तुतः प्रेय नहीं है, श्रेय ही प्रेय है। जैसे ही यह पूर्ण विश्वास हो गया, मन की सारी स्वतंत्र शक्तियाँ खुल गईं। उसके खुलने के बाद मनुष्य अतितीव्र वेग से कार्य कर पाता है। आत्मज्ञानी की क्रियाशक्ति इसीलिये बहुत बढ़ जाती है। साधारण व्यक्ति जिस क्रिया को दस घण्टे में करेगा, उसको वह दस मिनट में कर लेगा। यह शक्ति किससे आती है? यह जो मन के तनाव खुल गये, बस उसी से शक्ति आ गयी, बाहर से कुछ नहीं आना है। वह तो सब अन्दर भरा हुआ है। लेकिन आपस में श्रेय और प्रेय की रुकावट के कारण उन्नति नहीं बन पा रही थी। अब वसुतम तत्त्व, मन के वे तत्त्व जिनमें खजाना भरा हुआ है, खुल गये। अणिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ तो बड़ी साधारण हैं। इससे भी ज़्यादा, सारे ब्रह्माण्ड का अवगाहन करने वाले तत्त्व जो मन में भरे हुए हैं, वे सारे चेतना की रोशनी में आ जाते हैं।

कारण यह है कि आत्मज्ञानी और अज्ञानी में फ़र्क बहुत थोड़ा-सा है। यहाँ जीवन्मुक्त की बात कह रहे हैं। मंदान्धकार में रस्सी में साँप दीखता है। रोशनी में देखने के बाद भी तो सर्प का भान है, अगर भान न होता तो कैसे कहता कि रस्सी का चौड़ा हिस्सा साँप के मुँह की तरह और पिछला पतला हिस्सा पूँछ की तरह और बीच में मुड़ी हुई होने से उसके फन दीख रहे थे। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को दीख रहा है लेकिन अज्ञानी के लिये अधिष्ठान रस्सी तो नीचे है और अध्यस्त सर्प ऊपर है। ऊपर होने से अध्यस्त नाम रूप प्रधान हैं और अधिष्ठान सच्चिदानंद गौण है। ज्ञान हो जाने पर अधिष्ठान ऊपर आ गया, प्रधान तो सच्चिदानंद हो गया और नाम-रूप (अध्यस्त) गौण हो गये। अभी सामने घड़ा है, इसमें घड़ा प्रधान है और 'है' तो नहीं की तरह है। किसी से पूछो 'है' क्या है? तो कहेगा कि 'है' तो होता ही है, घड़ा देखो। ज्ञानी कहता है ''है' देखो, घड़ा तो ठीक है, मना कौन करता है, लेकिन वहाँ 'है' ही है। 'है' न होता तो घड़ा क्या है! अधिष्ठान-प्रधान ज्ञानी की अनुभूति है और अध्यस्त-प्रधान अनुभूति अज्ञानी की है। जितने वसुतम ज्ञान नीचे थे, अब वे सारे-के-सारे ऊपर आ गये। लोग समझते हैं कि ऊपर से कुछ शक्तियाँ आ जाती हैं। साधारण आदमी यह समझता है, लेकिन आता कुछ नहीं है, पहले से ही मौजूद हैं, लेकिन दबी हुई थीं, प्रकट नहीं थीं, क्योंकि उनकी तरफ दृष्टि

नहीं थी। जो अधिष्ठान आवृत था, ढका हुआ था, वह अब ढका हुआ नहीं है। अब रस्सी साफ दीख रही है, लेकिन धीरे-धीरे कल्पना साँप की कर रहा है, तभी कहता है कि यह चौड़ा हिस्सा मुँह था, मुड़ा हुआ फन इत्यादि था। धीरे-धीरे ऊपर को देखने की कोशिश कर रहा है। जब तक रस्सी आवृत थी, साँप दीखता था, रस्सी का पता नहीं था। इसी प्रकार अब कल्पना करके नाम-रूप दीखते हैं लेकिन उसे एकमात्र शिव ही दीखता है, एकमात्र अधिष्ठान आत्मा के सिवाय उसे कुछ नहीं दीखता। लेकिन फिर कहता है कि यह भेद इस-इस प्रकार का है, अर्थात् तब प्रयत्न करके भेद दीखता है। इसीलिये पहले प्रेय तो उसे दीखता था, प्रेय अध्यस्त है, और श्रेयरूप अधिष्ठान दबा हुआ था। जब शास्त्र कहता है कि श्रेय का काम करो तो आदमी कहता है 'महाराज! सत्य बोलना अच्छा है, श्रेयस्कर है; लेकिन झूठ के बिना आज का काम नहीं चलता।' प्रेय झूठ बोलना दीख रहा है, प्रत्यक्ष-सिद्ध है और सत्य बोलना शास्त्र-सिद्ध है। 'तुम कहते हो रस्सी है, लेकिन मुझे साँप दीख रहा है।' यही स्थिति झगड़े का कारण है। अब तक प्रेय तो प्रत्यक्ष दीखता है संसार के पदार्थों से लाभ होता दीखता है लेकिन श्रेय गुरु के कहने और वेदांत वाक्य से माना जाता है क्योंकि अधिष्ठान तत्त्व भी ज़रूरी है। अब श्रेय दीखता है, श्रेय के अन्दर ही प्रेय है, पता लगता है कि क्यों प्रेय श्रेय ही है। इसलिये उसकी श्रेय दृष्टि कभी नहीं हटती।

एक राजा था, उसका नाम भीमसेन था। उसका एक मंत्री था जिसका नाम मतिसागर था। दोनों कहीं जा रहे थे। जब उज्जैन के पास से निकले तो देखते हैं कि एक बहुत बड़ा शहर है। दूर से देखा तो बड़े खुश हुए कि आज यहीं आराम करेंगे। लेकिन शहर में पहुँचे तो देखा कि शहर बिलकुल सूना पड़ा हुआ है। बड़ा आश्चर्य हुआ कि सारा शहर कैसे सूना पड़ा है? थोड़ा आगे बढ़े तो एक बहुत भारी आलीशान महल था। उसके बगीचे में एक शेर एक आदमी को अपने पंजे में दबाकर धीरे-धीरे खा रहा था। भीमसेन ने उस शेर को मारने और आदमी को बचाने के लिये झट अपनी तलवार सम्भाली। वह शेर हँस पड़ा और बोला 'राजन्! मैं कोई साधारण शेर नहीं हूँ जो तलवार से मार दोगे! में तो राक्षस हूँ। इस शहर के सारे आदमियों को मैंने खा लिया है। अब इस राजा को अंग-अंग करके खाना बाकी है। तू यहाँ से चला जा, यहाँ मत रह।' राजा भीमसेन ने पूछा कि 'बात क्या है, क्यों खा रहा है?' शेर ने कहा 'यह एक शहर है जिसका नाम हेमपुर है और जिसे मैं खा रहा हूँ, यह यहाँ का राजा है। इसका नाम हेमरथ है। इसके गुरु का नाम चण्ड था और वह नाम से ही चण्ड नहीं, व्यवहार से भी बड़ा क्रूर था। उसी पुरोहित गुरु के कहने के कारण राजा भी अपना सारा राज्य उसके अधिकार में देकर खुश था, क्योंकि क्रूर आदमी राज्य-व्यवस्था को बाहर से बड़ी सफलता से चलाता है। 'बाहर से' इसलिये कि जैसे ही वह ऊपर का दबाव जाता है, वैसे ही फिर प्रजा में अत्यंत अव्यवस्था आ जाती है क्योंकि दिल का सहयोग नहीं होता। जैसे जो पिता घर के अन्दर हमेशा लोगों के ऊपर

दृढतर शासन करता है, वह जब या तो बुड्ढा हो जाता है या जब वह मर जाये तब उस घर के अन्दर सारे अनिष्ट कार्य होने लगते हैं, क्योंकि समझा कर नियंत्रण नहीं किया था, दबाव के कारण किया था। जैसे ही दबाव हटा, फिर वैसे-के-वैसे, या पहले से भी बुरे हो जाते हैं। लेकिन बहुत से लोग इस बात को नहीं समझते। केवल राज्य में ही नहीं, बहुत से लोग अपने मन को हठ से दबाते रहते हैं, समझाते कभी नहीं कि इस चीज़ में क्या बुराई है। नतीजा यह होता है कि जब कभी मौका मिलता है और वह दबाव हटता है तो फिर मन वैसे ही वैषयिक प्रवृत्ति करने लग जाता है। इसलिये विचारशील मन को कभी दबाता नहीं। भगवान् वशिष्ठ कहते हैं 'लालयेत् न तु ताडयेत्' मन को तो लाड़ लड़ाना चाहिये, डण्डा मार-मार कर मन वश में नहीं होता।

चूंकि उसका पुरोहित बाहर से बड़ा कार्यकुशल था, इसलिये राजा कहता था कि इसी को राज्य चलाने दो, खुद मौज करता था। राजा स्वभाव से खोटा नहीं था लेकिन प्रमादी हो गया, सोचता था 'अपने आराम से बैठो, राज्य तो यह चलाता ही है'। चण्ड अधिकाधिक दुष्कर्म करने लगा। अंत में उसने मातंगी नाम की चाण्डालिनी के साथ बुरा सम्बन्ध कर लिया। दुष्कर्म करने लगा। किसी ने आकर राजा से कहा कि 'यह आपका पुरोहित बना हुआ है लेकिन चाण्डालिनी के साथ ऐसा दुष्कर्म करता है।' राजा को रात्रि में ले गये, देखा तो राजा को बड़ा क्रोध आया कि 'मैं तो इसका बड़ा विश्वास करता था। यह बड़ा नालायक निकला।' दूसरे दिन राजा ने पुरोहित को बुलाकर कहा कि 'मैंने तेरे भरोसे राज्य छोड़ा और तू ऐसा दुष्कर्म करता है! राजा ने उसे जूट में बाँध दिया और खौलते तेल में डलवा दिया। वह था तो भयंकर पापी, उसे प्रायश्चित्त करने का मौका भी नहीं मिला, मौका मिलने पर भी करता या नहीं करता, क्या पता? वह वहीं मर गया।

मरकर वह राक्षस बना क्योंकि दुष्कर्मी था। उसका नाम सर्वगिल (सब चीज़ों को निगलने वाला) था। उसी ने इस सारे शहर को ख़त्म कर दिया। अब वही मैं शेर बनकर अपने इस अंतिम भक्ष्य को खा रहा हूँ। बाकी सबको तो मैंने ख़त्म कर दिया है। 'राजा भीमसेन ने कहा कि 'तू इतना पापी है तो तेरे से मेरे को कोई डर नहीं है।' संसार में पापी से कभी नहीं डरना चाहिये। जिस दुश्मन पर दो तरफ से आक्रमण हो उस दुश्मन से डरना व्यर्थ है। जो पापी होता है उसको एक तो अंदर का मन धिक्कार देता रहता है, और दूसरी तरफ सारा समाज उसपर थू-थू करता रहता है। दो तरफ से आक्रान्त पापी कभी नहीं डरा सकेगा। जैसे चोर घर में आया हुआ हो और बुड्ढा आदमी खखार करे तो डर जाता है, क्योंकि अन्दर से मन धिक्कार रहा है और बाहर से भी डर रहा है कि कोई देख लेगा। पापी के सामने थोड़ा-सा ज़ोर से बोलो तो ठण्डा पड़ जाता है। जब कहते हैं कि 'ब्लैक मार्केट करने वाले बड़े जबरे हैं' तो हम कहते हैं कि इनसे नहीं डरो, क्योंकि इनको मन से और समाज से दोनों से धिक्कार मिलता है। ये तो वैसे ही मरे

हुए हैं, इसलिये इनसे न डरो। इनको छुट्टी दोगे तो ये मन के धिक्कार और समाज के धिक्कार से खुद ही हटने लगेंगे। राजा भीमसेन ने कहा कि 'मैं तेरे से नहीं डरता। यह मेरी जाति का राजा है, इसे मैं बचाऊँगा।' उसने उस शेर को मार डाला। वह शेर राक्षस ही था। राक्षस को मारने पर उसके मन में आया कि अब यह सारा गाँव भी ठीक करना चाहिये। उसने तीन वर्ष तक वहाँ सारे सत्कार्य करवाये, वेदपाठ, यज्ञ, दान, तप आदि करवाये। धीरे-धीरे सारे शहर में फिर लोग बसने लग गये। शुभ स्थान पर सारे-के-सारे बसने आ जाते हैं। फिर से वह शहर बन गया। पुनः वह राजा वहाँ का राज्य करता रहा और भीमसेन अपने राज्य को वापिस चला गया। यह एक कथा है।

भीमसेन वस्तुतः वेद की जगह है और उसका मंत्री मतिसार मति (युक्ति) है। वेद और युक्ति, जिसको दोनों मिले हुए हों, वह कभी कहीं परास्त नहीं होता। इसीलिये मनु महाराज ने नियम किया है 'युक्तिहीन विचारेण धर्महानिःप्रजायते।' जो युक्ति से रहित होकर वेद का विचार करता है, वह धर्म का नुक्सान करता है, फ़ायदा नहीं करता। बहुत बार लोग कहते हैं कि क्या कारण है कि आज के जन-जीवन में धर्म का इतना प्रचार होने पर भी धर्म की हानि देखने में आती है? उसका कारण यही है कि युक्ति- सहित होकर धर्म का विचार नहीं है। इसलिये वह नुक्सान देता है। हमेशा वेद को समझने के लिये युक्ति रूपी औजार का प्रयोग करना चाहिये नहीं तो गड़बड़ा जाओगे। सामान्य आदमी की भी बात समझनी हो तो युक्ति लगानी पड़ती है। माँ कई बार गुस्सा होकर लड़के को कहती 'मर जा, राम मारिया!' इसका मतलब यह नहीं कि वह ज़हर खा ले। मतलब युक्ति से है कि अमुक काम मत कर। लड़का कोई बुरा कर्म करने जाता है, शराब पीता है तो बाप कहता है कि 'शराब पीनी है तो मेरे घर मत आना।' मतलब यह नहीं कि दूसरा फ्लैट लेकर शराब पिया कर! मतलब यह है कि शराब मत पिया कर। युक्ति होगी तब यह मतलब समझ में आयेगा। जहाँ भीमसेन और मतिसागर अर्थात् वेद और युक्ति दोनों साथ हैं वहाँ कभी हार नहीं होती।

हेमपुर प्रत्येक प्राणी का अपना शहर है। यह हेम (सोने) का नगर है। बड़ा सुन्दर नगर है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर आठ दरवाजे वाला (पुर्यष्टक) हेमपुर है जैसे दिल्ली चार दरवाज़ों वाली है। हेमपुर में रहने वाला राजा हेमरथ है, जो इसको चलाने वाला है लेकिन इसने चण्ड के हाथ में अधिकार दे रखा है। काम, क्रोध, लोभ चण्ड हैं, उनके हाथ में अधिकार दे रखा है। जो काम, क्रोध, लोभ कहें, वही इस राज्य में चलता है। ये तीनों अत्यंत दुष्ट प्रकृति के हैं इसलिये ये चण्ड हैं और इनके हाथ में राज्य देकर मनुष्य खुश होकर कहता है कि 'आज मेरे मन की बात हो गई।' उसे दुःख नहीं होता कि 'मन की तो बात हो गई, मेरा क्या बनेगा!' काम, क्रोध से प्रयुक्त होकर चलना ही प्रेय मार्ग हो गया। इसीलिये श्रेय मार्ग से दूर हुआ है। इस चण्ड मन ने काम, क्रोध, लोभ से युक्त होकर चाण्डालिनी मातंगिनी से सम्बन्ध कर रखा है। मातंग हाथी को कहते

हैं, हाथी कभी नहीं भूलता। इसी प्रकार हमारे अनुभवों की वासनायें ही मातंगी हैं। लोग कहते हैं कि 'मैं सिनेमा देखता हूँ लेकिन मेरे ऊपर कोई असर नहीं पड़ता।' ऐसा कभी हो सकता है! कोई कहे कि 'मैं कैमरे से फोटो लेता रहता हूँ, कैमरे में फिल्म (रील) भी है, लेकिन फोटो नहीं आती,' तो कभी नहीं हो सकता। जो चीज़ भी देखोगे, वह कभी भूलने वाली नहीं है, वह अपनी वासना ज़रूर डालेगी। काम-क्रोध रूपी चण्डाकार मन ने वासना (मातंगी) से रिश्ता जोड़ रखा है। वासना में फँसा हुआ उसी के अनुसार चलता है।

किसी समय में आत्मा कहता है कि मुझे इससे छूटना है तो पता लगता है कि जब देखो वासना के पीछे दौड़ता रहता है। अभी इसे वेद और युक्ति नहीं मिले। इसको चलाने वाले जीव (हेमरथ) को होश आता है तो मन-रूपी चण्ड को बाँधकर खौलते तेल में डाल देता है, अर्थात् इस मन को जबरदस्ती कष्ट देता है। जितना हठ योग का अभ्यास है, यह सारा मन को बाँधकर तलने की तरह है। हम खायेंगे नहीं, हम अमुक काम नहीं करेंगे तो अंदर-ही-अंदर मन तड़पेगा। अब उस अपूर्ण कामना से भरे हुए मन को कामना पूर्ण करने का मौका तो मिला नहीं, इसलिये वह अब राक्षस बन जाता है। ताड़ना के द्वारा मन बजाय वश में होने के और भयंकर हो जाता है। रावण आदि के जीवन में देखो; उन्होंने मन पर बड़ा नियंत्रण किया लेकिन हठयोग से किया, जिसका नतीजा यह हुआ कि अपने सारे कुटुम्ब को मरवा दिया। आज का मनोविज्ञान भी बार-बार यही कहता है कि रिप्रैशन (विवेकहीन निग्रह) बड़ा बुरा है। हठयोग के द्वारा इसे रोकने से यह सारी-की-सारी अधश्चेतना बनती जाती है। हठ के द्वारा यह उन्मूलित नहीं होता। संसार में अधिकतर मत-मतांतर कहते हैं कि हठ से करो, लेकिन उसका कुछ फ़ायदा नहीं होना है। अब इसका नतीजा यह हो गया है कि ईश्वर की सोने जैसी सृष्टि उजड़ी पड़ी है। न अपने अन्दर चैन और न तुम्हारे से दूसरे को चैन मिलता है। नींद लाने के लिये लोग गोलियाँ खाते हैं। कितनी सुन्दर परमेश्वर की सृष्टि है, वातानुकूल कमरे में मखमल के गद्दे पर सोया हुआ, रेफ्रिज्रेटर से ठण्डी-ठण्डी नीबू की शिकंजी आ रही है, और फिर कहता है 'डाक्टर साहब! नींद नहीं आती।' पूछते हैं क्या हो गया, क्या एयरकण्डिशनर खराब हो गया? कुछ नहीं, मन खराब हो गया था, सारे-के-सारे दुःख हैं। कारण यही है कि अधश्चेतना में मन को नियंत्रित करके अन्दर दबाया गया है। सब कुछ हेमपुर में है लेकिन सुख और शान्ति नहीं। बाकी सब चीज़ें हैं, संसार की कोई चीज़ ऐसी नहीं जो न मिलती हो। हमारे एक सज्जन कहते हैं कि संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं जो पैसे से न मिले। हम कहते हैं बिना पैसे के सुख और शान्ति मिलती है। चाहे जितना पैसा दो लेकिन शान्ति नहीं मिलने वाली है। वह दबा हुआ मन रूपी राक्षस जिसे तल दिया गया है, वह मन इस आत्मा (जीव) के अंग-अंग को नोंच कर खा रहा है। इसके अनंत और आनंद रूप को, अभय और अशोक रूप को खा रहा है। इसलिये यह बेचारा शोक वाला, भय वाला और परिच्छिन्न बना हुआ है, और दुःखी बना हुआ है। प्रेय का सारा-का-सारा दबा

हुआ मामला इसे खा रहा है।

वहाँ पर किसी काल में भीमसेन और मतिसागर, वेद और युक्ति का विचार सामने आ जाता है तब इस राक्षस बने हुए चण्ड को वेद कहता है कि 'तेरी भी मुक्ति कराऊँगा। अरे मन, तू काम, क्रोध आदि के कारण बड़ा परेशान है। तू भी बड़े मज़े में नहीं है, तेरी चलती ज़रूर है लेकिन सुख और शान्ति तेरे को भी नहीं।' जब यह समझता है तो उस राक्षस की भी मुक्ति करवा देता है, मन भी संतुष्ट हो जाता है। जब परमात्मा की तरफ जाता है तो अधश्चेतना की कामना कहीं जाती नहीं, लेकिन अब इसे पता लग गया कि कामना किसकी करूँ। कहते हैं कामना ही करना चाहता है तो 'आत्मकामः' आत्मा की कामना कर। बड़ा गुस्सा आता है। कोई बुरा नहीं, गुस्सा कर, लेकिन अनात्मा पर सारा क्रोध निकाल ले। लोभ कर, ना नहीं करते, शम, दम आदि सब का खूब लोभ कर, कोई मना नहीं! अब मन भी संतुष्ट हो जाता है। राक्षस की मुक्ति हो जाती है। शहर पुनः बस जाता है, जीवन्मुक्ति का आनंद आने लगता है, उजड़े शहर में पुनः सुख और शान्ति छा जाती है। मन के गहनतम तत्त्वों से सुख-शान्ति आनी है। आत्म-तत्त्व खुलने पर सुख और शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसी को धन्य कहा है।

## प्रवचन-४१

२६-४-७२

परब्रह्म-महिषी संवित्-स्वरूपिणी भगवती की पराभक्ति कौन करते हैं? जो धन्य होते हैं। धन्यता का तात्पर्य बताया, जो कृत-कृत्य होते हैं, जिन्होंने प्रापणीय प्राप्त कर लिया उन्हीं के द्वारा यह पराभक्ति सम्भव है, क्योंकि उनकी ऊर्ध्वचेतना की पूर्ण सफलता और पूर्ण विजय अधश्चेतना के ऊपर हो गई, प्रेय सर्वथा श्रेय के द्वारा जीत लिया गया। श्रेय ही प्रेय का रूप लेकर अब प्रतीत होता है। श्रेय और प्रेय दोनों में अद्वैत (अद्वितीयता) हो गया। अब श्रेय ही उसका स्वभाव बन गया, 'न तु साधनरूपिणः' जैसा कि भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं, कि अब उसके लिये श्रेय साधन नहीं है बल्कि अब वह उसका स्वभाव हो गया है। इसीलिये द्वैतमूलक अविद्या से प्रयुक्त जितना तनाव था वह सब समाप्त हो गया, कोई तनाव रहा नहीं। इसलिये सारी शक्तियाँ सृजनात्मक हो गईं, सृजन के लिये उपलब्ध हो गईं।

मन की शक्ति के ऊपर कुछ रुकावट नहीं रही, चित्त की सारी रुकावटें समाप्त हो गईं, इसीलिये ऐसा व्यक्ति अब अपने किसी भी प्रयोजन के लिये कार्य नहीं कर सकता। ब्रह्म क्या करता है? वह सद्रूप है, इसलिये ब्रह्म है, तो अपने आप पदार्थों में सत्ता का संचरण है। यदि कोई कहे कि 'ब्रह्म रहे और किसी को सत्ता न दे', तो यह कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि सत् उसका स्वभाव है। इसी प्रकार ब्रह्म का स्वभाव चित् (ज्ञान) है। पदार्थ ब्रह्म के सामने आये और ब्रह्म उसको प्रकाशित न करे, यह कभी नहीं हो सकता है। इसलिये जीवन्मुक्त हो, चाहे ईश्वर हो, पदार्थ सामने है तो उसका ज्ञान अवश्य है। सारे प्राणी उसको प्रमाता बनकर जानते हैं। ईश्वरभाव में स्थित हुआ जीवन्मुक्त हो अथवा साक्षिभास्य रूप से जानता हो, लेकिन पदार्थ का प्रकाश तो है ही। क्योंकि जो कुछ वह जान रहा है उससे भिन्न कोई ज्ञातव्य उसके लिये नहीं है अतः ज्ञेय साक्षिभास्य है। अभी हमारी दृष्टि है कि हम जो जान रहे हैं उससे भिन्न कुछ है। चाँदनी चौक में हमारी दुकान है। जिसमें ताला बन्द है। यह प्रमाता की कल्पना है। बस यही बन्धन है। चाँदनी चौक में दुकान है, यह मानना उतनी ही बड़ी भूल है जैसे स्वप्न से उठकर यह मानना कि वहाँ तिजोरी में लाख रुपये छोड़ आये! जब ज्ञान होता है तब पता है कि अज्ञात कुछ नहीं है। इसलिये चाँदनी चौक की दुकान यदि होती तो ज्ञात होती या सामने प्रकाशित होती। साक्षी द्वारा प्रकाशित न हो और कोई चीज़ बनी रहे, यह नहीं हो सकता। आँख से देखने की बात नहीं कर रहे हैं, साक्षिभास्य की बात कर रहे हैं। आँख से तो प्रमाता देखेगा।

जब तक तुम अहं में बैठे हुए हो, तब तक तुमको ब्रह्म का प्रकाश चाहिये। तुम प्रकाश देने वाले नहीं हो, पाने वाले हो। प्रमाता स्वयं-प्रकाश नहीं है। प्रमाता तो ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित है। इसलिये जब तक तुम अहं, मन, बुद्धि, चित्त, देह इत्यादि के साथ हो, तब तक

तुम प्रकाश्य हो। अहं भी तो साक्षिभास्य ही है। ज्ञान के पूर्व इन्हीं में से किसी पर बैठे रहते हो। ज़्यादा-से-ज़्यादा अहं तक पहुँचते हो। वहाँ भी सांख्यवादी (योगी) ही पहुँच पाता है, नहीं तो साधारण आदमी शरीर में ही बैठा रहता है। जब तक इनमें रहोगे तब तक प्रकाश्य हो। जब इनसे हटकर साक्षिभास्य में चले गये, तब ये प्रकाश्य बन गये और तुम 'प्रकाश' बने। तुमको प्रकाशक तो अहं इत्यादि करते हैं। सूर्य प्रकाशक नहीं, सूर्य तो प्रकाशरूप है। प्रकाशरूप सूर्य से तुम प्रकाश्य बनकर उसे प्रकाशक *कहते* हो। इसी प्रकार से तुम चिन्मात्र से एक हो गये तो तुम केवल ज्ञानमात्र हो। लेकिन जितनी उपाधियाँ हैं, चूँकि तुमसे ज्ञान ग्रहण करती हैं, इसलिये ये तुम्हें ज्ञाता समझती हैं। साक्ष्य की अपेक्षा से साक्षी है, स्वरूप से तो *साक्षी* भी नहीं है! साक्षी है, इसलिये बाकी सब हैं। जैसे प्राण कुछ नहीं करता, लेकिन प्राण है तो शरीर की सारी इन्द्रियाँ काम करती हैं, प्राण कोई आँख में जाकर देखता हो, या कान में जाकर सुनता हो, ऐसी बात नहीं, लेकिन प्राण है तो आँख देखती है और कान सुनता है; इसी प्रकार ब्रह्म है तो सब चीज़ें प्रकाशित होती हैं। ब्रह्म प्रकाशक नहीं है। जब तक अहं इत्यादि वृत्ति से युक्त हो तब तक तुम प्रकाश ग्रहण करने वाले हो, जब ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो तब ये सारे तुम्हारे द्वारा प्रकाश ग्रहण कर रहे हैं।

एक कदम आगे चलो : तुम्हारा तीसरा स्वरूप क्या है? तुम्हारा तीसरा स्वरूप आनंद है। अब तक तो तुमको आनंद लेना था; मन बुद्धि, चित्त अहंकार कहीं भी बैठे हुए थे तो तुमको ब्रह्म से आनंद लेना था, जैसे ज्ञान लेना था। जब ब्रह्म स्वरूप में स्थित हो गये तो तुम आनंदरूप हो और सारा जगत् तुम से आनंद लेगा। इसलिये यदि ईश्वर या ज्ञानी को दुनिया देखेगी तो आनंददाता रूप से देखेगी। जैसे सूर्य को जब देखोगे तो तुमको सूर्य प्रकाशक ही दीखेगा। स्वरूप से प्रकाशक न होने पर भी प्रकाश्य को तो वह प्रकाशक ही प्रतीत होगा। इसी प्रकार से ब्रह्म ज्ञाता नहीं लेकिन ब्रह्म से अतिरिक्त जितने हैं उनको तो वह ज्ञानदाता ही दीखेगा। इसी प्रकार से ब्रह्म आनन्द देने वाला नहीं है, वह तो आनन्दस्वरूप है, लेकिन सारे जगत् को वह आनंददाता ही दीखेगा।

उसके इस आनंददाता रूप को गीता में भगवान् ने लोकसंग्रह कहा। भगवान् ने बताया कि मेरे को कुछ कर्त्तव्य नहीं, कुछ ज्ञातव्य नहीं, फिर भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ, ताकि यह सारी प्रजा उससे उच्छिन्न न हो। अर्जुन ने कहा कि 'आप अपने को परब्रह्म परमात्मा कह आये हैं, आप भले ही कर्म करते रहें, इससे मेरे लिये क्या आया?' अतः उससे अगला ही श्लोक भगवान् का है 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः' ये सारे लोक उत्सन्न हो जायेंगे। आगे कहते हैं 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्'।।(३-२५) भगवान् कहते हैं इसलिये जो-जो विद्वान् हों वे 'कुर्यात्' अर्थात् करें। क्यों करें? उसका तो कोई प्रयोजन नहीं रहा। जैसे ब्रह्म का प्रयोजन

तो कुछ नहीं रहा, लेकिन जैसे ब्रह्म का स्वभाव है कि उसके सामने पदार्थ आते ही ज्ञान प्रकाशवाला बन जाता है, ऐसे ही आनंद-स्वभाव वाले ब्रह्म के सामने जो आया वह आनंदरूप बन जाता है। यह उसका कर्त्तव्य नहीं है लेकिन हो ही नहीं सकता कि न बने। इस श्लोक में एक बात बड़ी विचित्र है कि ऊपर भगवान् कहते हैं 'कुर्यात् विद्वांस्तथाऽसक्तः' और नीचे कहते हैं 'चिकीर्षुर्लोकसंग्रहं' लोकसंग्रह की *इच्छा करने* वाला करे। भगवान् ने यहाँ 'यदि' पद नहीं लगाया है। कई लोग इस श्लोक की व्याख्या करने में कहते हैं कि यदि लोकसंग्रह की इच्छा हो तो करे। 'चिकीर्षु' का मतलब होता है करने की इच्छा वाला; इसलिये कुछ लोग कहते हैं कि यदि लोकसंग्रह की इच्छा है तो करे। लेकिन न भगवान् ने 'यदि'-पद लगाया है और न कृष्ण को जानने वाले सर्वज्ञ भगवान् शंकर ने यदि-पद लगाया है।

कारण क्या है? भगवान् भाष्यकार इसी भाष्य में लिखते हैं 'कृतार्थबुद्धिः आत्मवित् अन्यो वा तस्यापि आत्मनः कर्त्तव्याभावेपि परानुग्रह एव कर्त्तव्यः।' आत्मवेत्ता को कृतार्थ-बुद्धि हो गई, उसे अब कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा, उसके सारे प्रयोजन ख़त्म हो गये। अब तक तो अहं इत्यादि में बैठे हुए उसे ज्ञान लेने का प्रयोजन था। जब तक जीवभाव में हो तब तक ज्ञान लेने का प्रयोजन है, क्योंकि अपने लिये ज्ञान चाहिये। जब ब्रह्म हो गये तो ज्ञान देना प्रयोजन हो गया। यदि ज्ञान नहीं दे सके तो ब्रह्म नहीं रह सकेगा! इसी प्रकार से जब तक जीवभाव में था तब तक आंनद लेना प्रयोजन था, अब ब्रह्मभाव में, आनंद देना प्रयोजन हो गया। अभी, प्रयोजन मायने 'मुझे क्या मिलेगा?' संसार के लोग रात-दिन यही सोचते रहते हैं। पूछो 'अमुक काम क्यों कर रहे हो?' हमेशा उसका जवाब आता है कि 'इससे मुझे यह फ़ायदा होगा।' लौकिक (सांसारिक) व्यक्ति का प्रयोजन या उद्देश्य कुछ पाना ही होता है। मुक्त तो कृतार्थबुद्धि हो गया, इसलिये क्या मिलेगा यह प्रयोजन उसका रह ही नहीं गया। उसका प्रयोजन रह गया कि क्या देगा। अब उसका रात-दिन यही विचार है कि मैं क्या दूँ। जिस प्रकार से जीवभाव में तुमको नित्य प्रकाश की अपेक्षा है, ज्ञान की अपेक्षा है, ऐसे ही आनंद की अपेक्षा है। तंत्रालोक में बताया है कि जब तक कृतार्थ-भाव को प्राप्त नहीं होते तब तक दूसरे के लिये कुछ करना असम्भव है!

'स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयन् लोक एष प्रयत्नात्
नो पारार्थ्यं प्रतिघटयते कांचन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु त्यक्ताऽऽत्मनिखिलमलः प्राप्तसम्पूर्णबोधः
कृत्यं तस्य स्फुटतरमिदं लोककर्त्तव्यमात्रम्।।'

चाहे थोड़ी से थोड़ी भी कहीं बुद्धि यह है कि 'यह मुझे करना है' तब तक कितनी भी चेष्टा करो, तुम्हारा प्रयत्न तो उस स्व-अर्थ के लिये ही रहेगा। यदि मोक्ष भी चाहते हो तो मोक्ष के

लिये, अंतःकरण की शुद्धि चाहते हो तो अंतःकरण की शुद्धि के लिये, ज्ञान चाहते हो तो ज्ञान के लिये, मनोनाश चाहते हो मनोनाश के लिये, वासना-क्षय चाहते हो तो वासना-क्षय के लिये; इन सबके लिये प्रयत्न है। यदि किंचित् प्राप्तव्य है तो सारे-के-सारे काम का वह प्रयोजन है, उसी को लेकर सारी प्रवृत्ति करोगे। इसलिये उसके पहले यह कहना कि 'मैं दूसरे के लिये कर रहा हूँ' गलत है। दूसरे के लिये कुछ नहीं कर रहे हो, कोई भी वृत्ति तुम्हारी वस्तुतः दूसरे के लिये नहीं बनेगी, क्योंकि जो-जो करोगे, अंत में यही आयेगा कि 'इसका मेरे ऊपर क्या असर आना है'।

आजकल जगह-जगह समाजसेवा चलती है, पर होता क्या है? बंगला देश में जो माल जा रहा है, उसमें से बीच से माल गायब! आसाम में फौज के लिये रजाइयाँ जा रही हैं तो बीच से माल गायब। बेचारे समाजसेवा तो कर रहे हैं लेकिन अभी अपना ही पेट नहीं भरा है तो दूसरे को क्या देंगे? जहाँ अखिल कर्त्तव्यबुद्धि, अखिल संसार के प्रति कर्त्तव्यबुद्धि का मूल नष्ट हो गया, जिसको कुछ भी नहीं चाहिये, वही परार्थ कर सकता है। क्यों नहीं चाहिये? क्योंकि 'नानावाप्तमवाप्तव्यं' सब मिला हुआ है। यह वह 'नहीं चाहिये' नहीं समझना जो हमारे दशाश्वमेध घाट के कंगलों में आता है। यहाँ तो यह निश्चय है कि सारे मुझसे आनंद ले रहे हैं तो मैं चाह क्या सकता हूँ! सूर्य की कभी इच्छा नहीं होती कि थोड़ी-सी रोशनी मुझे मिल जाये! जिसने सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, अपने आप की ब्रह्म-धी उसकी नित्य-निरंतर प्रतिक्षण स्थिर है। अब उससे रोशनी निकलती है, जैसे सूर्य से निकलती है। अब, केवल लोक के लिये ही उससे सब कुछ हो रहा है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा कि आत्मवेत्ता कृतार्थ-बुद्धि हो चुकता है। चाहे भगवान् हों, चाहे जो भी आत्मवेत्ता हो, उसका अपने आत्मा के लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, अन्यों के ऊपर अनुग्रह ही उसका एकमात्र कर्त्तव्य रह जाता है। यहाँ भगवान् भाष्यकार ने 'एव'-पद लगाया है।

प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा क्यों? कभी सोचकर देखो कि ज्ञान की प्राप्ति कहाँ से होती है? साधारण आदमी समझता है कि ज्ञान ब्रह्माकार वृत्ति से होता है। लेकिन ब्रह्माकार वृत्ति से ज्ञान नहीं है। ब्रह्माकार वृत्ति में उपारूढ ब्रह्म ही ज्ञान देने वाला है। इसीलिये ज्ञान को केवल ईश्वर की कृपामात्र से लब्ध माना गया है। जैसे, लगता है कि कागज़ को सूर्यकान्त मणि (आतशी शीशा) जला रही है लेकिन विचारशील जानता है कि आतशी शीशा कागज़ को नहीं जलाता, सूर्य जलाता है, सूर्य की किरणें ही उसमें से निकल कर कागज़ को जलाती हैं। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति में उपारूढ ब्रह्म ही तुम्हारे अज्ञान को नष्ट करता है। वृत्ति तो बेचारी खुद ही अज्ञान से उत्पन्न होती है, वह क्या अज्ञान नष्ट करेगी! वृत्ति आवश्यक है लेकिन अज्ञान को नष्ट करने वाला तो ब्रह्म ही है। ब्रह्म ने तुम्हारे अज्ञान को नष्ट किया क्योंकि ब्रह्म का स्वभाव ही अज्ञान को नष्ट करना है। तुम कहते हो कि 'हमारे अज्ञान को नष्ट करने तक तो

ब्रह्म का यह स्वभाव बहुत बढ़िया था। अब उसके बाद उसका यह स्वभाव बन्द हो जाना चाहिये।' यह ईसाइयों का सिद्धान्त है। उनके गोड (God) ने एक क्राइस्ट को पैदा किया, फिर उसके बाद और किसी को नहीं। ईसा को वे ईश्वर का इकलौता उत्पादित पुत्र मानते हैं (The only begotten son of God)। इसी प्रकार, जो कहता है कि 'ज्ञान होने के बाद में दूसरे को ज्ञान, आनंद क्यों दूँ, मेरा काम तो बन गया!' वह कहना चाहता है कि 'मेरी ब्रह्माकार वृत्ति में उपारूढ होने तक तो ब्रह्म का यह स्वभाव था, लेकिन अब मेरा अज्ञान नष्ट होने के बाद उसका स्वभाव बदल गया।' किन्तु उसका स्वभाव कभी नहीं बदलने वाला है। शुक, वामदेवादि के ब्रह्मज्ञान के बाद भी उसका स्वभाव बना रहा, न बना रहा होता तो हमारा अज्ञान कहाँ से नष्ट होता! अतः अब भी उसमें कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। इसलिये ज्ञान और आनंद का प्रवाह उसमें से निकलता ही रहेगा, यह उसका स्वभाव है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा कि उसके स्व-प्रयोजन का सर्वथा अभाव होने पर भी परानुग्रह उसका स्वभाव हो गया, जिसे किये बिना वह नहीं रहेगा।

जब तक ज्ञान की अभिलाषा थी, तब तक तो ज्ञान चाहिये था। अभिलाषा इसलिये थी कि स्वयं में ज्ञान नहीं था। जो चीज़ नहीं होती, उसी की अभिलाषा होती है। जब ज्ञान प्राप्त हो गया, ज्ञान तुम्हारा स्वभाव हो गया तो ज्ञान तुमसे प्रवाहित होकर सबको मिलने लग गया। इसी प्रकार से इच्छा भी तो तुम्हारा स्वभाव है, चित् का स्वभाव अप्रतिहत इच्छा है। यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म को ज्ञान नहीं है, ब्रह्म का ज्ञान इसी से प्रकाशित होता है कि दूसरे पदार्थों को उससे ज्ञान मिल रहा है। इसलिये ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने वाला तो नहीं है, लेकिन उसका ज्ञान दूसरों को विषय करता है। किस रूप से विषय करता है? उनको प्रमाता बनाने के रूप में विषय करता है। यदि ब्रह्म का प्रकाश न होता तो तुम प्रमाता न बनते। ठीक इसी प्रकार से अब उसकी स्वकीय इच्छा पूर्ण हो गई। ब्रह्म बनने के पहले तो तुमको ज्ञान की प्राप्ति की ज़रूरत थी, अब तुम्हारा ज्ञान स्वाभाविक हो गया। इसी प्रकार से ब्रह्मप्राप्ति के पहले तो तुम्हारे अन्दर इच्छा थी कि मुझे कुछ प्राप्त हो। अब उसके बाद इच्छा इस रूप में रह जायेगी कि प्राणिमात्र के अन्दर इच्छा मुझे लेकर है। इसलिये उन सारी इच्छाओं का विषय मैं हो गया। जैसे ज्ञान पलट गया, उसी प्रकार इच्छा पलट गई। अब तक तो इच्छा नित्य-निरंतर किसी दूसरी चीज़ को विषय करती थी, अब वह इच्छा अपने आपको विषय करेगी। इसीलिये मुण्डकोपनिषद् कहती है 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' गीता में भी कहा (३.१७) कहा 'यस्तु आत्मरतिरेव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः' रति (इच्छा) उसकी कहीं गई नहीं है। केवल यह हुआ कि अब तक तो इच्छा ढूंढती थी, अब ढूंढती नहीं है, अब तो मैं वह 'इच्छा' हूँ, जिसके द्वारा सब मुझे ढूंढ रहे हैं। प्रमाता मुझे किस तरह से जानता है? मेरे प्रकाश से प्रमाता बना हुआ ही तो मुझे जान रहा है। इसी प्रकार से मेरी इच्छा से इच्छावाला होकर मेरा आनंद लेना चाह रहा है। इसीलिये वह उसका स्वभाव

हो गई। जैसे वह सत्ता और चित्ता को प्रदान करता है, वैसे ही अपने लिये इच्छा की ज़रूरत नहीं पर इच्छा उसका स्वभाव है, इसलिये वह दूसरों के काम में आ जायेगी। अब उसका प्रतिक्षण का कार्य लोकसंग्रह हो जायेगा।

लोकसंग्रह मायने क्या? भगवान् भाष्यकार गीताभाष्य में लोकसंग्रह का यह अर्थ करते हैं 'लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसंग्रहः' बहुत से लोग 'संग्रह' का अर्थ इकट्ठा करना ही लगाते हैं। जैसे बहुत से लोगों को इकट्ठा कर दो और वे वहाँ भाषण दे दें या फुलके बाँट दें, तो समझते हैं कि लोकसंग्रह को गया! लेकिन भगवान् भाष्यकार ने इस सबको लोकसंग्रह नहीं कहा है। सर्वज्ञ भगवान् शंकर ने लक्षण कर दिया कि लोगों में जो उन्मार्ग की प्रवृत्ति होती है अर्थात् उल्टे रास्ते में जाने की प्रवृत्ति होती है, उसका निवारण ही लोकसंग्रह है। उन्मार्ग-प्रवृत्ति से निवारण का मतलब केवल यह नहीं कि कहते रहो 'यह मत करो।' उन्मार्ग प्रवृत्ति क्यों होती है? सन्मार्ग नहीं मिलता तो आदमी उन्मार्गी बनता है। पहले भी थोड़ा संकेत किया था कि ईमानदारी से व्यापार करके पैसा नहीं मिलता तो चोरबाज़ारी करते हैं। ईमानदारी से वेतन से पूरा नहीं पड़ता तो घूस खाते हैं। उन्मार्ग में मनुष्य की प्रवृत्ति सन्मार्ग न मिलने के कारण होती है। सन्मार्ग क्यों नहीं मिलता? सन्मार्गस्थ मनुष्य को देखकर सन्मार्ग मिलता है। व्यापार करने वाला देखता है कि भरत राम चरत राम या बिरला ने पैसा कैसे कमाया, जिन साधनों से उन्होंने कमाया, उन्हीं साधनों से हम कमायें। जो लीडर बनना चाहेगा वह प्रधानमंत्री को देखेगा कि कैसे बने। झूठ बोलकर बना, तो वह भी झूठ बोलेगा। उन्होंने पार्टी की बात न मानकर जीत लिया तो हम भी पार्टी की बात नहीं मानेंगे अर्थात् जिन साधनों से वह प्रधानमंत्री बना, उन्हीं साधनों से मैं बनूँगा।

लोग हमेशा उन्मार्ग या सन्मार्ग में प्रवृत्ति कैसे करते हैं? भगवान् स्वयं कहते हैं

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।' (३.-२१)

जैसा-जैसा श्रेष्ठ पुरुष आचारण करेंगे, वैसा-ही-वैसा दूसरे करेंगे। वह जिस चीज़ को प्रमाण बना लेगा, लोग भी वैसा ही करेंगे। लोगों से यह कहना कि 'तुम विचार करके निर्णय करना' यह न आज तक हुआ, न कभी होगा! यदि उनमें बुद्धि होती तो तुम्हें श्रेष्ठ किस बात का मानते? आज के प्रजातंत्र के अन्दर तो यही घुन खा रहा है। केवल भारत में ही नहीं, अमरीका, इंग्लैण्ड सब जगह लोग कहते हैं कि पहले की जो चीज़ थी, जो स्तर था, वह सब गिर रहा है, इंग्लैण्ड जैसे देश का आज नैतिक स्तर कितना गिरा हुआ है, आश्चर्य होता है; विश्वास नहीं होता कि यह वही इंग्लैण्ड है। अमरीका की तो बात ही जाने दो। गिरने का कारण यह प्रजातंत्र है। श्रेष्ठ पुरुषों के अनुसार लोगों को बनाओ तो लोग ऊपर जायेंगे। श्रेष्ठ पुरुषों को लोगों के पीछे जाना

है तो उन लोगों को भी नीचे उतरना पड़ेगा। प्रजातंत्र ही पतन का बीज है, इसे कोई नहीं मिटा सकता। भगवान् ने कहा कि वह जिसको प्रमाण बनायेगा, बाकी सब उसको करेंगे। यह लोकसंग्रह हो गया। यह न बड़े-बड़े उपदेश देने से होता है, न बड़े-बड़े भण्डारे खोलने से होता है। यह तब होगा जब हम सन्मार्ग में रहेंगे, तब दूसरों की अपने आप उन्मार्ग की प्रवृत्ति हटेगी। एक बात बताते हैं, जो शराब नहीं पीता है वह शराबियों के कलेजे में शूल की तरह चुभता है। तुम लोग तो सत्संगी हो, ऐसा नहीं करते होगे। किसी के घर गये और उसने पूछा 'शराब सोडा लाऊँ?' तुमने कहा 'मैं नहीं पीता।' यह सुनते ही उसके पैर से सिर तक आग लग जाती है। कहता है 'क्यों नहीं पीते, फलों का रस ही तो है, सोशल ड्रिंकिंग में क्या हर्जा है? सारी दुनिया क्या नरक जायेगी?' क्यों इतना प्रवचन दे रहा है? हम किसी के घर जाते हैं, वह पूछता है 'दूध पियेंगे।' हम कहते हैं 'इच्छा नहीं है।' वह कहता है 'नीबू पानी ले आऊँ?' वह कोई उपदेश नहीं देता। तुमने शराबी को नहीं कहा कि 'तुम मत पियो', लेकिन तुम्हारे वहाँ रहने मात्र से ही उसके शूल चुभता रहता है। क्या कारण है? कोई प्रातःकाल उठकर सत्संग में आये तो सब कहते हैं 'सवेरे-सवेरे उठकर जाते हो, तबीयत खराब हो जायेगी।' और बहू यदि रात में दो बजे सिनेमा देखकर आये, दिन में आठ बजे तक सोई रहे, तो उसको कुछ नहीं कहते। उसको इसलिये नहीं कहते कि वह किसी के कलेजे में शूल नहीं चुभाती; तुम सत्संग में आ गये, इतने मात्र से असत्संगी को शूल चुभता रहता है। तुम कुछ नहीं कहते। सन्मार्ग में जो स्थित रहता है, वह बिना कुछ किये ही उनको शूल चुभायेगा। यदि तुम उसमें दृढ रह गये तो एक दिन वह तुम्हें छोड़कर अलग हो जायेगा या भाग जायेगा कि तुम्हारा-हमारा रास्ता अलग है पर अलग होकर बड़ा दुःखी होता है।

दूसरे को उन्मार्ग से बचाने का सर्वोत्तम साधन है कि तुम सन्मार्ग में स्थित हो जाओ। दूसरे चाहे जो कहें, उससे कुछ नहीं होना है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि लोगों की उन्मार्ग की प्रवृत्ति का निवारण करना है। यदि तुमने उनकी बात मान ली कि बेचारा इतना कहता है तो इसका दिल रख लें। जिसने प्रापणीय प्राप्त नहीं किया है, उसमें यह होगा। यह इसलिये कहते हैं कि आजकल बहुत से लोग कहते हैं 'महाराज! हमारी कोई उन्मार्ग की कामनाओं की इच्छा तो नहीं है, लेकिन वह बेचारा दुःखी होता है, इसलिये कर दिया।' बाहर से तो वह दया दिखा रहा है पर अपनी परायी सबकी हानि कर रहा है। लोग कहते हैं कि हमको क्या फ़र्क पड़ता है। इस 'क्या फ़र्क पड़ता है' के पेट में क्या है, कभी विचार करके देखा? 'लोकसंग्रह न हो, लोग उन्मार्ग से दूर न हों' यों सबके प्रति उपेक्षा है। सबका हित हो यह मन में दृढता नहीं है। आनंदगिरि स्वामी ने कहा 'आत्मविदापि परानुग्रहाय कर्त्तव्यमेव।' यह ठीक है कि आत्मवेत्ता का शराब पीने से कुछ नहीं बिगड़ता है। श्रुति कहती है कि आत्मवेत्ता को पाप करके पाप की प्राप्ति हो यह असम्भव है। किंतु जितना यह ठीक है, उतना ही यह भी कि यदि वह लोकसंग्रह

नहीं करता तो उसे आत्मज्ञान हुआ ही नहीं है! लोकसंग्रह का मतलब लोगों की उन्मार्ग-प्रवृत्ति का निवारण है और यह तब तक नहीं हो सकता जब तक तुम सन्मार्गस्थ न रहो। यह बिलकुल सत्य है कि आत्मवेत्ता को कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के सामने कोई पदार्थ हो या नहीं हो वह तो ज्ञानरूप है। यदि ब्रह्म किसी भी पदार्थ को प्रकाशित न करे तो क्या उस ब्रह्म का कुछ घट जायेगा? यदि सूर्य के सामने कोई चीज़ रख दी और वह प्रकाशित न करे तो कुछ नहीं घटेगा। लेकिन यदि चीज़ रखी और उसने प्रकाशित नहीं की तो जानते हो कि यहाँ सूर्य नहीं है। यह हो नहीं सकता कि वह प्रकाशित न करे हालांकि न करे तो उसका कुछ नहीं बिगड़ना है। इसी प्रकार से यदि वह लोगों को सन्मार्ग के लिये प्रवृत्त न करे तो उसका कुछ नुक्सान हो जायेगा, ऐसा कुछ नहीं है, लेकिन वह न करे यह हो नहीं सकता। जब कहते हो कि 'उसका मन रखने के लिये अमुक काम कर लिया' तो इसका मतलब यह है कि अभी आत्मवेत्ता बने नहीं। आत्मवेत्ता से लोकसंग्रह होना चाहिये। हर आदमी अन्नक्षेत्र चला सके, यह सम्भव नहीं। यदि लोकसंग्रह का यह मतलब लेते हो कि वह सबको उपदेश देता फिरे, तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि हरेक आत्मवेत्ता प्रवक्ता नहीं होता। लेकिन उससे कभी असत् आचरण हो नहीं सकता, क्योंकि उन्मार्ग प्रवृत्ति-निवारण उसका स्वभाव है, यही उसका सबसे बड़ा लोकसंग्रह है।

उसकी दृष्टि क्या होती है? आचार्य उत्पलदेव लिखते हैं 'कथंचिदस्य महेश्वरस्य दास्यं। जनस्य उपकारमिच्छन् समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं।' उस महेश्वर की कृपाप्राप्ति होती है। ब्रह्म ही हमको ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ होकर ज्ञान देता है। किस प्रकार से भगवान् यह ज्ञान दे देता है, यह वही जाने! कोई साधन भी नहीं जिसके ज़ोर से यह कह सको कि 'यह साधन करेंगे तो परमात्मा को ब्रह्मज्ञान देना पड़ेगा!' आतशी शीशा कहे कि 'मैं बहुत बढ़िया शीशा हूँ, इसलिये रात के बारह बजे भी सूर्य को चमकना पड़ेगा', तो यह नहीं हो सकता। कोई साधन ऐसा नहीं जिससे परमेश्वर हमको अपना आत्मज्ञान दे। इसीलिये आचार्य उत्पल कहते हैं कि किस निमित्त से दे, यह वह जाने। लेकिन हमको दासभाव की प्राप्ति हो। यह पैर दबाने वाला दासभाव नहीं वरन् वेदांती का दासभाव है। दास वह होता है जिसके ऊपर मालिक होता है। ऐसे ही प्रमाता के ऊपर साक्षी है, यही प्रमाता का दासभाव है। जब यह दास्य हुआ तब पता लगा कि अधिष्ठान का स्वरूप अध्यस्त के ऊपर उपकार करना है। इसलिये मैं अधिष्ठान हुआ तो अध्यस्तमात्र के प्रति उपकार करूँगा ही। क्या उपकार करूँगा? यह 'जन' शब्द से बता दिया। जन्म और आगे के सारे-के-सारे छह भाव विकार समझ लेना जैसे स्थिति, घटना-बढ़ना, बीमारी, मृत्यु। अब वह सोचता है 'एक-एक चीज़ दूँ तो कहाँ तक दूँगा। बड़ा लम्बा-चौड़ा मामला है। इसलिये सारी ही सम्पत्ति इकट्ठे ही दे दूँ'; सारी सम्पत्ति को इकट्ठा देना यही है कि उसको इस बात की स्मृति आ जाये कि मैं अधिष्ठान हूँ। वही प्रत्यभिज्ञा है। कैसे प्राणिमात्र के हृदय में इस

व्यापकता की, आनंदरूपता की भावना आ जाये बस यही उसका प्रतिक्षण का विचार हो गया, यही वह सोचता रहता है। 'सोचता रहता है' अर्थात् केवल मन से नहीं सोचता! सूर्य सोचता नहीं कि मैं इसको प्रकाश दूँ। सूर्य की रोशनी से पदार्थ अपने आप प्रकाशित होते हैं। उसी प्रकार उसकी रोशनी से प्राणिमात्र अपने आप आनन्दित होते हैं। लेकिन रोटी या रसगुल्ले के खाने का वह आनंद नहीं। सारी सम्पत्तियों की इक्टूठे ही प्राप्ति हो जाये यही उसका प्रयोजन है।

यह परमात्मा की कृपा बड़ी विचित्र है। जब तक परमात्मा की यह कृपा नहीं हुई थी, तब तक एक अंतःकरण ही हमारे सिर का बोझ बना हुआ था। एक मन को ही हम शान्त नहीं कर पा रहे थे, इसे ही सुखी नहीं कर पा रहे थे। इस एक शरीर के चक्कर में ही न जाने कितने चक्कर काट रहे थे। अंत में परमात्मा ने कहा कि 'हम इस शरीर और अंतःकरण के टण्टे से छुड़ाते हैं।' उन्होंने कृपा की और छुड़ाया। इस अंतःकरण और शरीर से तो हम छूट गये। नतीजा हुआ कि संसार के यावत् अंतःकरणों और शरीरों का हमारे ऊपर आधान हो गया! कहने को तो एक अंतःकरण और शरीर से छूटे और हुआ यह है कि प्राणिमात्र के अंतःकरणों का अपने ऊपर आधान हो गया। जैसे किसी जन्मांध को सूर्य नहीं दीखता। वह बड़ा प्रयत्न करता है कि किसी तरह सूर्य दीख जाये। उससे पूछो और भी कुछ देखना चाहते हो? कहेगा 'और कुछ नहीं, एक सूर्य देखने की बड़ी इच्छा है।' किसी डाक्टर ने उसकी आँख का ऑपरेशन किया और उसे सूर्य दीख गया, लेकिन अब उसे सारी चीज़ें दीखने लगती हैं। कहता है 'ग़जब हो गया! अब चारों तरफ भीड़- ही-भीड़ दीखती है, पहले यह कुछ नहीं दीखता था। मैं तो केवल एक सूर्य को देखना चाहता था, यह टण्टा क्यों खड़ा कर दिया?' परन्तु सूर्य की रोशनी दीखेगी तो उसकी रोशनी में आने वाले सब अपने आप दीखेंगे। इसी प्रकार जब तक अविद्या की छाया पड़ी हुई थी तब तक अपना ही स्वार्थ दीखता है। मैं तो केवल परमात्मा को देखना चाहता हूँ, परमात्मा का आनंद लेना चाहता हूँ। लेकिन जब परमात्मा का दर्शन हुआ तो अपने आपको सब जगह पाया। जब सब जगह पाया तो सब कुछ बदल गया। फ़र्क यह है कि पहले अंधकार के अन्दर सब कुछ अंधकाररूप था और अब प्रकाश के अन्दर सब कुछ प्रकाशरूप है पहले सब कुछ निरानन्द था, अब सब कुछ आनंदरूप है। पहले इस एक अंतःकरण को ही आनंद नहीं दे पा रहे थे, थोड़ी देर के लिये देते भी थे तो ख़त्म हो जाता था। रसगुल्ला खाया, फिर आनंद ख़त्म। अब रात-दिन सबको आनंद देता रहता हूँ, मैं में कुछ कमी आती ही नहीं। यह पता नहीं लगता कि कहाँ से आ रहा है। उन्मार्ग प्रवृत्ति का निवारण यही लोकसंग्रह है। यह धन्यता इसलिये है कि करुणा से भर जाता है। वह सामान्य करुणा नहीं है, भेद-दृष्टि से होने वाली करुणा नहीं है, अभेद-दृष्टि से होने वाली करुणा है। इस प्रकार करुणा का सम्बन्ध होना ही धन्य होना है।

## प्रवचन-४२

३०-४-७२

भगवती के स्वरूप का प्रतिपादन करके उसकी उपलब्धि के स्थान का निर्देश किया। जो धन्य होते हैं वे ही उसका भजन करते हैं, यह बताया। धन्य का रूप बताया, कृत-कृत्यता और प्राप्त-प्रापणीयता। जो कर्त्तव्य है वह कर लिया यह कृत-कृत्यता है और जो प्रापणीय, प्राप्ति के योग्य है वह प्राप्त कर लिया, यह प्राप्त-प्रापणीयता है। जब तक अपने लिये कुछ भी कर्त्तव्य शेष रहता है तब तक कृत-कृत्यता, धन्यता नहीं होती। अविद्याकाल में मनुष्य की समझ में यह नहीं आता कि परार्थ क्या होता है। अविद्या के अन्धकार में जब तक है, तब तक यह पता नहीं लगता कि स्वार्थ को छोड़कर परार्थ क्या है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने यह बताया है कि संसार में सब चीज़ें आत्मा की तरफ ही इच्छा को ले जाती हैं। यह एक आधारभूत सिद्धान्त महर्षि याज्ञवल्क्य ने बताया। वहाँ न यह कहा है कि यह विद्याकाल में है और न यह कहा है कि यह अविद्याकाल में है। कई चीज़ों का निर्देश करने के बाद अंत में कहा कि सब कुछ आत्मा के लिये प्रिय होता है।

विचार की बात यह है कि जब सब कुछ आत्मा के लिये प्रिय होता है तो फिर विद्याकाल और अविद्याकाल में स्वार्थ और परार्थ का भेद क्यों? पहले अविद्याकाल में ही भिन्न स्तर हैंः धन की अपेक्षा हमें पुत्र अपनी आत्मा अधिक लगता है। धन की अपेक्षा पुत्र में आत्मबुद्धि ज़्यादा है, इसलिये जहाँ धन और पुत्र दोनों के जाने का सवाल आयेगा, वहाँ धन को जाने दोगे, पुत्र को बचाओगे। लड़कों को स्कूल में पढ़ने भेजते हो, पैसा खर्च करना पड़ता है। यदि धन की अपेक्षा पुत्र को अपनी आत्मा अधिक न समझते तो कोई भी धन खर्च करके पुत्र को न पढ़ाता। कोई-कोई ऐसा भी होता है जो पुत्र की अपेक्षा धन को अधिक आत्मा मानता है, लेकिन अधिकतर लोग तो पुत्र को धन की अपेक्षा अधिक आत्मा समझते हैं। इसलिये पुत्र के लिये धन खर्च करते हैं। कुछ ही लोग ऐसे होते हैं, जो धन को अधिक नज़दीकी मानते हैं, ऐसा व्यक्ति पुत्र को भी बेचकर धन कमा लेता है! पहले गुलाम बिकते थे, अब भी बिकते हैं, लेकिन ऐसे लोग कम हैं। पुत्र की अपेक्षा मनुष्य को पत्नी अधिक आत्मा लगती है। इसलिये जहाँ पुत्र और पत्नी का प्रश्न होता है वहाँ पुत्र को बलि चढ़ायेगा। डाक्टर कहता है कि यदि इस छह महीने के बच्चे को पेट से न गिराया गया तो माँ मर जायेगी। उस काल में कहता है कि 'माँ को बचाओ, पुत्र को जाने दो।' आजकल तो ज़्यादा कहने की बात ही नहीं है। माँ का शरीर खराब हो जायेगा इस चिंता से बच्चे कम पैदा करते हैं। दृष्टिकोण वही है। संतति की अपेक्षा पत्नी को ज़्यादा आत्मा माना। पत्नी की अपेक्षा अपने शरीर को ज्यादा आत्मा मानते हो। इसलिये यदि पत्नी और शरीर के बीच में चुनना हो तो अपने शरीर की रक्षा करोगे। इसमें

प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जब पाकिस्तान बना था तो बहुत से लोग अपनी पत्नियों को भी वहीं छोड़कर भाग कर यहाँ आ गये थे। कहते थे कि मुसलमानों ने घेर लिया, किसी तरह जान बचाकर भाग आये। पत्नी को छोड़ आये, अपनी जान बचाई। पत्नी की अपेक्षा अपना शरीर प्रिय और शरीर की अपेक्षा भी अपने प्राण प्रिय होते हैं। डाक्टर कहता है कि 'तुम्हारे हाथ में गैंग्रीन (नासूर) हो गया। या हाथ कटवाओ या तुम्हारे प्राण चले जायेंगे।' तब शरीर को नहीं बचाते कि 'हाथ तो बचा रहे, हम मर जायेंगे तो कोई बात नहीं', वरन् कहते हो 'हाथ कट जायें, हमारे प्राण बच जायें।' प्राणों की अपेक्षा भी मन अधिक आत्मा है। इसलिये प्राण और मन के बीच में संकट आता है तब आदमी क्या करता है? लड़की से कहा 'मेरे से ब्याह करो।' लड़की ने कहा 'कर लूँगी।' लड़की के माँ-बाप ने मना कर दिया तो वह कुतुबमीनार के ऊपर चढ़कर कूद जाता है। यहाँ भी वही विकल्प है कि या मन दुःखी हो या प्राण चले जाये। ऐसे में मन को बचाने के लिये प्राणों को छोड़ देता है। जिस-जिस को आत्मा समझता है, उस-उस के लिये जो आत्मा से भिन्न समझा जाता है, उसको छोड़ता है। अब आगे चलो; यदि मन के दुःख के बीच में और अपने सुख के बीच में चुनना पड़े तो अहं का सुख चुनता है, मन को मार डालता है। कब? मन चिंता कर रहा है मन से कहता है कि 'तू थोड़ी देर के लिये मर जा अर्थात् सो जा। मैं तेरी चिन्ता के साथ लगा-लगा तंग आ गया हूँ।' मन कहता है 'मैं मरना नहीं चाहता, मैं तो चिंता करता रहूँगा', तब नींद की गोली खाता है। कहता है 'अच्छा मन, तू मेरे को दुःख दे रहा है तो तू मर, मैं तो मौज लूँगा।' नींद की गोली से मन को ही तो ख़त्म करते हो। किसलिये? अपने ही सुख के लिये तो मन को ख़त्म करते हो। यदि और ज्यादा हिम्मत वाला हो तो योगाभ्यास करके समाधि का अभ्यास करता है कि 'मन, तेरे को ऐसा मार डालूँगा कि आगे कभी पैदा ही नहीं हो।' दवाई से मरा तो सही लेकिन थोड़ी देर बाद फिर खड़ा हो जाता है। इसलिये और ज़्यादा हिम्मत करने वाला योगाभ्यास करके उसको नष्ट करता है। इस अहं (जीवभाव) के अन्दर आत्मा का भान तब तक रहेगा जब तक अज्ञान है।

इसलिये अज्ञान-काल में भी जहाँ-जहाँ आत्मदृष्टि हुई, उस-उसके फ़ायदे के लिये तुमने जो-जो उस आत्मा से भिन्न था, उसके दुःख को दुःख नहीं समझा। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य का वचन कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' यह अज्ञान-काल में लागू रहा। चूंकि अज्ञान-काल में अहं से भिन्न किसी को आत्मा करके नहीं जानते, इसलिये जब तक अज्ञान है तब तक सब कुछ अंत में अहं के लिये है। अहं आगे और किसी के लिये नहीं है।

जब ज्ञान होता है तब क्या होता है? ज्ञान होने पर पता लगता है कि यह अहं भी आत्मा नहीं है। ज्ञान होने के बाद इन बाकी सब चीज़ों को अहं के लिये, अपने लिये, मेरे लिये या मैं के लिये छोड़ते हो, क्योंकि उससे भिन्न किसी आत्मा का अनुभव नहीं है। जब ज्ञान होता है तब पता लगता है कि यह अहं भी मेरा स्वरूप नहीं है। यह अहं भी आत्मा नहीं है। तब मेरी

आत्मा कौन है? वह अनंतानंद स्वरूप ब्रह्म ही मेरी आत्मा है। जब पता लग गया कि अहं आत्मा नहीं तो अब अहं की भी बलि ब्रह्म के लिये दोगे। अहं के स्थान पर ब्रह्म आ गया। ब्रह्म का अर्थ 'व्यापक' होता है। अज्ञान-काल में जो करेगा, वह आत्मा के लिये और ज्ञान-काल में जो करेगा वह भी आत्मा के लिये ही, क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद में नियम कर दिया 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' सब कुछ आत्मा के लिये प्रिय है। वेद का नियम अखण्डित रहता है। अज्ञान-काल में जिस-जिसको आत्मा समझा उसके लिये दूसरी चीज़ें प्रिय हुईं। अज्ञान-काल में अधिक-से-अधिक परिच्छिन्न अहंकार (अहं) तक ही आत्मा देखा, इसलिये अज्ञान-काल में जो कार्य होगा, वह अहं के लिये होगा, स्वार्थमूलक होगा। इसी से जब तक अज्ञान के पर्दे में मनुष्य रहता है तब तक ज्ञानी का कार्य उसकी समझ में नहीं आता, क्योंकि वह उसे अहं में लगाना चाहता है। ज्ञान के बाद अहं के स्थान पर ब्रह्म आ गया और ब्रह्म मायने व्यापक, इसलिये अब वह कोई कार्य अहं के लिये नहीं, व्यापक के लिये करता है, और जो भी अहं के लिये करने वाले कार्य हैं उन सबकी बलि देता है। जिस प्रकार तुमने धन की बलि पुत्र के लिये दी कि धन बरबाद हो जाये, कोई हर्जा नहीं, पुत्र बचे। पुत्र की बलि पत्नी के लिये दी, क्योंकि उसे आत्मा माना। उसी प्रकार से जिस समय तुम्हारी ब्रह्म-दृष्टि बनती है, जब तुम्हारे अन्दर व्यापकता का ज्ञान होता है तब परिच्छिन्न देह आदि संघात के लिये नहीं करते, उन सबकी बलि व्यापक के लिये देते हो। जब तक परिच्छिन्न के लिये व्यापकता की बलि देते हो तब तक अहंभाव से छूटकर ब्रह्मभाव में नहीं पहुँचे।

इतना याद रखना कि जो पुत्र को अपनी आत्मा समझकर प्रेम करता है वह भी धन कमाता है और जो धन का लोभी है वह भी धन कमाता है। धन का लोभी अपनी दृष्टि से समझता है कि 'मैं अपने लड़के को रोज़ इसलिये खिलाता हूँ कि थोड़े दिन में हमारी दुकान में बैठ जायेगा तो मुनीम की पाँच सौ रुपये तनख्वाह बच जायेगी और पचास रुपये की रोटी में इससे काम ले लूँगा।' यह धनी की दृष्टि है, पुत्रप्रेम के लिये नहीं है। वह समझता है कि 'जैसे मैं धन के लिये इन्हें रोटी खिलाता हूँ ऐसे ही पुत्रप्रेमी भी धन कमाने के लिये लड़कों को पढ़ाता होगा, ताकि ज़्यादा कमाकर देगा।' उस लोभी को चाहे जितना समझाने की चेष्टा करो कि 'मुझे इस लड़के का कमाया पैसा नहीं चाहिये, मैं तो इस लड़के को सुखी करना चाहता हूँ।' लोभी को बात नहीं जँचती, सोचता है कि सब मन से धन चाहते हैं, यहाँ भी यही होगा। कोई व्यक्ति धन की बलि पुत्र के लिये दे सकता है, यह बात लोभी की समझ में नहीं आती, लेकिन तुम लोग पुत्र से प्रेम करने वाले हो, तुम कहोगे 'नहीं महाराज! धन के लिये पुत्र की बलि नहीं दी जाती, पुत्र के लिये धन की बलि दी जाती है।' असल में तब पता लगता है जब तनातनी आकर धन और पुत्र में से किसी एक को चुनने की समस्या आ जाती है। बाकी व्यवहार दोनों के एक जैसे चलते रहते हैं। जब चुनने की समस्या आयेगी कि अब तो निर्णय करना है कि यह या वह,

उस समय आदमी की पोल खुल जाती है। पुत्र का लोभी अपने सारे धन को देकर भी पुत्र को बचाता है। धन का लोभी कहता है 'आया है सो जायेगा राजा रंक फकीर', अपने-अपने प्रारब्ध से सब मरते हैं, यहाँ किसने स्थिर रहना है, इसके लिये कहीं धन को छोड़ा जाता है! बड़ी वेदों की बातें करेगा, लोग समझते हैं महात्यागी हैं। लेकिन कुछ नहीं, उसकी आत्मा तो वह धन है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना। यदि पत्नी के प्रति भाव है तो पत्नी और पुत्र दोनों का रक्षण कर रहा है, जैसे पुत्र के प्रेम वाला धन कमाता दीखता है, लेकिन वह किसको आत्मा मानता है यह उसका हृदय जानता है या जब चुनाव का समय आता है तब पता लग जाता है कि दोनों में किस को चुनता है। इसी प्रकार से पुत्र और पत्नी में हो जाता है। पत्नी में प्रेम करने वाला पुत्र का रक्षण करता ही है। बाहर से पुत्र और पत्नी दोनों से व्यवहार करता है। चुनाव के समय पता लगता है कि दोनों में से किसको चुना जायेगा, जब दोनों में से एक ही चुना जाये, यह समस्या आ जाये तब पता लगता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना। शरीर और प्राण में भी यही बात है। प्राण और मन में भी यही बात है। बहुत से लोग कहते हैं, 'जान है तो जहान है।' दस-पाँच दिन ट्रैंक्विलाइज़र खायेगा फिर कहेगा 'किस आदमी के पीछे अपनी जान दें।' ऐसे लोग जान नहीं देंगे क्योंकि प्राण मन की अपेक्षा अधिक प्रिय है। जिसे मन प्रिय होगा, वह प्राण छोड़ देगा। वैसे मन और प्राण दोनों से व्यवहार तो सब कर रहे हैं।

इसी प्रकार से ज्ञानी का भी अहं से व्यवहार है, मन और प्राणों से व्यवहार है, अर्थात् व्यवहार तो इन सबसे है। पता तब लगता है कि 'यह उसे ब्रह्म वाला या अहं वाला समझता है' जब चुनाव का समय आता है अर्थात् जब स्वार्थ और परार्थ आमने-सामने आ जाते हैं कि दोनों में से एक ही कर सकते हो। जब तक दोनों करोगे तब तक पता नहीं चलता। चुनाव के समय पता लगता है कि इधर या उधर। ब्रह्म-बोध वाला उस काल में अहं के सारे सुख और सम्बन्धों को छोड़कर व्यापक कार्य को करता है, परिच्छिन्न कार्य को छोड़ देता है, सर्वस्वत्याग कर देता है। जिसको ब्रह्म-बोध नहीं हुआ वह कटा-कटी के समय झट अहं की रक्षा करेगा! चयन के समय पता लग जाता है कि बोध इधर है या उधर है। विद्याकाल में वह सब कुछ व्यापकता के लिये करता है। लेकिन जैसे धन का प्रेमी पुत्र के प्रेमी को भी अपनी ही दृष्टि से नापता रहता है कि 'अंदर से तो लड़के को इसलिये बढ़ा रहा है कि पैसा मिलेगा', इसी प्रकार से जो अहंभाव से आगे नहीं गया है वह ज्ञानी के भोजन आदि व्यवहार को देखकर यही हिसाब लगाता है कि 'कर तो खाने-पीने के लिये ही रहे हैं।' जैसे धन का प्रेमी पुत्र के प्रेमी को अपने नाप में नाप नहीं सकता, घटाता ज़रूर है लेकिन मौका आने पर भेद खुल जाता है; इसी प्रकार स्वार्थ वाला भी आत्मज्ञानी के परार्थ व्यवहारों को स्वार्थ में घटाता रहता है और घटते भी लगते हैं, लेकिन पता तब लगता है जब चुनाव का समय आता है। जिस समय उसे दोनों में से एक को चुनना पड़ता है उस समय वह व्यापकता के कल्याण के लिये अपना सर्वस्व बलि दे देता

है, अहं की भी बलि दे देता है और जो अभी अपने अहं से हटकर व्यापक भाव में नहीं गया, वह उस काल में झट परिच्छिन्न दृष्टि का शिकार होता है। धन और पुत्र के चुनाव में पता लगता है, बाह्य व्यवहार में पता नहीं लगता। ज्ञानी का सारा व्यवहार परार्थ होता है, स्वार्थ कुछ होता ही नहीं, बाहर से जहाँ स्वार्थ दीखता है, वहाँ भी नहीं। अज्ञानी का सारा व्यवहार स्वार्थ के लिये होता है, जहाँ परार्थ दीखता है, वहाँ भी परार्थ नहीं है। जैसे पुत्र का प्रेमी कमाते हुए दीखता है पर वह धन के लिये धन नहीं कमा रहा है, पुत्र के लिये धन कमा रहा है। पुत्र का प्रेमी जैसे धन पुत्र के लिये कमा रहा है, वैसे ही धन का प्रेमी पुत्र को खिला रहा है, लेकिन पुत्र के लिये नहीं खिला रहा है, आगे धन कमाने के लिये खिला रहा है। इसी प्रकार से आत्मज्ञानी जब भोजन आदि का व्यवहार करते हुए स्वार्थ का व्यवहार करता दीखता है उस समय भी वह परार्थ के लिये ही करता है कि 'यह देहादि-संघात व्यापकता का कार्य करेगा'। दूसरी तरफ, जो अभी तक परिच्छिन्न आत्मबुद्धि वाला है वह जिस समय परार्थ करता दीखता भी है, बाहर से दूसरे के कल्याण का कार्य करता दीखता है, उस समय भी उसे यश, लोगों के जय-जयकार, कृतज्ञता, अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञान या मोक्ष, किसी-न-किसी की इच्छा है। वह परार्थ करता दीखता है तो स्वार्थ के लिये और वह स्वार्थ करता हुआ दीखता है तो भी परार्थ के लिये। मोक्ष की इच्छा भी तो स्वार्थ ही है! दोनों के अन्दर फ़र्क यह है कि ज्ञानी का आत्मा ब्रह्म हो गया और प्रिय वही होगा जो आत्मा है।

तुम समय आने पर शरीर की रक्षा के लिए पैर कटवा देते हो, उस समय तुम पैर की रक्षा के लिये शरीर को नहीं मरने देते। पैर व्यष्टि हो गया और शरीर समष्टि हो गया। तुमने व्यापार किया, तुम्हारे सामने दो समस्यायें आ गईं। टैक्स की चोरी करके समाज में चोरी की प्रथा को आगे बढ़ाओ अथवा टैक्स की चोरी न करके, घर में भूखों मरने की नौबत आ जाये। यद्यपि ऐसी स्थिति नहीं होती, फिर भी हम कहते हैं कि मान लो, तुम्हारे सामने यह विकल्प है कि एक में समाज में चोरी बढ़ेगी, व्यापकता का नुक्सान होगा और दूसरे में व्यष्टि मैं, पत्नी और बाल बच्चे कल भूखे मर जायेंगे। इस विकल्प में व्यापकता की बुद्धि वाला कहेगा कि ये छह मर जायें, लेकिन समष्टि में चोरी की वृत्ति न आये। जिसके अन्दर अहंता का बोध होगा, वह कहेगा 'अब सारा समाज बिगड़ चुका है, बिगड़ने दो, हमारे एक से क्या होता है! ये बच्चे तो बचें।' यह फ़र्क कहाँ पता लगता है? नचिकेता को पिता ने गुस्से में कह दिया, 'जा, मर जा' गुस्से में लोग कह ही देते हैं। नचिकेता मुमुक्षु था, कहा 'अच्छा पिता जी, मैं अब मर रहा हूँ।' पिता ने कहा 'अरे मैंने ऐसे ही गुस्सें में कह दिया था, सचमुच नहीं कह रहा हूँ।' नचिकेता ने कहा 'महाराज! आप मेरे को देख रहे हो न, थोड़ा व्यापकता में सोचो। 'अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे। सस्यमिव मर्त्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।।' यहाँ तो पौधों की तरह चीज़ें पैदा होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। यह सोचो कि पूर्व और भविष्य दोनों कालों में झूठ बोलने की प्रथा चल गई

तो क्या होगा? इस व्यापक भाव के अन्दर खराबी आ जायेगी। मेरे एक के मरने की अपेक्षा क्या वह श्रेयस्कर है? इसलिये मुझे मर जाने दो।' यह नचिकेता का निश्चय है।

आचार्य कुमारिल भट्ट के काल में बौद्धों ने सनातन धर्म को समाप्त कर दिया था। सनातन धर्म मानने वाले बहुत थोड़े लोग बच गये थे। आजकल लोग जब घबरा जाते हैं, कहते हैं 'महाराज! सब धर्मनिरपेक्ष (सैक्युलर) हो रहे हैं, बहुत थोड़े से लोग सनातन धर्म को मानने वाले रह गये हैं, कैसे चलेगा?' हम कहते हैं हम तो बौद्धों के समय से गुजर चुके हैं, इसलिये हमें आता है। समय आने पर हम दब कर रहना भी जानते हैं और समय आने पर हम दावानल जलाकर सारे जंगल को जलाना भी जानते हैं। आचार्य कुमारिल भट्ट उस समय वैदिक-धर्म-रक्षण के लिये दृढप्रतिज्ञ थे कि कैसे वैदिक धर्म का रक्षण करें। यह ज्ञानी का दृष्टिकोण है। बौद्धों के पास जाकर उन्होंने अध्ययन किया। जब तक विरोधी के तत्त्व को जानें नहीं, तब तक उसका खण्डन कैसे करोगे? घर में बैठकर तो सभी कह देते हैं। आज जितने लोग खड़े होकर कहते हैं कि कम्युनिज्म खराब है, हम उनसे पूछते हैं कि क्या तुमने इस सिद्धान्त पर दस-पाँच ग्रंथ बाँच रखे हैं या मार्क्स का ग्रन्थ पढ़ रखा है? उन्होंने कुछ नहीं बाँच रखा, केवल कहते हैं कि कम्युनिज्म खराब है। इसीलिये उनका प्रचार बढ़ता है। गालियाँ देने से किसी का खण्डन नहीं हो जाता! उसके हृदय को समझना पड़ता है। उन्होंने जाकर बौद्धों से शिक्षा ली और बाद में उनका खण्डन किया। बौद्धों के खण्डन में उनको एक और कार्य भी करना पड़ा, वह था ईश्वर-खण्डन! वेद-प्रामाण्य दो तरह से होता है ईश्वर-आज्ञा से वेद प्रमाण है या वेद स्वतः प्रमाण है। बौद्ध भी अपने शास्त्र का प्रामाण्य इसलिये सिद्ध करते हैं कि सर्वज्ञ बुद्ध के द्वारा कहा हुआ है। यदि हम भी कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा कहे हुए वेद को प्रमाण मानो तो हमें भी उनके साथ शास्त्रार्थ करते समय उनके ग्रंथ त्रिपिटक को मानना पड़ेगा, क्योंकि वह बुद्ध को और हम ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। इसलिये आचार्य कुमारिल ने वेदरक्षार्थ एक जबरदस्त अस्त्र निकाला कि सर्वज्ञ कोई होता ही नहीं! तुम्हारा बुद्ध भी सर्वज्ञ नहीं और हमारा ईश्वर भी सर्वज्ञ नहीं है। जो सर्वज्ञ नहीं वह ईश्वर नहीं है। अब तो केवल युक्ति की कसौटी पर तुम्हारी बात भी और हमारी बात भी। न तुम बुद्ध की बात को सर्वज्ञता के आधार पर ठीक कह सकते हो और न हम ईश्वर की सर्वज्ञता के आधार पर वेद को ठीक कह सकते हैं। इस अस्त्र से बौद्धों का खण्डन हो गया और भारतवर्ष में सनातन धर्म का प्रचार होने लगा।

लेकिन ज्ञानी की दृष्टि 'लोकसंग्रह' की बताई। आचार्य कुमारिल ने कहा कि 'अब सब काम ठीक हो गया है, अब मैं अपने आपको तुषानल (धान के भूसे की अग्नि) में धीरे-धीरे जलाकर मार डालूँगा क्योंकि मैंने गुरु का खण्डन किया है। जिनसे पढ़ा, उन्हीं की बात का खण्डन किया है, वेदों में इसका यही प्रायश्चित्त लिखा है।' उनसे कौन कहता कि तुम ठीक करते हो या गलत करते हो? प्रयाग के किनारे तुषानल जला ली और उसमें बैठ गये। बैठे हुए भी

लोगों को वेद के विषय में अन्तिम उपदेश सुना रहे थे। उस समय भगवान् शंकर भगवत्पाद वहाँ पहुँचे। उन्होंने पूछा 'यह क्या कर रहे हो?' प्रयाग अत्यंत पुण्य स्थली है। वेदों के अन्दर स्पष्ट बताया है 'सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।' जहाँ सफेद और काली नदियाँ अर्थात् गंगा और यमुना का संगम है, वहाँ जो व्यक्ति आप्लावन करते हैं वे स्वर्ग पाते हैं। आप्लावन का एक अर्थ होता है कि जो वहाँ अपना शरीर छोड़ते हैं; दूसरा अर्थ है कि नियमपूर्वक वहाँ स्नान करते हैं; वे निश्चय ही स्वर्ग को जाते हैं। इसलिये आचार्य कुमारिल ने प्रयाग को ही चुना। वहीं पर यह कार्य हो रहा था। जब भगवान् भाष्यकार ने पूछा तो भट्ट ने कहा 'मैंने दो पाप जीवन में किये हैं, उनका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ।' भाष्यकार ने कहा 'आप और पाप, दोनों का क्या सम्बन्ध!' कहा 'हमने गुरु का खण्डन किया है।' भगवान् भाष्यकार ने कहा 'आपने अपने लिये थोड़े ही किया है, आपने तो धर्म की रक्षा के लिये किया, वेद की रक्षा के लिये किया है, आपका कोई स्वार्थ थोड़े ही था।' आचार्य कुमारिल ने यावत् जीवन विवाह नहीं किया था, क्योंकि उन्हें पहले ही पता था, सोचा जान-बूझकर किसी को विधवा क्यों बनायें? उन्होंने कहा 'यह तो ठीक है कि किया मैंने धर्म की रक्षा के लिये है, लेकिन काम ग़लत हुआ है। अब धर्म का प्रचार चारों तरफ हो गया। जिस उद्देश्य के लिये किया था, वह व्यापक कार्य तो पूरा हो गया। जब वह कार्य समाप्त हो गया तो अब रहने की ज़रूरत नहीं है।' भगवान् भाष्यकार ने कहा 'अभी तो आपने केवल सम्पन्न किया है, उन सब कार्यों को एक आधार देकर पुष्ट करने की ज़रूरत है।' उन्होंने कहा 'मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह काम तुम पूरा कर लोगे। अब मैं जल गया हूँ, अब मुझसे क्या होना है!' तब तक नाभि से ऊपर तक जल चुके थे।

यहाँ अहं और आत्मा का विषय ठीक समझना। भगवान् भाष्यकार ने कहा 'मैं अभी जल छिड़ककर तुम्हारे सारे अंगों को पुनः ठीक कर देता हूँ, इसमें कुछ नहीं है।' कुमारिल हँस पड़े, कहा 'जानता हूँ, तुम सब करने में समर्थ हो, लेकिन एक बात बताओ; यह कार्य मैंने तो व्यापकता की दृष्टि से किया है, लेकिन भविष्य में लोग स्वार्थ के लिये गुरु का खण्डन करके कहेंगे कि 'कुमारिल ने भी तो ऐसा किया था।' तुम्हारा-हमारा शरीर तो लोकसंग्रह के लिये है, यदि हमारे दृष्टांत से लोगों में उन्मार्ग की प्रवृत्ति आयेगी तो हमने धर्म की स्थापना क्या की।' यह आत्मज्ञानी की दृष्टि है। बौद्धों से शिक्षा ली तो व्यापक दृष्टि से ली कि धर्म का कल्याण कैसे होगा। गुरु का खण्डन किया तो व्यापक दृष्टि से, उसमें भी अहंता नहीं थी और अंततोगत्वा शरीर छोड़ा तो व्यापक दृष्टि से कि इससे लोगों का उन्मार्ग निवारण हो, लोग उन्मार्ग में प्रवृत्ति न करें। यह अहं के बलिदान का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। जब अहं के स्थान पर ब्रह्म आ जाता है तब उसके सारे कार्य नित्य निरंतर प्रतिक्षण इस व्यापक दृष्टि से चलते हैं। उसके अन्दर अब एक नवीन व्यक्तित्व आ गया, पहले वाली चीज़ नहीं रही। उसका शरीर ज़रूर

वही दीखता है, भाषा भी वह वही बोलेगा। ज्ञान के पूर्व उसका जैसा शरीर और मन दीखता था, वैसा ही अब भी। बाह्य तो वैसा ही दीखेगा, लेकिन अन्दर में चलाने वाली अविद्या जल जाने से अब अंदर की शक्ति बदल गई है। एक बार हम किसी के घर चण्डीगढ़ सर्दियों में गये हुए थे। उन्होंने पंखा चला दिया। हमने कहा 'ठण्ड लग रही है, तुमने पंखा चला दिया?' कहने लगे 'जी, इसमें से गरम हवा निकलेगी।' और सचमुच गरम हवा निकलने लगी। हमने सोचा कि कोई नये ढंग का पंखा है। पंखा वही है, उसमें एक पुर्जा लगा दिया है तो उसमें से गरम हवा निकलने लगती है। बाकी सारा यंत्र वही है।

ठीक यही यहाँ है। यदि अंदर अविद्या का पुर्जा लगा हुआ है तो सारे कार्य अविद्या को निमित्त बनाकर होते हैं, परिच्छिन्न और अव्यापक कामना और कर्म निकलते हैं; ढाँचा वही है। अगर वह पुर्जा निकाल दिया तो उसमें से ज्ञान अर्थात् उसके विपरीत आचरण होता है। बाहर से देह, मन आदि वही रहते हैं। जब तक अविद्या है तब तक ज्ञान, इच्छा, क्रिया में कोई एकरूपता (harmony) नहीं। इसीलिये तनाव कभी ख़त्म ही नहीं होता, क्योंकि उनमें समन्वय नहीं है। जैसे घर के अन्दर पुत्र, पत्नी और पति तीनों के अन्दर समन्वय नहीं है तो पचास रुपये कमाते थे तब भी तनाव था और अब पाँच हज़ार कमाते हैं, तब भी तनाव रहता है! रुपया आ जाने से तनाव नहीं हटेगा। दूसरी तरफ, यदि तीनों में एकरूपता है, तीनों के हृदय एक जैसे हैं, तो दस हज़ार रुपया महीना खर्च में आता था तब भी शान्ति थी, किसी कारण से वह सब चला गया और अब केवल सौ रुपया महीना आता है, तब भी तीनों में आपस में शान्ति ही है। बाहर की चीज़ों से शान्ति नहीं होती है। ठीक इसी प्रकार जब तक अविद्या है, तब तक ज्ञान, इच्छा, क्रिया का समन्वय नहीं, उनमें एकरूपता नहीं। इसलिये कभी भी शांति और सुख का अनुभव होता ही नहीं है। अविद्या के हट जाने से कामना और कर्म ख़त्म हो गये। अविद्या, काम, कर्म तीनों साथ-साथ जाते हैं। जब अविद्या हटी तो कामना हटी और कामना हटी तो कर्म हटा। अब उसके अन्दर जो ज्ञान (विद्या) है उसमें भी स्वातंत्र्य है, इच्छा और क्रिया में भी स्वातंत्र्य है। अविद्या, काम, कर्म, तीनों परतंत्र और ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों स्वतंत्र हैं और उनमें एकरूपता है, इसलिये अब किसी भी परिस्थिति में उसको यह पता नहीं लगता कि अशांति और तनाव चीज़ क्या है! पहले जितना कर्म बढ़ता था, उतना दुःखी होता था, जितनी कामना बढ़ती थी, उतना दुःखी होता था, और अब चाहे जितनी इच्छा क्रिया बढ़ती चली जाये, उसे कहीं दुःख और अशांति नहीं है, क्योंकि अविद्या नहीं बैठी हुई है इसलिये तनाव करने वाली चीज़ ही नहीं है।

इच्छा और कामना में बहुत बड़ा फ़र्क है। कामना वासना से उत्पन्न होती है और इच्छा परमेश्वर से उत्पन्न होती है, क्योंकि व्यापक भाव को विषय करती है। एक आदमी रिटायर हो गया, उसने सोचा कि अब दिन-भर क्या काम करूँगा? वह बुद्धिमान् था। उसने अपने मुहल्ले में जाकर कहा कि 'मैं रिटायर हो गया हूँ। सवेरे साग लेने जाता हूँ, साग मँगाना हो तो मँगा

लेना।' इसी प्रकार सबसे कहे कि किसी को आटा, तेल, दूध इत्यादि मँगाना हो तो मँगा लें। किसी का लड़का बीमार है तो कहता कि 'मैं अस्पताल जा रहा हूँ, कोई दवाई मँगानी हो तो मँगा लेना।' एक दिन उसका दोस्त आ गया, वह भी रिटायर हो गया था। उसने आकर कहा कि 'मैं तो बड़ा तंग आ गया हूँ, समय ही नहीं बीतता। तेरा समय कैसे कटता है?' उसने कहा 'जब नौकरी करता था तो बड़ा टाइम बचता था। अब जब से रिटायर हुआ हूँ तब से बोर होने का समय ही नहीं है! पहले भी लोग बातें करने आते थे लेकिन कभी-कभी, दूसरे-तीसरे दिन ही मिलने आते थे और अब तो लोग छोड़ते ही नहीं, रात-दिन घेरे रहते हैं।' उसने कहा 'ऐसा कौन-सा सूत्र है?' वह एक-दो दिन वहाँ रहा तो देखा कि गाँव के बच्चे, बूढ़े, औरतें सब उसके पास आ रहे हैं और वह सवेरे से शाम तक किसी-न-किसी काम में लगा हुआ है। उसने कहा 'गजब हो गया, मैं तो अपने मन का तनाव दूर करने के लिये पाँच रुपये खर्च करके तीन घण्टे बिताने के लिये सिनेमा जाता हूँ क्योंकि दिन कटता नहीं। और यहाँ तो धेला खर्च नहीं करता फिर भी रात-दिन रौनक ही लगी है!' फ़र्क यह है कि वह अपने लिये करना चाहता था, इसलिये उसकी इच्छा और क्रिया न होकर काम और कर्म था। बेचारा परेशान था कि रिटायर हो गया हूँ तो क्या करूँ। लेकिन उस बुद्धिमान् ने कामना और कर्म छोड़ दिया था, अपने लिये नहीं कर रहा था, इसलिये उसे प्रसन्नता थी। अविद्या, काम, कर्म का पुर्जा अंदर से निकलकर ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय हो तो अन्दर का अनुभव सर्वथा बदल जाता है, एक नवीन व्यक्तित्व आ जाता है।

साधक भी इस नवीन व्यक्तित्व के लिये प्रयत्न तो करता है लेकिन चूंकि अभी तक अहं बैठा हुआ है इसलिये उसे ज़ोर पड़ता है। जैसे तुमको कहा जाता है कि देश के लिये बलिदान करो तो तुम समझते तो हो कि भारत हमारा देश है, हम भारतीय हैं, अगर हम देश के लिये बलिदान नहीं करेंगे तो बुरा है। यह सब समझने पर भी अंदर से दिल कहता है कि 'हूँ तो मैं कालूराम, दिल्ली की गांधीगली में रहने वाला ही।' कभी-कभी देश की रक्षा के लिये तलवार लेकर चल भी देते हो और कई बार बलिदान हो जाते हो लेकिन समय आने पर फिर कालूराम ही रह जाते हो। इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत है कि गाँधी जी ने कहा कि देश के लिये करो। लोगों ने उनके पीछे पढ़ना छोड़ दिया, नौकरी छोड़ दी, वकालत करने वालों ने अपनी वकालत छोड़ दी क्योंकि भारत के लिये करना चाहिये, और जुट गये। जैसे ही आजादी मिली, फिर गांधीगली के तीन नम्बर मकान में रहने वाले कालूराम रह गये! आजादी आते ही सब सोचने लगे कि 'मैं इसमें से क्या लूँ?' कालूराम फिर कालूराम रह गये। समझाने-बुझाने पर थोड़ी देर के लिये व्यापकता की दृष्टि तो होती है, फिर थोड़ी देर में कहता है लेकिन हूँ तो मैं अहं ही! वह तो कोई प्रेरक था जिससे व्यापक दृष्टि बन गई थी। फिर वही अहं रह जाता है। सारे के सारे कार्य अहं के लिये, शरीर, मन आदि के लिये होने लग जाते हैं। साधक अवस्था में आदमी पहले ये

संसारी-भाव दबाता है, ये नष्ट नहीं होते।

लेकिन तत्त्वबोध से नवीन भाव का उदय हो जाने से उसे ब्रह्मभाव ही नित्य प्रतीत होता है। इसलिये व्यापक भाव ही उसे भासता है। अब उसे अहं के अन्दर कभी भी आत्मबुद्धि होती ही नहीं। मैं उसे कभी आत्मा नज़र नहीं आता, ब्रह्म में ही आत्मा नज़र आती है। नतीजा बड़ा विचित्र है। अहं क्या था? माया के अधीन था। जीव माया के ही अधीन होता है। ब्रह्म माया का अधीश होता है। थोड़ा-सा ही फ़र्क है, नन्ने और शश्शे का ही फ़र्क है। अब वह क्षणमात्र को भी अपने को माया के अधीन नहीं देखता है। अब वह माया को जानता है कि यह तो मेरा औजार है, मैं इसका अधीश हूँ। इसलिये उसे माया के साथ खेलते हुए बंधन की प्रतीति नहीं होती। भगवान् ने गीता में कहा कि वह चाहे कुछ करता रहे, लेकिन करते हुए भी वह नहीं करता है। यह एक अनुभूति है। यह नहीं कि करते समय कर्त्ता बन जाये और कहे कि मैं नहीं करता। वह माया के साथ खेलते हुए एक क्षण के लिये भी बन्धन का अनुभव नहीं करता। माया मेरे ऊपर हावी है यह उसकी प्रतीति नहीं है। बल्कि उसका ही एक औजार है, उसके द्वारा खेल रहा है।

हम लोग प्रायः क्या करते हैं? एक औरत ने अपने घर वाले से कहा कि 'मेरे को तुम पंद्रह हज़ार रुपये दिला दो तो मैं तीन तल्ले का मकान बना दूँ।' उसने कहा 'मैंने पता लगा लिया है, बन जाता है।' घर वाले ने उसे काफी समझाया, नहीं मानी तो रुपये दे दिये कि देखें कैसे बनाती है। उसके मकान के पास में ही एक-दूसरे मकान वाले ने तीन तल्ले का मकान बनाया था। पहले दो तल्ले का बना हुआ था और फिर तीसरा तल्ला बनाया था। इसके मन में जलन हो कि उसके जैसा मेरा भी हो। इसने उससे पूछा कि तीसरे तल्ले में कितना खर्चा हुआ। उसने कहा 'पंद्रह हज़ार।' जब उसके आदमी ने रुपये दे दिये तो उसने इंजीनियरों को बुलाया और कहा कि इसके जैसा ही तीन तल्ले का मकान बनाना है। इंजीनियर नक्शा बनाकर लाया और उसे समझाया कि यह पहला तल्ला, वह दूसरा तल्ला और यह तीसरा तल्ला है। उसने कहा-'मेरे को पहला-दूसरा तल्ला नहीं चाहिये, मेरे को तो तीसरा तल्ला ही चाहिये! मेरे पास पंद्रह हज़ार रुपये हैं।' इंजीनियर ने कहा 'इतने तो नींव में ही खर्च हो जायेंगे।' बोली 'मेरे को नींव भी नहीं चाहिये।' वह हाथ जोड़कर चला गया कि बिना नींव और पहले-दूसरे तल्ले के तीसरा तल्ला कैसे बनायें! अब वह सब जगह घूम रही है कि कौन बनाये, क्योंकि उसे तीसरा तल्ला पंसद आया हुआ है। उसका बेचारी का कसूर नहीं है। कसूर तो इंजीनियर का है जिसे बनाना नहीं आता।

ठीक इसी प्रकार से मनुष्य कहता है कि मुझे तो पूर्ण बोध (पूर्ण ज्ञान) चाहिये। उससे कहो कि पहले विवेक, वैराग्य आदि की नींव खोदो; तो कहता है कि इससे क्या मतलब! हमें तो ब्रह्म में स्थित होना है। न हमें विवेक वैराग्य की नींव खोदनी है, न शम, दम आदि का पहला तल्ला और न श्रवण, मनन का दूसरा तल्ला बनाना है; हमें तो तीसरा तल्ला, पूर्ण ज्ञान चाहिये। सब

तरफ घूम रहे हैं, कौन बनाये? लेकिन तीसरा ही पंसद है, पहले दूसरे से कोई मतलब नहीं। क्या कारण है कि हमारी बुद्धि दृढ नहीं हो पाती? यही कारण है, इसलिये पुनः फिसलकर अहं पर ही रह जाते हैं, उससे आगे नहीं आ पाते हैं। इन चीज़ों को जैसे-जैसे दृढ भाव से करके आगे चलते जाते हैं, तब आत्मा का पूर्ण रूप से विकास होता है, और माया-अधीनता नष्ट होकर नवीन व्यक्तित्व आ जाता है। तब मनुष्य को फिर ज़ोर नहीं लगाना पड़ता। पहले भी कई बार कहा है कि संसारी भाव हठ से नष्ट नहीं होता। लोग ऐसा करते हैं कि 'मैं दूसरे के लिये कार्य करूँगा' लेकिन यह तब तक नहीं होगा जब तक ब्रह्मज्ञान (आत्मज्ञान) नहीं होगा। इसके बिना दूसरे के लिये करना असम्भव है, करोगे परार्थ लेकिन अंतःकरण में होगा कि मेरा अंतःकरण शुद्ध हुआ या नहीं। इसलिये यह हठ से नहीं होता। तब होता है जब धीरे-धीरे विकास होता है। तब पता लगता है कि मैंने स्वार्थ का त्याग किया। इस प्रकार स्वार्थ त्याग करके अपने स्वरूप के अन्दर जो पूर्ण स्थिति वाले हैं, वे ही भगवती का भजन करते हैं। वे ही धन्य हैं जिन्होंने अहंभाव को हमेशा के लिये छोड़कर व्यापक अनंत भाव में स्थिति को प्राप्त कर लिया है। यह स्थिति कैसी है, इस पर आगे विचार करेंगे।

## प्रवचन-४३

१-५-७२

भगवती का भजन वास्तविक रूप से कौन कर सकते हैं? जिन्होंने जो कुछ भी कृत्य था वह कर लिया, जो कुछ भी प्राप्तव्य था, वह प्राप्त कर लिया। अर्थात् परब्रह्ममहिषी का वास्तविक भजन केवल ज्ञानी ही कर सकते हैं। ज्ञान की पूर्णता के बिना किया गया भजन वास्तविक भजन नहीं है क्योंकि वहाँ भक्त और भगवान् के बीच में पर्दा बना रहता है। वह पर्दा स्वार्थ ही है। ज्ञान के पहले भगवान् भक्त के लिये है, परमात्मा जीवात्मा के लिये है। परमात्मा से जीवात्मा को कुछ लेना है। ज्ञान के बाद जीवात्मा अर्थात् अहंकारात्मिकावृत्तिविशिष्ट चेतन परमात्मा के लिये है अर्थात् चिन्मात्र के लिये है। यह जो विपरीतकरण है, यही वस्तुतः ज्ञान होना है। ज्ञान के बाद किसी के दो सींग नहीं निकल आते बल्कि क्षणमात्र के लिये भी चित्त में किसी भी प्रकार का राग स्पर्श करता नहीं है। भगवान्  सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'रागो लिंगम-बोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।' कैसे पता लगे कि हमारे अंतःकरण में बोध है या अबोध है? बोध और अबोध (ज्ञान और अज्ञान) का पता अंतःकरण में ही लगना है। आत्मा नित्य मुक्तस्वरूप है, इसलिये आत्मा में न बोध, न अबोध है। या कह सकते हो कि बोध भी है और अबोध भी है। बोध और अबोध अंतःकरण में देखे जायेंगे। अंतःकरण के अन्दर या मोटी भाषा में मन में, यदि राग है तो अबोध अर्थात् अज्ञान है। चित्त का व्यायाम चित्त में स्पन्द या स्फुटन, स्फोट होना है; यदि राग का स्फुटन है तो उस अंतःकरण में अबोध है।

जिस पत्थर के ऊपर खड़े होकर बड़े ज़ोर से कूदेंगे उस पत्थर की मिट्टी की पकड़ ढीली हो जाती है। पत्थर मिट्टी में गड़ा हुआ है, उसपर तुम खड़े होकर कूदे, फिर तुम तो चले गये, लेकिन तुम्हारे कूदने का निशान रहता है कि वह पत्थर ढीला हो गया। ठीक इसी प्रकार से जिस अंतःकरण से कूद कर ब्रह्माकार वृत्ति ब्रह्म को विषय करती है उस अंतःकरण, मन पर भी अपनी कुछ छाप छोड़ जाती है। उस अंतःकरण या मन से अब तुम्हारा कुछ सम्बन्ध नहीं रहा। ज्ञानी को उस देह और मन से कोई मतलब नहीं है। छांदोग्योपनिषद् कहती है, जैसे साँप अपनी केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही ज्ञानी अपने शरीर और मन को छोड़ देता है। उसको क्षणभर के लिये भी उसकी तरफ कोई दृष्टि बनती नहीं है, उधर दृष्टि होती ही नहीं है। ज्ञानी की दृष्टि से उस मन में क्या होता है    इससे कोई मतलब नहीं है। लेकिन अज्ञानी जब उस मन को देखता है तो उस मन में कुछ विशेषता देखता है। वह विशिष्टता है कि उसके अन्दर कहीं भी राग का स्पर्श नहीं रह जाता। न जीवन के प्रति और न मरने के प्रति राग रहता है। भगवान् भाष्यकार भगवत्पाद शंकर लिखते हैं 'जीवने मरणे वा गृधिं मा कार्षीः।' न जीवन के लिये और न मरण के लिये ही मन में स्पृहा रह जाती है। जब जीवन और मरण के प्रति ही निःस्पृह है, गृधारहित

है, तो अन्य किसी चीज़ के प्रति तो राग सम्भव ही नहीं है।

इसलिये उसकी दृष्टि नित्य-निरंतर किधर लगती है? जिस किसी भी चीज़ से नीरागता (रागहीनता की अभिव्यक्ति) होती है, उधर ही उसकी सारे अंतःकरण की गति होती है। शास्त्रों में बताया है 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं उसकी समाधि हो जाती है। कारण क्या है? अज्ञानी का अंतःकरण जब किसी पदार्थ की तरफ जाता है तो पहले के राग, द्वेष रूपी संस्कारों के कारण वह उस पदार्थ को पूरी तरह से नहीं देख पाता। एक नियम याद रखना कि कोई भी नई चीज़ जिसका पहले कभी अनुभव नहीं किया, जब सामने आती है तो मन विस्मित होकर स्तब्ध हो जाता है। फिर उसके बाद उसको पूर्व अनुभवों के अनुसार समझने लगेगा। जब कहीं-न-कहीं पूर्वानुभव से संगति लग जायेगी, तब फिर मन को कुछ चैन आयेगा। यह मन का स्वभाव है। उस चीज़ को जब दुबारा, तिबारा, दस बार अनुभव करेगा तो धीरे-धीरे इसका अभ्यास हो जायेगा और अब उसे उसको देखकर स्तब्धता नहीं आयेगी। यह मन का स्वभाव है। जितना-जितना अंतःकरण राग-द्वेषरहित होता चला जाता है, उतना ही उतना जो पदार्थ सामने आया, वह उसे सर्वथा नवीनवत् ही प्रतीत होता है, इसलिये चित्त झट स्तब्ध हो जाता है। चूँकि चित्त राग-द्वेषरहित होने के कारण स्तब्ध हो जाता है इसलिये जिस किसी चीज़ में मन गया, वहीं राग-रहित स्पन्द हो गया। समाधि का लक्षण ही रागशून्य निस्पन्दता है। यह नहीं समझना कि यह बैठकर समाधि लगाता है। जैसे किसी नवीन पदार्थ को देखते ही तुम मन को दाने नहीं फैंकते, अपने आप स्तब्ध हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी को समाधि लगानी नहीं पड़ती।

कितना बड़ा आश्चर्य है कि जो कभी भी चक्षु का विषय नहीं, वह ब्रह्म चक्षु का विषय, उपाधि वाला होकर, प्रतीत होता है। जैसे भगवान् विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं कि संसार में एक बहुत बड़ा आश्चर्य क्या है? कहते हैं शरीर से एक बूंद पानी बनकर चेतना को प्राप्त करके तुम्हारे सामने खड़ा होकर कहता है 'बाबू जी! आप इस बात को नहीं समझते।' इससे बड़ा और कोई करिश्मा, चमत्कार क्या हो सकता है? लेकिन क्यों हम इस बात से निःस्पंद नहीं हो जाते? क्योंकि देखते-देखते आदत पड़ गई है। यदि कोई आदमी तुम्हारे सामने एक मिट्टी के ढेले को फूल का गुच्छा बना देता है तो कहते हो बड़ा सिद्ध है, क्योंकि तुमने पहले वैसा नहीं देखा है, इसीलिये स्तब्धता है। बेचारी घरवाली कहती है कि 'मैंने कितना बड़ा आश्चर्य प्रकट किया, उसने तो मिट्टी से फूल बनाया था, मैंने तो तेरे जैसा बना दिया', लेकिन वह घरवाली को बुद्धू समझता है, क्योंकि देखते-देखते आदत पड़ गई है। इसलिये उससे स्तब्धता नहीं आती। इसी प्रकार से सामने हमको घड़ा दीख रहा है। घड़ा वस्तुतः सद्रूप ब्रह्म है। वह सद्रूप ब्रह्म असत्, जड हुआ दीख रहा है, इससे बड़ा करिश्मा कोई हो सकता है? लेकिन रोज़ देखते-देखते आदत हो गई है, इसलिये उसकी विस्मयता को समझ नहीं पाते हैं। जब कभी

बिजली बन्द हो जाती है तो लोग बड़ा हल्ला मचाते हैं, कि 'कैसी दुर्व्यवस्था है, देखो दिन के समय तीन-तीन घण्टे बिजली बन्द हो जाती है।' हम उनसे कहते हैं कि हम तो आज तक इस आश्चर्य को देख रहे हैं कि बिजली आ कैसे जाती है! तुमको आश्चर्य होता है कि बिजली चली कैसे जाती है। यदि सरकार ने नियम कर दिया होता कि साल में २६ जनवरी के दिन रात को १२ बजे से लेकर १२ बजकर १० मिनट तक करिश्मा देखना, अकस्मात् सारी दिल्ली में रोशनी आ जायेगी, देखना कि उस समय प्रधानमंत्री हाथ थोड़ा नीचे करेगी, तो सब तरफ रोशनी और थोड़ा हाथ ऊपर करेगी तो बस, सब रोशनी बन्द! तो २६ जनवरी को लोगों की भीड़ देखने आती कि ज़रूर कोई-न-कोई शक्ति प्रधानमंत्री के हाथ में आई हुई है। इसे देखकर करिश्मा मानते हैं। लेकिन तुम रोज़-रोज़ देखते हो कि बिजली का बटन ज़रा-सा नीचे दबाने से रोशनी और फिर ऊँचा किया तो बन्द हो जाती है इसलिये उसे करिश्मा नहीं मानते। इसको तुम करिश्मा क्यों नहीं समझ पाते? 'अतिपरिचियाद् अवज्ञा संततगमनाद् अनादरो भवति।' किसी के साथ अत्यंत परिचय होने से उनके प्रति अवज्ञा हो जाती है। हमेशा कोई किसी के घर जाता रहे तो फिर वहाँ कोई आदर नहीं देता। इसी प्रकार उस ब्रह्म के घट पट आदि रूप से हमारा बड़ा परिचय हो गया है, इसलिये वह सत्-चित् सर्वव्यापक होते हुए भी असत्, जड और परिच्छिन्न प्रतीत होता है। यह तुमको करिश्मा नहीं लगता अतः कहते हो 'यह तो सब जानते हैं, कोई नई बात ब्रह्म के बारे में बताओ।' जब किसी से कहते हैं कि 'समाधि में संसार का भान नहीं रहता, आनंद का भान होता है', तो कहते है 'हाँ जी।' फिर पूछते हैं 'सुषुप्ति में भी ऐसा ही होता है?' तो कहते हैं 'वह तो होता ही है, समाधि की बात बताईये।' बेचारी सुषुप्ति का कसूर है कि रोज़ आ जाती है। ब्रह्म का संतत गमन है, निरंतर तुम्हारे सामने प्रकट होता रहता है। इसीलिये परमात्मा का इतना बड़ा अनादर है। परमात्मा के अनादर का कारण यही है कि एक क्षण तुमसे दूर नहीं होता है।

ज्ञानी चूंकि उसके इस आश्चर्य को समझता है, इसलिये वह उसकी अवज्ञा या अनादर नहीं करता। जब-जब वह किसी भी उपाधि वाला प्रतीत होता है तो उसका मन स्तब्ध रह जाता है कि जो नित्य अदृश्य वह दृश्य हो गया! कितना बड़ा आश्चर्य है कि जो कण-कण और हर क्षण में व्यापक है वह मुझे इस उपाधि के अन्दर आया प्रतीत होता रहा है। उसे बड़ा आश्चर्य होता है। इसीलिये जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, इस आश्चर्य के कारण वह स्तब्ध हो जाता है। नीराग (रागरहित) होकर स्तब्ध होने के कारण सर्वत्र समाहित हो जाता है। सब नाम-रूपों में वह उसे जानता है। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' पहचानता है कि यह सारा का सारा वासुदेव ही है। विष्णुपुराण कहता है 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः' यह जो मेरे अन्दर अहं-रूप से स्पन्द हो रहा है, वह हरि है। अन्दर जो अहं होकर स्फुरण करता है, बाहर वही इदंता (thisness) होकर स्फुरण करता है। बाहर कोई भी चीज़ दिखाई देगी तो इदं (यह) रूप से

दिखाई देगी। वह ब्रह्म ही 'यह' बना है। अंदर जब चीज़ प्रतीत होगी तो मैं-रूप से प्रतीत होगी। यह भी हरि ही हो रहा है। जानकार कहता है, ग़जब हो गया, एक ही चीज़ अत्यंत विरुद्ध धर्म वाली दृश्य और द्रष्टा रूपों में साथ-साथ प्रतीत हो रही है। साधारणतया देख रहा है कि जो दृश्य है वह द्रष्टा नहीं, जो द्रष्टा है, वह दृश्य नहीं। बड़ा विवेक करके उसने यह निर्णय किया था। अब पता लगा कि जो द्रष्टा बना हुआ है वही दृश्य बना हुआ है और यह भी नहीं कि एक के बाद दूसरा बनता हो; साथ ही साथ बनता है। अहं का स्पंदन भी उसे उतना स्तब्ध कर देता है जितना इदं का करता है। इसलिये वह दुगुना स्तब्ध हो जाता है। उसका यह स्तब्धीभवन स्वाभाविक और सहज है, प्रयत्न से नहीं होता है।

लेकिन साथ में जानता है कि इन दोनों रूपों में स्वतंत्रता से ही मैं बना हुआ हूँ। न दृश्य मैं किसी पराधीनता से बना हुआ हूँ और न द्रष्टा मैं किसी की पराधीनता से बना हूँ। अब तक तो पराधीनता कहीं-न-कहीं से खींचकर लाया करता था, लेकिन अब वह जानता है कि प्रतीति के पूर्व और पर द्रष्टा- दृश्य कुछ भी नहीं है। प्रतीति के काल को छोड़ दो, तो सिवाय ब्रह्म के कहीं कुछ नहीं है और वही प्रतीतिरूप मैं हूँ। इसलिये स्वतंत्र होकर ही मैं दृश्य और द्रष्टा दोनों बनता हूँ। मेरी मोहर लगे, मुझे प्रतीति हो, तभी वह दृश्य सिद्ध होगा और जब मेरी मोहर लगेगी तभी द्रष्टा सिद्ध होगा। मेरी मोहर के बिना जितने कागज़ात हैं, तब नाजायज़ हैं। अभी तक मानता है कि बिना वाइस चांसलर के दस्तखत के भी सर्टिफिकेट हुआ करता है लेकिन अब जानता है कि जिसके ऊपर मेरी प्रतीति की मोहर नहीं, वह चीज़ है ही नहीं। विचार करो, जिसकी मोहर के बिना किसी चीज़ की सिद्धि नहीं हो सकती वह स्वतंत्र हुआ या परतंत्र हुआ? प्रतीति या ज्ञान, एक ही बात है। ज्ञानी की मोहर के बिना न ज्ञाता और न ज्ञेय है।

इसीलिये उसके अंदर अविचलित गांभीर्य रहता है। उसके अंतःकरण में जैसे वैराग्य, अभय, अशोक, आनंद रहता है, इसी प्रकार से उसके अन्दर एक अविचलित गंभीरता रहती है। सारे छिछलेपन का बीज क्या है? पराधीनता का बोध ही छिछलेपन का बीज है। कौन अपने धन को दिखाता है? कौन जनाना चाहता है कि मेरे पास धन है? जो परतंत्र है। जिसके पास अपना धन होगा वह दिखाने के चक्कर में नहीं है। जिसको दूसरे से धन लेना हो वह दिखाता है, क्योंकि रुपये की विशेषता है कि रुपया रुपये को खींचता है। यह विचित्र बात है। तुम पचास लाख रुपया लगाकर एक कम्पनी खड़ी कर लो तो दूसरे बेचारे रुपया जमा कराने वाले पाँच करोड़ फँस जायेंगे। और बाद में कहो कि 'मेरे पास कुछ नहीं है। पाँच-पाँच रुपये दे दो', तो कोई नहीं देगा! यह रुपये की विचित्रता है। जिसको कहीं से खींचना होगा वह दिखायेगा, जिसको खींचना ही नहीं, वह क्यों दिखायेगा? छिछलेपन का कारण होता है, गंभीरता का न होना और अन्दर में कहीं अधीरता का बोध होना। यह जब जानता है कि मुझ ज्ञान की मोहर के बिना कहीं कोई चीज़ प्रतीत होनी ही नहीं, तो वह ऐसा गंभीर हो जाता है कि कभी भी उसके

गांभीर्य में चंचलता नहीं आती। इस अविचलित गाम्भीर्य के कारण ही वह किसी भी छोटे-मोटे दृश्य पदार्थों को कुछ नहीं समझता। ये दृश्य पदार्थ पृथ्वी के राज्य आदि ही नहीं समझ लेना, ब्रह्मा, विष्णु के पद को भी वह कुछ नहीं समझता। एक-एक ब्रह्माण्ड में एक-एक ब्रह्मा विष्णु होते हैं। ऐसे अनंत कोटि ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करने वाला मैं  यह जो उसकी दृष्टि है, इसलिये उसका जो अविचलित गाम्भीर्य है, वह उसको हर चीज़ में महान् बना देता है।

महर्षि वशिष्ठ योगवाशिष्ठ में कहते हैं 'महाकर्त्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ' हे अनघ! (पापरहित राम)! अब तेरी ज्ञान में स्थिति हो गई है। अब तू कर्त्ता मत बनना, महाकर्त्ता बनना। श्रुति कहती है 'आत्मरतिः आत्मक्रीडः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' आत्मरति और आत्मक्रीड हुआ क्या करता है? ब्रह्मविदों में वरिष्ठ क्रियावान् होता है, वह महाकर्त्ता होता है। उसकी क्रियायें अल्प नहीं होतीं, क्योंकि उसका अविचलित गाम्भीर्य है। क्रियावान् मायने क्या? महाकर्त्ता का मतलब क्या है? वह लौकिक क्रियायें करता हो, ऐसा नहीं समझना, क्योंकि लौकिक क्रियायें वह तब करे जब लौकिक क्रियाओं से प्राप्त होने वाले पदार्थों की तरफ उसकी दृष्टि हो। विचार करो, जिसको प्रधानमंत्री पद पर अरूढ होने की क्रिया करनी हो, वह ग्राम-पंचायत में सरपंच के चुनाव लड़ेगा? कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार से जो इस समग्र ब्रह्माण्ड को ज्ञान के द्वारा बाधित करता है, वह यहाँ के तुच्छ पदार्थों के लिये क्रिया करेगा? महाकर्त्ता का लक्षण स्वयं वशिष्ठ जी ने किया है

'मौनवन्निरहंभावो निर्मलो गतमत्सरः।
यः करोति गतोद्वेगं महाकर्त्ता स उच्यते।।' (निर्वाण. ११५.१३)

उसका मन हमेशा मौन की तरह रहता है। मौनवत् कहा है, यह याद रखना। मौन का मतलब क्या है? यह ज्ञानी के मौन का विषय है। मुँह बन्द करना या जबान पर लकड़ी चढ़ा लेना मौन नहीं है! मन के अन्दर इस बात का निश्चय कि जितना नामरूपात्मक जगत् है इसको वाणी नहीं कह सकती। संसार के नापरूपों को सत् नहीं कह सकते, क्योंकि यदि सच्चे होते तो नष्ट नहीं होते। असत् नहीं कह सकते क्योंकि असत् होते तो प्रतीत न होते। इसलिये नामरूपात्मक जगत् न सत् और न असत् है। इसलिये वाणी का विषय नहीं है। वेदांत में इसीलिये उसे अनिर्वचनीय कहा है।

दूसरी तरफ, ब्रह्म वाणी के परे है। वाणी किसी चीज़ को तभी विषय करती है जब या तो उसके गुण को बताये, अथवा किसी क्रिया को बताये या सम्बन्ध से बताये। जाति से भी नाम पड़ जाता है। किसी चीज़ का नाम इन्हीं तरीकों से पड़ता है। ब्रह्म में जब यह सब है ही नहीं तो वह किस शब्द का विषय बने! इसलिये किसी भी शब्द का विषय ब्रह्म नहीं है। यहाँ तक कि यदि सच्ची बात पूछो, तो लक्षणा का भी *विषय* ब्रह्म नहीं है। लक्षणा का मतलब है जिस

पदार्थ का नाम पड़ा हुआ हो, उसके साथ सम्बन्ध, 'शक्य-सम्बन्धो हि लक्षणा।' जैसे नदी एक चीज़ और उससे समबन्ध वाला तट हुआ, इसलिये नदी-शब्द से नदी का तट समझ जाओगे क्योंकि सम्बन्ध वाला है। अब यह बताओ कि ब्रह्म का सम्बन्ध किस चीज़ से है? किसी भी चीज़ से उसका सम्बन्ध नहीं है। जब किसी भी चीज़ से उसका सम्बन्ध नहीं है तो लक्षणा कहाँ से करोगे, क्योंकि शक्य से सम्बन्ध हो तभी लक्षणा होगी। न उसका खुद का नाम पड़ा हुआ है और न उसका कोई सम्बन्ध हुआ जिसके चलते उसका सम्बन्धी शब्द हो सके। इस तरह नाम-रूप भी अनिर्वचनीय है, शब्द के द्वारा नहीं कहा जा सकता, और ब्रह्म भी शब्द के द्वारा नहीं कहा जा सकता, इसलिये वह भी अनिर्वचनीय है; इस बात का जो निश्चय है, वही मौन है।

सारे हमारे झगड़े संसार के विषयों को लेकर हैं। संसार के विषय में हम समझते हैं कि जो हम कहेंगे वही ठीक है। संसार के व्यवहार के झगड़े इसलिये हैं, कि हमारा आग्रह है कि नामरूप के विषय में जो हम सोचते हैं, जो हम दूसरे से कहते हैं वही सच्चा है। तभी दूसरे से झगड़ा होता है। 'मेरा कहना ठीक है, मेरा समझना ठीक है और तेरा कहना-समझना गलत है' यही झगड़े का मूल है। ज्ञानी का निश्चय है कि अरे, जब सब कुछ अनिर्वचनीय है तो यह कहना कि यही सत्य है, कैसे ठीक हो सकता है? संसार में सब कुछ अनिर्वचनीय है, इसलिये कहीं कोई असम्भव बात नहीं है। जो चीज़ दृष्टिरूप है, वह दृश्य और द्रष्टा बन जाती है; जब उसको यही आश्चर्य नहीं लगता है, तो बाकी कहाँ उसे आश्चर्य होगा! बाह्य जगत् के प्रति, उसके किसी भी अनुभव के प्रति, उसका आग्रह नहीं बन पाता है। अपनी आँख से देखने पर भी उसको लगता नहीं है कि यह सत्य चीज़ है, इसलिये उसका किसी से झगड़ा नहीं है।

दूसरी तरफ, जो लोग संसार के विषयों को अनिर्वचनीय मान भी लेते हैं, वे ब्रह्म के विषय में झगड़ते रहते हैं कि 'मैंने जो लक्षण-प्रमाण दिये, बस ब्रह्म का वही रूप है, और कुछ नहीं।' संसार से छूटे तो उस ब्रह्म पर जाकर आग्रह वाले हो गये जो मन और वाणी का अविषय है। चूंकि आत्मबोध वाला इस बात को जानता है कि ये दोनों चीज़ें मन और वाणी के परे हैं, इसलिये किस विषय में कहा जाये कि यह सच्चा है! 'कहा' केवल मुँह से नहीं समझना, किस बारे में सोचा भी जाये कि यह कैसा है। यह जो दृढ निश्चय है, इसी को यहाँ मौनवत् बताया है।

वह बोलता भी है, दूसरे की बात समझता भी है, समझाता भी है। ब्रह्म के विषय में भी कहता है, जगत् के विषय में भी कहता है। लेकिन सब समय उसके हृदय में यह निश्चय है कि सारा-का-सारा नाटक है। बहुत साल पहले एक बार यहीं अपने आश्रम में वृन्दावन से रासमण्डली वाले आये। बाहर प्रांगण में उन्होंने रास किया और इस हॉल में पोशाक इत्यादि पहनाने और सिखाने वाले बैठे थे। रास हो रहा था। एक अंक होने के बाद किसी काम के लिये

अन्दर आये, हम ऊपर थे। पहले अंक में कृष्ण ने बाहर कुछ कहने में गलती की होगी। एक मोटे-तगड़े आदमी ने अन्दर आते ही, बाहर कृष्ण का पार्ट करने वाले को एक थप्पड़ मारा। वह नौ-दस वर्ष का बच्चा था, बेचारा रोने लगा। फिर पुचकार कर बाहर ले आये और लोग आरती उतारने लगे! हमने कहा, यह नाटक है, यही संसार है। बाहर जो कृष्ण है, वही अंदर थप्पड़ खाने वाला है। अब उसे क्या मानें? कृष्ण मानें या थप्पड़ खाने वाला मानें? अनिर्वचनीय है। बाहर देखने वाले सब बड़े ज़ोरों से आग्रहपूर्वक कहते हैं कि यह कृष्ण ही है। कोई आदमी यदि आरती न ले तो दूसरे कहते हैं कि 'यह बड़ा नास्तिक है। भगवान् की आरती नहीं ले रहा है।' अन्दर वाले को कहो, वह तुमने क्या कर दिया, कृष्ण भगवान् को थप्पड़ मार दिया? कहता है 'मैंने ही तो सजाकर बनाया है!' संसार के यावत पदार्थ ऐसे ही हैं।

जब हम ही सब पदार्थों के ऊपर प्रतीति की मोहर लगाने वाले हैं तो वह हमारे ऊपर हावी हो जाये, कभी हो सकता है? यदि हमने कोई अनुभूति की तो क्योंकि हमने ही प्रतीति का उसपर ठप्पा मारा अतः अब हम उसमें खुद ही कैसे फँस जायें? हम कैसे उसे सत् मान लें, असत् का ठप्पा कैसे न मार सकें। क्यों परतंत्रता आ जाये! हमारी मोहर लगवाकर हम ही को कैद करना चाहता है, और अज्ञान रहते, लोग कैद हो जाते हैं! ज्ञानी जिस क्षण जहाँ प्रतीति की मोहर मारता है, मोहर अपने पास रखता है, अतः अगले क्षण उस मोहर को काटकर फिर लगा ली! बैंक के चैक में कोई गड़बड़ी हो जाये तो उसे काटकर फिर उसपर अपने दस्तखत कर दो तो वह चैक जायज हो जाता है। तुम्हारा लिखा हुआ, तुमको काटने का अधिकार है। इसी प्रकार इस काल में हमने कहा 'घटः अस्ति', फिर हमने कैंसल कर दिया 'घटो नास्ति।' अब, हमारी ही मोहर लेकर कोई हमारे ही सिर पर सवार हो, यह हम कैसे मानें? ज्ञानी मोहर अन्य किसी को नहीं देता, अपने पास ही रखता है। प्रतीति, विद्या उसका स्वरूप है, कैसे उससे दूर जायेगा। यही उसका महाकर्त्तापना है। अज्ञानी तो कार्य कर लेते हैं और करके खुद उसमें फँस जाते हैं। कोई सज्जन हमको कह रहे थे 'महाराज! यह वही मकड़ी का जाल है, अपने बनाकर खुद उसमें फँसी हुई है।' हमने कहा, तुमने मकड़ी को ध्यान से नहीं देखा है। सच्ची मकड़ी अपना जाल बनाकर उसमें फँस जाती है और फिर उस सारे जाल को अपने मुँह में लपेट लेती है। 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' ऊर्णनाभि बना सकती है तो वापिस भी ले लेती है। 'सृजते' कहकर श्रुति चुप नहीं हुई, कहा 'गृह्णते च'। वापिस भी ले लेती है। मकड़ी ने जाल बनाकर प्रकट किया था तो खुद बटोर भी लिया। तुमने ही स्वरूप बाहर फैंका है, यह व्यर्थ का आग्रह है कि 'मैंने बनाया है, मैं कैसे बिगाड़ूँ।' यदि बिगाड़ने की ताकत नहीं हुई तो तुम परतंत्र हो गये। यदि ब्रह्म केवल सृष्टि कर सके, प्रलय न कर सके तो वह ब्रह्म नहीं रहता। फिर तो वह परतंत्र हो गया। यह जो उसका स्वातंत्र्य है, इसीलिये उसे महाकर्त्ता कहा।

'निरहंभावः' मनन के साथ ही क्रिया काल में उसकी ऐसी वृत्ति क्यों होती है? उसमें हेतु

दिया 'निरहंभावः' उसके अन्दर किसी भी चीज़ के प्रति अहंता नहीं होती अर्थात् वह अहंभाव से रहित होता है। अहं एक भाव है। वशिष्ठ जी के शब्द पर ध्यान देना, मैंपना एक भाव ही है। ऐसा नहीं कि मैं कोई चीज़ हो। लोग प्रायः अन्यत्र तो भाव समझ लेते हैं, जैसे 'किस भाव से मंदिर गये', 'विष्णुभाव से पूजा की या नहीं' 'अपना-अपना भाव है' इत्यादि तो वे मानते हैं लेकिन यह नहीं मान पाते कि अहं भी एक भाव ही है। अगर तुमने अहं को वस्तु मान लिया तो यह इतना बड़ा है कि तुमको निगल जायेगा! रामायण में कथा आती है : हनुमान् जी लंका जा रहे थे तो रास्ते में उन्हें एक बड़ी भारी राक्षसी सुरसा मिली। हनुमान् जी ने सोचा, उसको खा जायेंगे, राक्षसी है, मार डालेंगे। वह राक्षसी मुँह फाड़कर उन्हीं को खाने दौड़ी! जितना-जितना राक्षसी ने मुँह फाड़ा, उतना-उतना और उससे भी ज़्यादा हनुमान् जी ने मुँह फाड़ा। अंत में हनुमान् जी ने सोचा कि 'बड़ा टेढ़ा मामला है, ऐसा लगता है इससे चौड़ा मुँह करके नहीं सक सकते' इसलिये तुरंत अंगुष्ठप्रमाण हो गये। उसका बेचारी का मुँह बड़ी ज़ोर से फटा हुआ था। हनुमान् जी अँगूठे जैसे होकर मुँह में गये और कानों से निकल आये। वह बेचारी मुँह फाड़े ही रही।

उपनिषदों ने अंगुष्ठमात्र बनने का उपाय बताया। जिस समय तुम साधना के अन्दर विजय करने के लिये आगे जाते हो तो अहंता की राक्षसी मुँह फाड़ती है। जितना वह अपना मुँह फाड़ती है, तुम दुगना फाड़ते हो, सोचते हो, इस उपाय से इसे नष्ट कर दोगे। इसी उपाय का अवलम्बन करते हो, लेकिन इस उपाय से इससे कभी जीत नहीं सकते। इसलिये उपनिषदों ने (कठ. २.१.१२) उपाय बताया 'अंगुष्ठमात्रःपुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते।।' प्रायः मनुष्य कहता है कि मैं खुद ध्यान करना चाहता हूँ, लेकिन अहंता को फैलाता है। पुत्र में, धन में, न जाने कहाँ-कहाँ तक फैलाता है, क्योंकि अहंता को फैलाने में सुरस (अच्छा रस) आता है। जितना-जितना पदार्थों के साथ सम्बन्ध करते हैं, उतना-उतना सुरसा बनते जाते हैं । जितना-जितना अहंता को बढ़ाओगे, उतना-उतना उसका रस बढ़ता जायेगा। इसका कभी अंत नहीं आना है, क्योंकि इसे समाप्त करने का यह उपाय नहीं है। इसलिये अपनी अहंता को बिलकुल छोटा कर लो। अंगुष्ठ वस्तुतः हमारे यहाँ शून्य का भी प्रतीक है। अंगूठे का अर्थ शून्य भी होता है। हमको तुमने रुपये उधार दिये, हमने वापिस नहीं दिये, कहते हो 'अंगूठा दिखा दिया' अर्थात् शून्य दे दिया। यह अहंता को अंगुष्ठ प्रमाण कर देना है, शून्य कर देना है। अब सारे रस कुछ नहीं कर सकते। जब तक तुम अहंता को रखकर रसों को जीतना चाहोगे, ये नहीं जीते जायेंगे। लेकिन जैसे ही तुमने अहंता को शून्य कर दिया, वैसे ही अब सुरसा कुछ नहीं कर सकती, क्योंकि अहंता के द्वारा ही तुमको बाँधती थी, अब जब अहंता ही नहीं तो बाँधे किस से? तुम्हारे संस्कार, वासनायें, सब अहंता के द्वारा ही फल देते हैं, मैंपना होगा, तभी वे फल देंगे। तुमको जिन चीज़ों में वासना है, वे थोड़ी-सी झाँकी दिखा देती

हैं; लेकिन दिखायेंगी अहंता को लेकर। जब अहंता नहीं तो वे झाँकी किसको दिखायें!

पहले के अनुभव के आधार पर पदार्थ तुम्हारी प्रवृत्ति कराते हैं, बंगाली मार्केट का बढ़िया रसगुल्ला खाया था। झट संस्कार उदय होता है, जो रस का उदय कराता है। कौन खाये इतनी-सी पकड़ समझ लेना : संस्कार कहते हैं 'यह रसगुल्ला मैं खाऊँ।' संस्कार यह प्रवृत्ति करायेंगे। जब मैं को शून्य कर दिया तब वे संस्कार क्या बोलेंगे! जब वे संस्कार बोल ही नहीं सकते तो प्रवृत्ति ख़त्म, फिर चाहे सारे-के-सारे सुरसा रूपी संस्कार बैठे रहें, कुछ भी नहीं कर सकते। बिना अहं को लाये हुए सारे संस्कार व्यर्थ हैं। लोग कहते हैं कि संस्कारों से प्रवृत्ति होती है लेकिन केवल संस्कारों से प्रवृत्ति नहीं होती। संस्कार तो अहं के द्वारा चीज़ सामने ला देते हैं। आगे, अहं हाँ-ना करता है। जब अहं शून्यवत् हो गया तो मुँह से अंदर गया और कान से निकल गया। कान हमारे यहाँ श्रुति को कहते हैं। संस्कृत में श्रुति का अर्थ कान होता है। वेद को इसीलिये श्रुति कहते हैं कि कान के द्वारा सुनी जाती है। जब अहं शून्य हो जाता है तब श्रुति बता देती है कि जिसको तुमने आज तक अहम्-इदं समझा था, वह सारा-का-सारा ब्रह्म ही है। जब तक अहं को शून्य नहीं कर पाओगे। तब तक ब्रह्म का उपदेश नहीं बनेगा। इसीलिये बार-बार कहते हैं अहंता का त्याग करो या अहं के अन्दर भाग-त्याग लक्षणा करो। अहंवृत्ति का त्याग किया तो आत्मातिरिक्त वहाँ कुछ नहीं बचा। अहं बेचारा वृत्तिरूप ही तो है। अहंत्यागी भागत्याग करने वाला कहता है 'मैं नहीं'। 'मैं' में दो हैं, वृत्ति और ईश्वर, इसलिये मैं नहीं तो भी ईश्वर है ही, कहो या न कहो।

जैसे हमने किसी को सिखाया कि जितने रुपये का सेर उतने आने का एक छटांक; उसने याद कर लिया, उसको दृढ ज्ञान है कि इन्होंने कहा तो झूठ नहीं बोलते हैं। उसने दुकानदारी शुरू कर दी, उसी गुर से दुकानदारी चल रही है। दूसरा उससे आकर कहता है 'तेरे को कैसे पता कि जितने रुपये का सेर उतने आने का छटांक, ऐसा नहीं।' उसने पूछा 'फिर समझाओ, कैसे होता है?' उसने कहा 'एक रुपये में सोलह आने होते हैं, इसलिये एक आना रुपये का सोलहवाँ भाग है। एक सेर में सोलह छटांक होते हैं, इसलिये छटांक सेर का सोलहवाँ भाग है। सोलहवाँ हिस्सा दोनों का हुआ, इसलिये दोनों हिस्से बराबर हुए, रुपये का सोलहवाँ हिस्सा आना, सेर का सोलहवाँ हिस्सा छटांक, इसलिये बोला जाता है कि जितने रुपये का सेर उतने आने का एक छटांक।' वह कहता है 'बात तो फिर वही आई!' कहता है 'वह तब आई जब मैंने कही!' एक कहानी आती है कि एक महात्मा किसी के घर भिक्षा लेने गये। बहू ने कहा 'हम भिक्षा नहीं देते, हमारे घर का यह नियम नहीं है।' महात्मा चला गया। इतने में सास आई, उसने बहू से कहा 'तू ऐसा कैसे कहती है। यहाँ की मालकिन मैं हूँ।' महात्मा से कहा 'आओ बाबा जी, घर की मालकिन यह नहीं, मैं हूँ।' भिक्षुक ने सोचा यह अच्छे संस्कार वाली लगती है, कहा 'दे दो।' उसने कहा 'दे दूँ! हमारे यहाँ कोई भिक्षा नहीं मिलेगी, जाओ यहाँ से।' बाबा जी ने

कहा 'फिर फालतू ही काहे को बुलाया?' उसने कहा 'इसके कहने से नहीं मिलती, मालकिन तो मैं हूँ।'

इसी प्रकार जब पहले किसी को कहते हैं अरे भाई! अहंता को छोड़। वह अहंता छोड़ने लगता है तो दूसरा कहता है, 'ऐसे थोड़े ही छोड़ी जाती है, अहंता छोड़ने से क्या होगा।' वह सोचता है कि कोई दूसरा उपाय बतायेंगे। किंतु वह इतना ही कहता है। 'अहंता में वृत्ति होती है, इसलिये अहंता को छोड़।' बात वही हुई; शून्य तो अहंता को बनाना है। जहाँ अहंता शून्य हुई तो श्रुति भगवती के कान से निकलकर पता लग गया कि वस्तुतः यही है। यही मौनवत् निरहंभाव है। यह बाहर के मौन या अहंभाव से रहित होना नहीं है। बहुत से लोग ऐसा मान लेते हैं कि बोलने का ढंग बदलने से ही निरहंभाव हो जाता है। लेकिन यह निरहंभाव नहीं है। निरहंभाव का मतलब है अहंशून्य होना। उस अहंवृत्ति में अधिष्ठान चेतन ही परब्रह्म परमात्मा है। यही निरहंभाव महाकर्त्ता का लक्षण है।

इस प्रकार कभी भी उसके मन में न ब्रह्म के विषय में वाणी की विषयता आती है और न जगत् के विषय में वाणी की विषयता आती है। दोनों को वह वाणी का अविषय जानता है। चूंकि वाणी का अविषय है, इसलिये अनुभव का भी अविषय है। न तो संसार का और न ब्रह्म का अनुभव सम्भव है, ब्रह्म अनुभवरूप है, इसलिये अनुभव में नहीं आ सकता। संसार अनुभव रूप है, मोटी भाषा में जड है। अतः उसका ज्ञान से वास्तविक संबंध संभव नहीं। चेतन इसलिये ज्ञान का विषय नहीं कि उसका रूप ही ज्ञान है। दोनों के विषय में मन और वाणी की अविषयता भिन्न-भिन्न कारणों से है। यही निरहंभाव है। उस महाकर्त्ता का रूप आगे बतायेंगे जिससे धन्यता का पूरा-पूरा पता लगे।

# प्रवचन-४४

२-५-७२

परमात्म-तत्त्व का भजन करना वास्तविक रूप से तब तक सम्भव नहीं जब तक मनुष्य धन्य नहीं हो जाता, कृत-कृत्य नहीं हो जाता अर्थात् अपने स्वार्थ को छोड़ नहीं देता। जब तक अहं के ऊपर चढ़ा हुआ है तब तक परमात्मा का भजन नहीं और अहं को छोड़ने के बाद संसार का भजन नहीं। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद ब्रह्मसूत्रभाष्य में लिखते हैं कि जैसे कोई प्रयाग में रहने वाला व्यक्ति समुद्र की तरफ चलता हुआ चाहे कि हरद्वार पहुँच जाए तो नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार से संसार की सेवा की तरफ दृष्टि वाला, परमात्मा को नहीं पा सकता, परमात्मा की सेवा नहीं कर सकता। परमात्मा की तरफ दृष्टि वाला संसार की सेवा नहीं कर सकता। चलना रूपी क्रिया में भेद नहीं है। पश्चिम में चलो तो भी एक पैर के बाद दूसरा पैर रखना है। जहाँ तक क्रिया का प्रश्न है वहाँ तक चाहे पूर्व की तरफ जाओ, चाहे पश्चिम की तरफ, एक ही काम होता है। यह नहीं कि पूर्व की तरफ जाने वाला हाथों से और पश्चिम की तरफ जाने वाला पैरों से चलता हो! जैसे पूर्व की तरफ जाने वाला समय पर खायेगा, पीयेगा, समय पर चलेगा, सोयेगा, धर्मशालाओं में ठहरेगा, उसी प्रकार से पश्चिम की ओर जाने वाला भी करेगा। चलने की क्रिया दोनों की एक जैसी है। फ़र्क केवल दिशा का है, दिशा बदल जाती है, उद्देश्य बदल जाता है। इसी प्रकार से चाहे परमात्मा का भजन करने वाला हो, चाहे संसार का भजन करने वाला हो, क्रियाओं में फ़र्क नहीं है। स्वार्थ सिद्ध करने वाला हो, परार्थ सिद्ध करने वाला हो, क्रियाओं में नहीं, फ़र्क तो केवल दिशा का है, उद्देश्य का है। इसलिये महर्षि वशिष्ठ (निर्वाण. ११५.१) कहते हैं 'महाकर्त्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ। एतद्व्रतत्रयं नाम पुरा चन्द्रार्धमौलिना।' ये तीन व्रत भगवान् शंकर ने मुझे पहले बताये महाकर्त्ता, महाभोक्ता और महात्यागी बनो।

महाकर्त्ता के स्वरूप को समझना बड़ा ज़रूरी है, नहीं तो, न अपनी अवस्था ही वासनाशून्य बन पाती है और न वासनाशून्य अवस्था को हम समझ ही पाते हैं। प्रायः मनुष्य दो कोटियों में सोचता है   या करना, या न करना। महाकर्त्ता की तीसरी कोटि नहीं समझ पाता। गीता में भी भगवान् ने तीन कोटियाँ की हैं 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।' प्रायः संसार के विचारक कर्म और अकर्म   दो को ही समझ पाते हैं, करना है या नहीं करना है। करने के जो दो भेद हैं कि अहं के लिये करना है या व्यापक के लिये करना है   इस भेद को नहीं समझ पाते। यह महाकर्त्ता है। विचार करो कि सामान्य रूप से जो व्यक्ति कर्म करता है, उसकी पदार्थों के प्रति आस्था होती है, वह उन्हें सच्चा समझता है, इसलिये उसकी क्रिया के द्वारा लोगों को भी पदार्थों में और संसार की चीज़ों में ही आस्था

बढ़ती है। जिस मनुष्य में जो आस्था होगी, उसके समीप जाने वाले में भी वही आस्था बढ़ेगी। संसार के लिये जो लोग कार्य करते हैं अथवा संसार को सत्य समझते हैं, उनकी क्रियाओं से संसार के प्रति आस्था बढ़ती है, संसार की चीज़ों में विश्वास बढ़ता है। दूसरी तरफ, जो लोग कर्म नहीं करते हैं उन लोगों की मृत्यु के प्रति आस्था बढ़ती है! दो तरह की दृष्टि समझ लेना : एक दृष्टि बनती है कि इस संसार में कुछ भी करने योग्य नहीं है, इसलिये कब मृत्यु आये और कब हमारा काम छूटे। एक तरह के लोग पदार्थों के प्रति आस्था बढ़ाते हैं और दूसरी तरह के लोग मृत्यु के प्रति आस्था बढ़ाते हैं। लेकिन जो महाकर्ता है, वह जीवन के प्रति आस्था बढ़ाता है, न संसार के पदार्थों के प्रति और न उनके अभाव, मृत्यु के प्रति आस्था रखता है। वह व्यक्ति चीज़ों को उतना सत्य नहीं समझता, जितना सत्य दूसरे प्राणियों को समझता है। अन्यथा मनुष्य या तो चीज़ों को सत्य समझता है या फिर चीज़ों के अभावरूप मृत्यु को सत्य समझता है, लेकिन प्रत्येक अंतःकरण में मुझ चेतन का प्रकाश जगमगा रहा है   इस सत्य को नहीं देखता। यह जीवन के प्रति आस्था इसलिये आती है कि वह स्वयं शक्ति का केन्द्र होता है, उससे शक्ति का विस्तार होता है, योग्यतानुसार कोई भी उससे शक्ति को प्राप्त कर सकता है। जैसे घर की बिजली से चाहे तुम पंखा चला लो, चाहे किसी से दुश्मनी हो तो उसे तार छुआ कर मार डालो। इसी प्रकार आत्मज्ञ शक्ति का एक घनीभूत केन्द्र बन जाता है, उस केन्द्र से कोई कुछ निकाल लेता है, कोई कुछ और निकाल लेता है, लेकिन इतना निश्चित है कि उसके सम्पर्क से शक्ति प्राप्त किये बिना कोई नहीं रहता।

पुराणों में जगह-जगह कथा आती है कि राक्षस ने भगवान् शंकर की आराधना की तो देवताओं को हराने का वरदान ले लिया, या ले लिया कि किसी से मरूँगा नहीं। पुराणकारों ने इसे दृष्टांत-रूप से समझाया है, ज़रा उनकी कल्पना और विचार की गम्भीरता देखो : भगवान् शंकर ने भस्मासुर को ऐसा वरदान दिया कि उनको ही मार डाले! यह कल्पना कितनी विशाल है कि जिस शक्ति के केन्द्र के पास गया उसी से उस शक्ति के केन्द्र को ही नष्ट करने की भी शक्ति प्राप्त कर लेता है। सम्भव-असम्भव का विचार अभी नहीं है। कहोगे कि यह पुराणकार की कल्पना है; तो भगवान् शंकर भगवत्पाद का जीवन देख लो   जिस समय उन्होंने कापालिक मत का खण्डन किया, उसके बाद कापालिक ने सोचा कि 'इन्होंने तो मेरा खण्डन कर ही दिया है, बदला मुझे ज़रूर लेना है।' शास्त्रार्थ में वह हार गया था। दूसरे दिन जाकर कहने लगा   'महाराज! मेरी एक इच्छा है, आप महात्मा हैं, सब कुछ देने वाले हैं। मेरी भी एक इच्छा पूरी कर दो।' भगवान् शंकर ने कहा   'क्या इच्छा पूरी करनी है?' उसने कहा   'एक ऐसा अनुष्ठान करना है जिसमें या किसी सर्वज्ञ के सिर की बलि देनी होती है या सर्वतंत्रस्वतंत्र किसी राजा के सिर की बलि देनी होती है।' दो ही स्वतंत्र होते हैं   या तो जिसके अन्दर ज्ञान की पूर्णता है वह स्वतंत्र होता है, उसे किसी परतंत्रता का बोध नहीं होता, इसलिये वह राजा को

मूर्ख समझता है। जो विद्वान् होता है वह कहता है 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।' राजा अपने राज्य में पूजा जाता है। चाहे जितने वोटों से इन्दिरा गांधी जीत जाये, यदि देश-निकाला मिलने पर अमरीका चली जाये तो कुछ नहीं कर सकती, यहाँ चाहे जितनी बड़ी बनी रहे। विद्वान् कनाडा, अमरीका कहीं भी चला जाये, उसकी विद्या की पूजा सर्वत्र होती है। वह किसी से नहीं डरेगा। या फिर चक्रवर्ती सार्वभौम राजा स्वतंत्र है। उसने कहा 'महाराज! मेरे को सार्वभौम राजा का सिर तो मिलना कहाँ से है! आपसे शास्त्रार्थ में हारकर मुझे यह दृढ निश्चय हो गया है कि आप सर्वज्ञ हो। इसलिये मैं आपका सिर माँगता हूँ, आपके सिर की बलि देना चाहता हूँ।' अब महाकर्त्ता का स्वरूप देखो भगवान् भाष्यकार हँस पड़े, कहा 'ठीक है। लेकिन ऐसा कर कि सवेरे चुपके से आ जाना, क्योंकि मैं तो अपना सिर दे दूँगा लेकिन मेरे चेले मुझसे बड़ा प्रेम करते हैं, यदि इनके कान में भनक पड़ गई तो तुझे नहीं छोड़ने वाले हैं। प्रातःकाल मैं एकांत में बैठकर ध्यान करता हूँ, उस समय मेरे पास कोई नहीं रहता, इसलिये तुम उस समय चुपचाप आ जाना और सिर की बलि दे देना।' बता दिया कि अमुक जगह ध्यान करने बैठता हूँ, तुम वहाँ आ जाना। दूसरे दिन ठीक समय पर कापालिक खड्ग लेकर पहुँचा। भाष्यकार के प्रथम शिष्य भगवान् पद्मपादाचार्य थे, उनका इष्ट भी गुरु ही थे, इसलिये सवेरे ध्यान ही गुरु का करते थे। उस दिन भी वे तो ध्यान ही गुरु का कर रहे थे; जैसे ही कापालिक पहुँचा उनके हृदय में भान हो गया कि कोई गुरु जी को नुक्सान पहुँचाने के लिये आ गया है। वे झट वहाँ से दौड़े कि जा कर देखें क्या मामला है। जाकर देखा कि कापालिक खड्ग हाथ में ले कर खड़ा है, वे क्रोध में तो थे ही, फिर क्या ठिकाना, कापालिक बेचारा मारा गया।

यहाँ बता रहे हैं कि जैसे भगवान् शंकर ने कह दिया कि 'जिनके सिर पर हाथ रखेगा वह भस्म हो जायेगा,' तो क्या वे सर्वज्ञ नहीं थे कि 'यह मेरे ही सिर पर हाथ रखेगा'? वरन् जानते थे। भगवान् शंकर भगवत्पाद ने भी अपने जीवन में यही दिखाया, वह भी सिर पर हाथ रखकर मारने वाली बात ही है। ऐसा क्यों? क्योंकि उनकी जीवन के प्रति आस्था है कि 'इस प्राणी के हृदय में इच्छा है कि मेरा सिर काट ले, यह अपनी इच्छा पूरी करे, मेरा इस देह आदि से क्या सम्बन्ध है!' एक तरफ सिद्धान्त के प्रति इतना आग्रह कि बौद्ध, नैयायिक, वैशैषिक, कापालिक क्रकच आदि का खण्डन करने में किसी को नहीं छोड़ा, और दूसरी तरफ देह के प्रति कोई आग्रह नहीं। यह नहीं कहा कि 'मेरे ऊपर बड़ी जिम्मेवारियाँ हैं, सनातन धर्म का उद्धार कर रहा हूँ, अभी अपने को कैसे मर जाने दूँ। अरे मूर्ख, अपने लिये नहीं, मैं संसार के लिये बचा रहूँ।' संसार को वास्तविक समझने वाला, ज्ञानी नहीं हुआ करता। वह देह को छोड़ने में एक क्षण का विलम्ब नहीं करता और हम, चवन्नी के सेल्स्-टैक्स को बचाते समय प्रपंचमिथ्यात्ववादी बन जाते हैं कि 'इस संसार में मिथ्या व्यवहार चलता है!' यह महाकर्त्ता का लक्षण नहीं है। महाकर्त्ता दूसरों में जीवन के प्रति आस्था को स्पन्दित करता है, संसार के पदार्थों के प्रति नहीं, अकर्मण्यता के

प्रति भी नहीं और मृत्यु की अवस्था के प्रति भी नहीं। यह चित्-प्रकाश जिस-जिस अंतःकरण में प्रकाशित होता है, वही प्रधान है।

विचार करो, मनुष्य को सबसे ज़्यादा आसक्ति किस में होती है? अपने शरीर में तो है ही, लेकिन अपने शरीर से आगे किस चीज़ में आसक्ति और प्रेम होता है? अपने फोटो में होता है! चाहे वह काँच में हो, चाहे कैमरे से आये। फोटो या काँच में अपना चेहरा अच्छा न दीखे तो बुरा लगता है। इसलिये यदि अपने स्वरूप से भिन्न किसी चीज़ के प्रति प्रेम जाता है तो अपने प्रतिबिम्ब के प्रति जाता है। इसी प्रकार से चित् में निष्ठा वाले को अपने निर्विशेष चैतन्य में प्रेम भाव है ही, असली पदार्थ तो वही है, लेकिन यदि किसी काल में उसे कुछ प्रिय प्रतीत होता है तो इन अंतःकरणों में जो चिदाभास है, उसी से प्रेम होता है, बाकी चीज़ों में नहीं, क्योंकि यह अपना ही प्रतिबिम्ब है। जैसे तुम्हें देहाध्यास होने के कारण देह का प्रतिबिम्ब ज़रा भी ग़लत लगे तो सुधार करते हो; चंदन भी काँच में देखकर लगाते हो, टेढ़ा लगा हो तो झट ठीक करते हो; शरीर को जब तक आत्मा मानते हो तब तक प्रतिबिम्ब बुरा दीखना सहन नहीं होता, इसी प्रकार चित् आत्मस्वरूप  है, इसलिये जिस-जिस अंतःकरण में चेहरा गन्दा दिखाई देता है तो चूंकि मेरा ही चेहरा गंदा दिखाई दे रहा है इसलिये, उस शीशे को साफ करते हो। जो नहीं समझते हैं, उन्हें लगता है कि किसी को उपदेश दे रहे हैं, किसी का अंतःकरण शुद्ध कर रहे हैं, किसी को धर्मकार्य में लगा रहे हैं, किसी को तत्त्वमस्यादि महावाक्य सुना रहे हैं। 'किसी' के लिये वह कुछ नहीं कर रहा है। उसे अपना चेहरा गड़बड़ दिखाई देता है, जो उससे सहन नहीं होता। यही जीवन के प्रति आस्था और शक्ति का केन्द्र है। इसलिये वह सर्वत्र अध्यात्मस्पन्द का दान करता रहता है। बाकी चीज़ें तो संसार में मिलती रहती हैं। धन-दौलत, पुत्र इत्यादि सब पुण्य कर्मों के द्वारा सबको मिल सकते हैं, इनका दान कुछ दान नहीं है, क्योंकि इसको तो तुम अपनी साधना से भी प्राप्त कर सकते हो। केवल एक ऐसी चीज़ है जो अपनी साधना से नहीं होती और वह है अध्यात्म के बीज का आधान। चाहे जितने शुभ कर्म कर लो, चाहे जितनी तपस्या कर लो, योगाभ्यास या और कुछ भी कर लो, संसार से आस्था हटने वाली नहीं है। यह जो संसार से मुख को मुड़वाना है और आत्मा की तरफ मुख को करना है, यही अध्यात्म-स्पंद का दान है। चूंकि वह व्यक्ति चित् में निष्ठा वाला, चित् में स्थिति वाला है, अतः वह जब तुम्हारे मुख को अपनी ओर मोड़ता है तब मिट्टी के पुतले की तरफ नहीं मोड़ता। वह जब कहता है 'मेरी ओर देखो' तो उसका 'मैं' शरीर मन नहीं, चित् है। इस 'मोड़ने' वाले को, अध्यात्म स्पंद के दाता को, महाकर्त्ता कहा है।

वह ऐसा क्यों कर पाता है? कल दो कारण बता दिये   मौन और निरहंभाव। उसका स्वयं का अंतःकरण निर्मल होता है। घर में यदि तुमने एक शीशे में अपना मुँह देखा कि बढ़िया सजा हुआ है, उसमें कहीं कोई गड़बड़ नहीं है, तुमको निश्चय हो गया कि 'मेरा मुँह सजा हुआ है।'

अब यदि तुम दूसरे शीशे के सामने गये, वहाँ नज़र पड़ी तो देखा कि मुख पर दाग पड़े हुए हैं। घर से देखकर आये थे कि हमारा मुख तो बिलकुल ठीक है, निश्चय है; अतः अब यही लगता है कि काँच पर दाग होंगे। झट उस काँच को साफ करते हो। उसमें अपना मुख फिर देखते हो तो साफ दीखता है। फिर मुख देखने की क्या ज़रूरत है? लेकिन आग्रह होता है। ठीक इसी प्रकार से अपने निर्मल अंतःकरण के अन्दर चित् सारे दोषों से रहित है इस बात को जो देख चुका है, वह जब दूसरे अंतःकरण में चित् को विकारी देखता है तब उसके मन में यह *संदेह* नहीं आता कि 'कहीं यह चेतन की गड़बड़ी तो नहीं है।' दूसरे लोग तो आत्मा के सुधार में लगे रहते हैं, क्योंकि समझते हैं कि आत्मा में ही शायद दोष होगा। लेकिन वह अपने निर्मल अंतःकरण में देख चुका है, इसलिये वह तो जानता है कि दूसरी जगह चिदाभास में जो विकार दीख रहा है, वह चित् के कारण नहीं, चित् की कोई खराबी नहीं है। आत्मा तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। इसलिये अवश्य यहाँ अंतःकरण के ऊपर कुछ दाग पड़ा हुआ है। अतः वह उस अंतःकरण के उन दागों को हटाने लगता है। जब उस अंतःकरण के दाग हट जाते हैं तब उसमें ब्रह्माकार वृत्ति बनती है, फिर उसमें देखता है। अनेकात्मवादी तो कहेगा कि *उस जीव* को तत्त्वज्ञान हो गया। किंतु *वह* कोई और जीव नही, आत्मा तो एक ही है! इसलिये 'उस अंतःकरण में फिर मैंने ही अपने आपको देखा, किसी दूसरे ने नहीं देखा ' इसकी प्रसन्नता होती है। इसलिये गुरु शिष्य को शिष्य नहीं समझ पाता। जो शिष्य को शिष्य समझे वह सच्चा गुरु नहीं बन पाता है। वह शिष्य को अपना ही आत्मा समझता है कि 'खुद मैं ही तो शिष्यरूप बना हुआ हूँ।' शिष्य के अंतःकरण के अंदर जो दोष है, वह मेरे की अंतःकरण का है।

इसलिये आगे का पद महर्षि वशिष्ठ ने (निर्वा. ११५.१३) दे दिया 'निर्मलो मुक्तमत्सरः' उसके अन्दर फिर मत्सर नहीं होता अर्थात् वह दूसरे में दोष नहीं देखता। संसारी व्यक्ति दूसरे में दोष देखने में थकता नहीं। सर्वत्र लगता है कि दूसरे का ही दोष है। पहले, दूसरे दलों का दोष है, वे मेरा विरोध करते हैं। फिर, अपनी पार्टी के लोगों का दोष है कि मेरे साथ सहयोग नहीं करते। फिर, सरकारी अफसरों का दोष, वे सहयोग नहीं करते। फिर, व्यापारियों का दोष, वे सहयोग नहीं करते। फिर मज़दूरों का दोष, वे काम नहीं करते। ब्राह्मण का दोष, वे वेद नहीं पढ़ते, क्षत्रिय का दोष युद्ध ठीक से नहीं करता। जब तक संसार की तरफ दृष्टि है तब तक तो सर्वत्र दोष ही दोष दीखते हैं। निर्दुष्ट एक 'मैं' दीखता है! बाकी सब दोष वाले दीखते हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि दूसरे की आँख में पड़ा हुआ मकड़ी का जाला भी जिसे लक्कड़ की तरह दीखता है और अपनी आँख में पड़ा हुआ लक्कड़ भी उसे नहीं दीखता! अब जब संसार से अध्यात्म विद्या में पहुँच गया तब उलट गया। उसको दूसरे में कहीं दोष दीखता ही नहीं, सारे दोष अपने में दीखते हैं। इसलिये 'मुक्तमत्सरः' उसका मात्सर्य दोष छूट जाता है। जब विचार करोगे तो पाओगे कि यह मात्सर्य दोष हमको सुखी नहीं रहने देता। अपना कसूर

तो हम हटा सकते हैं, उसमें स्वातंत्र्य-बोध होता है। बहुत से लोग समझते हैं कि अपनी गलती मानेंगे तो कमज़ोरी आ जायेगी। लेकिन सोच कर देखो, जो अपनी ग़लती है, उसे दूर करने में तो स्वतंत्रता है। किंतु यदि दूसरे की ग़लती है तो परतंत्रता है, अपने हाथ में हमने ही बेड़ी डाल दी। अब जब तक *वह* नहीं सुधरेगा, तब तक मेरा दुःख दूर नहीं होगा। लोग समझते हैं कि दूसरे को दोष देकर काम बना लें, लेकिन नहीं बनता, उससे गुलामी आ जाती है और जहाँ अपने में दोष देखा वहाँ स्वातंत्र्य आ जाता है कि 'जब चाहूँ दूर कर दूँगा।' इसलिये महाकर्त्ता का स्वरूप बता दिया कि वह मुक्तमत्सर हो जाता है।

'यः करोति गतोद्वेगं महाकर्त्ता स उच्यते' महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि वह ग़लती को देखता है लेकिन हड़बड़ाता नहीं है। संसार के लोग थोड़ी-सी ग़लती को देखकर हड़बड़ाते हैं, कहते हैं 'कल ही दूर हो जाये'। इतने हड़बड़ा जाते हैं कि उनको ऐसे लगता है मानो कल ही ब्रह्माण्ड का लय होने वाला है! लेकिन आत्मज्ञानी सारे बोझ को अपने सिर पर लेकर ऐसे रहता है कि उसको कोई उद्वेग नहीं, कोई जल्दबाजी उसे नहीं है। यह जल्दबाजी न होने से अन्दर हमेशा दूसरे को शान्ति दीखती है। इसीलिये दूसरे लोगों को उससे खीझ होती है। एक नियम है कि कोई तुम्हें चिढ़ाये और तुम चिढ़ जाओ तो उसे मज़ा आता है, और सामने वाला न चिढ़े तो उसके मन में उदासी आ जाती है। संसार के अन्दर लोग सचमुच गलती नहीं करते, वे तो आत्मज्ञानी को खिझाना चाहते हैं कि किसी तरह चिढ़ जाये। 'तू कहता है चेतन शुद्ध है, देख, यही है तेरा चेतन!' लेकिन वह चिढ़ जाये ऐसा नहीं है, 'गतोद्वेगं', वह कहता है कि इन्होंने चिढ़ा लिया तो मेरा चेतन दोष वाला हो जायेगा! इसलिये मुझे नहीं चिढ़ना है। इसीलिये उसे महाकर्त्ता बताया। इस उद्वेगरहित अवस्था का वह दान करता रहता है।

भगवान् आनंद गिरि ने गुरु का स्तवन करते हुए गुरु की विशेषताओं का संग्रह किया है

'कारुण्याम्भोनिधिभ्यो विधिशतवशगान् प्राणिनो मोचयद्भ्यो
विद्यापारंगतेभ्यो गतविततत्तमस्तोमवद्भ्यो महद्भ्यः।
आ भूमेरा च सत्यात् प्रथितपृथुयशःश्रेणिनिःश्रेणिभाग्भ्यः
तेभ्यः सद्भ्यो गुरुभ्यस्त्रिविधमपि नमः सन्ततं संविदध्मः।।'

इसमें पहली बात बताई कि वह करुणा का समुद्र होता है। दूसरी बताई कि वह सैकड़ों-हज़ारों कर्त्तव्यों में फँसे हुए प्राणियों को उन कर्त्तव्यों से छुड़ा देता है। यह उसका व्यक्तित्व है। दुनिया-भर के कर्त्तव्यों में फँसाना बाकी सबका काम है और उन कर्त्तव्यों से छुड़ाना सद्गुरु का काम है। इसलिये उसे करुणा का समुद्र भी बता दिया और किस प्रकार कर्त्तव्यों से छुड़ाता है, यह भी बता दिया। 'विद्यापारंगतेभ्यः' उसका ज्ञान कभी भी सीमा वाला नहीं होता। उसका ज्ञान हमेशा अपरिच्छिन्न होता है, सीमा की तरफ जाता ही नहीं, हमेशा असीम की तरफ

जाता है। जिस समय वह सीमा वाले को देखता है उस समय भी उसका ज्ञान असीम की तरफ जाता है। कभी सोचा कि न्यूटन के पहले भी सेब तो पेड़ से गिरते ही थे। क्या कारण था कि न्यूटन एक ऐसे ज्ञान को प्राप्त कर सका जो असीम था? उसने ही तो सिद्ध किया कि पदार्थ ऊपर से गिरता है तो उसमें एक नियम है। पदार्थ मात्र के प्रति वही नियम लागू होता है। तब से आज तक सारे भौतिक पदार्थों में वह नियम मिलता है। अतीन्द्रिय परमाणुओं पर लागू नहीं होता, इन्द्रिय-विषय पदार्थों पर आज भी लागू होता है। कारण यह है कि सेब गिरा तो सब देखते रहे, लेकिन सेब गिरने से असीम तत्त्व के प्रकटन को नहीं देखा। कोई एक अनंत नियम है जिसका यह एक दृष्टांत है; बस उसी असीम नियम की तरफ उसकी दृष्टि गई। क्या कारण है कि हम लोग लाखों साल से दाल-भात पकाते रहे और जब-जब पकाते थे, तब-तब भात पर रखा हुआ ढक्कन खड़खड़ाता भी था। यह नहीं कि जेम्सवॉट की ही पतीली का ढक्कन खड़खड़ाया हो! अनादि काल से हम भी भात पकाते आ रहे थे, लेकिन हमारी दृष्टि ससीम थी, जेम्सवॉट उसमें असीम नियम को देख पाया कि भाप से चीज़ को हिलाया जा सकता है। नियम बन गया तो भाप से चलने वाले इंजन, बिजली, रेलें, बायलर इत्यादि कितने ही यंत्र बनते हैं। देख तो हम सब रहे थे, कोई नई बात नहीं थी, लेकिन उस असीम को देखकर ससीम को नहीं देखा। उसने अपरिच्छिन्न व्यापक तत्त्व को देखा जिसके कारण यह एक दृष्टांत हो गया।

यह इसलिये बता रहे हैं कि सीमा वाले को देखते हुए भी असीम समझने की एक दृष्टि हुआ करती है। आत्मज्ञानी कभी किसी चीज़ को परिच्छिन्न भाव से देखता ही नहीं। हर किसी चीज़ को वह उस महान् शक्ति का एक स्थान पर प्रकटनमात्र देखता है। इसलिये उसकी विद्या असीम होती है। ससीम चीज़ को देखने से क्या होता है? जैसे कोई आदमी चाहे कि बहुत से मेढकों को इकट्ठा करके उनकी छाल से बड़ा भारी नगाड़ा बना दे! तो नहीं बनेगा। उसके लिये तो एक भैंस के पाड़े का चमड़ा चाहिये। इसी प्रकार से ससीम ज्ञानों को इकट्ठा करने से असीम ज्ञान नहीं आता। वह दृष्टि ही दूसरी होती है। प्रायः लोग सोचते हैं कि पढ़-पढ़ कर ज्ञान प्राप्त करेंगे। पढ़-पढ़ कर ज्ञान प्राप्त नहीं होता। पढ़ना तब सार्थक है जब वह पढ़ना तुमको असीम दृष्टि बनाना सिखा दे। पढ़ो तो संसार के अन्दर सर्वत्र पुस्तकें खुली पड़ी हैं। श्रीमद्भागवतकार ने विचित्र कल्पना की है कि भगवान् दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु बनाये। बहुत-से लोग उस दृष्टांत को देखकर कहते हैं कि अनेक गुरु बन सकते हैं। लेकिन उनका गुरु था कौन, कभी सोचा? असीम दृष्टि उनका गुरु था। परमहंस महात्मा थे; एक औरत के यहाँ जाकर भिक्षा के लिये आवाज दी 'भवति भिक्षां देहि।' औरत के घर में आटा नहीं था। उसने सोचा कि संन्यासी व्यर्थ न चला जाये। उसने कहा 'पाँच मिनट ठहर जाओ।' जाकर गेहूँ पीसने लगी। हाथ की चूड़ियाँ खनखनाने लगीं। पुराने ज़माने की औरतें समझना, आजकल तो एक हाथ में घड़ी और दूसरे में लोहे का कड़ा औरतें पहनती हैं! अपने यहाँ वह महान् अमंगल-सूचक है। वे किसका अमंगल

चाहती हैं यह वे ही जानें! तब वह बात नहीं थी कि एक हाथ में घड़ी और दूसरे में लोहा पहनती हों। उसकी चूड़ियाँ खनखनाने लगीं तो धीरे-धीरे उसने सारी चूड़ियाँ खोल दीं। केवल एक चूड़ी रखी, और फिर आवाज़ नहीं आई। ससीम दृष्टि वाले के लिये तो इतना ही हुआ कि ठीक है, एक चूड़ी रख दी; बहुत-सी बार ऐसा होता है कि चूड़ियाँ उतार दें तो फिर आवाज़ नहीं करती। लेकिन दत्तात्रेय ने झट उसे गुरु बना लिया! किसको गुरु बनाया? असीम दृष्टि की तरफ देख लिया कि 'अरे, दो भी रहते हैं तो आपस में बातचीत होती है, इसलिये संसार में एकान्त के जैसी शान्ति नहीं।' यह आत्मज्ञानी की दृष्टि है। वह छोटी से छोटी चीज़ देखता है तो उसी को नहीं देखता, उसके पीछे तत्त्व क्या है, उस तक जाता है। इसलिये उसकी विद्या असीम होती है। किताबें पढ़कर यदि हमको यह असीम दृष्टि बनाना आया तो ज्ञान आ गया, नहीं तो जन्म भर पढ़ते रहो, विद्या नहीं आती है। क्योंकि 'विद्यापारंगतेभ्यः' इसलिये उनका तम हमेशा गया हुआ रहता है। यह जो तम का जाना है इसी को यहाँ महाभोक्ता शब्द से महर्षि वशिष्ठ ने कहा है।

महाभोक्ता कौन होता है? वशिष्ठ जी कहते हैं (निर्वा. ११५.२१) 'न किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिद् अभिकांक्षति' यह महाभोक्ता का लक्षण है। हम ऐसे भोक्ता नहीं बन पाते क्योंकि हमने भोग्य पदार्थों की दो श्रेणियाँ बना रखी हैं। आधी चीज़ हमको चाहिये, आधी नहीं चाहिये। आजकल भी हम लोगों ने दो समूह बना रखे हैं, एक धन वाले (haves) और दूसरे जिनके पास धन नहीं (have-nots)। धनिकों के साथ हमारी आसक्ति है और निर्धनों के प्रति हमारा द्वेष है। बोलते समय कहते हैं कि हम धनिकों के विरोधी हैं लेकिन हैं नहीं। यदि विरोधी होते तो उन्हें धक्का मारते। हृदय से धनिकों से प्रेम है। लोग कहते हैं कि समाजवाद आ जायेगा। हमें हँसी आती है, क्योंकि लायेंगे कहने वाले तो खुद ही धनी बनना चाह रहे हैं। झगड़ा इस बात का है कि 'आज जिसके पास पैसा है उसके बदले पैसा हमारे पास हो।' पैसे वाले ही न हों यह किसी को भावना नहीं है। भावना यह है कि *उसके* पास न होकर *मेरे* पास हो। रूस, चीन, कहीं भी चले जाओ, भेद मिटा हुआ कहीं नहीं मिलेगा। केवल अभिनेता बदल गये हैं, उनके नाम बदल गये हैं, चक्र वहीं का वहीं चलता है। यदि वस्तुतः कोई यह परिवर्तन ला सकता है तो आत्मवेत्ता, क्योंकि वह सचमुच कहता है कि 'भाई! धन तुम्हारे लिये भी अच्छा नहीं, मेरे लिये भी अच्छा नहीं, किसी के लिये भी अच्छा नहीं।' क्यों? वह जानता है कि जहाँ बहुत से चुम्बक रख दो तो उनके बीच में पड़ी हुई बिजली की शक्ति नष्ट हो जाती है। क्योंकि चुम्बक से ही बिजली बनती है अतः विरोधी चुम्बकों में पड़ी हुई बिजली की शक्ति नष्ट हो जाती है। दूसरा दृष्टांत ले लो : बर्फ की डली के चारों तरफ उबलता हुआ तेल या पानी बिछा दो तो बर्फ की डली नष्ट हो जाती है क्योंकि विरोधी तत्त्वों के बीच में रखो तो वह बेचारी एक बर्फ की डली पिघल जायेगी। इसी प्रकार, चेतन की डली को चारों तरफ से जड धन-सम्पत्ति के द्वारा ढकोगे तो बेचारी चेतन की डली नष्ट हो जायेगी। उसको अपने आनंद का बोध नहीं हो पायेगा।

आनंद का बोध तब होगा, बर्फ की डली तब सुस्थिर और मौज में रहेगी, जब आस-पास विरोधी तत्त्व न हों; बिजली तब कारगर होगी जब चारों तरफ चुम्बक न हो। यदि चुम्बक के बीच पड़ जाये तो घड़ी तक गड़बड़ा जाती है इसलिये लोग घड़ी पर 'नॉनमैगनेटिक' लिख देते हैं, अर्थात् उसमें ऐसी दवाई लगा दी है कि चुम्बक सामने आने पर भी खराब नहीं होगी, दूसरी घड़ियाँ इसके बिना खराब होती हैं।

इसी प्रकार, चारों तरफ से जडों के मध्य में चेतन को रखोगे तो, जड विपरीतधर्मा होने के कारण, चेतन के आंनद को काटेगा। इस बात को चूंकि आत्मज्ञानी समझता है, इसलिये वह यह नहीं कहता कि 'तुम धनी न रहो और यह धनी हो जाये', अर्थात् तुम दुःखी न रहो कोई दूसरा हो जाये, वरन् वह कहता है कि किसी भी चीज़ से मेरा द्वेष और कांक्षा नहीं है। उसने संसार को दो टुकड़ों में नहीं बाँट रखा है कि यह द्वेष वाला और यह कांक्षा वाला टुकड़ा हो गया। उसने तो सबका एक समूह बना रखा है। हमारे देश की उन्नति क्यों नहीं हो रही है? इसका कारण ही है कि हमारे यहाँ कोई भारतीय नहीं है। कोई बुरा नहीं मानना, चाहे वह राष्ट्रपति हो, चाहे प्रधनमंत्री हो, चाहे गवर्नर हो; जो भी है वह किसी-न-किसी दल में है। इसीलिये हमेशा उसका चिंतन राष्ट्र के प्रति नहीं चलता। चिंतन में हमेशा यह द्वेष बना रहता है कि यह मेरा दल है, यह उसका है। संप्रदायवाद को तो हम हटा रहे हैं। हम कहते हैं कि 'हिन्दू मुसलमान कोई भी अच्छा हो सकता है, अच्छा आदमी अच्छा हो सकता है। हिन्दू है या मुसलमान इतने मात्र से अच्छा या बुरा हो, यह नियम नहीं है।' जिससे यह सुनते हैं उसी व्यक्ति को यह कहते हुए शर्म नहीं आती कि 'मेरे दल से जो खड़ा हुआ है, उसे नहीं देखना, मेरे को देखना।' यही बेचारे मुसलमान कहते हैं कि हमको नहीं देखना, मुहम्मद साहब को देखना। तुम भी एक सम्प्रदाय खड़ा कर रहे हो कि मेरे दल से जो खड़ा हो गया, वह बुरा भी अच्छा और विरोधी दल का जो अच्छा भी खड़ा हो गया, वह गलत है, क्योंकि मैं ही ठीक हूँ। कहते केवल यह हैं कि 'दूसरे सम्प्रदायवाद खोटे, मेरे सम्प्रदाय में सब दीक्षित हो जाओ।' इसका नाम है कि सम्प्रदायवाद हटा रहे हैं। अथवा कहते हैं कि भाई-भतीजावाद हटा रहे हैं। भाई-भतीजावाद एक तरह का खून का सम्बन्ध है। उस खून के सम्बन्ध की जगह तुमने यह सम्बन्ध मान लिया कि 'कौन-कौन मेरे पीछे हाथ उठाकर मेरा समर्थन करने वाला है; जो-जो मेरा समर्थन करने वाला है उसको मैं आगे बढ़ाऊँगा।' यह भाई-भतीजावाद नहीं तो क्या है? इन तरीकों से भी समाज में सुधार नहीं हो सकता। ऐसे तो एक बाड़े की जगह दूसरा बनेगा। पुरानी वर्ण-व्यवस्था तोड़कर तुमने एक नई वर्ण-व्यवस्था चलाई, उससे कुछ सुधार नहीं हो गया। कौन व्यक्ति इसे ठीक कर सकता है? जो यह भूल जाये कि 'मैं किस दल का हूँ, कहाँ का हूँ।' जो केवल यह अनुभव कर सके कि 'मैं भारतीय हूँ।'

उसी प्रकार, विश्व की तरफ वही चल सकेगा जो ज्ञानी है उसने द्वेष और अभिकांक्षा के

दो दल नहीं बना रखे हैं। उसका तो एक ही दल है। 'निर्मलो मुक्तमत्सरः।' जिस काल में जो चीज़ सामने है वही भोग्य है। भोग्य का वह दल नहीं बाँटता कि यह भोग्य द्वेष का और यह अभिकांक्षा का विषय है। जिस काल में जो चीज़ सामने है मैं उसे भोग रहा हूँ, बस वही भोग्य है। जब भोग्य को जातियों में नहीं बाँटता तो भोक्ता को जातियों में कहाँ बाँटने वाला है! भोग्य रूप प्रतियोगी को लेकर भोक्ता की जाति बँटती है। क्योंकि भोग्य को नहीं बाँटा इसलिये भोक्ता की जाति भी नहीं बँटी। चूँकि वह बाड़ा नहीं बाँधता, इसलिये वह महाभोक्ता है। उसका दल हटा हुआ है, उसकी अविद्या हटी हुई है। इसलिये वह कभी किसी चीज़ को सीमा में न बाँधकर जो पदार्थ जैसा है, वैसा ही उसका ग्रहण करता है।

# प्रवचन-४५

३-५-७२

भगवती के स्वरूप और प्राप्ति के स्थान का निर्देश करने के बाद उसकी पराभक्ति करने में कौन समर्थ होते हैं, इसे बताया। पराभक्ति करने में समर्थ वे होते हैं जो धन्य हैं, अर्थात् कृतकृत्य हैं, प्राप्त-प्रापणीय हैं, जिनके लिये कोई कृत्य और कोई भी चीज़ पाने के योग्य नहीं रह जाती। जब तक कुछ भी कृत्य रहता है तब तक अहंकार से हटना बनता नहीं, क्योंकि सारे कर्त्तव्य कर्त्तापना और भोक्तृत्व भोक्तापना का बीज अहं है। जब तक अहं बैठा हुआ है तब तक अकर्ता और अभोक्ता कभी नहीं हो सकते। जब-जब अहं नहीं होता, तब-तब कर्ता और भोक्ता का भाव नहीं होता जैसे गहरी नींद में। सुषुप्ति के अन्दर अहं नहीं तो कर्त्तापना और भोक्तापना भी नहीं। केवल सुषुप्ति ही नहीं, जाग्रत् काल में भी किसी काल में मनुष्य जब बिलकुल थककर चूर हो जाता है और आकर आराम-कुर्सी पर पड़ जाता है, उस समय उसको कुछ भान नहीं रहता, क्योंकि उसको उस समय अहं का भान नहीं होता। जहाँ-जहाँ अहं है वहाँ-वहाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्व है। जहाँ जहाँ अहं नहीं वहाँ-वहाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी नहीं है। जब तक अहं है तब तक विधि-निषेध के पंजे से नहीं छूटता। विधि यह करना चाहिये और निषेध यह नहीं करना चाहिये। जब तक 'मैं' बैठा हुआ है तब तक कर्त्तापना और भोक्तापना सिर पर सवार है। जब मैं-पना नहीं तब न कर्त्ता रहता है और न भोक्ता रहता है। सारे-के-सारे विधि-निषेधों के द्वारा ही यह प्रारब्ध बनता है, जिसे लोग बड़ा हौआ समझे बैठे हैं। प्रारब्ध कहो, पूर्व जन्म के पुण्य-पाप का फल कहो, इस जन्म के पुण्य-पाप का फल कहो, इस जन्म के अन्दर कुछ समय किये हुए कर्मों का फल कहो, या सृष्टि के आदि क्षण में किये हुए संकल्प का फल कहो, भिन्न-भिन्न तरह से लोग कहते हैं। कोई कहता है कि हिरण्यगर्भ ने आदि क्षण में जो संकल्प किया, उसी के अनुसार सब हैं। कोई कहता है कि हमने जो पूर्वजन्म में कर्म किये, उनका यह फल है। कोई कहता है। इस जन्म में किये हुए कर्मों का ही फल है।

यह नहीं पूछना कि वेदांत क्या कहता है? यह तो दूसरे वादियों का मत बताया। वेदांती कहता है कि आज तक जब कोई कर्त्ता बना ही नहीं, और किसी ने पुण्य-पाप किये ही नहीं, तो फल रूपी बीज कहाँ से आये? मानने को कुछ भी मान लो! कर्म फल तब दे सकता है जब पहले अहंता सामने हो। विधि-निषेध जहाँ उड़े, वहाँ सारे कर्मफल ऐसे उड़े जाते हैं, जैसे कपूर उड़ जाता है। कपूर भी उड़ने में समय लेता है, दो श्लोक बोलने तक जलता रहता है; पैट्रोल में दियासलाई लगाओ तो भी जलने में एक-दो सैकेण्ड ले लेता है; कर्मफल तो ऐसे नष्ट होते हैं जैसे सौ नम्बर के लट्टू के जलते ही अंधकार नष्ट होता है। सारे कर्मों को नष्ट होने में इतनी ही देरी है। अतिधन्य वेद बताता है 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' उसका अनुभव

होते ही सारे कर्म दग्ध हो जाते हैं। यहाँ 'कर्माणि' बहुवचन का प्रयोग है। लोग संचित, आगामी और प्रारब्ध तीन प्रकार के कर्म मानते हैं, इसलिये कहा कि जो मान रखे हैं, वे सारे कर्म दृष्टि होते ही दग्ध हो जाते हैं। यह नहीं कि आज हमने दृष्टि बनाई और दस साल बाद कर्म नष्ट हो जायेंगे! वेदांत की दृष्टि से तो कर्म थे ही नहीं, इसलिये नष्ट क्या होने हैं! जैसे मान लो, स्वप्न में कोई आदमी चार लड़कियों वाला हो जाये तो स्वप्न खुलते ही क्या लड़कियाँ मर जाती हैं? निश्चय होता है कि जिस काल में चार लड़कियों वाला मान रहा था, उस काल में भी बिना लड़कियों वाला ही था। स्वप्न के अन्दर भिखारी अपने को राजा और राजा अपने को भिखारी समझ लेता है। राजा जनक की कथा आती है कि एक बार दिन के समय लेटने गये। चारों तरफ हवा करने वाले ठण्डी-ठण्डी हवा कर रहे थे, गुलाबजल से छिड़काव हो रहा था, बढ़िया सुन्दर कुन्द-पुष्पों की शैया थी, कोमल मखमल का गद्दा था। ऐसे में राजा जनक जो लेटे तो झपकी आ गई। देखते हैं कि किसी ने चढ़ाई कर दी, लड़ाई में राजा जनक हार गये, हारने पर भाग गये, जीतने वाले राजा ने घोषणा कर दी कि 'जो जनक को पकड़कर लायेगा उसे एक लाख दीनार का इनाम दिया जायेगा।' अब वे बेचारे छिप-छिपकर भाग रहे हैं। किसी से खाना माँगने गाँव में भी नहीं जा सकते। यही संसार का रूप है, और क्या है! पाँच मिनट में जिसकी जय-जयकार करते हैं, आपत्ति का समय आने पर उसे एक मुट्ठी दाना देने वाले नहीं हैं। फिर भी संसारी लोग भरोसा करके रोते और हँसते रहते हैं। इनका बड़ा भरोसा करते हैं। जिस परमात्मा का नित्य भरोसा है, उसपर तो भरोसा करते नहीं और क्षणिक बुद्‌बुदों पर पूरा भरोसा करते हैं। राजा ने सपने में देखा कि इसी भागदौड़ में चार दिन हो गये और राजा जनक के भूख से प्राण निकल रहे हैं। एक जगह अन्नक्षेत्र में सदाव्रत बँट रहा था।

प्राचीन काल में लोगों को यह शौक होता था। जैसे इदानीं काल के अन्दर जो घर में रोज़ खाते हैं उन्हें जबरदस्ती बुलाकर, होटलों में ले जाकर खिलाते हैं। आधुनिक संस्कृति है धापे को धपाना अर्थात् पेट भरे हुए को खिलाना। खिलाया तो भूखे को जाता है, भूखा आदमी रोटी का अधिकारी होता है। आधुनिक संस्कृति उलटा मानती है। पार्टी में भोज में कोई किसी गरीब को बुलाने वाले नहीं हैं। अपने यहाँ ब्रह्मभोज होता था, ब्राह्मणों का भोजन होता था। इदानीं काल में शराबियों का भोजन होता है। आज की संस्कृति में शराबी-भोज होता है और किसी को शरम नहीं आती। प्राचीन काल में ब्राह्मण भोजन करते हुए परमेश्वर की स्तुति के सुन्दर श्लोक बोलते थे। आज भोजन करते नंगी लड़कियों को नचाया जाता है जिसका नाम कैबरे है। कोई अभिनेत्रियों के गंदे अश्लील गीत सुनता है और कोई बाइस्कोप की शायरी सुनता है। सब चीज़ें उल्टी हो रही हैं। यह सब करते हुए किसी को शरम नहीं आती कि सिर नीचा करके या छिपकर ऐसा करते हों, मुँह ऊँचा करके करते हैं। समाज के अन्दर लोग इतने गये-बीते हैं कि कोई उन्हें यह कहने का साहस नहीं करता कि 'नालायको! नालायकी करते हुए तो कुछ शरम

खाओ।' उल्टा, दूसरे लोग उसे श्रेष्ठ समझते हैं। कई बार लोग कहते हैं कि 'भले-भले घर के लोग ऐसा करते हैं।' जो ऐसा करते हैं वे भले घर के कैसे हो गये? आज से छह-सात साल पहले ईसाइयों की पद्धति को मानने वाले लोगों ने कनाट प्लेस में नया साल मनाया, मनाते तो हमेशा ही होंगे। कुछ लड़कों ने वहाँ की औरतों के साथ दुर्व्यवहार किया। कोई यह बात सुना रहा था तो हमारे एक प्रिय मित्र कहने लगे कि 'रात में बारह बजे घूमने वाली पतुरियों और वेश्याओं के साथ यही व्यवहार होना चाहिये।' सुनाने वाला कहने लगा कि बड़े भले-भले घर की औरतें थीं। हमारे मित्र ने कहा 'रात को बारह बजे भले घर की औरतें वहाँ क्या कर रही थीं?' नियम है 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' लक्षण और प्रमाण से पदार्थ की सिद्धि होती है। भले घर का लक्षण घटेगा तो भला मानेंगे। जब लक्षण ही वेश्याओं का घट रहा है तो कैसे भला मान लें? उस युग में खाने के अधिकारी को खिलाते थे।

सदाव्रत देखा तो राजा जनक ने सोचा कि भोजन ले लें। पंक्ति में खड़े हो गये। बहुत से लोग लेते हुए निकले, जब राजा की बारी आई तब तक सारा खाना ख़त्म हो गया! बाँटने वाले ने कहा 'जाओ-जाओ, कल आना।' राजा जनक ने कहा, 'चार दिन का भूखा हूँ, कुछ तो दे दो।' उसने नज़र डाली, देखा कि है तो भूखा। उसने खिचड़ी का बचा हुआ खुर्चन देते हुए कहा 'लो।' लेकिन जनक ने कब ऐसा सदाव्रत खाया था! लेने के लिये कोई पात्र पास में नहीं था। नीचे गिरे हुए फूटे मटके को उठाकर उसमें ले लिया। बाँटने वाले ने कहा 'अगर खाना खाना है तो अगली बार कुछ बर्तन लेकर आना।' बेचारे वह खुर्चन लेकर चले। थोड़ी दूर गये, एक तरफ से दो सांड लड़ते हुए आये, उनके चक्कर में पड़े, धक्का लगा और पास ही गंदी नाली में वह खिचड़ी गिर गई। मरणांतक कष्ट हुआ कि चार दिन का भूखा हूँ, माँग कर जली खिचड़ी लाया, वह भी गई।

कष्ट होने के साथ ही आँख खुल गई। देखते हैं कि युवतियाँ पंखा झल रही हैं, गुलाबजल छिड़का जा रहा है, कुंदशैया है, मखमल का बिछौना है। चारों तरफ आँख फाड़ कर देखने लगे कि वे सांड, वह गंदी नाली और खिचड़ी कहाँ चली गई? आश्चर्य में पड़ गये कि मामला क्या है? क्या करूँ क्या न करूँ? विचारशील थे, झट विचार आ गया कि यह संसार भी दृश्य होने से ऐसा ही स्वप्न है। विचार करो, जैसे यहाँ पर क्या सांड मर गये, वह ठीकरा चला गया या खिचड़ी बह गई? क्या जवाब दें। इसी प्रकार से जिस क्षण में आत्मबोध होता है उस क्षण अतिदीर्घ काल से दीखने वाला संसार लगता है कि किसी काल में नहीं था। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद इसीलिये लिखते हैं कि यह क्या आश्चर्य हो गया 'अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतं' जैसे स्वप्न से उठने पर जनक सोच रहे हैं कि अभी-अभी तो यह संसार दीख रहा था; सांड, सड़क, गंदी नाली, भूख, गया हुआ राज्य सब दीख रहा था; और अब कुछ है ही नहीं!' अब प्रारब्ध अपना फल कैसे देगा? सांड की चोट लगी हुई है, क्या उससे थोड़ा-सा

दर्द बना रहेगा? कोई कहे कि 'थोड़ा दर्द तो बचा रहना चाहिये जब इतने ज़ोर की चोट लगी थी।' इसी प्रकार लोग कहते हैं कि इतने ज़ोर की लगी हुई चोट, प्रारब्ध, कुछ तो अपना फल दिखायेगा ही; पर क्या उसमें फल दिखाने की ताकत है? लोग कहते हैं कि जो बाण छूट गया है, वह तो ज़रूर लगकर रहेगा। स्वप्न के अन्दर सामने वाले दुश्मन ने आकर गोली चलाई या बाण छूट गया। सामने से गोली आ रही है और छाती में लगने ही वाली है। तभी आँख खुल गई, तो क्या छाती में छेद हो जायेगा या गोली लगेगी? इसलिये यह शुरू-शुरू में समझाने के लिये तो ठीक है, लेकिन वस्तुतः 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' सब कर्म क्षीण हो गये। जब अहं को पकड़ो तब विधि अपना फल दे, निषेध, प्रारब्ध, आगामी और संचित आदि सब अपना फल दें। सब तो इस अहं के आँकुड़े पर लटके हुए हैं। इसीलिये जो धन्य होते हैं, वे इस प्रकार से अहंकार के आँकुड़े को निकाल देते हैं। क्योंकि अहं का आँकुड़ा निकल चुका है, इसलिये न वे किसी विधि के, न निषेध के और न संचित, आगामी और प्रारब्ध के अधीन हैं। एक अंतःकरण का अहंकार का आँकुड़ा हटा तो फिर सब जगह नित्य-निरंतर उस अहंकार के आँकुड़े को ही हटाते रहते हैं। जहाँ-जहाँ भी अहंकार को देखते हैं, हटाते हैं। यही उनका महाकर्त्तव्य है। जब अविद्या के पार चले गये तब उनका तम दूर हो गया, इसलिये अब वे निरंतर उस आत्मरूप की स्तुति में ही लगे रहते हैं।

उसकी स्तुति कैसी है? महाभोक्ता से इसी स्तुति को महर्षि वशिष्ठ ने बताया है। उसकी दृष्टि होती है

'जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च।
रम्यमित्येव यो वेत्ति महाभोक्ता स उच्यते।।' (निर्वा. ११५.२५)

जैसे वह महाकर्त्ता, वैसे ही वह महाभोक्ता है। संसार के लोग जरा (बुढ़ापे) को बड़ा बुरा मानते हैं। किसी बुड्ढे को देखकर कहते हैं 'अरे, भगवान् इतने बुढ़ापे तक न रखे', क्योंकि बड़े घबराते हैं। कुछ लोग मरने से डरते रहते हैं। इसीलिये 'मैं न मरूँ, मेरा लड़का न मरे, मेरी लड़की न मरे, मेरी पत्नी न मरे,' यही सोचते रहते हैं। कोई आपत्ति आ जाये तो उससे डरते रहते हैं, और दरिद्रता से डरते रहते हैं। तत्त्वज्ञ की दृष्टि ऐसी है कि बुढ़ापा, मृत्यु, आपत्ति, दरिद्रता आदि सबको वह बड़ा सुन्दर समझता है 'रम्यमित्येव यो वेत्ति'। क्यों रम्य हैं? करो उसे समझने की हिम्मत! जब कभी तुम किसी दूसरे के लड़के को देखो और अपना लड़का उससे सुन्दर हो तो उस दूसरे के असुन्दर लड़के को देखकर तुम्हें खुशी होती है या नहीं? दूसरे का लड़का बार-बार पढ़ने में फेल होता है। उसे देखकर और अपने लड़के को निरंतर प्रथम श्रेणी में पास होते देखकर खुशी होती है। दूसरे के मकान में तीन साल में ही बड़ी भारी तरेड़ पड़ जाने को देखकर और अपने अठारह साल के भी मकान में नहीं पड़ी, इस बात को देखकर खुशी होती हैं। इसी प्रकार

से शरीर को बुड्ढा देखकर 'मैं आत्मा नित्य अजर हूँ', इस बात के ज्ञान से खुशी होगी। लेकिन अज्ञ इस बात को हिम्मत से नहीं बोल पाते हैं, क्योंकि अहं को शरीर में बिठाया हुआ है। आत्मज्ञ जब-जब शरीर को बुढ़ापे में हिलता-डुलता देखता है तब बड़ी प्रसन्नता होती है कि 'मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ।' इसी प्रकार जब हमारे स्त्री, पुत्र आदि जाते हैं तब बड़ी प्रसन्नता होती है कि 'मैं कभी मरणाधीन नहीं।' वित्त को जाते देखता है तो बड़ी प्रसन्नता होती है कि 'मैंने कभी वित्त से सम्बन्ध किया ही नहीं।' ये सारे विनाशी हैं। इनके विनाश को देखकर मेरी नित्यता और स्फुट होती है। इस स्फुटता से उसे और ज़्यादा आनंद आता है।

इन सब के बीच में, सारी विपत्तियों के बीच में, 'राज्य' पद भी डाल दिया है, महर्षि वशिष्ठ जो रहे। कहते हैं, बड़े भारी राज्य को चलाने वाला अपने को अतिधन्य समझता है। कोशिश करते हैं कि किसी तरह लोग हमें वोट दें तो हम राजा बनें। जैसे कहते हैं कि 'किसी पर द्ररिद्रता न पड़े', ऐसे महर्षि वशिष्ठ बोल रहे हैं कि किसी पर राजा बनने का बोझ न आ जाये! लेकिन यदि वह बोझ आ ही गया तो वह उसको भी रम्य मानता है। इसके द्वारा महर्षि वशिष्ठ राम से कह रहे हैं कि 'देख, मैं तेरे को यह सारा उपदेश दूँगा और उसके बाद तेरे ऊपर घोर आपत्ति आने वाली है, क्योंकि तू राजा बन जायेगा। राजा बनना एक बोझा है, उस समय तुम घबराना नहीं। उसको भी रम्य ही समझना।' यह वेदांत की तीव्र दृष्टि देखो। उपदेश के बाद राम को आगे चलकर कहना ही यह है, कि 'मैं तो एकांत में जाकर चिंतन करूँगा। इस असार संसार से मुझे क्या लेना है।' महर्षि वशिष्ठ को अंत में कहना ही यह है कि 'तुझे कुछ नहीं, मुझे लेना है।'

'वेदागमपुराणेषु स्मृतिष्वपि महामुने।
गुरुवाक्यं विधिःप्रोक्तः निषेधस्तद्विपर्ययः।।'

अपना अहं तो उसका नष्ट हो गया। अपना अहं नष्ट हो जाने के बाद देह चाहे राज्य करे, दरिद्रता करे, मन चाहे आपत्ति में पड़े, सम्पत्ति में पड़े, इस मन देह आदि को वह वैसे ही नहीं छूता जिसे कहते हैं चिमटी से भी न छूना। कुत्ते की टट्टी हाथ से तो क्या चिमटे से भी नहीं उठाओगे। तत्त्वज्ञ को संसार से ऐसी घृणा हो जाती है। कभी छत पर कुत्ता या बिल्ली टट्टी कर जाता है तो दूसरे दिन सफाई वाला ही आये तो वहाँ से उठता है, और कोई उठाने को तैयार नहीं होता। इसी प्रकार से संसार श्वमूत्र-सदृश हो गया तो उसकी तरफ क्या दृष्टि की जाये! वह बीच में उसको व्यवधान लाने की इच्छा नहीं रखता। सारी अहंता तो उसकी चली गई, लेकिन वेद, आगम, पुराण और स्मृतियों में एक बात कह रखी है कि जो गुरु का वाक्य है, जो गुरु ने कह दिया, बस वही उसकी एकमात्र अहंता रह गई। अपनी अहंता नहीं रही, अब केवल गुरु की अहंता काम करेगी। वही उसके लिये विधि है और उससे विपरीत करना ही उसके लिये

निषेध है। गुरु क्या है? महर्षि पंतजलि कहते हैं कि गुरु के अन्दर उसके गुरु की अहंता, उस गुरु में फिर उसके गुरु की अहंता है, इस तरह वहाँ वास्तविक अहंता ईश्वर की है, क्योंकि वही गुरुओं की अंतिम सीमा है। इसलिये उस महेश्वर की जो आज्ञायें श्रुति-स्मृतियों में बताई हुई हैं, उसके सिवाय और कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। वशिष्ठ जी को यही कहना है, 'हे राम! अब तेरी स्थिति तो हो गई लेकिन अब तू राज्य कर।'

एक दिन पहले बताया था कि राम की कीर्ति-गाथा गाते हुए यह नहीं सोचते कि एक क्षण पूर्व उनको राजा बनना था और एक क्षण के बाद उनको जंगल जाना पड़ा, लेकिन उनके अंदर हर्ष-विषाद कुछ नहीं हुआ। वह कौन-सी चीज़ थी जो एक क्षण के लिये उन्हें विषाद नहीं हुआ? उनके मन में यह नहीं आया कि 'भरत भी यहाँ नहीं है, राजा दशरथ की हालत खराब है, कहीं ऐसा न हो कि विरोधी आक्रमण कर लें और राज्य चला जाये, मैं ऐसे कैसे चला जाऊँ? पिता तो बिना सोचे कह रहे हैं, पागलपन में कह रहे हैं।' यह एक क्षण के लिए भी नहीं आया। यदि संसार में किंचित् सत्यता की दृष्टि होती तो ज़रूर आ जाता कि दशरथ अचेत पड़े हुए हैं, भरत अभी सम्भालने के लिये नहीं हैं। राम का कहना ठीक होता कि 'माँ! भरत ही आ जाये, पिता ठीक हो जायें।' यदि किंचित् सत्यता की प्रतीति होती तो यह दृष्टि बनती। लेकिन वहाँ तो कुछ नहीं था! तत्त्वज्ञ की दृष्टि होती है 'अहिंसा समता तुष्टिः चन्द्रबिम्ब इव अंशवः' जैसे चन्द्रमा से जो किरणें निकलती हैं वे स्वभाव से ही शीतल होती हैं, उनके द्वारा स्वाभाविक ही लोगों को आनंद होता है, चन्द्रमा के बिम्ब को देखकर आनंद न हो, ऐसा नहीं हो सकता, उसी प्रकार से उसके सारे कार्यों से उसकी भावना हमेशा अहिंसा की रहती है, किसी भी हालत में क्रोध उसे स्पर्श ही नहीं कर सकता, असम्भव है। बंगाल में अक्तूबर के शारदीय नवरात्र में महिषासुर मर्दिनी की मूर्ति बड़ी सुन्दर बनाते हैं। वहाँ के चित्रकार ऐसे होते हैं कि मूर्ति की एक-एक मांस पेशी तनाव से भरी हुई है लेकिन मुख को देखो तो परम शान्ति और किसी प्रकार का तनाव नहीं। उसमें हाथ से भाला पूरी शक्ति के साथ महिष में जा रहा है, लेकिन मुख परम शान्त है। 'चित्ते क्षमां समरनिष्ठुरतां च दृष्ट्वा' यह पाठ तो सब करते हैं जैसे यह भी पाठ करते हैं 'प्रसन्नतां यो नगतोऽभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः।' यह निष्ठा है भंयकर कि बाह्य व्यवहार करेगा, दूसरे को मारने का व्यवहार भी करेगा, ऐसे भयंकर व्यवहार करने पर भी उसके चित्त में किंचित् उद्वेग नहीं है। अहिंसा समता उसके अन्दर से क्षणमात्र को नहीं जाती। चोर को थप्पड़ मारते हुए उसका हृदय प्रेम से लबालब होता है कि इसे अपने अन्दर कैसे लपेट लूँ। कल बताया कि वह दो विभाग नहीं बना पाता कि यह अच्छा और यह बुरा है, यह राग का विषय है और यह द्वेष का विषय, ऐसा कुछ नहीं होता। जिस काल में थप्पड़ मार रहा है, उसी काल में यदि देखता है कि इसके मन से चोरी का भाव चला गया और यह आ गया कि मैं अब नहीं करूँगा, तो उसे लपेटने में एक क्षण की देरी नहीं होती। यह समता है। नहीं तो गाँठें बनी

रहती हैं। किसी के बारे में हमने सुन लिया, देखा भी नहीं, कि यह आदमी खराब है, बस उतना ही पर्याप्त है। वह घर में आता है तो नौकरों की तरफ आँख का इशारा करता है कि हीरे जवाहरात को अन्दर कर लेना, चाबी छिपाने लगता है। समता वाले की दृष्टि है, जैसा भगवान् कहते हैं 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः।।' जो कमर कसकर दुराचार करने में समर्थ है, लेकिन जैसे ही उसने निश्चय कर लिया कि अब तो मैं भगवान् का अनन्य भजन करूँगा, वह साधु हो गया। यह समता है। भगवान् ने नहीं कहा कि ठोक-बजाकर देखूँगा।

दूसरी चीज़ उसमें, तुष्टि है। उसके अन्दर की जो एक प्रसन्नता है, वह कभी नहीं जाती। तुष्टि को हटाने वाली चीज़ यह है कि हम कुछ पाना चाहते हैं, वह नहीं मिल रही है इसलिये हमारी तुष्टि हटती है। जब तक प्राप्त करने की इच्छा है, पर न मिलने पर उद्वेग से बचते हैं, इसका नाम संतोष है। साधारणतः कहते हैं कि संतोष करना चाहिये। यदि मलाई मिल जाये तो अच्छा है, नहीं तो दूध से ही संतोष कर लेना चाहिये। लेकिन ज्ञानी में ऐसे संतोष की बात नहीं है। उस पदार्थ की प्राप्ति के लिये भावना ही नहीं है। इसलिये पूर्व में ही उसको तुष्टि है। यह बिल्ली के अंगूर नहीं है। कहानी सुन रखी होगी कि बिल्ली अंगूर को खाने के लिये उस की लता के पास गई, बार-बार कूदी भी लेकिन अंगूर नहीं पा सकी। फिर चुपचाप बैठ गई। किसी ने पूछा तो कहा कि 'अंगूर खट्टे हैं'। इसी प्रकार धन, पुत्र आदि की प्राप्ति की खूब उछालें लगाईं। नहीं मिले तो दुम दबाकर बैठ गये कि धन में सुख ही नहीं है। ऐसा 'अंगूर खट्टे हैं' वाला संतोष ज्ञानी का नहीं है। बढ़िया अंगूर सजकर उसके सामने आ गये, खाने के लिये उठाये भी, किसी ने कहा कि अंगूर बड़े अच्छे लग रहे हैं तो सारे दे दिये कि 'खा लो।' कहते हैं कि 'दो-चार तो रख लो।' कहता है 'मुझे इच्छा नहीं है।' महाभोक्तृता होने के कारण भोग्य पदार्थ सामने आने पर भी उसे भोग्य नहीं बनाता। उसके अन्दर कभी विषयों के प्रति भोग्यत्व बुद्धि बनती नहीं। यह उसका महाभोक्तापन हो गया। संसार के प्रत्येक पदार्थ में वह उसे देखकर अपने आत्मा की स्तुति करता है कि 'ये ही हैं संसार के पदार्थ, अच्छा हुआ जो मैं इस चक्कर में भी नहीं आया।' यह आत्मा की स्तुति हुई।

इसीलिये गुरु के बारे में आगे कहा 'आभूमेः आ च सत्यात् प्रथितपृथुयशः श्रेणिनिःश्रेणिभाग्भ्यः' पृथ्वी से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सर्वत्र उसको अपना यश-ही-यश नज़र आता है। पुराण बाँचते हुए देखता है कि इन्द्र के ऊपर वृत्रासुर ने आक्रमण किया तो इन्द्र भागा। ज्ञानी कहता है 'अच्छा हुआ मेरी इन्द्र की उपाधि नहीं थी, होती तो मेरा क्या हाल होता?' जब सुनता है कि विष्णु को वृन्दा का शाप लगकर पत्थर भी बनना पड़ा, तो कहता है कि 'अच्छा हुआ जो मैं विष्णु नहीं हुआ।' इसलिये भूमि से लेकर सत्य लोक पर्यन्त कहीं नीचे और कहीं ऊपर सीढ़ियाँ हैं। लेकिन सर्वत्र ख्याति मुझ आत्मा की हो रही है क्योंकि सारे पदार्थ स्वरूप से जड हैं, असत् हैं, दुःखरूप

हैं, परिच्छिन्न हैं। इसलिये वे सारे अपने परिच्छेद के द्वारा मुझ अपरिच्छिन्न को बताते हैं, यह उसका त्याग है। तीन व्रतों का निमय वशिष्ठ जी कह रहे थे 'एतद् व्रतत्रयं राम पुरा चन्द्रार्द्धमौलिना' कहते हैं कि मुझे भगवान् शंकर ने ये तीन नियम दिलाये थे 'महाकर्त्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ' और वही तीन व्रत मैं तुझे दिला रहा हूँ।

तीसरा व्रत है 'महात्यागी।' त्याग यह है कि भूमिलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त जितनी चीज़ें हैं, उनमें यश ही होता है। यह त्याग है। चीज़ को छोड़ना ही त्याग नहीं है। किसी चीज़ की कभी भी, कल्पना में भी उसे इच्छा नहीं होती, भले ही वह इच्छा करता हुआ दीखता है। ठीक जैसे उसको कभी किसी चीज़ का ज्ञान नहीं होता! लगता तो है कि उसको घड़े का ज्ञान हुआ, लेकिन उसको कभी घड़े का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि घड़ा है नहीं तो वह किस का ज्ञान करे! तुम चूंकि उसको घड़े का ज्ञान कहते हो इसलिये तुमको समझाने के लिये वह भी बोल देता है। जैसे किसी आदमी ने अन्धकार में रस्सी में साँप देखा तो वह कहता है कि यह साँप है। सामने वाला भी कहता है कि 'यह जो साँप है,' वह तुम्हारी ही बात कह रहा है, अतः आगे जोड़ता है 'वह साँप नहीं रस्सी है।' या किसी वैज्ञानिक को यह दृढ़ निश्चय है कि सामने की दीवाल पोली है। यह ज्ञान उसका निश्चित है, लेकिन तुमसे बात करते समय कहता है कि यह जो तुमको ठोस दीवाल दीख रही है, यह इसलिये दीख रही है कि अणुओं का स्पन्द इतना तीव्र है कि तुम्हारी नज़र उसे नहीं देख पाती। एक प्रयोग किया जाता है, कभी घर में अपने बच्चों से कहना, कर दिखायेंगे। एक तख्ती बनाकर उसके अंदर सात रंग पोत देते हैं। कभी स्कूल में जाओगे तो देख लोगे, नहीं तो घर में बच्चा ही बना देगा। उस तख्ती को एक घिरनी पर लगाते हैं और जब उसे तेज़ी से घुमाते हैं तो केवल सफेद रंग दीखता है। सफेद दीखने का कारण यह है कि वह तख्ती इतनी तेज़ी से घूमती है कि तुम्हारी आँख उतनी तेज़ चीज़ को नहीं देख पाती। ये सातों रंग तुम्हारी आँख में आँख के हिसाब से इकट्ठा पड़ते हैं। वास्तव में इकट्ठे नहीं पड़ते हैं लेकिन वह भेद इतना कम है कि आँख उस सम्बन्ध को नहीं समझ पाती। वे रंग मिले हुए आँख में पड़ते हैं, इसलिये तुम्हें लगता है कि सात रंग मिल गये और इनके मिलने से सफेद रंग हो गया। सीधा-सा प्रयोग है, करके देखना। नहीं तो भगवान् गौडपादाचार्य का प्रयोग बताते हैंः एक धूपबत्ती लेना। यह प्रयोग करके देखना क्योंकि करके देखोगे तो निश्चय होगा। बत्ती जलाने के बाद फिर उसको दोनों हाथों में पकड़कर ज़ोर से घुमा देना। तुमको वहाँ एक चक्र दिखाई देगा। वह चक्र कहाँ से आ गया? क्योंकि किसी भी एक समय में धूपबत्ती एक जगह रहेगी। एक-साथ सब जगह धूपबत्ती नहीं है। एक साथ सब जगह न रहते हुए भी तुमको चक्र इसलिये दीखता है कि वह इतनी तेज़ी से चलती है कि तुम्हारी आँख उसे अलग-अलग सम्बन्ध में नहीं देख पाती। उसका सम्बन्ध तो अलग-अलग है, लेकिन तुम्हारी आँख पर एक साथ छाप पड़ती है, और तुम्हें वहाँ चक्र नज़र आता है। इसी प्रकार वैज्ञानिक कहता है कि दीवार के अन्दर

परमाणु इतनी ज़ोर से चलते हैं कि तुमको लगता है कि यह दीवाल ठोस है। जैसे वैज्ञानिक इस बात को जानता है कि दीवाल पोली है, लेकिन तुम्हारी बात लेकर बोलता है, इसी प्रकार ज्ञानी जानता है कि सामने घट नाम की चीज़ है ही नहीं। ज्ञान का स्पन्द, वृत्ति के द्वारा इतनी तेज़ी से हो गया कि तुम्हें वहाँ घट दीख गया। उसे पता है कि ऐसा कहेगा तो हमारी समझ में नहीं आयेगा। अतः वह समझाता है कि घट का ज्ञान कैसे हुआ? वह कहता है, आँख से हुआ। आँख ही सिद्ध नहीं है तो ज्ञान क्या करेगी!

इसी प्रकार ज्ञानी इच्छा करते हुए तुमको तो दीखता है लेकिन जिस काल में वह कहता है कि भूख लगी है, उस काल में भी वह जानता है कि खाने की इच्छा असम्भव है, क्योंकि खाने की ज़रूरत शरीर को है, भूख की वृत्ति मन में उत्पन्न होती है और शरीर और मन का सम्बन्ध किसी तरह से बनता नहीं है, क्योंकि मन अपंचीकृत पंचमहाभूतों से बना है और शरीर उनके तमोगुणांश से पंचीकरण होकर बना। इसलिये दोनों का सम्बन्ध ही नहीं बनता। फिर शरीर की भूख मन में कैसे पहुँच गई? यदि सम्बन्ध हो तो हम तुम्हारे शरीर को भूखा रखते हुए भी मन से भूख उड़ा कैसे सकते हैं? खूब भूख लगी है, कलकत्ते से चौबीस घण्टे की यात्रा करके आये हो, नहाकर तैयार हो गये, पंखा चल रहा है, हाथ में शिंकजी ले ली, पीने वाले हो, घर वाली ने गरम पकोड़े भी तैयार कर दिये हैं, कहते हो-'परसों शाम को खाया था, रेल में पानी तक नहीं पिया, तूने बढ़िया किया।' शिंकजी होठों पर लगाई ही कि उसी समय कोई कहता है तेरी दुकान में आग लग गई है चलो, दमकल वालों को फोन कर दिया है। क्या कहोगे कि 'खा पी लूँ, चौबीस घण्टे के बाद तो आया हूँ।' घर वाली कहे भी कि 'खा तो लो', तो कहता है 'मेरी भूख प्यास मिट गई।' क्या पेट या गले में कुछ पहुँचा? कुछ ठण्डक नहीं हुई। शरीर की भूख प्यास बनी रही और मन की भूख-प्यास गायब। फिर भी अध्यास से अंधविश्वास करता है कि भूख लगी है। मन को भूख लग नहीं सकती और शरीर जान नहीं सकता, फिर भी दूसरे को समझाने के लिये कहता है। जिस समय यह इच्छा करता प्रतीत होता है उस समय भी वह इच्छा नहीं कर रहा है, उस समय भी जानता है कि मन और शरीर अलग- अलग हैं, दोनों का सम्बन्ध नहीं है। यह अध्यात्म विद्या की बात नहीं, सामान्य आदमी को भी भूख नहीं लगती तो उसे कहाँ से भूख लगनी है?

जैसे उसकी सारी इच्छायें ख़त्म, वैसे ही उसे किसी विषय में शंका नहीं होती। उसके मन में संदेह उठता ही नहीं। उसे न कभी शंका होती है और न कभी किसी बात का निश्चय होता है, क्योंकि कुछ हो तो शंका और निश्चय करे। लोग शंकायें करने में लगे हुए हैं कि यह चीज़ ऐसी कैसे हुई। वह भी जवाब देता रहता है और सोचता है 'ये कैसे लोग हैं कि इन्हें दीखता है, मुझे तो कुछ हुआ दीखता ही नहीं है। इन बेचारों को दीख रहा है, लेकिन कुछ नहीं है।' कुछ हुआ हो तो शंका करें और दो-तीन सम्भावनायें हों तो कुछ निश्चय करें। सपने में दीखी घटना

के बारे में क्या शंका की जाये और क्या निश्चय किया जाये! ब्रह्माकार वृत्ति के बल से इच्छा, शंका, निश्चय सबका जिसने त्याग कर दिया, वह महात्यागी है। ऐसे को यहाँ कहा 'पृथुयशः-श्रेणिनिःश्रेणिभाग्भ्यः' ऐसे जो हैं, वे धन्य हैं।

'तेभ्यः सद्भ्यः' वे ही मन, वाणी और क्रिया तीनों के द्वारा नमस्कार्य हैं और वस्तुतः गुरु हैं। एक अद्भुत समावेश उनके अन्दर होता है। पता है कि जंगल में मीठा पानी है लेकिन ढूँढने पर भी मिलता नहीं है। कभी कोई व्यक्ति उस पानी से लेकर तुम्हारे गाँव तक एक नाली खोद देता है। पानी वह नहीं लाया, पानी तो झरने का वहीं था, लेकिन वह झाड़ी में फँसा हुआ था। उसने तो केवल वहाँ से तुम्हारे गाँव एक नाली ला दी। जो परिश्रम करके उसे पीने को मिला वही तुम्हें मिला, यह नहीं कि उसने खोदा है तो उसे ज़्यादा मीठा मिल गया होगा! इसी प्रकार से जिसने उस तत्त्वज्ञान को इतने श्रम से प्राप्त किया वह जब दूसरे अंतःकरण में उसका आधान करता है तब यह नहीं कि उसको कुछ ज़्यादा आनंद होता होगा। वह तो जिसके अंतःकरण में पड़ा उसको भी उतना ही मीठा मिलेगा। इसलिये ऐसे व्यक्ति को ज़्यादा मीठा पानी तो नहीं पिला सकते। केवल उसे नमस्कार कर सकते हो, उसके प्रति कृतज्ञ हो सकते हो, अपना अभिमान, अपना औद्धत्य छोड़ सकते हो। त्रिविध नमन अर्थात् शरीर से, मनसे, बुद्धि से, तीनों से वैसा ही व्यवहार करना जैसा वह कराना चाहता है, न कि जैसा हम करना चाहते हैं। यही धन्य होने का उपाय है।

## प्रवचन-४६

४-५-७२

भगवती के स्वरूप और उपलब्धि के स्थान का निर्देश करके यह बताया कि धन्य लोग उसका भजन करते हैं। वे धन्य क्यों हैं? यह बता आये। अब, उनका भजन क्या है? इसपर कुछ विचार करना है।

परमात्मा का भजन अनेक प्रकार का होता है। यहाँ जो भजन कहा जाता है वह सामान्य दृष्टि का भजन नहीं, किसी विशेष दृष्टि को लेकर यहाँ भजन शब्द का प्रयोग है। भगवान् ने गीता में कई प्रकार के भक्तों का वर्णन किया लेकिन अंत में कहा कि आत्मज्ञान के बाद का भजन किस प्रकार का होता है। अठारहवें अध्याय में सारे ही साधनों को संक्षेप में कहा 'विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।। अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।' (१८-५२,५३)। ब्रह्म के साथ वह एक कैसे होता है इसकी सारी साधना संक्षेप में इन श्लोकों में बताई। ब्रह्मभूत कैसा होता है? विविक्तसेवी  एकांत देश में रहने वाला; 'लघ्वाशी'  बहुत कम पदार्थों का सेवन करने वाला; 'यतवाक्कायमानसः'  शरीर, वाणी और मनके ऊपर नियंत्रण रखने वाला; 'ध्यानयोगपरो नित्यं'  नित्य ही ध्यान-योग में लगा रहने वाला; 'वैराग्यं समुपाश्रितः'  वैराग्य का सहारा लेकर अहंकार, बल, दर्प (घमण्ड) काम, क्रोध और परिग्रह इन सबको छोड़कर; 'विमुच्य निर्ममः शान्तः' किसी भी पदार्थ में ममता से रहित होकर; 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' तब ब्रह्म के साथ एकता का अनुभव करता है। ये सब तो ब्रह्मभवन के पहले के साधन हुए। अब उसके आगे भगवान् कहते हैं 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।' (१८-५४)। जब यह ब्रह्मीभवन हो गया अर्थात् अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध परिग्रह सब छोड़ चुका, इन्हें छोड़ने के बाद वह जब परब्रह्म परमात्मा के साथ अखण्ड अद्वैत का अनुभव कर रहा है, उसके बाद वह क्या करता है? कहा  'मद्भक्तिं लभते परां' तब परम भजन को प्राप्त करता है। यहाँ जो कहा कि धन्य लोग भजन करते हैं, तो यह आत्मज्ञानी का भजन है, पराभक्ति है।

उसका सामान्य रूप पहले बता दिया 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'; जब परब्रह्म परमात्मा से उसका ऐक्य है तो वह हमेशा ही प्रसन्नात्मा होता है, अर्थात् उसके देह, मन, बुद्धि सब नित्य प्रसन्न रहते हैं। सामान्य नियम है कि आग के पास बैठने वाला व्यक्ति अवश्य गरम हो जाता है, क्योंकि आग स्वरूप से गरम है। इसी प्रकार से जिस देह, मन, बुद्धि के साथ ब्रह्मभूत का थोड़ा भी सम्बन्ध हो गया, वहाँ प्रसन्नता अपने आप नाचती है। वह प्रसन्न *होता है,* ऐसा नहीं समझना, स्वभाव से ही वह प्रसन्न है। वह यदि कभी दुःखी बनने का ढोंग रचना भी चाहे तो

जैसे अपना बच्चा कोई विचित्र-सा काम करता है तो माँ डाँटती है पर डाँटते-डाँटते उसे हँसी आ जाती है। एक अपना लड़का था, उसे पता था कि प्लग किसी छेद में लगाया जाता है। उसे छेद कहीं नहीं मिला, उसने उस प्लग को अपनी नाक में घुसा लिया! अब उसे माँ डाँट भी रही है कि 'बिजली की चीज़ को हाथ मत लगा, नहीं तो मारूँगी', यह कहते-ही-कहते उसे हँसी छूट गई। उससे कहा 'क्या फायदा हुआ यों डाँटने से?' कहती है, 'हँसी आ जाती है क्या करूँ!' इसी प्रकार से किसी भी व्यक्ति को कोई ऊटपटांग काम करते देखकर भगवती डाँटती भी है तो अंदर से उसे हँसी छूटती है। कारण क्या है? जब तक अंतःकरण में बल, दर्प, काम, क्रोध होता है तब तक यह लगता है कि यह ग़लत और ठीक है। अपने बच्चे के कार्य में ग़लती की भावना नहीं होती इसलिये उससे अंतःकरण में एक प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार से सर्वत्र सब परिस्थितियों में उसके अन्दर-ही-अन्दर प्रसन्नता का फव्वारा फूटता ही रहता है। जब तक आत्मज्ञान में दृढ नहीं हो गया, तब तक तो जीव को यह नहीं पता कि सुख नाम की क्या चीज़ है। बेचारा एक दुःख से दूसरे दुःख में ही घूमता रहता है। यथाकथंचित् कभी किसी काल में दुःख कम हो गया तो उसे ही सुख मान लेता है। आत्म-ज्ञान की दृढता के बाद उसे पता ही नहीं चलता कि दुःख नाम चीज़ क्या है। यथाकथंचित् लोगों के कहने से वह दुःख नाम की चीज़ चाहता भी है तो उसे कुछ समझ में नहीं आता। बिलकुल उल्टा हो गया। 'न शोचति न कांक्षति' इसीलिये उसे न कभी किसी चीज़ का शोक होता है और न किसी चीज़ को प्राप्त करने की इच्छा ही होती है। भगवान् भाष्यकार शंकरभगवत्पाद इसी के भाष्य में लिखते हैं 'न हि अप्राप्तविषयाकांक्षा ब्रह्मविदः उपपद्यते' जो विषय प्राप्त नहीं, उसकी आकांक्षा ब्रह्मवेत्ता में नहीं होती, युक्ति से भी सिद्ध नहीं होती। इसके दो कारण हैं एक तो, कोई ऐसी चीज़ नहीं जो उसे पहले से प्राप्त न हो और जो प्राप्त नहीं वह पदार्थ है, ऐसा वह मान ही नहीं सकता। अर्थात् प्राप्त न होकर विषय कहीं पर रखा है, यह नहीं बनता, क्योंकि उसका मतलब हुआ कि कोई अज्ञात और अप्राप्त विषय है; लेकिन बिना ज्ञान से सम्बन्ध किये विषय ठहरेगा किस पर? इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि अप्राप्त विषय की आकांक्षा उसे कभी होती ही नहीं। कांक्षा का मतलब ही होता है अप्राप्त विषय की इच्छा। जो चीज़ पहले पास नहीं है, उसी की तो इच्छा कांक्षा, आकांक्षा है। तत्त्वज्ञ की इच्छा हमेशा प्राप्त को विषय करती है। प्राप्त विषय की आकांक्षा रहती है, तो जो चीज़ अपने पास है उसकी इच्छा मनुष्य को कभी शोक नहीं दे सकती। शोक हमेशा अप्राप्त पदार्थ का होता है। इसलिये कहा 'न शोचति न कांक्षति।' ये दोनों एक-दूसरे में हेतुहेतुमद्भाव से संबद्ध हैं। आकांक्षा न होने से ही शोक नहीं है। यह उसका स्वरूप बताया कि स्व विषय में वह हमेशा प्रसन्न रहता है, उसको कभी भी शोक और आकांक्षा नहीं होती।

और 'समः सर्वेषु भूतेषु' जब वह दूसरे को देखता है तो सम दृष्टि से देखता है। सारे ही

प्राणियों को, चर-अचर (जड-चेतन) जगत् को वह सम अर्थात् एक जैसा ही देखता है। सबको एक जैसा ही देखता है मायने क्या? क्या सबको काला-ही-काला, या गोरे रंग का या नाटा-ही-नाटा अथवा लम्बा-ही-लम्बा देखता है? भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि सम का मतलब है 'आत्मौपम्येन सर्वं समं दुःखं सुखं च।' हर चीज़ को वह अपनी उपमा से समझ लेता है कि यह दुःख और सुख एक-समान है। यदि उसे ठण्डी हवा अच्छी लगती है तो दूसरे को भी ठण्डी अच्छी लगती है, बड़ी सीधी-सी बात है। संसारी लोगों के व्यवहार आत्मौपम्येन नहीं होते, अपने को कुछ और अच्छा लगता है, पर मानते हैं कि दूसरे को कुछ और अच्छा लगना चाहिये। अपने को आठ बजे उठना अच्छा लगता है, नौकरों को पाँच बजे उठना चाहिये। हमको रोज़ घूमने जाना अच्छा लगता है, नौकर को हफ्ते में एक दिन भी छुट्टी नहीं लेनी चाहिये। हम अपने बच्चों के विवाह के अन्दर पाँच हज़ार रुपये की बिजली की सजावट करेंगे, लेकिन मुनीम जी अपने बच्चे के विवाह में खर्च के लिये कुल पाँच हज़ार माँगें तो उन्हें नहीं माँगना चाहिये। यह संसारी अनात्मज्ञों का व्यवहार है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं, सुख और दुःख प्रत्येक प्राणी के हृदय में अपनी आत्मा की उपमा से समझ लेने चाहिये। यह बड़ी सीधी बात होने पर भी हमारा राग-द्वेष से आक्रान्त अंतःकरण उसके अंदर अनेक प्रकार के पर्दों का निर्माण करता है। पर्दों का निर्माण करके अनात्म-दृष्टि के ऊपर आग्रह वाला बनता है। जहाँ-जहाँ भेद है वहाँ-वहाँ उपाधि की प्रधानता है और जहाँ अभेद है वहाँ उपाधि वाले की अर्थात् उपहित की प्रधानता है। ज्ञानी को उपाधि नहीं दीखती ऐसा नहीं है, लेकिन वह उपाधि के द्वारा उपहित को पकड़ता है। जैसे घट है, अज्ञानी को भी दीखा, ज्ञानी को भी दीखा। अज्ञानी को घटरूपी उपाधि प्रधान दीखी, 'है' रूपी परमात्मा गौण दीखा। ज्ञानी को है-रूप उपहित प्रधान दीखा, घट ने केवल व्यक्त कर दिया। इसीलिये ज्ञानी व्यवहार के अन्दर उपहित को प्रधान लेता है और अज्ञानी उपाधि को प्रधान लेता है। उपहित सर्वत्र एक है, उपाधि अलग-अलग हैं। इसी लिये भगवान् भाष्यकार ने सीधी-सी पहचान बता दी 'आत्मौपम्येन सर्वं समं दुःखं सुखं च'।

भगवान् ने कहा 'समः सर्वेषु भूतेषु' इसका मतलब केवल थोड़े-से प्राणियों में समता नहीं, बल्कि जो भी अपने अनुभव में आने वाले हैं, उन सभी प्राणियों में समता। बहुत बार लोग ऐसे स्थलों पर कहते हैं कि न जाने किस पिण्ड में, किस ब्रह्माण्ड में कौन-कौन प्राणी होंगे, उन सबका हम कहाँ तक ख़्याल कर सकते हैं? इसके पेट में यह है कि अज्ञात सत्ता वाले पदार्थ हैं! लेकिन अज्ञात सत्ता वाले पदार्थ और जीव हैं कहाँ! यहाँ ब्रह्मभूत की बात है, इसलिये 'सर्वेषु भूतेषु' का मतलब है कि ज्ञानी को जो जिस काल में प्रतीत हो रहे हैं, वही तो सर्व भूत हैं। अज्ञात सत्ता वाले पदार्थ ज्ञानी की दृष्टि में नहीं हैं। इसलिये जिस काल में जितने प्राणियों के साथ उसका व्यवहार हो रहा है, उस काल में उसकी उन सबके प्रति आत्मदृष्टि है। वह उपहित को लेता है।

कब उस पराभक्ति को प्राप्त करते हैं? ब्रह्मभूत एवं प्रसन्नात्मा होकर, शोक और

आकांक्षा से जो अति दूर हो गये, प्राणिमात्र के हृदय में जो एक साक्षिभाव से स्थिर हो गये, उन्हें पराभक्ति की प्राप्ति हुई। इस पराभक्ति काल में उसके सिवाय आत्मा के और दूसरी दृष्टि नहीं बनती। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक वार्तिक में बताया है 'देहेन्द्रिय-मनोधीभ्यः अन्वय-व्यतिरेकतः मुञ्जेषिकावदुद्धृत्य पश्येद् आत्मानम् आत्मनि'। जिसने इस काम को कर लिया, जैसे सरकण्डे के बीच से धागे को बुद्धिमान् निकाल लेता है, इसी प्रकार से देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि में से आत्मा को निकाल लिया; पकड़कर नहीं खींचना है, अन्वय-व्यतिरेक से निकालना है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ एकरूपता है, यह अन्वय है। जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ-वहाँ नामरूप में भेद है, यह व्यतिरेक है। इसके द्वारा जब उसने उद्धार कर लिया तो 'आत्मानम् आत्मनि पश्येत्' फिर जहाँ-जहाँ उसे कोई भी ज्ञान होता है, जहाँ-कहीं उसकी दृष्टि जाती है, वह सारे प्राणियों को आत्मा में देखता है। हम लोग तो देह में चीज़ों को देखते हैं, लगता है यह शरीर है, इसमें कोई है। उसके लगता है कि आत्मा में शरीर है। थोड़ा-सा विचार करके देखो कि शरीर कहाँ रहेगा? ज्ञान में ही तो रहेगा। ज्ञान आत्मा है, फिर शरीर ज्ञान में है या ज्ञान शरीर में है? शरीर ही ज्ञान में है। जब उसकी दृष्टि बदली तो उसे सब कुछ आत्मा में दीखता है, और उसकी उपाधि की दृष्टि भी आत्मा की बनती है, जिस प्रकार से गहना सोने में है और वस्तुतः गहना है ही नहीं, सोना ही सोना है। यह जो बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया 'पश्येद् आत्मानं आत्मनि', यही पराभक्ति है। यह बाकी सब भक्तियों के स्वरूप से भिन्न है।

विक्रमपुर नाम का एक शहर था उसमें विक्रमतुंग नाम का राजा राज्य करता था। देश के अनुसार राजा का नाम पड़ जाया करता है। राजा बड़ा धार्मिक था। धर्म के अनुसार शासन करने से वह जितना राज्य अच्छा करता था, उतना दण्ड देने में आगे नहीं रहता था। जो राजा प्रजा की तरफ दृष्टि रखता है उसे दण्ड नहीं देना पड़ता और जो राजा स्वार्थी होता है, वह नित्य-निरंतर दण्ड की ही सोचता रहता है। जिस देश में जितने ज़्यादा कानून हों, समझ लेना चाहिये कि उस देश का राजा उतना ही बड़ा चोर है। क्योंकि उसको प्रजा पर विश्वास नहीं है। घर का बाप समझदार न हो या माँ समझदार न हो तो घर में नियम बनाने लगते हैं। ठण्डी अल्मारी में कोई हाथ न लगाये, बिना पूछे कोई छह बजे के बाद बाहर न जाये, आठ बजे तक सारे बच्चे बिस्तर में चले जायें इत्यादि इसी प्रकार के बहुत से नियम बैठे-बैठे बनाते रहते हैं। नतीजा यह होता है कि बेचारे बच्चों को छिप-छिपकर नियम तोड़ने पड़ते हैं। आठ बजे अन्दर घुसकर अन्दर ही दस बजे तक गप्पें मारेंगे। जिस घर का शासन अच्छा होता है, वहाँ नियम नहीं बनाने पड़ते। स्वतः ही लोगों की प्रवृत्ति सम्यक् (ठीक) होती है। बहुत से लोग समझते हैं कि नियम बनाने से मनुष्यों में सुधार होता है। बिगाड़ दब जाता है, यहाँ तक तो ठीक है लेकिन बिगाड़ का दबना सुधार का होना नहीं है। यह भूल प्रायः लोग कर जाते हैं।

वह राजा ऐसा नहीं था। इसलिये उसे किसी को दण्ड बहुत कम देना पड़ता था। एक बार

उसके यहाँ मालवा देश से एक ब्राह्मण आया। वह देखने में बड़ा सुन्दर था, बड़ा वीर लगता था। उसके साथ उसकी पत्नी, एक लड़का और एक लड़की ये तीन जने थे। उसके पास सम्पत्ति भी तीन चीज़ों की ही थी। बगल में एक कटार (खुखरी), एक हाथ में एक तलवार और दूसरे हाथ में चमचम करती हुई बढ़िया ढाल थी। राजा ने पूछा किधर से आये? उसने कहा 'मैं वीर-धर नाम का ब्राह्मण हूँ और मालवा देश से आया हूँ। यह मेरी पत्नी धर्मवती, लड़की वीरवती और पुत्र सत्त्ववर है। मैं तुम्हारे यहाँ नौकरी करना चाहता हूँ।' राजा ने कहा बड़ा अच्छा है, यह बताओ कि क्या लोगे? उसने कहा 'मैं ज़रा महंगा आदमी हूँ, रोज़ पाँच सौ सोने की मोहर लूँगा।' राजा ने कहा 'तेरे साथ कोई बड़ी फौज भी नहीं है जो पाँच-सात सौ आदमियों का खर्चा हो। इतनी मोहरों से क्या करेगा?' कहा 'देना हो दो, नहीं तो मना करो। मेरा यह नियम है और इतना ही मेरा खर्चा है।' राजा ने विचार किया कि ज़रा परीक्षा करके देखना चाहिये कि करता क्या है। राजा ने उसे रख लिया। देखने में तो सुन्दर था ही और मांसपेशियों से लगता था कि इसमें बहादुरी भी है। राजा ने उसे पहरेदारी के काम पर रख लिया और अपने गुप्तचरों से कहा कि ज़रा पता लगाना कि यह इतने रुपयों का क्या करता है।

वह रात-दिन फाटक पर खड़ा ही रहे, केवल नहाने के लिये और खाने के लिये थोड़ी देर चला जाये, फिर आकर खड़ा हो जाये। शाम को भी भोजन आदि के बाद आकर फिर खड़ा हो जाये। राजा ने कहा कि आदमी बड़ा अच्छा है। गुप्तचरों ने आकर कहा कि यह सौ अशर्फियाँ पत्नी को घर के खर्चे के लिये दे देता है। सौ अशर्फियों से अपनी माला, कपड़ा इत्यादि खरीद लेता है। सौ अशर्फियाँ भगवान् विष्णु की पूजा में और सौ भगवान् शंकर के मन्दिर में जाकर लगा देता है और शेष सौ अशर्फियाँ ब्राह्मणों को दक्षिणा में देता है। यही उसका खर्चा है। राजा ने फिर गुप्तचरों से कहा कि और भी थोड़े दिन तक पता लगाओ। उन लोगों ने दो महीने तक पता लगाया और पाया कि उसका रोज़ का वही नियम है और पाँच सौ में से एक भी नहीं बचाता। राजा ने कहा यह बड़ा बहादुर है। नहीं तो इदानीं काल के लोग बचाते ही बचाते मर जाते हैं, खर्च करने का समय ही नहीं आता! हमेशा सोचते रहते हैं कि अब खर्च करेंगे, अब करेंगे और अंत में अंत्येष्टि में ही खर्च होता है, अपने हाथ से खर्च नहीं कर पाते। राजा यह जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ कि यह सत्कार्य में लगाने वाला बड़ा अच्छा आदमी है। उसने गुप्तचरों से कहा कि अब उसके पीछे पड़ने की ज़रूरत नहीं है, महीने-दो महीने देख लिया कि जो धन इसके पास जाता है, यह उसका दुरुपयोग नहीं करता, सदुपयोग ही करता है। इसलिये इसे लेने दो।

थोड़ा समय बीता तो एक दिन बड़ा जबरदस्त तूफान आया। घोर बादल छाये हुए थे, और कड़ाके की बिजली चमक रही थी। बड़े-बड़े ओले पड़ने लगे। राजा ने सोचा चलकर देखें कि कैसे ओले पड़ रहे हैं। राजा ने जाकर देखा कि बिजली चमक रही है और वीरवर वहीं फाटक

पर खड़ा है। बाकी सब अपने-अपने कमरे में घुस गये, लेकिन यह डटा हुआ है। तब तक राजा ने किसी औरत के रोने की आवाज़ सुनी। एक औरत क्रंदन कर रही थी। राजा ने आवाज़ लगाई कि 'कोई हो तो जाकर पता लगाओ।' वीरवर ने कहा 'मैं हूँ।' राजा ने कहा कि 'मेरे राज्य में किसी को दुःख तो होता नहीं है। फिर यह कौन रो रहा है, जाकर पता लगाओ।' वह गया और देरी हो गई वापिस नहीं आया, क्योंकि वह तो पाँच सौ अशर्फियों का आदमी था। दस-पाँच अशर्फियों वाला होता तो झट आकर कहता 'हाँ जी, पता लगा आया, एक औरत रो रही है।' फिर राजा पूछता कि पता लगाया क्यों रो रही है, तो कहता 'यह अभी पता लगाता हूँ।' साधारण आदमी को चाहे जितना दो, किसी काम को भेजो तो पूरा हाल कभी नहीं लेकर आयेगा। थोड़ी देरी हुई तो राजा ने सोचा कि 'मैं ही चलकर देखूँ कि क्यों रो रही है।' यह राजा का हृदय है कि प्रजा में किसी पर दुःख पड़ा तो उससे सहन नहीं होता। आजकल के राजा फाइलें देखते रहते हैं, आदमियों को नहीं देखते! वह राजा वहाँ छिपकर पहुँचा कि देखूँ, वह क्या कर रहा है। जब तक राजा वहाँ पहुँचा, वह चुप हो गई थी। उसने वीरवर को बताया कि 'मैं पृथ्वी हूँ।' उसने पूछा 'क्यों रो रही हो?' उसने कहा 'आज से तीसरे दिन राजा विक्रमतुंग मर जायेगा। मैं इसलिये रो रही हूँ कि मेरे को ऐसा सुन्दर और अच्छा शासन करने वाला राजा कहाँ मिलेगा। मुझे इसी का दुःख हो रहा है।' उसने पूछा 'पृथ्वी देवता! यह तो बताओ कि किसी उपाय से राजा जी सकता है।' उसने कहा 'जाओ, तुम अपना रास्ता देखो, इन सब बातों से क्या मतलब है।' उसने कहा 'यह बात नहीं, आपकी बात से तो यह पता लगता है कि उपाय है। कोई उपाय हो तो बताओ, मैं करूँगा, चाहे कुछ हो जाये।' उसने कहा कि 'यदि तू अपने लड़के को लाकर देवी के मन्दिर में बलि दे तो राजा बच सकता है।' उसने कहा 'यह तो बड़ा सरल उपाय बता दिया, घर के ही लड़के को मारने में क्या देरी लगती है। तू अब रोना बन्द कर, घबराने की कोई बात नहीं है।' राजा छिपकर सुन रहा था, सोचा 'गजब हो गया, यह कैसा आदमी है! एक ही तो इसका लड़का है और उसी को मारने को तैयार है।' वीरवर वहाँ से सीधा घर पहुँचा और अपनी पत्नी को जगाया। रात का समय था। पत्नी ने पूछा 'नाथ! इस समय कैसे आये, कहीं ओलों के भय से तो घर नहीं आ गये?' हँसकर बोला 'नहीं, धर्मवती! मैं ऐसे ओलों से घबराने वाला नहीं हूँ। लेकिन कुछ ज़रूरत आ पड़ी है, इसलिये इस समय आना पड़ा। पृथ्वी देवता ने बताया है कि आज से तीसरे दिन अपना राजा, जिसका हम अन्न खा रहे हैं, मर जायेगा। और उसके बचाने का तरीका यह है कि हम अपने लड़के सत्त्ववर की बलि दे दें।' धर्मवती बोली 'यह तो बड़ी सीधी-सी बात है। बड़ा अच्छा हुआ, घर में ही चीज़ मिल गई, नहीं तो कहाँ ढूँढने जाते!' धर्मवती ने बच्चे को उठाकर कहा कि 'आज समय आ गया है कि जिसका अन्न खाया है, उसका काम करना है।' बच्चा कहने लगा 'क्या काम करना है, माँ?' माँ ने कहा 'कुछ नहीं, जो मृत्यु प्राणिमात्र को आती है, वह तो आनी ही है, कोई नया काम नहीं

करना है और उसमें अपना कुछ नुक्सान नहीं होगा। हर हालत में मृत्यु तो आनी है, ज़रा जल्दी आ जायेगी।' लड़का प्रसन्न होकर बोला 'यह तो बड़ी अच्छी बात बताई। जिसके द्वारा हमारा पोषण हुआ, जो हमारा सब तरह से रक्षण करता है, यदि उसके काम में यह नश्वर शरीर आ जाये तो क्या इससे अच्छी और कोई बात हो सकती है? इसलिये चलो, जल्दी यह काम करें।'

वह लड़की और लड़के को लेकर वहाँ पहुँचा। भगवती के सामने जाकर उसने प्रार्थना की कि 'मेरे अन्नदाता राजा का रक्षण हो, इस निमित्त से मैं यह बलि चढ़ा रहा हूँ', और झट तलवार से उसने अपने पुत्र का सिर काट दिया। यह देखो कि कैसी वृत्ति मनुष्य की होती है, तब बहादुरी होती है। अब वह जो बच्ची खड़ी थी, उसने जब अपने भाई के सिर से खून निकलते देखा तो उससे सहन नहीं हुआ। वह ज़ोर से चिंघाड़ कर जो उससे चिपटी तो उसके हृदय की गति वहीं रुक गई और वह भी मर गई। माँ धर्मवती कहने लगी, 'अपना काम पूरा हो गया, राजा की रक्षा तो हो गई लेकिन अब इन दोनों संततियों के बिना मेरा जीवन तो दुःख का जीवन रहेगा, इसलिये इनके साथ मैं भी जल जाती हूँ।' वीरवर ने भी कहा कि 'बात तो ठीक ही है, इनके बिना तेरे को हमेशा दुःख बना रहेगा, जब-जब याद आयेगी दुःख होगा। इसलिये मैं तेरे को ना नहीं करता, जैसा तू ठीक समझे कर ले।' जब वह चिता की तैयारी करने लगा तो फिर आकर भगवती को नमस्कार किया और कहा कि 'मैं तो अपने कर्त्तव्य कर्म में लगा हुआ हूँ।' जैसे ही चिता को आग दी तो भगवान् शंकर प्रकट हो गये। उन्होंने कहा 'तू कोई वर माँग ले।' उसने कहा 'अपने राजा की रक्षा तो हो गई है, यदि वरदान माँगने को कहते हो तो मुझे कोई नई चीज़ नहीं चाहिये अर्थात् जो मेरे पास पहले नहीं थी, वह नहीं माँगता। मेरे पुत्र-पुत्री जीवित हो जायें।' भगवान् शंकर ने कहा 'बिलकुल ठीक है।' वे फिर जीवित हो गये। वीरवर ने उन्हें ले जाकर घर छोड़ दिया। फिर फाटक पर आकर खड़ा हो गया। राजा ने पीछे जाकर सब देखा था, कहा यह आदमी धन्य है।

राजा वहाँ से चलकर पहले ही महल में पहुँच गया था। राजा ने उसे बुलाकर पूछा कि 'पता लगाया या नहीं?' उसने कहा 'उसके दुःख का कारण दूर कर दिया है, आप तक आने की बात ही नहीं थी।' राजा ने विचार किया 'गजब हो गया, इसके ऊपर सारे घर की बलि की परिस्थिति आ गई, फिर भी यह नहीं कहता कि मैंने ऐसा किया!' यह मनुष्य की स्थिति है। उस समय तो राजा कुछ नहीं बोला। दूसरे दिन उसे सभा में बुलाकर खुद अपने मुँह से दूसरों को सारा वृत्तांत सुनाया कि कल मैंने ऐसा-ऐसा देखा। वह कहने लगा 'राजन्! इसमें मैंने क्या किया। जिस शरीर का रक्षण आपके द्वारा हुआ, उस शरीर के आपके उपयोग में आने के लिये कोई बड़ाई की बात नहीं है।' उसी समय राजा ने पाँच सौ से छह गुना बढ़ाकर तीन हज़ार दीनारें कर दीं और कहा कि यह कोई भी आज्ञा दे, मेरे से बिना पूछे इसकी आज्ञा का पालन कर दिया जाये। यह जो कहे सो ठीक है।' यह मनुष्य की वास्तविक दृढता की स्थिति है।

विचार करके देखो तो विक्रमपुर राज्य शरीर ही है, क्योंकि यहाँ आकर जबरदस्त विक्रम किया जा सकता है। वेदों में कहा है कि इसे कोई जीत नहीं सकता, यह इतना जबरदस्त है। देवताओं को भी जो उपलब्ध नहीं हो सकता, ऐसा आत्मज्ञान यहाँ बड़ी सरलता से हो जाता है। इसलिये इसे कोई नहीं जीत सकता। यहाँ का राजा विक्रमतुंग अर्थात् सबसे अधिक विक्रम करने वाला परमेश्वर ही वस्तुतः इस देह का राजा है। वही इसमें स्थित है। जो अपने पाँचों कोषों से अपने को अलग करके पाँचों कोषों का संरक्षण कर सकता है, ऐसा आत्मज्ञानी वीरवर है। 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' ब्रह्मभूत ही वीरवर है, वीरों में श्रेष्ठ है। साधारण दस-बीस आदमियों को मारने वालों को लोग कहते हैं कि इन्हें परमवीर चक्र या महावीर चक्र दो। असली वीर वह है जिसने इस देह, प्राण, मन, बुद्धि आदि सब को मार डाला। असली वीरता यही है। क्या कारण है कि लोग इतना सुनते हैं फिर भी मन में होने वाले राग-द्वेष आदि को हटाने का प्रयत्न भी नहीं करते? जप, ध्यान, तप आदि सब कर लेंगे लेकिन यह स्मरण नहीं करते कि साल भर पहले से आज मेरे काम, क्रोध, राग-द्वेष कम हुए या नहीं? जप की गिनती करते रहते हैं, उद्यापन करते रहते हैं कि इस व्रत को इतने वर्ष हो गये; इन सबका हिसाब लगाते रहते हैं, लेकिन यह नहीं देखते कि काम, क्रोध, मद, मात्सर्य में से कितना गया और कितना बचा। इसलिये यथापूर्व अर्थात् जैसे पहले थे, वैसे ही बने रहते हैं।

जो वीरवर है, उसकी पत्नी धर्मवती होती है। धर्म की बुद्धि ही उसकी पत्नी है। मन और बुद्धि उसका लड़का और लड़की हैं। तीन औजार वह पास रखता है, यही उसकी सम्पत्ति है। विवेक-रूपी कटार, वैराग्य रूपी तलवार उसके पास है। कटार पास वाले को मारी जाती है और तलवार दूर वाले को मारी जाती है। इसलिये पंचकोष अपने अत्यंत समीप होने के कारण इनपर विवेक की कटारी चलानी पड़ती है। जो इससे भिन्न, धन आदि सम्पत्ति और धन-सम्बन्धित हैं, उनपर वैराग्य की तलवार चलानी पड़ती है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा ही उसकी जगमगाती ढाल है। ढाल में सामने की तरफ दो चमड़े लगे रहते हैं जिससे तलवार लगे तो काटे नहीं। शम, दम आदि ढाल के कारण इसपर कोई वार काम नहीं कर सकता। ऐसा जो आत्मज्ञानी ब्रह्मभूत है, यह विक्रमतुंग परमेश्वर की नौकरी करता है। नौकरी भी कैसी करता है? पराभक्ति; कोई सामान्य भक्ति तो है नहीं। नौकरी या भक्ति एक ही बात है। वह हमेशा अप्रमादी होकर बना रहता है। भगवान् सनत्कुमार ने बताया है कि मृत्यु क्या है? किसी ने कोई और किसी ने कोई मृत्यु का लक्षण किया। अंत में सनत्कुमार ने कहा 'प्रमादो वै मृत्युमहं ब्रवीमि' सच्ची बात तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है। अपने अच्युत स्वरूप को भूलकर च्युत हो जाना ही प्रमाद है और इसी का नाम मृत्यु है। जहाँ अपने अच्युत भाव से च्युत हुए, बस उसी का नाम मृत्यु है, इससे आगे मृत्यु कुछ नहीं है। जैसे वह वीरवर रात-दिन पहरे पर सावधान है इसी प्रकार यह अप्रमादी होकर सावधान रहता है।

इसे जो मिलता है, उसमें से जो देह को देना है, देह को दे दिया। लेकिन इस देह के लिये सौ दीनारें चाहिये क्योंकि 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' उसे एक शरीर के लिये नहीं चाहिये। प्रातःकाल रुद्रीय का पाठ करते हुए भगवान् से माँगते हैं। कोई चीज़ ऐसी नहीं जो नहीं माँगते। सारा चमकाध्याय ही माँगने का है कि गेहूँ, चावल, लोहा, सोना इत्यादि सब मुझे मिलें। कभी हम लोगों के मन में संदेह होता है कि यह क्या है, माँगते-माँगते इसका पेट नहीं भरता, मिट्टी, पत्थर भी चाहिये! एक शरीर के लिये माँग रहा हो तब पेट भरे, वह तो केवल एक शरीर के लिये नहीं माँग रहा है, बल्कि जो-जो उसकी सन्निधि में आते हैं, उन सबके लिये उसे चाहिये। इसलिये उसे सौ अर्थात् अनंत चाहिये, क्योंकि अनंत शरीर हैं और सबको पदार्थ चाहिये। दूसरे सौ धर्मवती को देता है, क्योंकि यदि धर्म का कार्य नहीं होगा तो शरीर में ओज नहीं आयेगा। 'धर्मेण पापम् अपनुदति', जितना-जितना धर्म किया जाता है, उतने-उतने पाप नष्ट होते जाते हैं। आत्मज्ञानी को प्रारब्ध-भोग की कोई दृष्टि नहीं है, लेकिन जब वह नौकरी कर रहा है, पराभक्ति कर रहा है, तब जिन साधनों से करनी है, वे साधन ठीक रखने हैं। ब्राह्मणों का हिस्सा उनको दिया; ब्राह्मण वेद का प्रतीक है। वेद का संरक्षण ब्राह्मण करता है। वह अपनी शक्ति का उपयोग वेद के लिये करता है। अपनी शक्ति का उपयोग विष्णु के लिये करता है, यह सगुण ब्रह्म की दृष्टि है। और तीसरा उपयोग शंकर के लिये करता है, यह निर्गुण ब्रह्म की दृष्टि है। या इसे प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय   इन तीनों कोषों का स्वरूप समझ लो। कपड़ा इत्यादि शरीर के लिये है। धर्म के लिये प्राणमय कोष अर्थात् भूख-प्यास की निवृत्ति। वेद से सगुण उपासना, और निर्गुण उपासना से ज्ञान होता है। पाँचों कोषों के लिये प्रयास करता है, केवल शरीर के लिये नहीं। वह आनंद ले रहा है। प्राणिमात्र के मनों में वेद, विष्णु (सगुण) और निर्गुण की स्थापना करता है। राजा परमेश्वर कहता है कि यह धन ठीक काम में लगाता है, इसलिये देना चाहिये, नहीं तो चमकाध्याय के पाठ करने का फ़ायदा क्या हुआ!

किसी समय परीक्षा का समय आता है। परमेश्वर की रक्षा के लिये कभी उसे अपने पुत्र की बलि देने का समय आ जाता है। पुत्र सत्त्ववर है। सत्त्व का मतलब मन है 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः'। उसका मन श्रेष्ठ है, इसलिये उसे सत्त्ववर कहा है। जिस मन ने परमेश्वर को विषय किया, वह श्रेष्ठ है इसमें क्या कहना! जिस समय उस परब्रह्म परमात्मा निर्गुण ब्रह्म के ऊपर कोई चीज़ आती है तो मन की परवाह नहीं करता। संसार के दूसरे मत-मतांतर अपने आपको बचाकर परमेश्वर को ख़त्म करते हैं! आत्मज्ञानी क्या करता है? महर्षि याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक उपनिषद् में कहते हैं 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' अर्थात् वहाँ वेद भी वेद नहीं रह जाते! दूसरे लोग ऐसी हिम्मत नहीं कर सकते। मन को अमन बनाने में आत्मज्ञानी को देर नहीं लगती। वह झट कहता है कि अहंकार को, मन को छोड़ो। आवश्यकता पड़ी तो अपने हाथ से बलि चढ़ा देता है। मन को स्तंभित करता है, क्योंकि उसके बिना निर्गुण

का प्रकाश नहीं फैलता। परमात्मा देखता है कि मेरे लिये मन की बलि देने में भी इसको देरी नहीं लगती। चाहे उसके कारण इसका सारा घर बरबाद हो जाये, क्योंकि मन नहीं तो बुद्धि नहीं रहेगी। मन संकल्प-विकल्प करेगा तब बुद्धि निश्चय करेगी। धर्मवती कहती है 'मन नहीं तो मैं नहीं।' जब निश्चय ही नहीं रहा तो धर्म-अधर्म क्या करे! धर्म-अधर्म भी कुछ नहीं हैं। उसे न यह पता है कि मैंने पाप क्यों किया और नहीं यह पता है कि मैंने पुण्य क्यों नहीं किये हैं। भगवान् भी आगे जाकर कहेंगे 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। धर्म का भी वह त्याग कर सकता है। मन, बुद्धि आदि सबका त्याग करके भी वह निर्गुण परब्रह्म परमात्मा, साक्षी चैतन्य को नहीं छोड़ता। उसकी रक्षा चाहता है। उसकी ऐसी दृढता देखते हैं तो उसके मन, बुद्धि फिर जीवित हो जाते हैं। अविद्यानाश के बाद फिर जगत् की प्रतीति तो होती है लेकिन अब भगवान् शंकर की कृपा से हुई है, क्योंकि परीक्षा करके देख लिया कि यह सब कुछ बलिदान करने को तैयार है, और यह सब करने पर भी उसके मन में नहीं आता कि 'मैंने यह किया', उसे साधारण-सी बात लगती है। यह स्थिति प्राप्त करने के लिये ही यहाँ कहा 'भजन्ति।' जब इस प्रकार से अपना सर्वस्व बलिदान-रूपी भजन करता है तब वह चिदानंदलहरी स्फुट होती है। सर्वस्व बलिदान का भजन कैसा है, इस पर आगे फिर विचार करेंगे।

# प्रवचन-४७

५-५-७२

भगवती के स्वरूप का प्रतिपादन करके, उपलब्धि का केन्द्र बता कर उसकी पराभक्ति करने का स्वरूप बता रहे थे। पराभक्ति के पूर्व क्या-क्या सिद्ध हो जाता है, यह बताया। इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते (गीता भाष्य १८.५४) हैं 'एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनं पराम् उत्तमां ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं लभते।' जो ज्ञान में दृढ निष्ठा वाला है क्षणमात्र को भी वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। जैसे लोक में पहले आदमी को कहीं शान्त जगह में खड़े होकर बंदूक चलाना सिखाया जाता है। गोली मारने वाला खुद भी स्थिर, और जिसपर लक्ष्य साधना है वह भी स्थिर होता है। बंदूक को भी कंधे से भिड़ाकर स्थिर करता है। आँख को भी स्थिर करता है। बंदूक की नाली के सामने आँख को केन्द्रित करता है। मन को भी स्थिर करता है, उस काल में कोई भी आवाज़ हो जाये तो कहता है 'चुप रहो, गोली चलानी है।' लक्ष्य स्थिर, वेध करने वाला स्थिर, वेध का साधन बंदूक स्थिर, वेध लगाने वाली आँख और मन स्थिर हैं; तब गोली चलती है और फिर भी निशाना चूक जाता है! क्योंकि अभी सीख रहा है। क्या उससे कभी निशाना लगेगा ही नहीं? उसी को दस साल बाद देखते हैं; उड़ती चिड़िया है, लक्ष्य भी चंचल; जीप में बैठ कर जा रहा है, इसलिये वेध करने वाला भी चंचल; बंदूक को एक हाथ से उठाता है, वह भी चंचल है; बायें हाथ से स्टीयरिंग सम्भाल रहा है, इसलिये आँख भी चंचल है; मन भी चंचल है, जीप में रेडियो (ट्रांजिस्टर) बजा रखा है उसे सुन रहा है। इस प्रकार मन, नेत्र, वेध करने वाला, बंदूक और लक्ष्य सभी चंचल हैं, बिना निशाना बाँधे उठाकर निशाना लगाया, गोली चली और चिड़िया धड़ाम से नीचे! पहले से अब फ़र्क यह है कि इसको निशाना साधने की निष्ठा हो गई है अतः अब बिना तैयारी के भी निशाना चूकता नहीं है।

कहोगे, 'हम लोग शिकारी नहीं हैं', तो तुम्हारे घर का दृष्टांत बता देते हैं : पहले-पहले दुकान में जाकर बैठते हो तो जिस समय गज से कपड़ा नापते हो उस समय बड़े सावधान हो, कहीं ऐसा न हो कि फिसल जाये। उस समय कोई दूसरा कहता है कि 'लाल कपड़े का क्या दाम है', कहते हो 'चुप रहो।' काम करते हुए तुम्हारे नेत्र, हाथ सब स्थिर चाहिये। भाव लगाते समय कापी पैन्सिल लेकर बैठते हो। सारी बातें स्थिर चाहिये और फिर पिता जी जो माल एक रुपये छह आने में खिसका देते, उसे सवा रुपये में बेच देते हो। जब काम करना आ गया, तब लाल कपड़ों का भाव भी बता रहा है, नौकर को नये ग्राहक को कोका कोला पिलाने के लिये कह रहा है, दूसरे आदमी को बिल के पैसे बता रहा है, आँख से मुनीम को समझा रहा है कि 'इसको उधार नहीं देना, गई बार ले गया था तो छह महीने तक हिसाब देने नहीं आया था'; यह सब करते हुए भी कपड़ा ठीक नाप रहा है, कोई गड़बड़ नहीं है। यह निष्ठा है।

जिस चीज़ में निष्ठा हो जाती है उसमें सब कुछ करते हुए भी भाव में कोई परिवर्तन नहीं आता। इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'एवंभूतो ज्ञाननिष्ठः' शोक और आकांक्षाओं से दूर होकर प्रसन्न अंतःकरण वाला जो ज्ञाननिष्ठा वाला है, वह परमेश्वर का भजन करता है जो पर अर्थात् उत्तम भजन है। इस भक्ति को यहाँ ज्ञान-लक्षणा भक्ति कहा है। ज्ञान ही लक्षण है जिस भक्ति का, वह ज्ञानलक्षणा भक्ति है। उसके प्रत्येक कार्य के अन्दर ज्ञान की लक्षणा होती है। जैसे लोहे का व्यापारी जहाँ भी जाता है, लोहे की चीज़ देखता है तो वह उसकी लक्षणा कर लेता है कि यह किस मिल का लोहा है। उसके सामने लोहा आये और उसकी नज़र उसे न भाँपे, यह नहीं हो सकता। पता लग जाता है कि इस आदमी का क्या व्यापार है, पूछना थोड़े ही पड़ता है। बुद्धिमान् को यहाँ तक पता लग जाता है कि स्टील का व्यापारी है या कच्चे लोहे का व्यापारी है। उसके व्यवहार को देखकर यहाँ तक पता लग जाता है। सब के सामने स्टील की थालियाँ रखी हैं, सब इस इंतजार में हैं कि भोजन कब आये। स्टील का व्यापारी उसकी मोटाई नापता है कि कितने इंच का स्टील लगा है। इससे झट पता लग जाता है कि किस चीज़ का व्यापारी है।

इसी प्रकार से जो पराभक्ति करता है, भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ज्ञान ही उसका लक्षण है। उसके प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक भजन के अन्दर ज्ञान ही लक्षित होता है, ज्ञान की ही प्रतीति होती है। उसके अद्वितीय ज्ञान का स्वरूप क्षणमात्र को हिलता नहीं, वैसा-का-वैसा स्थिर रहता है, क्योंकि आत्मा के सिवाय उसको कहीं और दृष्टि बनती ही नहीं है। 'अष्टाभिरष्टमूर्तिं च शाम्भवः स्तौति शंकरं' उसकी आँख देखेगी तो रूप को नहीं भगवान् शंकर की अग्निमूर्ति को देखेगी। उसके कान सुनेंगे तो शब्द नहीं बल्कि भगवान् शंकर की आकाश मूर्ति को; उसको हवा लगेगी तो भगवान् शंकर की वायुमूर्ति का स्पर्श होगा, वह कभी ज़मीन पर खड़ा नहीं होता, रात-दिन भगवान् शंकर की पृथ्वी मूर्ति के सहारे स्थिर रहता है। सूर्य और चन्द्र भी उसी की मूर्तियाँ हैं और अपने अन्दर जो मैं-मैं कर रहा है, वह भी उसकी मूर्ति है। रोज़ शिवमहिम्न का पाठ करते हो 'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः। त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।' धरणि और आत्मा भी तुम्हीं हो। इसलिये इन सारी अष्टमूर्तियों के द्वारा वह निरंतर किस का भजन कर रहा है? साधारण आदमी मन्दिर में बैठकर भगवान् विष्णु का ध्यान कर रहा हो, इसी का नाम भजन करना है। उसकी समस्या यह है कि कहाँ जाऊँ जहाँ भगवान् नहीं? 'परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं' कहता है इन आठ के अन्दर भी विचार करके देखो तो कुछ हिसाब लगाने वाला चक्कर रहता है। सिकोरे को पहले मिट्टी, फिर मिट्टी को पृथ्वी बनाओ और तब पृथ्वी उसकी मूर्ति हो। 'न विद्मः तत् तत्त्वं वयम् इह तु यत् त्वं न भवसि' हम तो किसी भी ऐसी चीज़ को देखते ही नहीं जो तू न हो। इस तरह नित्य निरंतर प्रतिक्षण अनुभव करता रहता है। मन्दिर में बैठकर जिस भगवान् विष्णु का ध्यान करते हो उसी को वह

सर्वत्र देखता है। नहीं तो, मनुष्य मन्दिर में बैठकर भी परमात्मा की स्तुति नहीं करता है, पूजा तो भगवान् की करता है, स्तुति सेठों की करता है! जितने प्रेम से 'आओ लाला जी' कहता है, उतने प्रेम से कभी शंकर जी की तरफ नज़र नहीं जाती।

एक बार एक महात्मा कहीं मन्दिर में पहुँचे। भगवती का दिव्य मन्दिर था, गंगा का सुन्दर प्रवाह बह रहा था, परमहंस महात्मा थे, आनंद से गंगा की लहरों को देखते हुए बैठ गये। उनकी पीठ मन्दिर की तरफ हो गई, गंगा जी की तरफ मुँह करके बैठ गये। थोड़ी देर में वहाँ का पुजारी आया और उनसे कहा 'अरे बाबा! ज़रा सम्भल कर बैठ, कैसे बैठ रहा है?' महात्मा ने ऊपर-नीचे नज़र डाली और कहा 'मेरे को क्यों परेशान करता है? तेरा इष्ट तो तेरे पैरों (की गद्दी) के नीचे है। (जिसे पादपीठ कहते हैं); वहाँ जा, मेरे को क्यों परेशान कर रहा है?' पुजारी को बड़ा गुस्सा आया कि देखो कैसी बात कर रहा है। राजा उसका शिष्य था। सायंकाल उसने राजा से कहा कि 'इसने मेरा ऐसा अपमान किया है।' राजा ने कहा कि 'इसे पकड़कर ख़त्म कर दो।' राजा का हुक्म था, उसके आदमियों ने महात्मा को मार दिया और महात्मा हँसते रहे। इधर उनके शिष्य ने देखा कि रात में गुरु जी घर नहीं आये तो पता लगाने चला। उसने सोचा कि गुरुजी भूमिका में आरूढ हैं, इसलिये उन्हें होश नहीं होगा, कहीं बैठ गये होंगे। पता लगाने निकला। दो दिन तक घूमता रहा लेकिन कहीं पता नहीं लगा। घूमते-घूमते उस मंदिर के सामने से भी निकला, गंगा का किनारा पड़ता था, सोचा शायद यहीं कहीं बैठे हों। भगवती का दिव्य मन्दिर देखा तो सोचा कि मन्दिर में दर्शन करते चलें। वहाँ लोग आपस में बातें कर रहे थे कि 'उस दिन एक महात्मा ने हमारे पुजारी का अपमान किया और देखो हमारे पुजारी कितने सिद्ध हैं कि उसे मरवा डाला!' शिष्य को यह सुनकर आश्चर्य हुआ, उनसे पूछा 'कैसे महात्मा थे?' उन लोगों ने बताया कि ऐसा-ऐसा रंग था। उसका माथा ठनका कि 'ये तो अपने गुरुजी जैसा बता रहे हैं।' और ज़रा विस्तार से पूछा तो लोगों ने सारी बात बताई कि 'पहले तो देवी की तरफ पीठ करके बैठ गया और फिर हमारे पुजारी जी का अपमान किया कि 'तेरे इष्ट तो तेरे पैरों के नीचे हैं।' ये लोग तो अपने को ही सबसे बड़ा समझते हैं और इष्ट को नीचा बताते हैं।'

उसने थोड़ा विचार किया तो समझ गया। वह भी वहीं जाकर बैठ गया और देवी की तरफ पीठ करके ही बैठा। एक तो पुजारी को जोश चढ़ा हुआ था और 'लाभात् लोभःप्रवर्धते' अपने मन की कोई चीज़ कर लो तो लोभ होता है। वह पुजारी आकर बोला 'परसों तो देवी बलि ले चुकी हैं, आज फिर लेंगी। अरे मूर्ख! देवी की तरफ पीठ करके क्यों बैठा है?' शिष्य ने कहा 'क्यों बक-बक करता है, तेरा इष्ट तेरे पैरों के नीचे है!' पुजारी ने लोगों से कहा 'इसे पकड़ लो।' किसी ने उसके कान में फुसफुसा कर कहा 'ज़रा सँभल कर बात कर।' उसने कहा 'मेरे को सोच कर बात नहीं करनी है, मैं गुरुजी की तरह भूमिकारूढ नहीं हूँ।' तब तक वहाँ राजा आया, पूछा क्या बात है? उसने राजा से कहा 'कैसे दुष्ट को पुजारी बना रखा है! यह सचमुच कहे

कि इसकी लड़की का ब्याह है या नहीं?' राजा ने कहा 'हम सबको पता है कि इसकी लड़की का ब्याह है।' फिर कहा 'परसों यह तेरे पास आया था और कहा था कि लड़की के ब्याह के लिये कुछ दो। इसलिये तुम्हारे आने से पहले यह सोच रहा था कि धन मिले।' फिर पुजारी की तरफ देखकर कहा 'सच बता कि तू राजा से कुछ चाहता है या नहीं?' पुजारी ने कहा 'इससे क्या मतलब है?' उसने राजा से कहा कि 'जहाँ इसका पादपीठ रखा जाता है, उस जगह को खोलो।' खुदवाया तो वहाँ चार सोने के घड़े निकले! राजा से कहा 'मेरे गुरुजी ने यही तो कहा था कि तेरा इष्ट तेरे पैरों के नीचे है, क्योंकि जानते थे। तू सोचता था कि राजा आयेगा, उससे धन माँगूंगा। आज भी इसका इष्ट यही है। गुरु जी ने यही कहा कि मेरा इष्ट भगवती मेरे सामने बह रही है, और तेरा इष्ट जहाँ है, वहाँ से निकाल ले।' राजा समझ गया कि बड़ी भूल हुई। मन्दिर में बैठकर भी इष्ट कुछ और हो सकता है।

इसलिये कहा कि उसकी दृष्टि कैसी है 'न तत् तत्त्वं विद्मः यत् त्वं न भवसि'। वह तो जहाँ देख रहा है उसी की स्तुति कर रहा है। उन सारे उपायों के द्वारा वह उस परमात्मा को ही देखता जा रहा है। उसके सिवाय उसकी और कोई दृष्टि नहीं बनती। कुछ लोग इसमें संदेह करते हैं कि फिर वह आँख खोलकर ही क्यों देखे, बन्द करके ही क्यों न देखे? इस प्रश्न के मूल में एक कारण है, बुरा नहीं समझना। देवताओं से लेकर छोटे-से-छोटे मानव तक यह नहीं चाहता कि ज्ञानी इस संसार में रहे। उसके दो कारण हैं। एक तो ज्ञानी को देखने से उन्हें अपने अज्ञान और अज्ञान की दशा का दुःख ज़्यादा होता है। जैसे अमीर आदमी की अमीरी को देखकर गरीब का दिल दुखता है। निर्धन के हृदय में बार-बार होता है कि इसे न देखता तो अच्छा था। क्योंकि उसे देखकर उसके हृदय में दुःख होता है। विचारशील तो उसे देखकर सोचता है कि 'अगर यह धनी बन गया तो मैं भी धन कमा लूँगा'। उसकी तो दृष्टि यह बनती है, लेकिन अविचारशील की दृष्टि यह बनती है कि 'यह ख़त्म हो जाये, मैं धनी बनूँ।' इसी प्रकार से अज्ञानी जब ज्ञानी को देखता है तो उसके हृदय में शूल चुभता है। उसकी नित्य प्रसन्नरूपता, नित्य आनंदरूपता, सब कर्त्तव्यों से मुक्ति, ये सब देखकर अज्ञानी पहले तो उसे अपनी तरफ खींचता है, कहता है 'अरे कुछ तो कर्त्तव्य मानो, यह क्या बात हुई कि कोई कर्त्तव्य ही नहीं है, यह पत्नी है, बच्चे हैं, यह मकान है, देश है, कुछ तो कर्त्तव्य मानो।' ज्ञानी हँसता है कि पहले कर्त्तव्य की सिद्धि तो हो। पहले यह सिद्ध हो कि मैं कौन हूँ, तब कर्त्तव्य मानें। इस पुत्र का मैं पिता हूँ, यह निर्णय हो तब पिता का कर्त्तव्य सिद्ध हो।

ज्ञानी कहता है कि यह सिद्ध कर दो कि यह मेरा पुत्र है तो मैं पिता का कर्त्तव्य कर दूँगा। वह तो आज तक सिद्ध नहीं कर पा रहे हो, फिर भी मुझसे कहे जा रहे हो! लेकिन समझाओ तो सही कि यह मेरा पुत्र कैसे, यह मेरी पत्नी कैसे है! समझ लूँगा तो फिर पिता और पति का कर्त्तव्य कर लूँगा। सिद्ध हो रहा है कि ये सारे सम्बन्ध मेरे नहीं हैं। 'जातिनीतिकुलगोत्रदूरगं ब्रह्म

तत्त्वमसि भावयात्मनि' जाति, नीति, कुल, गोत्र इन सब की कल्पना से मैं अतिदूर सिद्ध हो रहा हूँ। कर्त्तव्य से ना नहीं है, लेकिन पहले सिद्ध हो कि मैं क्या हूँ तब कर्त्तव्य का निर्णय हो। क्यों लोग घर में तड़पते रहते हैं। बाप कहता है 'तू बेटा है इसलिये तेरा कर्त्तव्य है कि शाम को आकर मेरी सेवा कर।' घरवाली कहती है कि 'शाम को आकर घूमने ले जाया कर क्योंकि तू पति है। अगर बाप के पास ही बैठे रहना था तो मेरे को यहाँ क्यों लेकर आया था?' लड़का कहता है 'मेरे इम्तिहान आ रहे हैं, तुम पिता हो, मेरे को ज़रा पढ़ा तो दो। तुम कैसे पिता हो कि एक-दो घण्टे पढ़ाते भी नहीं।' भाई कहता है 'भले आदमी, शाम को घण्टा-भर दुकान में आ जाओगे तो कुछ बिगड़ जायेगा, भाई हो, इतना हाथ भी नहीं बँटा सकते!' ज्ञानी कहता है कि पहले मैं पता तो लगा लूँ कि मैं कौन हूँ। यह कहता है तू बेटा है, यह कहता है तू बाप है, यह कहती है तू पति है, यह कहता है तू भाई है। सब भले आदमी हैं, इसमें से कोई मेरे को बुरा नहीं लग रहा है, लेकिन इतना निश्चित है कि कोई एक ही मैं हूँ, एक ही काल में बाप के साथ बैठकर बात भी कर लूँ, पत्नी को घुमाने भी ले जाऊँ, पुत्र को पढ़ा भी दूँ और भाई की मदद भी कर दूँ, क्या यह हो सकता है? इससे सिद्ध होता है कि आदमी तो मैं एक हूँ और ये सारे के सारे भले आदमी मुझे और-और बता रहे हैं। इसलिये पहले मैं पता लगाऊँ कि मैं कौन हूँ।

क्योंकि लोग इसकी जिज्ञासा ही नहीं करते, इसलिये रात-दिन परेशान हैं। किसी दिन भाई का दबाव पड़ा तो भाई, बाप का दबाव पड़ा तो बेटा बन गये, और बेटे का दबाव पड़ा तो बाप बन गये, नहीं तो पति बने-बनाये हो! चारों तरफ से जिसने तुम्हें खींच लिया, खिंच गये। तुमको खुद पता नहीं कि मैं कौन हूँ। जब सब ज्ञानी से कहते हैं कि 'तूम यह करो, वह करो,' तो वह कहता है कि मैं क्या करूँ! 'कुलगोत्रदूरगं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि' पता लगाने गया तो यह ब्रह्मभूत हो गया। अब उस स्वरूप को देखकर वह एक दिन भाई के साथ गया तो भाई समर्थन कर देता था कि बड़ा अच्छा है। बाप कहेगा 'मेरा बेटा अच्छा है', बेटा कहेगा 'मेरा बाप अच्छा है।' अज्ञान दशा में तो जिसको बाप अच्छा कहेगा उसे बेटा अच्छा नहीं कहता! बेटा कहता है कि सारी कमाई हमारे ऊपर खर्च करो। यदि बच्चों को दे दिया तो बाप कहता है 'लड़का कमाने-खाने में अच्छा है लेकिन हमारे किस काम आया? वैसे घर को अच्छा रखता है।' इसलिये कोई एक ही अच्छा कहता है। ज्ञानी के विरोध में सब के सब एक हो जाते हैं कि 'यह तो हम सबके हाथ से निकल गया।' इसीलिये वे सारे विरोधी बनते हैं।

अतिधन्य वेद कहता है, कि देवताओं को भी यह प्रिय नहीं लगता है तो मनुष्यों को तो क्या प्रिय लगेगा! ज्ञानी को देखते हैं तो सोचते हैं कि जिन परेशानियों में हम फँसे हैं उनमें इसे खींच कर ले आओ। पहली कोशिश तो होती है कि इसे अज्ञानी बनाओ। बन गया तो उन्हें संतोष होता है कि हमने माल मार लिया, बहुत ठीक हो गया। यदि नहीं गिरा पाये, जैसे यदि धनी को नहीं लूट पाये तो निर्धन को और जलन होती है कि हम जलाने भी गये लेकिन नहीं

जला, इसने फिर अपने को बचा लिया। तब वे कहते हैं कि ‘कम-से-कम यहाँ से बाहर निकल जाओ, दूसरों को तो न बिगाड़ो।’ इससे ज्ञानी को कुछ बुरा नहीं लगता है। बड़े से बड़ा कार्य करने वाले सभी व्यक्तियों को इसमें से बाहर निकलना पड़ता है। सन् ४२ के अन्दर जब भारत छोड़ो आंदोलन चल रहा था तब डॉ. राम मनोहर लोहिया, जो बाद में समाजवादी बन गये, राष्ट्रीय आंदोलन में थे और, छिप कर काम कर रहे थे। उस समय दो-तीन जनों ने छिपकर क्रांति में काम किया। एक बार कलकत्ते आये हुए थे। वहाँ किसी बड़े आदमी का लड़का भी कुछ ऐसा कार्य करता था, उनका सहयोगी था। वे छिपे हुए थे। राम मनोहर लोहिया को उसने अपने घर भोजन करने बुलाया। उसे पता नहीं था कि आज पिता जी घर आ जायेंगे। किसी काम से पिता जी आ गये और ऊपर नीचे देखकर पूछा कि ‘यह डॉ. लोहिया हैं?’ बेटे ने कहा ‘हाँ जी।’ उसके पिता को बड़ा गुस्सा चढ़ा और कहा कि ‘खुद के तो बीवी-बच्चे नहीं हैं, दूसरों को खराब करने आते हैं!’ लोहिया ने बहुत उपदेश दिया कि यह देशसेवा का काम है। उन्होंने कहा ‘आज तो आये सो आये, आज से खबरदार, अपने लड़के के साथ तुम्हें बात करते न देखूँ।’ लड़के को बड़ी शरम आई लेकिन करे तो क्या करे। जैसे जो देश की दृष्टि वाला नहीं है, वह देशसेवा की दृष्टि वाले को महा गया-बीता समझता है। इसी प्रकार से जो कर्मकाण्ड में फँसा हुआ है, कर्म- रहित नैष्कर्म्य भाव को देखकर उसे लगता है कि यह महा गया-बीता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यही नैष्कर्म्य हमारे लिये भूषण है, दूषण नहीं है। संसार के लोग समझते हैं कि जब हम अपने कर्म को करें, तभी भूषण है। वह कहता है कि अनादि काल से आज तक इस देह, मन आदि के लिये कार्य करके देख लिया, आज तक इसने कुछ भी सुख दिया कि आगे इसके लिये करें? अनादि काल से व्यष्टि के लिये कार्य करके देख लिया। अब कम-से-कम एक जन्म तक समष्टि के लिये कर्म करके देखें तो सही कि क्या होता है। ईश्वरार्पण अनुष्ठान करके देखो तो सही कि क्या होता है। यह निश्चित है कि इसके बाद फिर कभी बंधन का अनुभव नहीं होगा। ज्ञाननिष्ठा वाले को इसीलिये दूसरे लोग नहीं समझते हैं, क्योंकि वे उसको अपने नाप से, कर्म के नाप से नापते हैं, नैष्कर्म्य के नाप से नापना नहीं चाहते। इसलिये वे कहते हैं कि ‘तुम जंगल में जाओ, यहाँ से हटो, हमको अपना संसार चलाने दो। हमने बढ़िया दुःख की सृष्टि कर रखी है, तुम लोगों को कहते हो कि सुखी कर देंगे। ये सुखी हो जायेंगे तो हमारी सृष्टि तो खत्म हो जायेगी।’ ज्ञानी बड़ा धैर्य वाला होता है। वह कहता है कि तुम दुःख की सृष्टि बुने जाओ, मैं इसके अंदर सुख की वायु बनकर बैठा रहूँगा।

हिमालय पहाड़ पर ऊपर की चट्टानों पर बरफ जमी होती है। जैसे केदार बद्री में नारायण पहाड़ की चोटी पर भी जेठ की चिलचिलाती धूप पड़ती है। धूप इतनी तेज़ होती है कि बरफ से बादल बन जाता है और वह बादल बनकर फिर उस पहाड़ को ढाँक लेता है। इसलिये गर्मी के दिनों में जाओ तो वहाँ हिमगिरि के दर्शन दिन के समय नहीं होते, प्रातःकाल जाओ तो होते

हैं। वहीं से बादल बनकर उसी पर छा जाते हैं। नतीजा यह होता है कि लोग समझते हैं कि सूर्य तगड़ा है जिसने उस पत्थर की बर्फीली चट्टान को भाप बना दिया। पहाड़ हँसता है, थोड़ी देर में शाम होते ही वही बादल बरस जाते हैं। गर्मी कम हो गई और बरसकर वह पानी फिर वैसा-का-वैसा जम जाता है। असल में बादल बन जाने से बरफ को बड़ा फ़ायदा है। विज्ञान जानने वालों को पता होगा कि बादल के कारण सूर्य की रश्मि पूरे ज़ोर से उस बरफ पर आगे प्रवेश नहीं कर पाती, क्योंकि वह सारी भाप जो बीच में बादल बन गई, उष्णता का परिचलन नहीं करने देती, वह उष्णता-परिचलन का प्रतिबंधक हो जाती है। बादल नहीं होते तो उष्णता-परिचलन बन जाता। वह बादल ही उस हिमगिरि का रक्षक हो जाता है, जिसे सूर्य समझता है कि मैंने इसे पछाड़ दिया।

इसी प्रकार से ज्ञानी को ज्ञान की वृत्ति से हटाने वाले जगत् के पदार्थ हैं, ऐसा अज्ञानी समझता है। वह समझता है, तुम्हारा व्यापक ज्ञान है तो जब थाली में रोटी आयेगी तो वह ज्ञान परिच्छिन्न होगा या नहीं? इस परिच्छिन्नता के द्वारा वह ज्ञानी को परिच्छिन्न बनाना चाहता है। ज्ञानी उसी रोटी में 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'; उसको उस अन्न में ब्रह्म-दर्शन होकर उसकी निष्ठा और अधिक हो जाती है। संसार के पदार्थ अज्ञानी को बादल की तरह नज़र आते हैं। सूर्य की तरह माया (अज्ञान) की जो विजय दिखाई देती है, यह विजय ही ज्ञानी के लिये साधक हो जाती है, उसके ज्ञान को और ज़्यादा प्रस्फुटित करती है। इसीलिये कहा 'अष्टाभिरष्टमूर्तिं च शांभवः स्तौति शंकरं' भगवान् शंकर का भक्त इन अष्टमूर्तियों को देखते हुए उस परब्रह्म परमात्मा की स्तुति ही करता है। उसके द्वारा उसमें परमात्मभाव और ज़्यादा स्फुट होता है। दूसरे कहते हैं 'जब तुम कहते हो कि जगत् के पदार्थ नहीं हैं तो आँख बन्द क्यों नहीं कर लेते?' वह कहता है कि आँख खोलने से उसकी स्तुति होती है, इसलिये बन्द नहीं करता, नहीं तो चाहे जब बन्द कर लूँ। 'परमानन्दरूपोऽसौ परमात्मा स्वयं हरिः, शिवभक्तिं पुरस्कृत्य भुंक्ते भक्तिरसायनम्।।' परमेश्वर के ज्ञान में सबसे उत्कृष्ट ज्ञान नारायण का है। संन्यासियों के आद्याचार्य भगवान् नारायण हैं। 'परमात्मा स्वयं हरिः' उसकी परम आनंदरूपता में तो तुम्हें कोई संदेह नहीं है, वह क्या करता है? वह इतनी बड़ी सृष्टि की रक्षा करता है। कभी सोचा कि क्यों रक्षा करता है? विष्णु भगवान् को क्या पड़ी कि सृष्टि की रक्षा करें, क्या वे ज्ञानी नहीं हैं? क्योंकि इन अष्टमूर्तियों के द्वारा उस शिव की स्तुति हो रही है, इस स्तुति को करने के लिये ही इसकी रक्षा होती है, रक्षा करना शिवभक्ति को आगे रखना है। ज्ञान होने के बाद भी यह सारा ब्रह्माण्ड अधिष्ठानरूप से शिव है, उसकी तुम्हें भक्ति (सेवा) करनी है, उसमें आने वाले काँटों को दूर करना है। उससे उस अधिष्ठान निर्गुण परब्रह्म परमात्मा की स्तुति हो रही है। नारायण का स्वरूप बताते हुए उपनिषदों में कहा है 'उमाशंकरयोगो यः स वै विष्णुरिति स्मृतः' विष्णु क्या हैं? उमा शंकर का योग है। शंकर ब्रह्म हो गया और उमा ब्रह्माकार वृत्ति हो गई। ब्रह्माकार वृत्ति

वाले ब्रह्म का नाम ही विष्णु है। ब्रह्म में निष्ठा वाले के लिये संसार का कण-कण और क्षण-क्षण बाधक नहीं उल्टा परमेश्वर-स्तुति का साधक है। यही उसकी भक्ति है। ऐसा क्यों करता है? 'शिवभक्तिं पुरस्कृत्य भुंक्ते भक्तिरसायनं।' भक्ति एक रसायन है। रसायन क्या होता है? जब आदमी कमज़ोर हो जाता है तब उसे ताकत देने वाली चीज़ को वैद्य रसायन कहते हैं, जिसके खाने से ताकत आ जाती है। इसी प्रकार इन विषयों की नामरूपता का विचार करते-करते बुद्धि, मन, इन्द्रिय थक गये, अब इनमें ताकत नहीं रही। ऐसे क्षीण हो गये हैं कि तानव (तनुभाव) को प्राप्त हो गये, बिलकुल कमज़ोर हो गये। अब इन सबकी पुष्टि हुए बिना इन सबकी तृप्ति कैसे हो? इन्हें विषयों ने ही कमज़ोर किया था। विषयों ने इसलिये कमज़ोर किया कि विषय के द्वारा जो परमात्मा को पकड़ना था, वह नहीं पकड़ पाये। आदमी कब कमज़ोर होता है? गरीब की तो जाने दो, बड़े आदमियों की बात लेना; जिसे खाने को बढ़िया चीज़ें मिलती हैं, लेकिन वह खाना ही उसे कमज़ोर करता है, क्योंकि वह जो खाता है, उसका रस नहीं बनता, हजम नहीं होता। जब उसका पेट ठीक हो गया, रस बनाने की ताकत आ गई तो डाक्टर उन्हीं चीज़ें को फिर खिलाता है, जिन चीज़ें को पहले कहता था कि 'खबरदार! कभी नहीं खाना, केवल खिचड़ी खाना और कुछ नहीं खाना'। अब उसे कहता है कि बढ़िया बादाम का हलुआ बनाकर खाना। वह बादाम का हलुआ खाता है तो उसका शरीर टमाटर की तरह लाल बन जाता है, क्योंकि हजम करने की ताकत आ गयी। इसी प्रकार, विषयों का अपने अहंकार के लिये भोग करते-करते हजम करने की ताकत नहीं रही, सारी इन्द्रियों का तेज जीर्ण हो गया, इसलिये बताया कि आँख-कान आदि को विषयों की तरफ न जाने दो। यह अभ्यास करवाया, क्योंकि हजम करने की ताकत ख़त्म हो गई थी। कमज़ोर करने वाली चीज़ अहं ही थी। अब जब तुम्हारा अहं समाप्त हो गया तो कमज़ोर करने वाली चीज़ नहीं रही। अब पहले जिन चीज़ों को कहा था कि ये चीज़ें तुम्हारे लिये सर्वथा घातक हैं, उन चीज़ों को उससे दस गुना ज़्यादा करने को कहता है! पहले सर्वथा करने को ना करते थे, कि 'खिचड़ी भी थोड़ी ही खाना, ज़्यादा नहीं खाना', और अब बादाम का हलुआ खिला रहे हैं। तब कहते थे कि 'अपने शरीर की भी चिंता करना छोड़ो' और फिर प्राणिमात्र के शरीरों की चिन्ता लगी रहे, अब तो उससे तुम्हारा ब्रह्मभाव और पुष्ट होगा, कुछ नहीं बिगड़ेगा। इसीलिये पराभक्ति को रसायन कहा है। लेकिन जब तक अपने ब्रह्मभाव में स्थिर नहीं हुए, तब तक करोगे तो फिर वही अहंता की तरफ चले जाओगे और गड़बड़ा जाओगे। जब अहंकार का नाश हो गया तो अब उसका कोई खतरा नहीं, हजम करने की पूरी शक्ति आ गई। इसलिये इस रसायन का सेवन करते हैं।

## प्रवचन-४८

६-५-७२

धन्य पुरुषों के भजन का स्वरूप बता रहे हैं। वे ब्रह्मभूत होकर नित्य-निरंतर अपने अच्युत भाव में स्थित होकर भजन करते हैं। दो तरह के भक्त हुए, एक देव से अभिन्न होकर भजन करते हैं और दूसरे देव से भिन्न रहकर भजन करते हैं। जो देव से भिन्न होकर भजन करते हैं वे परम आनंद को प्राप्त नहीं कर पाते। आनंद तो उनका भी होता है, उनके आनंद में कमी नहीं है, लेकिन उनका आनंद परम आनंद नहीं होता, क्योंकि परिच्छिन्न होता है। कुछ लोग अभेद भाव को प्राप्त करने के बाद भी एक कल्पित भेद को लेकर भजन करते हैं। अभेद रहने पर भी कल्पित भेद का व्यवहार होता है। क्यों होता है? सामान्य प्राकृत पुरुष किसी चीज़ के सामान्य ज्ञान को पूर्ण ज्ञान समझते हैं। लेकिन विलक्षण प्रतिभा वाला ऐसा नहीं मानता। भगवान् भाष्यकार गीताभाष्य में कहते हैं कि भगवान् ने ऐसा क्यों कहा कि पराभक्ति को प्राप्त करके मेरी अभिज्ञा करता है। 'मद्भक्तिं लभते परां' के बाद ही कहा 'भक्त्या मामभिजानाति' ब्रह्मभूत होकर पराभक्ति को प्राप्त करता है और तब मेरी अभिज्ञा करता है। अभिज्ञा का मतलब है किसी चीज़ को अच्छी तरह से जानना। अच्छी तरह से जानना क्या है? 'यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः' यावान् का अर्थ भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'अहम् उपाधिकृत विस्तरभेदः' एक अखण्ड रहते हुए ही उपाधि के द्वारा किया हुआ बड़ा लम्बा चौड़ा भेद प्रतीत होता है। उसके स्वरूप में फ़र्क नहीं आता। उपाधि के द्वारा वह अत्यंत फैला हुआ है, उसका अनंत रूप प्रतीत होता है। उन अनंत रूपों को जानना 'यावान्' से कहा। भगवान् ने 'यश्च' से कहा कि उन सारे उपाधिकृत भेदों को जानते हुए भी इन सारी उपाधियों के न रहने पर जो मेरा स्वरूप है वह उत्तम पुरुष है। उत्तम पुरुष 'मैं' को कहते हैं। व्याकरण में तीन पुरुष होते हैं प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष। प्रथम पुरुष 'वह जाता है', 'वह है'। 'तुम जाते हो' मध्यम पुरुष; और 'मैं जाता हूँ' यह उत्तम पुरुष है। अंग्रेजी व्याकरण में 'मैं' को प्रथम पुरुष (first person) और वह को तृतीय पुरुष कहते हैं। अर्थात् उनके चिंतन का आधार सृष्टि-प्रक्रिया है। हम लोगों का क्रम 'वह', 'तू' और 'मैं' है, यह संहार-प्रक्रिया है। पहले हम परमात्मा को वह समझते हैं 'तस्यैवाहं तवैवाहं सएवाहम् इति त्रिधा भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः।।'

पहले-पहले मनुष्य परमात्मा की तरफ जाता है तो कहता है 'मैं उस परमात्मा का हूँ'। यह सभी साधारण पुरुषों की अनुभूति है। परमात्मा हमारा अधिपति, हमारा शासक है। वही हमको भोग देता है और एक दिन वही हमको मोक्ष भी देगा। 'तस्यैवाहं' यह प्रथम पुरुष हो गया। लेकिन अंग्रजी वाले इसे अंत में रखते हैं, तृतीय पुरुष कहते हैं। उसके बाद ज़रा परमात्मा से परिचय हुआ, परमात्मा का साक्षात्कार हुआ, दृढ अनुभव हुआ। अब 'मैं उसका हूँ', नहीं रह

गया, बल्कि वह तू हो गया कि 'मैं तुम्हारा हूँ।' 'तुम्हारा' कहने के अन्दर सामीप्यबोध है। जो बिलकुल सामने खड़ा हो, उसको जब हम जानते हैं तब उसको 'तुम' कहते हैं। फिर वह परमात्मा 'तुम' भी नहीं रह जाता, मैं हो जाता है! 'वह' से 'तुम' और 'तुम' से 'मैं', यह संहार-प्रक्रिया हुई। अब उसको अपना आपा अलग नहीं लगता। घर में रोज़ देखते हो : पहले-पहले पत्नी वह लगती है, 'उसकी आदत ठीक नहीं है, न जाने वह अपने को क्या समझाती है।' शादी के पाँच-सात साल बाद 'तुम' हो जाती है, नज़दीक आ गई। और बीस-पच्चीस साल बाद वही मैं हो जाती है! किसी ने कहा 'बहू जी ने कह दिया था'; कहते हो 'उसने कह दिया तो ठीक है, फिर हमें कुछ नहीं कहना।'

यह भेद किस को लेकर है 'साधनाभ्यासपाकतः' साधना के अभ्यास में पाक होते जाते हैं, पकावट आती है। मिट्टी काली है। जितनी-जितनी चूल्हे में पकती है, उतनी-उतनी लाल होती है। अंत में वह मिट्टी नहीं रह जाती, ईंट हो जाती है। अब यदि ईंट को फिर से कूटकर चूरा बना लो तो मिट्टी नहीं होती, ईंट का चूरा रहता है। कई जगह ईंट के चूरे का प्रयोग होता है, उसे मिट्टी की जगह काम में नहीं ले सकते। अब उसका स्वरूप ऐसा हो गया कि कूट कर चूरा बनाने पर भी वह मिट्टी नहीं है। यदि पहले ही उस मिट्टी के लोंदे को लेकर तुम चाहते कि इसे बिना पकाये ईंट बना लें, तो चूरा भी नहीं बनेगा। पहले उसे ईंट की शक्ल में जमाना ही पड़ेगा। फिर उसको पूरी तरह पकाओगे, तभी वह पूर्ण होकर ईंट का चूरा बनेगा, सीधे मिट्टी से ईंट का चूरा नहीं बना सकते।

एक बार हम राजस्थान में थे। वहाँ पहले आटे को पानी से गूंथकर उसके मोटे-मोटे लोंदे बनाते हैं और फिर गोबर की मंद आँच में उसको धीरे-धीरे पकाते हैं। जब वह पूरी तरह से पक जाता है तो फिर उसको एक पत्थर के ऊपर रखकर कूटते हैं। जब कूटकर बड़ा बारीक चूरा हो जाता है तो उसे फिर छाननी के अन्दर छानते हैं। मोटे-मोटे टुकड़ों को रगड़कर फिर पतला करते हैं। फिर उसके अन्दर घी और गुड़ डालकर उसके लड्डू बनाते हैं। इतना काण्ड करने पर वे लड्डू बड़े स्वादिष्ट होते हैं। उसका नाम चूरमे का लड्डू है जो मारवाड़ में खाने को मिलता है। हमारे साथ एक बड़े बुद्धिमान् व्यक्ति थे। हमसे एक बार कहा 'स्वामी जी! मैं भी चूरमे का लड्डू बनाता हूँ, ये लोग तो फालतू बनाते हैं।' हमने उसे बनाने को कह दिया। वह ज़रा ज़्यादा ही बुद्धिमान् था! उसने सोचा कि ये लोग पहले आटे का लोंदा बनाकर फिर चूरा करते हैं तो हम पहले आटे का लोंदा बनाये ही क्यों! इसलिये उसने सूखा आटा लेकर प्यालों में बंद करके जलते कण्डों में डाल दिया, वह सारा जल गया। कहने लगा कि 'आज तो किसी कारण से बिगड़ गया, कल फिर बनाऊँगा।' शाम को हमसे किसी ने कहा कि इसने सारा आटा बरबाद कर दिया है। हमने कहा, कोई बात नहीं, बिगड़ जाता है। हमने पूछा कैसे किया था? तो कहा कि ऐसे ही भर-भर कर कटोरों में बन्द करके आग में रख दिया तो वह जल गया। हमने उससे

पूछा तो कहने लगा 'स्वामी जी! इसमें फ़र्क क्या है, पहले पानी डालो, फिर सुखाओ, इतना टण्टा काहे के लिये? सीधा ही पका लें।' हमने कहा भले आदमी! तुम्हारी वही हालत है जो उस व्यक्ति की होती है जो पदार्थ के सामान्य रूप को देखकर विशेष की तरफ ध्यान नहीं ले जाता। उसमें पानी पड़ेगा ही, लोंदा बनेगा ही, तभी आगे उससे चूरमे का लड्डू बनेगा। ईंट का चूरा तभी बनेगा जब पहले मिट्टी की ईंट बनाकर उसे पकाओगे।

इसी प्रकार से पहले अपने आपको अच्छी प्रकार से उस परब्रह्म परमात्म-तत्त्व के चिंतन से पकाना पड़ेगा। जब पककर तैयार हो गया तो फिर उसको संसार के सारे नाम-रूपों के अन्दर चूरा करके बाँट भी दोगे तो उसका ईंट वाला धर्म जाने वाला नहीं है। यदि पूरी तरह से आत्मज्ञान (अपने स्वरूप के ज्ञान) को पकाओगे नहीं और कच्ची अवस्था में ही संसार के नाम-रूपों में बाँटने लग जाओगे तो वह घुल जायेगा, गल जायेगा। एक बार परिपाक हो गया तो फिर चाहे अनंत नाम-रूपों में अपने आपको बाँटोगे, तो भी कभी स्वरूप से च्युत नहीं होगे। इसलिये कहा 'विध्वस्तसर्वोपाधिः उत्तमः पुरुषः आकाशकल्पः तं माम् अद्वैतं तत्त्वतो अभिजानाति' यह उसका पकाना है। सारी उपाधियों के भेद को किया विध्वस्त उत्तमपुरुष कैसा है? भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'आकाशकल्पः' अब जब सारी उपाधियों से रहित वह अद्वैत तत्त्व आकाश की तरह पक्का हो गया, तब अनेक उपाधियों के द्वारा किया हुआ विस्तृत भेद पकड़ में आ जायेगा। तभी अहं से त्वं और त्वं से तत् तक जाओगे, कोई फ़र्क नहीं पड़ना है। हम लोग इसीलिये संहार (प्रलय) प्रक्रिया को लेते हैं; पहले मैं से शुरू करोगे तो गड़बड़ हो जायेगी। सृष्टि-प्रक्रिया का वह क्रम तो ठीक है। यह जो अनंत उपाधियों के भेद का वर्णन है, यही जीवन्मुक्ति की विशेषता है। सामान्य पुरुष भेद को देखता है, ब्रह्मभूत अभेद को देखता है और पराभक्ति से परमात्मा को उसके अनंत भेदों सहित तत्त्व से जानता है। इन तीनों में फ़र्क है : एक ने केवल भेद जाना, दूसरे ने केवल उपाधिरहित भेद को जाना और तीसरे ने उस एक को ही सर्वत्र जाना। जाओगे इसी मार्ग से। साधारण पुरुष को जब कहते हैं 'अभेद है', तो वह हँसता है। कहता है 'स्वामी जी, सब जगह तो भेद नज़र आता है। चाँदनी चौक में जाओ तो एक-दूसरे के कंधे छिल रहे होते हैं, भीड़ के मारे, और पीछे से मोटरों के बार-बार शंख मारने से कान फूटे जाते हैं और आप कहते हैं कि संसार में एक ही आत्मा है, कैसे मान लें?' भेद ही भेद दीख रहा है। ऊपर के मकान में विवाह हो रहा है, गाना गाया जा रहा है और नीचे के चौक के अन्दर एक व्यक्ति मरा पड़ा है, उसकी लाश पर उसके घर वाले बैठकर रो रहे हैं, कैसे मान लें कि एक ही आत्मा है। सब लोग दौड़ रहे हैं और आप कहते हैं कि संसार में कुछ प्राप्तव्य है ही नहीं, तो ये सारे-के-सारे क्यों दोड़ रहे हैं? कोई स्कूल में पढ़ रहा है, कोई स्कूल को जला रहा है, कोई टैक्स लेने के लिये तुम्हारे घर पर धावा बोल रहा है, और कोई टैक्स को बचाने के लिये रातोंरात भाग रहा है। आप कैसे कहते हैं कि भेद है ही नहीं? यह प्राकृत (सांसारिक)

पुरुष की दृष्टि है, उसको भेद ही दीखता है।

जो कुछ क्रिया करने वाला है, उसको अभेद की थोड़ी-थोड़ी प्रतीति होती है। किसी कुम्हार को जाकर जब समझाते हैं तो उसकी समझ में बात आती है। कहता है 'आपकी बात समझ में आती है और मैं भी मिट्टी लेकर उससे तरह-तरह की चीज़ें बनाता हूँ, जैसे हाथी, घोड़ा, आदमी, सिकोरा, पुरवा, इत्यादि प्रत्येक चीज़ मिट्टी से बना लेता हूँ। किसी-किसी खिलौने पर रंग भी इतना सुन्दर खिल जाता है कि बहुत-सों को पता नहीं लगता कि यह मिट्टी है। खरीद ले जाते हैं। इसलिये आपकी बात समझ में आती है कि हमारी मिट्टी की तरह ही आपका ब्रह्म होगा। जैसे मुझे सारे पदार्थों में सिवाय मिट्टी के और कुछ नज़र नहीं आता। जितने भी भांडे बर्तन हैं उन सब में दो ही चीज़ें हैं एक मिट्टी और एक मेरा परिश्रम। इसके सिवाय और कुछ नज़र नहीं आता।' जब जुलाहे के पास जाकर कहते हैं कि किस प्रकार परब्रह्म परमात्म-तत्त्व सारे रूपों में है तो वह कहता है कि 'मेरी समझ में आता है। एक ही रूई से मैं दस नम्बर, बीस नम्बर, सौ नम्बर इत्यादि अनेक प्रकार के अनेक नम्बरों के धागे निकालता हूँ।' ऐसा तो नहीं कि इस पौधे की रूई के धागे का यह नम्बर और उस पौधे की रूई के धागे का वह नम्बर हो! 'उसी रूई में से धागे निकलते जाते हैं। फिर उन्हीं धागों का मैं ताना-बाना बना देता हूँ और उसके ऊपर मैं भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग चढ़ा देता हूँ, है वहाँ धागा ही धागा। इसी प्रकार से आपकी बात मेरी समझ में आती है कि वह ब्रह्म ऐसा है जैसे उस एक रूई में से अनेक ताने-बाने, अनेक नम्बर के धागे निकल गये, रूई बनी रही और अनेक चीज़ों की प्रतीति हो गयी। किसी की सीमा ज़रा चौड़ी बना दी तो वह साड़ी बन गई, पतली बना दी तो धोती बन गई, नहीं बनाई तो लट्ठा बन गया, है वहाँ रूई ही रूई।' जुलाहा कहता है कि 'मुझे सारे कपड़ों में दो ही चीज़ें नज़र आती हैं रूई और मेरा परिश्रम।' दर्जी कहता है, 'मुझे भी समझ में आता है। एक ही कपड़े को लेकर गधे के कान निकाल दिये तो कोट बन गया, नीचे से दो नाले (पाइप) निकाल दिये तो पैण्ट बन गई, उसी को सकरा कर दिया तो टाइट पैण्ट, ढीला कर दिया तो दूसरा पैण्ट और थोड़ा ऊपर नीचे से परिवर्तन कर दिया तो बैल-बाटम बन गया। अनेक तरह के जितने वस्त्र बनते हैं, उनमें कपड़ा-ही-कपड़ा है। उनमें मुझे तो कपड़ा और अपना परिश्रम नज़र आता है, दुनिया को अलग-अलग चीज़ें नज़र आती हैं।' सुनार कहता है 'मैं भी समझता हूँ जब आप ब्रह्म की बात करते हैं। एक ही सोने से अनंत नामरूपों को निकालता चला जाता हूँ, अनेक डिज़ाइन बनाता चला जाता हूँ। मेरे लिये वहाँ दो ही चीज़ें हैं एक सोना और एक मेरा परिश्रम।' वैज्ञानिक, भौतिक विद्या को जानने वाले या फिज़िसिस्ट के पास चले जाओ तो वह कहता है कि 'मुझे एक ही शक्ति नज़र आती है। उसी को मैंने एक ढंग से परिश्रम करके निकाल दिया तो चुम्बक बन गया, दूसरी तरह से निकाला तो वही बिजली बन गई, तीसरी तरह से निकाला तो वही गर्मी और चौथी तरह से निकाला तो वही रोशनी, पाँचवी तरह से निकाला

तो वही यंत्र चलाने की शक्ति (मैकेनिकल एनर्जी), छठी प्रकार से निकाला तो रासायनिक शक्ति बन गई।' शक्ति एक ही है, उससे चाहे मैगनेटिक, लाइट, इलैक्ट्रिकल, हीट जो भी बना लो। वैज्ञानिक की समझ में आता है कि इन सारे भेदों में रहने वाली एक ही शक्ति है। किसी रसायनवेत्ता के पास जाओ तो वह कहता है कि 'मैं भी समझता हूँ, एक ही तत्त्व है प्रोटोन, इलैक्ट्रोन। प्रोटोनों की संख्या बढ़ा दो तो हाइड्रोजन से कार्बन और कार्बन से युरेनियम आदि बनाते चले जाओ और अंत में प्रोटोन तक आ जाता है! जो तुम लोहा, सोना, चाँदी समझते हो, वह कुछ नहीं है, केवल इलैक्ट्रोन प्रोटोन ही हैं और उसी को घटाते बढ़ाते चल जाओ तो चीज़ें बनती चली जायेंगी।' किसी पुस्तक-प्रकाशक के पास चले जाओ तो वह कहता है कि 'मेरी भी समझ में आता है। एक ही सीसे के अक्षर (टाइप) होते हैं, उसी के ऊपर चीनी, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, ग्रीक आदि भाषाओं के अक्षर आ गये। उन्हीं अक्षरों को ऊपर-नीचे करके मैं हज़ारों किताबें छाप लेता हूँ। सब किताबें अलग-अलग हैं। छापेखाने में जिन अक्षरों से गीता छपती है, उसी टाइप से गन्दे उपन्यास छपते हैं। उनके लिये कोई दूसरे टाइप नहीं होते।'

जितने व्यवहार हैं, यदि उनके भीतर जाओ तो पता लगता है कि अद्वैत ही है और संगत है। आचार्य श्रीहर्ष खण्डनखण्डखाद्य में कहते हैं कि अद्वैत तो प्रत्यक्षसिद्ध भी है अनुमान और श्रुति से सिद्ध तो है ही क्योंकि जिस किसी व्यवहार को लो तो उस सारे व्यवहार का बीज अद्वितीय मानते हुए उसमें काल्पनिक द्वैत मानना है। विचार करो; लड्डू, बूंदी, नुक्ती, छोले, कढ़ी, हलुआ, और कभी बेसन की चक्की, दिलखुशाल और मैसूर पाक आदि अनेक चीज़ें बना लेते हैं, इनमें सिवाय चने के और कुछ नहीं है। एक चने के ही ये सारे रूप बनते चले जाते हैं। घर वाली को वहाँ चना और परिश्रम ही नज़र आता है। एक ही गेहूँ से आटा, सूजी का हलुआ, दक्षिण भारत का उपमा, दलिया, सीरा आदि चाहे-जितनी चीज़ें बना लो, चीज़ एक गेहूँ है। फुलका, परांठा, पूड़ी सात परत का परांठा बना लो, चीज़ आटे के सिवाय और कुछ नहीं है। जितने व्यवहार हैं उन सबका बीज अद्वैत ही है। जो जिस चीज़ के अद्वैत को नहीं जानता, वह वहाँ मूर्ख होता है और जो जिस चीज़ के अद्वैत को जानता है, वह उसका पण्डित है। जिसने चने के अद्वैत को समझा हुआ है वह तो उस चने से सैंकड़ों चीज़ें बनाता है, क्योंकि उसको उसका ज्ञान है और जिसको ज्ञान नहीं है वह उसको अलग-अलग चीज़ें समझता रहता है। एक बार हम बीकानेर में थे। वहाँ एक गट्टा नाम की चीज़ बनती है, है वह कुछ नहीं, बेसन को गूंथकर बना लेते हैं, फिर उसके छोटे-छोटे टुकड़े काटकर छौंक देते हैं और साग तैयार हो गया। हमारे पास हिमाचल प्रदेश का एक व्यक्ति किसी कार्य से आया हुआ था। गट्टे का साग बना, बीकानेर वाले बढ़िया बनाते हैं। वह हम से पूछता है कि 'किस चीज़ का साग था, बहुत बढ़िया था।' हमने कहा गट्टे का साग था। फिर दस-पाँच मिनट सोचकर कहता है 'उसका बीज मिल जायेगा?' उसके सेब के बाग हैं, वह हमारे पास सेब लेकर आता है। कहने लगा 'मैं भी ले

जाकर देखूँ यदि वहाँ पैदा हो जाये तो।' हमने कहा, 'वह किसी पेड़ पर नहीं लगता। वह तो बेसन से बनता है, तेरी घर वाली आई होती तो कोई सिखा देते।' जो जिस चीज़ के स्वरूप को नहीं जानता, वह उस के विषय में मूर्ख बन जाता है और जो जानता है वह मूर्ख नहीं बनता। जो जानता है वह उससे हज़ारों चीज़ों का निर्माण करते हुए भी आनंद लेता है, मूर्ख नहीं बनता। जैसे सुनार सोने के विषय में कभी भी मूर्ख नहीं बनेगा, उसे कोई नकली चीज़ दिखा कर धोखा नहीं दे सकता, क्योंकि वह तो पहले ही सोने का भाव लगा लेगा। आजकल तुम्हारे सिनेमाओं में क्या होता है? बीस-पच्चीस अभिनेता होते हैं, उन्हीं में कभी उसको इससे और इसको उससे मिला दिया। कहानी दो होती हैं, एक लड़का एक लड़की से मिलता है, या ब्याह होता है या नहीं होता। इसके सिवाय वहाँ और कुछ नहीं हैं। फ़र्क केवल यह है कि अलग-अलग अभिनेताओं को मिला देते हैं और बेवकूफ देखने जाते हैं! एक में जिसको माँ-बेटा, दूसरे में उसी को पति-पत्नी और तीसरे में बाप-बेटी बना दिया, एक ही औरत और एक ही आदमी है। बेवकूफ नहीं सोचते कि यह कैसे माँ, बीवी, बेटी हो गई, समझते हैं कि सचमुच हो गई। कई लोग वापिस आकर रोते हैं कि उस बेचारी को बड़ा दुःख हुआ। हम कहते हैं वह तो दो-चार लाख रुपये लेकर मौज मार रही होगी, तू रो रहा है। लेकिन उसके रहस्य को जानने वाला तो उससे फ़ायदा उठाता है।

सर्वत्र यह नियम याद रखना कि जो जिसके अद्वैत को जान लेता है, वह तो फिर उसके अनंत विस्तार को फैलाता जाता है। यह सारे दृष्टांतों में घटा लेना। जुलाहे (टैक्सटाइल इण्डस्ट्रियलिस्ट) हज़ारों तरह के डिज़ाइन निकालकर कपड़ा बनाते हैं और लोग उन्हें पैसा देते रहते हैं। एक ही लाल रंग के कपड़े को कहीं चौड़ा और कहीं लम्बा कर दिया, लोग लेते रहते हैं। वह खुद कभी धोखा नहीं खाता, वह तो फ़ायदा उठाता है। इसी प्रकार दर्जी कभी धोखा नहीं खाता। मूर्ख लोग घर में कपड़ा बना हुआ है, उसे नहीं पहनते, बार-बार दूसरी चीज़ें बनाने को कहते हैं। कहतें हैं 'यह तो आउट ऑफ फैशन' हो गया। दर्जी लोग इसीलिये नये फैशन निकालते हैं कि पैसा कमायें, क्योंकि उन्हें तो अद्वैत का पता है कि कपड़ा ही है, और कुछ नहीं, उसे कभी इधर से, कभी उधर से काट-छाँट दिया। इसी प्रकार से कुम्हार भी खुद फ़ायदा उठाता है। जैसे जुलाहे का नाम टैक्सटाइल इण्डस्ट्रियलिस्ट रख देने से बदल नहीं जाता, है जुलाहा ही, उसी प्रकार से कुम्हार का नया नाम चाईना पाटरी बनाने वाला है। वह ज़रा अच्छी मशीनों में बना लेते हैं, हैं तो कुम्हार ही। वह तरह-तरह के प्याले, मग इत्यादि बनाता है, वहाँ है कुछ नहीं, कहीं फूल इधर तो कहीं उधर, कहीं हैण्डल इधर और कहीं उधर बना देते हैं और लोग रोज़ क्राकरी खरीदते हैं, क्योंकि पहले वाली आउट ऑफ फैशन हो गई। मिट्टी ही है। वह कुम्हार तो उससे फ़ायदा उठाता रहता है और दूसरे जो उसकी अद्वितीयता को नहीं जानते, मुँडते रहते हैं। इसी प्रकार से जो चने, गेहूँ की सार्वभौमता को जानता है वह जब खाने बैठता है तो चाहे

पूड़ी हो परांठा हो, बेवकूफ नहीं बनता। जुलाहा, कुम्हार, रसोइया, दर्जी, सुनार सारे अपने अद्वितीयता के ज्ञान द्वारा अनंत उपाधियों को, अद्वैत ज्ञान को फैलाते हुए आनंद करते हैं।

वेदांती उन सबसे एक कदम आगे है। वेदांती ने कहा कि जुलाहे ने रूई के अद्वैत को, कुम्हार ने मिट्टी के अद्वैत को, दर्जी ने कपड़े के अद्वैत को, सुनार ने सोने के अद्वैत को, वैज्ञानिक ने शक्ति के अद्वैत को, कैमिस्ट, फिज़िसिस्ट ने पदार्थ के अद्वैत को जाना। वेदांती कहता है कि जब इन सब चीज़ों में अद्वैत दीख रहा है तो उस अद्वैत को पकड़ें जो इन सब चीज़ों के अन्दर एक जैसा है। इसलिये उसने कहा 'सत्तामात्रस्वरूपं' जहाँ जो है वह सत्तामात्र है। एक सत्ता ही इन अनंत रूपों में बनती चली जा रही है। इसलिये उस सत्ता के अद्वैत को समझ कर 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः' उसके बाद उस सत्ता का मैं अनंत उपाधियों के द्वारा अनंत प्रकार के विस्तार को करता रहूँगा। मेरे विस्तार को देखकर जो मेरे इस अद्वैत तत्त्व को नहीं जानने वाले हैं वे कहीं काम, क्रोध तो कहीं राग, द्वेष कर लेंगे क्योंकि वे तो उसे अलग-अलग समझेंगे। उन्हें तो पता नहीं कि एक ही माल है। वे सारे राग, द्वेष आदि धर्मों से आक्रांत होते रहेंगे और मैं जानता रहूँगा कि वहाँ सत्ता के सिवाय और कुछ नहीं है। दो ही चीज़ें हैं एक सत्ता और एक मेरा परिश्रम। मेरा परिश्रम ज्ञान ही है। आँख खोलकर तुमको देखा, बड़े आदमी का यही परिश्रम बहुत होता है। बड़े आदमी और पल्लेदार के परिश्रम में फ़र्क है। बड़े आदमी को केवल इतना कहना पड़ता है 'पाँच गाँठ' और बेचारा पल्लेदार जाता है, गोदाम खोलता है, ऊपर-नीचे से पाँच गाँठें निकालता है, सिर पर रखता है और फिर जाकर ठेले पर चढ़ाता है। उसके साथ जाता है जिसने माल खरीदा है, रसीद में दस्तखत करवाता है और वापिस मालिक को आकर देता है। उसे इतने सारे परिश्रम के केवल ढाई रुपये मिलते हैं और जिसने केवल इतना कहा 'पाँच गाँठ', उसने उसी सौदे में पाँच सौ बना लिये! यह तो तुम लोगों का रोज़ का काम है, जानते ही हो। जितनी-जितनी मनुष्य की योग्यता ज़्यादा बढ़ेगी, उतना-उतना उसके थोड़े परिश्रम से भी ज़्यादा प्रभाव हो जायेगा। सर्वाधिक योग्य ईश्वर है अतः उसके संकल्पमात्र से सारी अनंत सृष्टि उत्पन्न हो गयी, चल रही है, विलीन हो जाती है। क्योंकि वह स्वयं ही सद्रूप और चित् अर्थात् ज्ञानरूप है इसलिये सृष्टि के कारण में अत्यन्त ही अद्वैत है। अतः जगत्-कारण में कोई परिच्छिन्नता संभव नहीं। कार्यों से तो कारण में कभी परिच्छिन्नता आती भी नहीं यह सोना-गहना आदि में देख ही चुके हैं। इस तरह वेदान्ती अपने असीम मूल अद्वितीय स्वरूप के विज्ञान से अनंत आनंद अनावृत कर लेता है। यही ब्रह्मभूत होकर किया जाने वाला भजन है।

# प्रवचन-४९

७-५-७२

परब्रह्म-महिषी का स्वरूपवर्णन किया। फिर उसकी उपलब्धि का स्थान बताया। तत्पश्चात् उसकी पराभक्ति करने का अधिकारी कौन है, यह बताया। जो ब्रह्मभूत है, शोक और आकांक्षा को छोड़ चुका है वही इस भक्ति का अधिकारी है। अब, उस भजन का प्रकार क्या है  इस पर विचार कर रहे थे। पराभक्ति आत्मज्ञान के बाद जो भजन होता है, उसका एक प्रकार है। पहली बात बताई कि अपराभक्ति के अंदर तो द्वैत-बुद्धि की प्रधानता है। पराभक्ति में अद्वैत-बुद्धि प्रधान है। एक में उपाधि प्रधान है और दूसरे में उपहित प्रधान है। सामान्य व्यवहार में भी उपाधि और उपहित का भेद देखने में आता है। किसी काल में जिस व्यक्ति से व्यवहार कर रहे हो उस व्यक्ति के शरीर की ओर दृष्टि होती है। शरीर एक उपाधि है। जैसे जिस समय विवाह के लिये लड़का देखने निकलते हो, उस समय देखते हो कि लड़के की शक्ल-सूरत कैसी है, यह देखना उपाधि-प्रधान हुआ। शादी के बाद उपाधि प्रधान न होकर उपहित प्रधान हो जाता है। इसलिये यदि कोई तुमको दुबला-पतला, अत्यंत कमज़ोर व्यक्ति शादी करने के पहले वर की तरह दिखायें तो मना कर दोगे, कि कमज़ोर को लड़की कैसे दे देवें। जब विवाह हो गया, लड़का बीमार हो गया, कमज़ोर हो गया, तो क्या लड़की को कहते हो कि कमज़ोर हो गया, इसलिये यह वर छोड़ दो? ऐसा नहीं कहते, क्योंकि प्रधानता उपहित (उपाधि वाले) की हो गई। सभी व्यवहारों में प्रारंभ उपाधि से है और शनैः शनैः उपाधि को छोड़कर उपहित की तरफ जाना है। जो व्यवहार धीरे-धीरे उपाधि को छोड़कर उपहित की तरफ जाता है, वह व्यवहार ठीक है और जो व्यवहार निरंतर उपाधि में रहता है, वह व्यवहार ग़लत है। उपाधि से शुरू होता है लेकिन उपहित में समाप्त होना चाहिये।

आजकल लोग जीवन के अंत तक उपाधि को ही पकड़े रहते हैं! पति-पत्नी का विवाह हुए तीस-चालीस साल हो गये, फिर भी दृष्टि उपाधि की है। चालीस साल के बाद भी शिकायत होती है कि 'ये बड़ा तड़क कर बोलते हैं।' हम पूछते हैं, क्या तड़ककर बोलना अब शुरू किया? कहती है  'नहीं, शुरू से ही आदत है, वैसे इनके दिल में कुछ नहीं रहता।' तड़ककर बोलना एक उपाधि है। यह नहीं कहते कि अच्छी बात है, लेकिन यदि तुम चालीस साल में उस उपाधि को छोड़कर उपहित को नहीं पकड़ पाये, जिनको तुम कहते हो कि दिल के बुरे नहीं हैं, तो तुम्हारा उपाधि से उपहित की ओर तक जाना बना ही नहीं। ठीक इसी प्रकार से पति को शिकायत होती है कि 'पत्नी को गहने बड़े पसन्द हैं। नये-नये खरीदती रहती है।' हम पूछते हैं क्या नया खरीदना शुरू किया है? कहते हैं  'नहीं, पहले से तो कम है। वैसे बाल-बच्चों को अच्छा रखती है, घर बढ़िया चलाती है, सब चीज़ें ठीक हैं।' विचार करो, इतने वर्षों में तुम अभी

तक उस उपाधि को छोड़कर उपहित को नहीं पकड़ पाये। विवाह का प्रारंभ उपाधि से हो, यहाँ तक तो ठीक है, लेकिन उसकी समाप्ति फिर एक-दूसरे को उपाधि-भाव से छोड़कर उपहित-भाव को देखने में होनी चाहिये।

इसी प्रकार जब परमात्मा की अपरा भक्ति प्रधान होती है तब उपाधि प्रधान रहती है परमात्मा सृष्टि को बनाने वाला, स्थिति रखने वाला, संहार करने वाला, अनुग्रह, तिरोधान की सामर्थ्य वाला इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रकार से प्रधानता उपाधि की रहती है। इसीलिये इसमें द्वैतभाव होता है। उपाधि जहाँ होगी, वहाँ भेद-दृष्टि प्रधान होगी। जीव और ईश्वर का भाव तो इतना अधिक एक-दूसरे से विरुद्ध है कि प्रायः जीव ईश्वर को अपने से सर्वथा भिन्न समझता है। उपाधि की प्रधानता में भेद का प्रधान होना स्वाभाविक है और भेद की प्रधानता के कारण वहाँ द्वैत भाव ही पुष्ट है। इसलिये भक्ति के प्रारंभ में विरोध को अधिक बल दिया जाता है। तुम्हारी अपेक्षा परमात्मा की उपाधि कितनी श्रेष्ठ और तुम्हारी उपाधि कितनी हीन है, इस पर बल दिया जाता है। फिर, वही विवाह वाला मामला समझ लो : लड़की वाले को समझाया जाता है कि तुम्हारी अपेक्षा उसका रहने का स्तर अच्छा है, तुम्हारी लड़की सुखी होगी। यह बात कब सिद्ध हो? लड़का और लड़के के घर वालों की योग्यता जितनी तुमसे ज़्यादा हो उतना ही मनुष्य सोचता है कि वहाँ लड़की सुखी होगी। लेकिन यह विवाह होने के पूर्व तक है। इसी प्रकार से यहाँ जब अपराभक्ति का प्रारंभ हुआ तब ज़ोर किस पर है? परमात्मा कितना अधिक जीव की अपेक्षा श्रेष्ठ है। जितना-जितना परमात्मा की उपाधियों का उत्कर्ष, उतना-ही-उतना जीव की परमात्मा की तरफ जाने की तड़प ज़्यादा होगी।

व्यापारी लोग जानते ही हैं कि तड़पाने का मतलब क्या होता है। 'डाकुओं को भला आदमी कैसे बनाया जाये? ग्वालियर रेयान की सूटिंग पहनाकर!' ऐसा विज्ञापन करते हैं। अर्थात् उन डाकुओं को वह कपड़ा नहीं मिला, इसी से बेचारे डाकू बन गये! विज्ञापन वाले कहाँ तक जायेंगे, इसका ठिकाना नहीं है। व्यापारी विज्ञापन करके अपने पदार्थ की श्रेष्ठता बताकर तुम्हारे में तड़पन पैदा करते हैं, तुम सोचते हो यह चीज़ ज़रूर लें। जितना-जितना उस पदार्थ की श्रेष्ठता का निरूपण होगा उतना ही उतना मन में उस चीज़ की प्राप्ति की इच्छा (भावना या कामना) अधिक-अधिकतर बढ़ेगी। इसलिये वहाँ उपाधि की श्रेष्ठता बताना आवश्यक है। जब तक जीव ईश्वर के श्रेष्ठ भाव को नहीं समझेगा, तब तक जीव ईश्वर की तरफ प्रवृत्ति करेगा ही नहीं। प्रारंभ में उपहित को पकड़ा, जीव ईश्वर की, उपहित की एकता को पकड़ा तो साधना की गति खण्डित हो जाती है। जैसे तुमने किसी चीज़ की तारीफ सुनी और प्रवृत्ति हुई। यदि तुम्हारी दृष्टि 'ग्वालियर रेयान' इस उपाधि के बजाये उपहित कपड़े पर चली गयी तो बस, वह तुम्हारी उसे खरीदने की प्रवृत्ति का रोधक हो जायेगा क्योंकि ज़्यादा नामी कंपनी का कपड़ा उतना मजबूत नहीं होता। इसी प्रकार यदि विवाह काल में बार-बार यह कहा कि 'लड़के वाले

तुम्हारे जैसे ही हैं, कोई खास बात नहीं है' तो लड़की वाले की वहाँ लड़की देने की प्रवृत्ति खण्डित हो जायेगी। इसलिये प्रथम उपहित के रूप को आदमी पकड़ता है तो उसके अन्दर वह तीव्र संवेदना नहीं आती। शास्त्रों में इसीलिये कहा कि पहले ही मनुष्य में यह भावना आ गई तो आगे उसके निदिध्यासन में रुकावट आ जायेगी।

भगवान् भाष्यकार ने इसलिये एक बात स्पष्ट कही है कि तत्त्वज्ञान तो श्रवणमात्र से होता है लेकिन मनन निदिध्यासन सहकारी रूप से आवश्यक है। कुछ लोग मानते हैं कि श्रवण के बाद मनन और मनन के बाद निदिध्यासन कर्त्तव्य है। लेकिन यह बात भगवान् पद्मपादाचार्य, विवरणाचार्य आदि स्वीकार नहीं करते। वे कहतें हैं कि यदि श्रवण से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तो फिर मनन निदिध्यासन व्यर्थ हैं। ज्ञान तो केवल श्रवण से होना है लेकिन कौन व्यक्ति श्रवण करने का अधिकारी है? जो मनन और निदिध्यासन से युक्त है। जैसे लकड़ी जलती है, लेकिन कौन-सी लकड़ी जलेगी? जो जल से रहित है। गीली लकड़ी को यदि आग लगाओगे तो जलेगी तो सही, धुआँ निकल रहा है तो ज़रूर जल रही है, लेकिन उसके जलने से न लकड़ी को सुख है और न जलाने वाले को सुख है। लकड़ी भी बेचारी धुआँ ही निकाल पाती है और जलाने वाला भी उससे भात नहीं पका पाता, केवल अपनी आँख को ही धुएँ से तपाता रहता है। इसी प्रकार से मनन और निदिध्यासन के द्वारा प्रतिबंधक नहीं हटा दिया गया, मनन निदिध्यासन के बिना यदि श्रवण की आग लगाओ तो उसमें तेज़ी से आग नहीं पकड़ती। उपाधि को छोड़कर पहले ही उपहित को पकड़ने से जो तीव्रता आनी चाहिये थी, वह नहीं आ पाती। इसीलिये अपराभक्ति के अन्दर उपाधि पर ज़ोर देना आवश्यक है, तब प्रवृत्ति होगी। तब उसमें चित्त एकाग्र होगा।

जो उत्तम और श्रेष्ठ होता है उसमें चित्त एकाग्र होता है। बराबरी वाले में चित्त एकाग्र नहीं होता। साधारणतया लोक में देखने में आता है कि जो आदमी तुम्हें कभी एक पैसा नहीं देता, देने वाले की बात ही छोड़ो, जो एक पैसा कभी नहीं देता लेकिन तुम्हारा रिश्तेदार है और दिल्ली क्लाथ मिल का मालिक है, दस करोड़ की पार्टी है, जीवन के बीस साल में उसने तुम्हें पाँच रुपये भी नहीं दिये, फिर भी नित्य-निरंतर तुम्हारी वृत्ति उधर ही रहती है कि मेरे मामा जी हैं। और यदि कभी मामा जी ने चिटठी लिख दी कि 'तुम्हारे यहाँ तीन दिन के लिये आने वाला हूँ' तो अपनी गाँठ से पाँच रुपये खर्च करके कमरे की पुताई कराते हो, जबकि अपने लिये दो-तीन साल से टाल रहे हो। माँगकर एक बढ़िया सोफा लाकर रखते हो, क्योंकि मामा जी आ रहे हैं जो डी०सी०एम० के मालिक हैं। घरवाली को कहते हो कि घी, चीनी आदि सारा सामान अच्छी तरह रखना। वह कहती है कि २२ तारीख है, रुपये नहीं हैं। कहता है 'कोई बात नहीं, सामान उधार ले आऊँगा, लेकिन मामा जी को तकलीफ नहीं होगी।' कारण यही है कि मामा जी दस करोड़ के मालिक हैं। केवल उनकी उत्कृष्टता का ही ज्ञान है, उन्होंने आज तक कुछ भी नहीं

दिया। जानते हो, कि वे बड़े लोभी हैं, कुछ नहीं देंगे। यह पता है, लेकिन उत्कृष्टता दिल को आकृष्ट करके रखती है। यदि वह लेने-देने वाले हों, ज़रूरत पड़ने पर दस-बीस हज़ार दे दें तो फिर देखो क्या बात है, चौबीस घण्टे उनकी हाज़िरी ही लगती रहेगी। घरवाली को बुखार आ जाये तो कहता है 'नौकरी नहीं करूँगा तो क्या खायेंगे?' लेकिन मामा जी आये हैं, तो 'चार दिन की छुट्टी ले लेता हूँ।' लेकिन यदि यह पता है कि इनके पास भी दस हज़ार की पूंजी है और मेरे पास भी दस हज़ार की पूँजी है तो कभी उनका इतना स्वागत नहीं होगा, चित्त एकाग्र नहीं हो पायेगा।

ठीक इसी प्रकार परमात्मा की उत्कृष्टता का जब ज्ञान होता है और परमात्मा तुमको कितना देता है   इस बात को जब समझते हो, तब एकाग्रता आती है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा 'विज्ञानम् आनंदं ब्रह्म' लेकिन जानते थे कि उसके आगे क्या कहना है, इसलिये वाक्य वहाँ पूरा नहीं होता है, बल्कि 'रातिर्दातुः परायणं' जितने संसार के धन ऐश्वर्य हो सकते हैं, उनको लुटाने में, दान देने में वह परायण है, अर्थात् जो माँगेंगे सो देगा। 'वसुदानः' यह श्रुति क्यों परमात्मा के इस गुण को हमें याद दिलाती है? यदि यह गुण नहीं रहेगा तो निदिध्यासन सहकृत श्रवण नहीं होगा! क्या कारण है कि हम उस चेतन परब्रह्म परमात्मा के पास रहते हुए भी जडवादियों के पीछे कौड़ी-कौड़ी के लिये दौड़ते हैं? इन्कम टैक्स अफसर, सेल्सटैक्स अफसर को खुश करने दौड़ते हैं, इसका क्या कारण है? कभी सोचा। यदि हमको यह पता होता कि जो माँगूंगा वह देगा, यदि मुझे दस हज़ार चाहिये तो परमात्मा देगा, यह विश्वास है, तो इन्कम टैक्स अफसर के पीछे टैक्स बचाने के लिये नहीं दौड़ेगा। मनुष्य कहता है कि कोशिश करने से बचता है। तो कोशिश जड के पीछे क्यों? बहुत से लोग कहते हैं कि 'परमात्मा क्या देगा! यह तो प्रारब्धाधीन है;' पर यदि यह निश्चय है तो फिर इन्कम टैक्स अफसर को ले जाने दो, लॉकर में ताला बन्द करने की क्या ज़रूरत है? यदि प्रारब्ध है तो इन्कम टैक्स देकर मिलेगा, नहीं तो नहीं। जिस समय लौकिक पदार्थों के साथ व्यवहार का समय आता है उस समय मन में विश्वास है कि प्रयत्न से कुछ हो सकता है। लेकिन प्रयत्न परमात्मा नहीं कर सकता! क्योंकि हृदय में जानते हैं कि जैसे हम अपने ज्ञान से कुछ नहीं कर सकते, ऐसे ही शायद परमात्मा भी कुछ नहीं कर सकता होगा। उपहित को न देखकर उपाधि को पकड़ रखा है।

दक्षिण भारत में रमण महर्षि एक बहुत अच्छे तत्त्वनिष्ठ महात्मा हुए हैं। एक बार वहाँ मातृभूतेश्वर का मन्दिर बन रहा था। सब लोग बैठे हुए विचार कर रहे थे कि बम्बई में अमुक-अमुक सेठ शिष्य हैं, कलकत्ते में अमुक-अमुक सेठ हैं। महर्षि बिलकुल दूसरी तरफ मुँह करके बैठे हुए उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दे रहे थे। घण्टा-आधी घण्टा बीता तो लोगों ने कहा   'भगवन् आप कुछ नहीं कह रहे हैं।' उन्होंने कहा   'मैं क्या कहूँ!' यह बात उन्होंने इतनी घृणा से की कि वहाँ जितने भी बैठे थे, सबके हृदय में चोट-सी लगी। कहा   'कुछ तो

कहिये।' वे शिवलिंग की तरफ अंगुली दिखाकर कहने लगे कि 'तुमने जितनों का नाम लिया है, वे सब यहाँ आकर नाक रगड़ते हैं और तुम उनके पीछे नाक रगड़ने जा रहे हो?' विचार करो, संसार के यावत् पदार्थ मुझसे सत्ता लेने वाले हैं क्योंकि अपने को ब्रह्मस्वरूप मानते हो तो सारे पदार्थ मुझसे सत्ता लेते हैं। अतः 'मैं घी के कनस्तर बेचकर धन कमाऊँगा', इस बात को सोचते ही हृदय काँप जाता है! कारण क्या है? आत्मा के प्रति चित्त की एकाग्रता इसलिये नहीं कि पहले डटकर उपाधि काल में उसके सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् स्वरूप की प्रशंसा नहीं समझी, उस चीज़ की श्रेष्ठता को नहीं समझा।

हमारे यहाँ लोक में कहते हैं कि जंगल में रहने वाली भीलनी को कई बार गजमुक्ता मिल जाती है। एक कथा आती है कि एक भीलनी बेर बीन रही थी, वह बेर बेचकर अपना गुजारा निकालती थी। बेरों को तोड़ने के लिये एक जगह मिट्टी-सी थी, उसके ऊपर चढ़ी तो मिट्टी पोली थी, उसका पैर गिर गया, वह एक हाथी का सिर था जो सड़ गया था, जैसे ही गिरी उसके बेर भी गिर गये और हाथी का सिर भी फटा, उसमें से गजमुक्ता भी गिरी जो हीरे-पन्ने की तरह एक नग होता है। वह बेचारी बड़ी दुःखी हो गई कि दो घण्टे की बेर चुनने की मेहनत चली गई। वह बैठकर बेरों को उठा-उठाकर अपनी डाली में रख रही है और गजमुक्ता को उठा कर बाहर फैंक रही है! क्योंकि उसे पता नहीं कि यह गजमुक्ता क्या चीज़ है। वह मिलने पर भी उसे पता नहीं कि इससे कितनी बेरों की डालियाँ मिल सकती हैं। देखती है कि अच्छा मोटा है, इसलिये दो-चार साथ रख लेती है कि घर के बच्चे खेलेंगे। बस, उसके लिये इतना ही प्रयोजन है। ठीक इसी प्रकार से जब हम उस आत्म-तत्त्व की सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता को, उसकी उपाधि को नहीं समझते, तब हमारा भी यही हाल होता है। इसलिये हम संसार के जड पदार्थों को, क्षणिक पदार्थों (बेरों) को बीन-बीन कर जीवन में भरते रहते हैं, अंतःकरण में भरते रहते हैं, उनके लिये 'प्लानिंग' करते रहते हैं; सोचते रहते हैं कि व्यापार कैसे बढ़ेगा, लड़की का ब्याह कैसे होगा, सारे कार्यों के लिये मकान कैसा होगा। ये बेर बीन-बीन कर रखते हैं, जबकि उसी काल में आत्माकार वृत्ति बनाकर परम आनंद ले सकते थे, उन अमूल्य क्षणों को फैंकते रहते हैं। जैसे भीलनी ने दो-चार गजमुक्तायें बच्चों के खेलने के लिये रख लीं, ऐसे ही हम भी कभी आपत्ति आई तो दो-चार मिनट चित्त एकाग्र करके उस दुःख को भूलने के लिये ब्रह्माकार वृत्ति बनाना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि उसकी उपाधि के स्वरूप को नहीं समझा। ऐसे ही उपहित को पकड़ने से निदिध्यासन अर्थात् उसके ऊपर चित्त का जो एकाग्र होना है, नहीं हो पाता। चूंकि चित्त का एकाग्रपना उसकी श्रेष्ठता को न जानने के कारण है, इसलिये हम बार-बार जड पदार्थों का सहारा पकड़ते ही रहते हैं। इसलिये श्रुति ने कह दिया 'रातिर्दातुःपरायणम्'। अब जिसने परमेश्वर की इस श्रेष्ठता को जान लिया, वह अपराभक्ति करता है।

परमात्मा की श्रेष्ठता का उसे पूरा ज्ञान है, उसकी वृत्ति उसमें सर्वथा एकाग्र हो गई। अब

उसे पता लगा कि यह जितनी श्रेष्ठता कह रहे थे, वह सारी मुझसे भिन्न नहीं है। उपाधि का ज्ञान हुआ, उपाधि से उपहित का ज्ञान हो गया। जब उपहित की तरफ दृष्टि गई तो पता लगा कि वस्तुतः मैं कितना श्रेष्ठ हूँ। जब तक परमेश्वर की श्रेष्ठता नहीं जानोगे, तब तक अपनी श्रेष्ठता का ज्ञान ही नहीं होगा। इसीलिये मनुष्य को संसार के पदार्थों की तरफ प्रवृत्ति करने में शरम महसूस नहीं होती। जिस आदमी ने डटकर मोतीचूर के लड्डू खाये हैं, परोसने वाला कह रहा है 'और ले लो', कहता है, 'अब नहीं चलेगा', तो क्या थोड़ी देर बाद रास्ते में चलते हुए वह कौए की बीट उठाकर मुँह में डालेगा कि थोड़ी-सी तो खा लूँ? इसी प्रकार सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् मेरा चैतन्य रूप संसार के कण-कण और क्षण-क्षण में सत्ता देने वाला है, क्या कभी हो सकता है कि इन दस-बीस हज़ार के नोटों के पीछे मेरे मन में क्षणिक वृत्ति भी बन सके? वृत्ति क्यों बनती है, क्योंकि मैं क्या हूँ इसका मुझे पता नहीं है। जिस दिन पता लग जाता है, उस दिन सारी दृष्टि बदल जाती है। पहले अपरा भक्ति काल में परमेश्वर की श्रेष्ठता का ज्ञान हुआ, अब जब उस श्रेष्ठता के कारण उसकी तरफ वृत्ति एकाग्र हुई और गुरु ने तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया तब पता लगा कि ये सब मेरे ही गुण हैं। तब फिर मैं अपने ही गुणों को देखता हूँ। काँच के सामने अपना ही मुख रखकर काँच को साफ करके देखता हूँ, गंदे काँच में नहीं देखता। यदि कोई व्यक्ति गंदे काँच में मुख देखता है तो निश्चित समझो कि अपने मुख के सौन्दर्य का उसे अभी पता नहीं। इसी प्रकार 'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरं'; पता लगा कि ये सारे गुण मेरे हैं, मैं जिसे सोच रहा था कि इन गुणों वाला बड़ा होगा, वह मैं ही निकला। जब यह पता लगा तो वह अपने ही निर्मल अंतःकरण में फिर मुख डालकर देखता है कि देखूँ मैं कितना बढ़िया हूँ। लेकिन अपने को ही निर्मल अंतःकरण में देखेगा, जहाँ अपनी इन सारी शक्तियों का प्राकट्य होगा।

इस पराभक्ति के लिये जो द्वैत किया जाता है, वह जानकर ही किया जाता है। यह मनुष्य को अद्वैत से भी अधिक सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि उपाधि का स्पष्ट भान है। कहाँ तो पहले उपाधि का अपने से भिन्न रूप से ज्ञान था और कहाँ अब उपाधि का ज्ञान अपने से अभिन्न होकर है। इसीलिये कल बताया था कि उपाधि के अन्दर किये हुए विस्तृत (अनेक) भेद मनुष्य के लिये बंधन का कारण नहीं बनते, उल्टा उसे सुख देते हैं। इसीलिये जितने बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी हैं 'सनकाद्या वशिष्ठाद्या नन्दिस्कन्दशुकादयः भुंजते तत्पदं प्राप्ता अपि भक्तिरसायनम्।' सनक, सनंदन, आदिकों के जीवन को देखो तो निरंतर परमात्मा की स्तुति और सर्वत्र परमात्मा के स्वरूप का ही वर्णन करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। इसी प्रकार वशिष्ठ आदि को देखो तो उसी स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। दूसरे कार्यों में उनकी प्रवृत्ति होती ही नहीं। जैसे जो प्रधानमंत्री बन गया, क्या हो सकता है कि वह कभी कहीं छोटे-छोटे आदमियों की तारीफ करे? वह अपनी सरकार की ही तारीफ करेगा। यह नहीं कहेगा कि हमारे विरोधी आदमियों ने इतना अच्छा-अच्छा

काम किया। वह उसके दिल में बैठेगा ही नहीं। इसी प्रकार जब इस स्वरूप में पहुँचा, तो अपने चेतन स्वरूप को देखने के बाद जड स्वरूप के प्रति कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिये पराभक्ति काल में यही कार्य उसका निरंतर चलता रहता है। इसी प्रकार नन्दी, स्कंद, और शुक आदि इन सबने तप करके प्राप्त कर लिया, लेकिन प्राप्त करने पर भी भक्ति के रसायन का फिर भी सेवन करते हैं। यह पराभक्ति है। यह पराभक्ति परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है। गीता में भगवान् ने, 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' की जो परा भक्ति बताई, आगे जाकर कहा कि वह पराभक्ति क्या है 'य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः'।। १८-३८।। यह जो रहस्य तत्त्वज्ञान मैंने बताया है उसे अपराभक्ति वालों को जो बताता है वह मेरी पराभक्ति करता है। भगवान् भाष्यकार अर्थ करते हैं 'ग्रन्थतः अर्थतश्च स्थापयति' भगवान् के शब्दों का भी रक्षण करते हैं; यह नहीं कि, जैसे आजकल की प्रवृत्ति होती है, हम अपने ही शब्दों में उसे कहते रहें। और न यह कि ग्रंथ का ही पाठ करते रहें। वेदपाठी को सारे मंत्र याद हैं लेकिन अर्थ का ज्ञान नहीं। लेकिन यह पराभक्ति नहीं होगी। अर्थ और ग्रंथ दोनों शिष्य को सिखाने चाहिये। भाष्यकार पराभक्ति का अर्थ करते हैं कि 'परमगुरोः अच्युतस्य मया शुश्रूषा क्रियते इति' यह जो मेरे तत्त्वज्ञान को शिष्यों के हृदय में स्थापित करना है, यही उस परम गुरु की शुश्रूषा और पराभक्ति है।

आनंदगिरि स्वामी यहाँ शंका उठाते हैं कि बैठकर आत्मतत्त्व चिंतन में बड़ा आनंद है, उसमें सर्वथा अद्वैत का अनुभव है, समाधि का आनंद है; वह उसको छोड़कर यह क्यों करे? यह शंका बड़ी पुरानी है। ध्रुव और प्रह्लाद की भी यही शिकायत रही है। प्रह्लाद भगवान् की प्रार्थना में कहता है 'मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः' प्रायः करके जितने द्वैतवादी हैं, वे यदि किसी तरह समाधि का आनंद प्राप्त कर लेते हैं तो एकांत में जाकर मौन धारण करके ही उस आनंद को लेना चाहते हैं, दूसरों का कल्याण उनके हृदय में नहीं आता। आनंदगिरि स्वामी भी यही शंका उठाते हैं। मध्यकाल के कई कवियों ने भी कहा है 'तुझको जग की क्या पड़ी, अपना अंग (घर) बुहार'। किंतु इसके आगे के श्लोक में भगवान् ने कहा है 'न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।' (१८-६९)।। कहते हैं, जो इस प्रकार से नित्य निरंतर तत्त्वनिष्ठा के अन्दर लगा हुआ है, उससे अधिक मुझे कोई प्रियकृत् नहीं। आनंदगिरि स्वामी जी लिखते हैं 'ध्याननिष्ठस्य श्रेष्ठत्वेपि सम्प्रदायप्रवक्तुः श्रेष्ठतमत्वात्' एक प्रिय होता है और एक प्रियतम होता है। दोनों अच्छे हैं। जो ध्याननिष्ठ है उसकी अपेक्षा सम्प्रदाय-प्रवक्ता को भगवान् ने प्रियतम कहा। इसलिये उसकी तरफ प्रवृत्ति सर्वथा उचित है। शास्त्रों को सम्प्रदाय की रक्षा की दृष्टि से देखते हैं तो पता चलता है कि उसकी श्रेष्ठता मानने का कारण है। जो कारुणिक व्यक्ति होता है, वह यदि शत्रु को भी किसी अनिष्ट से ग्रस्त देखता है तो सहन नहीं कर सकता। शत्रु-दुःख को भी दूर करना चाहता है और जो व्यक्ति अपने मित्र

के दुःख को दूर करने में संकोच करे, क्या उसको कभी सत्पुरुष मान सकते हैं? भगवान् भाष्यकार कहते हैं वह शत्रु के अनिष्ट को भी सहन नहीं करना चाहता। सारे संसार को कष्ट देने वाला यह जो अज्ञान, अविद्या है उसके द्वारा सब कष्ट को प्राप्त करते रहें  यह उससे सहन नहीं हो सकता। शत्रु का भी कष्ट नहीं सहन कर सकता अतः बड़े-से-बड़े कष्ट को उठाकर भी इस ज्ञान की रक्षा में लगा रहना ही पराभक्ति है।

जिस समय भारतवर्ष में इब्राहीम लोदी का राज्य था, बड़े-बड़े मुसलमान आये, आक्रमण हुआ। काफी समय तक युद्ध होता रहा, फिर वह ज़रा जम गया। स्वाभाविक है कि साधारण मनुष्य के हृदय में थोड़े समय के बाद से बड़े दुराचार के प्रति भी सहनशीलता आ जाती है। यह महापुरुष और सामान्यपुरुष का भेद समझना। सामान्य पुरुष को थोड़े समय के बाद ही बड़ी-से-बड़ी बुराई सहन होने लगती है। जैसे आज से पच्चीस साल पहले यदि अपनी लड़की चूड़ीदार पायजामा पहनना चाहती थी तो आग लगती थी कि क्या मुसलमानिन की पोशाक पहन रही है! आज जब पोती दोहिती या बहू ही टाइट स्ट्रैच पहने घूमती है तो नहीं खटकता, कहते हैं  चलता है। किसी के घर में एक व्यक्ति शराब पी लेता था तो अपनी लड़की देना नहीं चाहते थे कि लड़की का क्या हाल होगा। आज घर में सब पीने वाले हैं तो भी तारीफ करते कहते हैं कि इनके घर में औरतें शराब नहीं पीतीं। आदमी पीते हैं, यह दोष नहीं है; औरत नहीं पीती, यह प्रतिष्ठा है। क्या कारण है? बहुत से लोगों को शायद पता नहीं होगा कि लियाकत अली की पत्नी अलमोड़े की ब्राह्मणी थी। उसके पिता ने बाज़ार का बिस्कुट खा लिया था तो उसे जाति से बाहर कर दिया था। इसलिये उस लड़की का ब्राह्मण कुल में विवाह होना असम्भव था, तो मुसलमान से विवाह किया। आज क्या किसी के मन में बच्चों के अण्डबण्ड खाने से कष्ट (असह्यता) अनुभव होता है? होटल में जाकर लड़का कुछ खा आया, कहते हैं 'बच्चे बाहर तो अण्डा खा लेते हैं, लेकिन घर में कुछ नहीं बनता' और दूसरे उसकी प्रशंसा करते हैं कि घर में कुछ नहीं बनता। इतना भेद कहाँ  से आया? सीधी-सी बात है, सामान्य पुरुष का लक्षण ही यह है जिसे अंग्रेजी में कहते हैं 'ट्राइस्ट विद इविल' वे हर बुरी चीज़ के साथ जल्दी ही समझौता कर लेते हैं।

जिसके हृदय में महानता होती है, भूमा तत्त्व व्याप्त रहता है, उसे चाहे हज़ार साल तक किसी चीज़ को दिखाते रहो, वह कहेगा, 'बुरी है तो बुरी ही है। तुम लोगों के कहने-करने से वह अच्छी नहीं हो जायेगी।' यदि तुम्हारे करने और कहने से अच्छी होती तो अनादिकाल से तुम कह रहे हो कि द्वैत सत्य और सुन्दर है तो फिर हम अद्वैतवाद को ही छोड़ देते। नहीं छोड़ते क्योंकि द्वैत असत्य और असुन्दर है। यह जो उसके अंदर एक शक्ति आती है, यह उसका भूमा तत्त्व है, यही उसकी व्यापक दृष्टि है। वह किसी चीज़ से ग़लत समझौता कर ही नहीं सकता।

इब्राहीम से पहले दो-चार अच्छे राजा भी हो गये थे। लोगों ने सोचा, मुसलमान आ ही गये

हैं, रह ही गये हैं तो चलो हमको दुःख न दें तो ठीक है, बेशक रहें। उस समय यह आग नहीं जल रही थी कि वे सारे के सारे हमारी भारतीय संस्कृति, हमारे धर्म को नष्ट करने पर लगे हैं। आप लोगों ने अंग्रेजों के राज्य में अनुभव किया होगा कि कुछ लोगों को छोड़कर बाकी सबको लगता था कि चलो ठीक है, कोई खास दुःख तो बेचारे नहीं देते हैं। उस काल में आचार्य अनुभूतिस्वरूप एक बड़े अच्छे महात्मा थे। दिल्ली और करनाल की तरफ ही उनका आश्रम था जहाँ वे रहते थे। उनके मन में निरंतर यह आग जल रही थी कि किसी प्रकार फिर से वेदांत का राज्य आये और ये चले जायें। कई राजाओं के पास गये और उनसे बातचीत की लेकिन उस समय सारे राजा यह कहते थे कि 'लोदीवंश का राज्य अच्छा ही है और अपने लड़कर इनसे कैसे जीत सकते हैं? कोई खराबी भी नहीं है, चल तो रहा ही है।' उन्होंने कहा कि यह राज्य भी तो तुम्हारी शक्ति से ही चलता है। मुसलमानों ने यहाँ राज्य किया तो हिन्दू सेनाध्यक्ष और हिन्दू फौज के सहारे किया। अंग्रेजों ने भी राज्य किया तो भारतवर्ष के अन्दर हिन्दुओं के मार्फत ही किया। किसी भी समय भारतवर्ष में आठ लाख से ज़्यादा अंग्रेज राज्य करने वाले नहीं रहे। अनुभूतिस्वरूप ने बहुत समझाया लेकिन कोई मानने को तैयार नहीं हुआ। आजकल के युग में भी साम्यवाद, समाजवाद, तरह-तरह के अनीश्वरवाद (सैक्युलरिज़्म) का खूब प्रचार होता है। किनके द्वारा होता है? बुरा नहीं मानना, हमारे धर्म के जो आधार-स्तंभ (सत्संग के खम्भे) हैं, उनके द्वारा होता है, क्योंकि इस सब प्रचारों का धन वही देते हैं। उनकी दृष्टि यह बनी रहती है कि 'चलता ही है, नहीं देंगे तो हमारी दुकान पर आपत्ति आ जायेगी, नुक्सान हो जायेगा, हृदय से तो नहीं चाहते लेकिन चलो, कोई खराबी भी नहीं है'। जैसे आजकल का व्यापारी-वर्ग, वैसे ही उस काल का राजा-वर्ग था। वे भी कहते थे कि 'चलता है, हृदय से चाहते हैं कि हिन्दू धर्म आ जाये, बड़ा ही अच्छा होगा, लेकिन कैसे हो सकता है!'

आचार्य अनुभूतिस्वरूप हृदय से इस विषय में बड़े उदास हो गये। एक जगह एकांत में जाकर रहने लगे और सारे व्यवहार छोड़कर एक ग्रंथ लिखने लगे, सोचा ग्रंथ ही एक चीज़ बचेगी तो किसी समय कोई व्यक्ति आगे आयेगा। उन्होंने प्रकटार्थविवरण नाम की टीका लिखी है जिसमें उन्होंने इस पर बड़े विस्तार से विचार किया है। उसके प्रारंभ में लिखते हैं कि जितनी मेरी जलन थी, वह अब उतनी नहीं रही, क्योंकि अब मेरे हृदय में उदासी आ गई है। 'व्याख्यातुमक्षमतया परितापि चेतः' कहते हैं यह तत्त्व तो मैंने बहुत पहले समझा था और बहुत काल से मैं इस वास्तविक तत्त्व की प्रतिष्ठा में लगा रहा लेकिन कुछ सफलता नहीं मिली। चित्त के अन्दर अत्यंत परिताप (खेद) आ गया, क्योंकि जिस तत्त्व की प्रतिष्ठा जीवन में नहीं हो सकी, उस तत्त्व की पुस्तक लिखकर सच्चे लेखक को संतोष नहीं होता। धर्म और ग्रंथ पुस्तक लिखने से पुष्ट नहीं होते, जीवन में उतारने से पुष्ट होते हैं। आगे कहते हैं, बहुत काल बीत गया, मैंने अनेक तरह से चिंतन करके देख लिया लेकिन जीवन में मैं नहीं उतार पाया, इसलिये मेरा

चित्त अत्यंत खिन्न हो गया। परिताप को कुछ ठण्डा करने के लिये कुछ तो किया ही जाये। जैसे कोई आदमी बहुत बड़ा काम करे, उसमें दस लाख लाभ की आशा हो और वह सारा काम ख़त्म हो जाये, फ़ायदा न हो, तो वह कहता है 'चलो, मनियारी की दुकान करके पाँच सौ ही सही'। संतोष कर लेता है कि घर खर्चा तो चलता ही है। 'तस्योपतापशमनाय', उस परिताप को शमन करने के लिये ही भाष्य के ऊपर केवल किताब ही लिखकर संतोष कर रहा हूँ। यह जलन उसके हृदय में होती है जिसके हृदय में उस तत्त्व के प्रति निदिध्यासन को प्राप्त करने के कारण अति तीव्र प्रेम होता है।

कुछ समय बीता। वे उस समय काफी वृद्ध हो चुके थे। उन्हें पता लगा कि चित्तौड़ के राज्य में हमीर वंश के राणा कुंभा की कुछ प्रवृत्ति सनातन धर्म के संरक्षण की है। उस वृद्धावस्था में वे यहाँ से चलकर मेवाड़ पहुँचे। राणा संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे। गीतगोविन्द इत्यादि पर उन्होंने स्वयं टीका लिखी है, इसी प्रकार संगीतरत्नाकर पर भी उनकी टीका है। न्याय के भी विद्वान् थे और वीर भी बहुत थे। उस समय राणा का उद्देश्य यह था कि राजस्थान के ऊपर अपना एक अखण्ड राज्य हो जाये और यहाँ मुसलमान न आ सकें। आचार्य ने उन्हें जाकर समझाया कि 'जो शेर हुआ करता है, वह शशक (खरगोश) पर आक्रमण नहीं करता, वह तो अपनी बराबरी वाले हाथी पर कूदता है। इसलिये तुमने यह क्या छोटा-सा दृष्टिकोण अपना लिया है कि *राजस्थान की* सीमा सुरक्षित हो जाये और यहाँ मुसलमान न आ सकें! यदि शेर हो तो इब्राहीम पर कूदो।' राणा ने कहा कि 'वह तो सारे भारतवर्ष पर राज्य कर रहा है।' उनकी यह वार्ता एकलिंग जी में हो रही थी। आचार्य ने उनसे कहा कि 'तुम्हें पता है कि तुम्हारे राज्य-संस्थापक बाप्पा रावल ने सिंहासन पर किसको बिठाया था?' उदयपुर की परम्परा है कि शासक स्वयं को दीवान मानता है, राजा तो एकलिंग जी हैं। आचार्य ने पूछा 'मेवाड़ के 'राजा' कितने देशों पर राज्य करते हैं?' कुम्भा ने कहा 'ये तो अखण्ड ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं।' 'तू इब्राहीम से राज्य लेने थोड़े ही जा रहा है। वह तो एक नालायक सूबेदार ने साम्राज्य को दबा लिया है, केवल उसे नियंत्रित करने जा रहा है और प्रधान सेनाध्यक्ष किसी सूबेदार को दबाने जाये तो क्या तोलता है? उसके पीछे तो सारे राज्य की शक्ति है, उसे मसलने में क्या देरी लगती है!' राणा समझदार थे, विद्वान् थे। तुरंत कहने लगे 'इस दृष्टि से तो मैंने सोचा ही नहीं।' उन्होंने उसी समय पत्र लिखकर इब्राहीम को भेज दिया कि 'तुम विदेशी और विधर्मी यहाँ राज्य करने के अधिकारी नहीं हो, केवल इसीलिये मैं चढ़ाई करूँगा।' राजाओं का नियम होता है कि चढ़ाई करने के पहले कोई कारण बताते हैं। उसी पत्र की नकल लेकर आचार्य अनुभूतिस्वरूप अनेक हिन्दू अधिपतियों के पास गये। कुछ ने कहा सोचेंगे, कुछ ने कहा पीछे से मदद करेंगे। अंत में इब्राहीम परास्त हुआ और राणा जीते। उसी महात्मा के आशीर्वाद का यह फल था कि उदयपुर राणाओं ने कभी मुसलमानों के आगे हार नहीं मानी। राणा कुंभा के बाद दूसरे

मुसलमान शासक आये, यह दूसरा विषय हुआ। जब इतना गौरव आता है तब समझता है कि राजा तो एकलिंग जी हैं।

यह पराभक्ति का रूप है। जहाँ यह नहीं होता, वहाँ मनुष्य केवल अपनी तरफ देखकर सोचता है कि मेरी कितनी ताकत है, अहं की ताकत देखता है। मनुष्य सोचता है कि 'मैं इतने बड़े धर्म और राष्ट्र का कार्य कैसे करूँगा?' इस सोचने के पीछे उसका दृढ अज्ञान है कि मैं जीव हूँ। जिसके अंदर 'मैं ब्रह्म हूँ' यह दृढ ज्ञान होगा, वह तो, जैसा आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने कहा कि, सारे विश्व को तृण समझता है। उसके थोड़े समय बाद उनका शरीर शांत हो गया। अभी भी एकलिंग जी से थोड़ी दूर एक मठ बना है जहाँ उनका शरीर शांत हुआ। इसी पराभक्ति के लिये भगवान् ने कहा कि यह उस ध्यान-निष्ठा की अपेक्षा भी परमात्मा को अत्यधिक प्रिय (उत्तम) है। यह हमेशा याद रखना है कि हमको अपने प्रत्येक कार्य के अन्दर हमेशा इस महान् दृष्टिकोण को सामने रखना है कि परमेश्वर की पराभक्ति करें। पहले, अपराभक्ति काल में परमेश्वर के गुणों को देखें, फिर उसके बाद वे गुण हमारे अन्दर हैं इस बात के ज्ञान को लेकर परमेश्वर की पराभक्ति के द्वारा परमेश्वर का प्रियतम बनना है। कैसा प्रियतम? भगवान् ने बड़ी विलक्षण बात कही है कि वह मेरा सबसे ज़्यादा प्रिय है। लेकिन कैसे? 'भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि'(१८-६९) जो इस प्रकार से मेरी पराभक्ति नित्य-निरंतर करता है, वह सर्वत्र वेदांत-निष्ठा की स्थापना के लिये एकमात्र अपने जीवन का प्रत्येक क्षण लगाता है। उससे अधिक प्रिय आज ही नहीं, भविष्य में भी नहीं होने वाला है। इस दृष्टि को लेकर पराभक्ति में दृढता आनी चाहिये। इस पराभक्ति का स्वरूप आगे बतायेंगे।

## प्रवचन-५०

८-५-७२

संविद्मयी भगवती का भजन धन्य लोग करते हैं। वह भजन पराभक्ति है। आत्म-तत्त्व में स्थित होने के बाद जो भजन होता है वह पराभक्ति है, आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के पूर्व जो भजन होता है वह अपराभक्ति है। परमात्मा के स्वरूप को जानने के बाद, अनुभव करने के बाद जो उसके प्रति भक्ति है वह ज्ञान के बाद होने के कारण पराभक्ति है। ज्ञान के पूर्व जो भजन होता है, उसमें अभी परमात्मा को जाना नहीं, परमात्मा को जानने की इच्छामात्र है, वह कैसा है   इस बात को नहीं समझा, सुना ज़रूर है कि वह कैसा है। परमात्मा के स्वरूप को सभी 'चेतन' कहते हैं। मनुष्य को सबसे बड़ा आश्चर्य यह होता है कि अब तक चेतन का जहाँ भी अनुभव किया, वहाँ 'मैं' के साथ ही किया। अनुभव की बात है। दूसरे शरीरों को चेतन कहते तो हो पर वहाँ तो चेतन का अनुभव नहीं है, अनुमान है। दूसरा कोई व्यक्ति चेतन है, इसका अनुमान होता है। इसीलिये कोई आदमी मर गया या ज़िन्दा है, इसका आँख से देखकर पता नहीं लगता, डाक्टर का सर्टिफिकेट लेना पड़ता है। जैसे आँख से पता लगता है कि इस आदमी की आँख है या नहीं, कोई सर्टिफिकेट की ज़रूरत नहीं है, ऐसे ही यदि चेतनपना दीखता होता तो क्यों डाक्टर को बुलाकर पूछते कि 'मेरे पिता जी अभी ज़िन्दा हैं या नहीं'? चेतनता दूसरी जगह अनुमेय है, केवल 'मैं चेतन हूँ', इस ज्ञान के लिये किसी दूसरे, प्रमाण की या डाक्टर की ज़रूरत नहीं है।

मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा चेतन है   यह हमेशा अनुमेय है। डाक्टर भी ग़लती कर जाते हैं। कई बार श्मशान में ले जाकर स्नान कराते समय भी लोग जीवित हो जाते हैं। बहुत से लोग कहते हैं कि यह मरकर फिर जी गया। लेकिन मर कर कोई कभी ज़िन्दा नहीं होता। होता यह है कि डॉक्टर ने जो अनुमान किया कि यह मर गया, वह अनुमान ग़लत था। वह मरा नहीं था। जैसे किसी लड़के को तुमने देखा कि यह लखपति है, और लड़की का ब्याह उसके साथ कर दिया। लड़की वापिस आकर कहती है कि 'वहाँ तो खर्चे का बड़ा संकोच है, तो इसका मतलब यह नहीं कि वे लखपति थे और कंगाल हो गये। बल्कि तुमने उनके बाहर के टैरीलीन से सूट देखकर ग़लत अनुमान कर लिया। इसी प्रकार हृदय की धड़कन, साँस का चलना   इनसे ही बेचारा डाक्टर अनुमान करता है कि यह व्यक्ति जीवित है या मृत। अगर किसी अन्य कारण से हृदय की धड़कन नहीं है, साँस नहीं है लेकिन मरा नहीं है, तो डाक्टर का अनुमान ग़लत हो जाता है। अपनी चेतनता के विषय में ऐसा कोई अनुमान नहीं करना पड़ता। अपनी चेतना स्वतःसिद्ध है। मैं चेतन हूँ, यह किसी चिह्न से नहीं जानते, स्वतः जानते हो। जब पहले-पहले कोई व्यक्ति सुनता है कि परमात्मा चेतन है, इस बात के सुनने के साथ ही मनुष्य के अन्दर

एक बड़ी विलक्षण जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि आज तक तो केवल एक चेतन को जाना था और वह मैं हूँ। यह दूसरा चेतन कैसा होगा? इसका अनुभव कहाँ होगा? इसलिये उस परमात्मा-रूपी चेतन के प्रति हृदय में एक तीव्र आकर्षण आता है, क्योंकि अपनी जाति का दूसरा पदार्थ मिला। अब तक तो सारे पदार्थ अचेतन जाति के, अनात्म जाति के थे और आत्मा की जाति का केवल एक मैं था। अब पहली बार सुनने को मिला कि तुम्हारी जाति का एक दूसरा परमात्मा और है। अपनी जाति वाले की बात सुनो तो उसे जानने की बड़ी तीव्र इच्छा होती है। न्यूयार्क में रहते हुए पता लगे कि यहाँ एक हिन्दुस्तानी रहता है तो अपने आप उससे मिलने जाते हो, क्योंकि अपनी जाति का है, हिन्दुस्तानी है।

जब तीव्र जिज्ञासा होगी, तब पहला काम यह करोगे कि अपने से भिन्न जाति के अनात्म पदार्थों की जिज्ञासा को ख़त्म कर दोगे। अब तक तो अनात्म पदार्थों की तरफ, अचेतन पदार्थों की तरफ इसलिये जाते रहे कि अपनी जाति का कोई और है  यह पता ही नहीं था। जैसे न्यूयार्क में रहते हुए यहाँ कोई हिन्दुस्तानी है  इस बात का जब तक पता ही नहीं, तब तक अमरीकन लोगों से ही मिलते रहोगे। लेकिन यह पता लगते ही कि अपनी जाति का हिन्दुस्तानी है, झट इधर-उधर जाना छोड़कर सीधे पहले उससे मिलने जाओगे। इसी प्रकार जैसे ही परमात्मा के विषय में सुनते हैं, सभी अनात्म पदार्थों की जिज्ञासा हट जाती है। बहुत से लोग परमात्मा के विषय में सुनकर भी आत्म-जिज्ञासा से नहीं हटते। उसका कारण है : न्यूयार्क में जब तुम्हें कोई आकर कहता है कि 'हिन्दुस्तानी है', तो पहले ही तुम कहते हो कि 'मुझे बुद्धू बनाते हो, मुझे यहाँ रहते पच्चीस साल हो गये, जिधर देखता हूँ अमेरिकन ही अमेरिकन हैं। यहाँ हिन्दुस्तानी कोई है ही नहीं।' दूसरा कहता है 'मान लो, यहाँ हिन्दुस्तानी भी हैं।' कहते हो  'मज़ाक उड़ाते हो, मानने की बात हो तो मान भी लें।'

इसी प्रकार जीव कहता है कि अनादि काल से आज तक मैंने इन्द्र, वरुण, यम, ब्रह्मा, विष्णु से लेकर घास के तिनके तक सब देख डाला। जहाँ गया वहाँ अनात्मा ही मिला, आज तक कहीं हमको परमात्मा मिला ही नहीं। अनादि काल से घूम रहे हैं, यदि परमात्मा होता तो कहीं तो हमसे टकरा जाता। अच्छा, यदि तुम्हारा परमात्मा है तो ज़रा उसका ठिकाना तो बताओ। जैसे वह न्यूयार्क का हिन्दुस्तानी कहता है 'बताओ वह दूसरा हिन्दू जाति का कहाँ है? शायद उस मुहल्ले में मैं नहीं गया हूँ।' यदि उस मुहल्ले और जिस मकान का ठिकाना बताता है, उसके अन्दर मैं रोज़ जाता हूँ, मेरा ऑफिस ही वहाँ है, उस मकान के रहने वाले लोगों से मेरा परिचय है। तब कोई कहे की '१३ मेडिसिन ऐवन्यु, के चौथे तल्ले में ३३ नम्बर फ्लैट में हिन्दुस्तानी रहता है', तो बड़े ज़ोर से ठहाका मारकर हँसते हो, कहते हो  'भले आदमी, झूठ की भी हद होती है, वही तो मेरे ऑफिस का कमरा है।' इसी प्रकार जीव कहता है कि पहले तो इतने वर्षों में आज तक सृष्टि में मुझे कोई अपने सिवाय दूसरा आत्मा (चेतन) नहीं मिला, होता तो अब तक

कहीं-न-कहीं मिलता ही। सही ठिकाना बताओ तो मान लेंगे, शायद उस मोहल्ले में हम नहीं गये होंगे। ठिकाना बताते हैं 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' कि इस हृदय रूपी गुफा में है। शरीर के अन्दर इस हृदय में ही परमात्मा का ठिकाना है। तब जीव बड़े ज़ोर से ठहाका मारकर हँसता है, कहता है 'मुझे इतना बुद्धू बनाते हो, अरे, इस हृदय गुफा में तो रात-दिन मैं रहता हूँ। वह मेरा ही ऑफिस है, कोई दूसरा ठिकाना बताया होता तो शायद भ्रम हटता। तुम्हें पता नहीं कि यह मेरा ही ऑफिस है इसलिये यह ठिकाना तुमने बता दिया। इसलिये मुझे विश्वास नहीं होता कि वहाँ कोई दूसरा बैठा हुआ है।'

वेद कहता है 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' जीव और ईश्वर दोनों एक ही पेड़ के ऊपर बैठे हुए हैं। अब विश्वास नहीं करोगे कि वहाँ दूसरा है। इसलिये कहते हो कि मैं तो अनात्मा को ही देखता रहूँगा। वेद ने जिज्ञासा पैदा की तो, पर वह पैदा हुई ही नहीं क्योंकि बात जमी ही नहीं। यही परमेश्वर की अद्भुत लीला है। इतने पास में रहते हैं कि नित्य-निरंतर उसका अनादर होता रहता है। संसार के अन्दर सबसे बड़ा पाप भगवान् वेदव्यास ने महाभारत में बताया  आत्मा की चोरी। 'किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।' लोग जब दुःख आता है तो कहते हैं किसी पाप का फल है। कर्मकाण्डी बेचारा हिसाब लगाकर कहता है कि अमुक-अमुक पाप हुआ होगा। फ्रांस देश के अन्दर एक बहुत बड़े जनरल पैटन हुए (जिसके नाम पर पैटन टैंक है), जिसने हिटलर के साथ पहले युद्ध किया था, फिर आत्मसमर्पण किया था। उसके पास बहुत पदक थे। किसी ने उससे पूछा कि 'इतने पदक आपको कैसे मिल गये?' उसने पहले वाला पदक दिखाकर कहा 'जब मैंने पहले कैले की लड़ाई जीती तब प्रथम विश्वमहायुद्ध में यह मिला था और फिर बाकी सब बिना मेहनत के आते गये!' ऐसा होता है। कोई वैज्ञानिक बड़ा भारी आविष्कार करता है तो उसको नोबल प्राइज़ मिल जाता है। यह तो उसकी मेहनत का है; और फिर हर विश्वविद्यालय उसे एक आनरेरी डाक्ट्रेट, मानद उपाधि देता रहता है, उसके लिये उसे कोई अलग से मेहनत नहीं करनी पड़ती, अपने आप ही आते रहते हैं। इसी प्रकार वेदांत कहता है कि असल में तो तुमने एक बार पाप किया कि आत्मा की चोरी कर ली। जब तुमने आत्मा की चोरी कर ली तो इस बड़े पाप के फलस्वरूप बाकी छोटे पाप तो अपने आप आते चले गये। बाकी सब लोग दुःख के लिये भिन्न-भिन्न कारण ढूँढते रहते हैं, उपनिषद् कहती है कि तुम्हारे जितने दुःख हैं उन सबका एकमात्र कारण आत्मा की चोरी है। जिस क्षण यह पाप निवृत्त हो जायेगा, उसी क्षण बाकी जितने भी तुम्हारे पाप हैं, निवृत्त ही हैं। आगे तुमको दुःख देने की उनकी सामर्थ्य और क्षमता नहीं रहेगी।

बिना अज्ञान के दुःख वैसे ही असम्भव है जैसे बिना बादल से वृष्टि। हो सकता है कि तुम्हें बादल दीखें नहीं, कई बार अनुभव किया होगा। ऊपर नज़र डालो तो बादल नहीं दीखता लेकिन वहाँ भी वृष्टि बादल से ही है। होता यह है कि हल्का बादल अति दूर हो और बादल व तुम्हारे

बीच में धूल की पटल हो तो वह बादल नहीं दीखता, क्योंकि बादल जब तक गहरा नहीं होता, तब तक उसका ठीक-ठीक रंग नहीं बनता। इसलिये एक तो बादल हल्का और हो भी बहुत दूर, बीच में धूलिपटल आ जाये तो बादल न दीखने पर भी वर्षा होती है, अतः अवश्यमेव बादल है। इसी प्रकार कई बार मनुष्य सोचता है कि मेरे अन्दर अज्ञान नहीं है, लेकिन यदि दुःख का अनुभव होता है तो दुःख की बूंद तब तक टपक ही नहीं सकती जब तक अज्ञान का बादल न हो।

आत्मा का यह अनादर ही आत्मा का अपहरण (चोरी) है। इसलिये नज़दीक होने से ही उसका निरादर है, उसकी आदरणीयता नहीं है, उसमें आदर दृष्टि नहीं है। यह संसार में सब पदार्थों का नियम है। किसी चीज़ के अन्दर अतिपरिचय की दृष्टि बन जाये तो उस चीज़ के प्रति आदर की दृष्टि नहीं रहती। परमात्मा चूंकि जहाँ तुम्हारा हृदय है, जहाँ तुम्हारे रहने की जगह है वहीं रहता है, इसीलिये आदर का विषय नहीं है। अनात्मा चूंकि दूर है, इसलिये आदर का विषय है। हमारे पुराने लोग कहा करते थे 'घर का जोगी जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध' घर का आदमी सिद्ध हो तो उसके प्रति मनुष्य की महत्त्व की दृष्टि नहीं बनती। दूसरे गाँव का कोई आदमी आये तो सबको जँचता है कि सिद्ध है। यदि कोई आदमी दिन भर में आधा घण्टा मिले तो लोग समझते हैं कि यह बहुत बड़ा आदमी है। एक बार हमने एक डॉक्टर से दाँत का इलाज कराना था, उससे समय माँगा तो उस बेचारे के पास समय नहीं था। फिर किसी परिचित व्यक्ति के मार्फत बातचीत करके उन्होंने समय दे दिया। वहाँ पहुँचे तो देखा कि न हमारे पहले कोई रोगी था और न हमारे आने के बाद ही कोई नज़र आ रहा था! उनकी दैनंदिनी पर नज़र डाली तो उसमें केवल हमारा और एक अन्य आदमी के अलावा किसी का नाम नहीं था, बाकी खाली थी। बड़ा आश्चर्य हुआ, पता लगाया तो मालूम हुआ कि वे मानते हैं कि यदि माँगने के साथ ही कहते कि समय है तो फिर हमारी कीमत ही क्या! परमात्मा की यही कमज़ोरी है। जैसे ही तुम्हारे मन में विचार उठा कि 'भगवान्! आपको देखना है,' झट उसने कहा 'देख लो!' इसलिये सोचते हैं कि इस पर क्या ध्यान देना है! एक अनात्म पदार्थ दुःख बड़े परिश्रम से प्राप्त होता है, इसकी तो कीमत है। सवेरे के शाम तक आठ घण्टे पसीना बहाओ तब सौ का एक नोट हाथ आता है और परमात्मा की प्राप्ति के लिये कुछ नहीं, वह बेचारा पहले ही तुमसे मिलने के लिये तैयार बैठा है। यही परमात्मा के अनादर का कारण है।

विचार करो, जिस हृदय के अन्दर तुम बैठे हो, उसी हृदय के अन्दर ईश्वर भी बैठा है, यह उसका ठिकाना बताया तो अरुचि हो गई कि यह तो कुछ खास नहीं है। जिज्ञासा उसे पैदा हो जाये जो कोई विलक्षण प्रतिभासम्पन्न कहता है कि ऐसा असम्भव काम भी कभी-कभी संभव हो पाता है। रात-दिन साथ रहने पर भी दूसरे को नहीं पहचान पाते, ऐसा भी कभी-कभी होता देखा गया है। एक व्यक्ति कमाने के लिये रंगून चला गया। पहले बर्मा, लंका, अफगानिस्तान

हिन्दुस्तान की सीमा में ही थे, वहाँ लोग व्यापार करने जाया करते थे। यह कोई पुरानी बात नहीं है, सन् पैंतीस में बर्मा, सीलोन अलग किये गये और दस-बारह साल बाद पाकिस्तान अलग हुआ। वह व्यक्ति रंगून कमाने चला गया। पुराने लोग जब जाया करते थे तो डटकर कमाते थे, फिर व्यापार पूरा करके घर आते थे तो डटकर आते थे! अधिकतर पुराने लोगों की आदत थी कि साठ-बासठ की उम्र तक कमाकर फिर कोई बनारस तो कोई हरद्वार चला गया और कोई अपने देश बीकानेर, जोधपुर चला गया। वे लोग बाकी का जीवन शान्ति से काटते थे, क्योंकि उनके मन में वानप्रस्थ की छाया पड़ी होती थी। फिर इन्हें कोई चिंता नहीं रहती थी। सवेरे स्नान आदि के लिये बाहर जाते थे, घूम-फिरकर आते थे। फिर शाम को बगीची में गये, सत्संग आदि हुआ। पूरा वानप्रस्थ और संन्यास तो नहीं था लेकिन आधा दिन बगीची आदि में बिताते थे। यही उनका शौक था। आजकल डटकर कमाते भी नहीं और कमाते काल में बाइस्कोप देखने भी जाते हैं। हम लोग कहते हैं कि कमाना है तो पहले कमा लो, फिर बाइस्कोप देखना है तो चाहे दिन में चार-बार देख लेना। लेकिन मिला-जुला करते हैं। इसलिये जनम भर लगे रहते हैं और कभी इस संसार से उनका जी नहीं ऊबता। चाहे साठ साल की उम्र हो गई, फिर भी दुकान नहीं छूटती। कभी मन में सोचते भी नहीं यह कोल्हू के बैल की तरह हम जुते जा रहे हैं तो किसलिये? जीवन का कौन-सा रस मिल रहा है? यह विचार ही कभी उत्पन्न नहीं होता। इस विचार को दबाने के लिये उन्होंने एक 'कर्त्तव्य' नाम का तीन अक्षर का शब्द याद कर रखा है! कोई बात उनसे कहा तो कहते हैं 'जी, हमारा कर्त्तव्य है।' कभी सोचा कि सबसे पहला कर्त्तव्य तुम्हारा किसके प्रति है?

सबसे पहला कर्त्तव्य तुम्हारा *अपने* प्रति है। सारे संसार को जिस समय तुम कहते हो कि मैं सम्भालता हूँ बच्चों को, पत्नी को, पोतों को, और पोत-बहुओं तक को मैं सम्भालता हूँ, उसी समय कोई पूछे कि तुम अपने को भी कभी सम्भालते हो? अपने प्रति भी तुम्हारा कोई कर्तव्य है या नहीं? 'अपने' का मतलब यहाँ शरीर-मन नहीं लेना, क्योंकि वे तो वैसे ही अनात्मा हैं। लोग शरीर को सुख देते हैं, बढ़िया, टैरीलीन के कपड़े पहनाते हैं, बढ़िया सैण्ट लगाते हैं, आँखों को भी सुख देते हैं, दूसरों की औरतों और वेश्याओं को देखते हैं। हम *तुम्हारी* बात कह रहे हैं, तुम अपने को भी किसी समय आनंद देते हो? तुमको आनंद कब मिलेगा? जब तुम परिश्रम न करो।

'यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।।'

यमराज कहते हैं हे नचिकेता! यदि तुझे सुख लेना है तो ज़रा परिश्रम करना छोड़। जब पाँच कर्मेन्द्रियों से कुछ नहीं कर रहे होते, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से भी कुछ नहीं कर रहे होते, जब मन भी कोई विचार नहीं कर रहा है। जब बुद्धि भी धर्माधर्म इत्यादि कुछ नहीं सोच रही होती है,

जब तक इस निर्विकल्प समाधि के अन्दर तुमने आराम नहीं किया, तब तक यह सारा परिश्रम करके तुमने अपना क्या कर्त्तव्य पूरा किया?

एक बात और यहाँ बताते हैंः जिसने अपने प्रति कर्त्तव्य नहीं किया, वह कर्त्तव्य का ढोंग रचता है। वह पाखण्डी है। जिसके पास खुद पाँच रुपये की पूँजी नहीं, वह यदि कहता है कि 'मैं अपने नौकरों को पाँच-पाँच सौ के चैक काटकर देता हूँ', तो अव्वल दर्जे का धोखा ही है। जब अपने पास होगा तभी किसी को दे भी सकते हो। लेकिन जब अपने पास ही नहीं और दूसरे को दे रहे हो, तो धोखा है। यह धोखा तुमने कर्त्तव्य नाम से शुरू किया और यह तुम्हारे मंत्रियों और राष्ट्रपति तक पहुँच गया। वे कहते हैं कि 'हम अमीरों से धन ले लेंगे', पर अपनी अमीरी को छोड़ते नहीं। उनसे कहो कि 'अपनी चीज़ भी तो ज़रा बाँट दो! सारे लोगों को कहते हो कि तुम्हारी ज़मीन बाँटनी है; तुमने भी तो खरीद रखी है, उसे भी बाँटो', तो कहते हैं कि वहाँ तो हथियार बन्द पुलिस बैठी है! बाकी बाँटनी है। है न यह पाखण्ड? तुम लोग तो टैक्स दो, उनसे पूछो 'तुम्हारा टैक्स?' तो कहते हैं बारह साल से काम में लगे हैं, याद ही नहीं! इसी प्रकार से उनको कहीं नौकरी करने भेजो तो शायद दो सौ रुपये महीने में कोई रखे या न रखे। उनकी योग्यता यदि एम्प्लायमेण्ट एक्स्चेन्ज में लिखकर भेज दो तो नौकरी नहीं मिलने वाली है, लेकिन सारे देश की बेकारी हटाने का पाखण्ड रचकर अपनी बेकारी तो उन्होंने हटा ली! जब तुमने अपने कर्त्तव्य का पाखण्ड किया तो उसी का एक बड़ा भारी प्रतिबिम्ब वहाँ पड़ा कि वे सारे देश के उद्धार का पाखण्ड करते हैं, जबकि इसे करने की कोई योग्यता उनमें नहीं है, ऐसे पाखण्डी होते हैं जिनसे पाखण्ड बढ़ता है। सबसे प्रथम कर्त्तव्य आत्मा के प्रति है। इस कर्त्तव्य को पहले पूरा कर लो, तभी आगे कोई दूसरा कर्त्तव्य चल सकता है।

हम लोग कर्त्तव्य के नाम पर अपनी सारी कमज़ोरी को छिपाते रहते हैं। आगे यदि पूछें कि चलो तुम्हारी बात भी मान ली कि तुम कर्त्तव्य कर रहे हो, तो कर्त्तव्य का नतीजा फल से ही लेंगे; क्या तुमने अपने लड़कों को सुखी कर दिया? तुम्हारे लड़के तुम्हारे मन लायक बन गये? कहते हैं   नहीं बने। यदि बाइस साल मेहनत करके तुम उन्हें अपने मन लायक नहीं बना सके तो क्या तुमने कर्त्तव्य किया? तब कहते हैं 'अपने-अपने भाग्य में लिखा होता है, समय बिगड़ा हुआ है, संग खराब है।' हमारा प्रश्न है कि फिर तुमने क्या कर्त्तव्य किया! वह तो संग, समय आदि ने अपना कर्त्तव्य निभाया। तुमने तो अपना समय फालतू में बरबाद किया। यदि कर्त्तव्य किया है तो नतीजा दिखाओ। जैसे कोई लड़का कहे कि 'मैंने पढ़ा तो खूब है लेकिन बादाम खाने को नहीं मिले, इसलिये याद नहीं टिकी। इन्द्र देवता ने हाथ की मदद नहीं की, इसलिये पर्चा ठीक से लिखा नहीं गया', तो क्या मान लोगे? ऐसे ही एक तरफ कहते हो कि कर्त्तव्य में लगे हुए हैं और जब पूछते हैं कि 'तुम्हारे कर्त्तव्य का फल तो देखें?' तब दूसरी चीज़ों के   संग, काल आदि के   नाम गिनाने लगते हो! फिर तुम वहाँ बैठे-बैठे क्या करते रहे? अपना भी समय

बरबाद किया और उन लोगों का समय भी बरबाद किया। क्यों नहीं कर पाये? जैसे पचास रुपये का जिसका बैंक बैलेंस नहीं, उसके पाँच हज़ार के चैक की कोई कीमत नहीं है ऐसे ही तुमने अपने प्रति कर्त्तव्य पूरा नहीं किया, इसलिये दूसरे के प्रति कर्त्तव्य करने के पाखण्ड के झूठे चैक कहाँ चलने थे! पुराने लोग ऐसे जाल से बचते थे, क्योंकि जानते थे कि कितना हमारा काम है और कितना नहीं है।

वह जो रंगून में कमाने गया तो लम्बी मुसाफिरी हो गई। घर वालों को चिट्ठियाँ भेजता रहा कि तुम लोग आ जाओ। लेकिन उसकी बुड्ढी माँ कहे कि बहू को नहीं जाना है, मेरे को कौन देखेगा, इसलिये घर वाले लिखें कि तुम आ जाओ। ऐसे होते-होते बीस साल का समय बीत गया। सेठ के मन में आया कि अब तो काफी धन हो गया, अब यहाँ का काम-काज बटोरकर घर चलें। कुछ ऐसी भगवत् प्रेरणा हुई कि उधर उसकी बुड्ढी माँ का शरीर शान्त हो गया। बहू ने सोचा कि अब सास नहीं रही, अतः अपने लड़के को लेकर मैं बर्मा जाऊँ। वह कलकत्ते पहुँचकर एक धर्मशाला में ठहर गई। उस साल कलकत्ते के अन्दर हैजे का प्रकोप हो रहा था। यह बेचारी मारवाड़ की रहने वाली, हैजे को क्या जाने! वहाँ बाज़ार से उन्होंने कुछ खरीदा और खा लिया। लड़के को हैजा हो गया और वह रात को खूब चिल्लाया। इस बेचारी को कुछ पता नहीं कि क्या करे। उसी के पास के कमरे में रंगून वाला सेठ, जो उस लड़के का बाप था, टिका हुआ था। इसके रोने की आवाज़ सुनी तो सोचा गजब हो गया, यह रात में हल्ला क्यों मचा रहा है? उसने मैनेजर को बुलाया और पाँच रुपये देकर कहा कि 'इन्हें यहाँ से हटाओ, कहाँ की बीमारी इकट्ठी कर रखी है'। उसने कहा 'मारवाड़ की अकेली माई है, कहाँ भेजें?' सेठ ने कहा 'पाँच की जगह दस रुपये ले लो लेकिन इनको यहाँ से हटाओ।' उसको यह डर कि कहीं मक्खी इधर-उधर आ गई, और मुझे हैजा हो गया तो क्या होगा। मैनेजर ने उन लोगों को उठाकर बाहर कर दिया, कहा कि 'धर्मशाला में बीमारों के लिये जगह नहीं, हैजे के छूत की शंका है।'

सवेरे चार-पाँच बजे का समय हो गया था, लड़का वहाँ मर गया। वह रोने लगी कि क्या करूँ? मारवाड़ देश में कोई मर जाता है तो औरतें सारी पीढ़ियों को रोती हैं। हाय अमुक का लड़का, हाय अमुक का पोता, अमुक का लाल, अमुक को रोशन; और बड़े स्वर से रोती हैं। ऐसे ही वह बेचारी अत्यंत दुःखी होकर रोने लगी। वह आवाज़ सेठ के कान में पड़ी। उसने सोचा कि 'यह मेरे गाँव की लगती है और नाम भी अपने आसपास का ले रही है, ज़रा देखूँ।' अब तक सेठ ने खिड़की बंद कर रखी थी कि कहीं हैजा न हो जाये, खिड़की खोली तो आवाज़ साफ आई। सुना 'वह तो मेरे दादा का नाम ले रही है।' बाहर जाकर उसने पूछा कि 'यह किस का लड़का है?' खुद मारवाड़ की औरतें पति का नाम नहीं लेतीं, उसने घूंघट और ज़रा नीचा कर लिया, सोचा कोई अपने गाँव का आदमी न देख ले। कहने लगी 'आप भी उधर के हो?' सेठ

ने कहा 'हाँ।' अब उसको ढाढस हुआ कि कोई जानकार तो मिला। कहने लगी इस लड़के का यह नाम है और इसका बाप रंगून वाला कहा जाता है, शायद आपने सुना हो। वह बेचारा धमक कर नीचे बैठा और कहा 'तू कहाँ।' उसने ऊपर नज़र करके देखा तो उसका पति ही था, बीस साल में चेहरा थोड़ा बदल गया था। अब वह सेठ धाड़ मारकर रोता है कि कहीं से डॉक्टर को बुलाकर मेरे बेटे को बचाओ। उसी ने रात को बारह बजे रुपये खर्च कर बाहर निकाला! लेकिन अब क्या हो सकता था। विचार करो, अपना ही पिता नहीं जानता है, इसलिये अपने ही पुत्र की मृत्यु का कारण बन जाता है। पास में है लेकिन जानता नहीं है, इसलिये कोई फल नहीं पा सकता। उसने उसकी अंत्येष्टि क्रिया करने की तैयारी की।

इसी प्रकार से वह परमात्मा यद्यपि निरंतर हृदय में बैठा हुआ है लेकिन उसके साथ पहचान न होने के कारण हम उसको छोड़कर उल्टा और पैसे देकर उसे दबाते हैं। कभी-कभी कोई बात परमात्मा के विषय में याद आ जाये तो उसे दबाते हैं कि चलो, ज़रा बाइस्कोप चलें ताकि दिल बहल जाये। कभी श्मशान में याद आये तो मृत्यु को भूलना चाहते हैं। किसी को याद दिलाओ तो उल्टा कहता है कि 'मरना तो है ही, अब इसकी चिंता कहाँ तक करें।' इन सब चीज़ों को मनुष्य भूलना चाहता है कि कहीं परमात्मा की तरफ दृष्टि न हो जाये। इससे डरता रहता है। बच्चा सत्संग में जाने लगे तो लोग रुकावट डालते हैं। कुसंग में जाये तो कोई कुछ नहीं कहता। लड़का बाइस्कोप में जाये तो कोई नहीं कहता कि क्यों जाता है, कहते हैं आजकल के लड़के ऐसे हैं। और सत्संग में जाये तो हज़ार रुकावटें डालते हैं : माँ को कहते हैं कि 'तू लड़के को साधु बनाकर छोड़ेगी।' वहाँ नहीं कहते कि अपने लड़के-लड़कियों को बाइस्कोप की नटियाँ बनाकर छोड़ेगी। बाइस्कोप में लड़की वेश्या नहीं बनेगी लेकिन सत्संग में जाकर ज़रूर बिगड़ेगी यह तुम्हारा खुद का निश्चय है, बुरा नहीं मानना। क्या कारण है? जितने प्रेम से धन खर्च करके उन स्थानों में ले जाते हो, क्या उसका एक चौथाई भी तुम्हारा प्रेम उन्हें सन्मार्ग में लाने का है? उल्टा, यदि सन्मार्ग में लग जाये तो रुकावटें डालते हो। चाहे अपनी पत्नी बच्चा कोई भी हो। यहाँ तक कि कोई पड़ोसी भी सत्संग में जाने लगे तो भी तुम्हें सहन नहीं होता। बाहर के आदमियों की बात नहीं करते हैं, स्वयं सत्संग में आने वाले लोग भी कहेंगे कि हर काम सीमा में करना चाहिये। वह सीमा कहाँ तक है, इसका पता नहीं है। क्या कारण है? इसी को 'आत्मा की चोरी' कहते हैं।

वेदांती कहता है कि एक-एक पाप को अलग-अलग करके कहाँ तक ढूँढते रहेंगे। जैसे कोई आदमी कमज़ोर होता जाता है। जानकार तो बात पकड़ लेता है कि इसके पेट में रस बनाने की शक्ति नहीं है। पेट में रस बनाने की शक्ति आ जायेगी तो यह ठीक हो जायेगा। इस प्रकार का इलाज वैद्य, आयुर्वेद-शास्त्री करेगा। डॉक्टर के पास जाकर कहोगे कि सिर दर्द है तो वह नावलजिन लेने को कह देगा। पतली टट्टियाँ लग रही हैं तो फ्लैजिल ले लो; खाया हुआ हजम

नहीं होता है तो युनिएन्जाईम ले लो। पूछो, रोग क्या है? कहता है 'यह बात जाने दो।' इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कष्टों के लिये भिन्न-भिन्न दवाइयाँ लोग देते रहते हैं। वेदांत शास्त्र कहता है कि मूल रोग का निदान करो। सारे रोगों का कारण यह आत्मा की चोरी है। हृदय में रहने वाले परमात्मा को तुमने नहीं जाना, इसलिये यही दुःख का कारण है। कोई विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न जब सुनता है कि परमात्मा है तो उसे विश्वास होता है कि 'शायद हो, अभी तक तो नहीं मिला'। फिर जब उसे ठिकाना पता लगता है तब भी सोचता है कि हो सकता है कि मेरे ऑफिस में हो, मैंने नहीं जाना हो, जैसे सेठ के पास रहने पर भी उसने पुत्र को नहीं पहचाना। 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धा' श्रुति कहती है कि इसे बताने वाला एक आश्चर्य है, वैसे ही इसको पकड़ने वाला भी एक आश्चर्य है। इतनी बड़ी श्रद्धा जिसमें हो कि 'मैं ग़लती खा सकता हूँ पर शास्त्र ग़लती नहीं कर सकता, इस अंतःकरण में जन्मभर और अनादि काल से रहकर भी हो सकता है वहाँ परमात्मा हो और मुझे नज़र न आया हो;' वह कहता है कि 'मैं वहाँ चलता हूँ।'

गुरु तुमको परमात्म-दर्शन के लिये बद्रीनारायण नहीं ले जाता, वैकुण्ठ लोक में नहीं ले जाता। गुरु अंगुली पकड़कर तुम्हारी पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, अंतःकरण (मन, बुद्धि आदि) सबको स्थिर करता है। न्यूयॉर्क में भारतीय को दिखाने के लिये मित्र तुम्हें तुम्हारे कार्यालय तक लाता है। तुम देखते हो कि जगह वही है, पहचानी हुई है, दूसरी नहीं है। वह कहता है 'इसके अन्दर चलो।' वही दीवाल है, उस दीवाल को तुम पहचान रहे हो कहते हो 'यही मेरे बैठने की जगह है।' वह कहता है  'बस, इसीलिये तुमने उसे नहीं देखा, क्योंकि इस दीवाल की तरफ पीठ करके बैठते हो। आज ज़रा घूम कर चलो। उसी दीवाल के पीछे दूसरा हिन्दुस्तानी बैठा है लेकिन तुम्हारी पीठ उधर रहने से तुम्हें नहीं दीखा।' दीवाल के उस पार वह था। जब तक दीवाल के दूसरी ओर न जाओ, दीवाल न हटाओ, तब तक वह नज़र नहीं आयेगा, है वहीं। इसी प्रकार तुम अहं को लेकर सारे व्यवहार करते हो। जब तक अहं की दीवाल नहीं तोड़ो तब तक वह नज़र नहीं आता। कहते हो  गज़ब हो गया, यही तो हमारे यहाँ के मालिक हैं, इन्होंने ही हमको नौकर रख छोड़ा था और सारे अधिकार हमको दे रखे थे। इसीलिये आगे पता ही नहीं लगाया कि यह रहते कहाँ हैं। ऐसे ही जब पता लगता है कि अहं को ताकत देने वाला, अहं को इस काम में लगाने वाला वह आत्मतत्त्व है, उसी के पीछे सारा अहं काम करता है लेकिन अहं को ऐसा अधिकार दे रखा है कि यह भूल गया कि किसकी ताकत से अधिकार मिला है! वही दीवाल बन गई है, और कुछ नहीं। जैसे ही अहंकार का नाश होता है। अहं हटता है तो पता लगता है कि यही तो परमात्मा है, इसी की शक्ति से तो सब होता रहा है। 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्। यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।' इसी के कारण तो अहंकार प्राण को, मन को चला पाता था, इसी की शक्ति से अहंकार सब कुछ कर पाता था। हमारा असली मालिक तो यह आत्मा ही है। जिस अहं को हम अब तक आत्मा (मालिक) समझते रहे

थे, वह अहं आत्मा नहीं है, वह तो दूसरे से ताकत पाये हुए मालिक जैसा है। लेकिन परमात्मा जीव से इतना अधिक प्रेम करता है कि जब तक अहं से काम चलाते रहो तब तक वह उसके काम को बीच में नहीं रोकता और इसलिये अहं भूल जाता है कि मैं किसके परतंत्र हूँ, बल्कि समझने लगता है कि मैं ही मालिक हूँ। सांसारिक लोग अपनी सत्ता को प्रकट करते हैं, लेकिन सत्ता प्रकट करने का तरीका क्या होता है? कानपुर में रेलवे वालों ने एक पुल बनाया है जो मोटरों के जाने का है, नीचे से रेल जाती है। साल में एक दिन रेलवे वाले उसे बन्द कर देते हैं। एक बार हमने पूछा कि क्या पुल खराब हो गया है? तो पता लगा नहीं, बल्कि रेलवे वाले यह सिद्ध करने के लिये बन्द करते हैं कि वह पुल उनका है! नहीं तो यदि बिना किसी रुकावट के तीन साल तक उसपर आना जाना बना रहे तो वह जनता का हो जायेगा, तब वह सार्वजनिक स्थान हो जायेगा, रेलवे वालों की मिल्कियत ख़त्म हो जायेगी। इसलिये एक दिन बन्द रखते हैं। इसी प्रकार जहाँ की जनता बीच-बीच में अपनी सत्ता के बल पर राजा को अपदस्थ कर दे वहाँ जनता का राज्य रह पाता है, नहीं तो जब तक जनता एक ही राजा को मानती रहे, जैसे भारत में होता है, फिर वहाँ के राजा में जनसेवा की भावना आती ही नहीं, उल्टा उसकी जनता का अधिकार ख़त्म हो जाता है। कई बार लोग कहते हैं कि यदि कोई दूसरा योग्य न हो तो क्या करें? हम कहते हैं कि योग्य न भी हो तो भी अधिकार जताने के लिये बीच में बदला तो करो, नहीं तो तुम्हारा बल नहीं रहना है। चूंकि परमात्मा ने हमारी अहंता को कभी बदला नहीं, इसलिये अब हमीं ने परमात्मा से यह धोखा कर रखा है, उसे भूल गये हैं। यदि परमात्मा बीच-बीच में अहं में रुकावट डालता तो यह भ्रम नहीं होता। अहंता बीच में दीवाल खड़ी हुई है और जहाँ यह दीवाल टूटी वहाँ पराभक्ति की प्राप्ति हो गई, अब अपरा भक्ति नहीं रही। इस पराभक्ति के स्वरूप पर आगे फिर विचार करेंगे।

## प्रवचन-५१

६-५-७२

किस प्रकार से अपराभक्ति के द्वारा आगे बढ़ते हुए परब्रह्म-महिषी की पराभक्ति प्राप्त करते हैं, इसे बताने के लिये 'भजन्ति' और 'धन्याः' के बीच में 'त्वां' पद दिया। पहले भी संकेत किया था कि पराभक्ति में यह चैतन्यरूपिणी अहं से अभिन्न होकर अहमात्मिका हो जाती है। पराभक्ति में उसका अहं से अभिन्न होकर ज्ञान है, इसलिये वहाँ भक्ति आत्मरूप से है। जब तक भक्ति में दृढता नहीं आती तब तक वह परब्रह्म-महिषी अपने से दूर 'वह'-रूप से है। मध्य का भाग 'तुम'-रूप से बताया था। 'भजन्ति'-यह भक्ति का प्रथम रूप है, जब तक कि भक्ति की दृढता नहीं आई। 'त्वां' पद के द्वारा उस मध्य भाग को बताया जहाँ वह नज़दीक हुई है, अहं की दीवाल हल्की पड़ जाने से दीखती तो है अर्थात् अहं की दीवाल हल्की हो जाने से भगवती के दर्शन होते हैं। इसलिये त्वां, तुझे कहा अर्थात् वह सामने है। दीवाल टूटी नहीं है। कल दृष्टांत में बताया कि उसी कमरे में दीवाल है। इसलिये अब तक भगवती 'मैं' तो नहीं बन पाई है, लेकिन दीवाल की जगह केवल पर्दा रह गया है इसलिये वह 'तां' (वह) भी नहीं है। अब केवल जैसे दीवाल की जगह पर यदि पर्दा होता है तो अंदर वाले व्यक्ति की छाया रहती भी है, वह पूरी तरह से दीखता भी नहीं और सर्वथा नहीं दीखता  ऐसा भी नहीं। छाया पड़ती है अर्थात् थोड़ा दीख भी रहा है। बड़ा पतला, झीना पर्दा हो तो चहरा भी दीख जाता है। बिलकुल नहीं दीखता ऐसा भी नहीं और सर्वथा अपने से अभिन्न होकर साक्षात् अपरोक्ष हो गया, ऐसा भी नहीं। यहाँ अपराभक्ति के स्वरूप को 'त्वां' से कहा।

इस काल में भक्ति का रूप कैसा होता है जो अंत में अपरोक्ष अनुभव को ला देता है, इसको इसी सौन्दर्यलहरी के अगले श्लोकों में बतायेंगे। भक्ति का लक्षण करते हुए वहाँ कहेंगे कि यह जीव इसके अन्दर निमग्न, डूब जायेगा। जीव का लक्षण करते हुए उसका स्वरूप बताया कि करण (इन्द्रियाँ) इसके चरण हैं। गीता में भगवान् ने छह इन्द्रियाँ बताई 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन। भौंरे के भी छह चरण होते हैं। भगवती के चरणों में वह कैसा निमग्न होता है? भगवान् भाष्यकार कहते हैं (सौ. ल. श्लो. ६०)

'ददाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमाशानुसदृशीं
अमन्दं सौन्दर्यं प्रकरमकरंदं विकिरति।
तवास्मिन् मन्दारस्तबकसुभगे यातु चरणे
निमज्जन् मज्जीवः करणचरणः षट्चरणताम्।।'

भगवती का कैसा रूप त्वां-में प्रकट होता है, यह यहाँ बताया। 'ददाने दीनेभ्यः' दीन पुरुष

को देने में भगवती के चरण सदा तैयार हैं। क्या देने में? 'श्रियमनिशम् आशानुसदृशीम्' दीन को बिना किसी रुकावट के निरंतर श्री अर्थात् लक्ष्मी (ऐश्वर्य) देते हैं। कितनी श्री देते हैं? आशानुसदृशीम्  जैसी आशा है वैसी ही देते हैं। उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरी भगवती के स्वरूप को नज़दीक से देखते हैं तो पता लगता है कि वह आशा के अनुसार ही देती हैं। लेकिन किसको देती हैं? 'दीनेभ्यः' अर्थात् जो दीन होते हैं उनको देती हैं। दीन का मतलब क्या? दीन का साधारणतः मतलब यह होता है कि जिसके पास नहीं है। साधारण आदमी उसी को दीन समझता है जिसके पास नहीं है। जिसके पास नहीं है, उसको यदि भगवती देंगी और आशा के अनुसार देंगी तो केवल एक बार दे सकेंगी! जिसके पास धन नहीं है, उसने एक बार लाख रुपया माँग लिया और मिल गया तो उसकी दीनता हट गई और जब वह दीन नहीं रहा तब फिर दूसरी बार कैसे माँगेगा? इसलिये जिसके पास नहीं है, वह यहाँ दीन नहीं कहा गया है। फिर दीन का मतलब क्या है? जिसके अन्दर अहंता नहीं है, वह दीन है। पदार्थ के होने न होने से दीनता नहीं हुई करती है। पदार्थ के ऊपर अपना स्वत्व होने, न होने से दीनता होती है।

यहाँ थोड़ी-सी विचार की बात बतायेंगे। साधारण मनुष्य समझता है कि पदार्थों से दीनता हटती है। विवेकी जानता है कि पदार्थों से दीनता बढ़ती है। जिस व्यक्ति के हाथ में ताड़ का एक पंखा है, वह गर्मी में जब चाहे तब अपने हाथ से पंखा हिला लेता है। लेकिन जिसके पास बिजली का पंखा है, वह जब चाहे तब नहीं हिला सकता। पंखे का आर्मेचर खराब हो गया तो जब बिजली का मिस्त्री आयेगा, तब पंखा हिलेगा। अगर बाँस लगाकर गोल-गोल घुमाओ तो हवा ही नहीं आती है। इसलिये बिजली के मिस्त्री की दीनता हुई। वह कहता है कि 'घण्टे भर बाद आऊँगा।' तुम कहते हो  'भैया आ जा।' गजब हो गया! मिस्त्री के आगे दीनता दिखा रहे हो। कारण यह है कि पदार्थ ज़्यादा है। केवल आर्मेचर की खराबी से ही नहीं, यदि बिजली-कम्पनी भी बिजली बन्द कर दे तो उसकी दीनता। कोई सज्जन हमारे पास आये थे। उन लोगों का आइस्क्रीम का काम है। कहते हैं कि हमारी तरफ आजकल सरकार बिजली बन्द कर देती है, बड़ी मुश्किल होती है। हमने कहा  कोई बात नहीं आइस्क्रीम कम बन जायेगी। कहने लगे  इतना ही नहीं, बनी हुई भी पिघल जायेगी। जिस अल्मारी में आइस्क्रीम रखते हैं, वह भी बिजली से चलती है, इसलिये बनी हुई भी पिघल जाती है। उन्होंने ही बताया कि उस क्षेत्र का जो बिजली का इंजीनियर होता है, उसे पाँच-सात सौ रुपया महीना बाँधना पड़ता है। हमने कहा यह दूसरी दीनता है, पहली दीनता आर्मेचर खराब होने पर बिजली के मिस्त्री की, केवल उसी की दीनता से काम नहीं चलता, फिर दूसरे से भी दीनता करनी पड़ती है। यह दीनता पदार्थों से बढ़ी। अब, यदि कहीं एयरकण्डिशनर लगा लिया तो, या एयरकण्डिशन्ड रेल में जा रहे हैं तोः एक इंजीनियर साहब बता रहे थे कि डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद  को एयरकण्डिशनर अनुकूल नहीं आता था क्योंकि पुराने ढंग के आदमी थे, उन्हें ताज़ी हवा चाहिये थी। जब कभी प्रैज़िडेण्ट्स

कैबिन में बैठकर जायें तो कहें कि खिड़की खोल दो। एयरकण्डिशंड कोच की खिड़की खुलती नहीं है। हम कहें कि नहीं खुलती तो कहते थे कि 'हमारा आसन नौकरों वाले कम्पार्टमेण्ट में लगा दो, यहाँ नहीं बैठेंगे, ताज़ी हवा नहीं मिलती।' वातानुकूलन यंत्र रखा तो भगवान् की दी हुई हवा भी नहीं ले सकते! दीनता और बढ़ गई। जितने-जितने पदार्थ बढ़ते हैं, उतनी-उतनी दीनता बढ़ती है, घटती नहीं है। जो आदमी तीन सौ रुपया महीना कमाता है। वह मज़े से इन्कमटैक्स ऑफिसर को गाली देता है, वह उसका क्या कर लेगा! और जो लाख रुपया महीना कमाता है, वह बेचारा उस इन्कमटैक्स ऑफिसर के सामने गिड़गिड़ाता है, दीन बना रहता है क्योंकि पदार्थ (धन) बढ़ गया। क्या कारण है कि परमहंस संन्यासी किसी के सामने कभी दीन नहीं बनता? राजा को कुछ नहीं समझता। राजा उसका करेगा क्या! एक कहावत है 'नंगा खुदा से चंगा'। परमहंस ने तो अपने पाँचों कोश उतार रखे हैं। वह राजा से कहता है कि 'तू मेरा क्या करेगा, अरे! मेरे शरीर को काटेगा, तलेगा; वह शरीर का काटना-तलना तो मैं पहले ही कर चुका हूँ। शरीर को मैं कुछ समझता ही नहीं। तू भूखा-प्यासा मारेगा तो मैं प्राणमय कोश को पहले ही छोड़ चुका हूँ। मनोमय कोश को मैंने पहले ही निवृत्त कर लिया है। जितनी चीज़ों को पकड़कर तू दुःख दे सकता है, उनको तो मैं पहले ख़त्म कर चुका हूँ, अब बोल तू मेरा क्या करेगा?' पाँचों कोशों को जिसने उतार दिया, वही असल में नंगा है। वही खुदा से चंगा है। ईश्वर भी उससे डरता है कि मैंने ग़लती की तो यह छोड़ने वाला नहीं है। वह ईश्वर को भी नहीं छोड़ेगा! वह कहेगा 'ठीक है, तू आभास है तो बना रह आभास, मेरा क्या करेगा।' मनुष्य समझता है कि दीनता पदार्थों से घटती है लेकिन पदार्थों से दीनता बढ़ती है।

इसलिये असल में दीन वह है जिसके पास पदार्थ हैं। अब वह दीनता से छूटना चाहता है अर्थात् चाहता है कि पदार्थ मेरे से दूर हो जायें, लेकिन कर नहीं पाता। चहता है कि मेरे मन से यह वासना हट जाये, संस्कार हट जायें लेकिन नहीं हटा पाता। उनको भगवती आशानुसदृश दे देती हैं। यदि हम कर्म के अनुसार चाहें कि हमारे संस्कार, वासनायें नष्ट हो जायें तो उनके नष्ट होने की कोई आशा नहीं है। ज्ञानप्राप्ति सरल है; मनोनाश, वासनाक्षय कठिन है। तत्त्वज्ञान, मनोनाश, वासनाक्षय तीनों मिलकर उस परम आनंद को देने में समर्थ हैं। उसमें तत्त्वज्ञान की अपेक्षा भी मनोनाश और वासनाक्षय कठिन है। यह मनोनाश, वासनाक्षय भगवती आशा के अनुरूप देती हैं। लेकिन कब? जब सचमुच दीन बन जाओ। जब तुमको यह अनुभूति होने लग जाये कि इन पदार्थों से मैं छूटना चाहता हूँ। यह अनुभूति जब तक नहीं होती तब तक तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना पड़ता है। 'संसार मिथ्या है' इसका जितना अभ्यास करोगे, उतना उस पदार्थ से छूटने की इच्छा होगी। मोटी पहचान समझ लो कि जवान पुत्र के मरते समय यदि हृदय प्रसन्नता से खिल उठे कि एक झंझट मिटी, तब तो समझो कि संसार के मिथ्यात्व का निश्चय है। यदि जवान लड़के के मरने पर 'हाय! क्यों मरा, चलो, भगवान् की इच्छा' तो दीन

बनने का अभ्यास है। अभी दीन बने नहीं हो, लेकिन कसक के साथ संतोष हुआ। इसका मतलब है कि दीन बनना चाहते हो। और यदि हो कि 'हाय क्यों मर गया, यदि अच्छे डाक्टर के पास ले जाते तो शायद बच जाता', तो अभी दीन नहीं बने, बनने की इच्छा भी नहीं है। जिस प्रकार साधारण पुरुष पदार्थ के आने से प्रसन्न होता है वैसे ही दीन पुरुष पदार्थ के जाने से प्रसन्न होता है। यही वास्तविक श्री है कि पदार्थ नहीं है।

सच्चा ऐश्वर्य पदार्थ का अभाव (न होना) है। लेकिन कैसा अभाव? यह नहीं कि पदार्थ केवल भौतिक रूप से न हो और कल्पना के रूप में भरा हो। बहुत-से आदमियों के पास बाहर पदार्थ नहीं है लेकिन मन के अन्दर पदार्थ भरा हुआ है। इसलिये पदार्थ वाले को अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ समझते हैं। कभी ध्यान देकर देखो तो पता चलेगा कि कुछ धनी लोग ऐसे होते हैं जो विद्वान् को सचमुच मूर्ख समझते हैं। हम ऐसे धनियों को जानते हैं। अच्छा से अच्छा विद्वान् उनके पास चला जाये तो वे पहले यह तौलते हैं कि इसकी आमदनी कितनी है और वह चाहे जितना बड़ा विद्वान् हो, यदि देखते हैं कि आमदनी कुछ नहीं है, तो सोचते हैं कि फालतू है। भारतवर्ष में अधिकतर लोगों की यही स्थिति है। क्या कारण है कि भारत के जितने विद्वान् हैं, चाहे वे विज्ञान के क्षेत्र में हो अथवा कला के क्षेत्र में, यहाँ से बाहर जाते हैं? क्योंकि दूसरे देश विद्या की कीमत समझते हैं, हम नहीं समझते। कहने को हम लोग सनातन धर्म, वैदिक धर्म को मानते हैं लेकिन हृदय से हम सर्वथा उसके विरोधी हैं क्योंकि वैदिक धर्म में सबसे ज़्यादा इज़्ज़त ब्राह्मण की है और आज के जन-जीवन में सबसे ज़्यादा निकृष्ट ब्राह्मण है। उच्च वह है जिसके पास धन है। लोग बैठकर बातें करते हैं तो कहते हैं कि हाई सोसाइटी में ऐसा होता है। वे शराबी, कबाबी, नंगी औरतों का नाच देखने वालों को हाई सोसाइटी समझते हैं। यहाँ तक कि वे लोग अपने पेट को कब्रिस्तान बनाते रहते हैं। जहाँ मुर्दे को डाला जाये, वही कब्रिस्तान है। ऐसे ही वे लोग बकरे, मुर्गे आदि का मुर्दा अपने पेट में डालकर उसे कब्रिस्तान बनाते रहते हैं और लोग उन्हें श्रेष्ठ मानते हैं! एक बार हम कहीं जा रहे थे, हमारे साथ एक अच्छे सत्संगी सज्जन थे। किसी बात में कहने लगे कि 'एडवांस्ड' लोग ऐसा करते हैं। हमने कहा कि तुम भी उन्हें एडवांस्ड मानने लगे? गजब हो गया! तुम तो कम-से-कम उन्हें पिछड़ी हुई जाति का मानो। हमारे यहाँ कोल, भील आदि शराब पीते थे, शराब पीकर मांस खाते थे, थोड़ा-सा कपड़ा पहनते थे, नंगे रहते थे, यही पिछड़ी हुई जाति का लक्षण है, आगे बढ़ी हुई जाति का लक्षण यह नहीं है। फिर भी लोग क्यों उन्हें आगे बढ़ी हुई जाति का और कोल, भील आदि को पिछड़ी हुई जाति का मानते हैं? क्योंकि उनका तापमापक यंत्र कहता है कि (संथाल कोल, भील आदि) इसलिये पिछड़े हैं कि उनके पास धन नहीं है और वे लोग यद्यपि कर्म संथालों के करते हैं लेकिन पास में धन है, इसलिये आगे बढ़े हुए हैं, श्रेष्ठ हैं। भारतवर्ष में हम लोग जिस वैदिक धर्म को मानने वाले ब्राह्मण को श्रेष्ठ मानते थे, आज वही ब्राह्मण सबसे निकृष्ट है। कहते ज़रूर हैं कि

ब्राह्मण श्रेष्ठ है लेकिन हृदय से पूछो, कोई अपने लड़के को ब्राह्मण बनाने को तैयार है?

हमसे पूछते हैं कि ब्राह्मण श्रेष्ठ क्यों है, हम लोग अच्छे कर्म करें तो ब्राह्मण नहीं बन सकते? आज से पच्चीस साल पहले हम लोगों को कुछ और जवाब देते थे, आज जवाब देते हैं कि बन सकते हैं! अपने लड़के को हमारे पास भेज दो, हम उसे पूजा-पाठ करना सिखायेंगे और भीख माँगकर खायेगा। कहते हैं 'यह नहीं, ब्राह्मण का काम किये बिना हमें ब्राह्मण मानो'। बात करते समय कहेंगे कि कर्म से जाति मानो लेकिन उनसे आगे पूछो कि तुम अपने लड़के से कर्म कराने को तैयार हो? तो कहने लगते हैं कि आजकल के ब्राह्मण ऐसा नहीं करते। ज़रा विचार करो कि किसी आदमी ने सौ पीढ़ी तक ब्राह्मण का काम किया है और पहली पीढ़ी में बिगड़ा है। तुम्हारी हर पीढ़ी में तुम धन ही कमाते रहे हो तो उसका कुछ असर रहेगा ही। हम लोग चूंकि धन के आधार पर निर्णय करते हैं, इसलिये श्री का अर्थ भी हम लोगों ने धन मान लिया है। लेकिन यदि हमारी प्राचीन श्री का प्रयोग देखो तो हमारे यहाँ ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों को तो १०८ श्री (अष्टोत्तरशत श्री) लिखने का विधान है। उसकी अपेक्षा जो गुरु (कुलगुरु इत्यादि) होते हैं उन्हें १०६ श्री लिखा जाता है। राजा को १०५ श्री और मंत्री को १०३ श्री लिखा जाता है। कभी सोचा कि इसका कारण क्या है? एक विशिष्ट कारण है। कम से कम इतना तो पता होगा कि नेपाल में राजा को पाँच-सरकार कहते हैं। पाँच का अर्थ श्री १०५ होता है, सौ को भूल गये। तीन सरकार राणा होता था। फ़र्क यह था कि राजा धर्म के लिये, गौ ब्राह्मण इत्यादि के लिये अपने प्राण देने को तैयार रहता था, इसलिये उसे श्री १०५ कहते थे। लेकिन जब गौ, ब्राह्मण पर आपत्ति आये तब वेद मार्ग को जानने वाले कुलगुरु सब पदार्थों के त्याग में तत्पर रहते थे, इसलिये राजा की अपेक्षा उनकी श्री ज़्यादा, १०६ श्री होती थी। जो प्रतिक्षण का अपने जीवन में काम, क्रोध आदि का परित्याग करने वाला होता था, उसके पास और अधिक श्री है, इसलिये वह १०८ श्री (ब्रह्मनिष्ठ गुरु) है। अर्थात् जिसके पास जितना पदार्थों का अभाव मन से होता था (बाहर से नहीं) वह उतना ही अधिक श्री वाला माना जाता था और आज जिसके पास पदार्थ ज़्यादा होते हैं लोग उसे श्रीमंत कहते हैं। वह काहे का श्रीमंत है! यदि बाहर का पदार्थ पास में हो भी तो ऋग्वेद ने एक बड़ी विचित्र बात कही है 'श्रीश्च ते ह्रीश्च' यदि पास में पदार्थ हो तो उससे ह्री (लज्जा) आनी चाहिये। वैदिक धर्मानुयायी को शरम आती है कि यह पदार्थ न होता तो अच्छा था। जो वैदिक धर्म को मानने वाला नहीं है उसे पदार्थ से शरम नहीं आती उल्टा अभिमान आता है। श्री को ह्री के साथ लेना है। लज्जा का मतलब मन से उस पदार्थ से अपने को गौरवान्वित न समझना है। इसलिये जो इस दीन भाव को प्राप्त किये हुए है, वह समझता है कि मैं कब इन पदार्थों से छूट जाऊँ, इनमें मन न रमे, इनकी वासना न रहे, तब वह भगवती कृपा करके उसके मनोनाश और वासनाक्षय को कर देती है। इसलिये वह उसमें अपने मन को डुबाता है। जब भगवती की कृपा होती है तब देरी नहीं लगती।

सोलहवीं शताब्दी में दो बड़े विद्वान् हुए हैं  आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र और पण्डितराज जगन्नाथ। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में अद्भुत थे, काव्य के क्षेत्र में दोनों की रचनायें हैं। यादवाभ्युदय, कुवलयानंद के लेखक आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र और रसगंगाधर के लेखक जगन्नाथ हैं। काव्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, दोनों की अद्भुत प्रतिभा थी, अप्पय दीक्षितेन्द्र केवल काव्य मीमांसक ही नहीं थे बल्कि मीमांसा, न्याय, वेदांत आदि इन सबमें भी उनकी अप्रतिहत गति थी। इसलिये वे सर्वतंत्रस्वतंत्र कहे जाते हैं। सारे शास्त्रों में एक-जैसा अधिकार रखने वाला उनके जैसा कोई दूसरा विद्वान् नहीं। परिमल उनका वेदांत पर प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आजकल उसे पढ़ने वाले ही कम हैं तो पढ़ाने वाले कहाँ से हों! लेकिन आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे परमेश्वर भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे। भगवान् शंकर के भक्त होने के कारण वस्तुतः उस दीन भाव को प्राप्त हो गये थे जहाँ श्री की कोई कीमत नहीं थी। पंडितराज यद्यपि साहित्य के विद्वान् थे लेकिन भोगपरायण थे, दीनभाव को प्राप्य किये हुए नहीं थे। इसीलिये उन्होंने एक मुसलमानिन से शादी कर ली। लेकिन वह साधारण मुसलमानिन नहीं थी, जहांगीर की लड़की थी और जहांगीर ने ही उन्हें पंडितराज का खिताब और खूब धन दिया था। काशी में रहते थे। इतने बड़े पंडित थे कि किसी की हिम्मत नहीं होती थी कि उनसे कुछ कहे-सुने। विपुल ऐश्वर्य था, बादशाह के दामाद थे और विद्वत्ता भी खूब थी। इसलिये काशी का पंडित- समुदाय उनकी विद्वत्ता और धन से तो डरता ही था और इससे भी डरता था कि बादशाह के दामाद हैं, न जाने कब किसको मरवा दें। आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र ने उनके कई विचारों का खण्डन लिखा है।

एक बार आचार्य घूमते हुए काशी पहुँचे। वे सिद्धांतकौमुदीकार भट्टो जी दीक्षित के गुरु थे। उन्होंने ही उन्हें काशी आने का निमंत्रण दिया था। पहले तो उनके मन में आया कि काशी जाकर क्या करेंगे। एक दिन ध्यान करने बैठे तो भगवान् शंकर ने उन्हें प्रेरणा दी कि तुम्हारा काशी जाना ज़रूरी है। वह इसलिये कि जगन्नाथ को श्रेष्ठ मानकर दूसरे पण्डितों में भी एक अनिष्ट प्रवृत्ति न आ जाये। आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र इसलिये काशी में आ गये। आत्मज्ञानी की विशेषता होती है कि बिना भगवत्-प्रेरणा के वह कभी कुछ नहीं करता। बाहर से वह करता दीखता है लेकिन अंदर से उसमें नित्य अकर्ता-अभोक्तापना है। ऐसा नहीं कि कामना अपने मन से कर ली और बाद में कहा कि 'मैं तो अकर्त्ता हूँ, भगवान् की प्रेरणा से हो गया'। काम के पहले भगवान् की आज्ञा लेनी पड़ती है, यदि उसकी स्पष्ट आज्ञा है तो करता है, नहीं तो नहीं करता। भगवान् भाष्यकार ने यह आदर्श हम लोगों के सामने स्पष्ट रखा। जीवन में उन्होंने तीन काम बड़े किये लेकिन तीनों ही किसी के कहने से किये। पहले जब वह काशी में केवल पढ़ाया करते थे, भगवान् वेदव्यास ने उनके साथ शास्त्रार्थ किया और उन्होंने ही आज्ञा दी कि अब ग्रंथों का प्रणयन करो। फिर सोलह वर्ष की उम्र में जब यह काम समाप्त हो गया, केवल चार वर्ष

में ही सारे ग्रंथ लिख लिये, तब समझा कि अब कार्य समाप्त हो गया। फिर उनके दादा गुरु भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा कि अब सब जगह जाकर इस धर्म का प्रचार करो। नहीं तो सोलह वर्ष की उम्र में शरीर छोड़ने को तैयार थे। स्पष्ट रूप से प्रेरणा मिलने पर कार्य करते हैं।

आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र वहाँ से चलकर काशी पहुँचे। प्रातःकाल ही गंगा जी में स्नान करने गये, काशी विश्वनाथ का दर्शन करना था। भगवान् शंकर के परम भक्त थे। रास्ते में पंडितराज जगन्नाथ का बड़ा भारी आलीशान महल था। गर्मी के दिन थे, इसलिये बाहर ही मसहरी तानकर सोये हुए थे, उधर से निकले तो पूछा कि 'काशी में ऐसे लोग भी हैं जो चार बजे तक सोते हैं, ऐसे लोग जीवित हैं?' भट्टो जी दीक्षित मुस्करा पड़े और कहा 'जी, यह पंडितराज हैं, कोई दूसरे हो तो टोक-टाक कर ठीक करें।' बड़ी चोट लगी। उसी समय ज़ोर से चिल्लाकर कहते हैं 'किं निश्शंकं शेषे शेषे वयसि समागतो मृत्युः' क्या तू निःशंक होकर सो रहा है, तेरे को कुछ शंका नहीं है! रात भर जो भोग करेगा, वह और क्या करेगा। दिल्ली वालों को तो यह चीज़ जँचेगी ही नहीं क्योंकि सबको बारह बजे सोकर आठ बजे उठना हुआ। कहते हैं, 'फर्क क्या पड़ता है, किसी समय उठना ही है' लेकिन यह आज से पाँच सौ साल पहले की बात है, जब तक केवल एक पंडितराज की हिम्मत थी कि चार बजे सोये पड़े थे। आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र कहते हैं कि तेरे चेहरे की तरफ देखता हूँ तो सोचता हूँ कि इसमें जवानी भी नहीं है। जवान होता और बेवकूफी करता तो कुछ बात थी लेकिन अंतिम समय में तेरा यह हाल है। अब मैं, तेरा काल आ गया। पंडितराज ने यह सुना तो आग लग गई कि मुझसे ऐसे कौन कह रहा है, यह कौन बोल रहा है? मसहरी से मुँह निकालकर नये चेहरे को देखा तो विचार किया कि यह तो कोई बड़ी हिम्मत वाला आ गया। कहने लगे 'मृत्यु आ गया, इसका क्या मतलब ?' आचार्य ने कहा कि यदि तू आगे कुछ करना चाहता है तो बचने का एक ही उपाय है। 'अथवा सुखं शयीथाः निकटे जागर्ति जाह्नवीपुरतः' तुम्हारे पास ही जो गंगा बह रही है, यह गंगा ही तेरा एक सहारा है। यह चाहे तुझे बचा ले लेकिन और कोई तेरे को बचाने वाला नहीं है। पंडितराज ने भट्टो जी से पूछा कि यह कौन नया पण्डित है? उन्होंने कहा 'यह गुरुजी आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र हैं।' तब जगन्नाथ ने कहा कि 'शास्त्र-विचार किया जाये।' आचार्य ने कहा कि 'पहले स्नान आदि करके भगवान् शंकर का दर्शन करूँगा, तब शास्त्रार्थ करूँगा'।

पंडित जगन्नाथ भी बड़ी हिम्मत वाले थे, कहने लगे 'ऐसा नहीं, कुछ विचार तो अभी कर लिया जाये'। आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र ने कहा कि 'अभी शास्त्रार्थ तो नहीं करूँगा लेकिन जिसकी शरण लेने को मैंने कहा है, उस गंगा की स्तुति करो तो विचार हो सकता है'। पंडित जगन्नाथ आशुकवि थे, विद्वत्ता में कोई कमी नहीं थी। उसी काल में उन्होंने गंगा-स्तोत्र बनाकर कहा। गंगा-स्तोत्र के जो आठ श्लोक उन्होंने बनाये, आचार्य ने स्तोत्र के एक-एक श्लोक में आठ-आठ गल्तियाँ निकालीं! पंडितराज ज़रा चौंके, कि यह क्या बात है। अप्पय दीक्षितेन्द्र ने

कहा कि 'यह ग़लती तेरी नहीं है, (उनके पास में लड़की लवंगी सोयी थी, उसकी ओर देखकर कहा) यह तेरे परिग्रह की ग़लती है'। संस्कृत में इकट्ठे किये हुए पदार्थों को और पत्नी को भी परिग्रह कहते हैं। 'इसने तेरी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है। जब तूने रसगंगाधर लिखा था तब तक तू इसके साथ नहीं था'। तब जाकर स्नान इत्यादि किया। पंडितराज ने कहा कि 'मेरे यहाँ भोजन करने आइयेगा'। उन्होंने कहा कि 'मैं तेरे यहाँ खाने नहीं आऊँगा। तू मेरे यहाँ आ जाना क्योंकि तेरा घर इन सब आचरणों के द्वारा अपवित्र हो गया है, तेरा घर आने लायक नहीं रहा। मैं भगवान् शंकर का भक्त हूँ, तेरे यहाँ कैसे आऊँगा?' पंडितराज मान गये और उनके यहाँ भोजन के लिये पहुँचे। आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र ने भगवान् को भोग लगाया था। वह भोग पंडितराज के सामने आया तो उन्होंने सोचा कि अब अच्छा मौका है। भर्तृहरि का एक श्लोक सुनाकर कहने लगे कि 'बड़े भक्त बनते हो, हमारे यहाँ खाने नहीं आये।

'विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनाः  
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।  
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवाः  
तेषाम् इन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।।'

यह भोजन जो परोसा है, इसमें भात में खूब घी डाला हुआ है। मेरा खाना तो अपवित्र है! विश्वामित्र पराशर इत्यादि केवल हवा खाते थे, और केवल जल पीकर रहते थे, कोई केवल पत्ते ही खाते थे। वे लोग भी मोह को प्राप्त हो गये। विश्वामित्र मेनका को देखकर, पराशर मत्स्यगंधा को देखकर मोह में पड़ गये। यहाँ बढ़िया चावल और उसमें भी घी पड़ हुआ है। साथ में मलाई डाला हुआ दूध का गिलास भी है। दही भी है।' हैं ये सब सात्त्विक भोजन लेकिन पंडितराज को तो छींटाकसी करनी थी कि ऋषि-महर्षि तो पत्ते खाकर भी इन्द्रिय-निग्रह नहीं कर पाये और तुम इसे खाकर इन्द्रिय-निग्रह कर पाओगे? यदि ऐसे मनुष्यों का इन्द्रिय-निग्रह हो जाये तो विंध्याचल समुद्र में तैरने लगेगा! आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र ने कहा कि 'मैं जो तुमसे पूछता हूँ, उसका जवाब दो। तू कहता है कि खाने से फ़र्क पड़ता है। यह तो सात्त्विक भोजन है और मैं तो तामसी भोजन की बात करता हूँ 'सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी संवत्सरेण कुरुते रतिमेकवारम्।' सिंह बड़ा बल वाला है। हाथी और सूअर को मारकर खाता है। ये अत्यंत तमोगुणी हैं, शेर उन्हें हजम कर जाता है, बल वाला भी है, लेकिन एक साल के अन्दर केवल एक बार ही सिंहनी से भोग करता है। दूसरी तरफ पारावत (कबूतर) बेचारा कंकड़-पत्थर और गेहूँ, चावल के कण खाता है, लेकिन प्रतिदिन और हमेशा कामी ही बना रहता है! इसमें क्या कारण है? यह बता।' जगन्नाथ चुप हो गये और पूछा फिर 'इसका कोई प्रायश्चित्त है?' उन्होंने कहा 'है'।

इस घटना के कुछ दिन पहले ही (१५७० में) जहांगीर ने कुल्लू के पास नग्गर नाम के बड़े भारी राज्य को जीतकर वहाँ गोकुशी करवाई थी क्योंकि वे लोग हिन्दुओं का यही अपमान करते थे कि हिन्दू-मन्दिरों में गौ कटवाते थे। इसलिये आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र ने पंडितराज जगन्नाथ से कहा कि 'तेरे लिये प्रायश्चित्त यही है कि तू मेरे साथ वहाँ चल और इस भयानक कांड के बारे में जहांगीर से कह कि यह काम ग़लत हुआ है और ऐसा काम नहीं करना चाहिये।' जगन्नाथ ने कहा कि 'बड़े आदमी हैं, बात नहीं सुनेंगे।' कहा 'फिर पंडितराज की उपाधि काहे को लेकर घूमता है? तू उसका पद लेकर उसे डाँटने लायक नहीं तो तू जीने लायक नहीं, मरा हुआ है।' पंडित जगन्नाथ को बड़ी चोट लगी और उसने उनकी दोनों बातें याद कर लीं। एक तो यह कि गंगा नदी तुम्हारे पास बह रही है इसलिये तेरा उद्धार हो सकता है और दूसरी कि तू कोई जीवित व्यक्ति नहीं है, घूमती-फिरती लाश है। तू इतना बड़ा पंडित, इतना बड़ा दुष्कर्म हो गया और तू कहता है कि कैसे कहूँगा, बुरा मान जायेंगे! असली भक्त के सम्बन्ध में आने से वास्तविक विद्वान् के चित्त में परिवर्तन आ जाता है, इसलिये पंडितराज ने निश्चय कर लिया कि अब वस्तुतः जीवित रहने का कोई प्रयोजन नहीं है। गंगालहरी का गान करते हुए गंगा की शरण ली! उसी में अपना शरीर छोड़ दिया। आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र पुनः दक्षिण भारत गये। वहाँ के राजा तिरुमल्लु के लोगों को साथ लेकर नग्गर राज्य में जाकर मन्दिर की स्थापना और कुल्लू में भगवान् शंकर की स्थापना की। उसके बाद वापिस लौटे तो जगन्नाथ की बात का पता लगा। तब तक वे वृद्ध भी हो चुके थे। चिदम्बर के रहने वाले थे, वहाँ से चिदम्बर पहुँचे। उस समय अपने अन्तिम समय में उन्होंने लिखा है कि मुझे स्पष्ट भगवान् के दर्शन हो रहे हैं 'चिदम्बरम् इदं पुरं प्रथितमेव पुण्य-स्थलं सुताश्च विनयोज्ज्वलाः सुकृतयश्च काश्चित् कृताः।।' कहते हैं 'मृत्यु को रोकने की कोई इच्छा नहीं है। यह चिदम्बर का प्रसिद्ध पुण्यस्थल है। मेरे पुत्र सारे विनयी हैं।' यह मनुष्य का आदर्श है 'विद्या ददाति विनयं' जिसको विद्या नहीं होती, वह कभी विनयी नहीं हुआ करता। लोग यह पूछते हैं कि 'तू क्या पास है?' विद्वान् यह नहीं पूछता, वह तो उसका चलना, उठना-बैठना देखता है और उसे पता चल जाता है कि यह विद्या वाला है या नहीं। एक बार श्रीप्रकाश ने कहा था (जो डॉ. भगवान् दास के लड़के थे) कि जब वे ऑक्सफोर्ड से पास हो गये तो घर से चिट्ठी आई कि जल्दी आ जाओ। तब तक प्रमाणपत्र नहीं मिला था। उन्होंने प्रिंसिपल से कहा तो प्रिंसिपल ने कहा कि 'प्रमाणपत्र का क्या करोगे? यदि यहाँ के पढ़े हुए व्यक्ति को एक फर्लांग से ही लोग न जान लें कि यह ऑक्सफोर्ड का पढ़ा है, तो फिर प्रमाणपत्र लेकर घूमने से क्या होगा?' इसी प्रकार हमसे कई बार लोग कहते हैं कि महाराज! अमुक जगह जाकर आश्रम में ठहरेंगे। ज़रा पत्र लिख दीजिये। लिखने को हम लिख देते हैं लेकिन हम उसे फेल कर देते हैं कि तुम किसी आश्रम में पहुँचो और कोई न पहचान पाये कि दिल्ली के संन्यास आश्रम के सत्संगी हो तो क्या फायदा। यह तो जीवन में झलकना

चाहिये। जिसको विद्या पढ़ाई है, वह उसके जीवन में झलकनी चाहिये। उनके अन्दर उज्ज्वल विनय हो।

दीक्षितेन्द्र कहते हैं, जीवन में आकर कुछ सुकृतियाँ भी कर ली हैं, कुछ अच्छे काम किये हैं। कुछ अच्छे काम हैं तीन हिन्दू राज्यों की स्थापना की। विजय नगर साम्राज्य समाप्त हो रहा था, इसलिये सदाशिव को वहाँ के राज्य का सारा काम करवाया। कुल्लू में हिन्दू राज्य की स्थापना की। आन्ध्र प्रदेश (बेल्लारी) में हिन्दूराज्य की स्थापना की। १०८ बार उनका कनकाभिषेक किया था। जहाँ-जहाँ शास्त्रार्थ में जीतते थे, सोने की अशर्फियों का अभिषेक किया जाता था और वह सारा स्वर्ण धर्म-विचार में, ब्राह्मणों को और वैदिकों को दे देते थे। अनेक मन्दिरों की स्थापना की और १०८ ग्रन्थ लिखे जो उपलब्ध हैं। वेदांत के ऊपर उनके अत्यंत प्रौढ ग्रन्थ हैं। सिद्धांतलेशसंग्रह में वेदांत के सिद्धान्तों को बताया। इसी प्रकार उनका परिमल ग्रन्थ है। यह सब करने के बाद कहते हैं कि 'कुछ थोड़े-बहुत अच्छे काम भी शरीर से हो गये हैं।'

'वयोस्ति मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा
न किंचिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्।'
आभाति हाटकसभानटपाद-पद्म
ज्योतिर्मयो मनसि मे तरुणारुणोयम्।।'

उम्र भी अब सत्तर से ऊपर हो गई है। (यह नहीं बताया कि कितनी ऊपर है।) जीवन में कभी दीनता आई ही नहीं कि यह पदार्थ मुझे प्राप्त हो। 'अब भोग गया' ऐसा नहीं कहा, बल्कि कभी किसी भोग के विषय में मन में ही नहीं आया कि यह पदार्थ मैं भोगूँ। अतः इस समय में भी कुछ दूसरी चीज़ माँगने की इच्छा होना सम्भव ही नहीं है। अब तो एक शिव-पद देखने की इच्छा है, और कुछ नहीं। उनकी प्रार्थना को सुनते ही भगवान् शंकर प्रकट हो गये। चिदम्बर के अन्दर नटराज की मूर्ति के सामने के मण्डप को हाटकसभा कहते हैं। किसी ज़माने में राजा ने वहाँ सोना चढ़ा रखा था। अभी भी खम्भों पर सोना बचा हुआ है। लेकिन उसका रूप कैसा दीख रहा है? 'ज्योतिर्मयो मनसि मे तरुणारुणोयं' केवल प्रकाशरूप ही है। उनके चरण-कमल केवल प्रकाश रूप से मुझको दीख रहे हैं जैसे तरुण अरुण (प्रातःकाल साढ़े चार-पौने पाँच बजे का उज्ज्वल प्रकाश) हो। इतना ही कह पाये कि मेरा यह अनुभव हो रहा है। उसके बाद उनका शरीर शांत हो गया। बाद में उनके लड़कों ने उस श्लोक को पूर्ण किया 'नूनं जरा मरणयोरपिशाचकीर्णा संसारमोहरजनी विरतिं प्रयाता' इतना कहने के बाद बुढ़ापा और मृत्यु रूपी दो पिशाचों के द्वारा संसार-रूपी मोह की रात्रि समाप्त हो गई अर्थात् उसी में वह लीन हो गये।

यह श्री है। दो बातें बताईं : पहली बात, जगन्नाथ जैसे व्यक्ति से बात करते हुए भी उन्होंने क्षणमात्र के लिये भी नहीं सोचा कि क्या कहें, क्या न कहें। इतना ही नहीं, जगन्नाथ जैसे व्यक्ति के जीवन को सर्वथा बदल दिया। कहाँ वह यवनी से ब्याह करके पड़ा था और कहाँ गंगा में अपना शरीर छोड़ दिया! इतना बड़ा परिवर्तन आ गया। दूसरे, महान् से महान् कार्य करने के बाद भी यह नहीं कि 'मैंने बड़े काम किये।' उनके जीवन का एक काम भी कोई कर ले तो समझता है कि न जाने क्या कर लिया! वहाँ ऐसा कुछ नहीं। परमात्मा में पूर्ण अवलम्ब होने के कारण जीवन के हर क्षण में, यहाँ तक कि मृत्यु के क्षण में भी भोग का नाम नहीं, अर्थात् न तब था और न अब है। न केवल परब्रह्म परमात्मा का ही उन्हें दर्शन होता है, जीवन के अंतिम क्षण तक यह स्थिति रहती है। इसी का नाम श्री है। रिजर्व बैंक के नोटों का नाम हमारे वैदिक धर्म में श्री नहीं है। जिनको तुम हाई सोसाइटी और एडवांस्ड लोग समझते हो, हम उन्हें जंगली पशु समझते हैं। उनमें उज्ज्वल विनय नहीं है। उज्ज्वल विनय देखने में आये तो समझो कि उच्च हैं। हम वैदिकों के हृदय से यह दुर्भावना हटानी पड़ेगी। उन्हें क्यों ऊँचा कहते हैं, क्यों उनके जैसा बनना चाहते हैं। क्यों हमारे मन में नहीं आता कि ये गरीब बेचारे कितने दुःखी हैं? इसका कारण यह है कि वेदांतनिष्ठा पूर्ण रूप से स्थिर नहीं है। नहीं तो वे गरीब और कष्ट वाले दिखाई देते। कभी किसी ने सोचा कि भारत में एक करोड़ व्यक्ति जो अच्छे खाते-पीते हैं, उनके दिमाग में निरंतर तनाव, निरंतर अशान्ति क्यों है? यह कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि अमरीका, जिसे तुम बहुत आगे बढ़ा हुआ कहते हो, वहाँ सौ में से नब्बे व्यक्ति किसी-न-किसी मानसिक रोग से ग्रस्त हैं। इसी को तुम 'बड़ा' समझते हो। यह तो पिछड़ी हुई जाति हुई। इन्हें अच्छी तरह से सुरक्षित रखना चाहिये। जैसे एक रोग में सिर के बाल उड़ जाते हैं तो उस काल में आदमी के नाखून काटने पड़ते हैं क्योंकि वह खाज करता है। कभी-कभी तो हाथों को पीछे की तरफ बाँध देना पड़ता है। नहीं तो रोग ठीक नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिन्हें तुम 'हाई' मानते हो, वे तो रोगी हैं, उनकी रक्षा करनी चाहिये जिससे वे अपने आप को नष्ट न कर लें। उन्हें उच्च मानोगे तो उनके रोग को अपने अन्दर संक्रांत कर लोगे। यह जो आशा के अनुरूप अपना ऐश्वर्य है, इसको भगवती प्रदान करती हैं।

# प्रवचन-५२

१०-५-७२

चिदानंदलहरी को 'त्वां' अर्थात् अपने अत्यंत सन्निहित अपरोक्षवत् (प्रत्यक्षवत्) जानकर जो भजन करते हैं, वे ही धन्य होते हैं। उसका भजनीय रूप कैसा है? इसको आगे स्वयं इसी ग्रंथ में बताया कि वह मनुष्य के समग्र अहंता के भावों को दूर करके उसमें त्याग का सम्पादन करता है। वस्तुतः त्याग ही वास्तविक श्री है। पदार्थ वास्तविक श्री नहीं हैं बल्कि पदार्थों के त्याग से आने वाला बल ही वास्तविक श्री है। अन्यत्र भी जहाँ श्रुति कहती है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' वहाँ बल का अर्थ यह नहीं कि पहलवानी करने वाले को आत्मा मिलती हो, वरन् अनात्मा का त्याग ही बल है। अनेक स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग है। बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है 'अथ बाल्येन तिष्ठासेत्' अनात्म-पदार्थों के त्याग से बड़ी पुष्टि आती है। माध्यंदिन संहिता की उपनिषद् भी कहती है कि अपना पालन-पोषण कैसे करो? 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'। लोग समझते हैं कि पदार्थों से पोषण होता है। लेकिन वेद का कहना है कि पदार्थों के त्याग से पुष्टि आती है। पदार्थ पुष्ट करने के बजाय हमको निर्बल बनाते हैं। जितने-जितने पदार्थ बढ़ेंगे, उतना-उतना आत्मबल कम होता जायेगा। अनात्मा की पराधीनता आत्म-स्वातंत्र्य को नष्ट करती है और आत्मा का बल अनात्मा को नष्ट करता है।

इसीलिये अनात्मवादी (जडवादी) लोग नित्य-निरंतर पदार्थ बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि पदार्थ बढ़े तो लोग हमारे वश में आ गये। कहने को वे कहते हैं कि हम तुम्हारी गरीबी हटायेंगे लेकिन उनका हृदय द्वेष से भरा हुआ है। वे चाहते हैं कि तुम्हारे आत्मबल को घटा दें। तुम्हें इतना पदार्थों के अधीन कर दें कि फिर तुम उनकी राज्य सत्ता से इधर-उधर हो ही न सको। इसलिये पहले पदार्थ दिया जाता है और फिर छीना जाता है, यह विचित्र पद्धति है। हमारे एक सज्जन कहा करते थे कि जो बड़ा बुद्धिमान् होता है वह सोचता है कि किसी दिन छोटा भाई अपना अधिकार माँगेगा तो पहले ही छोटे भाई को खर्च के लिये सौ रुपया और एक मोटर दे देता है। माँ-बाप भी समझते हैं कि इसका भाई से बड़ा प्रेम है, लोग भी कहते हैं कि यह भाई के साथ कितना अच्छा व्यवहार करता है। नतीजा यह होता है कि छोटा भाई भोग-परायण हो जाता है, घूमने-फिरने लग जाता है। बड़ा होकर काम करने योग्य नहीं रहता। अब वह क्या अपना अधिकार माँगेगा! अब यदि बड़ा भाई कहे कि 'सौ नहीं पचास दूँगा', तो वह काम करने लायक होता नहीं, क्या करेगा! इसी प्रकार कहा जाता है कि हम तुम्हारी गरीबी दूर करेंगे; पहले पदार्थ देंगे और फिर थोड़े दिन बाद वह पदार्थ वापिस लेंगे। कहेंगे कि अब दूसरे को देना है। यही नित्य-निरंतर चलता है। क्योंकि अधिकतर लोग जडवादी होते हैं, इसलिये इस चक्कर में पड़ जाते हैं। यदि छोटा भाई बुद्धिमान् हो तो हाथ जोड़कर कहेगा

'कमाऊँगा, तब लूँगा, भिखारी नहीं हूँ जो ऐसे ही सौ रुपया ले लूँ। कमाने की सामर्थ्य होगी तब भोग करूँगा'। जो अपने भाई का सच्चा प्रेमी होता है वह उसे भोग-परायण नहीं बनाता, वरन् उपदेश देता है कि 'खर्चा करना मत सीखो, दूसरों से माँगकर या छीन कर खर्च करना कोई अच्छी बात नहीं है। डटकर कमाई करना सीखो। धीरे-धीरे जैसे-जैसे तेरी कमाई बढ़े, वैसे-वैसे खर्च करना।' इसी प्रकार जो राजा प्रजा का हित चाहेगा वह यह नहीं कहेगा कि 'किसी दूसरे से छीनकर टुकड़े तुम्हें डाल देंगे, तुम उनके और भोगी बनकर हमारे वश में हो जाओ।' वे शिक्षा तो देंगे कि अपनी कमाई करो, दूसरे पर दृष्टि मत डालो। दूसरे से छीनने की कोशिश मत करो। भगवती हमें बल देती है। हमारे पास पाँच सौ रुपये हैं, हम तीन सौ का त्याग करते हैं और केवल दो सौ खर्च करते हैं तो यह हमारा बल है। दूसरी तरफ यदि पाँच सौ एक खर्च करते हैं तो एक का नुक्सान है जो हमें निर्बल बना रहा है। भगवती त्याग का बल देंगी।

यह त्याग का बल क्या करता है? 'अमन्दं सौन्दर्यं प्रकरमकरंदं विकिरति।' माणिक्य के मकरन्द (फूल का मीठा भाग, मधु) को भगवती फैलाती हैं। विचार करो कि सौन्दर्य का वर्द्धन किससे होता है? त्याग के द्वारा बल प्राप्त हुआ तो यह सारा विश्व सुन्दर हो जाता है। साधारण आदमी छोटी-मोटी सुन्दर चीज़ों को कमरे में लगा लेता है, बेचारा उसी से प्रसन्न हो जाता है। लेकिन विचार करो कि चारों तरफ असुन्दरता के साम्राज्य में दो-चार चित्रों से क्या होना है! भगवती तो सारे विश्व को ही सुन्दरता से भर देती हैं। सारा विश्व ही सुन्दर बन जाता है। वह सुन्दर भी कैसा? गुलाब की ही सुगन्धि इतनी अच्छी है कि यदि गुलाब के अंदर से केवल मकरंद निकाल लिया जाये तो उस रस की सुगन्धि कितनी ज़्यादा होगी! ऐसे ही यह सारा ब्रह्माण्ड सुन्दर है, इसके सौन्दर्य का मकरंद (सौन्दर्य रस, सर्वस्व) परमेश्वर को कहा है। क्या चीज़ है जो संसार को असुन्दर बनाती है और क्या कारण है कि भगवती की कृपा से संसार सुन्दर बन जाता है? यह संसार खराब नहीं है। अधिकतर लोग काँटों के डर से गुलाब से घबराने लगते हैं क्योंकि उनको पता नहीं कि काँटों में हाथ कहाँ लगाया जाता है। इसलिये गुलाब के फूल से डरते रहते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति उसी गुलाब के फूल को लेकर प्रसन्न होता है क्योंकि उसे पता है कि कैसे तोड़ना है। इसी प्रकार, बहुत से लोग पनस (कटहल) का साग काटने से डरते रहते हैं कि हाथ में चिपट जायेगा, इसी डर से लोग खाते नहीं। बहुत से लोग अनानास नहीं खाते क्योंकि उसमें काँटे होते हैं। लेकिन ये चीज़ें कितनी स्वादिष्ट हैं और गुलाब कितना सुगन्धित फूल है। बजाय सीखने के कि इसका प्रयोग कैसे करें, उसको असुन्दर मानकर भाग जाते हैं। कुछ लोग उसका स्वाद तो नहीं छोड़ते लेकिन हमेशा शिकायत करते रहते हैं कि भगवान् ने ऐसा क्यों बनाया? इसी प्रकार से संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं। एक कहते हैं कि संसार सर्वथा हेय है, इसको छोड़कर चले जाओ, काँटे हैं, हाथ से चिपकेंगे, दुःख देगा। दूसरे हैं जो इससे चिपटे रहते हैं, दुःखी होते रहते हैं और फिर कहते रहते हैं कि संसार बड़ी दुःख की जगह है। लेकिन बीच-बीच में

कुछ सुख भी आ जाता है इसलिये छोड़ नहीं पाते। कुछ काँटों के डर से बिलकुल छोड़ देते हैं और कुछ काँटों से पीडित होते रहते हैं लेकिन छोड़ते नहीं हैं।

भगवती की कृपा होने पर काँटों से बचकर, पनस के दूध से बचकर उसे खाने की पद्धति हाथ में आ जाती है। विचार करो कि संसार में कौन- सी चीज़ असुन्दर है। भगवान् शंकर स्कंदपुराण में कहते हैं कि पदार्थ दो हैं 'आत्मानात्मेति विप्रेन्द्रा द्विधा द्रव्यं व्यवस्थितम्' जितने भी संसार में द्रव्य हैं, केवल दो हैं, आत्मा और अनात्मा। नैयायिक १६ पदार्थ मानते हैं। वैशेषिक ७ पदार्थ मानते हैं, सांख्यावादी २४ और योगी २५ पदार्थ मानते हैं। वेदांती केवल दो ही पदार्थ मानता है आत्मा और अनात्मा। तीसरा कोई पदार्थ नहीं है। आगे विचार करो कि इन दोनों में कौन अशुद्ध और कौन असुन्दर है? 'आत्मद्रव्यं स्वयं शुद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणं'। आत्मद्रव्य तो असुंदर या अशुद्ध है ही नहीं क्योंकि स्वरूप से ही शुद्ध है। स्वरूप से शुद्ध क्यों है? क्योंकि आत्मा का लक्षण सत्ता (है-पना) है और आत्मा को यदि तुमने अशुद्ध या असुन्दर मान लिया तो फिर कभी भी कोई अन्य चीज़ सुन्दर और शुद्ध हो ही नहीं सकती क्योंकि सत्ता तो सबमें रहनी हुई। यदि सत्ता को असुन्दर मान लिया तो फिर कहीं भी सुन्दरता असम्भव है। जैसे तुमने रंग को असुन्दर मान लिया कि यह रंग ही गंदी चीज़ है, तो फिर संसार में कोई भी चित्र कभी भी सुन्दर नहीं हो सकता क्योंकि चित्र बनना ही रंग से है। इसी प्रकार से यदि कहते हो कि सत्ता सुन्दर नहीं है तो संसार में जो भी होना है उसमें सत्ता रहनी है, यदि वह असुन्दर है या अशुद्ध है तो क्या कभी भी कुछ भी कहीं भी शुद्ध और सुन्दर हो सकेगा? नहीं हो सकता, असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार यदि कहो कि ज्ञान असुन्दर या अशुद्ध होता है तो भी असम्भव है क्योंकि जो है वह ज्ञान है, ज्ञान से अलग होकर किसी चीज़ को नहीं कह सकते। जैसे यह कहना कि इसमें सत्ता नहीं है अर्थात् यह चीज़ है ही नहीं, ऐसे ही यह कहना कि विषय का ज्ञान नहीं है अर्थात् विषय है ही नहीं। किसी को ज्ञान नहीं है तो फिर उसकी सत्ता कैसे सिद्ध हुई? ज्ञान को असुन्दर मानोगे तो संसार के यावत् पदार्थ ज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण असुंदर और अशुद्ध ही रहेंगे। फिर तो सुन्दरता-सिद्धि असम्भव हो जायेगी। आत्मा का तीसरा लक्षण आनन्द है। आनंद को यदि असुन्दर या अशुद्ध मानोगे तो संसार में प्रतिक्षण प्रतिप्राणि आनंद को चाह रहा है, आनंद के पीछे ही तो सुन्दर कहा जाता है। जो चीज़ आनंद देगी उसी को तो सुन्दर कहोगे। आँख को सुन्दर लगेगी तो आँख आनंद में लीन हो जायेगी। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त कहता है 'अहो लब्धं नेत्रनिर्वाणं' मेरी आँख अन्तिम आनंद को प्राप्त कर गई अर्थात् परम सुख को प्राप्त कर गई। जो संगीत आनंद देगा, वही संगीत सुन्दर हुआ, आनंद का लक्षण ही यह है। आनंद को यदि असुन्दर मान लिया तो सुन्दरता का स्वरूप ही ख़त्म है। इसलिये शुद्ध-ज्ञान- आनंदरूप आत्मा तो स्वयं शुद्ध ही है। उसकी सुन्दरता में तो कहीं किंचित् भी कमी नहीं है। उसकी सुन्दरता का खूब स्पष्ट भान करना चाहिये। हम लोग प्रायः आत्म-द्रव्य

का क्या करते हैं?

एक राजा था। उसका लड़का छोटी उम्र में कुसंग में पड़ गया। बुरी औरतों के यहाँ जाकर गान आदि सुनता और वहीं रहता था। उसको वही संस्कार पड़ गये। जैसे आजकल के लड़कों को बाइस्कोप देखने के संस्कार पड़ जाते हैं। वह राजकुमार ज़रा बड़ा हो गया तो ब्याह की बात-चीत चली। वेश्याओं ने उसे संस्कार बैठा दिया कि घर की औरतें फूहड़ होती हैं। जैसे, तुम लोग तो सत्संगी हो, लेकिन तुम्हारे बहुत से लड़कों में संस्कार बैठा दिया है कि होटल का भोजन स्वादिष्ट होता है। रेस्टोरेण्ट में जाकर चाय पीने में उन्हें मज़ा आता है। वहाँ जाकर देखो तो कुछ मज़ा नहीं रखा, कोई बीड़ी तो कोई चुरुट पी रहा है। कहते हैं कि चारों तरफ का वातावरण बड़ा अच्छा होता है। लेकिन वहाँ के वातावरण में कुछ अच्छाई नहीं है। दुनिया भर के लोग आकर बैठे होते हैं। संस्कारों के कारण वहाँ लोग जाते हैं, खाते-पीते हैं। कभी भी कोई भी जाकर देखता नहीं कि रसोईघर में क्या हाल होता है! यदि देख लें, तो घृणा आ जाये। एक बार हम कलकत्ते में थे तो कुछ लोग हमारे साथ काली जी के मन्दिर में गये। गर्मी का मौसम था। वहाँ बेचारे पुजारी ने पूजा करके कुछ प्रसाद दिया। हमारे साथ में एक लड़की थी, उसने उस प्रसाद को नहीं खाया। हमने कहा कि प्रसाद ले लो। कहने लगी कि 'क्या प्रसाद लूँ, वह पुजारी गंदा था, उसे पसीना आ रहा था।' हमने कहा 'जाने दो, कोई जरूरी नहीं है कि अवश्य लो।' उस समय तो हमने इतना ही कहा। उसके एक दिन बाद उसने बताया कि वह वहाँ के बड़े होटल में जाकर भोजन करके आई, किसी ने पार्टी में बुलाया हुआ था। हमने कहा ठीक है, बड़ा अच्छा किया। उसी होटल का एक रसोइया हमारे पास आया करता था। सत्संगी कोई भी हो सकता है। ड्राइवर भी सत्संगी हो सकता है। इसीलिये संन्यासी से सब डरते हैं। हमने उस रसोइये से कहा कि एक बार इसको ले जाकर अपनी लीला दिखा दो। हमने उसके साथ दिन निश्चित कर दिया और उस लड़की की माँ को समझा दिया। माँ उसे लेकर गई कि आज कॉफी वहीं पियेंगे। वहाँ के रसोइये को शैफ कहते हैं, उसने उनसे आकर कहा कि 'ज़रा अन्दर चलिये, स्वामी जी ने ज़रा मुआयना करने को कहा था।' अन्दर की लीला देखकर उसके मन में बड़ी घृणा हुई। जहाँ रसोई बनेगी, वहाँ क्या हो सकता है कि पसीना न निकले? बाहर कपड़े बदलकर आ जाते हैं तो चम-चम करने लगते हैं। वापिस आये तो हमने पूछा कि वहाँ कैसा है? कहने लगी कि 'हम तो मैनेजर से शिकायत करके आये हैं'। हमने कहा 'जाना तो फिर भी वहीं है! हमारे पुजारी जी के हाथ गंदे थे तो तुमने उनके हाथ का प्रसाद नहीं लिया। रसोइये के गंदे हाथों का तुमने खाना खा लिया और फिर भी वहाँ जायेगी'। कारण यह है कि बचपन से संस्कार बैठे हुए हैं कि वहाँ जाकर खाना अच्छा है। इसलिये हम कहते हैं कि पदार्थ-त्याग का बल होता है। जब हमसे लोग कहते हैं कि 'आज हमको डिनर पर बुलाया है, वहाँ खाने जायेंगे', तब हम कहते हैं कि आज वह गरीब धन्य है जिसको वहाँ कोई नहीं बुलाता और बेचारा शुद्ध भोजन करता है,

गंदगी में पड़ा हुआ बासी भोजन नहीं। यदि इसके पास धन होता तो जाकर खाता। लेकिन यह सुनकर धनी बेचारा प्रसन्न नहीं होता क्योंकि उसे संस्कार नहीं है।

इसी प्रकार वेश्या ने राजकुमार को संस्कार डाल दिया कि कुलवधु फूहड़ होती है और उसके मन में यह संस्कार बैठ भी गया। यह केवल उस ज़माने की बात नहीं है, आजकल भी गाँव की रहने वाली, रामायण-महाभारत पढ़ी हुई, बढ़िया भोजन बनाने वाली, घर साफ रखने वाली और सब तरह से अच्छी लड़की की जब ब्याह की बात आती है तो बहुत से लड़के कहते हैं कि कॉलेज की पढ़ी हुई नहीं है, फूहड़ है। हम कहते हैं कि देखो तो सही कि उसमें क्या फूहड़पना है? भोजन बढ़िया बनाना जानती है, उसका चेहर सुन्दर है, यही उसका फूहड़पना है? उनको वह चेहरा अच्छा नहीं लगता, असुन्दर चेहरे के ऊपर धुलाई-पुताई अच्छी लगती है, मुलम्मा अच्छा लगता है, सुन्दर चेहरा अच्छा नहीं लगता क्योंकि संस्कार जो पड़ा है।

उस राजकुमार का ब्याह तो होना ही था, राजा ने ब्याह कर दिया। लेकिन उसने अपनी पत्नी का मुख देखा ही नहीं। पहली ही रात में जब कमरे में गया तो कह दिया ‘भली मानस, मैं तो जा रहा हूँ, मेरी आस न देखना। मैं रात में रहने वाला नहीं’। वह बेचारी रो-धोकर चुप हो गई। इस प्रकार दो साल बीत गये। उसने लड़की का मुख देखा ही नहीं, वह लड़की बड़ी दुःखी रहे। पुराने लोगों को तो जानते ही हो कि दो साल हो गये, बच्चा नहीं होता तो पूछते हैं कि क्या बात है। वहाँ एक पुजारी जी आते थे, वह कहें कि ‘बच्चा तो होना चाहिये, जन्मपत्री में लिखा है।’ उसने एक दिन पुजारी से कहा कि ‘तुम्हारी जन्मपत्री से बच्चा नहीं होना, वह तो आदमी पास हो तब हो। लेकिन वह तो मेरी तरफ देखता ही नहीं’। पुरोहित ने पूछा कि ‘ऐसी क्या बात है, क्या हुआ, कहीं लड़ाई-झगड़ा तो नहीं हुआ?’ कहने लगी ‘आप गुरु हैं, आपसे क्या छिपाना है, बच्चा तो तब हो जब जन्म-भर में कभी बात हुई हो’। पुरोहित को बड़ा आश्चर्य हुआ कि राजा की सुंदर लड़की है, सब तरह से योग्य है, फिर क्या बात है? पुरोहित पता लगाने लगा। थोड़े दिनों में पता लगा कि यह कुसंगियों के चक्कर में पड़ा हुआ और गणिकाओं के चक्कर में फँसा हुआ है, इसलिये उपदेश देने से कोई फ़ायदा नहीं होगा। लेकिन यह इतनी अच्छी लड़की है इसलिये बचाना भी जरूरी है। उसने लड़की से कहा कि ‘अब मैं जैसा कहूँ, तू वैसा ही कर’।

पुरोहित ने एक दूसरी जगह मकान ले लिया और उसे बढ़िया सजा दिया। राजा की तरफ से व्यवस्था हो तो धन में क्या कमी! मकान बढ़िया सज गया। गणिकाओं के विट होते हैं, जो इधर-उधर बात करके उनका प्रचार करते हैं। पुरोहित ने उन्हें धन आदि दे दिया और कहा कि सब जगह खूब प्रशंसा करो दक्षिण देश की एक बड़ी सुन्दर गणिका आई हुई है, उसका गाना और सौन्दर्य बड़ा आकर्षक है। इस प्रकार करते हुए धीरे-धीरे ख्याति हो गई कि गणिका को किसी ने नहीं देखा क्योंकि जब तक कोई दस लाख रुपया न दे तब तक वह और वह किसी

को नाच-गाना दिखाने वाली नहीं है। इतना रुपया राजा के सिवाय और कौन दे सकता है? उसकी खूब प्रशंसा सुनी तो एक दिन राजकुमार के मन में आया कि एक दिन वहाँ चलें। बातचीत पक्की हुई, दस लाख रुपया दे दिया। उस मकान में पुरोहित ने उसकी ही पत्नी, राजकुमारी को रखा था और राजकुमार वहीं पहुँच गया। उसका गान और सौन्दर्य देखकर राजकुमार बड़ा प्रसन्न हुआ। दूसरे दिन उसने फिर खबर भेजी तो उन्होंने कहा कि फिर दस लाख चाहिये। राजकुमार को संकोच हुआ क्योंकि राजा तो था नहीं, लेकिन मन नहीं माना। अंततोगत्वा दो-चार दिन बाद फिर दस लाख दे दिया। अब उसने कहा कि कुछ कम करो। उन्होंने कहा कि 'हम इससे कम में किसी से बात नहीं करते'। धीरे-धीरे राजकुमार का बाकी जगह जितना आना-जाना था, सब बन्द हो गया क्योंकि अब उसे तो दस लाख चाहिये। अतः अन्यत्र से धन बचाना था, रुचि भी अन्यत्र रह नहीं गई थी। लेकिन रोज़ दस लाख कहाँ से आये! दूसरे कहें कि दूसरी जगह चलो लेकिन वह कहे कि 'इसी के लिये दस लाख इकट्ठे करने मुश्किल हैं तो और-और जगह जाकर क्या करूँगा?' कुछ दिनों में दोस्तों ने आशा छोड़ दी। भोगी तब तक साथ देता है कि जब तक भोग मिले, आगे-पीछे कोई साथ नहीं देता। राजकुमार के मन में कुछ दुःख तो हुआ लेकिन सोचा जाने दो, क्योंकि दस लाख चाहिये। सब जगह जाना छूट गया और दोस्तों का आना-जाना भी छूट गया। जब राजकुमार कहे कि 'मेरे को शराब पीने की बड़ी इच्छा होती है' तब वह गणिका कहे कि 'जाओ यहाँ से, यहाँ शराब नहीं मिलती है'। शराबी की आदत होती है कि अकेला नहीं पी सकता। दो-चार महीने में शराब पीना भी छूट गया। साल भर हो गया। अंततोगत्वा इसने बड़ा ज़ोर लगाया कि किसी तरह मेरा काम बन जाये। उसने कहा कि 'एक शर्त पर काम हो सकता है, यदि तू मेरे साथ ब्याह कर ले।' राजकुमार राजी हो गया और पुरोहित ने एक बार फिर उसी के साथ फेरे करवा दिये। फेरों के बाद वह उसी घर में रहने लगा लेकिन एक कमरे में पुरानी पत्नी और दूसरे में जिसके साथ अब ब्याह हुआ था वह रहती थी! एक दिन नयी पत्नी की तबियत खराब हो गयी, बच्चा होने वाला था। उसने कहा कि 'मेरी कोई सखी सहेली होती तो ऐसे समय में कुछ माथा दबा देती, दाई का हाथ अच्छा नहीं लगता'। उसने कहा कि 'मैं पुरानी बहू को इधर बुला लूँगा'। नयी पत्नी बोली 'लेकिन वह सौत है, कैसे करेगी?' उसने कहा 'जरूर करेगी' और दाइयों से कहा कि पड़ोस के कमरे सें बुला लाओ। दाइयों ने दायें-बायें देखा कि पहले वाली कौन थी? वहाँ कोई नहीं मिला। खुद गया तो देखा कि नहीं है। पूछा 'गई कहाँ?' उसने जाकर माँ से शिकायत की कि वह पहले वाली औरत कहाँ चली गई? माँ ने कहा कि 'पहले वाली और पिछली वाली कहाँ है?' उसने कहा 'दो कमरे हैं ना, दूसरे कमरे वाली कहाँ है?' माँ ने कहा 'दो अलग-अलग नहीं हैं। पुरोहित जी ने कहा था कि दक्षिण दिशा में पैर हो जाते थे, इसलिये रात का सोने का कमरा और दिन में बैठने का कमरा अलग हो।' पुरोहित से कहा कि 'आपने मेरे दो ब्याह कराये, पहली

औरत कहाँ है?' पुरोहित ने कहा 'मैंने यह कब कहा था कि दो औरतों से ब्याह कराया है, यही वह है।' उसने कहा 'यह ऐसे थोड़े ही आई थी!' पुरोहित ने कहा 'भले आदमी! तूने दो साल तक इसका मुँह नहीं देखा था।' राजकुमार बड़ा प्रसन्न हुआ और पुरोहित को धन्यवाद दिया कि 'मैं तो कुसंग में पड़ गया था। कुलवधु भी अच्छी हो सकती है।' अब वह सुस्थिर हो गया।

विचार करो कि जैसे कुसंग में पड़कर वह राजकुमार बिगड़ गया था, ऐसे ही परमात्मा रूपी राजा का पुत्र यह जीव है। इसको लोगों ने कुसंग सुना रखा है कि अनात्म पदार्थों में बड़ा मज़ा होता है। कोई धन में, कोई सम्पत्ति में, कोई रसगुल्ले में, कोई स्त्री में, कोई यश और कीर्ति में मज़ा कहता है। लेकिन सब मिलकर कहते हैं कि रस तो इस अनात्मरूपी वेश्या में है। कुलवधू तो एक ही होती है, इसलिये आत्मा को फूहड़ बना रखा है। इसे कोई व्यवहार आता ही नहीं। इसलिये अनात्मा की तो रात-दिन प्रशंसा करते हैं, बच्चे को गोद में सुलाकर लोरी गाते हैं कि बेटा डिप्टी कलक्टर बनेगा, मंत्री बनेगा। ज्योतिषी के पास जाकर पूछेंगे कि मेरा बेटा क्या बनेगा? यदि वह कहीं कह दे कि यह तो गंगा किनारे रहकर ब्रह्मध्यान करने वाला बनेगा, तो शायद उस ज्योतिषी के ऊपर डण्डा मार दें कि मेरा ही कुल बिगाड़ने के पीछे पड़ा है! क्योंकि दृढ संस्कार पड़ा है कि अनात्म पदार्थ-रूपी गणिका श्रेष्ठ है और आत्मा फूहड़ है। जिसका और कोई नहीं, वह बेचारा आत्मा का चिंतन करे। इस कुसंग-चक्र में यह निरंतर अनात्मा के साथ रहता है। अनात्मा के नित्य पास में रहने पर भी ब्याह उसी से हुआ है अर्थात् कुलवधु वही है। अहंता का असली विवाह संवित् से है, बाकी गोरे-काले का सम्बन्ध मैं के साथ होता है। मैं गोरा, मैं काला, मैं धनी, लेकिन ये सारे सम्बन्ध वेश्यावत् क्षणिक हैं, थोड़ी ही देर के लिये हैं, फिर नहीं। सच्ची पत्नी, कुलवधु तो आत्मा है; मैं आत्मा (चेतन) हूँ, यह हमेशा रहता है। लेकिन मैं काला, गोरा, ब्रह्मचारी, संन्यासी, ब्राह्मण, बनिया यह बदलता रहता है। 'मैं आत्मा हूँ' का सम्बन्ध आत्मा से कभी नहीं बदलता, यह कुलवधु है। लेकिन वे सारे सम्बन्ध मैं को कुसंग में ले जा रहे हैं। वेदरूपी पुरोहित किसी काल में कहता है कि गजब हो गया, आनंदरूप आत्मा तो अहं में है और उससे जीवन्मुक्ति-रूपी पुत्र होना चाहिये, लेकिन वह पैदा ही नहीं हो रहा है। आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से तुम्हारे अन्दर जीवन्मुक्ति होनी चाहिये लेकिन क्या कारण है कि अहं में आत्मा है और फिर इसको नित्य आनंद रूपी जीवन्मुक्ति रूपी पुत्र पैदा ही नहीं हो रहा है?

जब ध्यान से देखता है तब पता लगता है कि यह अहं कभी आत्मा का मुँह ही नहीं देख रहा है तो जीवन्मुक्ति का अनंद कैसे आये? आत्मा के साथ डटकर बैठे तब आनंद आये। पुरोहित पता लगाता है कि अहं के साथ रोज़ एक ही कमरे में रहने वाला आत्मा है, फिर भी क्या कारण है कि जीवन्मुक्ति का आनंद इसे नहीं आ रहा है? उसे पता लगता है कि यह कुसंग में पड़ गया है। आँख ने इसे कुसंगी बना रखा है। आँख कहती है कि बाहर का रूप देखो, कान

कहता है, बाहर का शब्द सुनने चलो, स्पर्श कहता है कि बाहर का स्पर्श लेने चलो। इन सबने इसे कुसंग में डाल रखा है, इसलिये बार-बार अहं को बाहर ले जाते हैं, उसे घर में अपनी पत्नी के साथ नहीं बैठने देते। उससे कहते हैं कि ज़रा आत्म-तत्त्व पर बैठो तो कहता है कि यह फूहड़पने का काम है, यह नहीं करूँगा। वेद रूपी गुरु सोचता है कि गजब हो गया, अब इसको कैसे वश में किया जाये, यह तो आत्मा का मुँह ही नहीं देखता!

वह एक बढ़िया मकान खरीद लेता है, कहता है कि एक परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर है जो अतिदिव्य धाम में रहता है। यह बाहर बढ़िया मकान दिखाया क्योंकि बाहर न दिखायें तो तुम उधर जाओ ही नहीं। यह नहीं कहा कि वही तुम्हारी पत्नी है, यह नहीं कहा कि यह आत्मा तुम ही हो। पहले ही यह उपदेश नहीं दिया। कहा कि जैसे बाह्य पदार्थ हैं, ऐसे ही एक परमात्मा भी है जो बड़ा सुन्दर है। संसार के सब सौन्दर्यों से उसका सौन्दर्य ज़्यादा है, दिव्य है। आँख उसका रूप देखेगी तो देखती ही रह जायेगी। कान से उसके दिव्य गुणों को सुनोगे तो उसका अंत ही नहीं है। विटों को भेज दिया क्योंकि मनुष्य को शौक है और वे आकर कहते हैं कि उस दिव्य धाम के अन्दर बड़ा आनंद है। जो अतिस्थूल प्रकृति के लोग हुए, जैसे अरब देश के रहने वाले, उन्हें कहा गया कि वहाँ शराब की नदी बहेगी क्योंकि वह उसी को बढ़िया समझते हैं। उनके ग्रन्थों में हूरें और शराब प्रधान है। अपने यहाँ शराब को नहीं बताया लेकिन अप्सराओं को बताया और शराब की जगह दूध, घी की नदियाँ हमको बतानी पड़ीं। गोलोक में दूध की कमी नहीं है। चूंकि ये संस्कृत लोग थे, इसलिये शराब जैसी गंदी चीज़ उन्हें पसन्द नहीं थी। इस प्रकार खूब प्रशंसा की लेकिन कहा कि उसके लिये दस लाख रुपये चाहिये, उसके बिना वह मिलने वाला नहीं है अर्थात् बाकी सब खर्च बन्द कर दिये। 'शान्तो दांत उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा' आँख, कान आदि सबकी ताकत एक में लगाओगे तब होगा। बड़ी प्रशंसा सुन रखी है। अतः कहते हैं कि यह माल ज़रूर देखना है। 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।' इतनी प्रशंसा की कि वहाँ कोई कमी नहीं है। जितने काम्य कर्मों से तुम्हें जो प्राप्त होता है, वह सब और अश्वमेध, ज्योतिष्टोम, सोम याग आदि जिन-जिन से जितना फल प्राप्त होता है वह सारा तुम्हें उस एक से मिल जायेगा। वेद, यज्ञ, दान, तप जो करके तुम्हें मौज आती है, वह सब एक ही दे देगा। उसके लोभ से इसने अपने आपको चारों तरफ से नियंत्रित कर लिया।

एक बार किसी काल में उसे उस परमात्मा की झलक मिल गई। जिस समय समाधि होती है उस समय चारों तरफ से वृत्ति एकाग्र होकर उस परमात्मा की थोड़ी झलक उसमें मिल जाती है। वह आनंद इतना ज़्यादा होता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है। उसके सामने बाकी सब कुछ जो आज तक देखा था, वह फीका पड़ जाता है। यह क्षणमात्र देख लिया जाता है तो सचमुच मज़ा आता है। 'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसःप्रवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं

गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।' अपने आत्मा के अन्दर चित् का प्रवाह होता है तो जो सुख होता है उसका वर्णन कोई कर ही नहीं सकता है। तब स्वरूप से अवस्थान हुआ। लेकिन जब समाधि से व्युत्थान हुआ, आँख, कान, नाक उसे कहते हैं कि और रूपादि सब हैं। तब यह सोचता है कि रूपादि भी देख लूँ, तथा समाधि का अभ्यास भी कर लूँ। पहले-पहल थोड़ा-सा ऐसा होता है लेकिन गुरु रूपी वेद सावधान करता है कि खबरदार! अगर तुम्हारा एक पैसा भी और कहीं खर्च हो गया तो नहीं मिलेगी। वह कहता है कि थोड़ा-सा तो संसार का व्यवहार भी कर लूँ। यह भी अच्छा है और वह भी अच्छा है। पर यहाँ तो चित्त का जितना प्रवाह है, सारे का सारा दोगे तभी होना है, नहीं तो नहीं। कई बार बाह्य विषय उसे खींचना तो चाहते हैं। यही उस समय की साधना होती है। जैसे ही खींचना चाहते हैं, तब जैसे कछुआ अपने को बचाने के लिये सब छोड़ देता है, ऐसे ही यह सारे दोस्त रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श सबको छोड़ देता है। जब काफी दिन का सम्बन्ध हो गया तब कहता है कि बार-बार योगाभ्यास में बड़ी कठिनाई होती है, कोई ऐसा ढंग हो जो रोज़ साथ रहूँ। आत्मा कहती है कि यह बात है ये जो तुम्हारी इन्द्रियाँ हैं, इन इन्द्रियों के चक्कर के कारण ही तुम्हारा-हमारा सम्बन्ध नहीं बन पा रहा है। इसलिये तुम इन इन्द्रियों का परित्याग कर दोगे तो इन्द्रियों के विषयों का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायेगा अर्थात् सर्वकर्म-परित्याग कर दो, कामनायें छोड़ दो तो तुम्हारा-हमारा साथ बन जाये। कहता है सारी कामनायें छोड़ दीं, अब व्याह करूँगा, अर्थात् दूसरी जगह नहीं जाऊँगा। सर्वकर्म-परित्याग करके वह उसके अन्दर लग गया।

थोड़े दिनों में उसे भी आनंद आने लगता है। अभी जीवन्मुक्ति पैदा नहीं हुई, गर्भ में आ गई। अब परमात्मा का ध्यान करते समय समाधि में द्रष्टा-दृश्य का भेद नहीं रह रहा है। पहचाना अभी भी नहीं है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का समाधि में अभेद हो रहा है, अन्यदा भेद मिल रहा है, जीवन्मुक्ति आ रही है लेकिन अभी गर्भ में है। उस परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करते-करते जब अपने को बिलकुल भूल जाता है तो वह उसे आनंद देता है। इसके बाद भान होता है कि मेरा एक जीवात्मा रूपी आत्मा था जो गया-बीता था, किसी काम का नहीं था। इसलिये व्युत्थान काल में फिर उस आत्मा की दृष्टि नहीं करता। समाधि काल में देखता है क्योंकि परमात्मा आनंद की चीज़ है। अब किसी काल में उसके मन में प्रश्न आता है कि जो जीव भाव का आत्मा था, उसे परम भाव के आत्मा की सेवा में लगा दूँ। व्युत्थान काल में भी यदि तुम आत्मा को परमात्मा की सेवा में लगा दो तो अच्छा है। जब ढूँढता है तब पता लगता है कि अरे! जिसे अब तक परमात्मा समझता रहा था, जितना-जितना गुणसम्पन्न समझ रहा था वह वही जीवात्मा है जिसका पहले से अनादर कर रखा है, फूहड़ समझ रखा है। पास पहुँचता है तो पता लगता है कि वही है। पहले जिससे दूर रहा करता था, वह यही है। विषयों के साथ दौड़ रहा था, इसे देखा ही नहीं था। सुन्दर तो वैसा ही है। अब वही परमात्मा-जीवात्मा की

एकता स्फुट हो गई। व्यवहार काल में जिसे वह जीवात्मा कहता है, समाधिकाल में परमात्मा कह रहा है। चाहे व्युत्थान काल हो, चाहे समाधि हो, सर्वत्र नित्य-निरंतर तत्त्व एक है। यह जीवन्मुक्ति पैदा होती है। जीवन्मुक्ति का यह स्वरूप है। इसको प्राप्त करना ही धन्य होना है। यह आत्मा सत्य ज्ञान आनंद रूप है, यही हमारा वास्तविक स्वरूप है लेकिन इसके अंदर जब तक दृष्टि नहीं बनती, तब तक समझता है कि कोई एक और परमात्मा बाहर है जो हमारे सुख का कारण बनेगा। वेद उसका वर्णन करता है जिसमें हम बाह्य पदार्थ समझ कर भी उसमें अनुराग वाले बनें। नहीं तो घर की मुर्गी की इज़्ज़त नहीं कर पाओगे। इसलिये शास्त्र ने उसे पहले बाहर की तरफ वर्णन करके बताया, अंत में आत्मरूप में बताया। अब उसका वह सौन्दर्य अमन्द है, उस सौन्दर्य की सीमा नहीं है। लेकिन वह उसे पहले बाहर के रूप में प्रकट करता है और फिर उसी को तुम्हारे अन्दर आत्मा रूप से दिखा देता है। यह उसके सौन्दर्य का फैलना है। कहीं दूसरी जगह यह सौन्दर्य नहीं है। लेकिन उसके देखने का तरीका बतला कर भगवती उसे दिखा देती हैं।

## प्रवचन-५३

११-५-७२

चिदानंद-लहरी परब्रह्म महिषी के स्वरूप व उपलब्धि के स्थान को बताकर उसका 'त्वां' रूप से भजन बता रहे थे क्योंकि त्वां-रूप का भजन ही अंततोगत्वा अहं-रूप के भजन में परिणत होता है। उसका त्वां-रूप कैसा है  इसे बताते हुए इसी सौन्दर्यलहरी में आगे चलकर कहा है कि भगवती ही त्याग को पुष्ट करती है। पहली चीज़ है 'ददाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमाशानुसदृशीं' आशा के अनुकूल ही तुम्हारे त्याग को पुष्ट करती है क्योंकि त्याग ही वास्तविक ऐश्वर्य और श्री है। भ्रांति से लोग पदार्थों को श्री समझते हैं, भ्रम के कारण ही पदार्थ ऐश्वर्य हैं  ऐसा समझते हैं। वस्तुतः वास्तविक स्थिति से  पदार्थ नहीं वरन् पदार्थों का त्याग ही श्री अर्थात् ऐश्वर्य है। पदार्थों के त्याग से सौन्दर्य आता है, इसको भगवती का द्वितीय त्वां-रूप बताया। 'अमन्दं सौन्दर्यं प्रकरमकरंदं विकिरति' उसका सौन्दर्य शुद्ध होता है। इसीलिये कल बताया कि गंदी चीज़ कभी सुन्दर नहीं होती। जो अच्छी नहीं है, शुभ नहीं है, कल्याणकारी नहीं है, वह कभी भी सुन्दर नहीं होती।

भगवती का सौन्दर्य-वर्णन करते हुए एक जगह भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि उनके सौन्दर्य का चिंतन करने से 'ज्वरजनितपीडापसरति।' तीन तरह के ज्वर मनुष्य को लगे हुए हैं : आध्यात्मिक ज्वर  शरीर से होने वाला, बुखार आदि। आधिभौतिक  दूसरे प्राणियों से होने वाला। आधिदैविक  बाह्य सर्दी-गर्मी इत्यादि कारणों से होने वाला। तीन प्रकार का ताप (ज्वर) उस सौन्दर्य के वर्णन से नष्ट हो जाता है। त्रिविधताप-निवृत्ति ही सौन्दर्य का लक्षण हुआ। जो कल्याणकारी नहीं है, वह कभी सुन्दर नहीं हो सकता। वेदांत का सौन्दर्य-शास्त्र भी है। जिसको 'एस्थैटिक्स' कहते हैं वह आजकल का सौन्दर्य शास्त्र 'शास्त्र' नहीं रह गया है। वह यह मानता है कि इन्द्रियों को जो कुछ भी उत्तेजित कर दे, वह सुन्दर है। किंतु वस्तुतः सौंन्दर्य की तत्त्व-मीमांसा, प्रमाण-मीमांसा, प्रमेय-मीमांसा तीनों को समझना पड़ता है। वेदांत शास्त्र है, इसलिये जीवन की प्रत्येक परिस्थिति के ऊपर उसका अपना दृष्टिकोण है। लोग यह समझते हैं कि किसी विषय में आधुनिक चीज़ को मान लो, किसी विषय में विज्ञान को, किसी विषय में समाजवाद को और किसी विषय में पूंजीवाद को मान लो और सब मिलाकर भानुमती का एक पिटारा बना लो। कहते भी हैं कि सभी में कुछ अच्छी बातें हैं। क्या कारण है कि सौन्दर्य के विषय में आधारभूत भेद है? ज्ञान के विषय में आधारभूत भेद है। आज की समग्र शिक्षा-पद्धति और वेदांत विरोध इसीलिये है कि आज की शिक्षा-पद्धति कहती है जितना संसार के विषयों के बारे में खबरें तुम्हारे में भर दी जायें, उतनी ही शिक्षा है। योरोप, रूस, जापान आदि सबका इतिहास पढ़ लो, क्योंकि ये बड़े शिक्षित हैं। हम लोग शिक्षा किसको मानते हैं? भगवान्

भाष्यकार कहते हैं 'तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां' ज्ञान का लक्षण इन्द्रियों को उपशांत करना है। दुनिया-भर की खबरों को दिमाग में भरना शिक्षा नहीं है, तुम्हारे आधुनिक युग के अन्दर बने रोबोट्स, कम्प्यूटरों आदि में भी खबरें भरी जा सकती हैं, वे दुनिया-भर की जानकारी याद रखते हैं और जवाब भी देते हैं। लेकिन इतना सब करने पर भी वे कभी ज्ञानी नहीं होते हैं! किसी पट्टलेख के अन्दर सारी प्रस्थानत्रयी को भर दोगे तो क्या वह टेप ज्ञानी हो जायेगा?

जो इन्द्रियों को उपशांत करे, वह ज्ञान है। यह वेदांत दृष्टि है। जो इन्द्रियों में लोलुपता और ज़्यादा चीज़ों की आकांक्षा पैदा करे, वह अज्ञान है। इसी प्रकार सौन्दर्य के बारे में भगवान् भाष्यकार की यह दृष्टि है कि सौन्दर्य वह है जो तीनों तापों को दूर करे। आधुनिक युग में जो इन्द्रियों का उत्तेजन करता है उसी को सौन्दर्य मान लेते हैं। जो गाना उत्तेजक है वह सुन्दर है। उसका नाम ही पॉप म्युज़िक रखा है। जैसे मक्की की फूली सेकने पर उछलती है उस उछलने को अंग्रेज़ी में 'पॉप' कहते हैं। इसीलिये मक्की की फूली का नाम 'पॉपकार्न' होता है। जिस गाने को सुनकर तुम्हारा मन उछले, जिससे ज़्यादा उत्तेजना आये उसको संगीत समझते हैं। हम लोग किसको संगीत मानते हैं? 'ज्वरजनित-पीडापसरति' । इसीलिये हमारे यहाँ संगीत का वर्णन आता है कि अमुक आदमी को नींद नहीं आती थी, उसे अमुक राग सुनाया गया तो वह सो गया। अमुक आदमी को अमुक रोग था, उसको अमुक गीत गाकर सुनाया गया तो उसका वह रोग दूर हो गया। बरसात नहीं आ रही थी, मेघ मल्हार गाया तो पानी बरस गया। गाने से बरसा, नहीं बरसा, यह चाहे हो या न हो, लेकिन गाने का एक आदर्श तो सामने है। इस दृष्टि को न समझने के कारण आज का वेदांत श्रवण करने वाला, वेदांत ग्रंथ को पढ़ने वाला भी कहता है कि अमुक जगह कीर्तन में गये तो लोग भाव से उछल रहे थे। हम समझ लेते हैं कि ये इतने वर्षों में वेदांत को नहीं समझे। भाव होता तो शान्ति आती। नाचना-गाना चाहे भगवान् के नाम से हो, विचार नहीं करते कि यह उछल-कूद कैसे भजन का फल हो सकता है? सौन्दर्य का रूप है जो ज्वरों को शांत करे, वस्तुतः सुन्दर शब्द का अर्थ ही होता है सु पूर्वक उन्दी; उन्दी क्लेदने धातु है। अभी भी यह शब्द भोजपुरी भाषा में चलता है कि कपड़ा ऊँदा हुआ है। 'अतीव उनत्ति, स्नेही करोति इति सुन्दः,' और फिर बहुल अर्थ में रप्रत्यय होकर 'सुन्दर' शब्द बनता है अर्थात् जो हृदय को गीला कर दे (क्लिन्न कर दे) अर्थात् हृदय में जो स्नेह को भर दे। जहाँ प्रेम, स्नेह होता है, वहाँ द्वैत हट जाता है, यही प्रेम का स्वरूप है। जिससे प्रेम होता है उसको कष्ट हो तो अपने हृदय में कष्ट मालूम पड़ने लगता है। इसलिये सुन्दर वह है जो त्रिविध तापों को दूर करता हुआ ब्रह्मस्वरूप की एकता का प्रतिपादक भाव और इच्छायें हृदय में उठाये। उसकी जगह, जो उत्तेजना को बढ़ाकर भेद-संवर्द्धन करे, वह सुन्दर नहीं होता, असुन्दर होता है।

कई बार तुम्हारे लड़के कहेंगे कि यह तो अपनी-अपनी पसन्द है। हमको कोई और तुमको कोई, हमको यह पार्टी, तुमको वह पार्टी पसन्द है। तुम भी कहोगे, 'चलो इसमें क्या, कोई भी

पसन्द हो।' यह इसलिये, कि कभी विचार नहीं किया कि वेदांत का अपना सौन्दर्य शास्त्र है। हमारी तुम्हारी पसन्द का सवाल नहीं, आधारभूत सिद्धान्त ही अलग है। आजकल राम और कृष्ण, खासकर कृष्ण, शिव, पार्वती के गंदे-गंदे चित्र बनाकर सत्संगी लोग प्रचार के लिये छापते हैं जिनको देखकर कभी दिल से पूछना कि हृदय में उत्तेजना आती है या सर्वथा शांत भाव आ जाता है? जैसे मध्य काल के अन्दर अपनी दबी हुई वासनाओं को पूर्ण करने के लिये अनेक कवियों ने राधा कृष्ण के नाम से गंदे अश्लील साहित्य को लिखा। जो भला आदमी किसी के सामने नहीं बाँच सकता, उसका उन्होंने राधा कृष्ण के नाम से प्रणयन कर दिया। ठीक इसी प्रकार आज भी चित्र, संगीत आदि में नाम शिव पार्वती का कर दिया लेकिन उसके भावों में शिव पार्वती के भावों से कोई सम्बन्ध नहीं है, कृष्ण राधा के भावों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अच्छे-अच्छे सत्संगी अपने घरों में ऐसे चित्र रखते हैं, छापते हैं और ऐसे साहित्य को बाँचते हैं जिसमें कृष्ण बीस साल के जवान और साथ राधा है। कृष्ण ने १२ वर्ष की उम्र में वृन्दावन छोड़ा तो फिर कभी राधा से नहीं मिले। केवल एक बार सूर्य-ग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में मिले जहाँ व्रज के लोग भी पहुँचे हुए थे। इसलिये बारह वर्ष से ज़्यादा की उम्र का जो चित्र बनता है, वह बनाने वाला और रखने वाला वेदांती नहीं है, नास्तिक है, चाहे मन में खुश है कि हमने चित्र बना रखा है। इसीलिये बच्चों के मन में कुभावनायें आती हैं और फिर कहते हो कि बच्चे ऐसा करते हैं। सौन्दर्य शास्त्र का सिद्धान्त हुआ कि जो हृदय में एकता के भावों को करे, जिसके द्वारा ताप शांत हों। इस सिद्धान्त को लेकर इसका सबसे उत्तम ग्रंथ 'लोचन' है जिसमें सारे सौन्दर्य शास्त्र का प्रतिपादन किया है। अभिनव-भारती आदि ग्रन्थों में वेदांत की सौन्दर्य दृष्टि बताई है। 'अमन्द सौन्दर्य' यही सौन्दर्य है।

इस सौन्दर्य का अथवा इस एकीभवन का नतीजा क्या होता है। संसार में नाम, रूप, कर्म को प्रधानता देकर प्रवृत्ति मार्ग वाले उत्तेजना वाले अपने सौन्दर्य शास्त्र का निर्माण करते हैं। लेकिन जब वह भगवती का दर्शन करता है, जब उस संवित् रूप को समझता है तो यह नाम, रूप, कर्म गल जाते हैं। भगवान् शंकर भगवत्पाद भगवती के सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं

'त्वदीयं सौंदर्यं निरतिशयमालोक्य परया
भियैवासीद् गंगा जलमयतनुः शैलतनये।
तदेतस्यास्तस्माद्वदनकमलं वीक्ष्य कृपया
प्रतिष्ठामातेने निजशिरसि वासेन गिरिशः।।'

पौराणिक कथा को लेकर सर्वज्ञ भगवान् शंकर उसका रहस्य बताते हैं। पौराणिक कथा यह है कि गंगा पानी क्यों हो गई? गंगा को हमारे यहाँ विष्णुरूप माना है। पार्वती के सौन्दर्य

को देखकर भगवान् विष्णु को शरम का अनुभव हुआ। इसलिये मारे शरम के गल गये। भाषा में भी कहते हैं कि वह शरम से पानी-पानी हो गया। भगवान् विष्णु गल गये, भगवान् शंकर को तो विष्णु से बड़ा प्रेम है, सोचा कि इसके मन में दुःख हो गया। इसीलिये उसको उठाकर उन्होंने अपने सिर पर रख लिया और कहा कि 'कोई बात नहीं, मैं तेरे को सिर पर रख लेता हूँ।' इसीलिये भगवान् शंकर के सिर में जलधारा रहती है। इसका रहस्य क्या है? कहते हैं कि आपका सौन्दर्य निरतिशय है अर्थात् जिससे अधिक सुन्दरता कहीं नहीं है। तुम्हारे इस निरतिशय सौन्दर्य को देखा तो भय के मारे भगवान् विष्णु जलमयतनु (गंगा) हो गये, अर्थात् उनका शरीर की जलमय हो गया। वही गंगा है। गंगा को हम लोग साक्षात् विष्णुस्वरूप मानते हैं। उसके मुख कमल को देखकर भगवान् शंकर ने विचार किया कि इसके मन में बड़ा दुःख हो गया। कृपा के द्वारा उन्होंने उसको बड़ी भारी प्रतिष्ठा देते हुए अपने सिर पर रख लिया। विष्णु वैदिक शास्त्रों में उपादान कारण है, नाम, रूप, कर्मात्मक सारा जगत् विष्णु बने। इसीलिये उन्हें 'वासुदेवः सर्वमिति' कहते हैं। संसार में जितना नामरूपकर्मात्मक जगत् है, वह सारा विष्णु है। ये नाम, रूप, कर्म संवित् से प्रकाशित होते हैं। इसीलिये निमित्त कारण भगवती (शक्ति) को माना गया और शंकर अभिन्न निमित्तोपादान कारण (अधिष्ठान कारण) हैं। जब तक संवित् दृष्टि नहीं बनती तब तक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् बड़ा सुन्दर लगता है।

यह नामरूपकर्मात्मक जगत् इतना सुन्दर लगता हुआ भी कब असुन्दर हो जाता है? जब संवित् की दृष्टि बनती है। असुन्दर क्यों हो जाता है? 'कर' किरण को कहते हैं, एक तरह से सूर्य का हाथ समझ लो। कर शब्द का अर्थ रश्मि अर्थात् किरण और दूसरा अर्थ ओला भी होता है। कर का अर्थ हाथ भी होता है। हिमकर में कर मायने ओला है। इसलिये 'प्रकर' का मतलब हुआ बहुत बड़ी-बड़ी किरणें। किरणों के रूप का विचार करते हैं तो यह जितना नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् है, यह सब उसकी एक-एक किरण से प्रकाशित है। 'प्रकराणां सहस्रानां परा संख्या न विद्यते' यहाँ 'प्रकर' सौन्दर्य कहा है, इसकी हज़ारों किरणों की परिगणित संख्या नहीं है क्योंकि 'तामेवानुप्रविश्यैव भाति विश्वं चराचरम्। तद्भासारहितं किञ्चिन्न च यच्च प्रकाशते।।' यह सारा चराचर विश्व उन किरणों के साथ भाति अर्थात् प्रकाशित होता है। जो प्रकाशित हो और उसके प्रकाश से रहित हो, ऐसा कुछ नहीं। संसार का नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् अपने आपको बड़ा सुंदर समझता है। यह जगत् बड़ा सुन्दर लगता है लेकिन जब उसको यह पता लगता है कि 'मेरी स्थिति तो बिना उसके प्रकरों के है ही नहीं', तब वास्तविक सौन्दर्य का पता लगता है।

उसकी किरणों का विचार करके शास्त्रकारों ने तीन प्रकार की किरणें मानी हैं। सूर्य की १६ तरह की किरणें, अग्नि की १०८ किरणें और चन्द्र की ३६० किरणें होती हैं। यह किस प्रकार होती हैं, फिर कभी बता देंगे। यहाँ तो समझ लो कि यह जो सौन्दर्य प्रकर हुआ, इन

किरणों को जब देखा कि संवित् ही इन सारे नाम-रूप आकारों को लेती है, तो नाम रूप कर्म के उपादान विष्णु के हृदय में हुआ कि 'मेरी सत्ता तो कुछ है ही नहीं, जो कुछ सत्ता है, वह ज्ञान को लेकर है, जिस ज्ञानरूपी रश्मि के स्पर्शमात्र से हम नाम-रूप वाले सुन्दर बन रहे हैं उस भगवती के ज्ञानरूपी रश्मिसमुदाय के सामने हमारा क्या सौन्दर्य है!' सौन्दर्य का लक्षण बताया 'ज्वरजनितपीडापसरति'। एक-एक पदार्थ से हमारी एक-एक इच्छा पूरी हुई, लड्डू मिला तो लड्डू की इच्छा से होने वाला ज्वर (ताप) हट गया। उसके बाद नींबू की शिकंजी की इच्छा हो गई तो वह पीकर उससे होने वाला ताप शांत हो गया। जिस-जिस की इच्छा होती चली गई, उस-उस चीज़ के नाम-रूप-कर्मात्मक पदार्थ की प्राप्ति से वह-वह ताप शांत होते गये। यही तो उसकी सुन्दरता है। जब यह पता लगा कि इन सारे आकारों को लेने वाली संवित् ही है, तब पता लगा कि भिन्न-भिन्न नाम-रूपों की मुझे आवश्यकता नहीं क्योंकि एक संवित् ही सारे आकारों को लेती है। जब संवित् को पकड़ लिया तो सारे आकार हाथ में आ गये। इसलिये वह निरतिशय हो गया, क्योंकि बाकी चीज़ें तो उससे श्रेष्ठ श्रेष्ठतर कुछ हो सकती हैं, लेकिन इन सब आकारों को लेने वाली संवित् चिन्मात्र भगवती (चित्) से श्रेष्ठ और कुछ नहीं हो सकता। सारे रूपों को वही ले रही है। सारे गहनों को बनाने के लिये सोने में कुछ खोट डालनी पड़ती है। यदि सौ टंच का सोना तुम्हारे पास हो तो फिर उससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं हो सकता। बाकी जगह तो हो सकता है कि कड़े से कुण्डल का सोना अच्छा होता है क्योंकि ज़्यादा कैरेट का सोना है लेकिन जो २४ कैरेट का सोना है, वह निरतिशय हो गया। उसमें खोट का नाम नहीं। चाँदी सोने के बिस्कुट पर भी ९९.९ टंच लिखा होता है। वहाँ भी कम है। संवित् के सौन्दर्य को देखा तो पता लगा कि उसका सौन्दर्य निरतिशय है।

जैसे ही संवित्-दृष्टि से नाम-रूपात्मक जगत् को देखा तो यह सारे का सारा जगत् पिघल गया। यही निर्विकल्प समाधि है। जिस समय संवित् चिन्मात्र को पकड़ते हैं तब नाम-रूपों को हटाना नहीं पड़ता है, नाम-रूप तो बेचारे डर के मारे गल जाते हैं! दृष्टि ही तो है। समाधि को लगाने के लिये योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान अतिदीर्घ काल तक करते रहते हैं और फिर भी कुछ काल के लिये प्राप्त होती है। यहाँ यह सब नहीं करते हैं। यहाँ तो संवित् के सौन्दर्य की तरफ दृष्टि गई तो नाम रूप का पता नहीं चलता है। वे बेचारे अपने आप ही डरकर गल जाते हैं। संवित के सौन्दर्य से शरीर जलमयतनु हो जाता है। संवित् है तो ज्ञानस्वरूप लेकिन उसका सौन्दर्य हृदय को पिघाल देता है। सुंदर इसलिये कहा कि हृदय ऐसा पिघल जाता है कि उस संवित् के साथ अद्वैत अनुभव हो जाता है। फिर यह संवित् और यह मैं नहीं रहता। अर्थात् फिर 'यह ज्ञान' और 'यह मैं' ऐसा द्वैत नहीं रह जाता। 'वह' और 'मैं' ही गल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। गंगा ज्ञान को कहते हैं। नाम-रूप सारे ज्ञानरूप हो जाते हैं। जैसे बाकी चीज़ों का कारण जल है, वैसे ही समग्र नाम-रूपों का कारण ज्ञान है। वह जब कारण

में लीन हो गया तो उसे जलमयतनु कहा।

इसको स्पष्ट करने के लिये सम्बोधन देते हैं 'शैलतनये'। गंगा का जल हिमालय से निकलता है। वह संवित् भी क्या है? 'शैलतनये' हिमालय पहाड़ की पुत्री है। गंगा भी शैलतनया है क्योंकि हिमालय से पैदा होती है और तू भी हिमालय से पैदा हुई है। लेकिन एक नाम-रूप-कर्मात्मक सौन्दर्य, सातिशय सौन्दर्य है और दूसरा संवित्-रूपी सौन्दर्य, निरतिशय सौन्दर्य है। हिमगिरि कहाँ है? कभी पिता की अंत्येष्टि के समय कपाल-क्रिया की होगी तो देखा होगा कि कपाल के अन्दर सब सफेद मामला होता है। वही हिमगिरि है। वहाँ से दो धारायें निकलती हैं। तुम्हारे मन-बुद्धि किसी पदार्थ को देखते हैं तो नामरूपात्मक चीज़ भी उसी में से निकलती है, उसी से देखते हो; और सत्ता, चित्ता, आनंदरूपता भी उसी से देखते हो। दिमाग नहीं होगा तो दोनों नहीं दीखेंगे। जिस अंतःकरण के कारण तुम्हें नाम-रूप दीखते हैं, उसी के कारण सत्ता, चित्ता भी दीखती है। बहुत से लोग कहते हैं, कि यदि कोई नशा-पत्ती ले लेते हैं तो बड़ा ध्यान लगता है। आजकल तो नशा-पत्ती खूब चल निकला है। पहले पुराने लोग भाँग छानते थे और अब माडर्न स्कूल में पढ़े लड़के कहते हैं कि शराब से ध्यान लगता है। किंतु दिमाग की शक्ति यदि कुंठित होगी तो जैसे नाम-रूप का ज्ञान कम होगा वैसे सत्ता-चित्ता का ज्ञान भी कम हो जायेगा। भूलने वाला दिमाग परमात्मा को भी विषय नहीं करेगा। ध्यान के अन्दर मन की वृत्ति को अतितीव्र होना पड़ता है, मंदा नहीं पड़ना पड़ता! होता यह है कि उस समय संसार की चिन्ताओं को भूल जाते हैं तो समझते हैं कि ध्यान हो गया, लेकिन वह ध्यान नहीं है। एक ही दिमाग (हिमगिरि) में दोनों तनया हैं। विष्णु और शक्ति दोनों निमित्त और उपादान कारण उसी में से निकले हुए हैं। एक नाम-रूपात्मक और दूसरी संविद्रूप है।

केवल वही जलमयतनु नहीं, तुम भी जलमयतनु हो। जिस समय ज्ञानी निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया, संवित् की दृष्टि से नाम-रूप गायब हो गये, तब लगता है कि 'नाम रूप भी तो आखिर मेरी ही शक्ति थी, ये बेचारे शरम खा कर दब गये।' समाधि काल में नाम-रूप का ध्यान नहीं रहता। नाम-रूप के मुख कमल को उदास देखा, और वे बिलकुल ही ख़त्म हो गये! यह विरोधाभास देखो। यह साहित्य का विषय है। जो जलमय तनु हो ऐसे पानी के कहीं मुख-कमल हुआ करता है? मुख तो ठोस चीज़ है। इसलिये यहाँ समझना कि वदन (मुख) का एक अर्थ 'सामने' भी होता है। जैसे कहते हैं कि 'वह मेरे अभिमुख हो गया' तो इसका अर्थ यह नहीं कि मुख आगे कर दिया, बल्कि 'मेरी तरफ वृत्ति वाला हो गया।' इसलिये मुख मायने उस तरफ होना। 'मुँह मोड़ लेना', का अर्थ केवल मुँह को उधर कर लेना नहीं। यहाँ बैठा हुआ आदमी बम्बई वाले को लिखता है कि 'मेरे से मुँह मोड़े बैठे हो।' यहाँ 'मुख मोड़ने' का अर्थ रुख हटा लेना है। यहाँ भी जब कहा कि 'जल-रूप शरीर वाले का मुख म्लान हो गया है', तब भाव है कि उसका रुख म्लान हो गया अर्थात् दुःखी हो गये। लेकिन उसका मुख

'कमल' है। क नाम परमात्मा का है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आता है 'ॐ कं ब्रह्म'। ऋग्वेद में भी आता है कि क-नाम वाले परमेश्वर की सेवा करते हैं। इस मंत्र को बहुत से लोग बड़ा ग़लत समझते हैं क्योंकि क का अर्थ संस्कृत में कहीं-कहीं प्रश्नवाचक होता है। एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। क का एक अर्थ वेद के अनुसार ब्रह्म भी है। इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्दर क का प्रयोग बहुत-सी जगह ब्रह्मवाचक अर्थ में हुआ है। जैसे श्रुति ने कहा कि इस सृष्टि के पहले क्या था? इसके विषय में मंत्र आता है 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातःपतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।' जिसने सबसे पहले हिरण्यगर्भ को बनाया, वही सारे प्राणिमात्र का एकपति अर्थात एक ही मालिक था। उसने पृथ्वी और द्यु-लोक दोनों को धारण करके रखा था। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का बहुत से लोग अनुवाद करते हैं कि किस देवता को आहुति दें? किंतु यहाँ प्रश्न नहीं वरन् उस ब्रह्म परमात्मा देव के लिये हम हवि देते हैं, श्रुति तो यह कह रही है। इसी तरह मंत्र है 'क अद्धा वेद' अर्थात् इस सारी सृष्टि को ब्रह्म जानता है। वे अर्थ करते हैं 'पता नहीं कौन जानता है?' सृष्टि को एकमात्र ब्रह्म ने पैदा किया, वही जानता है। वे अर्थ लगाते हैं कि पता नहीं किसने पैदा किया है? एक पूरा नासदीय सूक्त सृष्टि-प्रक्रिया को बताने वाला है। क शब्द के प्रयोग को देखकर उन्होंने कह दिया कि वेद के ऋषियों को पता ही नहीं था, इसलिये सब जगह पूछते हैं! उसके अन्दर क शब्द के प्रयोग से अच्छे-अच्छे लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि ऋषियों को पता ही नहीं था, इसलिये पूछते हैं कि कौन था, कौन था।

क ब्रह्म हो गया, ब्रह्म का ही यह मल नाम-रूप है। जैसे तुम्हारे शरीर का ही मल पसीना होता है, वैसे ही ये सारे नाम-रूप ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, ब्रह्म का ही मल है। मल क्यों कहते हैं? जैसे पानी का मल काई पानी को ढाँकता है, है पानीरूप ही। तुम्हारा मल पसीना तुम्हारी ही सुन्दरता को ढाँकता है। इसलिये मुख पर पसीना आया हुआ हो और किसी आदमी से मिलना हो तो झट मुँह साफ करते हो। तुम्हारा ही मन तुम्हें ही ढाँकता है, है तुम्हारा ही मन। इसी प्रकार नामरूपात्मक दृष्टि है ब्रह्म का ही मल, इसीलिये ब्रह्म को ढाँक देता है। नाम-रूप दीखता है, उसमें रहने वाला ज्ञान नहीं दीखता। इसीलिये परब्रह्म परमात्मा भगवान् शंकर ने विचार किया 'अरे! यह गल गये, लेकिन सर्वथा ख़त्म न हो जायें।' इसलिये उसको निर्विकल्प समाधि से देखा; जब पुनः मनुष्य को नाम-रूप संकल्परूप से स्फुटित होने लगते हैं, तो यही उसका वीक्षण है। इस चेतन समाधि से बाहर आने के बाद जगत् पहले जैसा नहीं रहता, बदल जाता है। क्या बदल जाता है? आज तक जो प्रमाता का विषय होकर प्रमेय था, वह साक्षी-भान का विषय होकर सर्वथा तुच्छ हो जाता है, अनिर्वचनीय नहीं रहता। जब तक तुमको ज्ञान नहीं होता तब तक जगत् अनिर्वचनीय है। 'तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा। ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः।' भगवान् विद्यारण्य स्वामी पंचदशी में लिखते हैं कि माया

तीन रूप से जानी जाती है तुच्छ, अनिर्वचनीय और वास्तविक अर्थात् सच्ची रूप से। कहाँ किस के द्वारा? जो लौकिक पुरुष हैं, जिन्होंने अभी उपनिषदों का श्रवण ही नहीं कर रखा है, उन्हें संसार वास्तविक लगता है, कहते हैं बाहर संसार है तो सही। जब विचार होता है तब पता लगता है कि यह संसार अनिर्वचनीय है। उसको यह नहीं लगता की संसार है। संसार है, ऐसा भी नहीं और नहीं है, ऐसा भी नहीं क्योंकि प्रतीत हो रहा है। इसलिये उसे संसार अनिर्वचनीय लगता है। जो ज्ञानी है, जिन्होंने वेदों का साक्षात्कार कर लिया, जो श्रौत हैं, उन्हें तुच्छ (असत्) लगता है। सिवाय ज्ञान के दूसरा कहीं कुछ नज़र ही नहीं आता। यह तीनों प्रकार का बोध (ज्ञान) है। वेदांती मरने के बाद इस संसार को तुच्छ नहीं देखता। बहुत से लोग मानते हैं कि जब तक संसार है, प्रतीत है, तब तक अनिर्वचनीय है, फिर मरने के बाद असत् हो जायेगा। वेदांती ऐसा नहीं मानता। इसलिये उसकी दृष्टि में यह सारे-के-सारे नाम-रूप-कर्म तुच्छ हो जाते हैं केवल संवित् ही सब रूपों में प्रकाशित हो रही है।

यही उसका वीक्षण (साक्षिभास्यता) है। इसीलिये वह किसी चीज़ की सच्चाई ढूँढने नहीं जाता। यह एक लक्षण है। अपने अंतःकरण में देखना। अपने मन का ध्यान करना। किसी भी चीज़ को देखकर यदि मन में आये कि 'इसमें सच्ची बात क्या है?' तो समझ लेना कि अभी ज्ञान नहीं हुआ है। क्योंकि सच्ची बात का मतलब है कि वहाँ सचमुच कोई कार्य है जिसका कोई सचमुच कारण होगा! ज्ञान होने पर प्रतीतिमात्र है, सब प्रतीतियों का एकमात्र कारण शिव ही है, और कोई कारण नहीं है। दो ही तो चीज़ें हैं ज्ञान और प्रतीति। इसमें और सच्चाई क्या है! जब तक ज्ञान नहीं हुआ तब तक रस्सी में साँप है, ज्ञान होने के बाद संवित् ही सर्पाकार, संवित् ही रज्ज्वाकार है। रज्जु (नामरूप) में भ्रम नहीं है, एक ब्रह्म में ही सारे अनात्मा हैं। अब नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् असत् हो जाता है, तुच्छ दृष्टि हो जाती है। कारण कार्यभाव की परीक्षा करने से मन की स्थिति का झट पता चल जाता है। 'इसने ऐसा कहा तो इसका क्या मतलब होगा?' यह प्रश्न हृदय में आये तो समझ लो कि जगत् सत्य लग रहा है क्योंकि एक यह हुआ और एक इसका वचन हुआ और एक तीसरी चीज़ मन है, इसमें छिपी हुई है जिसका चौथा मतलब हुआ करता है! यहाँ प्रतीति तो केवल यह हो रही है जो इसने मुख से कहा, इसके आगे की सारी कल्पनायें संसार को सत्य मानकर हैं। चाहे वह सत्यता अनिर्वचनीय रूप हो, चाहे कुछ हो, इसीलिये भगवान् पद्मपादाचार्य पंचपादिका के अन्दर एक जगह स्पष्ट करते हैं 'मिथ्या-शब्दोऽपह्नववचनः' यहाँ मिथ्या का अर्थ अनिर्वचनीय नहीं है। कहीं वेदांत में इसका अर्थ अनिर्वचनीय होता है लेकिन यहाँ मिथ्या मायने तुच्छ (अपह्नव) है। यह वीक्षण है। जैसे आहुति से पहले आज्या-वेक्षण होता है।

यह संवित् ही है, तो किसका बाध करें, किसको डण्डा मारकर हटायें? जब तक अनिर्वचनीय था, नाम-रूप था तब तक बाध हो जाता था। अब बाध का डण्डा नहीं मारना है,

यही 'कृपा' 'वीक्ष्य कृपया' है। बल्कि अब उस सारे नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् को अपने में ही प्रतिष्ठित कर लेता है। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब मुझ अधिष्ठान में ही हो रहे हैं, यही उसे प्रतिष्ठा देना है। अधिष्ठान स्वयं बना हुआ है। इसलिये सिर पर चढ़ा रखा है। सारे नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् को शिव ने सिर पर रखा। पार्वती गोद में बैठी हैं, किसी को दीखें, न दीखें। ऐसे ही ज्ञानी के व्यवहार-काल में उसकी ज्ञानदृष्टि तो उसके अंतःकरण की गोद में बैठी है, वह तो कोई बहुत पास जाकर नज़र डाले तो दिखाई देगी। लेकिन वह नाम-रूप-कर्मात्मक व्यवहार को सत्ता देकर व्यवहार करता है। ये दूर से ही दिखाई देते हैं। ब्रह्मदृष्टि गोद में देखने की चीज़ है। पुराने ज़माने में विवाह करके अपनी पत्नी को अपनी दृष्टि का विषय रखते थे कि हम अपनी पत्नी का सौन्दर्य देखेंगे। 'असूर्यं पश्या' पत्नी पति की ही दृष्टि का विषय होती थी। आजकल की पत्नी जगत् की दृष्टि का विषय होती है! बढ़िया से बढ़िया शृंगार तब किया जाता है जब जगत् के सामने प्रकट होना है, घर में सब चलता है। इसलिये यहाँ आधुनिक बीवी का हिसाब नहीं समझना। यहाँ ब्रह्माकार वृत्ति को भगवान् शंकर ने गोद में रखा है, प्रकट के लिये तो गंगा जी है, उसे सब जने देखें। जो अपने अन्दर रहने वाली ज्ञानशक्ति (संवित् शक्ति) है, वह चारों तरफ फैलाने की चीज़ नहीं है, नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् चारों तरफ फैलाने की चीज़ है। नाम-रूप-कर्म के अन्दर ही जिसको पता लगाना हो, लग जाओ। इसलिये उसे प्रतिष्ठा दे रखी है। लेकिन 'मैं अधिष्ठान हूँ' इस बात को जानता है। नाम रूप कर्म तो बेचारे पहले ही गल गये हैं, अब उनका और क्या बाध करूँ! नाम रूप कर्म तो पहले ही मरा पड़ा है। मरे को क्या मारना है? यह जो अपने सिर पर उसे अध्यास कर रखा है, यह जो जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनंद है, यही 'गिरिशः' अर्थात् भगवान् शिव का स्वरूप है।

अतः सौन्दर्य हमेशा त्रिविध तापों को शांत करने वाला हो गया और उसकी प्रकट किरण संवित् हो गई। उस संवित् का मकरंद नाम-रूप-कर्म-रहित जो शुद्ध चिन्मात्र है, वह भगवती उसको देती हैं। 'विकिरति' त्याग देती हैं। नाम रूप कर्म का बाध कराकर फिर नाम-रूप-कर्म को नित्य अपने में अधिष्ठित करके उसे सत्ता देकर भी वही रखती हैं, यही चिदानंदलहरी है।

## प्रवचन-५४

१२-५-७२

चिदानंदलहरी के त्वां-रूप का अर्थात् प्रत्यक्ष रूप का भजन किस प्रकार से सम्भव है? किन गुणों के आधान से, किन गुणों से विशिष्ट, किन गुणों की कल्पना से उसका चिंतन किया जाये? बिना किसी-न-किसी आधार के, बिना किसी कल्पना के ज्ञान का प्रत्यक्ष होना नहीं बनता। जिस प्रकार से सर्वव्यापक आकाश अर्थात् खाली जगह सब जगह है लेकिन सर्वत्र होने वाले व्यापक आकाश में कुछ भी रख नहीं सकते। रखना तभी सम्भव हो जब उस आकाश के ऊपर कोई-न-कोई कल्पना, कोई उपाधि को बैठाया जाय, घड़े-रूप उपाधि को बिठाया तो घड़े से ढका हुआ जो आकाश है उसमें पानी भर सकते हो। वह आकाश तो घड़ा बनने के बाद भी है। पानी हमेशा घड़े की पोल में रहेगा। कुम्हार ने घड़ा बनाया है, घड़े के अन्दर की पोल (घटाकाश) कुम्हार की बनायी हुई नहीं है। कुम्हार ने तो मिट्टी से घड़े की दीवार या घड़ा बनाया है। घटाकाश कुम्हार का बनाया हुआ नहीं है। पानी उस आकाश में ही रहता है। पानी घड़े में नहीं रहता है, घटाकाश में रहता है। संदूक के अन्दर कपड़े रखते हो, वे कपड़े संदूक में नहीं हैं, संदूक के बीच में जो पोल या आकाश है, उस मंजूषाकाश के अन्दर कपड़े रखे जाते हैं, मंजूषा में नहीं। पेटी की लोहे की दीवाल के अन्दर कील घुसाना मुश्किल है तो कपड़ा कहाँ से घुसायेंगे! पेटी के बीच का आकाश पेटी बनाने वाले लुहार ने नहीं बनाया, वह पहले ही था। उसने तो केवल पेटी बनाई। इसी प्रकार से शालाकाश, इस कमरे के बीच की जो पोल है उसमें सब जने बैठे हुए हैं। राज-मिस्त्री ने ईंटों के द्वारा दीवाल बनाई है, उसके अन्दर कोई नहीं बैठा हुआ है, बैठे हुए सब शालाकाश में हैं और यह पोल दीवाल बनने के पहले भी थी। घटाकाश में पानी, मंजूषाकाश में कपड़े, शालाकाश में आदमी रहते हैं, ये तीनों न कुम्हार के बनाये हुए, न लुहार के बनाये हुए, न राज-मिस्त्री के बनाये हुए हैं।

प्रश्न होता है कि यदि घटाकाश, मंजूषाकाश और शालाकाश पहले था तो उसमें पानी, कपड़े और रहने का काम वैसे ही कर लें, इन उपाधियों की क्या ज़रूरत है? लेकिन क्या बिना घड़े के बनाये हुए, बिना घटाकाश के, घड़े में कुएँ से पानी ला सकते हो? पोल तो पहले से ही है, उसी में पानी भरकर ले आओ, घट बनाने की क्या ज़रूरत है? ऐसे ही पोल तो पहले ही है, उसी में कपड़े रख लिया करो, ट्रंक आदि क्यों बनवाते हो। आकाश तो पहले से ही है, दीवाल बनाने की क्या ज़रूरत है? किन्तु आकाश तभी कार्यकारी बनेगा जब किसी उपाधि वाला होगा। उसके बिना आकाश रहते हुए भी किसी प्रयोजन का नहीं है। इसी प्रकार से ज्ञान सर्वत्र है। घड़े के ज्ञान से घटज्ञान हुआ, ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। ज्ञान तो पहले से है लेकिन घट के पास आकर वह ज्ञान अभिव्यक्त हो गया। तुम्हारी आँख से देखने की शक्ति है। आँख से देखने की

शक्ति तो तब भी है जब तुम चुपचाप बैठे हो। लेकिन आँख से देखने की शक्ति तब प्रकट होती है जब सामने कोई मोटर आ जाती है। शक्ति बिना कार्य किये समझ में नहीं आती। आप में से बहुत से लोग कभी डॉक्टर के पास अपनी आँखों की परीक्षा कराने के लिये गये होंगे। डॉक्टर से कहते हैं कि हमारी आँख की परीक्षा करो। डॉक्टर आँख की परीक्षा करके चश्मा नहीं लगाता है, कहता है सामने का चार्ट देखकर बाँचो क्या लिखा है। उससे कहो कि 'हम क्यों बाँचें, तुम हमारी आँख की शक्ति की परीक्षा करो' तो वह कहेगा कि 'मैं कैसे परीक्षा करूँ, शक्ति का प्रयोग तुम करोगे, तब न परीक्षा होगी।' सारा ज़ोर लगाकर देखोगे, तब परीक्षा होगी कि कितनी शक्ति है, और कितनी नहीं है। अथवा कुछ लोग ठीक से नहीं सुनते हैं तो डॉक्टर ट्यूनिंग फार्क लगाकर पूछता है कि सुनाई दिया या नहीं? तुम कहो कि 'तुम ही बता दो, हम क्या कहें!' वह कहेगा कि बिना अपनी शक्ति को प्रकट किय हुए हम कैसे कह सकते हैं कि तुम्हारे में सुनने की शक्ति है या नहीं है, कितनी है और कैसी है। इसीलिये पहलवान लोग ज़ोर करते हैं। कोई कहे कि ज़ोर करने की क्या ज़रूरत है, ताकत तो तुम्हारे में है ही। लेकिन जब तक उसे अभिव्यक्त नहीं करेगा तब तक वह ज़ोर किये बिना प्रकट नहीं है। इसी प्रकार से तुम्हारा ज्ञानस्वरूप घट को देखकर आ नहीं जाता है लेकिन जब तक घट के ऊपर अपने ज्ञान के ज़ोर को न आजमा लो, तब तक तुम्हारे में घट जानने की ताकत है, यह प्रकट नहीं हो सकता है। यह नियम सर्वत्र याद रखना। तुम आनंदस्वरूप हो, इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन जब तक तुम किसी पदार्थ के अन्दर आनंद का आधान करके उसको आनंदरूप न बना सको, तब तक मानना पड़ेगा कि तुम्हारी आनंदरूपता का कुछ तात्पर्य नहीं है। रसगुल्ला तुम्हारे सामने आया, तुमने अपने आनंद की छाया को रसगुल्ले में डाला। तब वह रसगुल्ला तुम्हारे मुख में पहुँचकर तुमको आनंद देता है। तब पता लगा कि यह आनंद तुम रसगुल्ले में डाल सके। जैसे घट में ज्ञान डाला, वैसे ही रसगुल्ले में आनंद डाला। इसलिये सर्वत्र नियम यह हुआ कि बिना प्रयोग किये हुए ज्ञान, आनंद, सत्ता अभिव्यक्त नहीं होती। यही उपाधि की प्रधानता है।

प्रायः होता यह है कि निरुपाधिक की दृष्टि रखते हुए हम निरुपाधिक का वर्णन करते जाते हैं लेकिन कभी भी उपाधि के द्वारा निरुपाधिकता के स्वरूप को प्रकट नहीं कर पाते और जो प्रकट नहीं होता है, वह नहीं जैसा ही है। जब तक घड़ा बनाकर घटाकाश में पानी भरकर न ला पाओ तब तक यह कहना कि उसमें पानी आ सकता था, व्यर्थ है। बहुत पहले हमारे यहाँ उदयनाचार्य ने लिखा 'अणवःसर्वशक्ताः स्युः' अर्थात् अणु के अन्दर बड़ी भारी शक्ति है। लेकिन उनका कहना सर्वथा व्यर्थ रहा! आइंस्टाइन ने भी कहा कि अणु शक्तिमान् होता है लेकिन उसने उसकी शक्ति को उपाधि के द्वारा अणुबम के द्वारा अभिव्यक्त कर दिया। इसलिये आइंस्टाइन का कहना कि अणु में शक्ति होती है, सार्थक है और उदयन का कहना निरर्थक है क्योंकि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार से आत्मा सारे विकारों से रहित है, शोक, मोह आदि

से अस्पृष्ट है, राग, द्वेष आदि से हीन है। जिसने राग-द्वेष आदि के काल में राग-द्वेष आदि से रहित अपनी शक्ति को प्रकट किया, उसका कहना तो सार्थक है। जवान लड़का मरा पड़ा है और बड़ी प्रसन्नता से कह रहा है कि 'बड़ा अच्छा हो गया, इसमें रोने की क्या बात है, जन्म और मरण न जीव का है और न शरीर का है, किसी का नहीं है। यह लड़का मरकर सिद्ध कर रहा है कि 'देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत' इस गीता वाक्य का प्रत्यक्ष दृष्टांत है।' लड़का मरने पर जब ऐसा हो तब तो गीता के इस श्लोक को पढ़ने की सार्थकता हुई और यदि यह नहीं कर पाये फिर कहो कि गीता में लिखा हुआ है, तो वह तुम्हारा पढ़ा हुआ निरर्थक है। यदि इस क्षण कोई कम्युनिस्ट आकर कहता है कि 'तुम्हारे गल्ले को उठा ले जाता हूँ। उसमें पाँच लाख रुपये हैं।' तुम सोचो, यह उठा ले जायेगा तो अधर्म का प्रचार करेगा, इसलिये उसमें रखे नोटों को तेल डालकर ख़त्म कर दूँ, विरोधी के हाथ में नहीं जाने दूँ। यों करके लोगों से कह सको 'बड़ा अच्छा हुआ, मैंने सारे नोट जला दिये, मुझे बड़ी प्रसन्नता है।' तब तो उसके प्रति मोह नहीं है क्योंकि तुमने अपनी शक्ति को प्रकट किया। और यदि इस भय से कि ले जायेगा तो शायद पुलिस पकड़ लेगी, शायद पाँच लाख में से दो लाख तो दे ही देगी; जलायेंगे तो सर्वथा ख़त्म हो जायेंगे; या जलाने के बाद यदि दुःख होता है कि 'हाय ये ख़त्म हो गये' तो मोह है। होनी तो प्रसन्नता चाहिये थी कि एक काल ऐसा आया था कि रुपये विरोधी के हाथ में चले जाते लेकिन मैंने नहीं जाने दिये, यह कितनी प्रसन्नता की बात है। पाकिस्तान ने चढ़ाई की, दो हज़ार आदमियों ने प्राण देकर उन्हें नहीं बढ़ने दिया तो खुशी मनाते हो कि देश विरोधी के हाथ में नहीं गया। इसी प्रकार मैंने पाँच लाख जला दिये लेकिन विरोधी कम्युनिस्ट के हाथ में नहीं जाने दिये   यह प्रसन्नता का विषय है या दुःख का? यदि इस शोक मोह के काल में तुमने अपनी शक्ति को प्रकट किया तब तो तुम्हारा वेदांत-ज्ञान सार्थक है और नहीं तो यह सारे का सारा निरर्थक है। यह ज्ञान कि 'आकाश में पानी भरकर आया करता है', तब तक निरर्थक है जब तक घट के द्वारा घटाकाश में पानी भरकर न ला सको।

भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं 'वीतरागभयक्रोधैः मुनिभिर्वेदपारगैः। निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमः शिवः।।' यह प्रपंच का उपशांत रूप जो शिव है, यह किसकी दृष्टि है, कौन इसको देख सकता है? जैसे यदि कोई कहे कि बृहस्पति के चारों तरफ घूमने वाली उल्काओं का मैंने अपनी आँख से दर्शन कर लिया तो कोई नहीं मानेगा क्योंकि वहाँ की उल्काओं का दर्शन करने की आँख में शक्ति नहीं है। इसलिये कहते हैं कि माउण्ट विल्सन आब्ज़रवेटरी में जाकर दूरवीक्षण यंत्र से देखो तो माना जायेगा कि देखा। देखा तो वहाँ भी आँख से ही। पहले कहा कि आँख से बृहस्पति ग्रह के चारों तरफ वाली उल्का का दर्शन नहीं होता और फिर कहते हैं कि हमने आब्ज़रवेटरी जाकर देखा; तो तात्पर्य हुआ कि दूरवीक्षण यंत्र से पुष्ट हुई आँख के द्वारा दीखती हैं। इसी प्रकार से कहीं पर तो श्रुति ने कहा कि मन से उसका दर्शन नहीं 'यन्मनसा

न मनुते' और कहीं पर श्रुति ने कहा है कि मन से ही उसका दर्शन होता है 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन' मन के द्वारा ही वह देखा जाता है। उसकी व्यवस्था भगवान् भाष्यकार गीताभाष्य में लिखते हैं 'शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतम् अन्तःकरणम् आत्मज्ञाने करणं' जो मन (अंतःकरण) शास्त्र और आचार्य के उपदेश से संस्कार वाला बन गया है, जिसमें शास्त्र और गुरु के उपदेश से शक्ति आ गई है, वह मन उस परमात्म-तत्त्व को देख लेता है, दूसरा नहीं देख पाता। किताब में या अखबार में देखकर तो सब कह देते हैं कि बृहस्पति के चारों तरफ उल्कायें हैं। लेकिन उस 'उल्कायें हैं' के कहने में और जिसने दूरवीक्षण यंत्र के द्वारा उनका दर्शन किया, दोनों में फ़र्क है। इसी प्रकार से आत्मा की एकता को ग्रन्थ आदि के द्वारा देखकर बोलना कुछ और है, और उस अंतःकरण के अंदर शास्त्राचार्योपदेश-संस्कृत शक्ति का आधान होने के बाद देखना और है।

उस शक्ति का स्वरूप भगवान् गौडपादाचार्य ने बताया। है वह निर्विकल्प, लेकिन उस निर्विकल्प का भी अनुभव होता है, सर्वथा अनुभव से रहित नहीं है। ठीक यही संदेह ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रारंभ में भगवान् भाष्यकार उठाते हैं कि ब्रह्मजिज्ञासा से क्या होगा? ब्रह्म तो अविषय है, किसी ज्ञान का विषय नहीं है और ब्रह्मजिज्ञासा प्रारंभ ही हुई कि ब्रह्मज्ञान के लिये यत्न कर्त्तव्य है। यदि ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता तो सारे का सारा ब्रह्मसूत्र व्यर्थ है। जैसे बहुत से लोग कहते हैं कि 'वह तत्त्व तो किसी का विषय ही नहीं है, उसका ज्ञान क्या, वह तो ज्ञानस्वरूप है।' फिर तो वेदांत शास्त्र सारा व्यर्थ है क्योंकि तुम्हारे वेदांत शास्त्र के बिना भी वह ज्ञानस्वरूप है ही, ज्ञान उसका होना नहीं है तो वेदांत का अध्ययन काहे के लिये? वेदांत शास्त्र है इसलिये ज्ञानस्वरूप है इतना पर्याप्त नहीं है, ज्ञानस्वरूप तो वह स्वभाव से है। ब्रह्मसूत्र और वेदांत शास्त्रों का तात्पर्य ब्रह्म की ज्ञानस्वरूपता को प्रकट करने में है, अभिव्यक्त करने में है। ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा उस अनुभव के अयोग्य ब्रह्म को भी अनुभव के योग्य बनाने में है, यह विलक्षणता है। इसीलिये यम नचिकेता से कहते हैं कि इस परमात्म तत्त्व को कहना भी एक आश्चर्य है। आश्चर्य इसलिये है क्योंकि जो कभी भी अनुभव का विषय नहीं बन सकता, उस ब्रह्म को अनुभव का विषय बना देना है। वेदांत का तात्पर्य ज्ञानस्वरूपता को प्रकट करने में अर्थात् अनुभवगम्य बनाने में है। इसीलिये सर्वज्ञ शंकर कहते हैं 'अनुभवावसाना हि ब्रह्मविद्या' ब्रह्मविद्या ख्याली पुलाव नहीं है बल्कि उसका अनुभव पर्यवसित होता है।

वह अनुभव की शक्ति कब आये? जब राग दूर हो गया हो। जब तक पदार्थों में राग है तब तक कभी भी वह ब्रह्मदृष्टि बन सकती ही नहीं क्योंकि उस अंतःकरण में शक्ति ही नहीं है। जैसे कोई आदमी कहे कि 'उसके दायें हाथ में फालिज मारी हुई है इसलिये उठता तो नहीं है लेकिन बड़ा ताकतवर है, किसी को मुक्का मारे तो उसको ख़त्म कर दे।' जैसे यह हास्यास्पद है, उस हाथ में ताकत नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई कहे कि अंतःकरण में राग तो है लेकिन

हम जब चाहें तब ब्रह्मज्ञान के बल से राग को ख़त्म कर देंगे, तो यह बात समझ में नहीं आ सकती।

जैसे राग दूर हो गया, वैसे ही भय दूर हो गया। फिर यम (मृत्यु) से भय नहीं है। लोग कहते हैं 'महाराज! मुझे मृत्यु का भय नहीं है' और फिर थोड़ी देर में यदि पुलिस का वारंट आ जाये तो डर जाते हैं! हमने कहा गजब हो गया, यम को इससे कमज़ोर समझते हो! और यदि कहीं सर्चवारंट लेकर आ जाये तो मुँह पीला पड़ जाता है। भगवान् भाष्यकार 'प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसितवदनश्च' छांदोग्यभाष्य में कहते हैं कि ज्ञानी की इन्द्रियाँ और वदन हमेशा ही प्रसन्न रहता है, उसे मृत्यु का भय नहीं है। वह उसको भी आत्मस्वरूप समझता है तो उसको फिर किस दूसरे का भय होना है! जिस अंतःकरण में राग और भय नहीं, उस अंतःकरण में क्रोध भी नहीं है। क्रोध राग या भय से होता है। वैसे भय का कारण भी राग ही है। क्यों सर्चवारंट से भय होता है? क्योंकि राग है कि यह दुकान वैसी ही बनी रहे। जिसको यह निश्चय है कि यह दुकान, मकान अनित्य हैं, इनके लिये प्रयत्न करेंगे तो भी नष्ट हो जाने हैं, वह तो कहेगा कि यदि नष्ट हो गये तो एक धक्का हम और मारें। जैसे नदी के किनारे के ऊपर का जो तट गिरने जैसा लगता है तो नदी पर स्नान करने वाले उसे पैर की ठोकर मारकर पहले ही गिरा देते हैं क्योंकि अकस्मात् कहीं पैर पड़ा तो लुढ़क न जायें। इसी प्रकार जो दुकान लगती है कि यह चलने वाली नहीं है तो वह प्रसन्न होकर कहता है कि जान-बूझकर पहले ही तोड़ दो, नहीं तो अकस्मात् किसी दिन टूटेगी तो शायद चोट लगे। भय के पेट में राग बैठा हुआ है। इसी प्रकार क्रोध का मूल भी राग और भय है।

राग, भय, क्रोध दूर हो गये, तब अंतःकरण में वह सामर्थ्य आई। जब राग, भय, क्रोध दूर हो गये तब एक उल्लास आता है, आनंद आता है। हमारे आनंद-स्वरूप के ऊपर राग, भय, क्रोध के ढक्कन पड़े हैं। जिस प्रकार दीपक पर तुमने घड़ा ढाँक कर रख दिया तो जलता हुआ दीपक भी कमरे के अंधकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता। कोई कहे कि 'दीपक तो जल ही रहा है, हम खुद दिया जलाकर रख आये हैं, इसलिये उस कमरे में अंधकार तीन काल में नहीं है' तो बात ठीक है, लेकिन जलता हुआ दीपक भी अकार्यकारी है क्योंकि घट से आवृत है। इसी प्रकार यह सत्य है कि हमारा तो स्वरूप ही नित्यमुक्त है, आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति नहीं करनी है, लेकिन राग, भय, क्रोध के घड़े से ढका हुआ है, इसी कारण से जीवन के प्रतिक्षण में उल्लास नहीं आ रहा है। उस उल्लास की कमी में कारण राग, भय, क्रोध का ढक्कन है। अज्ञान, माया इत्यादि शब्दों से हम लोग कई बार अज्ञान के कार्य को भूल जाते हैं।

हमको बुखार आ गया। डॉक्टर कहता है कि 'तुम्हारे पेट में अमुक रोग के कीटाणु आ गये हैं, टाइफाइड बैसिली आ गया है, अंतड़ी में कीटाणु आ जाने से तुम्हें बुखार आया है।' तुम डॉक्टर के पास बुखार और सिर-दर्द हटाने के लिये गये थे, उसने इलाज किया और कहा कि

'सात दिन में तुम्हारा रोग ठीक कर दूँगा।' सात दिन इलाज करके कहता है कि 'तुम ठीक हो गये।' तुम कहते हो, 'बुखार तो अभी भी आ रहा है, सिर का दर्द भी ठीक नहीं हुआ।' डॉक्टर कहे कि 'मैं कहता हूँ कि तुम ठीक हो गये हो। बुखार तो तुम्हारा धर्म है, आता ही रहेगा, जब तक शरीर है, तब तक बुखार और सिरदर्द को कहाँ जाना है! इसलिये तुम्हारा रोग तो ठीक हो गया है।' तो तुम नहीं मानोगे। वह कहता है कि 'मैंने स्टूल अनैलेसिस (मल-परीक्षा) के द्वारा देख लिया कि तुम्हें कोई रोग नहीं है, कीटाणु नहीं है, बुखार तो चलता रहेगा', तो तुम नहीं मानोंगे कि स्वस्थ हो गये। तुम कहोगे 'डॉक्टर साहब! पेट में पहले कीड़े थे, यह भी मेरे को पता नहीं और अब वे कीड़े नष्ट हो गये, यह भी पता नहीं। ये दोनों आपकी रिपोर्ट है। आप ही ने पहले परीक्षा करके कहा कि पेट में कीड़े हैं। यह मेरी तकलीफ नहीं थी और अब आप कह रहे हो कि कीड़े मर गये, यह भी मुझे पता नहीं। मैं तो आपके पास बुखार और सिर-दर्द लेकर आया था। जब बुखार और सिर दर्द दूर नहीं हुआ तो आपकी दोनों रिपोर्टों से हमारा कोई वास्ता नहीं है।' इसी प्रकार से हम लोग अध्यात्म (परमात्म) तत्त्व के पास क्यों गये? प्रतिक्षण संसार की दावाग्नि में तप रहे थे, दुःखों का अनुभव कर रहे थे, चारों तरफ से धक्के खा रहे थे। कोई हमको कर्त्तव्य की चोट मारता था कि कर्त्तव्य करो। कोई हमको देशभक्ति की चोट मारता था कि देश की सेवा करो, कोई पैसे की चोट मारता था कि पैसा कमाओ। सब हमसे लेने को तैयार थे और हम दुःखी हो रहे थे। उन सबकी मर्ज़ी का करके भी दिल का दुःख दूर नहीं हो रहा था। हम अध्यात्म-तत्त्व विद्या के पास क्यों गये? ईमानदारी की बात करना, निर्हेतुक प्रेम की बात नहीं करना! दुःख की निवृत्ति और आनंद की प्राप्ति के लिये ही गये थे। शास्त्रज्ञों ने कहा कि इसका कारण अज्ञान है। तुमने कहा, ठीक है, होगा। उन्होंने कहा कि तुम्हारा यह अज्ञान दूर होगा तो ठीक हो जाओगे। तुमने कहा ठीक है। उन्होंने खूब कसरत करवाई, पंच कोष, पंच महाभूत याद कराये। पंच महाभूतों से कैसे-कैसे इन्द्रियाँ, प्राण, मन बने, यह सब याद कराया। पंच महाभूतों के तमोगुण से जगत् बनाया। फिर उसके बाद विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा के लक्षण याद करवा दिये। यह सब करके हमने तुम्हें कह दिया कि 'हे जीव! तू ही ब्रह्म है। बस तत्त्वमसि ही ब्रह्मज्ञान है।' तुमने कहा ठीक है। क्या अब तुम्हारा अज्ञान नष्ट हो गया? यही अज्ञान था कि तुम स्वयं को जीव समझते थे। तुम ब्रह्म हो सुना, तो क्या तुम कृत-कृत्य हो गये? तुम कहते हो कि अभी भी घर जाते हैं तो बीवी कहती है कि कड़ा क्यों नहीं लाये? हम कहें 'यह तो चलता रहेगा।' जब दुकान में जाते हैं तो चोरी से दिल धक-धक करता है। पुलिस वाले वारंट लेकर आते हैं तो दिल घबराता है। हम कहें 'वह तो चलता रहेगा, हमने तेरा रोग ठीक कर दिया।' समझदार कहेगा 'अज्ञान का चक्र भी तुमने बताया, हम यह देखने नहीं आये थे, हम तो अपने दुःख को दूर करने आये थे। जिस रोग को लेकर आये थे, वह बुखार और सिर-दर्द तो आज भी निवृत्त नहीं हुआ, आज भी है। तुमने कहा

कि अज्ञान के कारण है तो हमने कहा ठीक कह रहे हो। लेकिन तुम कहते हो कि रोग दूर हो गया, तुम तो मुक्त हो, फिर कष्ट चलता कैसे रहेगा?' गैर समझदार तो हाँ भर लेता है कि अज्ञान तो नष्ट हो गया। लेकिन बुद्धिमान् कहता है कि प्रारब्ध का भोग, संचित कर्म और आगामी कर्म आदि की पट्टी तो तुमने पढ़ाई है। हमको तो अनुभव केवल अभी होने वाले दुःख का है, और तुम्हीं ने कहा कि दुःख निवृत्त होगा। इसलिये जब तक दृष्ट दुःख को हम नष्ट नहीं कर पाते हैं, तब तक आनंद का उल्लास नहीं ले पाते। तब तक सारे परिश्रम व्यर्थ हैं। आत्मा की नित्यमुक्तता सिद्ध करने में हमारा प्रयोजन नहीं है।

इतना याद रखना कि दूसरी तरह की डाक्टरी भी बिलकुल ग़लत होती है : तुम डॉक्टर के पास गये, तुमने कहा सिर दर्द है और उसने झट लिखकर दे दिया कि एस्प्रो खा लो। सिर दर्द दूर हो गया। तुमने कहा बुखार है, उसने कहा 'क्रोसीन खा लो तुम्हारा बुखार उतर जायेगा।' तुमने खाई, बुखार उतर गया। तीन घण्टे बाद फिर बुखार और सिर दर्द हो गया। फिर उसने तुम्हें नावल्जीन दी, फिर हट गया। लेकिन तीन घण्टे बाद फिर आ गया तो मानोगे कि यह दवाई भी कारगर नहीं है क्योंकि रोग के कारण को इसने दूर नहीं किया। केवल रोग दब गया। इसलिये न तो केवल बाह्य उपचार के द्वारा तुम्हारे रोग को थोड़ी देर रोकने के लिये जो दवाई दी जाती है वह कारगर है, और न जो केवल कहा जाये कि 'कारण को दूर कर दिया, कार्य तो बना रहेगा', वह दवाई उपयुक्त है। दवाई तो वह है कि सिर दर्द और बुखार उतर जाये और फिर न चढ़े। यह सीधी-सी बात है। इसी प्रकार बहुत से लोग कहते हैं कि प्राणायाम, योगाभ्यास इत्यादि करो, जब समाधि में बैठोगे तो तुम्हारे ताप शांत हो जायेंगे। उतने काल के लिये हो जायें, लेकिन जैसे ही वहाँ से उठकर आयें, फिर वैसे-के-वैसे हों तो उन्होंने उपचार क्या किया! उन्होंने तो रोग को केवल थोड़ी देर के लिये दबा दिया। अन्य जितने भी वादी हैं वे सारे 'सिम्प्टोमैटिक ट्रीटमेण्ट' ही करते हैं, ऊपर से रोग को दबाते हैं, कारण को दूर नहीं करते। जैसे बहुत से अध्यापक अपने लड़कों को खूब सवाल और जवाब याद करवा देते हैं, लड़के इम्तिहान में पास भी हो जाते हैं, प्रथम श्रेणी में भी आ जाते हैं लेकिन अव्वल दर्जे के मूर्ख बने रहते हैं! गारंटी देते हैं कि आपके लड़के को प्रथम श्रेणी में पास करवायेंगे तो पाँच हज़ार रुपये दे देना। बे-पढ़े-लिखे माँ-बाप समझते हैं कि पढ़ा देंगे; लेकिन वे कुछ नहीं करेंगे। डिग्री के कागज़ों से कुछ नहीं होना है। इसलिये दोनों ही तरीके गलत हैं। सकारण निवृत्ति होनी है और उसका कार्य भी हट जाना है, तभी रोग की निवृत्ति होगी।

इसी प्रकार से जब भगवती की आराधना करेंगे उस काल में वह केवल ज्ञानमयी चिदानंदलहरी है, इससे काम नहीं चलने वाला है। उसके ऊपर कुछ गुणों का आधान करेंगे, तभी उन गुणों के आधान के द्वारा उसके त्वां-रूप अर्थात् प्रत्यक्षता का अनुभव होगा। जब यह प्रत्यक्षता अनुभव होगी तभी अन्दर वाली ज्ञानशक्ति प्रकट होगी। तब पता लगेगा कि हमारी

ज्ञानशक्ति क्या है। घट, पट आदि में तो अपनी ज्ञानशक्ति अनादि काल से आज तक रुझाये हुए हो लेकिन यह ज्ञानशक्ति प्रकट करके तुम्हारे दुखों की निवृत्ति नहीं हो रही है। वेदांती कहता है कि तुम्हारी ही ज्ञानशक्ति तुम्हारे दुःख को दूर करेगी। जैसे बहुत से आदमी पूछते हैं कि कौन-सी चीज़ या गिज़ा ताकत देती है, बादाम या घी? बंगाल में एक विष्णुचरण घोष है, अब तो बहुत वृद्ध हो गये हैं। वे बंगाल में पहलवानी सिखाते हैं। एक बार बातचीत में हमने उनसे पूछा कि आप के बंगाल के लोग ताकत के लिये क्या खाते हैं? मारवाड़ में घी और बादाम खाते हैं। वे हँस पड़े, कहने लगे  मैं यह मानता ही नहीं कि किसी चीज़ में गिज़ा होती है। गिज़ा तो खाली कसरत में है। यदि डटकर कसरत करेंगे तो मछली भात भी ताकत दे जायेगी और यदि कसरत नहीं करेंगे तो बादाम का हलुआ खाकर भी कमज़ोर हो जायेंगे। इसलिये उन्होंने कहा कि ताकत भोजन से नहीं आती, ताकत तो कसरत से आती है। भोजन तो उसे प्रकट करने का साधन है। हमने कहा यह वेदांत की बात है। तुम्हारा ज्ञान और मोक्ष कहीं *से* नहीं आना है, वह तो तुम्हारे अंदर ही है। जैसे ताकत तुम्हारे अंदर है, लेकिन कसरत करने पर प्रकट होगी, गिज़ा के द्वारा अभिव्यक्त होगी, इसी प्रकार जितना विचार, मनन, निदिध्यासन है, वह सारे का सारा तुम्हारी इस ज्ञान शक्ति को प्रकट करने के लिये है।

लेकिन कौन-सी कसरत? यह समझ लो। बहुत से लोग कहते हैं कि हम बरसों से आज तक कसरत करते आये हैं, चलते हैं, घूमते हैं। ऐसे-ऐसे आदमी हैं जो रोज़ १२ मील घूम आते हैं। हमने विष्णुचरण घोष से यह भी पूछा क्योंकि वे इस विषय को जानने वाले थे। उन्होंने कहा  'स्वामी जी! थोड़े समय में ज़्यादा-से-ज़्यादा शरीर के अंग-प्रत्यंगों के ऊपर बल पड़कर दम टूटने लगे तो उस समय यदि एक सौ दण्ड भी एक साँस में लगाते चले जायें तो ताकत दे देंगे। लेकिन एक दण्ड लगाकर फिर दो मिनट लेट गये तो यों हज़ार दण्ड भी ताकत देने वाले नहीं हैं।' जो कसरत आज तक करते रहे हो, वही करनी है, कोई नई नहीं है, लेकिन फ़र्क यह है कि तीव्र वेग के द्वारा दम टूटने तक करनी है। तभी वह कसरत ताकत देगी। घट, पट आदि के अन्दर जो तुम अपने ज्ञान, ध्यान को प्रकट करते रहे हो, वह सारे का सारा वैसा ही है कि एक मिनट घट का ज्ञान फिर लेट गये। फिर पट का ज्ञान किया, फिर लेट गये। लोग कई बार कहते हैं कि इस रूप को देखकर यदि हमारा मोक्ष नहीं हुआ, यह भी तो सविशेष है, फिर भगवान् विष्णु का दर्शन करके क्या होना है! लेकिन फ़र्क यह है कि विष्णु का सविशेष रूप तब देख पाओगे जब दनादन दण्ड लगाओगे। और यह रूप ऐसा है कि दीखा, फिर दीखना बंद। इसलिये शक्ति नहीं आती। शक्ति तुम्हारे में ही है, कहीं दूसरी जगह से शक्ति नहीं आनी है लेकिन जब तक इसे तीव्र मनन, निदिध्यासन के द्वारा प्रकट नहीं करोगे, तब तक वह तुम्हारे अंदर रही हुई भी कुछ नहीं है। और वह जो तुम्हारा रूप है, उसकी जो दिव्यता है, उसको देखने में जो कठिनाई है, वह कठिनाई ही अभिव्यक्त करती है। बादाम इसलिये अभिव्यक्त करते हैं कि बादाम को

हजम करने में ज़ोर लगाना पड़ता है। इसी का नाम गिज़ा है। उसी प्रकार से उस परमात्मा के दिव्य विग्रहों का साक्षात् करना है, इसमें जो कठिनाई है वह कठिनाई ही तो तुम्हारी ज्ञानशक्ति को प्रकट करती है, नहीं तो आदमी सोचता है कि 'विष्णु के, देवी के दर्शन करके क्या होना है, ऐसे ही दर्शन होंगे जैसा हम देख रहे हैं'। किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे कोई कहे, 'दण्ड ही तो करने हैं, क्या फ़र्क पड़ता है?' तो ऐसा नहीं है। सौ दण्ड एक साँस में लगाओ तब ताकत अभिव्यक्त होती है, नहीं तो नहीं। यह जो तुम्हारी अंदर की चीज़ को प्रकट करना है, इसी को कहा 'अमन्दं सौन्दर्य प्रकरमकरंदं विकिरति' यह सौन्दर्य का जो प्रकर अर्थात् किरणें हैं, और उसका मकरंद है। जैसे फूल का मकरंद (मधु) है उसी प्रकार से यह भगवती हमारे अन्दर सौन्दर्य के प्रकर के मकरंद को प्रकट कर देती हैं, फैला देती हैं और तब राग, द्वेष, भय, क्रोध से निवृत्ति होती है, शक्ति आती है। जब शक्ति का प्रकर हुआ तब मधु की प्राप्ति हुई, उसके बिना नहीं। तब उसके पूरे मुनि बनते हो और वेद के पार को पा जाते हो 'मुनिभिः वेदपारगैः निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमः शिवः'। इसी प्रकार जब उसके त्वां-रूप मकरंद को समझ लिया, उसे अधिगत कर लिया, तब उसका निर्विकल्प स्वरूप दृष्ट हो जाता है और तब प्रपंचोपशम शिव है।

उपाधि के बिना निर्विकल्प भाव प्रकट नहीं होता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार-बार कहा कि जब तक सविकल्प के बारे में अपना अनुभव दृढ नहीं हो पाता तब तक निर्विकल्प हाथ में नहीं आता, शब्दमात्र रह जाता है। उसका प्रत्यक्षीकरण राग, भय, क्रोध की निवृत्ति है। इसी से उसका पता लगता है कि तुम्हारे अंदर शक्ति आई या नहीं। जैसे शरीर फूला तो पता लगा कि पहलवान है। सबसे पहले पहलवान का शरीर कब फूलता है? सेठ का शरीर भी फूला हुआ होता है। फ़र्क यह है कि पहलवान दीखता तो ठीक-ठीक है लेकिन जिस समय कुश्ती मारता है उस समय उसकी गाँठें फूलती हैं। पहले दाँव में तुमको वह चमक अच्छे पहलवान में भी नहीं दिखाई देती है, दूसरे में ज़रा चमक आती है, तीसरे और चौथे दाँव में उसका शरीर बिजली की तरह कौंध जाता है। सेठ भी बड़ा तगड़ा होता है और पहलवान से ज़्यादा तगड़ा *दीखता* है। फ़र्क यह है कि जैसे-जैसे उनसे कोई काम करायें, वैसे-वैसे उनके अंदर ढीलापन आने लगता है। पहलवान के अंग-प्रत्यंग तो ज़ोर करने पर और कसते हैं, सेठ से पहली बार कहो तो शायद बालटी उठा लेगा, दूसरी बार कहो तो ऊपर नहीं हो पाती, तीसरी बार तो हाथ ही नहीं लगाते, कहते हैं, किसी और को बुला लीजिये। पहलवान जैसे-जैसे प्रयत्न करता है, चमक बढ़ती है। इसी प्रकार से जिसका राग, भय, क्रोध वीत है वह बाकी समय में तो संसारी पुरुषों की तरह ही दीखता है, फ़र्क तब आता है जब राग, भय, क्रोध का विषय उपस्थित होता है, तब उसकी तो वैराग्य, निर्भयता, अक्रोध की भावनायें और तगड़ी होने लगती हैं। जिस समय राग, भय, क्रोध का काल नहीं है, बैठे हुए सामान्य बातचीत चल रही है, उस समय में वह और संसारी दोनों एक जैसे दीखेंगे। वह भी कहेगा कि ब्रह्म ऐसा है, संसारी भी कहेगा कि ब्रह्म ऐसा है। लेकिन राग, भय,

क्रोध इन तीनों में से किसी का विषय आया तो संसारी का विचार तो ढीला पड़ने लगता है। एक-दो मिनट तक तो राग, भय आदि की छोटी-छोटी बात में मन को नियंत्रित भी कर लेता है लेकिन फिर थक जाता है। फिर कहता है 'चलो यहाँ से, राग का विषय आ गया, जाना ही पड़ेगा।' दूसरी तरफ वीतरागभय-क्रोध वाले के सामने ये आते हैं तो उसकी शक्ति और बढ़ती है। जितना बड़ा भय होगा, उसकी चमक और ज़्यादा होगी। किसी एक कवि ने लिखा है; वह क्रांतिकारी कवि था, इसलिये वह कहता है कि सिर पर कफन बाँधकर कातिल को ढूंढ रहा हूँ। कोई आकर मुझे मारे तो सही। इसी प्रकार रावण के बारे में कहा जाता है 'रणकण्डू-परवशान्' उसके हाथ खुज़लाते थे कि कोई लड़ाई करने वाला मिले। ऐसे ही ज्ञानी ढूंढता है कि कोई भय देने वाला आये तो सही। बड़े-से-बड़े राजा को भी वह कुछ नहीं समझता। जिसमें शक्ति नहीं होती वह बात तो सारी निर्भयता की करेगा लेकिन सम्राट् तो क्या, पुलिस को देखकर ही ढीला पड़ने लगता है क्योंकि उसकी पहलवानी सेठ के जैसी है। तभी असली गिज़ा प्रकट होती है। निर्विकल्प ज्ञान की प्रतीति सविकल्प की दृढता में है और यह दृढता इन सारी क्रियाओं में प्रकट होती है। यही मकरंद है। इस मकरंद का स्वरूप आगे बतायेंगे।

# प्रवचन-५५

१३-५-७२

चिदानंद-स्वरूपिणी भगवती का किसी प्रकार से प्रत्यक्ष अनुभव करने पर ही वह अंत में अस्मत्-प्रत्यय का विषय होकर साक्षात् अपरोक्ष होती है यह बताया। इस प्रकार जो उसकी अपरोक्ष रूप में स्थिति होती है, उसी को यहाँ धन्य पद से कहा। त्वां-रूप से जब तक उसका अनुभव नहीं हो जाता तब तक वह कभी भी अहं से एक नहीं हो सकती। पहले उसका अनुभव त्वां-रूप से होगा, तभी उसका अनुभव अहं-रूप से सम्भव है। त्वां-रूप से अनुभव किन-किन गुणों के आधान से होता है, यह बात रहे थे। पहले बताया, सर्वथा सब पदार्थों के प्रति त्यागवृत्ति रूपी दीनता। दूसरा बताया, सौन्दर्य के प्रकर का मकरंद अतिशय (अमंद) है। सौन्दर्य का मतलब असल में क्या होता है? किसी चीज़ को सुन्दर क्यों कहते हैं? शास्त्रकारों ने बताया 'अंगप्रत्यंगकानां यत् सन्निवेशो यथोचितः। संश्लिष्ट-संधिबन्धं तत् सौन्दर्यमिति कथ्यते' सुन्दर चीज़ के अंग-प्रत्यंग होते हैं, जैसे शरीर में हाथ अंग हुआ और हाथ में भुजा, बाहु, हथेली, अंगुलियाँ ये सब प्रत्यंग हुए, अंगुलियों में फिर अलग-अलग जोड़ प्रतिप्रत्यंग हुए। अंगों का दूसरे अंगों के साथ और अंग के अन्दर होने वाले प्रत्यंगों का आपस में जो सन्निवेश है वह उचित होना चाहिये अर्थात् उनके परिमाण में कोई क्रम होना चाहिये। यह नहीं कि भुजा बड़ी मोटी और हथेली बड़ी पतली या हथेली बड़ी पतली और अंगुलियाँ बहुत मोटी! यह जो उनका सन्निवेश है, यह उचित होना चाहिये, उसके अंदर उचित संतुलन होना चाहिये जिसे अग्रेंज़ी वाले 'प्रोपोर्शनेट हार्मनी' कहते हैं। फिर जो-जो संधि के बंध हैं अर्थात् जहाँ आपस में मिलते हैं, वहाँ भी संधि (जोड़) होगी। जहाँ अंग आपस में मिलेंगे वहाँ भी संधि होगी। ये संधिबंध आपस में संश्लिष्ट होने चाहिये, आपस में एक-दूसरे से ऐसे मिलने चाहिये कि एक से दूसरे में जाने पर किसी विपरीतता का बोध न हो, पता न लगे कि एक अंग से दूसरे अंग में पहुँच गये। इसे संश्लिष्ट कहते हैं। हैं तो अलग-अलग लेकिन दोनों का जो आपस में जोड़ है, वह इतना क्रमिक (ग्रैजुअल) होना चाहिये कि एक से दूसरे में गये, इसका पता ही न लगे। जितनी-जितनी इस चीज़ की पूर्णता होगी, उतना-ही-उतना उसको सुन्दर कहा जायेगा।

जैसे स्थूल शरीर में, ऐसे ही सूक्ष्म शरीर में समझना। यहाँ तो जीव का विचार चल रहा है। जीव के भी अंग-प्रत्यंग हैं। जीव स्वतः तो अंगी हो गया और कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, अंतःकरण, प्राण, पंचमहाभूत, अविद्या, काम (वासनायें) और कर्म इसके अंग हुए। इसलिये जीव के ये आठ अंग माने। जैसे मनुष्य के अंग होते हैं, ऐसे ही मनुष्य में रहने वाले जीव के भी ये अंग हैं। ये आठों मिलकर जीव बना, इसलिये ये आठ इसके अंग हुए। इनमें से हरएक में से प्रत्यंग निकलते हैं। कर्मेन्द्रियों में हाथ, पैर, जीभ आदि; ज्ञानेन्द्रियों के आँख, कान, नाक आदि

ये सब प्रत्यंग हुए, अंतःकरण के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; प्राण के प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान; महाभूत के पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये सब प्रत्यंग हुए; कामनाओं में पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा; कर्मों के इष्ट, पूर्त, दत्त, काम्य आदि प्रत्यंग हो गये। जीव की सुन्दरता क्या होगी? इन अंगों का आपस में सन्निवेश उचित होना चाहिये। यह नहीं कि ज्ञानेन्द्रियाँ तो बड़ी मोटी और कर्मेन्द्रियाँ बड़ी पतली।

बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ खूब काम करती हैं, चीज़ों को देखने, सुनने में बड़ी पतली होती हैं लेकिन करने का मौका आया तो रसगुल्ला! उनसे मीमांसा करवायें तो आज की सारे भारतवर्ष की राजनीति, अर्थ-नीति का विचार कर लेंगे, सब देखते-सुनते रहते हैं, उन्हें सब पता है। उनसे अगला प्रश्न करो कि इस परिस्थिति को बदलने के लिये क्या कर रहे हो? तो कहते हैं कि हम तो खाली हाथ मोटे कर रहे हैं। पैर तो पतले ही पतले हैं। लोग समाचारपत्र पढ़ते हैं ताकि दुनिया की कुछ खबर तो चले। हमारा प्रश्न है कि खबर चलकर उस दुनिया के कल्याण के लिये तुम क्या करते हो? कहते हैं, यह सब कुछ नहीं। यहाँ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का आपस में यथोचित सन्निवेश नहीं हुआ।

कुछ लोग ज्ञानेन्द्रियों को यह काम नहीं करने देते, केवल अंतःकरण से काम लेते हैं। जैसे नैयायिक लोग वहीं बैठे-बैठे युक्ति सोचते हैं। यदि उनके किसी भी लक्षण में दोष दें तो बैठे-बैठे परिष्कार सोचते हैं। एक मोटा दृष्टांत है कि न्याय शास्त्र मानता है कि शब्द आकाश में रहता है। 'शब्दगुणकम् आकाशम्।' पाश्चात्य देश वाले मानते हैं कि शब्द आकाश में नहीं रहता। उन्होंने एक प्रयोग किया। एक ऐसी चीज़ बनाई जिसमें घण्टी लटका दी और उसी चीज़ में से हवा निकाल ली अर्थात् उसे अवायु (वैक्यूम) बना दिया। अंदर बिजली से घण्टी बज रही है लेकिन बाहर आवाज नहीं आ रही है। उन्होंने कहा कि यदि आकाश में अंदर शब्द रहता तो उस घण्टी की आवाज़ बाहर आती क्योंकि वहाँ आकाश तो है ही। आवाज़ बाहर नहीं आ रही है इसलिये इसका मतलब है कि वायु के बिना आवाज़ नहीं आती। यह उन्होंने एक प्रयोग करके दिखाया। किसी नैयायिक से हमने पूछा कि अब क्या कहोगे? वे बड़े अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि हमको ज़रा वह प्रयोग तो दिखा दो। उन्होंने कहा कि हम एक दल का निवेश करके अपने लक्षण में डाल देंगे कि वायु के अभाव के न रहने पर आकाश के अन्दर शब्द रहेगा अर्थात् जहाँ-जहाँ वायु-युक्त आकाश है, वहाँ-वहाँ शब्द रहेगा। वायु का न रहना ही उस शब्द के न रहने के प्रति प्रतिबंधक हो गया। हमने कहा कि तुमने लक्षण का तो परिष्कार किया लेकिन इससे यह कैसे सिद्ध हुआ कि शब्द वायु में नहीं रह रहा है? किंतु वे केवल परिष्कार की सोचते हैं अर्थात् अंतःकरण से सोचते हैं, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भी देखने को तैयार नहीं कि हम जो कह रहे हैं, उसका बाह्य जगत् के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं। कुछ लोगों ने कर्मेन्द्रियों को पुष्ट किया, ज्ञानेन्द्रियों को नहीं किया। कुछ ने ज्ञानेन्द्रियों को पुष्ट किया तो अंतःकरण को

नहीं किया। कुछ ने अंतःकरण को पुष्ट किया तो ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों को नहीं किया। अंतःकरण को पुष्ट करने वाला बैठे-बैठे सब विचार कर जायेगा, सारे संसार की मीमांसा अंतःकरण (मन) से कर जायेगा, कहाँ तक की छाल मारेगा, कोई ठिकाना नहीं है। अंनतकोटि ब्रह्माण्ड और सृष्टि-प्रक्रिया सब सोच लेगा, लेकिन ज़मीन के नीचे क्या है, उसको कुछ पता ही नहीं!

एक आदमी दुनिया भर का हिसाब लगाया करता था, सब चीज़ों का हिसाब रखता था। उसकी पत्नी उसकी जेब से रुपये निकाल लिया करती थी। वह आकर कुर्ता टाँगे और उसमें हज़ार के नोट हों तो वह दस का नोट निकाल ले। वह खूब हिसाब रखे और हिसाब नहीं मिले तो लिख दे कि सौ रुपये खर्च। वह किसी टैक्स ऑफिसर के पास पहुँच गया तो उसने पूछा कि यह कभी दस और कभी पचास का मिस्लेनियस खर्च क्या है? उसने कहा कि बीच-बीच में हिसाब नहीं मिलता तो लिख देते हैं। कराधिकारी बड़ा बुद्धिमान् था, उसने उसकी पत्नी का बैंक बैलेंस पूछा तो उसमें भी हज़ारों रुपये निकल आये। उसने उसके नाम का भी एक समन भेज दिया कि आप भी अपना इन्कम टैक्स रिटर्न भेजो। घरवाली को आश्चर्य हुआ, उसने पति से कहा तो उसने पूछा कि तेरे पास इतने रुपये कहाँ से आ गये? उसने बताया कि तुम्हारी ही जेब से निकाल लेती थी। उसने कहा ‘भली मानस! कह कर ही निकाल लेती। अब तो दो जगह कर लग जायेगा। मेरे को तो लग ही चुका, यदि मेरे से तू माँग लेती तो एक ही जगह लगता। मैंने तो उसे खुदरा खर्च में लिख दिया। अब तेरे को और कर लगेगा, इसलिये दुगना कर चला जायेगा।’ सारी दुनिया का हिसाब रखता रहा लेकिन अपने ऊपर डबल टैक्स लगा गया।

इसी प्रकार लोग पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि सब का हिसाब करते रहते हैं और अपने नीचे से ज़मीन खिसक जाती है, उसका पता ही नहीं रहता। अपना क्या बन रहा है, परमात्म-प्राप्ति के मार्ग में कितने आगे, बढ़े नहीं बढ़े, यह कुछ पता नहीं। राग, द्वेष आदि, शोक मोह आदि कितने दूर हुए, इसका कोई हिसाब उनके पास नहीं। उसका पता उनकी घरवाली से लगता है। वह कहती है कि इन्हें इतने दिन सत्संग करते हुए हो गये लेकिन इनका गुस्सा वैसा-का-वैसा ही है। नौकरों पर गाली गुफ़्तार वैसा-का-वैसा करते हैं, चिड़चिड़ापन वैसा ही है। तब पता लगता है कि विचार तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश का करते हैं लेकिन नीचे से ज़मीन खिसक रही है, इसका पता ही नहीं है। बहुत से लोग ऐसे होते हैं। एक मुसलमान झाड़ा लगाने वाला था। उसकी पत्नी कहा करे कि पानी का मौसम आने वाला है, ऊपर की खपरैल बदल दो। वह हर बार टाल दे। एक दिन कहीं से बुलावा आ गया तो झट अपना चाकू लेकर चल दिया। उसकी घरवाली ने सोचा कि यह रोज़ जाता है, अपने भी चल कर देखें कि करता क्या है। वह भी पीछे-पीछे चुपचाप पहुँच गई। उसने जिसे झाड़ा लगाना था, उसे सामने बिठाकर झट बोलने लगा ‘आकाश बाँधूं, पाताल बाँधूं।’ यह सुनते ही पीछे से उसकी घरवाली ने एक

चपत मारा और कहा कि 'घर में तो खपरैल नहीं बँधती और यहाँ आकाश-पाताल बाँधता है।' जो केवल अंतःकरण से काम करता है, ठीक यही हाल उसका होता है। वह बैठकर विचार करता है कि जगत् तीन काल में नहीं है, त्रैकालिक अत्यंताभाव है। उनका नौकर पीछे से आकर चपत मारता है कि 'घर में एक प्याला टूटे तो कहते हो कैसे टूट गया और यहाँ कहते हो ब्रह्माण्ड नहीं है, सब उड़ा दिया! जगत् तीन काल में नहीं है और मैं चाँदी का एक गिलास लेकर चला गया था तो पुलिस में पकड़ा दिया था।' कारण यह है कि अंतःकरण ही पुष्ट हुआ है, बाकी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ।

अंतःकरण से आगे चलो तो बहुत से लोगों के प्राण ठीक नहीं हैं। कुछ लोग प्राणायाम आदि से प्राणों को ही पुष्ट करने में लगे रहते हैं लेकिन अंतःकरण पर कोई ज़ोर नहीं है। प्रायः तपस्वियों को देखोगे कि सैंकड़ों साल की तपस्या के बाद भी उनमें क्रोध आदि विकारों की कोई सीमा नहीं। उल्टा जितनी ज़्यादा तपस्या, उतना ही क्रोध आदि बढ जाते हैं। घर में देखते हो कि बाकी दिन सासू जी शान्त भी हैं लेकिन एकादशी वाले दिन तापमान ज़रा ज़्यादा गरम रहता है क्योंकि तपस्या कर रही हैं, एकादशी का व्रत है। तपस्या के कारण अंतःकरण में शान्ति होनी चाहिये थी लेकिन नतीजा उल्टा होता है। प्राण पुष्ट होने पर भी अंतःकरण आदि पुष्ट नहीं हैं। इसी प्रकार से कुछ ने प्राणों को भी पुष्ट कर लिया, अंतःकरण को भी पुष्ट कर लिया तो उनकी कामनाओं की इयत्ता नहीं। उनमें इतनी कामनायें हैं जिसका कोई ठिकाना नहीं। जैसे प्राचीन काल में रावण आदि में देखा जाता है। तपस्या भी थी, ज्ञान भी था, कर्म भी उत्कृष्ट थे, सब कुछ होने पर भी कामनायें असीम थीं। उसी कामनाओं की असीमता के कारण उनका क्या हाल हुआ, जानते ही हो। ये सारे अंग हुए। इन अंगों का आपस में सन्निवेश यथोचित होना चाहिये, सबका आपस में समन्वय होना चाहिये, सबके अन्दर संतुलन होना चाहिये। केवल एक ही अंग बढ़ता चला गया और दूसरे कमज़ोर होते चले गये तो सौंदर्य नहीं है।

परमेश्वर सुन्दर क्यों है? उसमें अंग-प्रत्यंग सब सन्निविष्ट हैं। उनके अंदर इन सब चीज़ों में असमन्वय नहीं है, सारा सन्निवेश यथोचित है, जैसा संतुलन होना चाहिये, वैसा ही है। इसीलिये साधनायें अलग-अलग होती हैं क्योंकि जिसकी जो चीज़ पुष्ट है, उसे उससे दूसरी चीज़ पुष्ट करनी चाहिये। प्रायः स्कूल में क्या होता है? जो लड़का गणित में अच्छे नम्बर लाता है, मास्टर भी उसे गणित अच्छी तरह पढ़ाता है, वह भी पढ़ता है और उसका गणित पुष्ट होता चला जाता है और मैट्रिक में जाकर गणित में सौ में से पिच्यासी और इतिहास में सौ में तीस और फेल हो गये। ऐतिहासिकों ने इसका समाधान निकाला कि एक-दो विषयों में फेल हो तो वह फेल ही नहीं। यह तो मूर्खों का समाधान हुआ। सारे विषयों के प्रति जिसके अन्दर एक संतुलित ज्ञान नहीं है, केवल एक विषय का ज्ञान है तो वह विद्वान् नहीं बन सकता।

हमारे यहाँ का व्यापारी-वर्ग रुपया कमाने में विद्वान् है, संसार के किसी देश से रुपया

कमाने में कमज़ोर नहीं है। फिर भी हमारा व्यापारी-वर्ग उन्नति क्यों नहीं कर रहा है? क्योंकि वह इतिहास के ज्ञान से शून्य है, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के ज्ञान से शून्य है। इसलिये वह रात-दिन पैसा कमाने की बात सोचता है लेकिन उसके अन्दर जो परिवर्तन हो रहे हैं उसके ज्ञान से शून्य है। नतीजा यह होता है कि कभी समाजशास्त्री आकर हथौड़े मारते हैं और छीन ले जाते हैं, कभी मनोविज्ञान शास्त्री, लेबर लीडर आकर हथौड़ा मार कर ले जाते हैं। यहाँ का व्यापारी कभी यह नहीं सोच पाता कि क्या कारण है कि लेबर लीडर हमारे काम करने वालों को बहका ले जाते हैं। हम कहते हैं कि तुम क्या करते रहते हो? वे भी तो आदमी हैं जो बहकाने वाले हैं। तुमने कभी प्रयोग करके देखा कि हम क्यों नहीं बहका पाये? उसे समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं है। न वह वैज्ञानिक है, न उसकी यही दृष्टि है कि ज्ञान वाले से राय लेकर काम करे। वह तो रात-दिन यही सोचता है कि पैसा कमाने से पैसा बढ़ता है। जब तक दूसरे विज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान आदि आगे नहीं बढ़े थे, तब तक तो यह चलता था और अब दूसरे विज्ञान वाले उससे लाभ उठा ले जाते हैं। वे जानते हैं कि किस समाज, जाति के नारे से, कैसे मनोविज्ञान से जनता को प्रभावित कर लेते हैं और तुम नहीं कर पाते हो। असली लाभ वे उठा ले जाते हैं। आज आप लोग कभी यह विचार करके देखते हो कि आप लोग जितने टैक्स देने वाले हैं, उसी के समानान्तर यदि टैक्स लेने वाले को देखें तो वे तुमसे ज़्यादा सुखी रहते हैं। एक-एक संसद्-सदस्य के ऊपर साल में दो-दो लाख रुपये खर्च हो जाते हैं। बड़े व्यापारी बैठे हैं, किसी को पता ही नहीं है कि उन्होंने क्या किया जो इतना रुपया ले गये? वे सब समाजविज्ञान, मनोविज्ञान के द्वारा ले जाते हैं। व्यापारी अपने एक विषय को जानने वाला होकर दूसरे विषयों में मूर्ख है, इसलिये अपनी ही उन्नति नहीं कर पाता तो देश की क्या उन्नति करेगा! दूसरी तरफ जो विज्ञान जानने वाले हैं, उन्हें पैसा कमाना नहीं आता लेकिन जानते हैं कि जनता को कैसे मूर्ख बनाया जाये। इसलिये उन्होंने बड़े-बड़े कारखाने खोल रखे हैं, वे मज़दूरों से वोट तो ले लेते हैं लेकिन उन काम करने वालों से मज़दूरी नहीं करवा पाते।

शिक्षा वह होती है जिसमें समन्वय हो। तुम्हें इतिहास के कुछ आयामों का पता है, सारे देश को किधर ले जाया जा रहा है, यह समझने की शक्ति है, किस प्रकार से लोगों को मनोविज्ञान के द्वारा प्रभावित किया जाता है, इसका पता है। हर चीज़ के विशेषज्ञ नहीं हो सकते, लेकिन कम-से-कम उनकी कीमतों का पता है तो विद्वान् के पास बैठकर कुछ विचार कर सकोगे।

यह कहना कि जो लड़का गणित में ही पास होता है उसे केवल गणित में पास होने से पास मान लो, इतिहास में फेल हुआ तो फेल ही मत मानो, यह उसका समाधान नहीं है। समाधान यह है कि गणित तो वह जानता ही है, उसे अलग से इतिहास पढ़ाने के लिये इन्तज़ाम करो। जो कमज़ोर हैं उनके लिये दो कक्षायें लगाओ, बल्कि घर में वह गणित की अपेक्षा इतिहास

ज़्यादा पढ़े, इसपर दृष्टि रखो। इसी चीज़ को साधना के क्षेत्र में देखो : एक आदमी को विचार करना बड़ा अच्छा लगता है। अंतःकरण के द्वारा, बुद्धि के द्वारा उसे विचार करना बड़ा अच्छा लगता है, वह ध्यान नहीं कर सकता। वह कहता है कि किसी भी मार्ग से परमात्मा को पाना है, मुझे तो विचार में मज़ा आता है। असली सिखाने वाला कहेगा कि यह तो पता है कि विचार में ज़्यादा मज़ा आता है, इसीलिये तो तुम ध्यान ज़्यादा किया करो क्योंकि तुम्हारा विचार पुष्ट है लेकिन ध्यान कमज़ोर है। दूसरा, ध्यान करने में बड़ा अच्छा है, उसे ध्यान में चार घण्टे बिठाओ तो बैठ जायेगा। लेकिन थोड़ी-सी शास्त्रचिंतन की बात आती है तो कहता है कि 'पढ़ने लिखने से भगवान् थोड़े ही मिलते हैं। ध्यान से मिलते हैं।' सद्गुरु उसे कहेगा कि ध्यान में तो तेरा मन लगता ही है, ज़रा शास्त्र-विचार भी तो किया कर, इसके बिना कैसे होगा। कोई व्यक्ति ऐसा है जिसे ये सारे स्वरूप तो अच्छी तरह से बैठ जाते हैं, ध्यान और विचार कर लेता है लेकिन इनके सिवाय उससे यदि यह भी कहा जाये कि 'तेरा भाई बीमार है, उसके पैर दबा दे' तो कहता है कि 'यह सब अपने से नहीं होता। बैठकर जप करने को कहो तो मैं उसके नाम की माला फेर लूँगा।' यह भी जानता है कि उसके अंदर का जो आत्मा, वही मेरे अंदर का आत्मा लेकिन पैर दबाना, दवाई आदि देना, यह सब नहीं होता है। अनुभव की बात है कि किसी दुःखी को देखकर उनका चित्त विक्षिप्त हो जाता है कि क्या रोगी की सेवा करें। मन विक्षिप्त हो जाता है, कहते हैं  न किसी दुःखी को देखेंगे और न हमको दुःख होगा, इसलिये अपने तो बैठकर विचार करेंगे, ध्यान करेंगे। उससे गुरु कहेगा कि तेरे को तो अस्पताल ही जाना है और तुझे वहीं काम करना है क्योंकि वही तेरा कमज़ोर अंग है। इसलिये कहा कि सभी अंगों का सन्निवेश होना है, इनके अन्दर आपस में संतुलन हो। केवल एक अंग की पुष्टि से काम नहीं चलेगा।

यहीं कठिनाई पड़ती है क्योंकि जिस लड़के का मन गणित में लगता है, वह कहता है कि मुझे इतिहास क्यों पढ़ा रहे हो। लेकिन वस्तुतः जब तक तुम्हारी संतुलित विकसित अवस्था नहीं आयेगी, तब तक पूर्णता की प्राप्ति नहीं होने वाली है। यदि भगवान् को केवल विचार ही कराना इष्ट होता तो तुम्हें केवल बुद्धि देता। फिर ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय काहे के लिये दी हैं? यदि भगवान् को केवल ध्यान ही कराना होता तो तुम्हें केवल चित्त देते, कर्मेन्द्रियाँ क्यों देते? इसी प्रकार बहुत से लोग काम करने में लगे हुए हैं। उनका यही कहना होता है कि 'अपने से काम तो होता है, सेवा होती है चाहे सवेरे से शाम तक करा लो। सब सेवा कर लेंगे लेकिन बैठकर शास्त्र-चिंतन अपने से नहीं होने वाला है।' भगवान् ने तुम्हें केवल कर्मेन्द्रियाँ नहीं दी, बाकी सब साथ दिया है। परमेश्वर के अन्दर ये सारे संतुलित हैं। इसलिये वह सुन्दर है। जीव जितना-जितना अपने सौंदर्य को विकसित करेगा अर्थात् जो-जो अपने कमज़ोर अंग हैं, उन सबका बार-बार अभ्यास करके उन्हें पुष्ट करेगा, उतना उनमें संतुलन लायेगा। 'संश्लिष्टसंधिबन्धं तत् सौन्दर्यमिति कथ्यते' संधिबन्ध में संश्लेष होना चाहिये। ज्ञान से जब तुम कामना (इच्छा) में जाओ तो पता

नहीं लगना चाहिये। ज्ञान, इच्छा की संधि ऐसी हो कि पता ही नहीं लगे। जिस चीज़ का ज्ञान हो, उसकी स्वतः ही इच्छा हो जाये। इच्छा कब क्रिया में चली गई, इसका पता ही न चले। नहीं तो, इच्छा ज़रूर है, कुछ-न-कुछ करेंगे। फिर दो महीने बाद कहेंगे कि ज़रूर करेंगे। फिर थोड़े दिन बाद कहेंगे, अब निर्णय कर लिया है कि ज़रूर करेंगे। यहाँ इच्छा क्रिया की संधि मोटी पड़ रही है। जिस विषय में इच्छा हुई, उस विषय में क्रिया तुरंत चालू होनी चाहिये। तब यह जीव का सौन्दर्य लायेगी।

जीव का यह सौन्दर्य भगवती कैसे देती हैं? 'अमन्दं सौन्दर्यं प्रकर-मकरंदं विकिरति' प्रकर का मतलब प्रखर भी होता है अर्थात् पूर्ण रूप से तेज़। इस प्रकार का सौन्दर्य जीव को वह पूर्ण रूप से दे देती हैं और इसके द्वारा उसका जीवन मकरंद मधु से भर जाता है। जीवन का मिठास तो इस संतुलित अवस्था में है, किसी एक में नहीं। जीवन में दो घण्टे में रस लेंगे और फिर बीस घण्टे प्रारब्ध-भोग का कष्ट सहेंगे, इसका नाम मकरंद नहीं है। कई बार हमारा अनुभव होता है कि कहीं गये, किसी ने कोई चीज़, शिकंजी आदि पीने को दी। उन्हें पता है कि हम चीनी ज़्यादा लेते हैं। दो चम्मच ले लेते हैं, उन्होंने दो चम्मच डाल दिये। हमने ज़रा पीकर कहा कि फ़ीका है। कहते हैं 'नहीं है, दो चम्मच डाले हैं।' हम कहते हैं ठीक है क्योंकि हो सकता है हमारी जीभ कुछ खराब होगी। इन्द्रियों का भरोसा नहीं कर सकते क्योंकि वेदांती को जितना शब्द पर विश्वास होता है, इन्द्रियों पर विश्वास नहीं होता! इसलिये हम उनका विश्वास करते हैं। रहस्य तब खुलता है जब पौना गिलास पी चुकते हैं। तब झट मिठास मिल जाता है। सोचते हैं गजब हो गया, जीभ एक दम साफ हो गई या क्या हो गया! दो-चार घूंट लेते ही नीचे चीनी का पहाड़ नज़र आता है। उसने दो चम्मच चीनी डाली, इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन फिर भी हमको मधुर क्यों नहीं मिला? क्योंकि चीनी का सामरस्य नहीं था। मकरंद वह होता है कि ऊपर के स्तर से लेकर नीचे के स्तर तक एकरस हो। इसी प्रकार से ध्यान, विचार या जप के दो घण्टे के अन्दर यदि हमारे अंदर मिठास आ भी गया और बाकी सब जगह फीका ही रहा तो क्या हम मान लेंगे कि यह मिठास है? बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षण के अन्दर मिठास ही भरा हो तो वह मिठास है। वह कब हो सकता है? जब भगवती की कृपा हो। यह जो भगवती की कृपा है, जब इसका विकिरण होता है तो फिर मनुष्य को उसे छोड़कर और किसी चीज़ को लेने की आकांक्षा ही नहीं रह जाती। इस संतुलन और समन्वय में एक ऐसी पूर्णता है कि उस पूर्णता के बाद और कहीं से कुछ लेना अवशिष्ट नहीं रह जाता। क्या कारण है कि हम लोग हमेशा अपने आपको अपूर्ण अनुभव करते हैं? दस आदमियों के साथ बैठकर बोल रहे हैं तो अपूर्णता क्योंकि थोड़ी देर में कहते हैं कि इससे तो चुपचाप बैठना अच्छा है, बड़ी शान्ति रहती है। मौन ही तो व्याख्या है, उस परमात्मा के विषय में क्या कहा जा सकता है! शाम को कोई मिलने वाला नहीं आया, मौन बैठे हुए हैं तो फिर अपूर्णता कि आज कोई नहीं आया, कोई आता तो सत्संग

करते! बात करते हैं तो मौन की सोचते हैं। मौन में रस लेने का मौका आया तो बात की सोचते रहते हैं। इसलिये हर समय जीवन में अपूर्णता है। धन कमाया तो कमाते काल में ही टैक्स वालों की चिन्ता से ग्रस्त हो जाते हैं। अरे, अभी कमाया है तो खुश होना चाहिये, जब ले जायेंगे तो खुश होना, कि अच्छा हुआ नहीं तो चोरी हो जाती, टैक्स वाले ले गये तो उसे चोर नहीं चुरा सकते। यह पूर्णता का अनुभव इसीलिये नहीं है कि सामरस्य नहीं है। भगवान् भाष्यकार इसी सौन्दर्यलहरी में आगे जाकर कहते हैं कि जब पूर्णता हो जाती है तो दूसरी चीज़ों की इच्छा कैसे निवृत्त हो जाती है?

'अमू ते वक्षोजावमृतरसमाणिक्यकुतुपौ।
न सन्देहस्पन्दो नगपतिपताके मनसि नः'।

हे भगवती! तुम्हारे स्तनों से जो दूध पिया गया, उसका नतीजा यह हुआ कि समग्र कामनायें समाप्त हो गई। तुम्हारे दोनों स्तन कैसे हैं? 'कुतुपौ' कुतुप चमड़े की थैली को कहते हैं। ये चमड़े की थैलियाँ हैं लेकिन 'माणिक्य-कुतुपौ' माणिक्य से बनी हुई हैं। इसलिये सुन्दर हैं, चमक रहे हैं। लेकिन दूसरी जगह तो कुतुपों के अन्दर तेल या घी भरा रहता है। क्योंकि पहले टीन के कनस्तर नहीं होते थे, इसलिये कुप्पों में घी, तेल रखते थे। इनमें अमृत रस भरा हुआ है। 'न सन्देहस्पन्दो' हमारे मन में इसके विषय में संदेह की झलक (स्पंद) भी नहीं है क्योंकि

'पिबन्तौ तौ यस्मादविदितवधूसंगरसिकौ।
कुमारावद्यापि द्विरदवदनक्रौञ्चदलनौ।।७३।।'

संदेह न होने का कारण बताया कि उसका पान करने वाले भगवान् गणेश और स्वामी कार्तिकेय दोनों ने तुम्हारे स्तनों का पान किया इसीलिये आज भी वे कुमार ही हैं, दोनों ने विवाह नहीं किया। वधू के संग के रस को उन्होंने लिया ही नहीं। यह बताता है कि यदि तुम्हारे स्तन-कलश में अमृत न होता तो वे उम्र में बड़े हो जाते और इनका ब्याह हो जाता लेकिन ये आज भी कुमार बने हुए हैं। सोलह वर्ष की उम्र तक ही कुमार कहा जाता है। अमृत पान कर लेने से इनकी उम्र बढ़ी ही नहीं, इसलिये आज भी कुमार ही हैं। उम्र न बढ़ने का क्या मतलब है? उम्र बढ़ने से पदार्थों के प्रति जो कामनायें उत्पन्न होती हैं, वे कामनायें उत्पन्न नहीं हुई। अमृत के पान से वे बालक के बालक रह गये, उनकी उम्र नहीं बढ़ी। जब उम्र ही नहीं बढ़ी तो बाकी विकारों के आने की सम्भावना ही नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपके स्तन में ज़रूर अमृत भरा हुआ है।

विचार करके देखो तो यहाँ द्विवचन का प्रयोग किया है, इसका कारण है। गणेश जी को द्विरदवदन के नाम से कहा। रद दाँत को कहते हैं। हाथी का वदन हो तो गजमुख हो गये। जीव

भी द्विरद-वदन है। इसकी बाहर निकली हुई दो चीज़ें ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही इसका संसार के साथ सम्बन्ध है। यह प्रक्रिया की बात है, ज़रा ठीक समझना। न अंतःकरण से बाहर जा सकते हो, न अंतःकरण से बाहर की चीज़ को छू सकते हो। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही बाहर जाओगे। बाह्य जगत् की तरफ या कर्मेन्द्रियों से या ज्ञानेन्द्रियों से जाओगे। बाकी अविद्या, काम, कर्म, प्राण नहीं जायेंगे। बाह्य जगत् में घूमने वाले जीव की दो ही दाढ़ें हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् को जानता है और कर्मेन्द्रियों के द्वारा जगत् में परिश्रम करता है। घड़े को यहाँ से उठाकर वहाँ रखा, तो कर्मेन्द्रिय से परिश्रम किया और घड़े को ज्ञानेन्द्रिय से जाना। यह जीव का एक रूप है। यदि यह द्विरदवदन (जीव) भगवती के अमृतरस माणिक्य कुतुप का पान कर ले; जिस प्रकार बच्चा सारे शरीर में सर्वाधिक प्रेम स्तन से ही करता है क्योंकि उसी से उसको खुराक मिलती है, बाकी अंगों का वह विचार नहीं करता, ठीक इसी प्रकार से इस ब्रह्माण्ड के अन्दर जो भगवती की चिदानंदलहरी है, इसके अन्दर जो हमको पुष्टि देने वाले उसमें दिव्य विग्रह हैं, हमको तो उसी से शान्ति मिलती है। यद्यपि यह अनंत कोटि ब्रह्माण्ड सारा उसका विग्रह है लेकिन जैसे माँ तो सारी एक ही है पर अंगुली पीकर बच्चे को कुछ नहीं मिलेगा, पेट या घुटने में मुँह मारकर कुछ नहीं मिलेगा। माँ तो सब जगह एक जैसी है, चाहे जहाँ मुँह मारे, दूध मिल जाना चाहिये, लेकिन नहीं मिलेगा। दूध स्तन में ही मिलेगा। इसी प्रकार अनंतकोटि ब्रह्माण्डों में जितने रूप दिख रहे हैं, ये सारे रूप हैं तो भगवती के ही, इसमें कोई संदेह नहीं लेकिन राजराजेश्वरी, ललिता आदि वे रूप हैं जिनसे हमें अमृत मिलेगा। उनके दर्शनों से, उनके सम्बन्धों से तो हमें अमृत की प्राप्ति होगी, उसमें से अमृतस्राव होगा। बाकी सारे रूप, पुत्र, पति, नोट आदि परमात्मा का रूप नहीं हैं  वेदांत यह नहीं कह रहा है, लेकिन इन सारे रूपों के अंदर अमृत तो नहीं निकलता है, उनसे तुमको पुष्टि नहीं मिलनी है। माँ तो सारी है इसमें संदेह नहीं है। लेकिन दूध तो स्तन से ही पीना होगा। इसी प्रकार भगवती के दिव्य विग्रहों, पारमेश्वर रूपों के द्वारा ही हमें अमृत मिलने वाला है।

कुतुप शब्द पर टीकाकारों ने बड़ा लम्बा-चौड़ा विचार किया है। संक्षेप में विचार यह है कि कुप्पा बड़ा घृणित-सा होता है, कोई सुन्दर चीज़ नहीं है। लेकिन भगवती के स्तन बड़े सुन्दर हैं। इसलिये कुतुप के साथ उपमा देने से हीन उपमा हो जायेगी। इसीलिये टीकाकारों ने खींचतान कर अर्थ किया है कि कुछ दूसरी चीज़ मान लो। लेकिन यहाँ स्वयं भगवान् भाष्यकार ने यह प्रयोग किया है तो विचार से ही किया है। ऐसा ही स्थल छांदोग्य उपनिषद् में आता है जहाँ परमात्मा के रंग को बताते हुए हीन उपमा दी है। भगवान् का दिव्य विग्रह कैसा लाल है, इसे बताने के लिये वहाँ बन्दर के नितम्ब की उपमा दी है। भगवान् भाष्यकार ने वहाँ कहा है कि यह हीन उपमा नहीं है इसलिये उसका अर्थ नहीं बदला है। कहा यह है कि भगवद्विग्रह की आँखें लाल हैं जैसा लाल वह कमल होता है जो बन्दर के बैठने की जगह जैसे रंग का होता है।

वैष्णवों का बड़ा असुन्दर लगा। रामानुज ने कपि का अर्थ 'कं जलं पिबति सूर्यः' जल को पीने वाला सूर्य किया है अर्थात् उदय होता हुआ सूर्य जैसा लाल है। भगवान् भाष्यकार भी ऐसा अर्थ कर सकते थे लेकिन हमारे यहाँ रुढि को प्रधान मानते हैं। वहाँ बताया तो जा रहा है 'कपि के आस का रंग', अब तुम्हारी बुद्धि कपि के आस में फँस जाये तो क्या किया जाये! इसी प्रकार कुतुप का अर्थ बदलने की चेष्टा की है लेकिन व्यर्थ है। इसलिये ठीक-ठीक ढंग से यह हीन उपमा नहीं है। हर हालत में, कुतुप किस दृष्टि से कहा है? इस पर विचार करना है। सारे शरीर के अंग-प्रत्यंग की चमड़ी और स्तन की चमड़ी की एकरूपता बताने के लिये ही प्रयोग है कि बाहर से तो स्तन और सारे अंग-प्रत्यंग एकरूप हैं। इसी प्रकार जब भगवती के दिव्य विग्रहों को देखोगे तो बाहर से उसमें भी नाक-कान दिखाई देंगे। झट हृदय में होगा कि उसके नाक-कान हमारी माँ के जैसे, हमारी लड़की के जैसे हैं। बाहर से देखोगे तो समानता दीखेगी। एक-जैसे होने पर भी भगवती के दिव्य विग्रहों में से हमें अमृत मिलेगा और यहाँ से क्या मिल रहा है, जानते ही हो। माणिक्य का रंग लाल होता है। स्तन के ऊपरी भाग का भी वर्ण लाल होने से वह इच्छा की पूर्ति का प्रतीक है। राग या इच्छा की पूर्ति भगवती का सौन्दर्य प्रकट करता है। माणिक्यकुतुपौ से यह भी यहाँ पर इंगित करना इष्ट है।

भगवती को नगपति-पताका कहा है। नग का मतलब पहाड़ है, पहाड़ों का मालिक हिमालय उनका ध्वज है। दूसरे, नग का अर्थ है 'न गच्छतीति नगः' जो कभी चलता नहीं, वह नग है। इस दृष्टि से साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही नग है। हिमालय आदि भी किसी काल में, महाप्रलय में नष्ट हो जाते हैं। इसलिये वास्तविक नग अच्युत (परमात्मा) है और वही सारे संसार का ईश्वर है। वही भगवती का एकमात्र चिह्न है। इसलिये हे भगवती! तुम्हारा यह जो दिव्य विग्रह है, इसका पान पहले तो द्विरदवदन करते हैं जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा संसार में प्रवेश करते हैं। लेकिन तुम्हारे दिव्य विग्रह को देखने के लिये ही करते हैं। कर्म-उपासना करनी तो है लेकिन तुम्हारा स्तनपान करने के लिये करनी है। दूसरे क्रौंचदलन हैं। क्रौंच राक्षस था, उसने पहाड़ का रूप ले लिया था, उसे स्कंद ने मारा था। अज्ञान ही क्रौंच है। यह पहाड़ की तरह अभेद्य है, पहाड़ की तरह इसे भेदा नहीं जा सकता। इसका दलन अंतःकरण की वृत्ति से होगा। द्विरदवदन से बताया कि जो बाह्य जगत् में कर्म-उपासना में लगा हुआ है और दूसरी तरफ क्रौंचदलन अर्थात् जो अंतःकरण से ज्ञान में लगा हुआ है, दोनों में जिसकी पूर्णता है, वह कैसा होता है? जीव की वधू कौन है? जीव किस के द्वारा बँधता है? जीव कामनाओं के द्वारा बँधता है। इसे बाँधने वाला न बाह्य जगत् है, न अंतःकरण है। कामना ही वस्तुतः बाँधने वाली चीज़ है। लोग कहते हैं 'क्या बतायें, गृहस्थ में फँसे हुए हैं।' क्या कारण है? उनसे पूछो कि कोई कीचड़ है कि फायरब्रिगेड बुलाकर साफ करा दें जिससे निकल जाओ? बड़ा बढ़िया घर में मार्बल पत्थर लगा हुआ, गलीचे बिछे हुए हैं। लेकिन कामना में फँसे हुए हैं।

इसलिये जीव की पत्नी अर्थात् जीव को इस संसार में बाँधने वाली चीज़ कामना है। जब भगवती के दिव्य विग्रह को देखते हैं तो संसार की चीज़ें इतनी तुच्छ लगती हैं कि कामना के संग का उसे ज्ञान भी नहीं होता। उसके सामने यह सब कुछ फ़ीका लगता है, इसलिये वह कुमार बना हुआ है। संसार के लोग कहते हैं कि जिनको हम लोग उत्तम चीज़ें मानते हैं, वे सब तरह से उसे प्राप्त होने पर वह संसार के पदार्थों के लिये प्रयास क्यों नहीं करता? सारे संसार के लोगों का बार-बार यही कहना होता है कि संसार के लिये प्रयास क्यों नहीं? वह प्रयास इसलिये नहीं कि प्रयास के लायक चीज़ हो तो वह प्रयास करे। प्रयास करके जो मिलेगा वह थोथा माल है, उसमें कुछ नहीं है। जैसे बुढ़िया के बाल बहुत बड़े दिखते हैं लेकिन हाथ में लो तो चीनी की छोटी गोली है। या दौलत की चाट जिसे दौलतमंद खा सकते हैं क्योंकि उन्हें क्रीम, मलाई, रबड़ी हजम नहीं होती है इसलिये वे उसे खाकर बड़े खुश होते हैं। जैसे इन दोनों में कुछ तत्त्व नहीं है, जिसे रबड़ी हजम हो जाती है, वह उसे कभी नहीं खायेगा। इसी प्रकार जिसे उस भगवती के दिव्य विग्रह के आनन्द को प्राप्त करने की लालसा है और यदि वह उसे प्राप्त हो गया है तो वह व्यर्थ की कामनाओं के अन्दर कभी नहीं जायेगा। इसलिये वह कुमार कहा गया। यह इसलिये कह रहे हैं कि यह जो सौन्दर्य का प्रकर मकरंद है, भगवती के अंग-प्रत्यंगों का संश्लेष होकर उससे आने वाले पूर्णता के आंनद का जो चारों तरफ एकरस होकर फैलना है, जब यह प्राप्त हो जाता है तो मनुष्य का जीवन बदल जाता है।

# प्रवचन-५६

१४-५-७२

भगवती के चिदानंद स्वरूप का वर्णन करके उसकी प्राप्ति का स्थान बताया। उसका भजन करने में जो उसके प्रत्यक्ष रूप का भजन करते हैं, वे ही अंत में उसके अपरोक्ष रूप को प्राप्त करते हैं। जब तक त्वां-रूप से उसकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक अहं-रूप में उसका सन्निवेश अर्थात् अपने अंदर प्रवेश नहीं कर पाते। वह किस प्रकार से त्वां-रूप में प्रतीत होती है इसे बताते हुए आगे के श्लोकों में जो उसके रूप का वर्णन किया उसमें दो गुण बताये। उनमें पहला है 'ददाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमाशानुसदृशीं' त्याग की पूर्णता उसकी कृपा से मिलती है और नाम-रूप-कर्म के अन्दर जो संश्लेष है यह भी उसकी कृपा से मिलता है।

उसका तीसरा स्वरूप बताते हैं (श्लो. ९०) 'तवास्मिन्मन्दारस्तबकसुभगे यातु चरणे'। कल्पवृक्ष के फूलों को क्यों मंदार करते हैं? वैसे साधारण भाषा में मंदार मदार को कहते हैं। लेकिन यहाँ वस्तुतः मदार नहीं, कल्पवृक्ष को ही मंदार कहा है। कल्पवृक्ष को क्यों मंदार कहते हैं? मंद का अर्थ 'धीरे' है जैसे मन्द-मन्द हवा बह रही है। मंद की जहाँ पूर्णता हो, वह मंदार है। मंद की पूर्णता का मतलब है कि जिस चीज़ की उपलब्धि के विषय में मनुष्य निस्संदिग्ध होता है, उसके विषय में उसका प्रयत्न मंद होता है। जहाँ उपलब्धि या प्राप्ति के विषय में मनुष्य को जितना अधिक संदेह होता है, उसके लिये उतना ही ज़्यादा प्रयत्न करता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। श्रुतियों ने कहीं-कहीं यहाँ तक कह दिया कि परमात्मा की प्राप्ति छुरे के धार पर चलने की तरह है। यह नहीं कि मोटा छुरा हो तो शायद उस पर चलना सरल हो जाये, वह धारा निशित है, धार तेज़ की हुई है और दुरत्यया है, उस पर चलना अत्यंत कठिन है। इसलिये उसे 'दुर्गं पथः' बता दिया अर्थात् वह रास्ता चलने में कठिन है। ऐसा कवि लोग, क्रांतदर्शी लोग कहा करते हैं। दूसरी तरफ उसकी प्राप्ति सरल-से-सरल भी बताई है। उसकी प्राप्ति में कोई कठिनाई है ही नहीं, यह भी बताया है।

शंका हो सकती है कि ये दोनों विरोधी बातें कैसे? यहाँ तक सरलता बताई है कि एक सुई को कमल के पत्ते में घुसने में चाहे कठिनाई हो, परमात्म-प्राप्ति उससे भी सरल है! एक तरफ इतना कठिन और एक तरफ इतना सरल बताया है, इसका प्रयोजन क्या है? यदि कठिनता की बात पहले न बताई जाये तो मनुष्य उसके प्रति अनादर भाव वाला हो जाता है। उसके लिये जो प्रयत्न करना चाहिये वह नहीं करता। लोग सोचते हैं कि चाहे जब कर लेंगे। जैसे विचार करो, यदि कोई व्यक्ति कहता है कि हम दिन भर में केवल एक वाक्य बोलेंगे और ५०० आदमियों से ज़्यादा के सामने नहीं बोलेंगे तो देखोगे कि लाखों आदमी भीड़ में खड़े हो जायेंगे कि हमारा पहले नम्बर आ जाये और हम ही सुनें। यदि कहो कि दिन भर बोलेंगे, जब

आओ तब बोलेंगे, जितनी बातें पूछो, उतनी बोलेंगे, तो दृष्टि बनती है कि चाहे जब चले जायेंगे। यह वृत्ति क्यों बनती है? जिस चीज़ में कठिनाई का संकेत मिलता है वहाँ मनुष्य को तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होकर एकाग्र दृष्टि बनती है। सुलभता मनुष्य के प्रयत्न को मंद करती है। इसीलिये परमात्मा हमारे हृदय में ही बैठा है, इस बात को कहा जाता है तो तुरंत मनुष्य उसके प्रयत्न के लिये शिथिल हो जाता है। जितना प्रयत्न दुकान चलाने के लिये या छोटी कढ़ाई बनाने के लिये करते हैं उतना प्रयत्न भी ध्यान के लिये करना नहीं चाहते क्योंकि सोचते हैं कि परमात्मा हृदय में बैठा ही हुआ है। बच्चे के लिये जितना त्याग करने के लिये तैयार हैं, बच्चे को खुश करने के लिये तैयार हैं, उतना त्याग भी परमात्मा के लिये करने को तैयार नहीं हैं। हमारे एक सज्जन लोगों से कहा करते हैं, कि मान लो तुम्हारे घर में एक लड़की पैदा हो जाये तो उसका ब्याह तो करोगे ही उसका गला तो नहीं घोंट दोगे। ऐसे ही समझ लो कि धर्म नाम की लड़की तुम्हारे घर में पैदा हो गई। जितना लड़की के लिये कर सकते हो, उतना धर्म के लिये कर दो। कोई मुँह से तो कोई हृदय से कहता है कि 'लड़की पैदा होती तो कर देते। धर्म तो मेरा स्वरूप है, उसके लिये क्या करना है!' कोई मुँह से, कोई व्यवहार से तो कोई दिल से कहता है। कारण यह है कि लड़की का जितना महत्त्व है, उतना भी परमात्म तत्त्व का महत्त्व नहीं क्योंकि वह तो दिल में बैठा हुआ है। इसीलिये श्रुति ने कहा कि यदि कहते हैं कि वह सरल है तो मनुष्य उसके प्रति अनादर दृष्टि वाला हो जाता है। दूसरी तरफ, यदि कहा जाता है कि सर्वथा कठिन है तो भी मनुष्य निराश होकर उसके लिये प्रयत्न करना छोड़ देता है। इसलिये कठिन और सुलभ इन दोनों को बताकर श्रुति यहाँ कहती है कि यदि तुमने उसके प्रति एकाग्र भाव बना दिया, यदि तुम्हारे हृदय में उसके प्रति पूर्ण प्रेम की भावना बन गई, तब तो उसका मिलना अत्यंत सरल है, इतना सरल है जितना एक सुई का गुलाब की पंखुड़ी में जाना सरल है। यदि उसके प्रति तुम्हारी आदर की दृष्टि नहीं बनी तो वह उतना ही कठिन हो जाता है जितना छुरे की धार पर चलना। इन दोनों का जो मध्य है अर्थात् सावधानीपूर्वक प्रमादरहित होकर प्रयत्न करने वाले के लिये उसकी प्राप्ति अत्यंत सरल है और प्रमादी के लिये उसकी प्राप्ति अत्यंत कठिन और दुर्लभ है।

प्रमाद मायने क्या? भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि प्रमाद कैसे होता है? पहले कहते हैं कि मनुष्य को किसी चीज़ की प्राप्ति होती है तो लाभ से हर्ष होता है। किस प्रकार मनुष्य प्रमाद की तरफ जाता है, इसका यह क्रम है। अपने मन की चीज़ उसे मिलती है तो वह प्रसन्न होता है। यह पहला कदम है और यह होना ज़रूरी है। जब साधारण बालक भी अपने पिता के पास जाकर कहता है कि 'मुझे माँ चॉकलेट नहीं लेने देती' तो माँ कहती भी रहती है कि 'इसका पेट खराब है, मत दिलाना।' पिता सोचता है कि पहली बार ही इसने मेरे से चॉकलेट माँगा है, इसलिये कहता है 'चलो, एक में क्या नुक्सान होता है' और दिला देता है। इसी प्रकार बच्चा

जब परमेश्वर की तरफ जाकर किसी चीज़ की कामना करता है तो भगवती के हृदय में तुरंत यह भावना आती है कि इसे यह मिल जाये। जो कर्माध्यक्ष है, पुण्य-पाप कर्म के अनुसार फल देने वाला है, वह कहता है कि इसका पुण्य अभी उदय नहीं हुआ इसलिये अभी नहीं मिले। भगवती अपनी करुणामात्र से कहती हैं कि 'आज तो यह मेरे पास आ गया, फिर कर्म के अनुसार फल देते रहना।' उसे हर्ष हुआ, यहाँ तक चीज़ बिलकुल ठीक चली।

हर्ष से दर्प हो जाता है; यहाँ से गड़बड़ी शुरू हुई। हर्ष होना तो इस बात का चाहिये था कि उस परब्रह्ममहिषी ने कृपा करके मुझे दे दिया। लेकिन यह ऐसा नहीं समझता कि उसने दे दिया, बल्कि समझता है कि मैंने पा लिया। इसमें छोटा-सा आँकुडा है। योग्य पुत्र को जब पिता ने चॉकलेट दिया तो उसके हृदय में आता है कि पिता बड़े दयालु हैं, इन्होंने मुझे दे दिया। जो बुद्धिमान् नहीं होता है, योग्य नहीं होता है, उसके मन में आता है कि मैंने पिता को ऐसे तरीके से कहा कि पिता की जेब से पैसा निकलवा लिया! यह रोज़ अनुभव होता होगा, अपने ही बच्चों में दो तरह की प्रवृत्ति होती है। एक बच्चे की दृष्टि है कि इन्होंने कृपा करके दे दिया और दूसरे की दृष्टि होती है कि मैंने ऐंठ लिया। यह ज़रा कड़ा शब्द है लेकिन भाव वही है। जब यह दृष्टि बनती है तो लाभ से हर्ष होता है, हर्ष होना तो ठीक है लेकिन लाभ से हर्ष होने पर भी बजाय उसके अन्दर विनय आने के और दर्प आ जाता है कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ। इसी प्रकार जब भगवती की कृपा से प्राप्त होता है तो योग्य के हृदय में आया कि मैं इस लायक नहीं था, भगवती की कृपा से मिला। दूसरे के मन में आता है कि मैंने यह कर्मकाण्ड किया, ऐसा अनुष्ठान किया, इसलिये यह मिल गया। मेरे में योग्यता आ गई। मनुष्य संसार के पदार्थों से दुःखी होकर परमात्मा की तरफ वृत्ति बनाता है तो तुरंत परमात्मा की झलक मिल जाती है, यह स्वाभाविक है। बुद्धिमान् सोचता है कि यह झलक मेरे कारण नहीं है, यह तो उसने कृपा करके मेरे दुःख को दूर करने के लिये दे दी है। लेकिन दूसरा सोचता है कि मेरी साधना के फलस्वरूप यह दर्शन हो गया, इसलिये मैं जब चाहूँगा, तब कर लूँगा। किसी बहुत बड़े मनुष्य का यह अनुभव हो सकता है कि जब चाहूँ तब भगवती का दर्शन करूँ क्योंकि हाथ में ही तो है। साधारण व्यक्ति एक झलक पाकर ही सोचने लगता है कि जब चाहूँ तब दर्शन कर सकता हूँ, इसमें क्या रखा है! साधारण लोग नहीं, भागवत में तो गोपिकाओं की यही बात बताई है। महारास के समय जब भगवान् ने रास करना स्वीकार किया तो सब बड़े प्रसन्न हुए, नाचने लगे। उनके मन में आने लगा कि बस हम ही धन्य हैं जो भगवान् हमारे सामने ऐसे नाच रहे हैं। भगवान् रासमण्डल से लुप्त हो गये। केवल एक गोपी को लेकर चले गये। जब रास्ते में पहुँचे तो उस गोपी के मन में और ज़्यादा दर्प आ गया। पहले दर्प नहीं था इसलिये साथ ले गये थे। अब उसके मन में दर्प आ गया कि सबको छोड़कर भगवान् मेरे को ही ले जा रहे हैं। वह गोपी भगवान् से कहती है कि 'मेरे पैर में दर्द हो रहा है, मुझे कन्धे पर उठाकर चलो।' भगवान् ने

कहा बैठा जा। भगवान् नीचे बैठे, जैसे ही वह चढ़ने लगी तो देखती है कि वहाँ कोई नहीं है! अब चारों तरफ ढूँढ रही है। लाभ से हर्ष होता है, हर्ष से दर्प हो जाता है। दर्प होने पर प्रमाद कर जाते हैं, चूक जाते हैं जैसे गोपियाँ चूक गई। फिर बड़ी प्रार्थना इत्यादि करने के बाद भगवान् ने पुनः दर्शन दिये। इसी प्रकार प्रमादी मनुष्य प्रमाद कर जाता है।

बुद्धिमान् का ठीक इससे विपरीत व्यवहार होता है। लाभ से प्रसन्नता होती है, यहाँ तक तो एक जैसे ही हैं। लेकिन उसका 'हृष्टोपि विनयायते' है। एक तो हर्ष के द्वारा दर्प को प्राप्त करता है और दूसरा हर्ष के द्वारा विनय को प्राप्त करता है। इसीलिये शास्त्रों में विद्या का फल विनय बताया है। 'विद्या ददाति विनयं' नीतिकार कहते हैं कि किसी भी विद्या के द्वारा मुनष्य में विनय आया करता है और यदि विद्या के द्वारा मनुष्य के अन्दर अविनय आया तो फिर क्या करें और किससे क्या कहें? यह तो ऐसे हो गया, जैसे माँ ही अपने बच्चे को जहर देने लग जाये! जैसे ही हर्ष हुआ, वैसे ही उसमें विनय आया। विनय का मतलब क्या होता है? नी प्रापणे धातु का मतलब है ले जाना। इसलिये नय मायने जो आगे ले जाये। आगे के रास्ते को साफ करके जो ले जाता है, उसे नयन (आँख) कहते हैं क्योंकि रास्ता दिखाकर ले जाते हैं। विनय-विशेषेण नयति अर्थात् जो हमको बहुत आगे परब्रह्म परमात्मा तक पहुँचा दे, उसे विनय कहते हैं। इसीलिये बौद्ध साधना-ग्रंथों को कहा जाता है 'विनय पिटक' विनय की पिटारी अर्थात् जिसमें परमात्म-प्राप्ति के मार्गों को बताया गया हो। हर्ष होने पर उसके अन्दर उसके प्रति अत्यधिक विनय की भावना आती है कि मैं उसे कैसे प्राप्त कर सकूँ, उसकी कृपा के लायक कैसे बन सकूँ। मूर्ख में दर्प आ गया और बुद्धिमान् के मन में यह आया कि 'उसने मेरे पात्र न होने पर भी मुझे दे दिया। अब मैं उससे और अधिक पात्र कैसे बन सकूँ।' इसलिये वह अपने अन्दर विनय लाता है। ऐसा आचरण लाता है कि उसकी कृपा के योग्य बने। पिता ने पुत्र को जब चॉकलेट दे दिया तो पुत्र बिना पिता के कहे हुए ही कहता है कि 'पिता जी! आज से मैं अपनी छोटी बहन को नहीं मारूँगा।' उससे पहले कई बार पिता कह चुका है कि बहन को मत मारा कर, लेकन सुनता नहीं था। अब मन में आया कि पिता इतनी कृपा करके दे रहे हैं तो उसके हृदय में विनय आयी कि अब अपनी छोटी बहन को नहीं मारूँगा। पिता उठाकर उसे छाती से लगाकर मुख चूम लेता है। कहता 'मुझे पहले ही पता था कि तू अच्छा है'। दूसरे बच्चे के मन में आया कि 'मैं तो मारता भी था और पैसा भी जेब से निकाल लिया!' यह दोनों के दृष्टिकोण का फ़र्क है। इसी तरह जब परमात्मा की कृपा के द्वारा हमें उसकी झलक मिलती है तो योग्य के मन में विनय आती है कि मेरे अन्दर योग्यता न होने पर भी परमात्मा ने मुझे झलक दिखाई अतः मैं उसके योग्य बनूँ, जितने मेरे कुकर्म हैं, उन्हें छोड़ दूँ। यह नहीं कि उनको करते हुए भी दर्शन कर लिया! बहुत-सी बार मनुष्य सोचता है कि यदि मेरा अंतःकरण शुद्ध नहीं होता तो तत्त्वज्ञान मेरी समझ में कैसे आता। इसलिये जितने कुकर्म मैं कर रहा हूँ, वे अंतःकरण शुद्ध

होने पर भी होते ही रहें, कुछ हर्जा नहीं। विनय वाला कहेगा कि उसने तो मेरी अशुद्धि में भी मुझे दर्शन दे दिया, लेकिन अब मैं उसके लायक बनूँ। अब यह अशुद्धि मेरे को शोभा नहीं देती।

जब विनय को प्राप्त होता है तो यह विनय ही उसमें पात्रता ले आता है। क्यों पात्रता ले आता है? कोई चीज़ रखने के लिये वही बर्तन श्रेष्ठ होता है जो खाली हो। एक बार हमारे पास एक बर्नी थी, उसमें अचार रखा हुआ था, बहुत दिन से रखा रहा होगा। अब उसमें कोई दूसरी चीज़ रखनी होगी। सूजी आई हुई थी, हमने कहा इस बर्नी को साफ करके इसमें सूजी रख देना। बर्नी साफ करके सूजी रख दी गई। पाँच-सात दिन बाद उससे हलुआ बनाने के लिये कहा। घी भी शुद्ध था। हलुआ बन गया, खाने लगे तो उसमें हलुए का स्वाद और आम के अचार की सुंगधि! हमने रसोइये से पूछा कि क्या साग की कर्छी इसमें डाल दी थी? काफी पूछते रहे, लेकिन कारण का पता नहीं लगा। दो-चार दिन बाद फिर हलुआ बना तो फिर वही बात। अब अवापोद्धार चला। पता चला कि बर्नी धो तो दी थी लेकिन धूप न दिखाने से उसमें अचार की वासना बैठी थी। यदि उसको धूप दिखाकर उसकी वासना को निकाल दिया गया होता तो उसमें सूजी ठीक रहती। इसलिये पात्र वही श्रेष्ठ है जो खाली है, यहाँ तक खाली कि उसमें होने वाली वासना से भी खाली हो। पदार्थ तो न ही रहे, लेकिन पदार्थ की वासना भी न रहे। तब वह योग्य पात्र है। इसी प्रकार से हमारा अंतःकरण परमात्मा के आकर बैठने के योग्य पात्र तब बने जब उसमें से अपना सारा अपनत्व तो निकल ही जाये, साथ ही अपनत्व की वासना भी निकल जाये। जीवभाव तो निकल ही जाये, जीवभाव की वासना भी निकल जाये। तभी वह शुद्ध और भगवान् के रहने लायक बनेगा। जितना-जितना अपनत्व को, अहं मम को खत्म करोगे, उतना ही वह परमात्मा के रहने लायक बनेगा। नहीं तो सूजी के हलुए जैसा हाल हो जाता है। लोग कहते हैं कि 'परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति तो हो गई, लेकिन अंतःकरण में वासनायें तो वही रहेंगी जो पहले वाली हैं। उसमें कोई फ़र्क थोड़े ही आना है, जब तक प्रारब्ध चलेगा, तब तक वही वासनायें चलती रहेंगी। यदि क्रोध की वासनायें हैं तो उसके कारण ब्रह्मज्ञान के बीच-बीच में क्रोध की वासना भी आती रहे, ब्रह्मज्ञान का क्या बिगड़ना है!' बात तो ठीक है कि जैसे हलुए का कुछ नहीं बिगड़ा, वैसे ही ब्रह्मज्ञान का कुछ नहीं बिगड़ना, लेकिन ऐसा हलुआ बनाने वाले को फूहड़ कहेंगे। इसी प्रकार यदि कहते हो कि 'पूर्व जीवभाव की वासनायें वैसी ही रहेंगी, क्रोध, लोभ आदि विकार वैसे ही हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं, फिर भी भगवद्-दर्शन होता है। परमात्मा तो हृदय में बसा ही हुआ है', तो यह तुम्हारी पात्रता की फूहड़ता का लक्षण होगा।

इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि यथेष्टाचरण तो कभी प्राप्त ही नहीं है, मर्ज़ी आये सो करते हैं  यह हो ही नहीं सकता जब भगवद् दर्शन हो। अज्ञान से ही मनुष्य सारे अधर्म में प्रवृत्ति करता है। कोई भी अधर्म ऐसा नहीं जो अज्ञान के कारण न करता हो। सत्य बोलने के लिये तुम्हें ज़ोर नहीं लगाना पड़ता। झूठ तब मन से निकलेगा जब संसार में तुम कुछ

प्राप्त करना चाहोगे। जहाँ किसी प्राप्ति की सम्भावना नहीं, वहाँ कोई पागल है जो झूठ बोलेगा? इसी प्रकार से जब तक कोई कामना नहीं होगी, तब तक कभी अधर्म हो ही नहीं सकता और कामना बिना संसार को सत्य माने कभी हो सकती ही नहीं। यदि पता है कि ये खेल के नोट हैं, तो उनको कभी कोई चुरा ले जाता है? उनको भी तभी चुरायेगा जब उन्हें सच्चा समझेगा। इसी प्रकार संसार के पदार्थों को सच्चा समझोगे तभी उनके ग्रहण में प्रवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं। इसलिये कहते हैं कि अज्ञान से ही सारे अधर्म होते हैं। संसार को जब सत्य समझोगे तभी अधर्म का कार्य होना है। जिसका अज्ञान नष्ट हो गया, इसलिये जिसको संसार के ढंग के पदार्थों को भी लेने की इच्छा हृदय में नहीं, तो बेढंग के पदार्थों को लेने की उसकी कभी इच्छा हो सकती है? यदि कहो कि बेढंग के पदार्थ लेने की इच्छा होने पर भी उसे दोष नहीं, तो भगवान् सुरेश्वराचार्य बड़ी कड़ी बात लिखते हैं कि फिर तो ज्ञान का फल टट्टी खाने वाला सूअर बन जाना है! जो मर्ज़ी सो खाये, उसके लिये जैसे माँस, वैसे दूध यह स्थिति तो सूअर में भी है। जो कहता है कि 'सर्वत्र आत्मदृष्टि है तो मांस खा गया तो क्या?' उससे कहो टट्टी खा ले, तो क्या खा लेगा? उससे बड़ा ज्ञानी तो वह हुआ जो टट्टी खा ले! यदि धर्माधर्म की एकता का यह विपरीत अर्थ ले लोगे तो ऐसी स्थिति बन जायेगी। यथेष्टाचार तो दर्प से ही आयेगा, विद्या से नहीं। दर्प आया तो विनय नहीं आया, इसलिये पात्र बनने को नहीं गया।

जिसमें विनय आया, वह पात्र-भाव को प्राप्त करता है कि 'मेरे अंदर परमात्मा बैठा हुआ है, वह तो कृपा करके आकर बैठ गया, अब मैं अपने इस जीवभाव को कैसे खाली करूँ।' और जहाँ पात्र बना, जैसे ही हृदय में आया कि 'अब मैं जीव और जीव भाव से प्रयुक्त किसी भी कर्म वासना को नहीं करूँगा' वैसे ही परमेश्वर सामर्थ्य प्रदान कर देते हैं। क्रोध कब आयेगा? 'अमुक व्यक्ति मेरे मन का करे', यह आग्रह हो तब वह नहीं करेगा तो क्रोध आयेगा। जो सर्वत्र आत्मदृष्टि करेगा, उसके हृदय में क्रोध होगा कैसे? सामने वाले के अंतःकरण में भी मैं हूँ तो क्रोध किस पर करूँ! बिना द्वैतभाव के काम, क्रोध आदि विकारों की सम्भावना ही नहीं है। 'जीव-भाव से प्रयुक्त द्वैतमूलक कार्यों को मुझे कभी नहीं करना है।' इस द्वैतमूलक कर्मों के परित्याग को ही भगवान् भाष्यकार सर्वकर्म-संन्यास कहते हैं। क्योंकि कर्म वह है जो हम प्राप्त करना चाहें जिसमें हमारी इष्ट बुद्धि है। दुकान चलाना कर्म नहीं है बल्कि दुकान में फ़ायदा हो इस आग्रह से दुकान में बैठना कर्म है। दुकान चलाते हुए यदि यह दृष्टि है, कि 'नफा-नुक्सान कुछ भी हो, मुझे इससे क्या मतलब, सारा कर सरकार ले जायेगी तो ले जाये, हमें क्या मतलब' तो वह कर्म नहीं है। यदि लाभ-हानि की दृष्टि है तो कर्म है। भगवान् अर्जुन से बार-बार जब कहते हैं कि तू युद्ध कैसे कर? लाभ, अलाभ जय, पराजय दोनों को एक करके। आज का मनुष्य बड़ी जल्दी कहता है कि भगवान् ने अर्जुन से आखिर युद्ध कराया, इसलिये अपने कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये। लेकिन भगवान् ने साथ में जो दूसरी बात कही, वह कहें तो आज

वाला कहता है, 'ऐसा नहीं!' एक मुसलमान था जो नमाज नहीं पढ़ता था। मौलवी ने पूछा तो कहता 'कुरान में मना लिखा है।' मौलवी को बड़ा आश्चर्य हुआ, कहा दिखा तो सही कहाँ लिखा है? उसने याद कर रखा था कि किस सुरा में लिखा है, झट खोलकर दिखा दिया। मौलवी ने देखा तो लिखा वही था लेकिन उसने कहा कि आगे भी तो पढ़। उसमें लिखा था कि 'नमाज़ न पढ़ जब पाक न हो।' वह कहने लगा कि 'आगे की सारी बातें मैं ही थोड़े ही मानूँगा!' इसी प्रकार लोग कहते हैं, अर्जुन स्वकर्म में लगा रहा। आगे उनसे कहें कि भगवान् ने यह भी तो कहा है कि लाभ-अलाभ, जय-पराजय दोनों को एक जैसा समझकर फिर युद्ध करो, तो कहते हैं कि 'यह हमारे लिये नहीं, यह पाठ आपके लिये है, इनको एक जैसा तो आप ही समझो, हमने तो एक ही पंक्ति देख ली।'

भगवान् भाष्यकार के सर्वकर्म-संन्यास और गीता के इस वाक्य में कोई फ़र्क नहीं है। भगवान् अर्जुन से बोल रहे थे, इसलिये जानते थे कि मेरी आधी बात को नहीं खा जायेगा! गीता का उपदेश तो भगवान् ने अर्जुन को दिया और बाद में व्यास जी ने ग्रंथ-रचना की। उसके बाद विश्व-इतिहास में एकमात्र भगवान् शंकर ही ऐसे हुए जिन्होंने ग्रंथ लिखा। मुहम्मद साहब बेचारे पढ़ना-लिखना ही नहीं जानते थे। जैसे कबीरदास जी ने बेचारों ने हाथ में कभी कलम-दवात ही नहीं पकड़ी 'मसि कागद छूयो नहि कलम गही नहीं हाथ' वैसे वह भी इससे दूर थे इसलिये लिखने वाले ने क्या लिख दिया, इसकी गारंटी कौन दे? कई बार बाँचते हैं तो सोचते हैं कि कबीरदास जी ने तो ठीक ही कहा होगा, लेकिन लिखने वाले ने पता नहीं क्या लिख दिया। इसी प्रकार ईसा और बुद्ध ने भी कुछ नहीं लिखा। सौ साल बाद उनके उपदेशों का संग्रह किया गया। संसार में एकमात्र आचार्य शंकर ने सारे ग्रंथों का निर्माण बैठकर किया। वे जानते थे कि मैं ग्रंथ लिख रहा हूँ तो किसी एक आदमी को नहीं कह रहा हूँ। इसीलिये भगवान् कृष्ण और भगवान् शंकर के कहने में कुछ फ़र्क नहीं है। साधारण लोग 'कर्म' का मतलब दुकान में बैठना लेंगे इसलिये आचार्य ने कहा कि सर्वकर्म-संन्यास अर्थात् कैसे कर्म छोड़ने के लिये हैं। भगवान् चूंकि व्यक्तिगत रूप से उपदेश दे रहे थे, इसलिये कह रहे थे कि तू मेरी आज्ञा मानकर लाभ-अलाभ, जय-परायज को छोड़कर युद्ध कर। बस यही फ़र्क है। जैसे-जैसे तुम्हारे अंदर पवित्रता आयेगी, जैसे-जैसे जीव-भाव और जीवभाव की वासनायें समाप्त होती चली जायेंगी, वैसे-वैसे स्वभाव से ही तुम्हारे अंदर स्थिरता आती जायेगी, परमात्मा के अधिकाधिक प्रेमपात्र बन जाओगे। जितनी-जितनी कृपा होगी। उतना-ही-उतना हृदय में प्रवेश होगा।

यही कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का मूलगत भेद है। कर्मकाण्डी दर्प और प्रमाद की तरफ जाता है। केवल बाहर यज्ञ, दान आदि करने वाला ही कर्मकाण्डी होता हो, ऐसा नहीं। विचार करने वाला भी कर्मकाण्डी होता है! क्योंकि वह उसकी प्राप्ति अपने अधीन मानता है। जैसे दूसरा कर्मकाण्डी मानता है कि 'मैंने आहुति दे दी, फल कैसे पैदा नहीं होगा।' वह अपनी आहुति

पर भरोसा करता है, यही तो दर्प है। उसी प्रकार चाहे भजन करने वाला हो, वह भी अपने जप का, अपने व्रत का, अपने तप का भरोसा करता है। वहाँ भी भरोसा अपने पर ही है कि मैंने किया। इसी प्रकार मनुष्य अनेक बार सत्संग और विचार का भरोसा करता है कि 'मैंने जो विचार किया है उससे ठीक ही ज्ञान उत्पन्न होगा', यहाँ भी मैं ही है। जहाँ तुमने अपने ऊपर माना, वहाँ वह विचार भी क्रिया हो गया। क्रिया और ज्ञान का मूलगत भेद भगवान् भाष्यकार ने बताया है कि उपासना में भी मन ही चलता है लेकिन 'उपासना नाम मानसी क्रिया' यह ब्रह्मसूत्र की भाष्य-पंक्ति है कि उपासना क्रिया है। क्रिया वह होती है जिसमें करने वाला स्वतंत्र हो। विचार तो तुम स्वतंत्र होकर कर रहे हो कि मैं विचार कर रहा हूँ। यह विचार *कर्म* हुआ और इसलिये कर्मकाण्डी उस विचार के फल से उत्पन्न परमात्मा को मानता है। यद्यपि वह बाहर का कर्म कुछ नहीं कर रहा है लेकिन हृदय से वह कर्मकाण्डी ही है। दूसरी तरफ, जो ज्ञानकाण्डी है वह हमेशा ज्ञान को परमात्मा के अधीन मानता है। विचार करके ज्ञान नहीं होता है बल्कि परमात्मा की कृपा से ही ज्ञान होता है। परमात्मा ही विचार के मार्ग से मेरे में प्रवेश करता है, इसी प्रकार ध्यान करते हुए भी वह जानता है कि परमात्मा ही ध्यान के मार्ग से मेरे हृदय में प्रवेश करता है। जैसे विचार काल में दिमाग में प्रवेश करता है, वैसे ध्यान से हृदय में प्रवेश करता है। ध्यान के मार्ग से परमात्मा ही प्रवेश करता है। इसी प्रकार जब मैं कार्य करता हूँ तो कार्य के मार्ग से परमात्मा ही मेरे अंदर प्रवेश करता है। जब आँख-कान से देखता-सुनता हूँ तब भी परमात्मा ही ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग से मेरे में प्रवेश करता है। इसलिये ज्ञानकाण्डी तो अपने कर्त्तव्य भाव को हर कदम पर छोड़ता रहता है और कर्मकाण्डी हर कदम पर अपने कर्त्तव्य भाव को पुष्ट करता रहता है, बढ़ाता रहता है। चाहे बाह्य साधना दोनों एक सी करते हुए दीखें लेकिन एक तो अपने कर्त्तव्य भाव को बढ़ाता जाता है इसलिये अंत में प्रमाद को प्राप्त करता है और दूसरा उससे ठीक विपरीत होता चला जाता है।

तीर्थवत्स नाम का एक सेठ था, उसकी लड़की का नाम उन्मदन्ती था। वह लड़की बड़ी सुन्दर थी। अत्यधिक सुन्दर होने के कारण उसने विचार किया कि इसका विवाह राजा से कर दूँगा। यह विचार करके उसने राजा के पास खबर भेजी कि 'मेरी सुन्दर लड़की है, आपसे विवाह कराना चाहता हूँ।' जितने अच्छे रत्न होंवे राजा को चाहिये। सप्तशती में कहा है 'स्त्रीरत्नभूतां त्वां देवि लोके मन्यामहे वयं। सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजो वयम्।।' निशुंभ भगवती को खबर भेजता है कि चूंकि तू स्त्रियों में रत्न है, रत्न राजा के पास रहना चाहिये इसलिये तू हमारे पास आ जा। इसी प्रकार तीर्थवत्स ने विचार किया कि यह बड़ा श्रेष्ठ सुन्दर स्त्रीरत्न है, इसलिये राजा के यहाँ भेज दूँ। राजा ने कुछ सामुद्रिक शास्त्रियों से कहा कि 'जाकर देखो कि लड़की मेरे लायक हो तो मैं उससे ब्याह कर लूँ।' धार्मिक राजा था, आजकल की तरह होता तो खुद ही जाकर देखता, क्योंकि आजकल ब्याह से पहले ही लड़का लड़की को देखता है। राजा ने खबर

भेजी कि मेरे लोग आकर देखेंगे। वे लोग वहाँ गये तो देखा कि वह थी तो अतीव सुन्दरी, उसमें कोई दोष भी नहीं था। उस निर्दुष्ट और अत्यंत सुन्दर कन्या को देखकर वे उसके सौन्दर्य पर बड़े मुग्ध हो गये। उनके हाथ-पैर ही ढीले पड़ गये। किसी तरह होश सम्भाल कर वहाँ से चले तो आपस में विचार करने लगे कि कन्या तो बड़ी श्रेष्ठ है लेकिन एक ही दोष है कि यह सुन्दर बहुत ज़्यादा है और अगर कहीं राजा ने इससे ब्याह कर लिया तो वह सारे राज्य के काम-काज की सुन्दरता को छोड़कर इसी के सौन्दर्य को देखता रहेगा और सारा राज्य बिगड़ जायेगा! हम लोगों की जब यह दशा हो गई तो राजा की क्या दशा होगी? इसमें उनकी कोई कुदृष्टि नहीं थी, बल्कि राज्य की रक्षा के लिये ही उन्होंने राजा से कह दिया कि 'उसमें सामुद्रिक नियम सारे ठीक से नहीं मिलते और ज्योतिष शास्त्र से भी कुछ दोष हैं। इसलिये वह आपके लायक नहीं है।' राजा ने तीर्थवत्स को बुलाकर ना कर दिया।

कन्या को पता लगा तो उसके हृदय में चोट लगी क्योंकि उसे घमण्ड था कि मैं बड़ी सुन्दरी हूँ। तीर्थवत्स ने उसका विवाह एक वैश्य अहिपुत्रक के साथ कर दिया और वह वहाँ रहने लगी। थोड़े दिन बाद वहाँ कार्तिकोत्सव आया। कार्तिक पूर्णिमा को प्रत्येक मन्दिर में दीपोत्सव हुआ करता था जिसमें दीप जलाये जाते थे और राजा उस दिन हाथी पर बैठकर निकलता था। उस दिन त्रिपुरासुर को भगवान् शंकर ने मारा है, इसलिये उस दिन उस वध का उत्सव मनाते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर ही त्रिपुर है, इसका वध तभी हो जब कृत्तिका नक्षत्र पूर्ण हो। कृत्तिकायें छह होती हैं। छह साधन पूर्ण होने पर ही यह शरीर नष्ट होता है। विवेक, वैराग्य शम, दम, मुमुक्षा मनन और निदिध्यासन से युक्त होकर तत्त्वमस्यादि का श्रवण करता है तो ज्ञान हो जाता है, तीनों शरीर नष्ट हो जाते हैं। कार्तिकोत्सव के दिन राजा बहुत बड़ी सवारी में निकलता है। उस देश का राजा भी बड़ा सुन्दर था, इसलिये डुगडुगी पीटने वाले उधर से निकलते हुए यह घोषणा करते हुए जाते थे कि जितनी भी औरतें हैं वे सब अन्दर बन्द हो जायें ताकि राजा के सौन्दर्य को देखकर उनके मन में कोई दुर्भावना न आये! बहुत से आगमिक लोग ऐसा मानते हैं कि कार्तिक स्वामी और हनुमान् जी को स्त्री स्पर्श न करे। उसके पीछे भाव वही है कि उनके अत्यंत सौन्दर्य के कारण उसके मन में विकार न आये। वास्तविक भाव तो यह था, नहीं तो भगवान् के विग्रह को स्त्री न छुए, इसका कोई मतलब नहीं है, इसलिये भाव-शुद्धि कि लिये उसका विधान है। लोग उसका उल्टा अर्थ ले लेते हैं। बहुत-सी चीज़ों का उल्टा अर्थ लगाते रहते हैं। कई जगह शास्त्र में, वाल्मीकि रामायण में और अन्यत्र भी राजा की पुत्री को 'असूर्यंपश्या' लिखा है। बहुत से लोग इसका अर्थ करते हैं कि इतना कड़ा पर्दा था कि वह कभी सूर्य को नहीं देखती थी। यह अर्थ नहीं था कि सूर्य के सामने नहीं निकलती थी बल्कि उसका अर्थ यह था कि सूर्य के द्वारा भी वह नहीं देखी जाती। तथ्य यह है कि जितना सूर्य के सामने रहो, उतना रंग काला हो जाता है। इसलिये उसे देखकर लगता था कि इसे कभी धूप नहीं लगी। जिसका

अत्यधिक गौर वर्ण हो उसे असूर्यपश्या कहते हैं। सूर्य की किरणों के बिना पौधा भी नहीं उगता तो बच्चा क्या बड़ा होगा! इसी प्रकार कार्तिक स्वामी या हनुमान् जी का स्पर्श न करे इसका तात्पर्य केवल इतना है कि शुद्ध भाव रहे। कार्तिक स्वामी का सम्बन्ध कार्तिक मास से है, उसी में त्रिपुर का वध होता है। उसी प्रकार सर्वकामनाओं से रहित जो बुद्धि रूपी स्त्री नहीं है, वह उस ब्रह्म के सौन्दर्य को देखकर स्थिर नहीं रहेगी, कहना इतना ही है।

डुगडुगी से घोषणा हो जाती थी कि कोई भी स्त्री बाहर न आये। यह सुनकर उन्मदंती ने विचार किया कि 'मुझे तो आज उसे ज़रूर देखना है,' क्योंकि उसने न कर रखी थी। जिस समय सवारी निकली, वह छत पर खड़ी थी। उसने देखा और एक फूल उस पर डाल दिया। राजा ने भी ऊपर नज़र की तो उसे देखते ही मुग्ध हो गया। राजा ने कारण तो बताया नहीं कि कैसे जी खराब हुआ। लोगों ने समझा कि राजा की तबियत खराब हो गई होगी। वैद्य आये, दवाई देने लगे लेकिन उससे क्या होना था! दो-चार दिन बाद वैद्य कहते हैं कि इसे कोई मानसिक रोग है, शारीरिक रोग नहीं है। लोग पूछते रहे, पहले तो राजा नहीं-नहीं करता रहता क्योंकि धार्मिक था, सोचा लोग क्या कहेंगे। जब बहुत ज़ोर दिया तो राजा ने अपने मित्र से कहा कि ऐसा-ऐसा हो गया है। उसने कहा 'अभी पता लगाते हैं।' पता लगाया तो मालूम पड़ा कि यह वही कन्या है जिसके साथ विवाह तो होना था लेकिन पुरोहितों ने कुछ दोष लगा दिया था, इसलिये विवाह नहीं हो सका। राजा धार्मिक होने के कारण चुपचाप रह गया लेकिन रोज़ दुःखी होकर गलता रहा। अंत में पुरोहितों को पता लगा। उन्होंने विचार किया कि हम लोगों ने जो किया, सो तो अच्छा ही किया, इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि यदि एक बार देखकर राजा का यह हाल है, यदि ब्याह हो जाता तो सचमुच राज्य का बंटाढार हो जाता। लेकिन अब कोई उपाय निकालना चाहिये। उन्होंने राजा से कहा राजन्! वह कन्या बड़ी सुन्दर है। संसार में दो औरतें सुन्दर अच्छी लगती हैं, पत्नी और माँ। जो सच्चा मनुष्य हो, उसको अपनी पत्नी से सुन्दर और कोई औरत नहीं दीखती। जिसके मन में कोई दूसरी औरत सुन्दर दीखे तो समझ लेना चाहिये कि इसने अभी पति-भाव को प्राप्त नहीं किया। दूसरी, माता है। जिस पुत्र को अपनी माता से और ज़्यादा सुन्दर लगे तो समझ लेना चाहिये कि यह पुत्र नहीं है। माता की बुराई कभी लड़के के मन में नहीं आ सकती। इन दो में हमेशा सौन्दर्य पूर्ण होता है। अब यह तेरी पत्नी बनने के लायक नहीं है लेकिन तेरी माँ बनने के लायक है। इसलिये दुःखी होने की ज़रूरत नहीं है।' राजा भी सौन्दर्य से प्रभावित हुआ था, वासना से प्रभावित नहीं हुआ था, इसलिये झट उसके हृदय में बात कौंध गई और कहा कि 'कल उसे बुला लाओ। वह इस क्षण से मेरी माँ है, मेरी वासना ख़त्म हो गई।' मातृभावना मनुष्य की बुरी से बुरी वृत्ति को ख़त्म कर देती है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि कामुक व्यक्ति भी माता के सामने आता है तो उसकी कामुक वृत्ति ख़त्म हो जाती है। मातृदृष्टि से कामुकता-दृष्टि समाप्त हो जाती है। तब से राजा उसे मातृ भाव से देखकर

प्रसन्न होता रहा और राज्य कार्य करता रहा।

ठीक इसी प्रकार से प्रत्येक जीव का इतिहास है, केवल उस राजा का ही नहीं। तीर्थवत्स अर्थात् तीर्थ ही जिसका वत्स है वह तीर्थवत्स है। तीर्थ मायने उपदेश होता है। साथ-साथ पढ़ने वाले को सतीर्थ्य कहते हैं। तीर्थ गुरु को कहते हैं। संसार के गुरु किसके बच्चे हैं? जो भी गुरु है वह वस्तुतः परमेश्वर का वत्स है। यदि गुरु के मन में यह भावना नहीं रही कि 'मैं ईश्वर का पुत्र हूँ, ईश्वर द्वारा ही मुझे सब कुछ मिलता है', तो वह दृप्त और प्रमाद वाला है। 'मैं उपदेश दे सकता हूँ' यह अज्ञान को बताता है। 'मैं ज्ञानी हूँ' यह भावना हमेशा अज्ञानी में आयेगी। 'मैं उपदेशक हूँ' यह भावना उसके मन में आई तो वह उपदेश देने का अधिकारी ही नहीं। इसी प्रकर जो तीर्थवत्स है, उसकी दृष्टि हमेशा होती है कि सारे संसार का तीर्थ, जो उपदेश देने वाला गुरु है, वह उसका ही वत्स है। इसलिये परमेश्वर को तीर्थवत्स कहा। परमेश्वरी शक्ति परमेश्वर से ही उत्पन्न है। लेकिन वह कैसी है? यदि उसमें भोग्य दृष्टि करो तो उन्मदन्ती है अर्थात् उन्माद लाती है। जब तक संसार में, परमात्मा के शक्तिविलास में भोग-दृष्टि रहती है तब तक वह उन्मदंती है। जैसे कुछ लोगों ने चेष्टा की कि राजा इससे दूर रहे, यह पहली चेष्टा थी, वैसे साधक समाधि के अभ्यास के द्वारा एकांत में जाकर मौन रहकर पदार्थ से दूर रहने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार संसार के जितने भी मत-मतांतर हैं, वे सब तुमको उपदेश देते हैं कि इसको देखो नहीं। चाहे समाधि लगाकर, चाहे जंगल में जाकर रहो, इसे मत देखो। जैसे वहाँ पहला प्रयत्न यह किया कि राजा उससे दूर रहे। लेकिन यह दूर रखने का प्रयत्न सफल नहीं होता क्योंकि चाहे जितनी लोग समाधि लगायें, पुनः वह उन्माद आ ही जायेगा और जब यह उन्माद आयेगा तो वे फिर अपने स्वरूप से गड़बड़ा जायेंगे। इसलिये फिर पुरोहित ने उपदेश दिया कि इस सारे ब्रह्माण्ड की शक्ति के प्रति भोग्य-दृष्टि नहीं, मातृ-दृष्टि (पोषण दृष्टि) करो। यह सारी की सारी मेरा पोषण करने वाली मेरी माता है।

जैसे ही परमात्म-शक्ति के प्रति मातृ-दृष्टि बनती है, वैसे ही सारी कामनायें ख़त्म हो जाती हैं क्योंकि सारे पदार्थों की प्राप्ति जब परमेश्वर अपनी कृपा से दे रहे हैं तो फिर मैं किसकी कामना करूँ? कृपा में कामना नहीं हुआ करती। अंग्रेजी में कहावत है कि माँगने वाला चुन नहीं सकता। इसी प्रकार जब परमात्मा की कृपा से मुझे मिलना है तो फिर में कामना किसकी करूँ? जो मिलेगा उसी में मैं धन्य हूँ कि उसने कृपा करके मुझे दिया। तब कर्त्तव्य-भाव नष्ट होगा। जब तक भेद अधिकृत लगता है कि मेरी योग्यता कारण है, तब तक अहंता बढ़ेगी और अंत में प्रमाद की तरफ ले जायेगी। मातृ-दृष्टि से कामनाओं की दृष्टि ख़त्म हो जाती है और फिर उस उन्मदंती के पास रहते हुए भी मनुष्य में कोई विकार नहीं आता।

यहाँ तो भगवान् भाष्यकार कह रहे हैं 'तवास्मिन् मन्दारस्तबकसुभगे यातु चरणे' भगवती मातृरूपा होने पर भी मंदार (कल्पवृक्ष) हो गई। जब तुम्हारे अन्दर से कर्तृ-भावना नष्ट होती है,

तब वह भगवती तुम्हारा कल्पवृक्ष हो गई और तुम्हारी सारी इच्छायें पूर्ण करने वाली होगी। चूंकि पता है कि वह इस प्रकार सुलभ है, इसलिये अब तुम पदार्थ-प्राप्ति के प्रति मंद पड़ गये। पदार्थ-प्राप्ति के लिये कोई प्रयत्न नहीं करते। चूंकि वह कल्पवृक्ष है, इसलिये वह उसे भी मंदार बनाती है। जब वह मुझे सब कुछ देती है तो मैं अपने लिये प्रयत्न करूँ, यह व्यर्थ है। वह मंदारस्तबक (फूलों का गुच्छा) है। स्तव स्तुति को कहते हैं। यह पुष्प की विशेषता है कि उसको गुच्छे में लगा दिया; सड़े फूल गुच्छे में नहीं लगाते। बहुत से लोग फूल चुनकर लगायेंगे, लेकिन बहुत से लोग फूल भी चुनकर नहीं लगाते, एक-एक रुपये का फूल आया हुआ है, जहाँ भी घुसे वहाँ घुसा दें, तो वह उसके सौन्दर्य को नहीं दिखाते। जब फूल गुच्छे में लगाया जाता है तब उसका स्तव अर्थात् प्रशंसा है क्योंकि उसकी सुन्दरता बढ़ गई। इसी प्रकार अब मैं संसार के सब पदार्थों के प्रति मंदार हो गया। इसलिये मैं तेरी ही स्तुति करूँगा। अब सिवाय तेरी प्रशंसा के और मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है। बाकी सब तेरी कृपा से प्राप्त होता रहेगा, सो होगा। वह तो तू प्राप्त करायेगी, मेरा काम तो तेरी स्तुति करना है और यही मेरा सौभाग्य है कि मैं तेरी स्तुति कर सकता हूँ।

# प्रवचन-५७

१५-५-७२

भगवती का किस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप से भजन करके ही फिर अपरोक्ष रूप से उसका भजन सम्भव है, यह बता रहे थे। उसके प्रत्यक्ष रूप के अन्दर पहला गुण त्याग को पुष्ट करने वाला और दूसरा नाम-रूप को हटाने वाला बताया। उसका तीसरा स्वरूप बता रहे थे 'तवास्मिन्मन्दारस्तबकसुभगे यातु चरणे' मंदार (कल्पवृक्ष) और पुष्प के स्तबक का रूप बताया। स्तबक का एक तात्पर्य गुच्छा और दूसरा तात्पर्य स्तव अर्थात् स्तुति है। भगवती की स्तुति मनुष्य के अंदर अशुद्धि को दूर करने में सबसे बड़ा हेतु है। वस्तुतः अशुद्धि क्या है? पहले भी बताया था कि वेदांत शास्त्र में दो ही पदार्थ हैं आत्मा और अनात्मा। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, इसलिये उसकी शुद्धि की अपेक्षा नहीं है। वह सत्ता, ज्ञान और आनंद रूप होने से उसमें तो अशुद्धि सम्भव ही नहीं। आत्मा नित्यशुद्ध है। अनात्मा के अन्दर अशुद्धि की प्राप्ति इसीलिये है कि वह आत्मा से भिन्न है। आत्मा जब शुद्ध रूप है तो अनात्मा अशुद्ध रूप हुआ क्योंकि जो आत्मा से भिन्न है, वह अशुद्ध रूप है। देह से लेकर अंतःकरण तक सब कुछ अनात्मरूप ही है। इस अनात्मरूप में जितनी अनात्मा की अनुवृत्ति करोगे, उतना ही दोष बढ़ेगा। जितना इसमें आत्मा का अनुवर्तन करोगे, उतनी ही इसकी अशुद्धि दूर होगी। जितना-जितना आत्मा के चिंतन से आत्मा का प्रवेश अंतःकरण, प्राण, देह पर्यन्त सब चीज़ों में करते जाओगे, उतनी-उतनी अशुद्धि नष्ट होती जायेगी क्योंकि यदि अशुद्धि कहीं दूसरी जगह से आई होती तब तो उसकी शुद्धि के लिये कोई दूसरा साधन करना पड़ता। अनात्मा में अशुद्धि कहीं से नहीं आई। जैसे अंधकार में अंधकार कहीं से नहीं आता है, अंधकार स्वयं ही अंधेरा-रूप है ऐसे ही अनात्मा में कहीं से अशुद्धि आती नहीं है, अनात्मा अशुद्ध स्वरूप ही है। इसीलिये सूतसंहिता में बताया है कि आत्मा जिस प्रकार स्वभाव से शुद्ध है, वैसे ही अनात्मरूप देह से लेकर अंतःकरण पर्यन्त सब स्वभाव से ही अशुद्ध है।

व्यवहार में जब तुम कहते हो कि यह अशुद्ध या शुद्ध है तो उसका भाव क्या है? अशुद्ध पदार्थ भी यदि शुद्ध के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है तो उसे लोक में शुद्ध कहा जाता है। काँच स्वभाव से अंधकाररूप है। यदि काँच स्वभाव से अंधकाररूप न हो तो रात में अंधकार में बिना बिजली से ही काँच से काम चल जाये! लेकिन सूर्य अथवा बिजली के प्रकाश के सामने आकर जब काँच प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है, उस समय काँच पूरे ज़ोर से जगमगाता है और प्रकाशवत् होता है। काँच का स्वभाव फिर भी अंधकारमय ही है लेकिन उसने सूर्य या बिजली के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लिया, इसलिये उतने काल के लिये यह प्रकाशवत् हो गया। इसी प्रकार से अनात्मा स्वभाव से तो अशुद्धरूप है लेकिन जिस समय आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण

करता है उस समय शुद्ध की तरह भास होता है। अंतःकरण में यदि आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ा, तुम्हारी ब्रह्माकार वृत्ति बन गई, तो उसी अंतःकरण को शुद्ध कहा जायेगा। इसी प्रकार से देह ने यदि ब्रह्मवत् व्यवहार किया तो देह को शुद्ध कहा जायेगा। प्राणों ने यदि परमेश्वर का व्यवहार किया तो वे प्राण शुद्ध कहे जायेंगे। उनका स्वभाव फिर भी नहीं बदलेगा। काँच का स्वभाव तो अंधकाररूप ही है। व्यवहार में जब अनात्म पदार्थों को शुद्ध-अशुद्ध कहा जाता है तो वह इसको लेकर है कि किसका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है। प्रतिबिम्ब उसका पड़ेगा जिसका प्रेमपूर्वक चिंतन करोगे। देह, प्राण, मन, बुद्धि सबका यह नियम है कि जैसा चिंतन करेंगे वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। यह ज़रूरत नहीं है कि हम यह पता लगायें कि काँच में किसका प्रतिबिम्ब है। काँच में यदि हमको सूर्य दीख गया तो बिम्ब तक नज़र ले जाने की ज़रूरत नहीं है। उस प्रतिबिम्ब से ही पता लग गया कि इस समय इसमें सूर्य प्रकाशित हो रहा है। यदि उसमें चंद्र का प्रतिबिम्ब पड़ गया तो मालूम पड़ गया कि इसमें चन्द्र प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसी प्रकार से किस में तुम्हारी इष्टबुद्धि है इसको जानने का सीधा तरीका है कि जिसका तुम्हारे में प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, उसी से पता लग गया कि तुम्हारी इष्टबुद्धि कहाँ है। यदि तुम्हारे शरीर ने स्वार्थ के प्रति क्रिया की तो पता लगा कि स्वार्थ का प्रतिबिम्ब तुम्हारे अंदर पड़ रहा है। प्रायः लोग कहते हैं कि 'मन से तो हमारा इष्ट अच्छा ही है लेकिन देह, प्राण से हमारा व्यवहार गड़बड़ हो जाता है, अंदर से हम नहीं चाहते। अंदर से सत्य बोलना चाहते हैं लेकिन क्या बतायें, झूठ बोल देते हैं।' जैसे काँच के बारे में कोई कहे कि काँच में प्रतिबिम्ब तो सूर्य का पड़ रहा है, आपको चन्द्र दीख रहा है! प्रतिबिम्ब ही इसमें प्रमाण है कि किसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। इसी प्रकार से तुम किसमें इष्ट-बुद्धि करते हो, किसको अभीप्सित मानते हो, किसकी वास्तविक स्तुति करते हो, इससे पता लग जाता है कि तुम्हारे देह, मन, प्राण में क्या प्रतिबिम्बित हो रहा है। हो नहीं सकता कि तुम्हारे अंतःकरण में द्वेष का प्रतिबिम्ब पड़े और तुम द्वेषहीन भगवती का चिंतन कर रहे हो। हो नहीं सकता कि तुम सर्वथा कृपामयी का चिंतन कर रहे हो और तुम्हारे अंदर कृपाभाव का उदय न हो।

आत्मा की श्रेष्ठता की स्वीकृति केवल वाणी से पर्याप्त नहीं। हम लोग भगवान् की स्तुति वाणी से और संसार की स्तुति हृदय से करते हैं! वाणी से कहते हैं कि भगवान् ही श्रेष्ठ है लेकिन हृदय से कहते हैं कि व्यापार, धन, मकान ही श्रेष्ठ हैं। कहाँ पता लगता है? सीधी-सी बात बता दें कि अपनी लड़की की शादी के लिये जब लड़का ढूंढने जाते हो तो क्या गुण ढूंढते हो? क्या ढूंढते हो कि इसमें कितना वैराग्य, कितनी परमात्म-भक्ति है? यह नहीं ढूंढते, बल्कि यह ढूंढते हो कि इसका रंग कितना सुन्दर है, यह कितना पैसा कमा सकता है, माँ-बाप की इज़्ज़त कितनी है। लेकिन मुँह से कहते हो कि श्रेष्ठ वह है जो परमात्म-भक्ति में लीन है। हृदय से ढूंढ रहे हो कि वह कितना कमाता है। हृदय से यदि उसे श्रेष्ठ मानते तो यह ढूंढते कि वह कैसा त्यागी और

वैराग्यवान् है। यह मुँह और हृदय का भेद बताता है कि मुँह से स्तुति है, हृदय से नहीं है। यहाँ कह रहे हैं कि यह स्तव सौभाग्य उसका होता है जो हृदय से स्तुति करता है।

किस-किस भाव का प्रतिबिम्ब पड़ता है   इसके विषय में बताया है कि मन आदि की शुद्धि में निषिद्ध चिन्तन का अभाव होना है अर्थात् जिन-जिन चीज़ों का शास्त्र में निषेध किया उनका चित्त में उदय न होना। वही निषिद्ध अनात्म-पदार्थ हैं। मन आदि से यहाँ मन, शरीर, प्राण सब लेना। मन आदि के अन्दर निषिद्ध-चिंतन का अभाव होना अर्थात् मन आदि में कभी निषिद्ध- चिंतन न आना। जब आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ेगा उस समय निषिद्ध-चिंतन नहीं आ सकता। निषिद्ध-चिंतन तो गहरी नींद में भी नहीं होता है। इसलिये निषिद्ध पदार्थों का चिंतन न हो और शिव की भावना निरंतर बनी रहे। आत्मा का प्रतिबिम्ब बराबर पड़ रहा है। सब अनात्म पदार्थों की शुद्धि का यह सीधा साधन है। शरीर-शुद्धि के लिये कोई मिट्टी, कोई दही, कोई साबुन और कोई तेल लगाता है। शरीर की शुद्धि के लिया निरंतर शरीर से कल्याणकारी क्रिया करना है और निषिद्ध क्रिया कभी हो ही नहीं। इसलिये कहा 'निषिद्धचिंतनाभावात्' और निरंतर अपने शरीर से 'शिवभावनयापि च' अर्थात् दूसरे के कल्याण के कार्य ही शरीर से होते रहें। इसलिये अनेक लोगों ने कहा है कि हाथ का भूषण दान करना है, कान का भूषण सद् बातों को सुनना है, केवल कुण्डल पहनकर घूमना नहीं! कण्ठ का भूषण हृदय से अच्छी बातें ही निकलना है। देह की शुद्धि इसी से है। इसी प्रकार प्राण मन आदि सब में समझना। इसके सिवाय शुद्धि का और कोई उपाय नहीं है। केवल सोचो कि हम इसको पानी से धोकर शुद्ध करेंगे तो शुद्ध नहीं होना है क्योंकि पानी भी तो अनात्मा ही है। अनात्मा की शुद्धि अनात्मा से नहीं होनी। मिट्टी के घड़े को मिट्टी से धोते रहो, साफ नहीं होता है। इसलिये निषिद्ध चीज़ों का अभाव और कल्याणकारी कर्म निरंतर शरीर, प्राण, मन से होने हैं। यह जो आत्मा का प्रतिबिम्ब इन सब में पड़ना है, यही शुद्धि है। आगे चलकर इसीलिये कहा कि पंचमहाभूत और उन पंचमहाभूतों से उत्पन्न हुए जितने पदार्थ हैं उनमें शुद्धि ब्रह्म-भावना से आयेगी। जो-जो पदार्थ सामने आता है उसकी शुद्धि ब्रह्मभाव से ही करनी है।

एक बार रामकृष्ण परमहंस के पास कोई अवधूत महात्मा आये तो वह उसे पहचान गये। वह कुत्तों के पास बैठकर खाई हुई पत्तलों में से जिनमें कुत्ते मुँह मार रहे थे, उनसे छीन कर खुद खा रहे थे। साधारण आदमी इसे घृणित व्यवहार समझेगा। उन्होंने अपने भतीजे हृदय से कहा कि 'यह ब्रह्मज्ञानी है। यदि तेरी इच्छा हो तो इससे जाकर कुछ सीख ले।' हृदय जब उसके पास गया तो वे बड़े ज़ोर से वहाँ से दौड़े। हृदय भी पीछे-पीछे दौड़ा। उन्होंने कड़ी बातें भी सुनाई लेकिन हृदय ने फिर भी नहीं छोड़ा। भागते-भागते दोनों एक गंदी नाली के पास पहुँचे और दूसरी तरफ गंगा जी बह रही थी। वे फिर भी दौड़ते रहे। अवधूत ने कहा कि 'जब तेरे को गंदी नाली और गंगा जी में एक ही नज़र आये तो समझ लेना कि ज्ञान हुआ।' यह कहने के साथ ही, हृदय

समझे तब तक वे भाग गये।

संसार के यावत् पदार्थ सब अनात्मा हैं, कम-ज़्यादा अनात्मा नहीं हैं। अगर उन पदार्थों में हमने ब्रह्मभावना की तो वे परम शुद्ध हैं और यदि ब्रह्मभावना नहीं की तो अच्छे से अच्छा पदार्थ भी परम अशुद्ध है। देह, मन, प्राण के द्वारा तो आत्मा को प्रतिबिम्बित किया और आत्मा को प्रतिबिम्बित करके जो भूत-भौतिक रूप दृश्यरूप से सामने आया, उसके अन्दर ब्रह्मदृष्टि करनी है। ब्रह्मरूप से हमें उसका ग्रहण करना है, उसका ज्ञान करना है। बाह्य पदार्थ तो वैसे ही दीखेंगे जैसा तुम उनमें आधान करोगे। आँख के द्वारा जब तुम पदार्थ में रूप का आधान करोगे तभी पदार्थ रूपवाला बनता है। पदार्थ रूपवाला नहीं हुआ करता, पदार्थ में रूप तब आता है जब आँख से देखा जाता है। इसलिये अंधे के लिये पदार्थ में रूप नहीं है। जब तक कान के द्वारा शब्द का आधान नहीं दोगे तब तक वहाँ शब्द नहीं है। शब्द तब होगा जब तुम कान के द्वारा वहाँ जाओ। बहुत से लोग समझते हैं कि शब्द पदार्थ में है लेकिन शब्द तो पदार्थ के किसी गुण का तुम्हारी श्रोत्रेन्द्रिय के ऊपर जाकर प्रभाव डालना है। शब्द तुम्हारी कान की इन्द्रिय का पदार्थ के साथ आपस में सम्पर्क है अर्थात् एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया है। रूप केवल आँख में भी नहीं है; केवल आँख में हो तो बिना घड़े के भी दिखाई दे। और रूप केवल घड़े में भी नहीं है क्योंकि यदि केवल घड़े में हो तो बिना आँख के भी होना चाहिये। आँख और घड़े की आपस में जो प्रतिक्रिया है, उससे रूप उत्पन्न होता है। इसी प्रकार से पदार्थ के साथ कर्णेन्द्रिय की जो प्रतिक्रिया है, उससे शब्द उत्पन्न हुआ। जीभ का रसगुल्ले के साथ आपस में जो एक सम्बन्ध हो करके प्रतिक्रिया की उत्पत्ति है, वह मिठास है, रसगुल्ले में मिठास नहीं है और जीभ में भी मिठास नहीं है, नहीं तो बिना रसगुल्ले के भी मीठा लगे। बौद्धों की भूल यह है कि वे कहते हैं कि रूप केवल आँख में ही है, नैयायिकों की भूल है कि रूप केवल घड़े में ही है। दोनों भूल करते हैं क्योंकि रूप तो घड़े और आँख के सम्बन्ध में है। जैसे पान लाल नहीं, कत्था लाल नहीं और चूना भी लाल नहीं है। पान, कत्था, और चूने की प्रतिक्रिया (सम्बन्ध) में लाल रंग है। इसी प्रकार से न केवल आँख में रूप है, न केवल घट में रूप है। घट और आँख दोनों का जब सम्बन्ध होगा, तब रूप है।

यह दृष्टि क्या करेगी? आँख के द्वारा हमको पदार्थ में रूप का आधान करना है तो फिर हम उसमें ब्रह्मदृष्टि के द्वारा शुद्ध ही आधान करें, अशुद्ध आधान करें ही क्यों? उसका नतीजा होता है कि सब कुछ शुद्ध होता चला जाता है। बार-बार अज्ञान के द्वारा हमने जो अशुद्धि अपने अंदर भर रखी है, वही बाह्य पदार्थों में प्रतीत होती है। जैसे-जैसे अंतःकरण शुद्ध होता जाता है, वैसे-वैसे संसार में शुद्धि अधिक दीखती जाती है। जो प्रतिबिम्ब हमारे अंदर पड़ा वही प्रकाश सामने वाले को प्रतिबिम्बित करेगा। सामने वाले काँच में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ा तो सामने वाले पदार्थ में सूर्य की ही रोशनी जायेगी और यदि दर्पण में बिजली के लाल रंग के लट्टू की रोशनी

पड़ी तो बाहर के पदार्थ पर भी लाल रंग की रोशनी जायेगी। मान लो कि सूर्य की रोशनी काँच पर पड़ रही है। उस काँच को हमने लाल रंग का रंग दिया। अब सूर्य की रोशनी जो काँच पर पड़ी और उस काँच के द्वारा कपड़ा प्रकाशित हुआ, वह कपड़ा लाल रंग का दीखेगा। सूर्य की रोशनी तो शुद्ध (सफेद) है। फिर भी काँच की ललाई को लिये हुए ही पदार्थ को प्रकाशित करेगी। इसी प्रकार से हमारे अंतःकरण के ऊपर परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ा। अंतःकरण के ऊपर जो-जो रंग चढ़ा हुआ है, रंगों से युक्त हुआ हमको बाहर का पदार्थ प्रकाशित होगा। यदि चाहो कि जाकर सूर्य को धोयें तो साफ होगा, तो नहीं होना है। यदि कहो कि कपड़े को साफ करके ललाई हटायेंगे तो भी नहीं होनी है। काँच को धोना पड़ेगा। इसी प्रकार से जब बाह्य पदार्थ में अशुद्धि दीखती है, अकल्याणकारिता दीखती है तो कुछ कहते हैं कि आत्मा का दोष है; उसको कोई ईश्वर के नाम से कहता है कि 'हम क्या करें, भगवान् ने पदार्थ ही गंदा बनाया है, इसलिये हमें गंदा दीख रहा है।' ईश्वर भी आत्मा ही है। कुछ उसे आत्मरूप से मानकर कहते हैं कि आत्मा अशुद्ध हो गया है, किसी साधना से शुद्ध हो जायेगा। इसलिये वे आत्मशुद्धि, आत्मचिंतन में लगे हुए हैं। आत्मा तो नित्य शुद्ध है, उसकी क्या शुद्धि करोगे! न ईश्वर-रूपी आत्मा का दोष है और न शुद्ध आत्मा का दोष है। वह तो वैसे का वैसा प्रकाशस्वरूप है। न पदार्थ (सामने वाले कपड़े) का दोष है। अंतःकरण के ऊपर संस्कारों का जो ताना-बाना लगा हुआ है उसका दोष है। बुद्धिमान् आदमी अंतःकरण के ऊपर पड़े हुए सारे लाल रंगों को दूर कर देता है। जब अंतःकरण में सफेद रंग ही रह जायेगा तो पदार्थ सफेद हो जायेगा। इसलिये अंतःकरण में सूर्य की जगह आत्मा है। जब उसमें आत्मा के संस्कार दृढ होते चले जायेंगे तो फिर सारे जगत् में शुद्धि होती चली जायेगी। यही परमेश्वर की स्तुति है, इसी को स्तव कहते हैं, यही स्तवक है।

जब यह प्राप्त हो जाता है तो फिर मनुष्य को संसार की सारी चीज़ें फीकी लगने लगती हैं। आचार्य जगद्धर एक जगह कहते हैं

'सान्द्रानन्दकरे धृतामृतकरे नास्त्येष राकाकरे
न प्रोढप्रसरे निसर्गशिशिरे स्वर्गापगा-निर्झरे।
गाढ प्रेम भरे स्मरज्वरहरे नोद्दामरामाधरे
यः शम्भोर्मधुरे स्तुतिव्यतिकरे ह्लादःसुधासोदरे।।' (स्तु. कु. ५.३०)

कहाँ-कहाँ इस चीज़ की प्राप्ति नहीं है, पहले इसे निषेध मुख से बताते हैं। लोग चन्द्रमा को अत्यधिक प्रसन्नता देने वाला समझते हैं। पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर लोग प्रसन्न होते हैं। दिवाकर सूर्य को कहते हैं और राकाकर (निशाकर) चन्द्रमा को कहते हैं। चन्द्रमा के अन्दर वह प्रसन्नता देने वाली चीज़ नहीं है। यद्यपि यहाँ चन्द्रमा कहा है जो अमृत की किरण धारण

किये हुए है और सामान्य पुरुष को यद्यपि वह घनीभूत आनंद देने वाला प्रतीत होता है तथापि अपनी किरणों से अमृत को बरसाने वाले चन्द्रमा में भी वह शक्ति नहीं है। स्वर्ग से निकली हुई नदी गंगा जी को भी लोग अत्यंत आह्लाद देने वाली मानते हैं, लेकिन खूब ज़ोर से बहने वाली, स्वभाव से ही शीतल गंगा जी में भी वह प्रसन्नता देने की ताकत नहीं है। तीसरा लौकिक दृष्टांत दे दिया। जिसको संसार के लोग अत्यंत अमृत के पदार्थ मानते हैं उनके अंदर भी वह आनंद देने की सामर्थ्य नहीं है जो भगवान् शंकर की मधुर स्तुति को करने में है। जब भगवान् शंकर की मधुर स्मृति की जाती है तब जो आह्ललाद मिलता है वह इन सब चीज़ों में नहीं क्योंकि वह तो अमृत के साथ पैदा हुई है।

किरण-कल्पना किसको बताती है? चन्द्रमा वस्तुतः अंतःकरण का प्रतीक है। मन क्या करता है? मन ही इस संसार-रात्रि को उत्पन्न करने वाला है, राकाकर है। संसार को लोग दिन में देखते हैं और विज्ञानी संसार को अंधकारमय देखता है क्योंकि असली प्रकाशरूप शिव तो नज़र आ नहीं रहा है। जैसे अंधकार में असली चीज़ नज़र नहीं आती, और-और चीज़ें नज़र आती हैं। सामने का मकान तो दीखता नहीं है और बड़ा भारी लम्बा-चौड़ा एक भूत दिखाई देता है। दिन के समय पता लगता है कि यह भूत नहीं, मकान था। अंधकार में जो चीज़ नहीं है, वह प्रतीत होती है और जो है वह प्रतीत नहीं होती। मन यही तो करता है। है तो परमात्मा और मन वहाँ संसार को दिखाता है। वहाँ सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है, मन है तो संसार दीखता है, मन नहीं तो संसार नहीं है। प्रत्यक्ष में गहरी नींद में न मन है और न संसार है। इसलिये मन रात्रि को करने वाला है अर्थात् संसार को दिखाने वाला है। इस मन को संसारी लोग बड़ी प्रसन्नता का साधन मानते हैं। कहते हैं मन ही तो घनीभूत आनंद है, रात-दिन मन की बात मानना चाहते हैं। यदि मन घनीभूत आंनद है और मन की सब जगह चल जाये तो फिर क्या है?

यवन (ग्रीस) देश के पुराणों में एक कथा आती है कि एक राजा बड़ा लोभी था। इसलिये उस राजा को सोने से बड़ा प्रेम था। नींद लेने वाला सोना नहीं समझना! उसने देवता की आराधना की तो देवता प्रसन्न हो गया। देवता ने कहा 'वरदान माँग ले।' उसने कहा 'मैं जो छूऊँ वह सोना हो जाये।' देवता ने कहा 'यह नहीं माँग, और कुछ माँग ले।' लेकिन वह नहीं माना। देवता ने उसे वही वर दे दिया और वह बेचारा प्रसन्न होकर आया। जैसे ही उसने दरवाज़ा खोला तो दरवाज़ा सोने का, दीवाल पर हाथ फेरा तो वह सोने की, कुर्सी पर बैठा, हाथ रखा तो कुर्सी सोने की हो गई। सबसे कहने लगा कि 'देखो अब अपने पास धन ही धन है।' अंततोगत्वा थोड़ी देर बाद उसने अपने किसी आदमी से कहा कि 'एक गिलास पानी लाओ।' पानी आ गया, जैसे ही उसने गिलास हाथ में लिया तो वहाँ सब सोना हो गया! खाना खाने बैठा, जैसे ही रोटी का टुकड़ा हाथ में लिया तो वह भी सोने का हो गया। थोड़ी देर बाद उसका लड़का

खेलते हुए आया और उसकी गोद में बैठ गया। बैठते ही वह मर गया और सोने की मूर्ति हो गया। कथा वहाँ बड़ी लम्बी बनाई है, तात्पर्य समझ लो। वह बड़ा दुःखी हो गया और फिर जाकर देवता की आराधना की। देवता ने आकर कहा 'अब क्या चाहिये?' उसने कहा 'पहले वाली ताकत वापिस ले लो क्योंकि वह बड़ी भयंकर ताकत है।'

जैसे उसने सभी छूकर स्वर्ण बना दिया, मुनष्य को इससे बड़ा आनंद प्रतीत होता है, इसी प्रकार मन के अनुकूल सब चीज़ें होने लग जायें तो मनुष्य समझता है कि आनंदघन है। लेकिन मन के अनुसार सारी चीज़ें होने लग जायें तो मनुष्य थोड़ी देर में मरने की सोचने लग जाये! मन के अनुसार चीज़ नहीं होती, यह परमात्मा की कृपा है क्योंकि मन तो अशुद्ध है, मन बदलने में एक क्षण लगता है। बच्चा माँ की गोद में दूध पीता है, दाँत मारता है तो पहला ही भाव माँ के मन में आता है, 'मर जा' और मन के अनुसार उसी समय लड़का मर जाये तो? इसी प्रकार से मन के जितने भाव आते हैं, यदि वे पूरे होने लग जायें तो सृष्टि का क्या हाल हो? इसलिये लगता तो यह है कि मन के अन्दर हमको सांद्रानंद है लकिन है नहीं। इस अंतःकरण के अन्दर से अमृत रूपी रश्मियाँ निकलती हैं। अहंकारात्मिका वृत्ति भी अंतःकरण है, इसलिये अंतःकरण के अन्दर से ब्रह्म की रश्मियाँ पदार्थों में पहुँचती हैं, सीधी नहीं पहुँचती। चूंकि अंतःकरण से सब प्रकाशित होते हैं इसलिये लोग इसे समझ लेते हैं कि यह सब से ज़्यादा आंनद देने वाली चीज़ होगी। लेकिन वस्तुतः आनंद इस मन में नहीं है। मन के अनुसार चीज़ें होने में आनंद नहीं है, भ्रांत धारणा से कहते हैं कि मन के अनुसार संसार आनंद देगा।

कहते हैं गंगा जी में आनंद होगा। वहाँ भी क्या है? गंगा जी की जगह वे क्रियायें हैं जो अच्छी होने पर हमको स्वर्ग ले जाती हैं और अन्य होने पर पाताल, नरक तक ले जाती हैं। लोग समझते हैं कि कर्म अच्छा होता होगा क्योंकि इससे स्वर्ग अपवर्ग आदि की प्राप्ति होती है। बहुत से लोग इसी को सुख-दुःख देने वाला मानते हैं। लेकिन ये सुख-दुःख देने वाले नहीं हैं। ये कर्म प्रौढ प्रसर हैं जो बड़े ज़ोर से आकर झरते हैं। कर्म का इतना तीव्र प्रवाह होता है कि 'मैं करता हूँ'; इसका हल्का रूप भी जब चित्त में आ जाता है तो उसे रोकना असम्भव है। दुकान यह सोचकर खोलते हो कि कोई झंझट नहीं करेंगे, आराम से जो मिलेगा खायेंगे। लेकिन दुकान का काम धीरे-धीरे बढ़ा। वह बढ़ते-बढ़ते जब जीवन में रिटायर होना चाहते हो तब लगता है कि जब शुरू किया था तब से अब दस गुना काम कर रहे हो फिर भी छूट नहीं रहा है! एक सज्जन अभी भी हैं जो हम से कहते हैं कि जब हमने काम करना शुरू किया था तो मन में भाव आया था कि यदि पाँच हज़ार रुपये हों तो बीस रुपये ब्याज आयेगा, आनंद से खायेंगे, लेकिन अब पचास लाख का टर्न ओवर होने पर भी काम नहीं छूटता। जब जीवन की अरुणिमा पर दृष्टिपात करोगे तो जब दो सौ रुपये की नौकरी मिली थी तब दृष्टि थी कि चार सौ मिल जायेंगे तो बस! अब चार सौ की जगह मैनेजिंग डाइरेक्टर बनकर तीन हज़ार उठा रहे हो। कोई कहे

कि छोड़ दो, तो कहोगे 'सारी जिम्मेवारियाँ हमारे ऊपर हैं, कैसे छोड़ दें?' जिस समय औरत के बच्चा होता है तो कहती है कि ये बच्चे बड़े हो जायें तो भजन ही करूँगी। अब बच्चे बड़े भी हो गये, विवाहित भी हो गये, उनको देखने वाले उनके पति-पत्नी भी हो गये लेकिन क्या करे, वह पोतों और दोहितों की चिंता के मारे भजन नहीं हो पाता! कर्म का वेग यह है कि जब कर्म प्रारंभ करते हो तो मंद लगता है लेकिन प्रौढ प्रसर यह है कि कर्म बड़े ज़ोर से प्रसार करता है। यद्यपि स्वभाव से तो कर्म ठण्डक देना चाहिए क्योंकि जो तुम्हें इष्ट है उसके लिये कर रहे हो, लेकिन वह स्वभाव से ठण्डक न देकर उल्टा करता है कि तुमने जो कर्म किया वह तो तुम्हें प्राप्त हो गया लेकिन ठण्डक नहीं आई। हमारे एक सज्जन जब बाज़ार से सौदा लेकर आते हैं तो बड़े दुःखी रहते हैं क्योंकि दुकानदार ने जो चीज़ दस रुपये में कही, वह उसे आठ रुपये में ले आये। लेकिन जब आठ में लेकर चलते हैं, तब से उनका दिमाग कहता है कि 'यदि पौने आठ पर अड़ गया होता तो पौने आठ में ले आता, चार आने का घाटा हो गया।' हम उनसे कहते हैं कि उसने दस रुपये कहा था, दो रुपये का नफा हो गया, यह क्यों नहीं सोचते? लेकिन वे चार आने की सोचते रहेंगे। कर्म को तो ठण्डक देनी चाहिये थी लेकिन उसके मिलने से लगा कि इतनी ताकत तो अपने में है, इसलिये और ज़्यादा काम करेंगे तो ज़्यादा हो जायेगा। वह कर लिया तो सोचते हैं कि इससे भी ज़्यादा कर लेंगे। कर्म इसीलिये ठण्डक नहीं दे पाता कि निरंतर मन उधर चला जाता है कि शायद इससे और ज़्यादा सम्भव हो जाता।

इच्छा भी वह सुख नहीं देती। 'उद्दामरामाधरे' के द्वारा इच्छा का रूप बताया। अधर ओठों को कहते हैं या जो चीज़ ऊपर हो, उससे नीचे वाली को अधर कहते हैं। हिन्दी में भी कहते हैं कि चन्द्रमा अधर में लटक रहा है। इच्छा हमेशा उस चीज़ की होगी जिसे अपने से उत्तम मानोगे। वह इच्छा रामाधरे है। 'रमन्ति हृदये' जो चीज़ हृदय में प्रिय लगे लेकिन उसकी श्रेष्ठता बाहर दीखे। केवल चीज़ को अच्छा मानने से भी उसकी इच्छा नहीं होती। भगवान् ने कहा है कि 'जो मेरे को श्रेष्ठ समझता है और मेरे से प्रेम करता है,' वहाँ भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि श्रेष्ठ चीज़ से प्रेम हुआ करता है लेकिन यह कोई नियम नहीं है। मनुष्य राजा को अपने से श्रेष्ठ मानते हुए भी राजा से प्रेम नहीं करता। इसलिये यह नियम है कि प्रेम तब होता है जब हृदय में उस चीज़ की कामना हो और वह चीज़ अपने से श्रेष्ठ हो। वह रामाधर कैसा हो? 'उद्दामरामाधरे' अपने मन में भी अच्छा समझते हो, इच्छा भी है और श्रेष्ठ भी समझो। लेकिन एक इच्छा काम-चलाऊ होती है और दूसरी उद्दाम होती है। उद्दाम इच्छा में मन में यह भी है कि यह चीज़ पूर्ण रूप से प्रिय है और पूर्ण रूप से श्रेष्ठ भी है। जिसमें ये दोनों चीज़ें हों वह इच्छा का विषय होता है। उद्दाम के द्वारा तीव्रता बताई। यह 'उद्दामरामाधरे' 'स्मरज्वरहरे' है। स्मर कामदेव को कहते हैं। स्मृति को भी स्मर कहते हैं। हम लोग अधिकतर क्यों बुखार से पीडित हैं? यादें जितनी सताती हैं, उतनी कोई चीज़ नहीं सताती। गर्मी में सर्दी की याद सताती

रहेगी। हमारा बचपन कितना मधुर था, जवानी हमने कैसी सुन्दर भोगी, वही हमको सब समय सालती रहती है। अधिकतर ज्वर यादगारें हैं। जब तीव्र हृदय की इच्छा और सामने पूज्य चीज़ दीखती है तो उसमें बुद्धि स्थिर नहीं रहती। कोई दुकान में दस लाख रुपये लेकर माल लेने आया। श्रेष्ठ भी है और अधर भी है। उद्दामता है कि आज तीस हज़ार की हुण्डी का भुगतान करना है। उस समय सर्दी की याद नहीं आती। किसी चीज़ का स्मरण नहीं होता। कोई दुःख नहीं होता। स्मरण के ज्वर को भी नष्ट करने वाली है और पूर्ण रूप से प्रेम से भरा हुआ है, ऐसी जो इच्छा और इच्छा का विषय है, वह भी उस आह्लाद को नहीं दे पाता।

शिवस्तुति का कैसा आह्लाद है? सुधा के साथ उत्पन्न होने वाला अर्थात् ब्रह्म के साथ ही उत्पन्न होने वाला है। वह ब्रह्मस्तुति है। यह जो नाम-रूप का बाध करके बार-बार आत्मा की श्रेष्ठता का शरीर, मन और प्राण से भान है उसमें जो आह्लाद (प्रसन्नता) है वह इन तीनों में नहीं है। न अंतःकरण के द्वारा प्रकाशित करने में, न प्राणों के द्वारा और न क्रिया अर्थात् देह के द्वारा प्रकाशित करने में है। इसी मधुरता को यहाँ बताया 'तवास्मिन् मंदारस्तबकसुभगे यातु चरणे' यह उसका मन्दार स्तवन है।

# प्रवचन-५८

१६-५-७२

भगवती चिदानंद-स्वरूपिणी का जो प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते हैं वे ही अंत में उसका अपरोक्षरूप से भी भजन करते हैं। प्रथम, प्रत्यक्षरूप से भगवती द्वारा त्याग का आधान, संसार के यावत् पदार्थों में सौन्दर्यानुभूति और पुनः उससे आनंद का भान होने के बाद स्तुति करता है। इस स्तवन को बड़ा सौभाग्यपूर्ण बताया। आगे कहते हैं ‘निमज्जन्मज्जीवः करणचरणैः षट्चरणताम्।’ (मज्जीवः अहं च असौ जीवश्च इति मज्जीवः। षष्ठी तत्पुरुष नहीं समझना) यही उनके चरण हैं। ‘मनः षष्ठानीन्द्रियाणि’ छह करणों से स्तव सम्भव है, केवल वाणी से नहीं। ऐसी स्तुति अपना और सबका कल्याण करेगी। कोई-कोई ही भगवती की स्तुति करने में सामर्थ्यवान् होते हैं। उसकी स्तुति करने की सामर्थ्य-प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है। जिसने पूर्व में पुण्य नहीं कर लिये, वह स्तुति नहीं कर पाता। ‘अतस्त्वाम् आराध्यां हरिहरविरिंच्यादिभिरपि। प्राणन्तु स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति।’ (श्लो. १) ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी देवी को आराधना के योग्य समझते हैं। लोक में भी जो चीज़ जितनी श्रेष्ठ होती है, उसे पाने के लिये भी श्रेष्ठ बनना पड़ता है। महागणितज्ञों की बक-बक साधारण व्यक्ति नहीं समझेगा। फराडे ने बिजली का आविष्कार किया तो उसने इतना छोटा बल्ब जलाया जो जुगनूं से भी हल्का था! उसे देखकर एक औरत खड़ी हो गई और पूछा ‘यह बताओ कि इस जुगनूं से क्या फ़ायदा है?’ आज इसके आविष्कार के सौ वर्ष में ही ऐसा कोई काम नहीं जो बिजली न करती हो। तब वैज्ञानिक ही समझते थे कि उसकी क्या सम्भावनायें हैं। सभी चीज़ों में यही बात है।

जिसका हृदय बाह्य विषयों से सर्वथा हटकर अंतरंग आनंद के लिये भौंरे की तरह नहीं हुआ, उसे परमात्मा की बात व्यर्थ लगती है। उससे कहें कि जप से लाख रुपये का फ़ायदा होगा, तो उसके लिये काम का है। जिसने पुण्य कर लिये, उसे संसार के भोगों के प्रति अनासक्ति हो जाती है। सुन्दर पत्नी, पुत्र, धन स्वस्थ शरीर इत्यादि तो अत्यंत निकृष्ट फल हैं, उत्तम फल-भोगों से भी, विमुख हो जाता है। जितना-जिना अंतःकरण सूक्ष्म होता चला जायेगा, उतना-उतना स्थूल पदार्थों से दृष्टि हटेगी। जिस दिन स्थूल पदार्थों से अधिक व्यवहार होगा, सूक्ष्म विचार नहीं हो पाते। घर में मेहमान आ रहे हैं, भोजन बनाना है। ध्यान करने बैठे तो भी दही-बड़े का ध्यान होगा, परमेश्वर का ध्यान नहीं होगा। इसलिये सारे कार्य छोड़कर एकाग्रता होने पर ही ध्यान होता है।

एक विद्वान् दाक्षिणात्य स्वामी जी को बगीचा लगाने का बड़ा शौक था। कई बार पाठ का समय हो तो हाथ-पैर धोकर आकर पढ़ाने बैठ जाते थे। भामती कल्पतरु पढ़ाया करते थे। भामती की शैली ऐसी है कि उसमें पता नहीं लगता कि यह पूर्व पक्ष है या उत्तर पक्ष है। वे

पढ़ाते हुए कहते थे कि यह सिद्धान्त है और फिर थोड़ी देर बाद कहते थे यह सिद्धान्त नहीं, पूर्व पक्ष है! बगीचे को खोदते-खोदते पंक्ति नहीं लगती। अच्छे-अच्छे लोग अपसिद्धान्त क्यों बोलते हैं? क्योंकि लगातार श्रवणादि में संलग्न नहीं रहते। यह तो ठीक है कि तत्त्व समझने के लिये आचार्यों ने अनेक प्रक्रियाओं का वर्णन किया है लेकिन एक साधक को तो किसी एक प्रक्रिया के ही अनुसार विचार करना पड़ेगा। नियम है कि वस्तु में विकल्प नहीं होता, क्रिया में विकल्प होता है। जैसे 'उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति' अर्थात् सूर्योदय के पहले या बाद में आहुति हो सकती है, इसमें विकल्प हो सकता है। किन्तु वस्तु के अधीन होने से सत्य बात में विकल्प नहीं होता। 'अविचार्य यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेसात् प्रतिहन्येत अनर्थं चेयात्' बिना विचारे जो कुछ भी मान लेने से निःश्रेयस से गिरता है, अनर्थ को प्राप्त करता है। आधे घण्टे पहले किसी स्थूल कार्य को कर रहे हो तो बुद्धि की स्थूलता रहेगी जो तत्त्व ग्रहण नहीं करने देगी। कर्मों के बीच में भगवती की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् जब तक बुद्धि सूक्ष्म नहीं होगी तब तक वह तत्त्व को ग्रहण नहीं करेगी।

'प्राप्ता कल्पलतेव चेद् भगवती वागीश्वरी कैरपि
प्राक्पुण्यैः स्वपरोपकारकरणप्रौढा पुनर्दुर्लभा।
अज्ञैस्तज्ज्ञजनोपदेशविहिताऽवज्ञैर्दुराशाहतैः
अस्ता दुर्मदकर्दमे फलति किं पायं सशायं विना।।' (स्तुतिकुसु. ५.३२)

यहाँ कल्पवृक्ष न कहकर लता कहा है, इसमें कारण है। वृक्ष कड़ा होता है और लता लचीली होती है। वृक्ष में लता की तरह सर्वविषयग्राह्यता नहीं है। लता की विशेषता है कि चाहे इधर खींच लो चाहे उधर। बुद्धि कल्पवृक्ष की तरह कामना पूर्ण तो करे ही लेकिन लता की तरह जिस को विषय करने जाये, उसी को पूर्ण कर ले। अर्थात् विषयान्तर से बुद्धि घबराये नहीं। भगवती की आराधना करने के लिये कल्पलता की तरह बनना पड़ेगा। जब जिस चीज़ को विषय किया, उस समय सर्वथा उस विषय के अन्दर ही सच्चिदानंदरूपता तक पहुँच जाना है। कल्प का अर्थ ही कल्पना अर्थात् बनाना होता है। सर्वत्र सृष्टि भी एक कल्पना ही है। इसलिये कल्प का मतलब हुआ, जिस विषय में अंतःकरण की वृत्ति बने, उस समय पूर्ण रूप से उसी के अन्दर मग्न हो जाये। जिसको रूई का ज्ञान है और कपड़े का ज्ञान है अर्थात् कपड़े से रूई तक पहले जिसको ज्ञान है उसको कपड़े धागे का, धुनी रूई का और बिनौले की रूई, सबका ज्ञान होगा। यह नहीं हो सकता कि यह तो पता है कि कपड़ा और रूई है लेकिन बीच वाली चीज़ों का पता ही नहीं है। वह मुँह से चाहे कहे कि यह कपड़ा है लेकिन सचमुच वह रूई वाले कपड़े को जानता है तो बीच वाले सब अंतराल उसे ज्ञात हो जायेंगे। ठीक इसी प्रकार से सामने एक प्रतीति आई, उस प्रतीति का अंतिम कारण सत् ब्रह्म आया। क्या हो सकता है कि उस क्रिया

और प्रतीति और उस महाकारण के मध्य के अंतराल समझ में ही न आयें? अंतराल अर्थात् बीच के कदम इसीलिये समझ में नहीं आते कि केवल सुन रखा है कि कपड़ा सूत से बनता है, कभी देखा नहीं है, समझा नहीं है। इसलिये जैसे तोता रटता है, वैसे ही रट लिया है। परीक्षा कहाँ होती है? हम कई बार अच्छे-अच्छे लोगों की परीक्षा करते हैं। टैरीलीन का कपड़ा होता है, हम उनसे पूछते हैं कि इसे भी बनाने की मशीन होती होगी? कहते हैं 'हाँ जी! धागे से बनता होगा।' लेकिन वह कपड़ा धागे से नहीं बनता बल्कि एक स्प्रे होती है, उसी से बन जाता है। उन्होंने अनुमान लगाया कि उसका भी धागा होता होगा, ताना-बाना बुन लेते होंगे। जैसे यहाँ केवल अंदाज़ करते हैं, उसे बनते हुए नहीं देखा, इसी प्रकार उस सद् ब्रह्म से जगत् कैसे बना, यह पता नहीं, खाली सुन रखा है, इसलिये अंतराल की बात पूछो तो कहते हैं कि 'हमने तो एक कारण को जाना है, कैसे बना, इससे कोई मतलब नहीं।' कभी नहीं हो सकता कि हमें परम कारण पता हो और मध्य कारण हमारे हाथ से निकल जाये। इसका कारण यह है कि हम किसी चीज़ को पूरी तरह विषय नहीं कर पाते। इसलिये कल्पलतेव कहा। जिस चीज़ को अंतःकरण जिस काल में विषय करेगा, सर्वथा मग्न होकर परम कारण सच्चिदानंद रूप और अन्य सारे का सारा नीचे की जड़ तक देख लेगा।

जिसने इस प्रकार प्राप्त कर लिया उसकी बुद्धि वागीश्वरी स्व और पर दोनों के उपकार करने में हमेशा प्रौढ बनी रहेगी। चालीस वर्ष से ज़्यादा उम्र वाले को प्रौढ कहते हैं। चालीस वर्ष वाला प्रौढ (मैच्योर) नहीं होता! जवानी क्षणिक होती है, उसमें जोश होता है, होश नहीं होता। चालीस वर्ष के बाद प्रायः मनुष्य में प्रौढता आती है। फिर वह छोटी-मोटी चीज़ पर नहीं उछलता। स्व और पर का उपकार वही कर सकता है जो प्रौढ है। कहते हैं कि ऐसी वृत्ति बनना दुर्लभ है। भगवती की कृपा हो, तभी ऐसी स्तुति करना सम्भव होता है। स्वपरोपकारप्रौढा कहने का कारण है कि बहुत से लोग स्व- उपकार ही सोचते हैं। एक पंजाबी माई हमसे एक बार कह रही थी कि नवकन्याओं का पूजन होता है तो उसमें अपने चाचा, भाई की लड़कियों को बिठा देते हैं। हमने कहा कि इनको बिठाने से क्या होगा क्योंकि ये तो रोज़ तुम्हारे घर का खाने वाली हैं! कहने लगी कि यह चाल चली आई है। कारण यह है कि किसकी पूजा करनी है यह दृष्टि ही नहीं है। इसी प्रकार दान के समय बहुत से लोगों की दृष्टि होती है कि दामाद को दें तो कैसा है? दामाद को देने से दान (पुण्य) नहीं होगा। बहुत से लोग अपना ही फ़ायदा सोचते हैं। दूसरे लोग परोपकार में ऐसे रत रहते हैं कि स्व का ही ख़्याल नहीं है। सारे संसार को ज्ञान का उपदेश देते हुए कहेंगे कि राग, द्वेष, शोक, मोह, भय आदि व्यर्थ हैं और उसके बाद जैसे ही घर आये कि वह सारा उपदेश हरिःॐ तत्सत्। घरवाली ने कहा कि आज घर में कुछ नहीं है तो सिर पकड़कर बैठ गये कि हाय! पहले क्यों नहीं कहा! अपने यहाँ क्या होता है? पड़ोसी के घर मृत्यु होती है तो तुम परोपकार सुना आते हो कि 'व्यर्थ क्यों रोते हो, संसार ही ऐसा है, मन को शांत

रखना चाहिये।' दस-पाँच दिन बाद जब बीवी मर गई तो फिर रोने लगे कि 'हाय! तू कहाँ चली गई।' कुछ लोग स्व-उपकार में और कुछ परोपकार में लगे हुए हैं। इन दोनों को ही हम लोग कमज़ोर मानते हैं। जैसे तुम्हारे लेबर लीडर मजदूरों की तनख्वाह बढ़ाने में लगे हुए हैं। उनसे पूछो कि तुम्हारा क्या हाल है, तुम क्या कमाई करते हो? वे कुछ नहीं करते, उसी से अपनी कमाई निकालते हैं। मालिक स्व-उपकार में लगे हैं, वे परोपकार नहीं सोचते। हम लोगों की दृष्टि है कि मालिक जो खुद कमाने में समर्थ हैं, वे जिस दिन परोपकार अर्थात् मज़दूरों के कल्याण की सोचेंगे, उस दिन देश में मालिक और मज़दूर का प्रेम कायम होगा। लेबर लीडर से यह नहीं होना है, मालिक के सोचने से समस्या हल होगी। इसी प्रकार सब जगह समझ लेना। इसलिये कहा कि यह भगवती की कृपा से मिलेगा।

जो ऐसा न करके खुद उस भगवती के स्वरूप को न जानने के कारण अज्ञ है और यदि भगवती की स्तुति करना चाहता है तो उसके हृदय में आशायें भरी पड़ी हैं। जो खुद कमाने में समर्थ न होकर मज़दूरों की कमाई कराना चाहते हैं, वे कुछ-न-कुछ बिना कमाई के मालिक को ठगने की चिन्ता में लगे हुए हैं। इसी प्रकार जिनके हृदय में ज्ञान की अग्नि नहीं जल रही है और फिर वे भगवती की स्तुति करते हैं तो किसी-न-किसी अपनी आशा-पूर्ति के लिये लगे हुए हैं। रात-दिन लोगों को देखते ही हो। रामकृष्ण परमहंस को कोई बड़ा आदमी आकर मिठाई देता था तो वह उसे अलग रखवा देते थे, दूसरों को नहीं देते थे। किसी ने पूछा तो कहा कि 'एक कुल्हड़ रसगुल्ला देंगे तो साथ में एक हज़ार इच्छायें करके देगें जैसे मेरा लड़का ठीक हो जाये, लड़की का ब्याह ठीक हो जाये, मेरा व्यापार ठीक हो जाये इत्यादि। इसलिये मैं उसे दूर रख देता हूँ क्योंकि उसका भाव ज़्यादा पड़ जाता है, कोई एकाध कामना करके देने वाला नहीं है।' इसलिये अज्ञ यदि भगवती की आराधना करेगा तो दुनिया-भर की दुराशा को भरकर करेगा। 'अज्ञैस्तज्ज्ञजनोपदेशविहितावज्ञैर्दुराशाहतैः' तज्ज्ञ   तत् पद को जानने वाला, भगवती के स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति यदि उसे उपदेश देगा, यदि वह विधान करेगा तो उसकी वह अवज्ञा करेगा क्योंकि स्वयं दुराशा से भरा है, अज्ञ है। तज्ज्ञ कहेगा कि 'ये वृत्तियाँ परित्यक्तव्य हैं, इनसे दूर रहो', तो वह अवज्ञा करेगा कि 'जाने दो, इन कामनाओं से अपना क्या बिगड़ता है, ये तो हृदय में चलती रहेंगी। लोक में देखने में आता है कि शोक मोह से परे आज तक कोई हुआ है जो हम हम हो जायेंगे!' लेकिन यदि कोई शोक-मोह से परे नहीं हुआ तो वेदांत शास्त्र का अध्ययन काहे को करें? यदि राग, द्वेष, काम, क्रोध दूर नहीं हो सकते तो वेदांत शास्त्र क्यों पढ़ें? उससे अच्छा है कि खेती करके खायें। हम किसी से कहें कि 'अमुक दवाई लो तो तुम्हारा रोग दूर होगा। पर कभी किसी का रोग दूर हुआ नहीं है।' तो वह दवाई क्यों ले, गंगाजल ही पिये। इसी प्रकार यदि तुम्हारा सिद्धान्त है कि राग-द्वेष, शोक, मोह शुद्ध नहीं होते तो फिर तुम्हारा वेदांत-विचार व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा। लेकिन विधान की अवज्ञा इसलिये करते हैं कि उनके हृदय

में दुराशा भरी है।

यह जो स्तुतिरूपी अपनी क्रिया है उससे वह बुरे मद (घमण्ड) रूपी कीचड़ में इस बुद्धि को डाल देता है। दुर्मद इसलिये कि तुम्हें इस का मद हो गया कि वस्तुतः तत्त्वज्ञान के अन्दर तुम्हारी स्थिति हो गई जबकि हुई है नहीं। यही दुर्मद हो गया। जैसे किसी लड़के के मन में यह जम जाये कि मैं इस विद्या को जानता हूँ तो फिर वह विद्या नहीं पढ़ता। कहता है मुझे पता है। जिस औरत के मन में हो जाये कि मुझे भोजन बनाना आता है, उसे यदि कोई समझाये तो नहीं समझेगी क्योंकि दुर्मद है। मद वह हुआ कि तुम्हें भोजन बनाना आया और फिर तुम्हारे मन में हो कि मुझे भोजन बनाना आता है। वेदांत में मद नहीं हो सकता क्योंकि यदि वस्तुतः तुम्हारे अन्दर ब्रह्मभावना आ गई तब तो मद नष्ट हो जायेगा क्योंकि अहंकार की वृत्ति ही ख़त्म हो जायेगी। इसलिये अपने आप में जब ब्रह्मभावना का अभिमान होता है तो यह हमेशा ही दुर्मद होगा क्योंकि आत्मा तो एक है। जब आत्मा एक है तो यह कैसे हो सकता है कि मैं ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी? यह सम्भव ही नहीं है। उसको उसने दुर्मद रूपी कीचड़ में डाल दिया। जैसे कीचड़ में फँसा हुआ आदमी निकलने के लिये हाथ-पैर मारता है और जितना-जितना हाथ-पैर मारता है उतना ही ज़्यादा फँसता है, इसी प्रकार से यदि एक बार यह भावना बन गई कि मेरे अंदर यह चीज़ आ गई जबकि आई है नहीं, तो फिर वह उसी के अंदर हाथ-पैर मारता रहता है, अधिक-अधिक कीचड़ में जाता है। यदि वह शांत रहे तो दूसरे व्यक्ति का हाथ पकड़कर बाहर आ भी जाये। लेकिन वह सोचता है कि मैं किसी का हाथ पकड़कर क्यों बाहर निकलूँ?

एक आदमी था जो भगवान् तक से हिसाब करता था क्योंकि हिसाब करने वाला जो हुआ। भगवान् ने विचार किया कि इसे शिक्षा देनी चाहिये। वह किसी भी मन्दिर में जाये तो हर काम की एक सूची रखे कि मैंने इतना जप किया, इतनी देर मन्दिर में बैठा, इतना दान किया। बहुत से लोग ऐसा करते हैं। कुछ मन-ही-मन में करते हैं लेकिन वह अपना नोट कर लेता था। भगवान् ने सोचा कि यह इतना हिसाब क्यों रखता है? उसने तो इसलिये हिसाब रखा था कि कहीं मर कर जायेंगे तो हो सकता है कि चित्रगुप्त से ग़लती हो जाये तो हमारे पास प्रमाण होगा कि यह हिसाब है। वह दिल का अच्छा आदमी था, इसलिये भगवान् ने विचार किया इसे शिक्षा देनी चाहिये। भगवान् एक महात्मा का रूप लेकर उसके यहाँ आये और दो-एक दिन रहे। एक बार उन्होंने पूछा कि ‘यह क्या लिखते हो जो बराबर अपने पास रखते हो?’ उसने बताया कि यह पुण्य-पाप का रोज़नामचा है। पूछा ‘क्या करेगा?’ कहा आजकल का ज़माना है, चित्रगुप्त कहीं भूल जाये तो वहाँ काम आयेगा। महात्मा ने कहा ‘बहुत अच्छा किया। लेकिन एक बात बताता हूँ कि तू इसको किसी लोहे पर लिखा कर, कागज़ पर नहीं, क्योंकि जब तू जायेगा तो इसे बगल में रख दूँगा, तू इसे साथ ले जायेगा। ये कागज़ तो जल जायेंगे। इसलिये लोहे के कागज़ों को बनायेगा तो वे तेरे साथ चले जायेंगे।’ विचारशील था, सोचने

लगा   ग़जब हो गया। महात्मा ठीक कहते हैं। शरीर जल जायेगा तो लोहे के कागज़ भी कैसे लेकर जाऊँगा? वह बेचारा बड़ी चिन्ता में पड़ गया। एक-दो दिन बाद महात्मा के पैर पकड़कर कहने लगा कि कोई उपाय बताइये, कैसे ले जाऊँगा? उन्होंने कहा कि   'एक ऐसे को यह हिसाब की पोथी दे दे जो तुम्हारे हिसाब की पोथी ले लेगा।' कहने लगा   उसने कहीं गड़बड़ कर दिया तो? महात्मा ने कहा   वह गड़बड़ करने वाला नहीं है क्योंकि उसने एक नियम बना रखा है कि जितने तुमने अच्छे से अच्छे पुण्य किये वे पुण्य बहुत कल्पों तक तुमको सुख दे सकते हैं। बहुत अवसरों पर तुम्हें स्वर्ग की अप्सराओं का भोग दे सकते हैं। यदि उसे हिसाब दे देते हो तो वह पुण्य तो अपने पास रख लेता है लेकिन ठगी नहीं करता क्योंकि उसकी प्रतिज्ञा है कि तुम्हारा सारा बढ़िया माल लेकर तुम्हें कान पकड़कर बाहर निकाल देगा कि भविष्य में कभी मेरे सामने नहीं आना। है तो वह ऐसा बेईमान, इसलिये कोई ठगी की बात नहीं है। अगर बाद में हिसाब लेने-देने की बात हो तो ठगी हो। इसलिये यदि पुण्यों का हिसाब तुम भगवती के अर्पण कर दो तो वह पुण्य ले लेगी और उसकी घोषणा है कि बदले में कहेगी कि इसे बाहर कर दो। इसलिये उसके बदले तुम इस संसार-समुद्र से बाहर कर दिये जाओगे और फिर कभी नहीं आना पड़ेगा। पुण्य तो सारे के सारे वह रख लेगी।

विचार करो; है तो यह ठगी का मामला कि तुम्हारे किये हुए सारे शुद्ध कर्म रख लिये और तुम्हें अंगूठा दिखा दिया, लेकिन वही तुम्हारे कल्याण का मार्ग बन गया यदि हम अपने इस हिसाब की दृष्टि को छोड़ दें। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में इसका विचार किया है कि अंतःकरण की शुद्धि यदि कर्म से मानते हैं तो कर्म दो व्यक्तियों का एक-सा कभी नहीं होगा। यदि कहते हो कि अंतःकरण की शुद्धि के लिये अमुक तादाद के पुण्य कर्म चाहिये। मान लो पाँच सौ यूनिट चाहिये और किसी ने पाँच सौ पचास शुद्ध कर्म किये हैं, उसके बेचारे के पाचस कर्म व्यर्थ चले गये। और यदि किसी के ४५० कर्म हैं तो अंतःकरण पूर्ण शुद्ध नहीं हुआ। कोई दो व्यक्तियों के एक जैसे कर्म नहीं होंगे। जिसके कम हैं उसका अंतःकरण अशुद्ध रह जायेगा, इसलिये उसके ज्ञान में कमी और जिसके कर्म कुछ ज़्यादा हो गये तो उसके वे कर्म फालतू चले जायेंगे। इसलिये दोष की प्राप्ति हो जायेगी। ऐसा नहीं हो सकता कि अंतःकरण शुद्ध हुआ और झट ज्ञान हो गया। ज्ञान तो उसके बाद श्रवण, मनन से होगा। इसलिये हर जीव के कर्म कुछ ज़्यादा या कुछ कम रह जायेंगे। आजकल की सीलिंग वाला मामला कि १५ एकड़ ज़मीन किसी के पास होनी ही न हुई; किसी के पास १२ एकड़ और किसी के पास १७ एकड़ होगी। १२ वाले को भी नुक्सान पड़ा क्योंकि बढ़ा लेता तो अच्छा था। यदि १७ वाला हुआ तो उसकी २ एकड़ फालतू चली गई। इसलिये यदि कर्म के द्वारा शुद्धि मानते हैं तो अधिकतर लोगों का काम गड़बड़ हो जायेगा, कम वाले को भी और ज़्यादा वाले को भी नुक्सान होगा। आत्मज्ञान एकरूप होता है। सिद्धान्त में आत्मज्ञान कम-बेशी नहीं हुआ करता। यह नहीं कि

कम शुद्ध अंतःकरण वाले को कम आत्मज्ञान और ज़्यादा शुद्ध अंतःकरण वाले को ज़्यादा आत्मज्ञान होगा! भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु के और चाण्डाल के ज्ञान में कोई भेद नहीं है। फिर कर्म का विचार क्यों? भगवान् सुरेश्वराचार्य नैष्कर्म्य सिद्धि में कहते हैं कि कर्म से अंतःकरण शुद्ध नहीं होता बल्कि यावत् पुण्य कर्म जो भी तुम्हारे पास हैं, वे सारे परमात्मा को अर्पण करने से ही अर्थात् वह सर्व कर्मों का अर्पण ही अंतःकरण की शुद्धि का कारण है। जैसे मोटी भाषा में समझ लो कि यदि कोई व्यक्ति यह नियम कर लेता है कि मेरी जो भी सम्पत्ति और जो भी व्यापार है, वह मैं सारे का सारा सरकार को दे देता हूँ तो अगले ही क्षण से वह करमुक्त (टैक्सफ्री) हो गया क्योंकि कुछ सम्पत्ति आदि होगी तो टैक्स लगेगा, नहीं तो किस पर लगेगा? साँस पर तो कोई कर है नहीं! दस लाख वाले ने दस लाख और दस करोड़ वाले ने दस करोड़ दे दिया। ऐसा नहीं कि दस करोड़ देने वाला ज्यादा करमुक्त और दस लाख देने वाला कम करमुक्त हुआ, बल्कि दोनों एक जैसे हुए। इसी प्रकार से परमात्मा को तुमने अपने सर्वस्व पुण्य कर्मों को अर्पित कर दिया तो चाहे कर्म थोड़े थे, चाहे ज़्यादा थे, सर्वस्व अर्पण से तुम्हारा अंतःकरण शुद्ध हो गया। इसलिये अंतःकरण-शुद्धि में कारण कर्म नहीं, वरन् कर्म-त्याग है अर्थात् सारे कर्मों का जो परमात्मा में त्याग कर दिया, वह अंतःकरण को शुद्ध करके तुम्हें ज्ञान की साधना के लायक बना देता है। इसीलिये यहाँ दुर्मद का कर्दम हट गया, कीचड़ हट गया।

यदि ऐसा न करके दुराशाहत होकर हम उसकी स्तुति में लगते हैं अर्थात् नाम-रूप को हटाकर वहाँ केवल शिवदृष्टि करना चाहते हैं, तो जो ज्ञान से उसकी सच्चिदानंदरूपता समझ गया, उसकी तो शिवदृष्टि बन जाती है। उसने तो सर्वस्व अर्पण कर दिया। जिसने नहीं किया, जिसके हृदय में दुराशा भरी हुई है और फिर वह शिवदृष्टि करने का प्रयास करेगा तो उल्टा पाप हो जायेगा क्योंकि दुराशा के कारण वह ग़लत काम करेगा और सोचेगा कि उसमें हम शिवदृष्टि कर लें। इसलिये बजाय राग को छोड़ और वैराग्य को भी छोड़कर वीतराग बने, वह उल्टा रागी हो जायेगा। उसमें यदि कहेगा कि मेरी शिवदृष्टि है तो वह अपने को और दूसरे को धोखा देगा। इसी प्रकार दुराशा के कारण द्वेष आदि वृत्तियों को भी करेगा और चाहेगा कि नाम-रूप का बाध करे लेकिन नाम-रूप का बाध उससे नहीं होना है क्योंकि दुराशा के कारण ही मनुष्य राग-द्वेष करेगा। ऐसे व्यक्ति को दो दोष लगेंगे। पाप का दोष तो लगेगा ही और साथ में भगवती का शाप भी लगेगा। कम-से-कम यदि वह कहता है कि 'मेरे में दुराशा है, इसलिये मैं नाम-रूप को सच्चा समझता हूँ', तब तो कभी-न-कभी नाम-रूप को मिथ्या भी समझ लेगा। भगवती की कृपादृष्टि रहेगी कि यह नाम-रूप को सत्य समझता है, इसलिये पाप की प्रवृत्ति करता है। लेकिन जब वह पाप के अंदर प्रवृत्ति करता हुआ उल्टा कहता है कि 'यह कुछ नहीं, शिवदृष्टि ही है', तो उसे उल्टा भगवती का शाप लगता है कि 'तुम नाम-रूप का

बाध तो करते नहीं, उल्टा उसमें ग़लत दृष्टि करते हो।' पाप भी शाप के साथ होगा।

नाम-रूप का बाध करके भगवती के सच्चिदानंद रूप की स्तुति करनी है। यह तब होगा जब प्राक्पुण्य के फलस्वरूप तुम्हारे अन्दर ज्ञान होकर नामरूप को वस्तुतः मिथ्या समझने की दृढ भावना हो जाये और वह मिथ्यात्व फिर उसके प्रति प्रवृत्ति न करा सके। गीता की टीका 'तात्पर्यबोधिनी' में आचार्य शंकरानंदस्वामी लिखते हैं कि मान लो एक आदमी को पता है कि यह मृगी का जल है, क्योंकि वहीं का रहने वाला है, इसलिये उसे पता है कि यहाँ बालू पानी की तरह दीखता है लेकिन पानी नहीं है। उधर से एक बार कोई बड़ा ज़मींदार निकला। उसे प्यास लगी हुई थी। पहले बड़े लोग (राजकुमार, ज़मींदार) बेगार में पकड़ लेते थे। उसने उस आदमी को पकड़ लिया और कहा कि 'वहाँ से पानी का एक घड़ा ले आ।' वह हाथ जोड़कर बोला कि वहाँ पानी नहीं है। उस ज़मींदार ने मरुभूमि नहीं देखी थी, इसलिये उसे डाँटा कि 'मेरे को मूर्ख बनाता है!' और उसको दो चाबुक मार दिये। वह फिर बोला कि 'रेगिस्तान है, पानी नहीं है', लेकिन वह नहीं माना। अब वह घड़ा लेकर चला लेकिन चलने में उसके पैर उछल कर आगे नहीं बढ़े, उसमें किसी प्रकार का उत्साह नहीं था कि पानी ले आऊँ। आचार्य शंकरानंद स्वामी लिखते हैं 'भग्नकटिसर्पवत्' जैसे साँप की कमर टूट जाने पर बेचारे की गति होती है, इसी प्रकार वह आदमी जायेगा ज़रूर लेकिन बिना किसी उत्साह के जायेगा क्योंकि उसे पता है कि वहाँ कुछ नहीं मिलना है। आचार्य शंकरानंद स्वामी आगे लिखते हैं कि ठीक इसी प्रकार से ज्ञानी को निश्चित पता है कि संसार के यावत् पदार्थ सर्वथा शून्यवत् हैं, उनसे कुछ नहीं मिलना है। यह उसकी दृढ अनुभूति है। यदि किसी प्रारब्ध के वेग से किसी पदार्थ की तरफ प्रवृत्ति हुई भी तो वह पहले 'ना' करेगा अर्थात् पहले अपनी इन्द्रिय का निरोध करेगा। प्रवृत्ति के साथ ही मन को रोकेगा कि 'वहाँ क्या पड़ा है, वहाँ जाकर क्या करेगा, वहाँ कुछ भी नहीं है!' मंद प्रारब्ध हुआ तो रोक लेगा। प्रारब्ध तीन तरह के हैं  मंद प्रारब्ध, तीव्र प्रारब्ध और तीव्रतर प्रारब्ध। मंद प्रारब्ध हुआ तो चला ही नहीं।

यदि प्रारब्ध ज़रा तीव्र हुआ; जैसे वहाँ ज़मींदार ने कहा कि 'मैं नहीं मानने वाला हूँ, चाबुक मारूँगा' और मार भी दिया। तीव्र प्रारब्ध क्या करता है? कभी हमारे आश्रम में सोओ तो पता चलेगा। मंद प्रारब्ध से तो रात में नींद आ जायेगी। तीव्र प्रारब्ध से नींद खुली तो देखा कि शरीर पर दापड़ पड़े हैं क्योंकि मच्छरों ने काटा है। तीव्र प्रारब्ध के काल में तुमने अपने इन्द्रिय- मन को रोक रखा है। लेकिन ज़बरदस्ती वहाँ से एक ट्रक निकल गया या किसी आदमी ने जाते हुए धक्का मार दिया। इन्द्रिय-मन का निरोध करने के बाद भी यदि तीव्र प्रारब्ध होगा तो ज़बरदस्ती तुम्हें फल देने लगेगा। तब वह उसे समझायेगा, अभी भी उठेगा नहीं। कहेगा  'मच्छर ने काटा तो अच्छा ही हुआ क्योंकि मच्छर तभी काटेगा जब कोई-न-कोई पाप कर्म का उदय होगा। इतने मच्छरों ने काटा तो इसका मतलब है कि ये पाप तो हट गये। इसलिये अब ये पाप आगे दुःख

देने वाले नहीं हैं।' जैसे तुम अपने ओवरड्राफ्ट का रुपया पहुँच जाने पर ख़ुश होते हो। घर से रुपया निकल भी गया लेकिन खुश हो गये। लाख रुपये की हुण्डी का भुगतान बाजार में करना है, इसलिये वह ५० हज़ार रुपया हुण्डी वाले ले गये, लेकिन उसके जाने से सुखी होते हो कि अब पचास हज़ार का देना रह गया। जैसे हुण्डी का भुगतान होने से खुशी है, ऐसे ही यदि मच्छर काट गया तो उतनी पाप की हुण्डी तो ख़त्म हो गई अर्थात् इस पाप कर्म को तो कभी नहीं भोगना पड़ेगा। अभी भी उसकी प्रवृत्ति मच्छर उड़ाने की नहीं होगी। सोचेगा, काट लेने दो। मंद प्रारब्ध को तो वह शम, दम, इत्यादि से रोक लेता है। तीव्र प्रारब्ध में भी वह प्रवृत्ति नहीं करता, उल्टा विचार के द्वारा नाम-रूप के बाध की प्रवृत्ति करता है।

अब किसी काल में तीव्रतर प्रारब्ध आता है। उसने चाबुक मार दिया कि 'तेरे को जाना पड़ेगा।' उसने सोचा कि यह मारता है तो जायेगा। इसमें वह विचार के अन्दर भी बीच-बीच में विक्षेप करने लगता है, विचार नहीं चलने देता। विचार कर रहे हो कि मच्छर काट रहा है, कोई हर्जा नहीं। लेकिन बीच में मच्छर काटने की वेदना इतनी तीव्र होती है कि एक क्षण के लिये विचार खण्डित हो जाता है। 'आह' निकल गई, उतने क्षण के लिये अनुसंधान टूट गया। तीव्रतर प्रारब्ध की स्थिति में पहुँचा तो यथाकथंचित् सोचता है कि 'चलो, उठकर बन्द कमरे में पहुँच जायें।' जब इस प्रकार निरंतर प्रवृत्ति के अवरोधपूर्वक मनुष्य रहता है तब समझना चाहिये कि वह नाम-रूप का बाध कर रहा है, उसे मिथ्यात्व का निश्चय है। जाता है, लेकिन कमर टूटे साँप की तरह जाता है। अत्यंत दुःखी दिल से जाता है। यदि सवेरे सोचता है कि रात को मच्छरों से कैसे बचा जाये, तो उसे संसार के मिथ्यात्व का निश्चय नहीं है, उसमें उसकी मिथ्यात्व-दृष्टि नहीं है। जिसे इस मिथ्यात्व का दृढतापूर्वक अनुभव है, वही भगवती के नाम-रूप का बाध करके भगवती की स्तुति का अधिकारी बनता है।

अनुबंध-१

## श्री शंकर भगवत्पाद जयंती

१७.५.७२

इस श्लोक में जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया, जो वह चिदानंदलहरी है, उसको प्रकट करने वाले भगवान् शंकर का आज जन्म-दिन है। उन्होंने ही इस सौन्दर्यलहरी को लिखा है। इसमें उन्होंने अपने अनुभवों को भक्ति-मंदाकिनी से प्लावित करके प्रकट किया। तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे थे कि किस प्रकार से सुधासिन्धु के मध्य में, कल्पवृक्ष की वाटिका में, मणिद्वीप में, चिंतामणि के घर में बैठकर, शिवाकार बिछौने के ऊपर, परम शिव की गोद में बैठी हुई चिदानंदलहरी को जीवन्मुक्त लोग प्रतिक्षण अनुभव करके प्रकट करते हुए स्व और पर के अन्दर पूर्णता को प्राप्त करते हैं। इस भक्ति-मंदाकिनी में जो भगवान् शंकर ने अच्छी तरह से बताया, उसका एक विशेष कारण है। इसी सौन्दर्य लहरी के आगे के श्लोकों में आयेगा।

**'कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं**
**पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।**
**प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया**
**कदा धत्ते वाणीमुखकमल-ताम्बूलरसताम्।।' (श्लो. ९८)**

जीवन में उस तत्त्वज्ञान की निष्ठा के प्रति उन्होंने भगवती राजराजेश्वरी से यह प्रार्थना की। उस समय वे अपने को विद्यार्थी मानते थे कि मैं ब्रह्मविद्या की इच्छा कर रहा हूँ। कहते हैं हे माँ! वह काल कब आयेगा जब आपके चरणों को धोकर यह विद्यार्थी पिये। उसका नतीजा यह होगा कि जो जन्म से गूंगा होता है, वह भी कविता करने लग जाता है। इसका साक्षात् दृष्टांत उनके जीवन में आता है। भगवान् शंकर महाराष्ट्र के अंदर जा रहे थे। एक जगह अग्रहार में किसी ने आकर अपने लड़के को उनके सामने नमस्कार करवाया। नमस्कार करने पर लड़का उठा तो माता-पिता कहने लगे 'महाराज! यह जन्म से गूंगा है।' लोगों की आदत होती है, कहने लगे कि 'आप इसपर कृपा करो, इसको आशीर्वाद दो तो यह ठीक हो जाये।' भगवान् शंकर ने उनको बड़े प्रेम से देखा और समाधि से विचार किया तो पाया कि यह साधारण गूंगा नहीं है। बड़े प्रेम से उसके सिर पर हाथ फेरकर पूछा 'अरे! तू कौन है?' उसने बड़े सुन्दर श्लोकों की रचना की जिसे हस्तामलक-स्तोत्र कहते हैं। उसमें कहा कि 'जैसे बादल से ढके हुए सूर्य को देखकर मूर्ख लोग कहते हैं कि सूर्य ढक गया, मूढबुद्धि ही ऐसा मानते हैं, उसी प्रकार लोग समझते हैं कि मैं गूंगा हूँ लेकिन गूँगे तो वे हैं ! गूंगा मन के भाव को प्रकट

नहीं कर सकता। ये भी अपने मन के भाव को प्रकट नहीं कर सकते क्योंकि इनके मन में द्वन्द्व मचा हुआ है। इनसे क्या बात करूँ'! ये खुद ही नहीं जानते।' यह सुनकर सब लोगों को बड़ा आश्चर्य हो गया। कहने लगे 'आपकी कृपा हो गई।' भगवान् शंकर ने कहा 'लेकिन यह तुम्हारे पास रहेगा तो गूंगे का गूंगा ही रहेगा।' इसलिये उन्हें अपने साथ ले गये। वही आगे हस्तामलक बने। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जन्म के गूंगे को भी उस भगवती के चरण-जल के पानमात्र से कविता करने की सामर्थ्य आती है।

स्वयं वे अपना अनुभव ही इस सौन्दर्यलहरी में कहते हैं

**'तवस्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः**
**पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।**
**दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्**
**कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता।।' (श्लो. ७५)**

अपने जीवन के बचपन की कथा लिखते हुए कहते हैं कि जब अत्यंत छोटे बाल रूप में था (टीकाकारों ने लिखा है कि उनकी छह महीने की उम्र थी)। पिता बाहर गये हुए थे, माँ पानी भरने गई हुई थी। उन्हें भूख लगी। वहीं पर भगवान् शंकर-पार्वती की मूर्ति थी। उसकी तरफ देखकर ज़ोर से रोने लगे। पार्वती जी ने विचार किया कि यह रो रहा है तो इसे दूध पिला दिया जाये। उन्होंने आकर उन्हें दूध पिला दिया। जब चली गई तब तक माँ गई और देखा कि इसके मुंह में दूध लगा हुआ है। बच्चा दूध पिये तो कुछ मुँह में लगा रह जाता है। नम्बूदरी ब्राह्मण का पवित्र घर था। कई बार मज़ाक में कहा करते हैं कि एक (शंकर) नम्बूदरी ने बौद्धों को ख़त्म किया और दूसरे नम्बूदरी मार्क्सवाद ला रहे हैं! वे बड़े कट्टर ब्राह्मण होते हैं। माँ ने सोचा किस का दूध पी लिया! माँ जब थप्पड़ मारने को तैयार हुई क्योंकि सोचा कि कोई आकर दूध पिला गया, अब यह भ्रष्ट हो गया। शंकर ने पार्वती जी की मूर्ति की तरफ अंगुली दिखाई कि वह पिला गई है, और कोई नहीं। अतः कहते हैं द्रविड शिशु की मेरी अवस्था थी, तब तुमने दया करके मुझे दिया था लेकिन पेट भरकर नहीं मिला, केवल एक बार आस्वादन किया। हे भगवती! उतना मात्र ही जो तेरा दूध मिला तो अत्यंत बड़े-से-बड़े प्रौढ कवि लोगों से भी कमनीय जो कविता की है वह उसी दुग्धपान का फल है। इसलिये आपके स्तनों से दूध नहीं निकला करता है बल्कि केवल ज्ञान की गंगा ही आपके स्तनों से निरंतर बहती रहती है। इस अनुभव के आधार पर उन्होंने यहाँ सौन्दर्यलहरी में भगवती के सौन्दर्य का वर्णन किया है।

भगवान् पद्मपाद कहते हैं कि भगवान् भाष्यकार जन्म से ही अपने स्वरूप को जानने वाले थे। ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका में आचार्य के साक्षात् शिष्य पद्मपाद लिखते हैं कि ब्रह्मवेत्ताओं के हृदय में खिलने वाला यह एक ही कमल है। ब्रह्मवेत्ताओं के हृदय में अनेक चीज़ें नहीं आतीं।

केवल एक अखण्ड चिन्मात्र ही उनके हृदय में बैठा हुआ है। समग्र लोकों में यह ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित हो, इस लोकानुग्रह का ही एक वहाँ रस है। प्राणिमात्र के हृदय में यह परम आनंद भर जाये, प्रतिक्षण इस ब्रह्मानंद में प्रत्येक अंतःकरण लीन रहे, यही एक वहाँ रस है जैसे ईख में एक मिठास का ही रस होता है। तरह-तरह के गन्ने होते हैं, कोई लम्बा, कोई, चौड़ा, कोई मोटा और कोई गाँठ वाला होता है लेकिन सारे गन्नों के अन्दर केवल एक ही रस है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के अंतःकरण और भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी हैं लेकिन उन सबके अन्दर केवल एक ब्रह्मानंद का ही रस भरा हो और दुःख की छाया न रह जाये, यही उनके जीवन में एक रस है। किसी को धन- सम्पत्ति मिलती है, इसमें उन्हें कोई रस नहीं है। उन्होंने जो शरीर ग्रहण किया, वह किसी कर्म के फल से ग्रहण नहीं किया कि अमुक कर्म का फल भोगना था। उन्होंने शरीर को अपने आप, अपने संकल्प से धारण किया। परिग्रह का अर्थ किसी चीज़ को पकड़कर रखना। शरीर को *उन्होंने* पकड़ा, उनको शरीर ने नहीं पकड़ रखा था। शंका होती है कि यदि उन्होंने शरीर का परिग्रह किया तो ब्रह्मानंद में मग्न रहने वाला इस टट्टी के थैले शरीर को क्यों धारण करेगा? गंदी जगह कोई नहीं आता और गंदी से गंदी जगह यह शरीर है। इससे ज़्यादा गंदी चीज़ कुछ नहीं है। बढ़िया से बढ़िया साबुन लगाकर बैठे तो दिल्ली की गर्मी में पास वाले को बदबू आने लगती है। शरीर की बदबू हटाने के लिये ही संसार में लाखों-करोड़ों रुपये खर्च होते हैं, न जाने क्या-क्या बनाते रहते हैं। बढ़िया से बढ़िया केसर-बादाम का हलुआ बनाकर खिलाओ और सवेरे नाक बन्द करके बैठना पड़ता है। इसलिये शरीर से गंदी चीज़ संसार में नहीं है। ऐसे अति घृणित शरीर को भी भगवान् इसलिये पकड़कर रखते हैं कि सम्यक् ज्ञान का सर्वत्र प्रवर्त्तन हो, बस यही एकमात्र प्रयोजन है। भगवान् शंकर के जीवन का एकमात्र लक्ष्य सम्यक् ज्ञान-प्रवर्त्तन है और जो भी उनके मार्ग से चलकर उनसे उपकृत होता है, उनके सामने यही एकमात्र उद्देश्य रहता है। चाहे वह संन्यासी बने, चाहे गृहस्थी, चाहे वानप्रस्थी, चाहे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो। भगवान् भाष्यकार से उपकृत होकर समग्र ज्ञान-प्रवर्त्तन प्रयोजन नहीं होता तो समझ लेना चाहिये कि उसने भगवान् भाष्यकार के प्रति कृतघ्नता की। जब उन्होंने इतना कष्ट सहन करके नित्य-निरंतर ब्रह्मानंद भूमिका को छोड़कर इसे धारण किया, तभी आज हम उपकृत हो रहे हैं।

जब वे आये थे, उस समय का काल कैसा था? हिन्दू धर्म समाप्त हो चुका था, सनातन धर्म का कहीं नाम-निशान नहीं रह गया था। विंध्याचल में दो-चार महात्मा गुफा में छिपे पड़े थे क्योंकि बौद्ध या धर्मावलम्बी को मार डालते थे या धन देकर अपनी तरफ कर लेते थे। आज की परिस्थिति से भी भयंकर परिस्थिति थी क्योंकि आज की परिस्थिति में गर्दन काटने नहीं आते। कार्यालय में हँसी ही उड़ाते हैं कि भक्त है, पाखण्डी है, भस्मी लगाता है, लेकिन इतनी भयंकर परिस्थिति नहीं है कि सिर काट लें! उस समय ऐसी परिस्थिति थी। आचार्य कुमारिल

उनके बीच थे। एक बार वैदिक धर्म की निंदा सुनकर उनकी आँखों में पानी आ गया। बौद्धों ने कहा 'अरे! लगता है कि यह अंदर से सनातन धर्म से प्रेम करता है।' विद्वान् थे। बौद्धाचार्य ने चेलों से कहा कि 'इसे ऊपर ले जाकर पहाड़ से धक्का दे दो। विद्वान् है लेकिन दुश्मन है।' लोगों ने उन्हें ले जाकर धक्का मार दिया। यह स्थिति थी। वे मरे नहीं। गिरते हुए भी उन्होंने यही प्रतिज्ञा की कि 'यदि वेद प्रमाण है तो मेरी रक्षा होगी।' एक आँख फूट गई लेकिन बच गये। ऐसी भयंकर परिस्थिति में भगवान् शंकराचार्य का जन्म हुआ और उन्होंने ज्ञान-शक्ति का प्रवर्त्तन किया जिसे संक्षेप में बतायेंगे।

हमारे धर्मों में और संसार के धर्मों में क्या फ़र्क है? हिन्दू धर्म के जितने संस्थापक ऋषि हैं, सबने अपने नाम-रूप को सर्वथा पीछे रखा। आज वैदिक मंत्र के ऋषियों का लोगों को नाम भी नहीं पता है। हमारे धर्म-संस्थापक ऋषिगण हैं, राम, कृष्ण तो अवतार हैं। राम जिस धर्म में पैदा हुए वह धर्म सनातन धर्म है। राम ने सनातन धर्म नहीं बनाया। कृष्ण जिस धर्म को मान गये, वह हिन्दू धर्म है, उन्होंने धर्म नहीं बनाया। इसलिये सनातन धर्म-संस्थापक नाम-रूप-त्यागी ऋषि लोग हैं जिन्होंने केवल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अपने आप को शून्य बनाकर सिद्ध किया कि वस्तुतः नाम-रूप का त्याग कैसा होता है। याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि एक-एक ऐसे थे जो ईसा, मूसा से बहुत ज़्यादा विचारक व प्रचारक थे। अभी थोड़े दिन पहले एक व्यक्ति ने वेद-संस्करण निकाला जिसमें वशिष्ठ और विश्वामित्र के विचारों को इकट्ठा करके उसका नाम 'वशिष्ठ-विश्वामित्र दर्शन' रखा। एक बार मिले तो हमने कहा कि यह अच्छा नहीं किया। क्या वशिष्ठ अपनी किताब लिखकर उसका नाम नहीं रख सकते थे? क्या वेद का एक जगह एक खण्ड नहीं बना सकते थे? क्यों सारे विचारों को मिलाकर रखा? इसलिये कि कभी किसी के मन में भावना ही न आये कि मैं वशिष्ठ या विश्वामित्र को मानता हूँ। किसी एक व्यक्ति की राय लेकर नहीं मानना वैदिक दृष्टि है। किसी तरह से नाम रूप समाप्त हो, यह नाम-रूप-परित्याग की दृष्टि है। आजकल ठीक इससे विपरीत हो रहा है। छोटी-छोटी-सी बातों को कहने वाले अपने को संस्थापक मानते हैं। कुछ बातों को पकड़कर एक कबीर पंथ और कुछ बातों को पकड़कर दूसरा नानक पंथ बन गया और गार्गी, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि उन संस्थापकों को देखो तो वहाँ नाम-रूप का प्रश्न ही नहीं। यह नाम-रूप का परित्याग है। सिद्धान्त के विषय में इसलिये हिन्दू अपौरुषेयवादी होता है, कभी किसी से दबता नहीं। बाकी सबको यह चिंता लगी हुई है कि हमारे अमुक ईसा, मूसा क्या कह गये हैं क्योंकि वे नाम-रूप में लगे हुए हैं। अगर ईसा ने कोई ग़लत काम कर दिया तो उनका धर्म गया। लेकिन हमें सिद्धान्त के सम्बन्ध में कोई चिंता नहीं कि कृष्ण ने क्या *किया*। यदि ग़लती राम ने की तो वह सिद्धान्त पर नहीं आ सकती क्योंकि राम हमारे धर्म के संस्थापक नहीं हैं, धर्म को मानने वाले हैं। जैसे किसी ईसाई के बुरे हो जाने से ईसाई धर्म पर दोष नहीं आ सकता लेकिन ईसा की ग़लती से

आ जायेगा क्योंकि वह संस्थापक है। हमने सिद्धान्त से बताया कि किसी व्यक्ति के नाम-रूप में दोष हो सकता है, उसके स्वरूप में दोष नहीं। धर्म-संस्थापना में नाम-रूप को हटाया और उस धर्म को मानने वाले बड़े-बड़े लोग राम, कृष्ण आदि को अवतार माना अर्थात् वे धर्म का संरक्षण करने वाले हैं, उस धर्म को पूरी तरह से अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करने वाले अतः अवतार हैं। यदि उनके जीवन में कोई ग़लती निकालो तो भी धर्म पर आपत्ति नहीं आ सकती है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति हमारी ही शक्तियाँ हैं। भगवान् कृष्ण के समय क्रिया-शक्ति को प्रकट करने वाले कृष्ण और ज्ञान-शक्ति को प्रकट करने वाल वेदव्यास हैं। राम क्रिया-शक्ति को और वशिष्ठ ज्ञान-शक्ति को प्रकट कर रहे हैं। नाम-रूप राम का है, वशिष्ठ का नहीं है। यह ब्रह्म-क्षत्र (ज्ञान-क्रिया) का समन्वय संसार में और कहीं नहीं मिलने वाला है।

भगवान् भाष्यकार ज्ञानशक्ति को प्रकट करने वाले थे। जहाँ उनका जन्म हुआ वहाँ आज से ५० वर्ष पूर्व तक कोई उनका चिह्न नहीं था। शृंगेरी के शंकराचार्य जी ने ५० साल पहले एक मन्दिर बनवाया। उससे पहले उनके कुलदेवता का ही मन्दिर बना हुआ था। आचार्य के नाम की कोई चीज़ नहीं बनी हुई थी। यह उनके जन्म-स्थल में था जहाँ उनकी कोई मूर्ति और नाम का पट्ट तक भी नहीं था कि यहाँ पैदा हुए थे, केवल परम्परा मात्र थी। केदार में जहाँ उनका शरीर शान्त हुआ, वहीं उनके समाधिस्थल पर शिवलिंग की स्थापना की गई। आज से बारह साल पहले वहाँ द्वारिका वालों ने भाष्यकार की मूर्ति स्थापित की। विजय नगर के संस्थापक विद्यारण्य स्वामी हो गये लेकिन उनके जन्मस्थान पर उनकी मूर्ति की स्थापना भी नहीं, इसका क्या कारण है? नाम-रूप के परित्याग की दृढ भावना ही कारण है। हम कहें कि नाम-रूप की इच्छा नहीं लेकिन चाहें कि प्रतिक्षण लोग हमारा नाम लें   ऐसा हमारे आचार्यों में नहीं था। हमारी इच्छा यह रही कि तुम हमको भूल जाओ, हमारा चेहरा तुम्हें याद न रहे लेकिन 'अहं ब्रह्मास्मि' का मूल मंत्र तुम्हारे हृदय-तंत्र में हर क्षण झनकता रहे। यदि सुनते हो कि 'मैं ब्रह्म हूँ' और हृदय में है कि 'गुरुजी का मुँह बड़ा सुन्दर है, आवाज़ बड़ी मीठी है', तो हमारा उपदेश देना व्यर्थ चला गया! उसका लाभ नहीं होना है। भगवान् भाष्यकार ने अपने जीवन में नाम-रूप-परित्याग को इस प्रकार दिखाया।

उनके जीवन को भगवान् पद्मपाद संक्षेप में लिखते हैं

**'यद्वक्त्रमानससरःप्रतिलब्धजन्म भाष्यारविन्दमकरंदरसं पिबन्ति।**
**प्रत्याशमुन्मुखविनीतविनेयभृंगास्तान्भाष्यवित्तकगुरून् प्रणमामि मूर्ध्ना'।।**

उनका भाष्य ही धन था, बाकी कुछ परिग्रह नहीं रखते थे। भाष्य अर्थात् ज्ञान धन ही उनका एक परिग्रह था। वित्त धन को कहते हैं। संसार के पदार्थ कोई धन है! वह भाष्य उन्होंने प्रयत्न करके नहीं लिखा। मुख रूपी कमल के अन्दर जो तालाब है! जैसे सरोवर में अपने आप

ही कमल पैदा हो जाते हैं, सरोवर प्लानिंग नहीं करता कि मुझे कमल बनाना है। उसी प्रकार से उनके वक्त्र-मानस रूपी सर में से भाष्यरूपी कमल प्रकट हो गये। इसके द्वारा बताया कि कोई प्रयास-साध्यता नहीं, स्वाभाविकता है। क्या उसको सब लोग पान कर सकते हैं? नहीं। जो श्रद्धा वाला है, वह उसको पान करने के लिये प्रवृत्ति करता है। प्रवृत्ति करने में प्रमाण है कि वह विनीत है, उसमें विनय है। जैसा कि बता रहे थे 'निमज्जन् मज्जीवः करणचरणैः षट्चरणताम्।' वे ही भृंग हैं। जैसे भौंरे के छह पैर होते हैं ऐसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन छह अंग हैं जिनके, ऐसे विनेय भृंग भाष्य को ही वित्त मानते थे।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि वे किस का साथ देते थे?

**मुमुक्षुसार्थवाहस्य भवनामभृतो यतेः। मस्करीन्द्रप्रणीतस्य'** तैत्तिरीय भाष्य की समाप्ति में लिखते हैं कि मुमुक्षु का कभी भी साथ छोड़ने वाले नहीं हैं। कहाँ तक साथ नहीं छोड़ते? इसे बताते हुए बृहदारण्यक वार्तिक के अंत में कहते हैं कि अमृत मंथन से अमृत निकाला गया तो मेरुपर्वत को मथनी, अनंत नाग को मथने वाली रस्सी बनाया गया। समुद्र में उस मथनी को रखकर मथा गया। इतनी चीज़ों का सहयोग हुआ तो सारे देव-दानवों ने उसका मंथन किया और उसमें से स्वर्ग में दीर्घकाल तक जिलाने वाला अमृत निकला। भगवान् भाष्यकार ने क्या किया?

**'यत्प्रज्ञोदधि युक्तिशब्दनखजश्रद्धैकसन्नेत्रक-**
**स्थैर्यस्तम्भमुमुक्षुदुःखितकृपायत्नोत्थबोधामृतम्।**
**पीत्वा जन्ममृतिप्रवाहविधुरं मोक्षं ययुर्मोक्षिणः**
**तं वन्देऽत्रिकुलप्रसूतममलं वेधोभिदं मद्गुरुम्।।'**

उनकी प्रज्ञा ही समुद्र बनी क्योंकि प्रज्ञा का कोई पार नहीं है। युक्ति मथनी बनी। मथनी के नीचे कुछ चीज़ अटकानी पड़ती है जिसके आधार पर मथनी रहती है। युक्ति मथनी का डण्डा और शब्द नीचे रखने की जगह है। समुद्र खुद ही शब्द बना। उनकी प्रज्ञा ने उसमें प्रवेश करके ब्रह्मानंद को समझा और प्रकट करने के लिये युक्ति को उन्होंने निकाला। फिर प्रकट किन शब्दों में किया जाये? क्योंकि बहुत से लोगों के पास प्रज्ञा होती है लेकिन युक्ति नहीं होती। कहते हैं 'हमारा यह अनुभव है, मानना हो मानो नहीं तो घर जाओ।' कुछ लोगों के अन्दर प्रज्ञा है लेकिन कहने का ढंग नहीं है। युक्ति दे देंगे लेकिन ऐसे शब्दों का प्रयोग करेंगे कि किसी की समझ में कुछ नहीं आयेगा! लेकिन आचार्य के शब्द बड़े स्पष्ट हैं, इसलिये कूर्म और मथनी दोनों वही बने। मथने के लिये रस्सी भी चाहिये। श्रद्धा रूपी रस्सी भी वही बने हुए हैं। जब अच्छी तरह से किसी को रगड़ा जाये तो उसमें पूरे खम्भे का सहारा लिया जाता है, तभी रगड़ अच्छी तरह से लगती है। स्थिरता रूपी स्तंभ भी वही है। इतना सब किसलिये? बोध-रूपी अमृत निकालने के लिये, दुःखी मुमुक्षुओं को देखकर उनकी कृपा के लिये सब बन गये और उसी कृपा

से बोधामृत निकला। दिव्य अमृत पीकर तो लोग थोड़े समय स्वर्ग में रहते हैं लेकिन इस बोधामृत से जन्म और मरण का प्रवाह ही खत्म कर दिया। इस प्रकार सारे ही मोक्षमार्गी मोक्ष को प्राप्त कर लें, ऐसा प्रयत्न करने वाले, अत्रिकुल में उत्पन्न अत्यंत निर्मल मेरे गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ। ये सब काम उन्होंने केवल ३२ वर्षों में किये।

उनकी जीवनी को संक्षेप में बताते हुए कहा है

**'अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।**
**षोडषे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्'** ।।

आठ वर्ष में उन्होंने चारों वेदों का अध्ययन समाप्त कर लिया और संन्यास ले लिया। १२ वर्ष की उम्र में गुरु गोविन्दपाद से सारे शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। १६ वर्ष की उम्र तक सारे ग्रंथों की रचना कर ली। फिर १६ वर्ष धर्म की स्थापना करके परम धाम को चले गये। अब अपना-अपना दिल टटोलना कि १२ से ऊपर हैं या नीचे! यह उनकी प्रत्यक्ष जाज्वल्यमान ज्ञानशक्ति है। दक्षिण भारत में पूर्णा नदी के किनारे प्रायः १३०० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे। यद्यपि जन्म-संवत् के बारे में मतभेद है तथापि बहुत से प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि लगभग इतने वर्ष हुए हैं। उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक, धर्मशास्त्र और मीमांसा पर भी ग्रंथ लिखे हैं और काव्य में भी उनकी अद्भुत रचना है। भवभूति के नाम से काव्यरचना की और खासकर करुण रस के लिये भवभूति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसलिये याज्ञवल्क्य स्मृति के ऊपर टीका और आगे की विभावना टीका में कहा है 'भवभूतिसुरेशाख्यं विश्वरूपं नमस्कृतं' भवभूति संन्यास लेकर सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, उन विश्वरूपाचार्य को नमस्कार करते हैं। काव्य में भी भवभूति को कालिदास से श्रेष्ठ माना जाता है। भवभूति के काल पर विद्वानों ने विचार किया है। छठी शताब्दी के अंत और सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में चारों तरफ बौद्धों का राज्य था। ऐसे समय उत्पन्न होने के बाद इन्होंने अध्ययन किया। मन में वैराग्य पहले से ही था। पिता का शरीर शांत हो गया था। ब्रह्मचर्य अवस्था में ही इनके जीवन में अलौकिकता देखने में आती थी। पढ़ते हुए एक जगह भिक्षा करने गये तो ब्राह्मणी की आँख में पानी आ गया। हमारे यहाँ विद्यार्थी के लिये भिक्षा की पद्धति है। उसने कहा कि 'आपके जैसा सुन्दर और उत्तम बालक आया है लेकिन मेरे घर कुछ नहीं है।' इन्होंने कहा कि 'कुछ तो होगा? जो कुछ भी हो जाकर ले आ। अंदर जाकर देख तो सही, मटकी में कुछ पड़ा हो।' जैसे किसी काल में भगवान् कृष्ण ने द्रौपदी से कहा था कि 'अन्दर जाकर देख, जो मिले, वही ले आ' और वहीं उन्होंने दुर्वासा का पेट दबा दिया था। बहुत कहने पर ब्राह्मणी ने अन्दर जाकर देखा तो एक मटकी में सूखे आँवले का एक टुकड़ा पड़ा था, वही उसने लाकर दे दिया। वह खाकर कहा 'बड़ा मीठा है' और फिर वहीं लक्ष्मी की स्तुति की कि 'मेरे जैसे आत्मज्ञानी को इसने यह

दिया है। इसका क्या फल होता है, यह तू जान ले।' कनकधारा स्तुति में उन्होंने लक्ष्मी जी से कहा कि तू कहेगी कि इसके भाग्य में कुछ नहीं लिखा है। मैं भी मानता हूँ, लेकिन इसने मुझे एक आँवला खिला दिया है, शास्त्र कहता है कि तेज पुण्य और पाप यहीं फल देते हैं। इसने मुझे दिया है, इसलिये अब तू हिसाब लगाकर देख ले। लक्ष्मी हाथ जोड़कर कहने लगीं कि 'आप ही बताइये क्या दूँ' तब उन्होंने कहा कि 'इसके घर की सारी मटकियों को सोने के आँवलों से भर दो।' बुढ़िया अन्दर जाकर देखती है कि सारी मटकियाँ सोने के आँवलों से भरी हुई हैं। हो सकता है कि हम लोगों के पास इतनी सामर्थ्य और शक्ति न हो लेकिन इसके पीछे भावना देखो। जितनी हमारी सामर्थ्य है, उससे दुःखी और दीन के दुःख और दीनपन को दूर करना है। किसी को एक बार भोजन, किसी को कपड़ा और किसी को चार आने पैसे ही दे सको तो दे दो। लेकिन यदि हम प्रतिक्षण दीन-दुःखी की मदद नहीं करते हैं तो उनके अनुयायी नहीं हो सकते। यही इसके पीछे हृदय है।

उसके बाद पढ़ाने लगे। उनके मन में आया कि किसी तरह संन्यास ले लें। लेकिन बिना माता या पत्नी की आज्ञा के संन्यास नहीं लिया जाता। आजकल की तरह नहीं कि घर में ज़रा खटपट हुई तो चलो बाबा जी के मठ। माता से कैसे आज्ञा लें? एक ही पुत्र हैं। लेकिन भगवान् को जिससे कार्य लेना होता है तो कोई-न-कोई ढंग बन जाता है। एक बार पूर्णा नदी में बड़े ज़ोर का सूखा पड़ा। माँ का रोज़ जाकर स्नान करने का नियम था। एक दिन माँ समय पर घर नहीं आई तो पीछे देखने गये। देखा कि तेज़ धूप के कारण माँ रास्ते में मूर्च्छित पड़ी है। पानी पिलाया और पूर्णा से प्रार्थना की 'हे पूर्णा! माँ को आने-जाने में कष्ट होता है, मैं ब्राह्मण हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, जाने-आने के लिये पालकी की व्यवस्था नहीं कर सकता लेकिन माँग सकता हूँ।' यह चेतन दृष्टि है। हम लोग जड उपाय सोचते हैं। उन्होंने इस प्रकार पूर्णा की स्तुति की। प्रातःकाल उनके मकान के पास से ही पूर्णा बहने लगी! उसमें बाढ़ आई तो घर के पास पानी ज़्यादा भर गया। एक दिन उसमें स्नान कर रहे थे। एक घड़ियाल ने आकर पकड़ लिया। बड़े ज़ोर से चिल्ला कर माँ से कहा कि 'मेरे को घड़ियाल ने पकड़ लिया है। मेरी बड़ी इच्छा रही है कि संन्यास ले लूँ। अब समय जा रहा है, आतुर संन्यास की आज्ञा दे दो तो हो सकता है कि इस पुण्यबल से बच जाऊँ।' अब माँ भी कैसे मना करती! उसी समय स्वीकृति दे दी। उसी समय प्रेषोच्चारण कर दिया जिससे शंकर मरे नहीं। भगवान् नारायण के रहते मगर की शक्ति नहीं कि खाता। बाहर आये, माँ ने आलिंगन किया कि मेरा बेटा बच गया। माँ ने कहा 'घर चलकर कुछ खा-पी ले। वह तो मैंने ऐसे ही कह दिया था।' उन्होंने कहा 'अब क्या घर जाना है! तुमने आज्ञा तो दे ही दी है, अब झूठ बोलोगी?' माँ ने कहा 'मेरा एक ही बेटा है, मैं मरूँगी तो मुझे आग कौन देगा?' उन्होंने कहा 'माँ! घबराओ नहीं, मैं आकर जलाऊँगा।' माँ ने कहा 'संन्यासी कभी आग नहीं छूता, किसी को जलाता नहीं।' तब उन्होंने कहा कि 'मैं परमहंस हूँ। कर्म मार्ग के

बंधन का नहीं, मैं संन्यासी हूँ। यह तो सब आश्रम संन्यास को ग्रहण करने वाले के लिये है। मेरे लिये तो एकमात्र ब्रह्मनिष्ठा है।' ब्रह्मसूत्र में परमहंसों के लिये लिखा है कि उनके लिये शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान श्रद्धा से युक्त होकर ब्रह्मनिष्ठा में रहना ही उनका स्वधर्म है। बाकी बाह्याचार कि यह करो, वह न करो, आग मत छुओ आदि तो सब बच्चों का खेल है। यह परमहंस के लिये नहीं। 'आश्रम संन्यासी नहीं बन रहा हूँ अर्थात् ७५ साल की उम्र का होकर संन्यासी नहीं हो रहा हूँ।' इसके द्वारा दिखाया कि कर्म- शृंखला मनुष्य की प्रगति कराने के लिये है। दूसरे किसी की आत्मा मारी जाये, इसके लिये कर्म मार्ग नहीं माना जाता। बच्चे को व्याकरण पढ़ाया जाता है विद्वान् होकर झटपट और ठीक बोलने के लिये, दूसरे का अवरोध करने के लिये या बोझ बढ़ाने के लिये नहीं पढ़ाया जाता। जब माता की मृत्यु का समय आया तो भगवान् भाष्यकार वहाँ पहुँचे और उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। माँ का शरीर छूट गया। गाँव वालों से कहा कि 'मैं इसकी अंत्येष्टि करूँगा।' जैसे यह वैसे ही वह ज़माना था। गाँव वालों ने कहा 'संन्यासी भ्रष्ट हो गया है, संन्यासी का यह अधिकार नहीं कि वह अंत्येष्टि कर्म करे।' उन्होंने गाँव वालों से कहा 'मैं यहाँ शास्त्रार्थ करने नहीं आया हूँ, अभी यह शरीर पड़ा है इसे जलाना है।' गाँव वालों ने कह दिया कि ऐसे अधर्म के काम में हम सहयोग नहीं देते। एक तरफ माता के साथ तय हुआ था कि ऐसा करना है और दूसरी तरफ वहाँ से शव लेकर चलने को कोई तैयार नहीं! अकेले ले नहीं जा सकते थे। तब उन्होंने वहीं उस शरीर के टुकड़े करके घर में ही माँ को जला दिया! यह नहीं कि 'इसे क्या पता लगता है, गाँव वालों की बात ही मान लें,' और दूसरी तरफ, शरीर के प्रति मोह भी नहीं कि मिट्टी बिगड़ जायेगी। उठा कर नहीं ले जा सकते थे, इसलिये वहीं टुकड़े करके जला दिया।

संन्यास लेने के बाद उन्हें पता चला कि इस समय पतंजलि गोविन्दपाद नाम से विंध्याचल में बैठे हुए हैं। वहाँ पहुँचे। चारों तरफ से शिष्य वहाँ तक पहुँचने में रुकावट डालते थे ताकि बौद्ध आकर मार न डालें। ये पहुँचे तो पूछा कि तुम कौन हो? अपना परिचय देते हुए कहा 'मैं शरीर इत्यादि नहीं, मैं साक्षात् शिव स्वरूप हूँ।' भगवान् गोविन्दपाद बड़े प्रसन्न हुए और चार वर्ष तक उन्हें वहीं अध्ययन कराया। अध्ययन काल में इन्होंने वहाँ कई अलौकिक कार्य किये। एक बार ऐसी बाढ़ आई कि सारी गुफा डूब जाने वाली थी। तब इन्होंने एक घड़े में सारे जल का निरोध कर लिया। तब गुरु जी ने कहा कि 'मेरे को ध्यान में भगवान् वेदव्यास ने कहा था कि एक शिष्य आयेगा, उसे साक्षात् शंकर समझना। वह घड़े में नर्मदा भरेगा। उनसे सूत्र-भाष्य लिखने के लिये कहना।' वहीं गुरु ने उनसे कहा कि काशी जाकर प्रचार करो और गोविन्दपाद ने अपना शरीर छोड़ दिया। आचार्य का संन्यास नाम भगवत्पाद हुआ। जैसे कि गोविन्दपाद, गौडपाद, नामों में पादांत नाम है, ऐसे ही इनका नाम भी भगवत्पाद शंकर हुआ।

वहाँ से चलकर काशी पहुँचे। काशी में शास्त्रार्थ हुए, ग्रंथ-लेखन का कार्य हुआ। फिर

प्रचार के कार्य में लगे। भगवान् वेद-व्यास ने कहा कि केवल किताब लिखने से काम नहीं होगा! तब बौद्धों का जगह-जगह जाकर खण्डन किया। बैलगाड़ी के युग में भारत की चार बार परिक्रमा की। तब रेल-मोटर आदि कुछ नहीं थी। गाँवों में जाना, विद्वानों को बुलाना, उनसे शास्त्रार्थ करना और शास्त्रार्थ में उन्हें परास्त करके पुनः सनातन धर्म में दीक्षित करना उनका उद्देश्य था। ग्रंथों के अनुसार वे बाकू (वल्ख) तक गये थे। इसी प्रकार तिब्बत से भी आगे गये थे। लहासा के रास्ते में एक जगह बड़ा भारी लोहे का कड़ाहा दबा पड़ा है। वहाँ के लोगों का कहना है कि यह शंकर का गाड़ा हुआ है क्योंकि उनके शिष्य बहुत थे। उनके जीवन काल में ही उनके शिष्य बृहदारण्यक वार्तिक के अंत में लिखते हैं 'आशैलादुदयात् तथास्तगिरितो भास्वद् यशोरश्मिभिः व्याप्तं विश्वमनन्धकारमभवत्' जिनके शिष्य इतने फैल गये हैं कि उदयाचल से अस्ताचल तक सर्वत्र उनके शिष्यों के यश की किरणें फैल रही हैं। वे शिष्य भी साधारण नहीं थे। जो लोग संसार में बौद्ध धर्म के अंधकार में पड़े हुए थे, शिष्यों द्वारा किये प्रचार-प्रभाव से अब उन लोगों को बौद्ध धर्म याद भी नहीं रहा। वे सारे कैसे थे? उनमें गुरु के प्रति शरणागति थी, श्रुति अर्थात् वेद का ज्ञान उनके सामने हमेशा रहता था। मन हमेशा नियंत्रण में रहता था और उनमें विनय थी। ये तीनों चीज़ें उनके शिष्यों में पूरी तरह से थीं। ऐसे शिष्यों का संघ था। उनके पास जाकर भविष्य में मुक्ति नहीं होती थी, बल्कि उसी समय मुक्ति के आनंद को देते थे। ऐसा नहीं था कि अब करो, फिर मुक्ति होगी, बल्कि सद्यः मुक्ति देते थे। वे सारे शिष्य समग्र जगत् के अंधकार को दूर करते हुए उदयाचल से अस्ताचल तक फैल गये थे। वहाँ के लोग कहते हैं कि उनके साथ इतने शिष्य रहा करते थे कि इतना बड़ा कड़ाहा हमेशा उनके साथ चलता था।

इस प्रकार जब बहुत आगे पहुँच गये तो भगवान् पद्मपाद कहने लगे कि 'संसार का अंत नहीं है। भारत की सीमा के बारह चीन की सीमा में पहुँच गये हैं। अब आगे चेले काम करते रहेंगे।' इसलिये वहाँ से वापिस लौटे। सनातन धर्म की वैजयंती इतनी फैली कि आज भी बौद्ध शिव, गणेश आदि देवताओं की पूजा करते हैं। बाद में चीनी राज्य के आने से वे अपने को बौद्ध कहने लगे। इस प्रकार सर्वत्र सनातन धर्म का प्रचार करते हुए जब देख लिया कि सनातन धर्म स्थिर हो गया है तो ३२ वर्ष की उम्र में केदार में कुछ समय तक दो-चार शिष्यों को रखकर तत्त्वज्ञान की कुछ विशिष्ट प्रक्रियाओं का उपदेश देते हुए मृत्यु का आलिंगन किया।

विचार करो, इस प्रकार उन्होंने अपने संक्षिप्त जीवन में पुनः सनातन धर्म की स्थापना की। यदि चाहते तो अपने को सनातन धर्म का संस्थापक कह सकते थे। जैसे बुद्ध ने कहा कि मैंने नया धर्म चलाया। भाष्यकार से पहले कोई राम, कृष्ण की पूजा करने वाला नहीं था। इसलिये वे सरलता से कह सकते थे कि 'मैं इस धर्म का नेता हूँ', क्योंकि ज्ञानशक्ति के अवतार तो थे ही। लेकिन सनातन धर्म का सिद्धान्त गड़बड़ा जाता। इसलिये बार-बार कहा कि

प्राचीनकाल के वेदांत सिद्धान्त के सिवाय मैं और कुछ नहीं कह रहा हूँ। मुझे नया धर्म नहीं कहना है। मैं वैदिक सिद्धान्त को कह रहा हूँ। इसलिये मुझे भूल जाना, लेकिन मेरे सिद्धान्त को याद रखना। उसी मर्यादा को मानते हुए आज तक इस परम्परा में विघटन नहीं हुआ। और भी अनेक महापुरुष हुए लेकिन किसी ने अपना नाम आगे नहीं रखा, परम्परा और सिद्धान्त को ही आगे रखा। आज भी भारतवर्ष में अधिकतर लोग भगवान् शंकर के सिद्धान्त को मानने वाले हैं, पंचदेवोपासक जितने हैं, वे सारे शंकर-सिद्धान्त को मानने वाले हैं। सबसे अधिक संख्या होने पर भी आज शंकर जयन्ती की छुट्टी नहीं होती, हो सकती थी। थोड़े से लोग नानक को मानते हैं, महावीर को थोड़े से लोग मानते हैं, उनकी छुट्टी होती है क्योंकि उन्होंने छोटे-छोटे व्यक्तिगत सम्प्रदाय चला रखे हैं। यह हम हिन्दुओं का दुर्भाग्य है। जिन राम, कृष्ण ने सब कुछ किया उनके लिये हम कुछ नहीं कर रहे हैं। समग्र सनातन धर्मी यह जानते हैं कि वे बौद्धों का नाश करने वाले थे। उनके सिद्धान्त को मानें, न मानें लेकिन इतना मानते हैं कि यदि सनातन धर्म में राम, कृष्ण की पूजा आज है तो भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद के कारण है। यदि उन्होंने खण्डन न किया होता तो यह सब कुछ न होता। लेकिन हमें इसमें दुःख का अनुभव नहीं होता है। इसलिये कि नाम-रूप के परित्यागी होने से वे बड़े प्रसन्न होते होंगे कि लोग मेरे सिद्धान्त को मानते हैं। उन्हें दुःख तब होता होगा जब हम उसे अपने जीवन में नहीं उतारते। उनके नाम से कुछ करो, यह भावना नहीं, लेकिन उन्हें जीवन में ला सकें, यह बड़ी भारी ज़िम्मेवारी है। आज जिनका जन्मदिन है, उनके नाम-रूप का परित्याग है। लेकिन हमें उनके अद्वैत सिद्धान्त को लेकर चलना है।

अनुबंध-२

## भक्ति

(१०.४.७१)

भक्ति पर कई प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। विश्व के अंदर किसी भी चीज़ को प्राप्त करने के दो तरीके होते हैं  क्रम से प्राप्ति और अक्रम से प्राप्ति। लौकिक दृष्टांत से समझ लो कि धनी बनने के दो तरीके हैं। धीरे-धीरे दुकान में काम करते हुए पैसा बढ़ाते चले जाओ, लखपति बन जाओ; अथवा किसी बड़े लखपति या करोड़पति के कृपापात्र बन जाओ और वह तुम्हें अपनी सम्पत्ति लिख देवे। इनमें एक क्रम है और दूसरा अक्रम है। एक में स्व-प्रयास है और दूसरे में अहैतुक कृपा है। साधन दो ही हैं। जिस प्रकार लौकिक पदार्थों में ये दो साधन हैं, उसी प्रकार परमात्मा की तरफ जाने वाले साधक भी दो प्रकार के हैं। एक स्व-प्रयास के ऊपर निर्भर करने वाला और दूसरा परमात्मा पर निर्भर करने वाला। पहले को कर्मी कहा जाता है, दूसरे को भक्त कहा जाता है।

सामान्यतः यदि सोचा जाये तो भक्ति भी एक कर्म ही है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य में लिखते हैं 'उपासना नाम मानसी क्रिया।' भक्ति मन से होने वाली क्रिया ही तो है। इसीलिये वस्तुतः कर्म से अथवा भक्ति से मनुष्य उस परमात्म-ज्ञान की योग्यता को प्राप्त करता है। नित्य-निरंतर हम लोगों के कर्म ऐसे होते हैं जिनको शुद्ध कर्म नहीं कह सकते। बार-बार प्रयास और प्रयत्न करने पर भी भूल हो जाती है। जब इस प्रकार की भूलों को मनुष्य अपने हृदय में अनुभव करता है तो हताश हो जाता है कि इतना प्रयत्न किया, लेकिन काम बना नहीं। उस समय क्या करे? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं

**'अयः स्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवीं**
**यथा रथ्यापाथः शुचि भवति गंगौघमिलितम्।**
**तथा तत्तत् पापैरतिमलिनमन्तर्मम यदि**
**त्वयि प्रेम्णा सक्तं कथमिव न जायेत विमलम्।।'**

स्वतः अपने प्रयास से लोहा सोना नहीं बन पाता। सोने का कुछ भी करो, सोना बना रहेगा और लोहा-लोहा ही बना रहेगा। इसी प्रकार अपने अंतःकरण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हमारे अंतःकरण में इतना तमोगुण है कि बार-बार प्रयत्न करते हैं, लेकिन फिर भी लोहे की तरह काले का काला ही है। अन्यत्र कहते हैं  'नटत्याशाशाखास्वटति' अशा रूपी शाखाओं में अत्यंत चपल हृदय, मन रूपी बन्दर कुलाँचों में इधर-उधर नाचता रहा है, कब कहाँ निकल जाता

है, पता नहीं चलता। इसलिये चपल है। जब इस बात का अनुभव करता है कि अंतःकरण लोहे की तरह कड़ा है तो बार-बार परमेश्वर के विषय में विचार, मनन करते-करते यह पसीजता है। यदि बार-बार प्रयत्न करने पर भी लोहे की तरह कड़ा ही बना रहता है तो लगता है कि कोई उपाय नहीं होगा, लेकिन उपाय है 'अयः स्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवीं' यदि पारस बटी से छुआ दो तो लोहा तुरंत मुलायम भी हो जाता है और सोने के रंग का भी हो जाता है। ये दोनों बातें साथ-साथ हो जाती हैं। जब तक उस स्पर्शमणि से नहीं छुआया गया था, तब तक काला भी था और नरम भी नहीं था। अब छू जाने पर काला नहीं रहा। इसमें कुछ देरी नहीं लगी। स्पर्शमणि को दो-चार या दस दिन तक रखने से ऐसा नहीं होता, वरन् 'सपदि' तुरंत ही, एक पैर रखते-न-रखते लोहा तुरंत सोना हो गया, जैसे कहते हैं कि आँख झपकते ही काम हो गया। यहाँ लोहे ने कुछ नहीं किया। लोहा तो चुपचाप शांत पड़ा है। कार्य करने वाली स्पर्शमणि है और परिवर्तन लोहे में हो गया। आचार्य शंकर भगवत्पाद 'प्रबोध-सुधाकर' में लिखते हैं कि यह कोई ज़रूरी नहीं कि पारस को लोहे से छुआया जाये। यदि उल्टा हो जाये तो भी सोना हो जाता है! जैसे लकड़ी को काट रहे हो और कुल्हाड़ी पारस पर लगी तो सोना हो गया।

पहले दृष्टांत में कुछ अरुचि हो तो दूसरा दृष्टांत दे देते हैं। सोना चीज़ तो बड़ी अच्छी है, लेकिन कोई पवित्र चीज़ नहीं है। इसलिये दूसरा दृष्टांत दिया 'यथा रथ्यापाथः शुचि भवति गंगौघमिलितं' सड़क का नाला या सब्जी मण्डी का नाला बह रहा है, आगे जाकर गंगा के प्रवाह में मिलता है। भगवान् भाष्यकार ने दिव्य दृष्टि से देखा था कि आगे चलकर गंगा के प्रवाह में भी कुछ न्यूनता आ जायेगी। जहाँ गंगा की नहर निकलती है, वहाँ बहुत थोड़ा जल होता है। इसलिये कहा 'गंगौघमिलितं', गंगा का बड़े ज़ोर का प्रवाह चल रहा है, उस पूर्ण प्रवाहित गंगा में यदि गंदा नाला पड़ा तो पवित्र हो जायेगा। गंदी जगह से आने वाला नाला, पवित्र गंगा में प्रविष्ट हो गया तो स्वयं भी पवित्र हो गया और गंगा की तरह ही हमें शुद्ध करने वाला हो गया। यहाँ भी नाले ने कुछ नहीं किया। वह तो बड़ी दूर से बहता चला आ रहा था, बहने से शुद्ध नहीं हुआ। वह बहने से शुद्ध नहीं होता, बल्कि उस प्रवाह के अन्दर पड़ जाने से शुद्ध होता है।

'तथा तत्तत् पापैः अतिमलिनमंतर्मम यदि' इसी प्रकार मेरा अंतःकरण मलिन है, बार-बार इसे शास्त्रों की बात सुनाता हूँ, समझाता हूँ, विचार करवाता हूँ, दण्ड भी देता हूँ, लेकिन यह है कि मानता ही नहीं है। अतिमलिन है, अति असम्भव भोगों की कल्पना करता है, अत्यंत अशास्त्रीय विचारों को मन में लाता है। बहुत से लोग साल में एक बार यमुनातट पर जाकर हेमाद्रि संकल्प का पाठ करते होंगे। अच्छा है कि बहुत से लोग संस्कृत जानते नहीं, वरना समझ जाते। उसमें जिन-जिन पापों का वर्णन किया है, जिसकी शुद्धि के लिये उस दिन पंचगव्य लिया जाता है, यदि संस्कृत सीख ली होती तो आप लोगों को उन नये पापों का पता चल जाता, जिन पापों को नहीं किया, वे भी होते और शुद्ध हो जाते। इसलिये कहा कि मेरा अंतःकरण अत्यंत

मलिन है। ऐसा मलिन है कि उन-उन पापों के द्वारा मलिन होना पड़ता है। प्रयत्न कैसे करें, क्योंकि प्रयत्न होने से भी नहीं होता। साधन अंतःकरणमूलक है, अंतःकरण ही अविद्या से भरा है तो तुम प्रयत्न कहाँ से करोगे?

कहते हैं कि बस एक ही साधन है 'त्वयि प्रेम्णा सक्तं कथमिव न जायेत विमलम्' यदि तुम्हारे प्रेम से वह आसक्त हो गया, आप में आसक्त हो गया तो निर्मल हो जायेगा। कहोगे कि प्रेम कैसे पैदा होगा? प्रेम बड़ी विचित्र चीज़ है। प्रेम की उत्पत्ति में कोई कारण नहीं हुआ करता। जहाँ कारण-कार्य का सम्बन्ध है, वहाँ प्रेम नहीं और जहाँ कारण और कार्य का कोई सम्बन्ध नहीं है, वहीं प्रेम कहा जाता है। प्रेम क्या है? संक्षेप में समझ लो कि अमुक्त कामनाओं की पूर्णता का रूप ही प्रेम है। प्रत्येक मानव के हृदय में कुछ आदर्शों का रूप होता है जिन्हें वह आदर्श समझता है शरीर ऐसा होना चाहिये, बुद्धि और व्यवहार भी ऐसा होना चाहिये, घर ऐसा होना चाहिये इत्यादि। सब चीज़ों के विषय में अंतःकरण के अन्दर एक आदर्श का बिम्ब होता है। प्रत्येक व्यक्ति उस आदर्श बिम्ब को अपने अन्दर उतारने के लिये प्रवृत होता है। वह आदर्श बिम्ब ही हमारा इष्ट है। जो हम बनना चाहते हैं, जिसे हम आदर्श मानते हैं, वही हमारा इष्ट है। यदि हम उनको अपने जीवन में लाते चले जाते हैं तो पूर्णता का अनुभव करते हैं। यदि हमारा अंतःकरण अच्छा है, पुण्य-कर्मों का बाहुल्य है तो हमारे कामना और संकल्प पूर्ण होते चले जाते हैं। यही एक साक्षात् चिह्न है कि अंतःकरण शुद्ध हुआ या नहीं। लोग प्रायः यह प्रश्न करते हैं जिसका यह एक व्यावहारिक उत्तर है कि जब तुम्हारी सत्कामनायें और संकल्प पूर्ण होते जायें तो समझो कि अंतःकरण शुद्ध है और जितनी-जितनी कामनाओं और संकल्पों की पूर्ति न हो तो समझना चाहिये कि पाप का उदय है, अभी अंतःकरण मलिन है। अब अंतःकरण पूर्ण शुद्ध हो जायेगा तो श्रुति कहती है 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' उसकी सारी कामनायें और संकल्प सत्य सिद्ध हो जाते हैं। जब अपने जीवन में आदर्श-बिम्ब पूर्ण नहीं हो पाता है, तब हम उसका किसी दूसरे जीवन में संकल्प करते हैं। जिसमें यह कल्पना करते हैं, वही हमारा इष्ट (इच्छा का विषय) है। हम वह बनना चाहते हैं। अब जितना-जितना अपने इष्ट को हम अपने अंतःकरण में बिठायें उतना-उतना स्वतः अपने अंतःकरण में उन गुणों का प्रादुर्भाव होने लगेगा।

परमात्मा में हमारी आसक्ति क्यों सम्भव है? उसका बीज यह है कि समग्र गुणों का आगार परमात्मा है। कोई चीज़ ऐसी नहीं जो हममें पूर्ण हो और परमेश्वर में कोई चीज़ ऐसी नहीं जो अपूर्ण हो। उसमें सब कुछ पूर्ण है। लेकिन जो हमारा आदर्श-बिम्ब है, जो पूर्णता हम चाहते हैं, उस पूर्णता के अंग में हमें स्वाभाविक प्रेम हो जाता है। इसलिये महात्मा लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं तो उन्हें 'चिताभस्मालेपः गरलमशनं दिक्पटधरः' यह ध्यान प्रिय लगता है। गृहस्थी घबराने लगते हैं कि यह ठीक नहीं। उसे अच्छा लगता है 'कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं' उसमें बढ़िया मणियाँ याद आ रही हैं, मन बड़ा प्रसन्न हो जाता है। परमात्मा

दोनों हैं, दोनों में पूर्णता है, उनकी पूर्णता में कमी नहीं है, लेकिन जिसका जो आदर्श-बिम्ब है, वही उसको प्रिय लगता है। उसके साथ हमारा प्रेम होता है। स्वभाव से ही उस आदर्श-बिम्ब से हमारा प्रेम है, लेकिन हम पहचानते नहीं हैं। जैसे ज्ञान नया नहीं होना है, ज्ञान तो है ही, लेकिन उसे पहचानते नहीं हैं। उसी प्रकार से प्रेम होना नहीं है, प्रेम तो है ही, लेकिन हमने अपने प्रेम-पात्र को पहचाना नहीं है। मैं घड़े को जानता हूँ इस घट-ज्ञान में भी ज्ञान ब्रह्म ही है, चाहे घट-विशिष्ट हो। इन विशेषणों के कारण कहते हैं कि वह अभी मिला नहीं। गहने देखते हो तो सोना कोई अलग नहीं, सोना वहाँ है ही, लेकिन उसको स्वर्णत्वेन जानते नहीं हो। जब संसार के पदार्थों में हमारी आसक्ति जाती है, उनसे प्रेम करते हैं तो भी प्रिय हमारा इष्ट ही है लेकिन चूंकि पदार्थों के नाम, रूप, कर्म से आक्रांत हैं, आविष्ट हैं, इसलिये पहचानते नहीं हैं। उसे कहाँ पहचानना है? जो हमारा समग्र आदर्श-बिम्ब है, उसे वहाँ पहचान लेना है।

संसार में कोई व्यक्ति बिना प्रेम का नहीं है, लेकिन उसे अपने प्रेम का पात्र नहीं मिला है। जिसे वह अपना दिल दे, वह नहीं मिला है। चारों तरफ भटकता है, उसको ढूंढता है। बचपन में खिलौनों से प्रेम करता था। थोड़ा बड़ा हुआ तो दोस्तों से प्रेम करता है। खिलौने टूट जाते हैं, दोस्त भी धोखा दे जाते हैं, छोड़ जाते हैं। और बड़ा हुआ तो ब्याह कर लिया, पत्नी से प्रेम करता है कि सम्भवतः यही हमारे प्रेम को ग्रहण करे, लेकिन वह भी कहती है कि 'बच्चे हो गये, मुझे फुर्सत नहीं।' अब बच्चों से प्रेम करने लगता है। बच्चे बड़े होते हैं, उनका ब्याह होता है तो वे भी कहते हैं कि हमें भी फुर्सत नहीं है। बेचारा प्रेम किये जा रहा है, लेकिन प्रेम मिलना कहाँ है क्योंकि प्रेम का कोई पात्र नहीं है, दिल का कोई ग्राहक नहीं है। संसार में सब कुछ देने को तैयार हैं, दिल देने को तैयार नहीं, लेकिन तुम दिये जा रहे हो। एक ऐसा बैठा है जो केवल दिल ही चाहता है, एक ही ग्राहक है, और वह परमेश्वर है, क्योंकि बाकी जो कुछ तुम्हारे पास है, उसका मालिक तो वह पहले ही है। उसने केवल दिल देने में तुमको स्वतंत्रता दे रखी है और कहता है कि स्वतंत्र होकर दिल को इधर मोड़ो और मज़ा देख लो। इसलिये प्रेम सीखना नहीं है, नया भी नहीं करना है, बल्कि प्रेम का पात्र परमेश्वर है, केवल इस बात को समझ लेना है। उसके सिवाय और कोई दिल लेने वाला नहीं है। जैसे ही प्रेम परमात्मा को दिया कि सारी भूख-प्यास मिट गई। वह संन्यासी बन जायेगा।

यह तभी होगा जब अंतःकरण विमल हो जायेगा। उसी विमलता का वर्णन करते हुए कहा

**'न मोक्षस्याकांक्षा भवविभव-वांछाऽपि च न मे**
**न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।**
**अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै**
**मृडानी रुद्राणी शिव-शिव भवानीति जपतः।।'**

यह प्रेम की पूर्णता है, अंतःकरण की विमलता है। आचार्य सर्वज्ञ शंकर कह रहे हैं कि मुझे मोक्ष की इच्छा नहीं है। मोक्ष की इच्छा उसे हो जिसको पहले बंधन का अनुभव हो। बन्धन का कारण है कि प्रेम के कारण मन मसोसा जा रहा है। एक वैज्ञानिक देगची में भात पका रहा था, उसपर तसला रखा था। उसने देखा कि तसला बार-बार ऊपर-नीचे हो रहा है। उसने विचार किया कि इतनी आवाज़ क्यों होती है। सोचा कि अन्दर की भाप धक्का मारती है तो तसला ऊपर आता है। तब उसने समझा कि भाप से धक्का मरवाया जाये तो एक यंत्र बन जायेगा। इस प्रकार वह एक यंत्र बनाना सीख गया। रेलवे का स्टीम-इंजन, बौइलर आदि का सिद्धान्त यही है। अन्दर ही अन्दर भाप भरी है तो धक्का मारकर हलचल मचाती है। उसी प्रकार हमारे अंतःकरण में प्रेम भरा है, बीच-बीच में वह धक्का मारता है, थोड़ा-सा निकल जाता है लेकिन परिच्छिन्न ही निकला। फिर बंद किया। प्रेम की ऊमस अंदर-ही-अंदर धक्का मारती है और संसार के पदार्थों में आसक्ति कराती रहती है। उस हल्ले से बचने के लिये मोक्ष चाहता है। यदि वह भाप अन्दर-ही-अन्दर मसोसे नहीं तो नित्य आनंद का अनुभव कर ले। अब वह किस से छूटे? 'यत्र-यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' जहाँ-जहाँ देखता है, वहाँ कभी नाम-रूप-कर्म उपाधि से युक्त प्रियतम को देखता है तो कभी इससे रहित प्रियतम को देखता है। पत्नी ने घूंघट निकाला या नहीं निकाला, कोई फ़र्क नहीं पड़ता। कभी नाम, रूप, कर्म का घूंघट निकाल लिया तो भी वही साथ चल रहा है, कभी घूंघट नहीं है तो भी साथ ही है। यह ठीक है कि बिना व्यवधान के जो अनुभव होता है, वह पर्दे बाले अनुभव से कहीं ज़्यादा आनंद देने वाला होगा, क्योंकि बीच में कोई रुकावट नहीं है। इसलिये नाम, रूप, कर्म उपाधि से रहित जो आनंद है, वह नाम, रूप, कर्म उपाधि सहित में नहीं है। फ़र्क ज़रूर है लेकिन नाम, रूप, कर्म, की उपाधि का घूंघट होने पर भी आनंद तो रहता ही है। दुःख नाम की चीज़ वहाँ पर नहीं है। इसीलिये अन्यत्र शास्त्रकार कहते हैं कि जहाँ बंधन की कल्पना ही नहीं, वहाँ मोक्ष की क्या बात करें?

'न मोक्षस्याकांक्षा भवविभववांच्छापि च न मे'। संसार के वैभव को मैं क्या लूँगा! संसार के वैभव को क्यों नहीं लोगे? तो सम्बोधन कर दिया 'हे भव।' भू धातु सत्तार्थक है। संसार में सत्ता रूप में वह कण-कण और क्षण-क्षण में दर्शन दे रहा है। 'भव-विभव' नाम रूप कर्मों के विशेषण वाले विभव को मैं क्या चाहूँ, मैं तो उस भव को पहचानता हूँ। शुरू में जब मनुष्य किसी से मिलने जाता है तब बढ़िया कपड़े पहनाता है और बड़ी सावधानी से मिलने जाता है। जब दाँतकाटी दोस्ती हो गई तो कभी-कभी जांघिये में ही मिल लेता है। इसी प्रकार हे भव! मैंने तुम्हारे असली रूप को समझ लिया है, इसलिये मुझे विशेषण नामरूपकर्मात्मक-विभव रुचिकर नहीं है। मोक्ष इत्यादि की ज़रूरत भी नहीं है।

लेकिन सारे लोग परमात्म-ज्ञान को विशेष रूप से चाहते हैं, तुमने तो सामान्य सत्ता रूप से ही उसे समझ लिया है तो कहते हैं वह भी नहीं 'न विज्ञानापेक्षा।' मुझे परमात्मा के विशेष

ज्ञान की अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि 'शशिमुखि'; चन्द्रमा घटता-बढ़ता है। यद्यपि भगवती का चेहरा चन्द्रमा की तरह है लेकिन घटने-बढ़ने वाला नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा में सत्, चित् आनंद और अनंत अंश की कल्पना है लेकिन वास्तविक नहीं। उस अखण्ड में सामान्य विशेष की सम्भावना ही नहीं। वह सदा पूर्ण, नित्य पूर्ण है। चन्द्रमा की तरह आह्लादजनक है लेकिन घटने-बढ़ने वाला नहीं है। इसलिये विशेष ज्ञान की मुझे ज़रूरत नहीं। ठीक है कि समय-समय पर उसमें विशेष ज्ञान की प्रतीति होती है लेकिन वस्तुतः वह सदा एकरूप है।

और कुछ नहीं चाहिये तो कम-से-कम भगवान् के मिलने से कुछ सुख हुआ होगा, वह चाहते होगे तब कहा 'सुखेच्छापि न पुनः' सुख की इच्छा भी नहीं है। सुख की इच्छा मैं तब करता जब सुख मेरे से भिन्न होता। मेरे से भिन्न कभी सुख नहीं हुआ। कभी यह अनुभव नहीं हुआ कि 'यह सुख है', बल्कि अभिन्न होकर सुख होता है कि 'मैं सुखी हूँ'। परमात्मा का अनुभव हमेशा एक होकर होगा। जब अनुभव होगा तब 'अहं सुखी' इत्याकारक होगा। अपने से भिन्न होकर अनुभव नहीं होता। जो चीज़ अपने से भिन्न नहीं, उसकी क्या इच्छा करूँ!

मैं क्या चाहता हूँ, यह बता देता हूँ 'अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै' चाहता हूँ, याचना करता हूँ। याचना से डरता नहीं। इसलिये भक्त संन्यासी होता है। जो कायस्थ होता है, वह हिसाब लगाता है कि भगवान् से क्या माँगूँ। यदि भगवान् से नहीं माँगूंगा तो ज़्यादा फल मिलेगा। कृष्णार्पणमस्तु इसलिये कहते हैं कि आगे फल मिलेगा। हम संन्यासी लोग सवेरे सबसे पहले माँगना शुरू करते हैं। 'शंच से मयश्च से गोधूमाश्च से यवाश्च मे' लोहा, सोना, चाँदी सब चीज़ें माँगी, फिर खाने की चीज़ें माँगते हैं। भगवान् से माँगते हैं और डटकर माँगते हैं। हाँ, छोटी चीज़ें नहीं माँगनी चाहिये क्योंकि भगवान् को बुरा लगता है। जैसे पत्नी से पूछो कि 'मैं बाज़ार जा रहा हूँ, कुछ ले आऊँ', वह कहे कि एक आने के चने ले आना, तो चोट लगती है कि मेरी क्या इज़्ज़त की। इसलिये खूब माँगो क्योंकि तुम परमात्मा के भक्त हो। माँगकर अभक्तों में बाँटो। इसीलिये माँगते हैं, याचना करते हैं। 'जननि जननं यातु मम वै' हे उत्पन्न करने वाली। मेरा जो जन्म है। यहाँ भगवान् भाष्यकार ने एक जननं नहीं कहा, जाति में 'जननं' का प्रयोग है। यही जन्म नहीं, अनेक जन्म बीतते चले जायें, यह दुःख की बात नहीं। जब तक उस परब्रह्म से सम्बन्ध नहीं हुआ, तभी तक दुःख है। आधिकारिकाधिकरण में बताया है कि भगवान् वशिष्ठ मित्रावरुण के यहाँ और अपान्तरतमा कृष्ण द्वैपायन के नाम से कलि-द्वापर की संधि में पैदा हुये। इनका जन्मान्तर हुआ तो क्या उन्हें ज्ञान नहीं था? ऐसा नहीं, क्योंकि ज्ञान होने पर भी यदि किसी कारण से अथवा शाप के कारण जन्म होता है तो भी वह दुःख का हेतु नहीं होता। जन्म-मरण दुःख नहीं, दुःख तो अज्ञान है। इसलिये चाहे एक जन्म हो, चाहे अनेक जन्म हों, कोई चिंता नहीं है।

लेकिन जन्म बीतें कैसे? पहला सम्बोधन दिया 'मृडानी'। मृड सुख अथवा आनंद का नाम

है। यहाँ 'जपतः' का मतलब खाली 'मृडानी, मृडानी' ऐसा जाप करना नहीं! कोई क्षण ऐसा नहीं हो, जब सुख के साथ मेरा सम्बन्ध न हो। तो क्या संसार के पदार्थ मिलते रहें? इसके लिये दूसरा सम्बोधन दे दिया 'रुद्राणी।' 'रुत् ज्ञान' नित्य-निरंतर हमारे अंदर ज्ञान बना रहे। इसलिये भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं 'इदं बुद्धिकालेऽपि सर्वं ब्रह्म एव'। इदं-बुद्धि काल में भी सब ब्रह्म ही है, यह निश्चय कभी नहीं हटता। अपने से अभिन्न होकर जब अनुभव होता है तब, और जब व्यवहार काल में अपने से अलग होकर देख रहा हूँ, तब भी तुम मेरे से अभिन्न ही हो। इसीलिये इन दोनों के साथ दो 'शिव' दिये। 'मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः।' ब्रह्म दो प्रकार के हैं सोपाधिक ब्रह्म व्यवहारकाल में और निरुपाधिक ब्रह्म समाधिकाल में। व्यवहार और समाधि दोनों काल में उसके एक जैसे कल्याणकारी रूप का भान है। जो हमारा प्रिय है, वह गले पर तलवार लगाकर बैठा हो तो क्या घबराना! इसीलिये कहा 'भवानी' भव, सत्ता ही अनेक रूपों में खेलती जा रही है, यही भवानी है। जिस प्रकार स्वर्ण ही कभी अशर्फी और कभी कड़ा बन जाता है, उसी प्रकार एकमात्र सत्य ही अनेक रूपों में प्रतिभात हो रहा है। ऐसे ही निरंतर जपतः (तज्जपस्तदर्थ-भावनं) जब जन्म-जन्मान्तर बीतें तो यही जीवन का लक्ष्य होने से आदर्श का बिम्ब है। इसी को प्रेम-मीमांसा से भक्ति और ज्ञान-मीमांसा से विज्ञान कहते हैं। जैसे आँख से देखने पर सुन्दर लाल गुलाब का फूल दीखता है और नासिका से सूंघने पर सुगन्धि दीखती है, उसी प्रकार प्रेमाकार वृत्ति से देखते हैं तो वह परमात्मा भक्तिरूप से भजनीय दीखता है, इष्ट रूप से दीखता है। उसी को जब बुद्धि से देखते हैं तो ज्ञानरूप दीखता है। कोई अलग-अलग ज्ञान नहीं होता। जिस वृत्ति से देखा, उसी को लेकर उसका नाम पड़ गया। एक चीज़ को एक इन्द्रिय से देखा तो अनुभव दूसरा और दूसरी इन्द्रिय से देखा तो अनुभव दूसरा होता है। इसी प्रकार प्रेम से देखा तो उसे भक्ति (इच्छा वाला) कह दिया और दूसरी दृष्टि (ज्ञान दृष्टि) से देखा तो विज्ञान कह दिया। यही भक्ति का स्वरूप है।

प्रकाशक

**श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन**

**डी-४६/६, मिश्रपोखरा**

**वाराणसी-२२१०१०**